व्यापार सङ्गठन

BUSINESS ORGANIZATION

(विश्वविद्यालयों की बी० कॉम० कक्षाओं के लिये)

HINDI EDITION
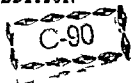
[illegible] गुप्ता, एम० ए०, बी० कॉम०,
प्रिन्सीपल एवं प्रोफेसर ऑव अकाउंटेंसी
सेठ जी० बी० पोद्दार कॉलेज,
नवलगढ़ (राजस्थान)

आगरा बुक स्टोर

प्रकाशक, मुद्रक एवं विक्रेता

आगरा, अजमेर, इलाहाबाद, बनारस, लखनऊ, मेरठ

१९५४] [मूल्य १०)

प्रकाशक,
आगरा बुक स्टोर,
रावतपाड़ा, आगरा।

प्रथम हिन्दी संस्करण १९५२ ई०
द्वितीय ,, ,, १९५४ ई०

मुद्रक,
गुलाबचन्द अग्रवाल, बी० काम०,
अग्रवाल प्रेस, आगरा।

विषयसूची

पृष्ठ

१—विषय-प्रवेश १

२—व्यापार गृहों का स्वरूप और विधान १०

३—कम्पनी का संगठन (१) ७६

४—कम्पनी का संगठन (२) १४५

५—व्यापार-गृहों का आन्तरिक संगठन २१७

६—विज्ञापन और विक्री-कला २७२

७—उपज विनिमय ३१०

८—स्कंध-विनिमय ३३८

९—कम्पनी के कार्यवाह की कार्य-प्रणाली ३६०

१०—व्यापार-संयोग ५१२

११—व्यापारिक संस्थाओं की अर्थ-पूर्ति .. ५५०

१२—बीमा ६३०

१३—विवेकीकरण और वैज्ञानिक प्रबन्ध ७०६

१४—औद्योगिक श्रम ७२३

१५—राज्य और उद्योग ८०८

अध्याय १

विषय–प्रवेश

व्यापार सङ्गठन (Business Organisation) का अध्ययन प्रारम्भ करने से पहले हमें यह समझ लेना चाहिये कि व्यापार (Business) क्या है और सङ्गठन (Organisation) क्या है? मनुष्य धन उत्पन्न करने के लिये कई प्रकार के काम अथवा क्रियायें करता है। व्यापार में इन सब क्रियाओं का समावेश किया जाता है। किसी चीज का निर्माण (Manufacturing) भी व्यापार है और विपणन (Merchanting), आगोप (Insurance), यातायात (Transport), अधिकोषण (Banking) आदि के काम भी व्यापार ही कहलाते हैं। परन्तु यदि कोई मनुष्य यह कहे कि वह व्यापारी है, तो इससे उसके व्यवसाय (Occupation) के वास्तविक रूप का पता नहीं चलता। जब वह अपने को एक निर्मितकर्ता (Manufacturer) या विपणिक (Merchant) या अधिकोषक (Banker) आदि बतलाता है, तब उसके व्यापार का ठीक चित्र हमारे सामने आजाता है। सारांश यह है कि मनुष्य की सभी क्रियाएं जो धन उत्पन्न करने के लिये की जाती हैं, व्यापार कहलाती हैं।

संगठन शब्द का भी एक विशेष अर्थ है। कोई इच्छित फल पाने के लिये जो काम किया जाता है, उसके भिन्न-भिन्न भागों का ठीक-ठीक संयोजन और प्रबन्ध करना ही संगठन कहलाता है। एक साधारण उदाहरण से संगठन की विशेषता का ठीक-ठीक अन्दाज लगाया जा सकता है। एक फुटबॉल मैच को ले लिजिये। एक टीम के खिलाड़ी तो अच्छी तरह संगठित (Organised) हैं, वे अपने-अपने स्थानों पर नियुक्त हैं; परन्तु दूसरी टीम के खिलाड़ी पहली टीम के खिलाड़ियों की भाँति अपने-अपने स्थानों पर नियुक्त नहीं हैं, वे अपने स्थान की चिन्ता न करते हुये कहीं के कहीं भागे फिरते हैं और इस सम्बन्ध में किसी भी नियम का पालन नहीं करते। इस दशा में यह निश्चित है कि जीत संगठित टीम की ही होगी और दूसरी टीम जो असंगठित (Disorganised) है अवश्य हारेगी। चाहे उस असंगठित टीम में सदस्यों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक हो और वह सम्मिलित रूप से अधिक बलवान ही क्यों न हो। चाहे इन्हें कुछ भी सुविधाएं क्यों न प्राप्त हों, वे संगठन से हरा दिये जायेंगे; क्योंकि वे वहाँ नहीं मिलेंगे जहाँ उनकी आवश्यकता है, गेंद एक खिलाड़ी से दूसरे खिलाड़ी तक गुजरेगी; परन्तु वे खड़े ही रह जायेंगे। वे गुणी और शक्तिसम्पन्न व्यक्ति हैं; परन्तु उनके व्यक्तिगत गुण व शक्ति किसी योजना-क्रम (Scheme

order) में नहीं लगाये गये हैं । वे सगठित नहीं किये गये हैं । ठीक इसी प्रकार व्यापार में भी सगठन से ही सफलता मिल सकती है और यथेष्ट लाभ हो सकता है; जब कि असङ्गठित व्यापार में सदा हानि का ही अंदेशा रहता है और काम भी ठीक तरह नहीं चलता ।

सगठन से फल अवश्य मिलता है, जो असगठित वस्तुओं के आकस्मिक सयोग से कभी नहीं मिल सकता । सगठन करने का मतलब है किसी व्यापार की योजना (Plan or Scheme) बनाना, उस व्यापार के सम्बन्ध में अपने सहयोगियों को शिक्षा देना, उन्हें व्यापार को सुचारु रूप से चलाने के लिये उत्साहित करना, व्यापार को आगे बढ़ाना, व्यापार की सभी आवश्यकताओं को ठीक-ठीक पूरी करना और इसके पश्चात् व्यापार का कार्यक्रम निर्णय करना और इसे पूरा करना । हमें इस विषय में अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है कि व्यापार के फल के विषय में अधिक न सोचा जाय कि अधिक से अधिक लाभ-प्राप्त किया जा सके; क्योंकि ऐसा करने से फल की ओर ध्यान और प्रयत्न अधिक रहेंगे और व्यापार के विभिन्न अंगों के सगठन पर कम । इस अवस्था में व्यापार असगठित होने पर फल तो नष्ट है हो, व्यापार भी चौपट हो जायगा । इस बात का अनुभव सगठन शब्द पर विचार करने से भली-भाँति कर सकते हैं; किसी चीज का 'सम्यक् गठन' अर्थात् भली-भाँति गठन करना ही सगठन है । जैसे शरीर में हाथ, पैर, सिर, हृदय, फेफड़े, दिल, जिगर आदि अग एक-दूसरे से मिले हुए हैं और अपने अपने स्थान पर अपना-अपना काम करते हैं । मस्तिष्क में विचार पैदा होते हैं, पैर चलते हैं, हाथ रोजी कमाते हैं, मुँह खाता है । आमाशय भोजन हजम करता है और जिगर रक्त बनाता है, हृदय शरीर के दूषित रक्त को शुद्ध करता है और शुद्ध रक्त का रगों द्वारा सारे शरीर में सचार करता है । फेफड़े भी अशुद्ध वायु को बाहर निकालते हैं और शुद्ध वायु को शरीर में पहुँचाते हैं; दूसरे शब्दों में फेफड़े शरीर को जीवनी शक्ति देते हैं । इस प्रकार शरीर के सारे अग अपने-अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिये सगठित हैं जिससे पूरा शरीर या अग निर्माण (Organism) अपने उद्देश्य को पूरा कर सके अर्थात् जीवित रह सके या जीवन का सुख भोग सके । यदि शरीर के इन अंगों को असगठित या अलग अलग कर दिया जाय तो जीवन की सम्भावना नहीं हो सकती । ठीक इसी प्रकार व्यापार के विभिन्न अंगों को असगठित कर देने पर लाभ की सभावना नहीं रहती जो कि व्यापार का जीवन है ।

सङ्गठन शब्द का अर्थ समझ लेने के बाद हमें इसके उन साधनों (Factors) का अध्ययन करना चाहिए जो व्यापार में सफलता दिलाते हैं । प्रत्येक व्यापार के लिये कुछ विशेष साधनों की आवश्यकता होती है—जैसे पूँजी, सामान, काम करने वाले अथवा कर्मचारी आदि । व्यापार को ठीक-ठीक चलाने के लिये योग्य

सगठनकर्ता (Organiser) की सबसे अधिक आवश्यकता होती है। प्रत्येक सफल व्यवसाय के लिए सबसे पहले उस मनुष्य की आवश्यकता होती है जो काम को शुरू करता है। अब एक अच्छे सङ्गठनकर्ता में क्या गुण होने चाहिए ? यह इतना सरल प्रश्न नहीं है जिसका एक सीधा-सादा और नपा-तुला उत्तर दिया जा सके। यदि हम कुछ सफल व्यापारियों से पूछें कि उनमें से हर एक को किन-किन साधनों से सफलता मिली तो यह निश्चित है कि प्रत्येक से एक ही उत्तर नहीं मिलेगा। लोग भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में व्यापार शुरू करते हैं और हर दशा में व्यापारियों को उनके भिन्न-भिन्न गुणों से सफलता मिलती है। यह जान लेने के पश्चात् हमें यह मालूम होगा कि व्यापार की सफलता इतनी सस्ती नहीं मिलती जितनी कि बहुत से मनुष्य कल्पना करते हैं। वास्तव में जीवन की किसी भी यात्रा में सफलता की ओर ले जाने वाला कोई सीधा-सादा मार्ग नहीं है, फिर व्यापार में तो ऐसा सीधा मार्ग मिलना और भी कठिन है।

इसलिये यह सम्भव नहीं है कि व्यापारियों के पथ-प्रदर्शन के लिए कोई निदिष्ट नियम बना दिये जायें, ताकि वे सदैव सफलता पा सकें। किन्तु ऐसे कुछ गुण तो अवश्य हैं जो साधारणतः उस मनुष्य में होने चाहियें जो व्यापार में सफलता चाहता है। मैसर्स 'बर्ड एण्ड कम्पनी' के एक सुयोग्य व्यापारी सर एडवर्ड बैंटहाल ने अपने एक भाषण म जो उन्होंने सन् १९३९ में कलकत्ता विश्वविद्यालय के नियुक्ति और सूचना बार्ड (Appointments and Information Board) के समक्ष दिया था, बड़ी योग्यतापूर्वक विश्लेषण कर निम्नलिखित भावों को व्यक्त किया था :—

व्यापार में सफलता पाने के लिये क्या गुण होने चाहियें ? इस विषय पर बोलते हुए उन्होंने बतलाया कि जब मैं पहली बार व्यापार क्षेत्र में आया मैंने कुछ सूक्तियाँ नोट कीं, जो एक सुप्रसिद्ध व्यापारी नेता ने ऐसे ही अवसर पर कही थीं। तब से ये अक्सर मेरे दिमाग में आती रही हैं और आज मैं इससे अधिक कुछ नहीं कह सकता कि कुछ टीका-टिप्पणी के साथ उन्हीं को मैं आपके सामने फिर दुहराऊँ।

१—अपने मस्तिष्क से यह विचार निकाल दो कि किसी भी कार्य को अस्त-व्यस्त रूप से भी किया जा सकता है; कोई भी कार्य जो तुम्हारे द्वारा हुआ है कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में तुम्हारे पक्ष अथवा विपक्ष में अवश्य पड़ेगा।

वास्तव में किसी कार्य या योजना को सफलतापूर्वक पूरा करने के लिये उसके प्रत्येक पहलू का सूक्ष्म निरीक्षण करने की आवश्यकता है। यह बात व्यापार में भी उतनी ही लागू होती है जितनी कि दूसरे व्यवसायों में। व्यापार में सफलता पाने के लिये कठिन परिश्रम ही एक सही रास्ता है। किसी व्यवसाय को चलाते रहने का ढोंग ही काफी नहीं है। तुम्हें अपने कार्य से, चाहे वह साधारण हो या महत्त्वपूर्ण, अपनी सारी शक्तियों को जुटा देना चाहिये। ऐसा करने से अच्छे अवसर अपने आप ही तुम्हारे सामने आवेंगे; तुम्हें उनको ढूँढ़ने की आवश्यकता न होगी। कुछ ही लोग अवसर को पहचानते हैं;

इसका कारण यह है कि यह कठिन परिश्रम के रूप में छिपा रहता है। जल्दी या देर में मौका अवश्य आयगा और तब तुम्हें उसे निकलने न देना चाहिये बल्कि उसका ठीक उपयोग करना चाहिये।

२—समस्त पूँजी मे कठिन परिश्रम से कमाई हुई साख तुम्हारी सबसे अधिक उपयोगी पूँजी है। यह चौबीसों घण्टे तुम्हारे काम आती है।

सबसे अधिक मूल्यवान् जायदाद जो तुम अपने व्यापार में पैदा कर सकते हो, साख है जिसका मतलब है कि दूसरे लोग तुम्हारी बात पर भरोसा करते हैं; उन्हें तुम्हारे चाल-चलन पर विश्वास है कि तुम उन्हें कभी धोखा नहीं दोगे। यदि लोग उस अवस्था में भी तुम पर विश्वास करते हैं; जब कि तुम्हारे साधन सीमित हैं, तो इसमें तुम्हारी नेकनामी है; तुम्हारी साख बढ़ती है। उदाहरण के लिये यदि एक अधिकोष (Bank) तुम्हारे व्यक्तिगत चरित्र पर विश्वास करता है; तो वह तुम्हें कम प्रतिभूति (Security) पर भी अधिक रुपया दे देता है, जबकि उसके प्रतिकूल यदि तुम्हारी ईमानदारी पर जरा भी सन्देह होता है तो तुम्हें अपेक्षाकृत अधिक प्रतिभूति देन पर भी कम रुपया ही दिया जाता है। यदि वास्तव में अब तुम्हारी ईमानदारी या सचाई में सन्देह होता है, तुम किसी भी दशा में अपनी साख नहीं बना सकते। साख अपने जीवन की सचाई पर अर्पण कर देने पर ही मिल सकती है। केवल एक बार सचाई से डिगने पर तुम्हारी साख सदैव के लिये जाती रहती है, जैसे यदि एक मनुष्य एक बार घूँस ले लेता है तो उसकी नेकनामी हमेशा के लिये चली जाती है।

यह भी याद रक्खो कि यदि तुम लोक प्रमण्डलों (Public Companies) के प्रबन्ध (Management) कार्य से सम्बन्धित हो तो तुम्हारी एक प्रन्यासी (Trustee) की सी अवस्था हो जाती है। तुम्हें अंशधारियों (Shareholders) का विश्वास बनाये रखना पड़ता है। उनका विश्वास ही तुम्हारी सबसे बड़ी सम्पत्ति है। यदि कोई काम गलत भी हो जाता है, चाहे वह तुम्हारे कुप्रबन्ध (Mismanagement) से हो या केवल दुर्भाग्य से; यदि तुम्हारा उनके साथ सीधा-सादा छल कपट से रहित व्यवहार है तो वे तुम पर भरोसा करेंगे; और उनका विश्वास तुम्हें अच्छी अवस्था में ले आयेगा।

३—विचार करने के अभ्यास को बढ़ाओ, मस्तिष्क का व्यायाम भी उतना ही आवश्यक है जितना कि अवयवों का। अपने मस्तिष्क से अपने हाथ पैरों के समान काम लो। शिक्षा का सबसे प्रमुख ध्येय विचार-शक्ति को प्रौढ़ बनाना है।

वास्तव में विचार करने की क्षमता सबसे मूल्यवान वस्तु है। तुमने अपने शिक्षा-काल में स्कूल और कॉलिजों में जो पढ़ा है वह व्यापारिक जीवन में कभी-कभी सम्भव हो सकता है कि तुम्हारे किसी भी काम में न आवे; परन्तु यदि तुमने किसी भी समस्या पर स्वयं विचार करना सीख लिया है तो तुम अधिक से अधिक

मूल्यवान् बातें सीखने आओगे। व्यापार में मनुष्य सदैव कुछ न कुछ सीखता रहता है। तुम दूसरी जातियों, जैसे—मारवाड़ी, यूरुपियन आदि के साधनों और तरीकों से कुछ सीख सकते हो। हमारे और तुम्हारे दिमाग की बनावट में कोई विशेष अन्तर नहीं है, अन्तर केवल इस बात का है कि वस्तुओं के मूल्य अंकित करने और ठीक निर्णय देने में हमारे और तुम्हारे दिमाग कहाँ तक शिक्षित हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शिक्षण-काल में जितनी अधिक मात्रा तक स्वयं सोचने का अभ्यास किया है उतनी ही सुन्दरता से आप वस्तुओं के मूल्यांकन के बारे में सुन्दर निर्णय कर सकेंगे।

४—अपनी कल्पना के घोड़े पर सवार हो; परन्तु मौके-मौके पर! स्वप्न देखना एक अच्छी बात है; लेकिन सुन्दर काम करना उनके स्वप्न देखने का अपेक्षा कहीं अच्छा है, तुम क्या करने वाले हो, इस बात के आधार पर अपनी नेकनामी नहीं कमा सकते। कभी कभी ही इन स्वप्नों को देखो; किन्तु उन्हें सच्चा सिद्ध करने के लिये अपनी क्रियाओं और प्रयत्नों पर भरोसा करो। तुम अपने किसी स्वप्न को अपने व्यापार का सर्वेसर्वा या अन्तिम लक्ष्य बना सकते हो; परन्तु इसे सच्चा सिद्ध करने के लिये अपनी सारी शक्तियां को लगा दो।

५—तैयार रहो; लेकिन प्रतीक्षा करना भी सीखो। टलती हुई आशाओं और खण्डित हुई योजनाओं की अवस्था में भी उद्योग करो। तुम्हें हर समय अपनी अभिलाषा पर नियन्त्रण रखना चाहिये। अपनी रफ्तार को भी नियमित रक्खो। यदि हताश होने का कोई मौका आता है, और इसका आना अनिवार्य हो जाता है, तब याद रक्खो कि इससे उत्साहित होना है, हतोत्साहित नहीं। किसी आकस्मिक दुर्घटना के दूसरी ओर एक अवसर छिपा होता है। उन्होंने आगे बताया कि उनके स्वसुर लॉर्ड केविल ने अपने डेस्क के एक दराज में रॉबर्ट लुई स्टीवेन्सन के इस वाक्य को लिखकर चिपका रक्खा था कि "जीत की शर्तें सरल हैं; हमें केवल कुछ परिश्रम करना है; कुछ सहन करना है, सदैव विश्वास करना है और कभी पीछे नहीं हटना है।" ("The conditions of conquest are easy; we have but to toil awhile, endure awhile, believe always never turn back") यह वाक्य जो उनके बहुत काम आया, तुम्हारे भी काम आ सकता है।

६—तीव्र विचारक बनो, किन्तु तेज दिमाग वाले नहीं। किसी व्यापार में सबसे अधिक मूल्यवान वस्तु है निर्णय। तुम्हें कठिनाई के समय आशावादी बनना चाहिये और समृद्धि के समय कठिनाइयों और खतरों से बचाव करना सीखना चाहिये। तुम्हें सीखना चाहिए कि कब आगे बढ़ें और कब रुकें, कब किसी बात पर दृढ़ हों और कब आराधक (Conciliatory)। किसी ने रॉथ्सचाइल्ड (Rothschild) से पूछा कि उसने किस प्रकार इतनी सम्पत्ति एकत्रित की। तब उसने यह कहते हुए उत्तर दिया, "सदैव बहुत जल्दी बेच देने से।" भाव यह है कि उसमें निर्णय करने की शक्ति बड़ी तेज

थी। उसने सीख लिया था कि तुम यह आशा नहीं कर सकते कि तुम्हारी चीज बाजार में सब से ऊँचे मूल्य पर बिके, यदि तुम ऐसी कोशिश करते हो तो तुम्हें पता चलेगा कि दूसरे तुमसे पहले बेचने का निर्णय कर लेते हैं और बाजार भाव गिर जाता है। जो लोग आशावाद या रहस्यवाद की धारा में बह जाते हैं, वे अपनी सम्पत्ति को खो देते हैं। सम्पत्तियाँ वे ही पैदा कर सकते हैं, जो दृढ और शात दिमाग से सोचकर निर्णय कर लेते हैं, जब कि साधारण लोगों की राह गलत होती है।

निर्णय करना पुस्तकों से नहीं सीखा जा सकता, यह आसपास की दुनिया के निरीक्षण और विश्लेषण से सीखा जा सकता है। तुम्हें हर समय अपने आपसे ऐसे प्रश्न पूछते रहना चाहिए कि "इसका क्या कारण है?" "क्या मैं, जो काम पहले से किया जा रहा है इससे अधिक अच्छी तरह काम कर सकता हूँ?" इत्यादि। इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर पुस्तकों में नहीं मिलते, बल्कि सूक्ष्म निरीक्षण और ठीक निर्णय करने की शक्ति से ही उनका उत्तर मिल सकता है।

७—खाली हाथ मत बैठो, परन्तु कल (Machine) की भाँति भी मत लगे रहो। जो कुछ भी तुम्हारे आदर्श हैं उन पर स्थिर रहो। वे तुम्हारी सच्ची व सार्थक सम्पत्ति हैं। व्यापार में सबसे बड़ी सम्पत्ति जो तुम रख सकते हो, आत्म विश्वास है। तुम्हें उत्तरदायित्वों को समझने और उन्हें पूरा करने के लिए तैयार रहना चाहिये, जैसा कि बगाल के अर्थमन्त्री ने कॉमर्शियल इन्स्टीट्यूट के विद्यार्थियों से कहा था। तुम्हें ऐसे व्यवसाय को छोड़ देना चाहिए जिसमें जरा भी खतरा या जोखिम हो। आगे उन्होंने जोर देकर कहा कि बगाल के मनुष्यों को बड़े बड़े जोखिम सहन करने के लिये तैयार रहना चाहिए, यदि वे व्यापारिक ससार में दूसरी जातियों के साथ चलना चाहते हैं। भूमि सम्बन्धी सम्पत्ति में मोह करना एक गलती है और भूमि अधिकार (Land Tenure) की प्रथा जो बिना आवश्यकता के अनेक आदमियों को सम्मिलित करने की आज्ञा देती है, बगाल में व्यापार के लिये एक बला बन गई है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बंगाल में लोगों ने बहुत से पारिवारिक व्यापारों (Family Business) को जोखिम के कारण ही छोड़ दिया है। तब तक व्यापार की उन्नति नहीं हो सकती, जब तक वे लोग जिनमें जोखिम लेने की शक्ति है और जो रुपये वाले हैं, अधिक जोखिम लेने के लिये तैयार नहीं होते। सभी व्यापार साहस से चलते हैं; व्यापार में जोखिम को हम छोड़ नहीं सकते जैसा कि डॉक्टर जॉन्सन कहते हैं कि "किसी काम में भी लोग प्रवृत्त नहीं होंगे, यदि तत्सम्बन्धी सब सम्भव ऐतराज पहले ही दूर कर दिये जायँ।" (Nothing will ever be attempted if all possible objections be over come first) जो मनुष्य सफलता पाता है वह सब जोखिमों को बड़ी योग्यता से पहले ही समझ लेता है और फिर बहुत कम गलती करता है। कोई भी व्यापारी बिना

गलती किये कभी भी सफल नहीं हुआ। वास्तव में वह गलतियों से ही सीखता है; गलतियाँ ही उसके लिये शिक्षक का काम करती हैं।

८—जन-साधारण के कार्यों में दिलचस्पी लो। जो वस्तुएं जाँच और परीक्षा से कायम रखने योग्य पाई गई हैं, उन्हे दुर्जनों के आक्रमणों से बचाओ।

किसी बात को सुनकर ही मन मानलो। लोगों के आकर्षक नारों से सावधान रहो। कभी-कभी ये नारे प्राय: भुलावे में डाल देते हैं। केवल नारों से ही किसी काम की बुराइयों या दुर्व्यवस्थाएं दूर नहीं हो सकतीं। स्वयं अपने आप सोचो और सोचकर अन्दाज लगाओ कि तुम्हारे दैनिक जीवन में कौन-सी बातें वास्तव में अच्छी व उपयोगी हैं और ध्यान में रखने योग्य हैं। उन्हीं के अनुसार काम करने को तैयार हो। किसी भी विवरण (Statement) को स्वयं विश्लेषण या व्याख्या किये बिना स्वीकार मत करलो। जब तुम दूसरों के विचार छोड़कर अपने विचार लोगों के सामने रख सकोगे, तब तुम अवश्य एक प्रभावशाली मनुष्य बन जाओगे।

९—अपने साथियों से विश्वासपूर्वक मिलो। उदासीनता और अविश्वास से लोगों मे अशान्ति पैदा होती है और विश्वास से ख्याति (Good-will) मिलती है। सहकारिता और वफादारी की भावनाए तुम्हारे लिये व्यापारिक जीवन में दो बड़ी सम्पत्तियाँ हैं। व्यापार में स्वार्थी होना तो बड़ा सरल है; परन्तु स्वार्थ-नीति की कोई वास्तविक आवश्यकता नहीं है। अपने कार्य का अनुमान और माप इस बात से करो कि तुमने कितनी सफलता पाई है न कि इस बात से कि तुमने कितना रुपया कमाया है।

उन्होंने कहा कि तुम मुझे क्षमा करोगे जब मैं यह कहता हूं कि सबसे बड़ा कारण जो बंगाल में व्यापार की उन्नति को रोकता है, लोगों के भिन्न भिन्न स्वार्थों के कारण सहकारिता (Co-operation) का अभाव है ? सर पी सी रे ने भी अपने पहले भाषण में यही कहा है कि "अभी तुमने जूट की मिलों के प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं (Managing agents) की सहकारिता का मूल्य देखा है। कुछ वर्षों से इस बात की कमी थी, लेकिन जैसे ही इस उद्योग में सहकारिता का प्रयोग हुआ, यह व्यापार जादू के समान चमक उठा। इस भावना की बहुत से दूसरे व्यापारों में नितान्त आवश्यकता है; विशेष रूप से कोयले के व्यापार में। एक बड़े जर्मन संगठनकर्त्ता (Organiser) ने कहा था कि मैंने यह सिद्धान्त बना लिया था कि कभी भी अनिच्छुक (Unwilling) भागी (Partner) से कोई ऐसा समझौता (Agreement) नहीं करूँगा जिसे कि वह भागी (Partner) अपने बड़े स्वार्थों में बाधक समझे। मैं केवल उसी समझौते को मान्यता (Approval) दूँगा जिससे दोनों पक्ष (Parties) सन्तुष्ट हों और यह महसूस करें कि उन्होंने ऐसा करने से व्यापार की अच्छी उन्नति के लिये एक अच्छा काम किया

है। यह बात ध्यान देने योग्य है और अनुभव से बार-बार तुम्हें मालूम होगा कि व्यापारिक संसार में एक कमजोर समझौता भी कानूनी अभियोग (Law suit) से कहीं अच्छा है।

यह भी याद रक्खो कि संयुक्त-स्कंध (Joint Stock) व्यापार सहकारिता और विश्वास पर आधारित है। व्यापार के विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में कुछ लोग जो एक दूसरे पर विश्वास करते थे, आगे चलकर अपने साधनों को सम्मिलित करके एक बड़े व्यापार में साझी (Partners) बन गये। संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डल (Joint Stock Companies) मुख्यतया इसी साझेदारी (Partnership) के बड़े रूप हैं और उनकी सफलता के लिये विश्वास आवश्यक है।

अंशधारियों (Shareholders) को प्रबन्धकों और संचालकों (Directors) पर विश्वास करना चाहिये और प्रबन्धकों तथा संचालकों को भी अपने अंशधारियों (Shareholders) का विश्वास प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि बंगाल व्यापारिक संसार में आगे बढ़ना चाहता है तो तुम्हें अपने साधनों (Resources) को एकत्रित करना चाहिये और अपने व्यापारिक नेताओं का विश्वास करना चाहिये। तुम्हारे आगे संयुक्त-स्कन्ध व्यापार का एक बहुत बड़ा क्षेत्र है जिसमें तुम इस प्रकार उन्नति कर सकते हो। इस क्षेत्र में सबसे अधिक आवश्यकता एक-दूसरे का विश्वास प्राप्त करने की ही है।

१०—जीवन में अन्य किसी भी मूल्यवान वस्तु के समान, सफलता उत्तरदायित्व के समझने और पूरा करने से ही मिल सकती है।

इस विषय में मैं पहले भी कुछ कह चुका हूँ, लेकिन याद रक्खो कि व्यापार की ज्यादातर समस्याएं अपने व्यक्तिगत साहस और सोचन-विचारने की शक्ति को काम में लाने से ही सुलझाई जा सकती हैं। तुम्हें ऐसी सफलता से कभी सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये जो सरलता से सस्ती ही मिल जाती हो। यदि तुम्हें वास्तविक सफलता मिलती है, तो तुम्हें अपने पर नियन्त्रण रखना चाहिये; ऐसी दशा में लापरवाह या उतावले होने की आवश्यकता नहीं है। कुछ लोग उत्तरदायित्व लेकर आगे बढ़ते हैं; कुछ दूसरे उत्तरदायित्व के साथ ही फूले नहीं समाते। जिस क्षण तुम अपने साधनों और प्रयत्नों से भी अपेक्षाकृत अधिक सफलता पाने की कल्पना करते हो, तो समझलो कि तुम एक कदम पीछे हट आये।

ये थे एक बड़े व्यापारिक नेता के विचार। तुम उन सबको अपने दिमाग में भले ही न रख सको, लेकिन उनका प्रभाव तुम्हारे हृदय पर अवश्य पड़ेगा। ये नियम तुम्हारे जीवन में हर समय काम आयेंगे। ये निश्चय ही तुम्हारे अध्ययन काल के बाद तुम्हारे व्यापारिक जीवन में तुम्हें बड़ी सहायता देंगे।

Test Questions

1. What are the essential requisites for the success of a business ? (Alld B Com 1939)

2 How far would you consider a theoritical training as necessary and sufficient for success in a practical business career ? (Bombay B. Com 1942)

3. What in your opinion are the requisites for a successful business man ? (Bombay B Com. 1944)

4 "Honesty is the best policy in business " Discuss (Bombay B Com 1945)

अध्याय २

व्यापार-गृहों का स्वरूप और विधान

इस अध्याय में और कुछ अगले अध्यायों में हम व्यापार गृहों के स्वरूप और विधान पर विचार करेंगे। सभी व्यापारिक सार्थ (Concerns) या तो स्वामित्वधारी (Proprietary) या संयुक्त-स्कन्ध-प्रमण्डल (Joint Stock Company) के रूप में होती हैं। स्वामित्वधारी व्यापार (Proprietary Business) वह व्यापार है जिसमें स्वामित्वधारी (Proprietors) ही सारी पूँजी लगाते हैं और वे ही उस व्यापार का प्रबन्ध (Management) करते हैं। परन्तु इसके विपरीत संयुक्त-स्कन्ध-सार्थ (Joint Stock Concern) व्यापार का वह रूप है जिसमें पूँजी जनता की होती है, परन्तु उसका प्रबन्ध अंशधारियों (Shareholders) के प्रतिनिधियों के हाथ में होता है जिन्हें संचालक (Directors) और प्रबन्ध अभिकर्ता (Managing Agents) कहते हैं। एक स्वामित्वधारी व्यापार एक मनुष्य या अनेक मनुष्यों की सम्पत्ति हो सकता है। जहाँ केवल एक ही मनुष्य व्यापार का स्वामी (Owner) होता है, तो उसे एकाकी व्यापारी (Sole Trader) कहते हैं; परन्तु जिस व्यापार के कई व्यक्ति मालिक होते हैं, उसे भागितासार्थ या साझेदारी (Partnership) कहते हैं। इस प्रकार वास्तव में व्यापार गृह तीन प्रकार के होते है—एकाकी व्यापारी, भागितासार्थ या साझेदारी और संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डल।

एकाकी व्यापारी

जहाँ किसी व्यापार का स्वामित्व (Ownership) केवल एक व्यक्ति के हाथ में होता है वहाँ इसकी स्वामित्वधारिता (Proprietorship) के विधान (Constitution) के विषय में बहुत कम कहा जा सकता है। ऐसे व्यापार को आरम्भ करने के लिये किसी वैधानिक या कानूनी (Legal) कार्यवाही की आवश्यकता नहीं होती। वास्तव में, स्वामी में अनुबन्ध (Contract) करने की क्षमता होनी चाहिये, नहीं तो उसके व्यापारिक अनुबन्ध न्यायालयों में मान्य नहीं होंगे। एकाकी व्यापारी को सारी आवश्यक पूँजी स्वयं ही जुटानी पड़ती है और उसे ही स्वयं अपने व्यापार के प्रबन्ध की देखभाल करनी पड़ती है। यह काम वह आवश्यकता के अनुसार कर्मचारियों की सहायता से भी कर सकता है। चूँकि व्यापार से हुए सब लाभ उसे ही मिलते हैं इसलिये सब हानियाँ (Loss) भी उसे ही सहन करनी पड़ती हैं। वह अपने उन सारे ऋणों के लिये जिम्मेदार

होता है जो चाहे उसने अपने निजी प्रयोग के लिए लिये हों या व्यापार के लिये। इन सब ऋणों का भुगतान करने के लिये वह बाध्य होता है और जो कुछ उसके पास होता है उस सारी सम्पति से उसे इन्हें चुकाना पड़ता है।

एकाकी व्यापारी की अपनी महत्त्वपूर्ण स्थिति (Position) होती है। इसलिये यह व्यापार विशेष रूप से आकर्षक होता है। हमारे बहुत से बड़े-बड़े व्यापार जो कि अब स्वामित्वधारी व्यापारों के रूप में चलाये जाते हैं, व्यक्तिगत जोखिम से ही पैदा हुए हैं। एक अत्यन्त योग्य और सफल एकाकी व्यापारी तुरन्त ही अपने साधनों को अन्तिम सीमा तक लगा देता है और फिर दूसरों की आर्थिक सहायता तथा प्रबन्ध सम्बन्धी योग्यता (Managing Ability) का सहारा लेने के लिये बाध्य होता है। उसके व्यापार की स्वामित्वधारिता (Proprietorship) साझेदारी (Partnership) के द्वारा एक प्रमण्डल (Company) का रूप धारण कर लेती है।

एकाकी व्यापार के लाभ

व्यक्तिगत जोखिम (Enterprise) से कई विशेष लाभ हैं जो इसे एक लोकप्रिय व्यापारिक सगठन बनाती है। ये लाभ निम्नलिखित हैं :—

१—केवल उन व्यापारों को छोड़कर जिन्हें पूर्ण रूप से सरकार ही चलाती है जैसे अफीम का बनाना, या ऐसे व्यापार जिनके लिये विशेष अनुज्ञा-पत्रों (Licences) की आवश्यकता होती है; जैसे बिजली बनाना और उसकी पूर्ति (Supply) करना या वे व्यापार जो जन-नीति (Public Policy) के आधार पर वर्जित हैं, एकाकी व्यापारी साधारणतः अन्य किसी भी प्रकार का व्यापार कर सकता है। वह अपने व्यापार को जब तक वह चाहे अपनी इच्छानुसार चला सकता है; और इसे किसी भी समय बन्द भी कर सकता है। वास्तविक बात तो यह है कि एकाकी व्यापारी बिना किसी खानापूरी के अपना व्यापार आरम्भ कर सकता है और इसी प्रकार उसे बन्द भी कर सकता है क्योंकि व्यापार का सारा जोखिम भी उसके ही ऊपर होता है।

२—चूँकि वे सब लाभ जो व्यापार में होत हैं; स्वामित्वधारी को ही मिलते हैं; इसलिये वह बड़ी लगन और कठिन परिश्रम से काम करता है। वह व्यापार में अधिक से अधिक दिलचस्पी लेता है और इससे व्यापार का प्रबन्ध भी बड़ी कार्यक्षमता और किफायतशारी से होता है।

३—एकाकी व्यापारी को किसी दूसरे व्यक्ति से अनुमति नहीं लेनी पड़ती इसलिये वह आपत्तिकाल में बड़ी तत्परता और शीघ्रता से काम कर सकता है। इस प्रकार वह व्यापारिक अवसरों का लाभ उठा सकता है, जोकि सहभागिता या प्रमंडलों की दशा में मिलना असम्भव है। यही कारण है कि वह ऐसे खतरों को भी दूर कर सकता है जो आमतौर से व्यापार को घेरे रहते हैं और कभी-कभी उसे बरबाद भी कर देते हैं। वास्तव में शीघ्रता से काम करने की योग्यता व्यापार के लिये कोई वरदान या

बहुत अच्छी चीज नहीं है। अक्सर ऐसा देखा जाता है कि जल्दबाजी का काम ही व्यापार की असफलता का प्रत्यक्ष कारण बन जाता है।

४—एकाकी व्यापारी अपने व्यापार की बातों अथवा गुप्त भेदों (Secrets) को छिपाकर रख सकता है। प्रतिद्वन्द्वी (Competitors) जितना अधिक उसकी व्यापारिक योजनाओं (Plans) या गुप्त रहस्यों को किसी प्रकार जान लेते हैं, सुचारु रूप से व्यापार के चलाने अथवा सफलता के उसे उतने ही कम अवसर मिलने की सम्भावना रहती है।

५—चूँकि हर व्यापार के चलाने में अपनी-विशेष जोखिमें होती हैं; इसलिये व्यापार के मालिक में इसका उचित प्रबन्ध करने की योग्यता तथा क्षमता होनी चाहिये, अन्यथा व्यापार के असफल होने की अधिक सम्भावना रहती है। यही कारण है कि एकाकी व्यापारी को अपने व्यापारिक प्रबन्ध में कार्य-क्षमता प्राप्त करने का अधिक अच्छा अवसर मिलता है।

एकाकी व्यापार से हानियाँ

इन उपर्युक्त लाभों के होते हुए भी, ऐसी अनेक असुविधाएं होती हैं जिनसे एकाकी व्यापार में, सफलतापूर्वक व्यवस्था करने में पग-पग पर कठिनाइयों और असफलताओं का सामना करना पड़ता है। वे असुविधाएं या हानियाँ ये हैं :—

१—एकाकी व्यापारी अपने बढ़ते हुए व्यापार के लिए, जितनी पूँजी की आवश्यकता होती है, उस सबकी पूर्ति नहीं कर सकता। सिवाय उन दशाओं के जहाँ कि या तो व्यापार असाधारण हद तक उन्नति कर जाता है और उसकी यशस्विता (Prosperity) बढ़ जाती है या जहाँ व्यापार का स्वामी अपने व्यापार लाभ के अधिकतम भाग को उसी व्यापार में लगाने की इच्छा रखता है या लगाता जाता है, अन्य दशाओं में व्यक्तिगत साहस (Individual Enterprise) व्यापार की उन्नति में बुरी तरह बाधक हो सकता है। चाहे व्यापार का लाभ स्वयं न लेकर उसी में लगाया जाय और इस प्रकार व्यापार की पूँजी को बढ़ाया जाय; किन्तु फिर भी व्यापार की पूँजी को बढ़ाने या व्यापार को विस्तृत करने का यह एक छोटा या धीमा साधन है और कभी-कभी तो यह साधन इतना साधारण होता है कि इससे व्यापार में बिल्कुल सामान्य विकास की भी सम्भावना नहीं रहती; इससे व्यापार की कोई खास उन्नति नहीं होती।

२—बड़े-बड़े व्यापारों में प्रायः किसी एक मनुष्य की क्षमता और शक्ति की अपेक्षा अधिक व्यापारिक निर्णय (Business Judgment), कुशलता (Skill) और योग्यता (Ability) की आवश्यकता होती है। इसी कारण ऐसे व्यापार को सञ्चालित करने के लिए भिन्न-भिन्न व्यापारी परस्पर सम्मिलित होते हैं जिससे कि वे अपनी सहकारी बुद्धि, कुशलता, योग्यता आदि से लाभ उठा सकें।

३—एकाकी व्यापारी को हानि के सारे जोखिम को अपने ही ऊपर लेना पड़ता है; और कभी-कभी इससे उसका बिल्कुल विनाश हो जाता है। व्यापारी लोग अपने सारे अण्डों को एक ही टोकरी में रखने और उसके जोखिम को जोकि उसे ऐसी नीति अख्तयार करने से मिलते हैं, सहन करने में हिचकिचाता है, इसके अतिरिक्त कोई मनुष्य कई छोटे-छोटे व्यापारों का संगठन और व्यवस्था करके जोखिमों को दूर नहीं कर सकता, क्योंकि इन व्यापारों में से किसी भी व्यापार में हुई हानि का दायित्व (Liability) उसी के ऊपर होता है।

४—एकाकी व्यापारी के आमर्णों (Creditors) के प्रति दायित्वों का केवल उस पूँजी के समाप्त हो जाने पर ही अन्त नहीं हो जाता जोकि उसने व्यापार में लगाई है; बल्कि इसके विपरीत वे उसके अन्य सब धन या सम्पत्ति जोकि उसके अधिकार में हैं, तक सीमित होते है। उसके किसी भी धन से इन दायित्वों का भुगतान किया जा सकता है।

व्यक्तिगत साहस इस बात तक जरूर सीमित होता है कि एकाकी स्वामित्वधारी के पास पूँजी, व्यापारिक-योग्यता और तान्त्रिक-ज्ञान (Technical Knowledge) से प्राप्त हुए केवल सीमित साधन होते हैं। इसलिये ऐसा खास तौर से वहाँ पाया जाता है, जहाँ आवश्यकीय (Required) पूँजी अपेक्षाकृत कम होती है, जहाँ व्यक्तिगत ध्यान (Attention) और शीघ्र निर्णय कार्यक्षम व्यवस्था के लिये अनिवार्य होते हैं, जहाँ व्यापार से सम्बन्धित जोखिम भी अपेक्षाकृत कम होती है और जहाँ व्यापारिक कार्य सीधे-सादे या साधारण होते हैं और जिनके लिये बहुत कुशल प्रबन्ध (Organisation) की आवश्यकता नहीं होती। फलस्वरूप दूसरे संगठनों में, जिनमें कुछ व्यक्तियों की पूँजी और कुशलता मिला दी गई हैं, एकाकी व्यापारी की हर प्रकार के ऐसे व्यापार में करारी हार ही है जिन्हें उत्तम कार्यक्षमता प्राप्त करने के लिये बड़े पैमाने पर चलाना चाहिये।

भागिता सार्थ या साझेदारी (Partnership)

भागिता-सार्थ या साझेदारी उन दो या अधिक व्यक्तियों का स्वतः सम्मिलन है जो स्वामित्वधारियों की भाँति एक साधारण व्यापार को किसी विधिपूर्ण (Lawful) उद्देश्य से चलाने के लिये अपने शामिल लाभ के लिये उन सब के रुपये, जायदाद, श्रम, लगन या कुशलता का मिल-जुलकर प्रयोग करते हैं। साझेदारी का मूल आपसी समझौता (Mutual Agreement) है। साझेदारी के समझौते (Agreement) के लिये इस बात की ही आवश्यकता नहीं है कि वह लिखित हो, वह मौखिक (Verbal or Oral) भी हो सकता है; या उन पक्षों (Parties) के आपस के व्यवहार से भी ग्रहण किया जा सकता है। तो भी भागिता-सार्थ में यह बुद्धिमानी है कि भागियों की आपस

की बातें या शर्तें बिल्कुल स्पष्ट और साफ हों, जोकि लिखित हों और एक समझौते के रूप में हों।

जो व्यक्ति किसी व्यापार के चलाने के लिए एक-दूसरे के साथ साझेदारी स्वीकार कर लेते हैं, उन्हें सम्मलित रूप में एक सार्थ (Firm) कहा जाता है, और उनमें से प्रत्येक एक-दूसरे का सहभागी (Co-partner) कहलाता है। जिस नाम से वे व्यापार करते हैं वह सार्थ का नाम (Firm's name) समझा जाता है। भागी सक्रिय (Active), निष्क्रिय (Dormant) या नाम मात्रिक (Nominal) हो सकते हैं। सक्रिय (Active) या साधारण भागी वे होते हैं जिन्होंने अपना धन या श्रम किसी व्यापार में लाभ प्राप्त करने के लिये लगा दिया हो, और जिन्हें आम लोग भी इसी रूप में जानते हों, इसके विपरीत निष्क्रिय अथवा शिथिल भागी वह व्यक्ति है, जो दुनिया के सामने एक भागी के रूप में नहीं आता। यद्यपि वह व्यापार में क्रियात्मक भाग लेने से निवृत्त है, फिर भी वह अपनी पूँजी व्यापार में लगाये रखता है, उस व्यापार से प्राप्त लाभ में भी हिस्सा बँटाता है और साधारणतः सार्थ के कामों के लिये उत्तरदायी होता है। नाममात्रिक भागी वह भागी होता है, जो यद्यपि किसी अनुबन्ध (Contract) में शामिल नहीं होता, फिर भी उसे एक सहभागी के दायित्वों को सहन करना पड़ता है, मानो वह अनुबन्ध स्वय उसके और किसी अन्य व्यक्ति के बीच में हुआ है जिस अनुबन्ध को अन्य व्यक्ति न सार्थ के साथ किया ह। परन्तु ऐसा दायित्व तभी सम्भव होता है जबकि यदि वह किसी सार्थ (Firm) को अपना नाम और साख (Credit) दे देता है या किसी अन्य प्रकार से उस सार्थ से बाहर रहते हुये भी सार्थ का भागी बना रहता है; इस दशा में चाहे वह अपने नाम को भले ही प्रकट न करे और उसका सार्थ से अलग रहना भी अन्य व्यक्तियों को ज्ञात हो, वह सार्थ का भागी ही समझा जायगा। प्रत्येक भागी सब अन्य भागियों का अभिकर्त्ता (Agent) समझा जाता है, चाहे वे वास्तविक (Actual) हों या नाममात्रिक (Nominal), सक्रिय (Active) हों या निष्क्रिय (Dormant) और उसे उन्हें उस अनुबन्ध के लिये बाध्य करने का अधिकार (Authority) होता है जोकि उसने किसी अन्य पुरुष क साथ किया है; परन्तु उसका यह कार्य उसके साझेदारी के व्यापार क साधारण सत्र से बाहर नहीं होना चाहिये। प्रत्येक भागी सम्मिलित रूप से या अलग अलग उन सब ऋणों के लिये दायी (Liable) होता है जो कि सार्थ के द्वारा या सार्थ के नाम से व्यापारिक कार्यों के लिए लिये गये हैं। वास्तव में इस सीमा तक प्रत्येक भागी अन्य भागियों का या अन्य भागियों के लिये अभिकर्त्ता समझा जाता है।

भागिता की आवश्यकता—प्रत्येक व्यापार में कुछ विशेष योग्यताएं होनी चाहियें। इसके स्वामी (Owner) में आवश्यक पूँजी जुटाने की योग्यता और सामर्थ्य होनी चाहिये; उसमें व्यापारिक योग्यता भी होनी चाहिये और उस

व्यापार के कार्यों (Affairs) में काफी समय लगाना चाहिये और उसमें ग्राहकों (Customers) को आकर्षित करने के लिये कुछ प्रभावशीलता भी होनी चाहिये। यह कहा जा सकता है कि यदि कोई स्वामित्वधारी किसी व्यापार को काफी पूँजी और योग्यता से आरम्भ करता है तो कुछ समय में वह स्वभावत अन्य व्यक्तियों से अपने सम्बन्ध स्थापित कर लेगा। यद्यपि यह सच है, परन्तु इसमें समय अवश्य लगता है, ये सम्बन्ध शीघ्र ही स्थापित नहीं हो जाते। परन्तु यदि किसी स्वामित्वधारी के उस व्यापार को शुरू करने से पहले ही से उस व्यापार के अनुरूप ग्राहकों से कुछ सम्बन्ध स्थापित होते हैं या उन पर उसका कुछ प्रभाव होता है तो इससे उसे अपने व्यापार में बड़ी सहायता मिलती है। यदि कोई छोटा-मोटा व्यापार हो तो ये सब आवश्यकताएं एक ही व्यक्ति पूरी कर सकता है, लेकिन जब व्यापार बढ़ता है और इसमें पूँजी व्यापारिक योग्यता और प्रभाव की भी अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में आवश्यकता होती है; तो उस अवस्था में इसका एकाकी स्वामित्वधारी (Sole Proprietor) स्वय इन सबकी पूर्ति नहीं कर सकता। चूँकि विभिन्न स्वामित्व-धारियों में भिन्न भिन्न प्रकार की योग्यतायें होती हैं जिनसे व्यापार में सफलता प्राप्त की जा सकती है, इसलिये अक्सर ये व्यापारी ऐसे व्यापार में मिल जाते हैं जिससे कि उनकी विभिन्न योग्यताए सामूहिक रूप से उस व्यापार के उपयोग में लाई जा सकें। इसलिये विभिन्न पुरुषों में इन योग्यताओं की असमानता या अनेकरूपता के कारण भागिता सार्थ (Partnership) की आवश्यकता होती है। कभी कभी एक व्यक्ति में व्यापारिक योग्यता हो सकती है और उसके व्यापारिक सम्बन्ध भी हो सकते हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश काफी पूँजी नहीं होती, या एक मनुष्य के पास पर्याप्त पूँजी होती है लेकिन उसमें कोई योग्यता और प्रभावशीलता नहीं होती। जब लोग अपनी भिन्न भिन्न योग्यताओं के साथ केवल एक प्रयोजन के लिये अपने साधनों को जुटाते हैं तब वे भागिता-सार्थ (Partnership) का निर्माण करते हैं या एक-दूसरे के सहभागी (Co-partners) बनते हैं। वे लाभ और हानि दोनों में ही साथ रहते हैं और इसलिये उनके हित (Interests) अभिन्न (Identical) हो जाते हैं।

यदि एक व्यक्ति में व्यापारिक योग्यता है और उसके कुछ सम्बन्ध भी हैं लेकिन उसके पास पूँजी की कमी है तो यह हो सकता है कि वह किसी धनवान मनुष्य को अपना सहभागी बनाने के बजाय, आवश्यक रुपया दूसरों से उधार ले ले। लेकिन दूसरों के रुपये से व्यापार चलाना खतरनाक होता है। सबसे पहले तो रुपया उधार देने वालों को ऊँची दर पर ब्याज चुकानी पड़ती है, दूसरे ऋण प्रदायकों (Money Lenders) को अधिकार होता है कि वे अपना रुपया किसी भी समय वापिस माँग लें, जोकि व्यापार के हित में अच्छा नहीं होता, तीसरे ब्याज का चुकाना कमाये हुए लाभ पर निर्भर नहीं होता। उस ब्याज को तो चुकाना ही पड़ता है चाहे

व्यापार में लाभ हो रहा हो या हानि; और अन्त में पूर्णत: उधार लिये हुये रुपए से चलाये हुए व्यापार पर उसके ग्राहकों को विश्वास नहीं होता।

यदि एक मनुष्य के पास पूँजी है, परन्तु उसमें आवश्यक योग्यता नहीं है और उसके सम्बन्ध भी नहीं हैं, तो यह कहा जा सकता है कि वह निपुणता और प्रभावशीलता दोनों ही प्राप्त कर सकता है। ऐसा करना उसके लिए सम्भव हो सकता है; लेकिन सब बातों में यह एक सन्तोषजनक व्यवस्था नहीं है। किसी कुशल प्रबन्धक (Manager) को व्यापार चलाने के लिये नियुक्त किया जा सकता है, परन्तु यह व्यापार की प्रकृति पर निर्भर होता है कि ऐसा करना कहाँ तक ठीक और सुरक्षित होगा। यद्यपि इससे स्वामित्वधारी की शक्ति बढ़ती है, यह निश्चित है कि एक अनुभवी कर्मचारी लाभप्रद होता है, किन्तु यदि सब कुशलता कर्मचारियों के ही हाथ में हो, तो व्यापार में स्थायी सफलता नहीं मिल सकती। कोई कर्मचारी किसी भी समय सार्थ को छोड़कर जा सकता है यदि कोई दूसरा प्रतिद्वन्द्वी (Competitor) तुम्हारी सार्थ के किसी कर्मचारी को अपेक्षाकृत अधिक अच्छी शर्तों (Terms) पर रखना चाहता है, तो वह तुम्हारी सार्थ को छोड़कर किसी भी समय दूसरी जगह जा सकता है या उस कर्मचारी को स्वयं एक प्रतिद्वन्द्वी-व्यापार (Competitive business) चलाने के लिये फुसलाया जा सकता है। कर्मचारियों की इस सम्भव स्पर्द्धा (Competition) को दूर करने के लिए, यह सम्भव हो सकता है कि वह हर कर्मचारी से एक लिखित समझौता (Express agreement) करले जिससे कि उसको नियत स्थान सीमा के अन्दर अपना नया व्यापार शुरू करने या वैसा ही व्यापार चलाने वाले किसी दूसरे व्यापार-गृह में शामिल होने से रोक सके। लेकिन इस बात में शक है कि ऐसी अधिक योग्यता वाला व्यक्ति कभी ऐसी शर्तों पर राजी हो सकेगा।

व्यापार के प्रतिबन्ध के विषय में ऐसा समझौता वहीं लागू हो सकता है जहाँ समय और फासले की सीमाएं उचित होती हैं, और इसलिये यह नियोक्ता (Employer) को वैतनिक कर्मचारियों (Paid Employees) की स्पर्द्धा की जोखिम से पूरी तरह बचा नहीं सकता। यदि किसी व्यापार के स्वामित्वधारी में स्वयं कोई व्यापारिक योग्यता नहीं है और पूरी तरह कर्मचारियों पर निर्भर रहता है तो वह सदैव अपने कर्मचारियों की दया का पात्र रहेगा। कभी-कभी यह कठिनाई इस प्रकार हल हो जाती है जब कि एक कुशल व्यक्ति को इस शर्त पर नियुक्त किया जाता है कि यदि वह वास्तव में उपयोगी सिद्ध होगा तो उसे बाद में एक भागी के रूप में सार्थ में शामिल कर लिया जायगा।

प्राय: यह देखा जाता है कि प्रभावशीलता और सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति केवल कर्मचारी होते हैं। उदाहरण के रूप में बहुत से व्यापार-गृह अपने विक्रेता प्रतिनिधि (Selling Representatives) नियुक्त कर देते हैं। इसका मुख्य कारण यह

होता है कि इनमें से हरएक कर्मचारी के व्यक्तिगत सम्बन्धों की सहायता से सार्थ अपने माल की खपत के लिए अपने बाजार का विस्तार कर सकती है। यह एक ऐसी दशा है जो किसी सीमा तक सन्तोषजनक सिद्ध हो सकती है। परन्तु इस दशा को बहुत अधिक नहीं बढने देना चाहिये। यदि किसी व्यापार-गृह के अधिकांश सम्बन्ध इसके कर्मचारियों के व्यक्तिगत सम्बन्ध होंगे, तो वह सार्थ हमेशा अपने कर्मचारियों की दया पर निर्भर रहेगी। वास्तव में यह बहुत ही असन्तोषजनक दशा है।

चूँकि वेतन पर काम करने वाले आदमियों का व्यापार में कोई स्वामित्वधारी हित (Proprietory interest) नहीं होता, अत उनसे सदैव यह आशा नहीं की जा सकती कि वे इसकी सेवा में अपनी अच्छी से अच्छी कार्यक्षमता और अपनी प्रभावशीलता का परिचय देंगे। कहा भी जाता है कि सम्पत्ति (Property) के जादू से रेत भी सोना बन जाता है (The magic of property turns sand into gold) और यह कहावत सच्ची और अच्छी सिद्ध तभी हो सकती है, जब वे लोग, जो किसी व्यापार में पूँजी, योग्यता और सम्बन्धों की पूर्ति करते हैं, इसके वैधानिक स्वामित्वधारी हों।

आदर्श भागिता-सार्थ के लिये आवश्यक बातें (Requisites for an Ideal Partnership) भागिता-विधि (Law of Partnership) के अनुसार भागियों को हर बात में बिल्कुल एक समान माना जाता है, परन्तु आदर्श भागिता-सार्थ इस बात पर निर्भर नहीं है। यदि हरएक भागी में समान ही योग्यता हो और अपेक्षाकृत बराबर ही उनके सम्बन्ध हों, हरएक बराबर-बराबर ही पूँजी लगावे और सब एक समान ही व्यापार में अपना समय लगायें, तो यह बहुत ही अच्छा प्रबन्ध समझा जायगा। लेकिन यह निश्चित है कि यह एक आदर्श साझेदारी सिद्ध नहीं होगी; क्योंकि व्यवहार में इस दशा में अक्सर भागियों में आपस में झगड़े हुआ करेंगे और ऐसा प्रबन्ध कभी भी कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता। वास्तव में साझेदारी इसी बात पर आधारित है कि सभी मनुष्यों में एकसी योग्यताएं और शक्तियाँ नहीं होतीं।

तब आदर्श साझेदारी के लिए कौन-कौन-सी आवश्यक बातें हैं? आदर्श साझेदारी वह भागिता-सार्थ कही जाती है जिसमें (अ) प्रत्येक भागी सार्थ की सफलता के लिए अपनी विशेष योग्यता या शक्ति को जुटाता है, चाहे वह पूँजी के रूप में हो, या व्यापारिक कुशलता, प्रभावशीलता, या समय के रूप में हो जिसे कि वह व्यापार के कार्य में लगाता है, (ब) भागियों में आपस में एक-दूसरे के प्रति विश्वास और भरोसा होता है, (स) भागियों के आपस के अधिकार निष्पक्षता से तै किये जाते हों और (द) व्यापार का शासन या निग्रह अधिकार (Control) योग्य व्यक्तियों के हाथों में हो।

(१) साझेदारी का व्यापार (Partnership business), जिसमें कई भागी अपने
भिन्न भिन्न साधनों और शक्तियों को एकत्रित करके लगा देते हैं, सबके आम फायदे के
लिये एक बहुत ही सन्तोषजनक चीज है। एक भागी बड़ी तादाद में व्यापार की पूँजी
लगा सकता है, दूसरा अपनी व्यापारिक योग्यता और अनुभव सार्थ की उन्नति के लिये
लगा सकता है, तीसरा सार्थ के व्यापार में अपना सब समय और ध्यान लगा सकता
है और कोई चौथा सार्थ की आम भलाई के लिये अपने प्रभाव को उपयोग में ला
सकता है। इस प्रकार भिन्न भिन्न शक्तियों के ठीक-ठीक मिला देने से, सार्थ का
व्यापार बड़ी सरलता और सफलता से चल सकता है।

(२) अच्छी साझेदारी के लिये यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि सब भागी परस्पर
एक-दूसरे के प्रति विश्वास और भरोसा रखते हों, और यह खास तौर से भागियों के
ठीक चुनाव पर निर्भर होता है। जिस समय लोग भागी बनते हैं; साधारणतः उनकी
प्रवृत्तियाँ अच्छी होती हैं, लेकिन बाद में, जब तक प्रत्येक दूसरे का पूरी तरह विश्वास
न करे, आपसी झगड़े और फसाद के कई अवसर उनके सामने आ सकते हैं। वाणिज्य
(Commerce) की कई बड़ी से बड़ी सफलताएं दो या अधिक व्यक्तियों की साझेदारी
से ही मिली हैं जो यह ठीक-ठीक समझते हैं कि एक दूसरे की कमी को किस प्रकार
पूरी करें और अपने उत्तरदायित्व को पूरी तरह से निभायें। दूसरी ओर व्यापार की
कुछ बड़ी से बड़ी असफलताएं भी साझेदारी से ही हुई हैं। कई ऐसी घटनाएं हुई हैं,
जहाँ लोगों ने परस्पर सहभागी बनने की कोशिश की है; परन्तु इस दशा में वे एक-
दूसरे के मार्ग के रोड़े या बाधक बन गये हैं, जबकि अन्य परिस्थितियों में वे अच्छी
तरह अपने कार्य का सम्पादन कर सकते थे। सम्भवतः जब लोग परस्पर सहभागी बनते
हैं तब सबसे पहले उन्हें वातावरण को देखना चाहिये। कुछ ऐसे लोग होते हैं जो किसी
सन्तोषजनक तरीके से भी भागी बनने के योग्य नहीं होते। इनकी गिनती निरंकुश-
शासकों (Autocrates) में होती है, जो कोई काम अपने ही ढंग से करना जानते हैं,
लेकिन जो किसी का जरा भी दखल देना सहन नहीं कर सकते। किन्तु भेद को छिपाने
वाला मनुष्य इससे भी अधिक बुरा भागी होता है। कोई मनुष्य ऐसे भेद को छिपाने
वाले मनुष्य की आज्ञा का पालन कर सकता है, या उस पर शासन कर सकता है; लेकिन
वह उसके साथ समान भाव से कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि जब उसमें यह आदत
गहरी जड़ पकड़ जाती है, तब स्पष्टता और विश्वास की कमी से निश्चय ही कठिनाइयाँ
पैदा हो जाती हैं। आदर्श भागी वे हैं जो एक दूसरे का सम्मान करते हैं और साथ-साथ
अच्छी तरह काम करते हैं। जब साझेदारियाँ असफल सिद्ध होती हैं तब प्रायः सदैव
उनका कारण यह होता है कि उन्होंने अपने व्यापारिक भविष्यों को परस्पर जोड़ने से
पहले एक-दूसरे का काफी अध्ययन नहीं किया है अर्थात् उन्होंने एक-दूसरे के स्वभाव को
अच्छी तरह नहीं समझा है। वे कर्मचारी जो भागी बना लिये जाते हैं, कभी-कभी अच्छे

भागी सिद्ध नहीं होते, क्योंकि वे कार्य के नहीं बल्कि उत्पादक-प्रबन्ध (Creative management) के उस भाग को अदा नहीं कर पाते, जोकि उन्हें अदा करने चाहियें। जैसे कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो जहाँ कहीं भी हों, अपने अन्दर स्वामित्व या मालिकपने की भावना रखते हैं; ठीक इसी प्रकार कुछ दूसरे लोग ऐसे होते हैं जो इस स्वामित्व की भावना से रहित होते हैं। वे स्वभाव से ही सेवक या कर्मचारी होते हैं और वे उसी दृष्टि से दूसरी चीज़ों को देख सकते हैं। ऐसे मनुष्य अक्सर सबसे अधिक असन्तोषजनक भागी होते हैं, खास तौर से जबकि अर्थ व्यवस्था (Finance) या नीति (Policy) सम्बन्धी कठिन समस्याओं का सामना करना होता है। इससे भी अधिक, वह मनुष्य जो एक कर्मचारी से भागी बनने के परिवर्तन को यह समझता है कि कठिन काम से सरल काम मिल गया है, साधारणत सबसे अधिक अयोग्य भागी होता है।

अच्छी साझेदारी एक लम्बे समय तक रहनी चाहिये। इस समय के दरम्यान में हरएक भागी को सार्थ के विरोधी हितों को जोकि उसके व्यक्तिगत हित हैं, बिना सोचे हुए, सब की भलाई या सब के हितों के लिये कार्य करना चाहिये। यदि कोई भागी सार्थ के लिये कार्य नहीं कर रहा है, तो वह इसके विरुद्ध काम कर रहा है और इसका फल अवश्य बड़ा असन्तोषजनक होगा। कानून के अनुसार, हरएक भागी अपने सहभागियों को साधारणत: किये गये सार्थ के कामों के लिए बाध्य कर सकता है। एक भागी की ओर से की हुई निपट लापरवाही या बेईमानी से पूरी सार्थ को बड़ी हानि हो सकती है। व्यापार में किसी भागी का चाहे कितना ही छोटा अंश (Share) क्यों न हो, वह सार्थ के सब ऋणों के लिये दायी (Liable) है।

जब कि हर भागी के सार्थ के लिये भिन्न अंशदाय (Contributions) की आशा की जाती है, तो यह आवश्यक नहीं कि लाभ बाँटने, पूँजी की ब्याज, वेतन आयोग (Commission) अधिलाभांश (Bonus), प्रबन्ध कार्य में भाग लेने आदि के विषय में भागियों के एक समान अधिकार हों, लेकिन वे बिल्कुल निष्पक्षता से सार्थ के व्यापार में दिये गये हर भागी के अंशदाय (Contribution) के अनुसार होने चाहिये। किसी भागी को यह महसूस न हो कि भागियों के अधिकारों का निश्चय करने में उसके साथ कोई अन्याय या अनुचित व्यवहार किया गया है। वे अधिकार इस प्रकार नियत कर देने चाहियें कि हर भागी को उसके कार्य का उचित प्रतिफल या पारितोषिक मिल सके। एक पूँजी-पति भागी (Capitalist Partner) को उसकी पूँजी का ब्याज मिलना चाहिये जब कि एक ऐसे भागी को जो अपना सब समय और ध्यान सार्थ के व्यापार में ही लगाता है, उसके लाभ के अंश (Share in the profit) के अतिरिक्त वेतन भी दिया जाना चाहिये।

हर भागी को प्रबन्ध-कार्य और व्यापार के निग्रह (Control) में स्पष्ट रूप से एक-समान भाग नहीं दिया जा सकता। तो भी यह आवश्यक है कि प्रधान निग्रह

(Paramount control) का अधिकार उन लोगों के हाथ में होना चाहिये, जिनमें आवश्यक व्यापारिक योग्यता और अनुभव हो तथा जो व्यापार में अपना सब समय और ध्यान लगा सकते हों। लेकिन जिनमें प्रभावशीलता है जो अपेक्षाकृत अधिक पूँजी की पूर्ति कर सकते हैं, उन्हें भी बिल्कुल नहीं छोड़ देना चाहिये। पूँजीपति-भागी चाहे व्यापार के विषय में थोड़ा जानता हो या कुछ भी नहीं जानता हो, किन्तु निश्चय ही उसे सार्थ के प्रबन्ध में कुछ बोलने या दखल देने का पूरा अधिकार है, जिसमें कि उसने अपना रुपया लगाया है।

भगिता सार्थ के लाभ (Advantages of Partnership)

किसी एकाकी-व्यापारी के व्यापार की भाँति एक भागिता-सार्थ का निर्माण भी बिना खर्चे या बिना किसी कानूनी कार्यवाही के किया जा सकता है, और इसी प्रकार इसका विलीयन (Dissolution) भी किया जा सकता है। लेकिन यदि व्यापार को ठीक ठीक चलाना है तो यह आवश्यक है कि वे लोग जो परस्पर सह-भागी बनते हैं, एक-दूसरे को अच्छी तरह जानते हों, और उनमें एक दूसरे के प्रति विश्वास और भरोसा हो।

भागिता-सार्थ एक लोचदार (Elastic) सगठन है जो अधिकांश में कानूनी प्रतिबन्धों से सर्वथा मुक्त है। चूँकि यह एक समझौते पर आधारित होता है, इसके उद्देश्य, सदस्यता और पूँजी व्यापार की बदलती हुई हालतों के अनुसार व्यवस्थित की जा सकती हैं।

हित (Interest) और उत्तरदायित्व परस्पर मिले हुए हैं और प्रयत्न (Effort) और पुरस्कार (Reward) में भी आपस में सीधा सम्बन्ध है। भागी यह बात जानते हैं कि व्यापार का सारा लाभ उनका है, और इसलिये उनसे यह आशा की जाती है कि वे सार्थ के लिये अपना अच्छे से अच्छा प्रयत्न करेंगे और किसी प्रकार की कसर न छोड़ेंगे। सार्थ के कार्यों में व्यक्तिगत हित का तत्व इसकी सफलता का सबसे बड़ा रक्षक है।

भागिता-सार्थ अपने सब भागियों की शामिल योग्यता और साधनों से लाभ उठाती है और कुछ अवस्थाओं में कई लोगों के मस्तिष्कों के सम्मिलित निर्णय उसके लिये बहुत ही उपयोगी होते हैं। चूँकि उसमें कई स्वामित्वधारी होते हैं, इसलिये व्यापार के संचालन में कुछ विभिन्नताएं और विशेषताएं सम्भव हो सकती हैं। हर भागी व्यापार के उस भाग में अपना ध्यान दे सकता है जिसमें उसकी कार्यक्षमता सब से अधिक है।

चूँकि हर भागी का दायित्व (Liability) असीमित होता है, इसलिये जनता की निगाहों में सार्थ की साख अपेक्षाकृत अधिक बढ़ जाती है, और इससे सार्थ

बिना किसी कठिनाई के अच्छी शर्तों पर अधिक से अधिक ऋण ले सकती है, तथा इस प्रकार अतिरिक्त अर्थ (Additional Finance) संचय कर सकती है।

भागिता-सार्थ में अवयस्क या नाबालिग (Minor) के हितों की रक्षा कानून के द्वारा ठीक-ठीक की जा सकती है। एक असन्तुष्ट भागी सार्थ से अलग हो सकता है और सार्थ का विलोयन कर सकता है या यदि इसके सह भागी ऐसा नहीं चाहते तो वह व्यापार के कार्यों में इतनी लापरवाही कर सकता है कि उन्हें मज्बूर होकर उस सार्थ से अलग करना पड़े।

भागिता साथ की हानियाँ (Disadvantages of Partnership)

चूँकि भागिता साथ में भागियों को संख्या २० तक सीमित होती है, इसलिये ऐसी साथ की पूँजी की तादाद भी जिसे कि यह एकत्रित कर सकता है, सीमित होती है और दायित्व (Liability) के सीमित न होने से, व रुपया लगाने वाले जिनमें व्यापार के प्रबन्ध में भाग लेने की न तो इच्छा ही है और न इतनी क्षमता, साझेदारी में रुपया व्यय नहीं कर सकते। केवल इतना ही नहीं, किन्तु साझेदारी के व्यापार में किसी भागी के अंश (Share) का हस्तान्तरण (Transfer) भी इतनी कठिनाई से होता है कि इससे बहुत से विनियोगक (Investors) इसमें रुपया लगाने का साहस नहीं करते। भागिता-सार्थ का अंश (Share) सब सहभागियों की अनुमति से ही किसी सहभागी या किसी अजनबी आदमी को बेचा जा सकता है। यह एक ऐसी शर्त है कि वह इसके बाजार को इतना सीमित कर देती है कि इसे प्रायः कुछ घाटे पर बेचना पड़ता है। इसके आगे अपने अंश को बेच देने के बाद भी बाहर्गामी भागी (Outgoing Partner) उन ऋण प्रदायकों (Creditors) के ऋण के प्रति दायी होता है जो उसके सार्थ से अलग होने के समय से पहले के दावेदार हैं, परन्तु वे ऋण प्रदायक यदि उसे इस दायित्व से मुक्त करना चाहें तो वे ऐसा कर सकते हैं। वह उन अन्य ऋण प्रदायकों के उस समय तक के ऋण के लिये भी दायी होगा जब तक कि उसने साथ से अलग होने का अनिवार्य सूचना (Constructive notice) न दी हो।

व्यक्तिगत भागियों का दायित्व कई दशाओं में अधिक तथा असीमित माना जाता है। जब किसी व्यापारिक इकाई के लिये पूँजी की एक थोड़ी तादाद की आवश्यकता होती थी और व्यापारिक सम्बन्ध बहुत व्यक्तिगत थे, तब साथ के कार्यों का भारी व्यक्तिगत-दायित्व इतना भारस्वरूप नहीं था और शायद इस व्यक्तिगत दायित्व के कारण ही व्यापारिक व्यवहार या लेन देन (Business dealings) का क्षेत्र यथा सम्भव अधिक विस्तृत हुआ लेकिन अब वह व्यापार और वाणिज्य (Commerce) साधारणतः बड़े पैमान पर चलाये जाते हैं और उनके लिये विस्तृत पैमान पर ही पूँजी और साख की आवश्यकता होती है इस दशा में भागियों का व्यक्तिगत दायित्व (Personal liability) सब उचित सीमाओं के परे तक बढ़ सकता है। भागियों की

जितनी अधिक संख्या होगी, व्यापार भी उतने ही बड़े पैमाने पर पहुँच जायगा और भागियों का व्यक्तिगत दायित्व भी अपेक्षाकृत बढ़ जायगा।

किसी भागी की मृत्यु हो जाने पर, दिवालिया हो जाने पर, या पागल हो जाने पर किसी भी समय भागिता-सार्थ का विलोयन हो सकता है; और एक सुव्यवस्थित सार्थ का अचानक ही अन्त हो सकता है जिसकी पहले कभी ऐसी आशा नहीं की जाती थी।

भागिता-सार्थ में अक्सर फुर्तीले और एकात्मक प्रबन्ध (United management) की कमी होती है। बहुत अधिक रसोइये व्यापारी शोरबे को खराब कर सकते हैं (Too many cooks may spoil the business broth.)। यदि भागी प्रबन्ध-कार्य के लिये कुछ गिने-चुने अपने प्रतिनिधि चुनकर इस कठिनाई का सामना करने की कोशिश करते हैं, तो उन्हें तुरन्त महसूस हो जाता है कि उनका असीमित दायित्व उन्हें ऐसा करने की आज्ञा नहीं देता। प्रबन्धकर्त्ता उसी दशा में अच्छी तरह काम कर सकते हैं जबकि यदि भागी एकरूपता (Harmony) और ईमानदारी से काम करें, लेकिन अक्सर ऐसा बहुत कम होता है। भागियों की एक बड़ी संख्या में प्रायः कम से कम एक मनुष्य ऐसा अवश्य होता है, जिसमें बेईमानी के लक्षण बढ जाते हैं या वह मूर्ख सिद्ध होता है और जिसका कार्य सब सदस्यों को बड़ी दुर्भाग्यमय उलझनों में डाल देता है। संक्षेप में भागिता-सार्थ में एक गम्भीर समस्या है—इसके प्रबन्ध में सब के हितों को एकरूपता प्राप्त करना।

भागिता-सार्थ का संविदा या समझौता (Partnership Agreement)

भागिता-सार्थ के अनुबन्ध (Contract) का संविदा या समझौता (Agreement) एक आवश्यक अंग है। यह या तो लिखित (Express) हो सकता है या ध्वनित (Implied)। ध्वनित समझौता व्यापारिक-व्यवहार के कार्यों से जाना जा सकता है। भागिता-सार्थ के समझौते के लिये यह आवश्यक नहीं होता कि वह लिखित ही हो; लेकिन यदि यह लिखा हुआ है तो इस पर मुद्रांक (Stamp) भी होना चाहिये और यदि अचल-सम्पत्ति (Immovable Property) के अधिकारों से सम्बन्धित है या ऐसे अधिकार पैदा करता है या ऐसे अधिकारों से संयुक्त है, तो इसका पञ्जीयित (Registered) होना भी अनिवार्य है। साझेदारी का समझौता, उस दशा में संक्षिप्त नहीं हो सकता, जब यदि यह उन सब मामलों से सम्बन्धित है, जिनका इसे नियमनीकरण (Regularisation) करना है। जहाँ तक सम्भव हो सके साझेदारी का समझौता एक पूरी संहिता (Code) होनी चाहिये, जिससे भागी अपने अधिकारों या कर्त्तव्यों आदि का आवश्यकता के समय निर्देश कर सकें। इसमें साधारणतः निम्नलिखित बातें होती हैं —

१—सार्थ का नाम और उसके व्यापार का स्वरूप जिसे कि सार्थ चलाना चाहती है।

२—भागिता-सार्थ का प्रारम्भ और उसकी अवधि।

३—भागिता-सार्थ की चल या अचल पूँजी और वे अंश (Shares) जिनके भागी अधिकारी हैं। यदि अंशों के अतिरिक्त कोई पूँजी लगी हुई है तो उसका ब्याज।

४—भागियों के द्वारा सार्थ के लिये अतिरिक्त पूँजी लगाने या ऋण लेने का विधान।

५—भागियों द्वारा लाभ और हानि के वितरण का अनुपात।

६—साझीदारों को यदि कोई वेतन देने हैं तो उनका उल्लेख।

७—साझीदारों द्वारा ली गई धन-राशियाँ तथा उन पर ब्याज।

८—ठीक-ठीक लेखा पुस्तकों (Books of account) और लेख की सामयिक (Periodical) तैयारी का उल्लेख, अंकेक्षण (Auditing) की व्यवस्था।

९—व्यक्तिगत भागियों को दिये हुए अधिकार और कुछ दशाओं में लिखित-अधिकारों पर नियन्त्रण या रोक।

१०—कुछ विशेष भागियों द्वारा किये जाने वाले कर्तव्यों का उल्लेख; प्रत्येक भागी को सार्थ के व्यापार में कितना समय लगाना है? आदि का उल्लेख।

११—वे आधारिक बातें जिनपर साझेदारी का विलीयन हो सकता है।

१२—वह तरीका जिससे किसी भागी के व्यापार से अलग होने या उसकी मृत्यु होने पर सार्थ की ख्याति (Good will) को अंकित किया जा सके।

१३—किसी मृत-भागी को ओर निकलने वाली धनराशि और उसके कानूनी वारिस या प्रतिनिधियों के दायित्वों को निश्चित करने की विधि, जैसे—किसी निर्दिष्ट समय के अन्दर सम्पूर्ण धन-राशि या थोक रकम (Lump sum) का भुगतान, किसी अनुपात में किस्तों के द्वारा; और अदत्त शेषों (Outstanding Balance) पर ब्याज की दर।

१४—साझेदारी की अवस्था में की गई जीवन-बीमा पॉलिसियों, प्रव्याजि (Premiums) और पॉलिसी के रुपयों के विभाजन का तरीका।

१५—एक निश्चित-सूचना देकर किसी भागी का सार्थ से अलग होने का अधिकार।

१६—किसी भागी द्वारा अपने कर्त्तव्य का सकल उल्लंघन (Gross Breach of duty) करने पर अन्य भागियों द्वारा उसका सार्थ से निष्कासन (Expulsion) करने का अधिकार और उन्हें इस दशा में निष्कासन को क्रियान्वित या लागू करने के लिये किसी भी प्रलेख (Document) पर हस्ताक्षर करने का अधिकार देना।

१७—मध्यस्थ-वाक्य (Arbitration Clause)। यह उन अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा, जहाँ मध्यस्थ (Arbitration) का आश्रय लेना पड़ता है, भागिता-सार्थ में अधिक उपयोगी एवं मूल्यवान है। भागियों के बीच में अक्सर जो झगड़े उठ खड़े होते

है, जैसे—लेखा या हिसाब (Accounts) लेन में अक्सर आपस में फिसाद पैदा हो जाते हैं, उनका निबटारा न्यायालय की अपेक्षा मध्यस्थ के द्वारा अधिक अच्छी तरह हो जाता है।

भागिता-सार्थ का वैधानिक पहलू (Legal Aspect of Partnership)

भागिता सार्थ सम्बन्धी कानून सन् १९३२ के भारतीय-भागिता विधान (Indian Partnership Act of 1932) में दिये हैं। इस विधान के बनने से पहले, भागिता-सार्थ सम्बन्धी कानून सन् १८७२ के भारतीय-अनुबन्ध-विधान (Indian Contract Act of 1872) की २३९ से २६६ तक की धाराओं में निर्दिष्ट किया हुआ था। भागिता सार्थ सम्बन्धी कानून इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पर आधारित है कि जहा तक सम्भव हो सके भागियों को इतनी स्वतन्त्रता मिले कि वे अपने निजी मामलों का आपस में ही निबटारा कर सकें। यह समय समय पर कानूनी खानापूरी करके या इच्छानुकूल उन सब विषयों का प्रबन्ध करने की आज्ञा देता है जो केवल भागियों से ही सम्बन्धित हैं। इसी विचार को लेते हुए, इस विधान में अनेक धाराएं ऐसी हैं जो "भागियों के बीच हुए अनुबन्ध के अभाव में" "Subject to contract between the partners" इस वाक्यांश का विधान करती हैं जिसका मतलब होता है कि उनमें वे नियम हैं जो उनमें आपस में हुए अनुबन्ध के अभाव में ही लागू हो सकते हैं।

भागिता सार्थ या साझेदारी की परिभाषा (Definition of Partnership) 'भागिता सार्थ उन व्यक्तियों के बीच का पारस्परिक सम्बन्ध है, जो किसी व्यापार को सब मिलकर या सबकी जगह एक ही व्यक्ति द्वारा संचालित करने के लिये और लाभ-विभाजन के लिये सहमत होते हैं।"* जो व्यक्ति परस्पर एक दूसरे के साथ साझेदारी स्वीकार करते हैं, व्यक्तिगत रूप में भागी या साझीदार हैं सामूहिक रूप में सार्थ (Firm) कहलाते हैं, और जिस नाम से वे अपना व्यापार चलाते हैं उसे 'सार्थ का नाम' (Firm name) कहा जाता है (धारा ४)।

जहाँ अनुबन्ध द्वारा साझीदारों के बीच साझेदारी की अवधि के विषय में कोई विधान होता है, वह साझेदारी "इच्छित भागिता-सार्थ" (Partnership at will) कहलाती है (धारा ७)। एक व्यक्ति किसी विशेष साहस या जोखिम के व्यापार में किसी दूसरे व्यक्ति का साझीदार बन सकता है। ऐसी साझेदारी 'विशेष-साझेदारी' (Particular Partnership) कहलाती है (धारा ८)।

भागिता-सार्थ या साझेदारी के तत्व (Elements of Partnership)

भागिता-सार्थ की परिभाषा में निम्नलिखित तीन भिन्न-भिन्न बातें होती हैं—

---

*"Partnership is the relation between persons who have agreed to share the profits of a business carried on by all or any of them acting for all" Sec 4, of the Indian Partnership Act 1932

१—साझेदारी से सम्बन्धित सब व्यक्तियों का एक समझौता (Agreement) होना चाहिये। इसका मतलब यह है कि भागिता-सार्थ या साझेदारी की उत्पत्ति उस समझौते के अनुसार ही हो सकती है, जो दो या अधिक व्यक्तियों के बीच में हुआ हो, चाहे वह लिखित (Express) हो या ध्वनित (Implied)। उन सब भागियों का जो सार्थ में प्रविष्ट हुए हैं एक समझौता अवश्य होना चाहिये। वे व्यक्ति प्राकृतिक (Natural) या वैधानिक (Legal) हो सकते हैं। कोई सीमित-प्रमण्डल (Limited Company) या सम्मिलित-हिन्दू परिवार (Joint Hindu Family) एक भागी हो सकता है; लेकिन अधिकोषण का व्यवसाय करने के लिये दस से अधिक और अन्य किसी प्रकार का व्यापार करने के लिये, जो लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से किया गया हो, बीस से अधिक व्यक्तियों को किसी भागिता-सार्थ या साझेदारी का निर्माण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार भागिता-सार्थ एक अनुबन्ध से बनाई जाती है; यह किसी कानून की क्रिया से उत्पन्न नहीं होती। उस अनुबन्ध में जो भागिता-सार्थ की आधार-शिला है, अनुबन्धों के आवश्यक गुण होने चाहियें जैसे इसका कोई वैधानिक उद्देश्य (Legal object) हो और यह समर्थ (Competent) व्यक्तियों के बीच में होना चाहिये।

२—समझौता (Agreement) किसी व्यापार का लाभ बँटाने के लिए होना चाहिए, किसी व्यापार को चलाना ही समझौते का उद्देश्य होना चाहिये और वह व्यापार वैधानिक (Legal) होना चाहिये। लाभ बँटाना हो साझेदारी के समझौते का मुख्य तत्व है। धार्मिक या दानार्थ (Charitable) संस्थाओं और क्लबों के सदस्य भागी नहीं कहलाएँगे; क्योंकि इन संस्थाओं में लाभ बँटाने का विचार नहीं होता और कभी-कभी तो इन संस्थाओं में लाभ कमाने का ही प्रश्न नहीं उठता। लाभ बँटाने के लिये समझौता करना तो आवश्यक है; परन्तु हानि बँटाने के लिये समझौता करना आवश्यक नहीं है। जहाँ हानि के बँटाने के विषय में कुछ भी नहीं कहा जाता है, वहाँ भागिता-सार्थ के समझौते में यह ध्वनित (Implied) समझा जाता है। इस प्रकार का समझौता भी किया जा सकता है कि कोई एक या अधिक भागी हानि के लिये दायी (Liable) न हों।

३—व्यापार सब व्यक्तियों द्वारा या कुछ सम्बन्धित व्यक्तियों के द्वारा जो सब के लिये कर रहे हैं, चलाया जाना चाहिये। इसका मतलब यह है कि कानून के विचार से हर भागी भागिता-सार्थ का अभिकर्त्ता (Agent) है और फलस्वरूप भागिता-सार्थ के विषय और क्षेत्र के अन्दर दिये गये अपने सब कामों के लिये दूसरे भागियों को भी बाध्य कर सकता है। वास्तव में अध्यक्षता यानी मालिक होना और साझेदारी का सम्बन्ध अथवा एक-दूसरे का अभिकर्त्ता होना ही साझेदारी की सच्ची परीक्षा है।

साझेदारी के अस्तित्व का निर्णय किस प्रकार किया जाता है? यह निश्चय करना प्रायः बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है कि किसी विशेष अवस्था में साझेदारी का अस्तित्व है या नहीं। यह निश्चय करना आवश्यक हो सकता है कि साझीदारों के अधिकार क्या होंगे या ऋण-प्रदायकों को यह मालूम हो सके कि उनके ऋणों का भुगतान किसके द्वारा किया जायगा।

भागिता-सार्थ या साझेदारी के अस्तित्व के निर्णय करने में मुख्य नियम यह है कि साझीदारों के वास्तविक अनुबन्ध और उद्देश्य की ओर ध्यान देना चाहिये जैसा कि स्थिति की वास्तविक बातों से पता चलता हो। इन सब बातों पर एकसाथ विचार करना चाहिये। केवल इस तथ्य से भागिता-सार्थ का निर्माण नहीं होता कि विभिन्न पक्ष (Parties) समझौते में अपने को भागी बतलाएँ।

भागिता-सार्थ या साझेदारी का सम्बन्ध अनुबन्ध (Contract) से पैदा होता है; वस्तु-स्थिति से नहीं। इसलिये एक सम्मिलित हिन्दू परिवार के सदस्य जो कोई पारिवारिक-व्यापार चला रहे हों या कोई बौद्ध पति और स्त्री कोई व्यापार चला रहे हों, तो वे ऐसे व्यापार के भागी नहीं कहलायेंगे (धारा ५)। एक सम्मिलित-हिन्दू पारिवारिक सार्थ (Joint Hindu Family Firm) किसी समझौते के अनुसार नहीं बनती जिसमें भाग लेने वाले व्यक्ति स्वेच्छा से प्रवेश करते हों; बल्कि विधान के लागू होने पर इसका निर्माण होता है। किसी व्यापारिक परिवार में जिस क्षण भी एक बच्चा पैदा होता है, तो इसके पैदा होने मात्र से ही, यह उस व्यापारिक सार्थ का सदस्य बन जाता है। चूँकि भागिता-सार्थ अनुबन्ध से उत्पन्न होती है; वस्तु-स्थिति से नहीं; अत इससे यह अर्थ लगाया जाता है कि सम्मिलित पारिवारिक-सार्थ भागिता-सार्थ या साझेदारी नहीं समझी जाती। मुसलमानी-विधि (Mohammadan Law) में कोई पारिवारिक व्यापार सम्बन्धी साझेदारी नहीं होती जैसा कि हिन्दू-विधि (Hindu Law) में होती है, और दो भाइयों के बीच में हुआ कोई भी साझेदारी का कार्य उनके आपस में हुए अनुबन्ध के अनुसार होना चाहिये। लाभ या सकल प्राय (Gross Returns) के बटाने से ही जोकि उस सम्पत्ति से उत्पन्न होते हैं जिसमें लोगों का सम्मिलित-हित (Joint or Common Interest) है, ऐसे व्यक्ति भागी नहीं बन जाते।

किसी व्यापार के लाभ में किसी व्यक्ति के द्वारा हिस्सा बँटाने से या लाभ कमाने के सम्बन्ध में या लाभों से भिन्न किसी धन के भुगतान कर देने से कोई व्यक्ति उन व्यक्तियों का साझीदार नहीं बन जाता जोकि व्यापार चला रहे हैं। उदाहरण के लिये ऐसे लाभ के भाग को प्राप्त करने या कुछ धन चुकाने से निम्नलिखित व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के, जो व्यापार चला रहे हैं, भागी नहीं बन सकते :—

(अ) कोई ऋण-प्रदायक (Lender of money) जो व्यापार में लगे हुए या लगने वाले व्यक्तियों को धन देता है।

(ब) कोई कर्मचारी या अभिकर्त्ता जिसे पारिश्रमिक (Remuneration) मिलता है;

(स) किसी मृत भागी की विधवा या बालक जिसे वार्षिक-वृत्ति (Annuity) मिलती हो;

(द) अपनी ख्याति (Good will) के बेचने या उसके लाभांश (Share of Profit) की दृष्टि से व्यापार का कोई पहला मालिक (Previous owner) (धारा ६)।

सम्मिलित पारिवारिक हिन्दू व्यापार (Joint Hindu Family Business)

कोई सम्मिलित हिन्दू परिवार किसी पारिवारिक व्यापार को बिल्कुल अपने निजी लाभ के लिये चला सकता है, या यह एक या अधिक बाहरी व्यक्तियों को इस परिवार के साथ व्यापार में भागी बना सकता है। पारिवारिक व्यापार चलाने वाले किसी हिन्दू परिवार में सार्थ के लक्षण हो सकते हैं; किन्तु इसे सार्थ नहीं कहा जा सकता। भागिता-सार्थ का विधान किसी सम्मिलित हिन्दू व्यापार पर लागू नहीं होता जोकि पूर्ण रूप से हिन्दू विधान से बाध्य होता है।

भागिता-सार्थ और सम्मिलित हिन्दू व्यापारिक सार्थ में अन्तर

भागिता-सार्थ और सम्मिलित हिन्दू पारिवारिक सार्थ में मुख्य-मुख्य निम्न-लिखित बातों में अन्तर होता है:—

१—भागिता-सार्थ या साझेदारी का निर्माण अनुबन्ध के द्वारा होता है, किन्तु सम्मिलित हिन्दू पारिवारिक सार्थ का निर्माण हिन्दू-विधान के अनुसार होता है।

२—भागिता-सार्थ में प्रत्येक भागी सार्थ का अभिकर्त्ता होता है और उसे अपने सामान्य व्यापारिक कार्यों के लिये सार्थ को बाध्य करने का ध्वनित अधिकार (Implied Authority) होता है, लेकिन किसी सम्मिलित हिन्दू पारिवारिक सार्थ में केवल प्रबन्ध-कर्त्ता-सदस्य (Managing Member) या कर्त्ता ही व्यापार की साख या सम्पत्ति का बन्धक (Pledge) कर सकता है।

३—भागिता-सार्थ में किसी भागी अंश (Share) और उसकी निजी सम्पत्ति दोनों ही भागिता-सार्थ के ऋणों से भुगतान करने के लिये दायी होते हैं। परन्तु सम्मिलित हिन्दू पारिवारिक सार्थ में केवल प्रबन्धकर्त्ता-सदस्य ही व्यक्तिगत रूप से दायी होता है, और दूसरे सदस्य पारिवारिक सम्पत्ति के अपने अपने अंशों के अनुपात से ही दायी होते हैं; उनकी निजी सम्पत्तियों पर इसका दायित्व नहीं होता।

४—भागी को स्वयं लेखा-पुस्तकों को देखने या जाँच करने का अधिकार होता है; लेकिन सम्मिलित हिन्दू परिवार के किसी सदस्य को, जिसे सम भागी (Co-parcener) भी कहा जाता है, कुछ विशेष दशाओं के सिवाय पिछले लाभ-हानि के लेखों को देखने का अधिकार नहीं होता जबकि वह पारिवारिक व्यापार से सम्बन्धित है।

५—भागियों के अनुबन्ध के अधीन, किसी भागी की मृत्यु होने पर भागिता-सार्थ का विलीयन हो जाता है; परन्तु किसी सम-भागी (Co-parcener) या किसी

प्रबन्धकर्त्ता सदस्य की भी मृत्यु से सम्मिलित हिन्दू पारिवारिक सार्थ का विलीयन नहीं होता।

६—भागिता-सार्थ में कोई अवयस्क या नाबालिग (Minor) भागी नहीं हो सकता, यद्यपि उसे साझेदारी का लाभ बँटाने के लिये सार्थ में सम्मिलित किया जा सकता है। लेकिन सम्मिलित हिन्दू पारिवारिक व्यापार में अवयस्क भी सम-भागी हो जाता है।

७—भागिया (Partners) या बाहर के लोगों पर अभियोग (Suit or case) चलाने के लिये भागिता-सार्थ का पञ्जीयन (Registration) करना आवश्यक होता है; परन्तु सम्मिलित हिन्दू पारिवारिक सार्थ की अवस्था में ऐसा कोई पञ्जीयन आवश्यक नहीं होता।

भागियों के एक दूसरे से सम्बन्ध (Relations of Partners to one another)

भागी इस बात के लिये बाध्य होते हैं कि वे अधिक से अधिक सम्मिलित लाभ के लिये सार्थ के व्यापार को चलायें, एक-दूसरे के प्रति न्यायोचित और वफादारी का व्यवहार करें और सार्थ से सम्बन्धित सब बातों के ठीक-ठीक लेखे और सूचना किसी भागी या अपने वैधानिक प्रतिनिधि (Lagal Representative) को दें। प्रत्येक भागी सार्थ को उस क्षति को पूर्ण करेगा जोकि सार्थ के व्यापार में उसके कपटपूर्ण (Fraudulent) व्यवहार से हुई हो (धारा ६ और १०)। ये स्वतन्त्र निर्बन्ध (Adsolute Provisions) हैं और भागियों के बीच हुए अनुबन्ध के अधीन नहीं होते। लेकिन भागियों के अन्य अधिकार और कर्त्तव्य चाहे भागिता सार्थ के संविदा में उनका वर्णन हो या विधान (Act) में उनकी परिभाषा दी गई हो, भागियों की अनुमति से बदले जा सकते हैं, और ऐसी अनुमति या तो लिखित रूप में दी जा सकती है या तत्सम्बन्धी व्यवहार से ध्वनित (Implied) हो सकती है। ऐसे अनुबन्ध में इस बात का भी विधान हो सकता है कि कोई भागी सार्थ के व्यापार के अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार उस समय तक नहीं चलायेगा, जब तक कि वह उस सार्थ में भागी है (धारा ११)।

इस विधान में भागियों के अधिकारों और कर्त्तव्यों के विषय में बड़े महत्त्वपूर्ण नियम हैं। १२ से १७ तक की धाराओं में, भागियों के किसी अनुबन्ध के अभाव में, उनके आपस के सम्बन्ध निम्नलिखित नियमों के अनुसार समझे जाते हैं :—

१—प्रत्येक भागी को व्यापार के सञ्चालन में भाग लेने का अधिकार होता है।

२—प्रत्येक भागी व्यापार के संचालन में अपने कर्त्तव्यों को तत्परता एवं परिश्रम से पूर्ण करने के लिये बाध्य होता है।

३—व्यापार से सम्बन्धित सामान्य मामलों के विषय में उठा हुआ कोई झगड़ा भागियों के बहुमत से तै किया जा सकता है और हर भागी को उस मामले के तै होने

से पहले अपनी अनुमति प्रकट करने का अधिकार होता है, लेकिन बिना सब भागियों की अनुमति के व्यापार के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

४—प्रत्येक भागी को सार्थ की किसी भी पुस्तक के देखने, निरीक्षण करने और प्रतिलिपि (Copy) करने का अधिकार होता है।

५—किसी भागी को व्यापार के संचालन में भाग लेने के लिये पारिश्रमिक लेने का अधिकार नहीं होता।

६—भागियों को कमाये हुए लाभों में बराबर भाग बँटाने का अधिकार होता है; और वे सार्थ की हानियों की पूर्ति करने के लिये भी समान रूप से ही बाध्य होते हैं।

७—जहाँ कोई भागी अपनी पूँजी पर ब्याज पाने का अधिकारी होता है, यह ब्याज केवल लाभ में से ही चुकाई जा सकती है।

८—व्यापार के किसी कार्य में अपनी निश्चित पूँजी के अतिरिक्त जोकि उसे उस व्यापार मे लगानी है या जिसके लिये उसने समझौता किया है, कोई भागी यदि और अधिक धन व्यापार के किसी काम के लिये देता है या भुगतान करता है, तो उसे उस पर ६ प्रतिशत वार्षिक ब्याज लेने का अधिकार होता है।

९—व्यापार के सामान्य और उचित संचालन में और किसी आकस्मिक दुर्घटना से सार्थ को बचाने के लिये अपनी शक्ति को लगाने में किसी भागी को जो हानि होगी और जिन दायित्वों को सहन करना पड़ेगा, सार्थ उनकी क्षति पूर्ति (Indemnification) करने के लिये बाध्य होगी।

१०—भागी सार्थ की उस क्षति की पूर्ति करेगा जो सार्थ को उसकी इच्छित (Wilful Negligence) के कारण सहन करनी पड़ती है, जोकि उसने सार्थ के व्यापार के संचालन में की हो।

११—सार्थ की सारी सम्पत्ति, जिसमें ख्याति (Goodwill) भी शामिल है, भागियों के द्वारा पूर्ण रूप से व्यापार के किसी प्रयोजन या कार्य के लिये ही निर्धारित की जा सकती है या प्रयोग में लाई जा सकती है।

१२—यदि कोई भागी सार्थ से कोई गुप्त लाभ उठाता है, तो वह इस लाभ का हिसाब देने और इसे सार्थ को चुकाने के लिये बाध्य होता है।

१३—यदि कोई भागी सार्थ की स्पर्द्धा (Competition) में कोई व्यापार चलाता है, तो वह इस बात के लिये बाध्य होता है कि वह उस व्यापार का सब हिसाब और लाभ सार्थ को दे।

१४—जहाँ सार्थ के संविधान (Constitution) में कोई परिवर्तन होता है, तो उस पुनःनिर्मित (Reconstituted) सार्थ में भागियों के पारस्परिक अधिकार और कर्त्तव्य जहाँ तक हो सकता है, वही रहते हैं जोकि इस परिवर्तन से पहले थे।

१५—जहाँ किसी निश्चित अवधि के लिये बनाई हुई कोई सार्थ उस अवधि के समाप्त हो जाने पर भी व्यापार को चलाती रहती है, तो भागियों के पारस्परिक अधिकार और कर्त्तव्य वही रहते हैं जो उस अवधि से पहले थे।

व्यापार के प्रतिरोध के विषय में भागियों का समझौता

(Agreement between Partners in Restraint of Trade)

'भारतीय अनुबन्ध विधान' की २० वीं धारा यह विधान करती है कि ऐसा कोई भी समझौता व्यर्थ (Void) या अवैधानिक होता है जो व्यापार का प्रतिरोध (Restraint) करता हो। साधारण नियम यह है कि प्रत्येक समझौता जिससे किसी व्यक्ति को कोई विधि पूर्ण (Lawful) व्यवसाय, व्यापार या किसी प्रकार का धन्धा करने से रोका जाय, उस हद तक व्यर्थ (Void) है। लेकिन भागिता-सार्थ की अवस्था में, इस साधारण नियम के भी चार अपवाद (Exceptions) हैं। वे ये हैं—

१—भागियों में हुआ कोई अनुबन्ध यह विधान कर सकता है कि कोई भागी सार्थ के व्यापार के अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार नहीं करेगा, जब तक कि वह सार्थ में एक भागी है—धारा ११ (२)।

२—भागी यह समझौता कर सकते हैं कि यदि उनमें से कोई भागिता-सार्थ से अलग हो जाता है, तो वह एक विशेष क्षेत्र के अन्दर, एक विशेष समय की अवधि तक सार्थ के समरूप (Similar) कोई व्यापार नहीं करेगा। व्यापार के प्रतिरोध के विषय में किया गया ऐसा समझौता व्यर्थ नहीं होगा ; यदि वह प्रतिरोध जो उससे लगाया गया है युक्ति-संगत (Reasonable) हो—धारा ३६ (२)।

३—भागी, सार्थ के विलीयन होने पर या इससे पहले यह समझौता कर सकते हैं कि उनमें से कुछ या सब किन्हीं विशेष स्थानीय सीमाओं में या किसी विशेष समय की अवधि के लिये सार्थ के समरूप कोई व्यापार नहीं चलायेंगे। ऐसा समझौता, यदि लगाये हुए प्रतिरोध युक्ति-संगत हों, तो व्यर्थ नहीं होगा—धारा ५४।

४—कोई भागी, सार्थ की ख्याति के बेचने पर, खरीदार से समझौता कर सकता है कि ऐसा भागी किसी विशेष स्थानीय सीमा में और किसी विशेष समय तक सार्थ के समरूप कोई व्यापार नहीं करेगा। यदि लगाए हुए प्रतिरोध युक्ति-संगत हों तो ऐसा समझौता व्यर्थ नहीं होगा—धारा ५५ (३)।

भागियों का अन्य पक्षों से सम्बन्ध
(Relation of Partners to Third Parties)

भागी का अधिकार (Authority of Partner)—भागिता-सार्थ के कानून का यह एक लाक्षणिक रूप (Characteristic feature) है, कि भागी अध्यक्ष और अभिकर्त्ता दोनों ही होता है। एक अध्यक्ष की हैसियत से वह सार्थ की ओर से किये गये कार्यों के लिये स्वयं बाध्य होता है और अभिकर्त्ता की हैसियत से वे ही कार्य उसके सह-भागियों को भी बाध्य करते हैं। किसी भागी का सार्थ को बाध्य करने का अधिकार उसका 'ध्वनित-अधिकार' (Implied Authority) कहा जाता है।

भागी आपस में चाहे जो कुछ निजी सम्बन्ध रखते हों, उनसे व्यवहार करने वाले मनुष्यों को यह समझने का अधिकार होता है कि भागिता-सार्थ के क्षेत्र में आने वाले मामलों में भागी के सब कार्य सार्थ को बाध्य करते हैं और भागी को कोई भी ऐसा कार्य करने का अधिकार होता है। इसलिये व्यापारिक भागिता-सार्थ में प्रत्येक भागी, सार्थ के पदार्थों को बेचकर, सार्थ के लिये पदार्थों को खरीद कर, सार्थ की ओर आने वाले ऋणों को प्राप्त करके, भागिता-सार्थ के व्यापार के लिये कर्मचारी नियुक्त करके, बिल (Bills) लेकर सार्थ की साख पर रुपया उधार लेकर और सार्थ की सम्पत्ति का बन्धक (Pledge) करके सार्थ को बाध्य कर सकता है।

दूसरी ओर देश के व्यापारिक रीति-रिवाजों की अनुपस्थिति में कोई भागी अपने ध्वनित अधिकार से निम्नलिखित कार्य नहीं कर सकता :—

१—सार्थ के व्यापार सम्बन्धी किसी झगड़े को मध्यस्थ को सौंपना ;

२—सार्थ की ओर से अपने नाम में कोई अधिकोष का लेखा या हिसाब (Banking Account) खोलना ;

३—कोई राजीनामा करना (To Compromise), सार्थ के किसी स्वत्व (Claim) या उस स्वत्व के किसी भाग को छोड़ना।

४—सार्थ की ओर से लगाये गये किसी अभियोग (Suit) या उसकी कार्यवाही (Proceedings) को वापिस लेना।

५—सार्थ के विरुद्ध चलाए गये किसी अभियोग या कार्यवाही में कोई दायित्व स्वीकार करना।

६—सार्थ की ओर से कोई अचल-सम्पत्ति (Immovable Property) प्राप्त करना।

७—सार्थ की किसी अचल सम्पत्ति को हस्तान्तरित (Transfer) करना।

८—सार्थ की ओर से किसी साझेदारी में प्रवेश करना।

सार्थ के भागी, आपस में किए गए अनुबन्ध के द्वारा किसी भागी के ध्वनित-अधिकार को बढ़ा सकते हैं या उस पर कुछ रोक लगा सकते हैं। लेकिन ऐसी

किसी रोक पर ध्यान न देते हुए, सार्थ की ओर से किसी भागी के द्वारा किया हुआ कोई कार्य जो उसके ध्वनित अधिकार के अन्दर है, सार्थ को बाध्य करता है; जबकि वह व्यक्ति जिसके साथ वह भागी व्यवहार कर रहा है, उस रोक के विषय में न जानता हो या उस भागी को वह व्यक्ति सार्थ का एक भागी न समझता हो या ऐसा उसका विश्वास हो कि वह सार्थ का भागी नहीं है।

भागी को यह अधिकार होता है कि वह सकटकाल में, सार्थ को हानि से बचाने के प्रयोजन से ऐसा कोई काम कर सकता है, जिसे कोई सामान्य-विवेक (Ordinary Prudence) वाला व्यक्ति ऐसी अवस्था में अपने लिये करता। ऐसे कार्य सार्थ को बाध्य करते हैं।

किसी सार्थ को बाध्य करने के लिये किसी भागी या अन्य व्यक्ति के द्वारा सार्थ की ओर से किया हुआ काम सार्थ के नाम से हो किया जायगा या किसी दूसरे तरीके से भी किया जा सकता है जो साथ को बाध्य करने का कोई लिखित या ध्वनित इरादा रखता हो। सार्थ के कार्यों के सम्बन्ध में किसी भागी के द्वारा कोई स्वीकृति या प्रतिनिधित्व, यदि वह सामान्य व्यापारिक व्यवहार में आता है, तो यह साथ के विरुद्ध एक सफाई (Evidence) बन जाता है। प्रत्येक भागी, सार्थों के सब कार्यों के लिये, जबकि वह एक भागी है, दूसरे सब भागियों के साथ और अलग भी दायी होता है।

जहाँ सार्थ के सामान्य व्यापारिक व्यवहार में किसी भागी के गलत कार्य या भूल से किसी अन्य पक्ष को, कोई हानि या चोट पहुँची हो, या कोई दण्ड मिला हो, तो सार्थ इसके लिये उतना ही दायी है जितना कि वह भागी। यदि किसी अन्य व्यक्ति का धन या सम्पत्ति सार्थ की बन्धक में है, और कोई इसका दुरुपयोग या गलत प्रयोग करता है, तो सार्थ इसके लिये दायी होगी (धारा १८—२७)।

भागी का सार्थ से बाहर रहना (Holding out of a partner from the firm)—

एक व्यक्ति जो सार्थ का भागी नहीं है, परन्तु अपना नाम एक भागी के रूप में सार्थ को दे देता है, एक भागी की ही भाँति उन व्यक्तियों का प्रतिदायी होता है, जो उस व्यक्ति की साख पर सार्थ के साथ लेन देन का व्यवहार करते हैं। वह व्यक्ति इसलिये एक भागी के रूप में नियत किया जाता है कि वह अपने दायित्व से उस कपटपूर्ण व्यवहार को रोक सके जिनके लिये ऋण प्रदायक (Creditors) दायी होते। जब कोई मनुष्य एक भागी के रूप में सार्थ से बाहर रहता है, या दूसरों को ऐसा करने की अनुमति दे देता है, तब वह अपने इस कार्य से भागी के दायित्व को स्वीकार करने के लिये बाध्य होता है और उसे Partner by estoppel या Quasi partner कहते हैं।

यदि कोई मनुष्य सार्थ के भागी की हैसियत से सार्थ से बाहर रहता है, तो वह व्यक्तिगत रूप से दायी होता है। यद्यपि इससे वह वास्तव में सार्थ का भागी नहीं होता और वह सार्थ से कोई ऐसे अधिकार भी नहीं ले सकता जोकि सार्थ से उसके वास्तविक भागियों को मिले हैं। इस प्रकार एक भागी बनने से वह सार्थ का अभिकर्त्ता नहीं होता। वह केवल उस ऋण या धन आदि के लिये उत्तरदायी होता है जो सार्थ को उसके प्रतिनिधित्व के विश्वास पर अथवा उसकी साख पर मिले हों।

जहाँ ऐसे भागी की मृत्यु के बाद सार्थ अपने पुराने नाम से ही काम करती रहती है, तो उस नाम के निरन्तर प्रयोग के कारण या इस कारण कि उस मृतभागी का नाम सार्थ के नाम का एक भाग रहता है, उसके वैधानिक प्रतिनिधि या वारिस या उसकी जायदाद सार्थ के किसी भी कार्य के लिये दायी नहीं होगी जोकि उसकी मृत्यु के बाद किया गया हो।

भागी के हित का हस्तान्तरण (Transfer of a Partner's Interest)

किसी भागी के द्वारा सार्थ में अपने हित (Interest) का हस्तान्तरण या तो स्वतन्त्र रूप से हो सकता है या रेहन (Mortgage) के द्वारा या ऐसे हित पर कोई प्रभार (Charge) रखने से। भागिता-सार्थ के कानून में मौलिक सिद्धान्त यह है कि कोई अजनबी आदमी भागियों पर उनकी इच्छा के विरुद्ध कोई भार नहीं डाल सकता। फलस्वरूप, जब कोई भागी सार्थ में अपने हित को हस्तान्तरित करता है, तब न तो हस्तान्तरक (Transferer) भागी के अधिकारों से वञ्चित ही होता है और न हस्तान्तरिती (Transferee) को भागी के अधिकार ही प्राप्त होते हैं।

भागिता-सार्थ के अवधि-काल में हस्तान्तरिती को जिसे किसी भागी के हित का हस्तान्तरण किया गया है, यह अधिकार नहीं होता कि वह व्यापार के संचालन में कोई हस्तक्षेप करे, या कोई हिसाब ले, या सार्थ की पुस्तकों का निरीक्षण करे। वह केवल हस्तान्तरण करने वाले भागी के लाभांश को प्राप्त करने का अधिकारी होता है और उसे भागियों के द्वारा दिये हुए हिसाब को स्वीकार करना पड़ता है।

लेकिन यदि सार्थ का विलीयन हो जाता है या हस्तान्तरण करने वाला भागी, भागी नहीं रहता, तो हस्तान्तरिती को हस्तान्तरण करने वाले भागी के उस अंश को प्राप्त करने का अधिकार होता है जो हस्तान्तरक ने सार्थ की सम्पत्ति में लगाया है, और इस प्रयोजन के लिये, उसे सार्थ के विलीयन होने की तारीख से हिसाब लेने का अधिकार होता है।

अवयस्क-भागी (Minor as Partner)

चूँकि साझेदारी के निर्माण के अनुबन्ध की क्षमता आवश्यक होती है, इसलिये कोई अवयस्क स्वय भागी नहीं बन सकता क्योंकि यदि वह भागी बनता है तो उसे इस दशा में भागी के अधिकार मिलेंगे और उसे एक भागी के दायित्व भी सहन करने पड़ेंगे। तो भी वह साझेदारी के लाभों में शामिल हो सकता है। इस दशा में उसके सरक्षक को उसकी ओर से दूसरे भागियों के साथ समझौता करना पड़ता है। इस विषय में कानून के नियम इस प्रकार हैं —

१—कोई अवयस्क किसी सार्थ में भागी नहीं हो सकता; लेकिन उसे भागिता-सार्थ के लाभों में शामिल किया जा सकता है। सार्थ में उसको यह स्थिति भागियों की लिखित अनुमति से ही दी जा सकती है; उसे उनके ऊपर थोपा नहीं जा सकता।

२—अवयस्क को सार्थ की ऐसी सम्पत्ति और लाभों में हिस्सा बँटाने का अधिकार होता है जिस पर सब भागियों में समझौता हो जाता है, वह सार्थ के लेखों को देख सकता है और सार्थ के किसी भी लेखे की प्रतिलिपि भी कर सकता है। यह केवल लेखों को ही देख सकता है, सब पुस्तकों को नहीं; क्योंकि अवयस्क को सार्थ की सब पुस्तकों को देखने देना खतरनाक है; कुछ पुस्तकों मे गुप्त रहस्य हो सकते हैं जिन्हें भागियों से छिपाना पड़ता है। सिवाय उस अवस्था के जबकि वह सार्थ से अपना सम्बन्ध तोड़ देता है, वह अपनी सम्पत्ति या लाभ के अश के लिये भागियों पर अभियोग नहीं चला सकता। केवल सार्थ में लगाई हुई उसकी सम्पत्ति और लाभ का अश ही सार्थ के कार्यों के लिये दायी होता है, लेकिन, जब तक वह अवयस्क है, वह स्वय व्यक्तिगत रूप से दायी नहीं होता।

३—उसके अवयस्क हो जाने पर, या उसे यह मालूम हो जान पर कि उसे एक भागी की सुविधाए और लाभ मिल गये हैं, एक आम सूचना (Notice) देनी पड़ती है, कि वह उस सार्थ का भागी बनना चाहता है या उससे अपने सम्बन्ध विच्छेद करना चाहता है। यदि वह ऐसी कोई जन-सूचना नहीं देता, तो वह इन छ महीनों के निकल जाने के बाद, सार्थ का भागी बन जाता है।

४—जब कोई अवयस्क भागी बन जाता है, अवयस्क की हैसियत से उसके अधिकार उस दिन तक चलते हैं जब तक कि वह भागी बन जाता है। परन्तु वह भी अन्य पक्षों के प्रति व्यक्तिगत रूप से सार्थ के उन सब कार्यों के लिये भी दायी होता है जोकि उसके भागिता-सार्थ में प्रवेश करन के समय से किये गये हों; और सार्थ की सम्पत्ति और लाभों में उसका वही अंश होगा जिसका कि वह अवयस्क की अवस्था में अधिकारी था।

५—जब कोई अवयस्क भागी न रहने की जन-सूचना (Public Notice) दे देता है, तो उसके अवयस्क की हैसियत से अधिकार और दायित्व उस दिन तक रहते हैं, जब तक कि वह ऐसी जन-सूचना देता है। वह सूचना देने के दिन से सार्थ के किसी भी कार्य के लिये दायी नहीं होता और उसे अपनी सम्पत्ति और लाभ के अंश को प्राप्त करने के लिये अन्य भागियों पर अभियोग चलाने का अधिकार होता है—धारा ३०।

आगन्तुक भागी (Incoming Partners)

भागियों के अनुबन्ध के अभाव में, वर्त्तमान भागियों की अनुमति के बिना किसी भी अन्य व्यक्ति को सार्थ में भागी नहीं बनाया जा सकता। इस विषय में लोगों का सामान्य विचार यह है कि सार्थ में किसी नये भागी को लेने के लिये वर्त्तमान सब भागियों की अनुमति इसलिये आवश्यक है जिससे सार्थ के सब भागी मिलजुल कर एकता से काम कर सकें। तो भी, इस विषय में पहले ही यदि भागियों में आपस में ऐसा कोई अनुबन्ध हो जाता है; जैसे कि यदि किसी बडे भागी (Senior Partner) को यह अधिकार होगा कि वह किसी भी समय या किसी विशेष घटना के होने पर किसी नये भागी को सार्थ में प्रविष्ट कर सकता है, तो सार्थ के भागी इस अनुबन्ध से बाध्य होंगे, चाहे उस समय या उस विशेष घटना के आने पर एक या अधिक भागी इस नये भागी का सार्थ में प्रवेश कराने के लिये सहमत न हों—धारा ३१ (१)।

आगन्तुक भागी के अधिकार और कर्त्तव्य (Rights and Liabilities of the Incoming Partner) : आगन्तुक भागी के निम्नलिखित अधिकार और कर्त्तव्य हैं :—

१—कोई नया भागी अपने आने से पहले किये गये सार्थ के किसी भी कार्य के लिये दायी नहीं होगा—धारा ३१ (२)। उसके भागी बन जाने के बाद, सार्थ के द्वारा किये गये सब कार्यों के लिये वह दायी होगा—धारा २५।

२—जब कोई अवयस्क, जिसे साझेदारी के लाभों के लिये सार्थ में प्रविष्ट कर लिया गया है; वयस्क होने पर सार्थ का भागी रहना निश्चय करता है, तब वह उस दिन से दायी होता है जिस दिन उसे भागिता-सार्थ से लाभ उठाने के लिये प्रविष्ट किया गया था—धारा ३०।

३—कोई आगन्तुक-भागी साझेदारी की शर्तों के अधीन होता है; परन्तु यदि उससे कोई भिन्न प्रकार का समझौता कर लिया गया है तो वह साझेदारी की

शर्तों से बाध्य नहीं होता, और वह वर्तमान भागियों के समान ही सब अधिकारों को प्राप्त करने का हकदार होता है, यदि उसने भिन्न कोई लिखित समझौता न किया हो।

वहिर्गन्तुक-भागी (Outgoing Partners)

निवृत्ति (Retirement), निष्कासन (Expulsion), दिवालियापन (Insolvency) या मृत्यु हो जाने पर किसी भागी को वहिर्गन्तुक भागी कहते हैं।

निवृत्ति (Retirement) (अ) अन्य सब भागियों की अनुमति से या (ब) भागियों के द्वारा किये गये किसी लिखित समझौते के अनुसार, या (स) जहाँ साझेदारी इच्छानुकूल (At will) हो, कोई भागी अन्य सब भागियों को अपने निवृत्त (Retire) होने के अभिप्राय (Intention) की लिखित सूचना (Written Notice) देकर सार्थ से निवृत्त हो सकता है—धारा ३२ (१)।

कोई निवृत्त भागी, किसी तीसरे पक्ष (Third Party) के प्रति उसकी निवृत्ति से पहले किये गये, सार्थ के उन कार्यों के दायित्वों से बरी किया जा सकता है, यदि उसने उस तीसरे पक्ष से और पुनःनिर्मित सार्थ (Reconstituted firm) के भागियों से, कोई लिखित या ध्वनित समझौता कर लिया हो—धारा ३२ (२)। निवृत्त भागी उस समय तक सार्थ के कार्यों के लिये अन्य पक्ष के प्रति दायी रहता है जब तक कि वह अपनी निवृत्ति की जन-सूचना नहीं देता। लेकिन कोई निवृत्त-भागी (Retired Partner) उस अन्य पक्ष के प्रति दायी नहीं होता जो बिना यह जाने सार्थ के साथ व्यवहार करता है कि वह निवृत्त व्यक्ति भी सार्थ में एक भागी था—धारा ३२ (३)। कोई निष्क्रियभागी (Dormant Partner) बिना जन सूचना दिये हुए ही सार्थ से अलग हो सकता है।

निष्कासन (Expulsion) —सिवाय उस दशा के, जबकि कोई भागी अपनी शक्ति का, जो उसे भागियों के आपस के अनुबन्ध से मिली है, ठीक-ठीक वफ़ादारी के साथ प्रयोग नहीं करता हो, उसे अन्य भागियों के कितने ही बड़े बहुमत होने पर भी सार्थ से नहीं निकाला जा सकता—धारा ३३ (१)। भागियों के आपस के लिखित संविदा के द्वारा ही किसी भागी को निकालने का अधिकार निश्चित किया जा सकता है। कहीं चाहे ऐसा अधिकार हो भी, लेकिन इसका प्रयोग भागियों के बहुमत के द्वारा ही किया जा सकता है और इसका प्रयोग बिल्कुल वफ़ादारी के साथ करना चाहिये।

धारा ३३ (२) यह विधान करती है कि जो नियम पक्षों के प्रति किसी

भागी के दायित्वों के विषय में लागू होते हैं, वे ही किसी निष्कासित भागी के विषय में भी लागू होंगे।

दिवालियापन (Insolvency) जब किसी सार्थ में कोई भागी वैधानिक रीति से दिवालिया घोषित होता है तो दिवालिया घोषित होने की तिथि से वह सार्थ में भागी नहीं रहता, चाहे सार्थ का विलीयन हो या न हो। जब भागियों के अनुबन्ध के अनुसार किसी भागी के दिवालिया घोषित होने पर भी सार्थ का विलीयन नहीं होता, तो इस प्रकार दिवालिया घोषित हुए भागी की सम्पत्ति सार्थ के किसी भी कार्य के लिये दायी नहीं होती और सार्थ भी उस दिवालिये के किसी कार्य के लिये उत्तरदायी नहीं होती जो दिवालिया घोषित होने की तिथि के बाद उसने किया हो।

मृत्यु (Death) जहाँ भागियों के अनुबन्ध के अनुसार किसी भागी की मृत्यु के बाद सार्थ का विलीयन नहीं होता, तो मृत-भागी (Deceased) की सम्पत्ति उसकी मृत्यु के बाद किये गये सार्थ के किसी भी कार्य के लिये दायी नहीं होती—धारा ३५। किसी भागी की मृत्यु के बाद सार्थ का विलीयन, भागियों के अनुबन्ध के अधीन होता है—धारा ४२ (२)। जब कोई साथ इस प्रकार भग हो जाती है, मृतभागी की सम्पत्ति ऐसे किसी भी दायित्व के अधीन नहीं होती, यद्यपि शेष रहने वाले सब भागी सार्थ की ओर से किये गये उन सब कार्यों के लिये दायी होते हैं जो कि जन-सूचना दिये जाने तक किये गये हों—धारा ४५ (१)। अतः इसका अर्थ यह हुआ कि मृत्यु के बाद मृत भागी की सम्पत्ति सार्थ के किसी कार्य के लिये दायी नहीं होती, चाहे उसकी मृत्यु से सार्थ का विलीयन हुआ हो या नहीं।

वहिर्गत-भागी के अधिकार और दायित्व (Rights and Liabilities of an Outgoing Partner) किसी वहिर्गत भागी के निम्नलिखित अधिकार और दायित्व होते हैं।

१—किसी निवृत्त (Retired) या निष्कासित (Expelled) भागी को उसकी निवृत्ति या निष्कासन से पहले किये गये साथ के कार्यों के लिये अन्य पक्ष के प्रति किसी भी दायित्व से उस लिखित या ध्वनित सविदा के अनुसार बरी किया जा सकता है जो उसने अन्य पक्षों और पुनर्निर्मित-सार्थ (Reconstituted firm) के भागियों के साथ किया हो—धारा ३२ (३)।

२—कोई निवृत्त या निष्कासित भागी सार्थ के सब कार्यों के लिये अन्य पक्षों के प्रति उस समय तक दायी होता है, जब तक कि वह निवृत्ति या निष्कासन की जन-

सूचना नहीं दे देता, लेकिन वह उस अन्य-पक्ष के लिये दायी नहीं होगा, जो बिना यह जाने हुए सार्थ के साथ व्यवहार करता है कि वह भी सार्थ का एक भागी था—धारा ३२ (३)।

३—किसी बहिर्गत-भागी को यह अधिकार होता है कि वह कोई ऐसा व्यापार चला सके, जो सार्थ के साथ स्पर्द्धा (Competition) करता हो और वह ऐसे व्यापार के विषय में विज्ञापन (Advertisement) कर सकता है, यदि उसने सार्थ के साथ कोई ऐसा संविदा न किया हो कि वह किसी विशेष स्थानीय सीमा के अन्दर ऐसा व्यापार न करेगा—धारा ३६ ।

४—किसी बहिर्गत-भागी को (अ) सार्थ का नाम प्रयोग करने का, (ब) सार्थ के व्यापार का प्रतिनिधित्व दिखलाने का, (स) सार्थ के पुराने ग्राहकों को रीति का अनुगमन करने का, कोई अधिकार नहीं है जब तक कि इस विषय में दूसरे भागी स्वयं ऐसा कोई अनुबन्ध न कर लें—धारा ३६ ।

५—जब व्यापार को चलाने वाले शेष भागी बहिर्गत-भागी से, सार्थ के हिसाब-किताब को अन्तिम रूप से तै किये बिना, सार्थ की सम्पत्ति से सार्थ का व्यापार चलाते हैं, तब इसके विपरीत किसी प्रकार का अनुबन्ध न होने की अवस्था में, बहिर्गत भागी को अपनी इच्छानुसार सार्थ के लाभ में हिस्सा बँटाने या ६ प्रतिशत वार्षिक ब्याज लेने का अधिकार है—धारा ३७।

सार्थ का विलीयन (Dissolution of a Firm)—सार्थ के सब भागियों की आपस की साझेदारी के भंग होने को सार्थ का भंग होना या सार्थ का विलीयन (Dissolution of a Firm) कहते हैं—धारा ३९। किसी सार्थ के भंग होने की निम्नलिखित ५ पद्धतियाँ हैं—

१—समझौते के अनुसार विलीयन (Dissolution by Agreement) : सब भागियों की अनुमति से या उनके आपस के अनुबन्ध के अनुसार सार्थ का विलीयन हो सकता है—धारा ४० ।

२—अनिवार्य विलीयन (Compulsory Dissolution) : (i) सब साझीदारों के दिवालिया होने पर या (ii) एक साझीदार के अतिरिक्त अन्य सब साझीदारों के दिवालिया होने पर या (iii) सार्थ का व्यापार किसी घटना के होने पर जिससे सार्थ का व्यापार चलाना अथवा भागियों की साझेदारी अवैधानिक हो जाय, तो भागिता-सार्थ का विलीयन हो जाता है।

३—सम्भाव्य-विलीयन (Contingent Dissolution)—यदि किसी प्रकार का कोई दूसरा समझौता न हो तो सार्थ का विलीयन निम्न अवस्थाओं में हो जाता है :—

(१) यदि सार्थ का निर्माण किसी निश्चित अवधि के लिये हुआ हो तो उस अवधि के समाप्त होने पर,

(२) यदि किसी निश्चित हेतु या व्यापार की पूर्ति के लिये सार्थ का निर्माण किया गया हो तो उस हेतु अथवा व्यापार की पूर्ति होने पर,

(३) किसी भी भागी की मृत्यु होने पर; और

(४) किसी भी भागी के वैधानिक दिवालिया घोषित होने पर सार्थ का विलीयन हो जाता है।

४—सूचनागत विलीयन (Dissolution by Notice) : यदि इच्छित भागिता-सार्थ हो तो भागियों की इच्छानुसार किसी भी भागी के द्वारा अन्य भागियों को सार्थ के विलीयन की लिखित सूचना देने पर सार्थ का विलीयन हो सकता है और उस सूचना देने की तिथि से या विलीयन की यदि निश्चित तिथि सूचना में दी हो तो उस दिन से सार्थ का विलीयन हो जाता है—धारा ४३।

५—न्यायालयीन विलीयन (Dissolution by Court) :—यदि कोई भागी न्यायालय में अभियोग चलाता है तो न्यायालय निम्नलिखित किसी भी बात के आधार पर सार्थ के विलीयन की आज्ञा दे सकता है :—

(१) अभियोग चलाने वाले भागी के अतिरिक्त अन्य किसी भागी का दिमाग खराब हो गया हो अथवा पागल हो गया हो ;

(२) अभियोग चलाने वाले भागी के अतिरिक्त अन्य कोई भागी सार्थ में भागी की हैसियत से काम करने के लिये स्थायी रूप से (Permanently) अयोग्य हो गया हो।

(३) अभियोग चलाने वाले भागी के अतिरिक्त अन्य कोई भागी कोई ऐसा दुराचरण करता हो जो साथ के लिये हानिकारक है।

(४) अभियोग चलाने वाले भागी के अतिरिक्त अन्य कोई भागी जान-बूझ कर या बार-बार सार्थ के प्रबन्ध (Management) सम्बन्धी समझौते (Agreement) के विरुद्ध कार्य करता है या व्यापार सम्बन्धी अपने व्यवहार इस प्रकार करता है जिससे अन्य भागियों को उसके साथ सार्थ में व्यापार करना असम्भव हो गया हो ;

(५) अभियोग चलाने वाले भागी के अतिरिक्त अन्य किसी भागी ने, सार्थ में उसका जो हित या लाभ है, उसे किसी तीसरे व्यक्ति को पूर्णतः हस्ता-

न्तरित कर दिया हो, या उसने अपने अंश (Share) को न्यायालय द्वारा प्रभारित करने (*To be charged*) अथवा बेचने की अनुज्ञा देदी हो।

(६) सार्थ का व्यापार सचालन बिना हानि के नहीं किया जा सकता हो ; और

(७) कोई भी अन्य कारण, जो समुचित (Just) और न्याय्य (Equitable) हो, जिससे कि सार्थ का विलीयन कर देना चाहिये—धारा ४४।

समालोपन का संचालन (Conduct of Winding up)

सार्थ के भागी ही वे उचित (Proper) व्यक्ति हैं जो सार्थ की सम्पत्ति (Assets) का प्रभार (Charge) लें और सार्थ के कार्यों का समालोपन (Winding up) करें ; और इस प्रयोजन के लिये उन्हें सार्थ को बाध्य करने का अधिकार रहता है। उनके इस अधिकार में सार्थ का विलीयन कोई बाधा नहीं डाल सकता—धारा ४७। यदि विलीयन के बाद वे सार्थ के समालोपन (Winding up) के लिये राजी नहीं होवें, तो न्यायालय कोई प्रापक (Receiver) अथवा यदि आवश्यकता हो तो एक व्यवस्थापक (Manager) नियुक्त करेगा अथवा यदि आवश्यकता हो तो न्यायालय किसी भी भागी को जो समालोपन के कार्य में बाधा डालता हो, तो उस भागी पर न्यायालय समालोपन-कार्य में हस्तक्षेप करने की रोक लगा देगा। जब किसी भागी की मृत्यु या दिवालिया हो जाने से भागिता सार्थ का विलीयन हो जाता है, तो शेष भागियों को सार्थ के कार्यों का समालोपन करने का अधिकार होता है।

विलीयन के बाद किसी सार्थ का हिसाब किताब तै करने के लिये, ख्याति (Goodwill) भी, सार्थ की सम्पत्ति में शामिल होगी, यदि भागियों ने इसके विपरीत कोई अनुबन्ध न किया हो, और इसे चाहे अलग या सार्थ की अन्य सम्पत्ति के साथ बेचा जा सकता है। सार्थ की ख्याति के बेचने के समय, कोई भागी खरीदार से ऐसा कोई समझौता कर सकता है कि वह भागी किसी विशेष स्थानीय सीमा के अन्दर सार्थ के समान कोई व्यापार नहीं चलावेगा, परन्तु ऐसा समझौता वैधानिक तभी होगा जब कि यदि वे रोकें जो उस पर लगाई गई हैं, युक्ति-संगत (Reasonable) हों।

भागियों के किसी भी प्रकार के अन्य प्रकार के समझौते के अभाव में, सार्थ के विलीयन होने के बाद उसका हिसाब-किताब निम्नलिखित नियमों के अनुसार तै होगा :—

१—व्यापार व्यय और पूँजी की कमी से होने वाली हानि का भुगतान सब से पहले साथ के लाभों में से किया जायगा ; फिर साझेदार की पूँजी से, और

अन्त में आवश्यक्ता पड़ने पर भागियों की सम्पत्ति से, उस अनुपात से करना होगा जिसके अनुसार कि वे लाभ बँटाने के अधिकारी थे।

२—सार्थ की सम्पत्ति—जिसमें भागियों द्वारा पूँजी की कमी की पूर्ति करने के लिये दी हुई रोक-राशि (Cash) का भी समावेश होता है—निम्न क्रम से उपयोग में लाई जावेगी।

(अ) अन्य पक्षों के प्रति सार्थ के ऋणों के भुगतान में ;

(ब) भागियों ने अपनी पूँजी के अतिरिक्त जो रकम सार्थ को दी है, उस रकम के आनुपातिक भुगतान में ;

(स) भागियों को उनकी पूँजी के आनुपातिक भुगतान के लिये;

(द) फिर यदि कुछ राशि शेष रहे, तो भागियों में उनके लाभ-विभाजन के अनुपात में बाँट दी जायगी—धारा ४६।

प्रव्याजि वापिस लेने का अधिकार (Right to Return of Premium)

यदि किसी भागी ने सार्थ में प्रवेश करते समय किसी निश्चित अवधि के लिये कोई राशि (Sum) प्रव्याजि (Premium) के रूप में दी है; तो इस अवधि से पूर्व सार्थ का विलीयन होने पर उसे वह प्रव्याजि वापिस लेने या उसका समुचित प्रभाग वापिस लेने का अधिकार है; किन्तु ऐसा करते समय इस बात की ओर भी ध्यान देना होगा कि उसका सार्थ में प्रवेश किन शर्तों पर हुआ या और कितनी अवधि तक वह साझीदार रहा। यह प्रव्याजि उसी दशा में वापिस मिल सकती है, यदि सार्थ का विलीयन किसी भागी की मृत्यु से नहीं हुआ हो; परन्तु निम्न अवस्थाओं में उसे प्रव्याजि लेने का अधिकार नहीं होगा :—

(अ) यदि सार्थ का विलीयन उस भागी के दुराचरण या दुर्व्यवहार (Mis-conduct) के कारण हुआ हो, या

(ब) विलीयन किसी ऐसे समझौते के आधार पर हुआ हो जिसमें प्रव्याजि या उसका कोई भी प्रभाग (Part) वापिस लौटाने के विषय में कोई नियोजन (Provision) न हो—धारा ५१।

सार्थों का पंजीयन (Registration of Firms)

पंजीयन की विधि—प्रत्येक प्रान्त में सार्थों का एक पंजीयक (Registrar) प्रान्त की सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता है, जिसके पास एक निश्चित रूप में एक विवरण और पंजीयन-शुल्क भेजकर सार्थ का पंजीयन कराया जा सकता है।

इस फॉर्म (Form) में निम्नलिखित बातों का विवरण देना आवश्यक होता है :—

१—सार्थ का नाम, जिसमें केन्द्रीय सरकार (Central Government) की अनुमति के बिना, ताज (Crown), सम्राट् (Emperor), सम्राज्ञी (Empress), साम्राज्य (Empire), साम्राज्यिक, (Imperial), राजा (King), रानी (Queen) और राज्याश्रय (Royal Patronage) शब्दों का प्रयोग बिना केन्द्रीय सरकार की अनुमति के नहीं होना चाहिये।

२—सार्थ के व्यापार का स्थान अथवा प्रमुख व्यापारिक स्थान,

३—अन्य स्थानों के नाम जहाँ सार्थ व्यापार करती हो

४—प्रत्येक भागी के सार्थ में सम्मिलित होने की तिथि ;

५—भागियों के पूर्ण नाम और उनके स्थायी पते ; और

६—सार्थ के कार्य-सचालन की अवधि।

इस विवरण पर सभी भागियों के हस्ताक्षर होना अनिवार्य हैं और सभी भागियों द्वारा इसकी जाँच भी की जानी चाहिये—धारा ५८। जब पजीयक को पूरी तरह सतोष हो जायगा कि धारा ५८ के सब निर्बन्धों (Provisions) का ठीक-ठीक पालन किया गया है, तब वह उस विवरण की सभी बातें अपने एक पजी में (Register) जिसे सार्थ-पजी (Register of Firms) कहते हैं, लिख लेगा और उस विवरण को नत्थी कर लेगा—धारा ५६।

आवश्यक सूचना और निश्चित शुल्क भेजकर सार्थ की निम्नलिखित बातों का पंजीयन भी सार्थ-पजीयक (Registrar of Firms) से कराया जा सकता है :—

१—किसी पंजीयित-सार्थ (Registered Firms) के नाम या प्रमुख व्यापार-स्थान में परिवर्तन—धारा ६०;

२—किसी एक स्थान पर व्यापार बन्द करना या किसी नये स्थान पर व्यापार आरम्भ करना—धारा ६१;

३—पजीयित सार्थ के किसी भागी के नाम अथवा स्थायी पते में परिवर्तन—धारा ६२;

४—पजीयित-सार्थ के सविधान (Constitution) में किसी प्रकार का परिवर्तन—धारा ६३ (१);

५—पजीयित सार्थ के किसी अवयस्क भागी के वयस्कता प्राप्त करने के बाद भागी होने अथवा न होने का निर्णय—धारा ६३ (२)।

इस प्रकार सार्थ-पजी (Register of Firms) में जिस किसी भी विवरण, प्रलेख अथवा सूचना आदि का उल्लेख होगा, तो वह किसी भी व्यक्ति के विषय

में जिसने इसमें हस्ताक्षर किये हैं, उस तथ्य (Fact) का पूर्ण-प्रमाण (Conclusive Proof) माना जायगा जिसका उसमें उल्लेख है—धारा ६८। किसी सार्थ का पंजीयन कराना अनिवार्य नहीं है; लेकिन जब एक बार किसी सार्थ का पजीयन हो जाता है, तो सार्थ-पजी में सभी भागियों की पूर्ण ठीक ठीक और वर्त्तमान समय तक की सूची रहेगी जो सार्थ के ऋणों के लिये दायी होंगे; और उस पजी में लिखा हुआ विवरण उन लोगों के विरुद्ध बडा मजबूत बचाव अथवा प्रमाण होगा जो साझेदारी स्वीकार करने से झूठा इन्कार करते हों और उन व्यक्तियों के प्रति दायित्वों का विरोध करते हों, जो सार्थ से उन दायित्वों का भुगतान कराना चाहते हैं।

सार्थ का पजीयित न कराने के परिणाम—कानून सार्थ के पजीयन का नियोजन करती है, परन्तु पजीयन न कराने पर यह किसी प्रकार के दण्ड का विधान नहीं करती; पजीयन न करान से भागियों और अन्य पक्षों के बीच में हुआ कोई समझौता या कार्य व्यर्थ (Void) नहीं होता। इसलिये किसी सार्थ के लिए यह बिल्कुल वैकल्पिक है कि वह पजीयित (Regtstered) हो या न हो। परन्तु पंजीयन न कराने से निम्नलिखित अयोग्यताए पैदा हो जाती हैं :—

१. यदि सार्थ का पजीयन नहीं हुआ है, और अभियोग चलाने वाले व्यक्ति का उल्लेख सार्थ पजी मे एक भागी की हैसियत से नहीं हुआ है, तो वह या उसका नामजद व्यक्ति या उसका अभिकर्त्ता कोई अभियोग किसी प्रकार का स्वत्व या अधिकार पाने के लिए नहीं चला सकता, चाहे वह स्वत्व उसे किसी अनुबन्ध या भागिता-विधान के अनुसार किसी भूत या वर्त्तमान भागी के विरुद्ध मिलता हो।

२ किसी सार्थ के द्वारा या सार्थ की ओर से किसा तीसरे पक्ष (Third Party के विरुद्ध, अनुबन्ध से पैदा होने वाले किसी स्वत्व या अधिकार के विषय में कोई अभियोग नहीं चलाया जा सकता, यदि वह पजीयित नहीं है।

३. इसी प्रकार अपजीयित सार्थ या उसके भागी अनुबन्ध से पैदा होने वाली किसी प्रकार की छूट या किसी स्वत्व के स्थापित करने की कोई कार्यवाही नहीं कर सकते।

तो भी सार्थ के पजीयन न कराने से निम्नलिखित स्वत्वों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता :—

१—तीसरे पक्षों द्वारा किसी सार्थ या भागी के विरुद्ध अभियोग चलाने का अधिकार ;

२—किसी भागी का किसी सार्थ के विलीयन करने के लिये या विलीन-सार्थ (Dissolved Firm) के हिसाब करने के लिये, या विलीन सार्थ की अपनी सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये, अभियोग चलाने का अधिकार ;

३—किसी अधिकारी-प्रापक (Official Assignee or Receiver) का किसी दिवालिये भागी की सम्पत्ति को लेने का अधिकार ;

४—उन सार्थों या सार्थों के भागियों के अधिकार जिनका भारत में व्यापार करने का कोई स्थान नहीं है, अर्थात् जिनका व्यापार ऐसे स्थानों पर है जहाँ यह विधान लागू नहीं होता ;

५—कोई अभियोग या छूट जिसमें १००) से अधिक का स्वत्व पैदा नहीं होता ।

पजीयन से लाभ —किसी सार्थ का पजीयन पूर्ण रूप से सार्थ, या उससे सम्बन्धित किसी भागी की इच्छानुसार होता है; परन्तु सार्थ के पजीयन से सार्थ को, सार्थ के ऋण प्रदायक को और उसके भागियों को निम्नलिखित लाभ होते हैं .—

१—सार्थ कोई अपजीयित सार्थ (Unregistered Firm) अपने स्वत्वों को पाने के लिये तीसरे पक्षों के विरुद्ध अभियोग नहीं चला सकती , और कोई अपजीयित भागी भी तीसरे पक्षों या अपने साथी भागियों के विरुद्ध अपने स्वत्वों के विषय में अभियोग नहीं चला सकता । परन्तु इस विषय मे एक महत्त्वपूर्ण अपवाद (Exception) है । वह यह है कि कोई अपजीयित भागी सार्थ के विलीयन के लिये अभियोग चला सकता है । यह अपवाद इस सिद्धान्त पर बनाया गया है कि साधारणत· पजीयन तीसरे पक्षों के बचाव के लिये बनाया गया है और पजीयन के न होने पर किसी अपजीयित सार्थ के विलीन होने को रोकने की आवश्यकता नहीं है ।

२—ऋण-प्रदायक(Creditors)—जब एक बार पजीयन हो चुकता है, तो वे विवरण जिनका सार्थ-पंजी में सार्थ के संविधान के विषय में उल्लेख होता है, उस तथ्य (Fact) के पूर्ण प्रमाण (Conclusive Proof) होंगे जो उनसे सम्बन्धित भागियों के विषय में दिये हुए हैं; और किसी भागी को जिसका नाम उस पजी में है यह इन्कार करने का अधिकार नहीं होगा कि वह सार्थ का भागी नहीं है । इससे उन व्यक्तियों को बड़ा बचाव और सहारा मिलेगा जिनसे सार्थ के भागी अपनी साझेदारी से झूठा इन्कार करते हैं और इस प्रकार दायित्वों से बचने का प्रयत्न करते हैं ।

३—आगन्तुक भागी (Incoming Partners)—जहाँ तक सार्थ में आये हुए किसी नये भागी से सम्बन्ध है; यदि वह पजीयन नहीं कराता है, तो उसे बहुत बड़ी जोखिम सहन करनी पड़ेगी, वह सार्थ के भागियों से अपने प्रभाग आदि का अधिकार नहीं माँग सकेगा; उसे उनकी नेक-नीयत पर ही पूरी तरह से विश्वास करना पड़ेगा या सार्थ के विलीयन के लिये अभियोग चलाना पड़ेगा ।

४—वहिर्गत भागी (Outgoing Partners) : जहाँ तक वहिर्गत भागियों से सम्बन्ध है, किसी मृत-भागी या दिवालिया-भागी की सम्पत्ति किसी भी अवस्था में, भागी की मृत्यु या दिवालियेपन के बाद किये गये सार्थ के कार्यों के लिये दायी नहीं है; परन्तु जहाँ निवृत्त या निष्कासित भागियों से सम्बन्ध है, वहाँ पंजी में परिवर्तन करने का बहुत प्रोत्साहन मिलता है। भागिता-विधान इस बात का नियोजन करता है कि उस समय तक कोई निवृत्त या निष्काषित भागी सार्थ के कार्यों के लिये दायी रहता है और सार्थ भी, उनके उन कार्यों के लिये दायी रहती है जो उसने सार्थ की ओर से किये हों; जब तक कि निवृत्ति या निष्कासन की जन-सूचना न दी जाय और यह जन-सूचना भी पंजीयक (Registrar) को सूचना देकर दी जाती है जिसका वह पंजी में उल्लेख करता है। अतः जब कोई भागी निवृत्त होता है या निष्कासित किया जाता है, तो यह बात उसके और शेष भागियों के हित में ही होगी कि पंजीयक को इस परिवर्तन की अविलम्ब सूचना दी जाय।

सयुक्त स्कन्ध-प्रमंडल (Joint Stock Companies)

एकाकी व्यापार और साझेदारी की कठिनाइयों का सामना करने के लिये, सयुक्त-स्कन्ध-प्रमण्डल का जन्म तथा विकास हुआ; परन्तु आधुनिक जॉइन्ट स्टॉक कम्पनी यकायक अस्तित्व में नहीं आगई। यह शताब्दियों तक अपना विकास करती रही है और आजकल यह अपने वर्त्तमान रूप में मनुष्यों की अनेक भिन्न-भिन्न जातियों और पीढ़ियों के विचारों और अनुभवों का मिश्रण है। सयुक्त स्कन्ध प्रमण्डलों का विकास सारी दुनिया में समान रूप से हुआ है। परन्तु इन प्रमण्डलों (Companies) के विकास के परिणाम एकसे नहीं हैं क्योंकि इनमें कई तान्त्रिक (Technical) बातों में अन्तर है। लेकिन ये बातें जिनमें भेद है अधिक महत्त्व की नहीं हैं। इन सब प्रकार की कम्पनियों में एक प्रकार की विशेष व्यापारिक समानता है। ये समानताएं इस प्रकार हैं :—

१—स्वामित्वधारियों (Proprietors) में आपस में प्रत्यक्ष व्यक्तिगत सम्बन्ध बहुत कम होता है या बिल्कुल नहीं होता। स्वामित्वधारी अपने व्यापार के निकट सम्पर्क (Near contact) में नहीं आ पाते। उनके ऐसे सम्बन्धों का कारण यह है कि जो पूँजी वे व्यापार में लगाते हैं वह अव्यक्तिगत-आधार (Impersonal Basis) पर लगाई जाती है।

२—व्यापार का निग्रह और प्रबन्ध कुछ चुने हुए प्रतिनिधि करते हैं जिन पर सब स्वामित्वधारियों को विश्वास या भरोसा होता है।

३—उनके दायित्व उनकी व्यापार में लगाई हुई पूँजी के अनुसार उसी अनुपात में सीमित (Limited) होते हैं।

इनके प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं :—

१—व्यवसाय के स्वामियों में आपस में व्यक्तिगत प्रत्यक्ष सम्बन्ध बहुत कम होता है या बिल्कुल नहीं होता और व्यवसाय और स्वामियों का भी परस्पर सीधा सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि इसमें पूँजी लगाने वाले लोग भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के रहने वाले और आपस में एक-दूसरे से अनभिज्ञ होते हैं। वे व्यापार में केवल पूँजी लगाते हैं परन्तु व्यवसाय की व्यवस्था का काम उनके प्रतिनिधियों (Representatives) के हाथ में होता है। इसी कारण स्वामित्वधारी (Proprietors) अपने व्यापार के निकट सम्पर्क (Near contact) में नहीं आ पाते। जो पूँजी वे व्यापार में लगाते हैं वह किसी व्यक्तिगत आधार (Personal Basis) पर नहीं लगाई जाती।

२—व्यापार का निग्रह और प्रबन्ध कुछ चुने हुए प्रतिनिधि करते हैं जिन पर अंशधारियों (Share holders) को विश्वास और भरोसा होता है।

३—स्वामियों का दायित्व उनकी व्यापार में लगाई हुई पूँजी के अनुसार उसी अनुपात में सीमित होता है।

संयुक्तस्कन्ध प्रमण्डल कानून के द्वारा बनाया हुआ एक कृत्रिम-व्यक्ति (Artificial Person) होता है। यह उन व्यक्तियों से बनता है जो इसमें अपनी पूँजी अंशों (Shares) के रूप में लगाते हैं। ये व्यक्ति अपने अंशों को बेच सकते हैं और दूसरों के अंशों को खरीद भी सकते हैं। इन अंशों को खरीद कर बाहर के व्यक्ति भी किसी भी समय कम्पनी में शामिल हो सकते हैं। इस प्रकार संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डलों में सदस्यों के सम्मिलित होने या अलग होने का क्रम जारी रहता है। यह कृत्रिम व्यक्ति इन सदस्यों से एक भिन्न व्यक्ति होता है। यह अपनी अनुमति एक सार्व-मुद्रा (Common Seal) के द्वारा देता है। यह सम्पत्ति रख सकता है, ऋण ले सकता है और इसी प्रकार एक व्यक्ति के रूप में ही किसी पर अभियोग चला सकता है और इस पर भी अभियोग चलाया जा सकता है। एक सुप्रसिद्ध अमेरिकन लेखक ने संयुक्त-स्कंध प्रमण्डल की परिभाषा इस प्रकार दी है— कि यह "एक बनावटी व्यक्ति है जो कि अदृश्य (Invisible) और अमूर्त (Intangible) होता है, जिसका अस्तित्व वैधानिक होता है और जो विधान-निर्मित होती है। यह अपने अधिकार में उन्हीं सम्पत्तियों को रख सकता है जिनका अधिकार इसकी निर्मिति के आज्ञा-पत्र (Charter) में होता है और जो उसके अस्तित्व के लिये आवश्यक है। इसके मुख्य लक्षणों में अमरता—और (यदि हम किसी शब्द का प्रयोग कर सकें तो) व्यक्तित्व—और वे सम्पत्तियाँ हैं, जिनका अस्तित्व अनेक मनुष्यों को हस्तान्तरण होने पर भी इसका स्थायित्व समान रहता है और यह एक व्यक्ति के रूप में काम कर सकती है।"

इन परिभाषाओं से यह मतलब निकलता है कि सयुक्त-स्कन्ध प्रमण्डल (Joint Stock Company) एक वैधानिक व्यक्ति है जिसका निर्माण किसी विशेष प्रयोजन (Purpose) से होता है और जिसका निर्माण करने वाले व्यक्तियों से अलग अस्तित्व होता है और साधारणत उनका सीमित दायित्व होता है।

प्रमण्डल के रूप में, किसी व्यापार को चलाने के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता का सिद्धान्त अब बहुत समय से स्थिर हो चुका है। इसीलिये वास्तव में हम अनेकों व्यवसायी मनुष्यों को इस प्रकार कहते हुए सुनते हैं, "हम १००,००० रु० या अधिक या इससे कम रुपये की पूँजी से एक व्यापार-सघ (Business Association) बनाना चाहते हैं। हम पहले से ही इस बात की घोषणा करते हैं कि यह एक निश्चित पूँजी की राशि है और हमारा दायित्व इस योग (Total) तक नियन्त्रित है। हम इस व्यापार में लोगों को अपने साथ लेन के लिये निमत्रण देते हैं और हम अन्य व्यक्तियों को इन शर्तों पर अपने से व्यापार करने के लिये आमन्त्रित करेंगे। हम किसी भी मनुष्य को अपने साथ शामिल करने या अपने साथ रहने के लिये बाध्य नहीं करेंगे; हम किसी को अपने साथ व्यापार करने के लिये बाध्य नहीं करेंगे। हम किसी विशेष हद तक वैधानिक नियमन (Statutary Regulation) को मानने को तैयार हैं जिससे कापट्य (Fraud) और दूसरे व्यतिक्रमों (Irregularities) को रोका जा सके या किसी ऐसे नियमन (Regulation) को मानने को भी तैयार है जो किसी प्रकार के भी व्यापारिक स्वरूप में लागू हो सके। लेकिन बिना किसी बहुत कड़े विरोध के किसी विशेष या विवेकी (Discriminating) नियम के जो कि हमारी विशेष व्यवस्था के लिये होंगे, तैयार नहीं होंगे। हमारा व्यापार एक निजी (Private) जोखिम है जो कि इस प्रकार व्यवस्थित किया गया है जो हमारे लिये बड़ा सुविधापूर्ण होगा और लोकतन्त्र (Democracy) और निजी जोखिम (Private Enterprise) की रीति से इस विषय में हमें अपनी सुविधा के अनुसार काम करन का पूरा अधिकार होगा।"

भारत में सयुक्त-स्कध व्यापार स्वदेशीय (Indigenous) नहीं है अपितु विदेशी (Exotic) है। यह हमारे पुरानी तरह के व्यापारों का प्राकृतिक-उद्‌भव

1— 'A Joint stock company is an artificial person invisible, intangible and existing only in contemplation of law, being the mere creature of law it possesses only those properties which the charter of its creation confers upon it, either expressly or as incidental to its very existence; among the most important are immortality, and, if the expression may be allowed, individuality; properties by which a perpetual succession of many persons is considered as the same and may act as a single individual"

(Natural growth) नहीं है। यह हमारे देश में इङ्गलैंड से अन्य अच्छी वस्तुओं के समान आया है। इङ्गलैंड में व्यापार करने या अन्य प्रयोजनों के लिये संयुक्त-स्कन्ध प्रमण्डलों (Joint Stock Companies) का निर्माण कई शताब्दियों पहले हुआ था। सन् १६०० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की गई थी, हडसन बे कम्पनी की १६७० में और बैंक ऑफ इङ्गलैंड की सन् १६६४ में स्थापना की गई थी। इन सब कम्पनियों की स्थापना राजकीय आज्ञा-पत्र (Royal Charter) के अनुसार हुई थी। ये आज्ञा पत्र राजा से प्राप्त होते थे। इसके बाद कुछ कम्पनियाँ पार्लियामेंट के कुछ विशेष विधानों (Acts) द्वारा बनाई गई थीं। सन् १८४४ तक कम्पनियाँ या तो किसी राजकीय आज्ञा पत्र या पार्लियामेंट के किसी विशेष विधान द्वारा बनाई जाती थीं। लेकिन सन् १८४४ में इसमें एक निश्चित उन्नति की गई और एक Joint Stock Companies Registration Act पास किया गया और यह पहला ऐक्ट था जिसके अनुसार केवल पंजीयन (Registration) से ही किसी कम्पनी का निर्माण हो सकता था, और पहली बार व्यापारियों को किसी राजकीय आज्ञा पत्र या पार्लियामेंट के किसी विशेष विधान के बिना प्रमण्डल निर्माण (Incorporation of Companies) से लाभ उठा सके। परन्तु तो भी सीमित दायित्व का विशेष अधिकार (Privilege) सन् १८५५ तक स्वीकृत नहीं किया गया था। इङ्गलैंड का वर्त्तमान प्रमण्डल-विधान (Company Law) सन् १६४८ के इङ्गलिश कम्पनीज ऐक्ट में मिलता है। राज्य की ओर से प्रमण्डलों का नियन्त्रण क्यों आवश्यक है? इसका एक कारण संयुक्त-स्कन्ध प्रमण्डलों का सीमित दायित्व है। ऋण प्रदायकों (Creditors) के हित कुछ हद तक सुरक्षित रहने चाहिये, यद्यपि स्वामियों के हक में यह उनके कार्य में स्वतन्त्रता का अपहरण करेगा।

भारत में व्यापार सङ्गठन का यह रूप इङ्गलैंड से आया था और इसीलिये प्रमण्डल विधान (Company Law) भी। इस प्रकार जब कभी कोई कानून इङ्गलैंड में बनाया गया, शीघ्र या देर में इस देश में उसे भी अपनाया गया। सन् १८४४ के इङ्गलिश कम्पनीज ऐक्ट का अनुसरण करके यहाँ सन् १८५० में संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डल विधान (Joint Stock Campanies Act) बनाया गया, और यह पहला विधान था जिसके अनुसार प्रमण्डलों का पंजीयन हो सकता था। इस विधान के आधार पर आगामी विधान (Subsequent Acts) बनाये गये थे। कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के सर्वोच्च न्यायालयों (Supreme Courts) को इस विधान के अनुसार प्रमण्डलों के पंजीयन की आज्ञा देने का अधिकार मिला था। सन् १८५० से १८५७ तक अनेकों प्रमण्डलों का पंजीयन हुआ और इनमें से बंगाल कोल कम्पनी अब भी विद्यमान है।

पहला सीमित-दायित्व विधान (Limited Liability Act) सन् १८५७ में पास हुआ था और सन् १८५० के विधान के अनुसार बनाये अनेक

प्रमण्डलों का इस विधान के अनुकूल सीमित दायित्व के साथ फिर निर्माण हुआ और इस प्रकार बंगाल कोल कम्पनी एक सीमित दायित्व की कम्पनी बन गई। भारत के कन्सोलिडेटिंग कम्पनीज ऐक्ट (Consolidating Companies Acts) सन् १८६६, १८८२ और १९१३ में पास हुए। ये सन् १८६२, १८८० और १९८० के अंग्रेजी विधानों (Acts) का अनुसरण करके बनाये गये थे। हमारे सन् १९१३ के प्रमण्डल-विधान में भी, १९२९ के अंग्रेजी-प्रमण्डल विधान (English Companies Act 1929) के महत्त्वपूर्ण निर्बन्ध शामिल कर लिये गये, ये संशोधक निर्बन्ध, सन् १९३६ के प्रमण्डल (संशोधक) विधान में दिये हुए हैं।

सन् १९१३ के भारतीय प्रमण्डल विधान में समय समय पर किये गये इन सब संशोधनों सहित देश के संयुक्त-स्कन्ध-प्रमण्डल (Joint Stock Companies) सम्बन्धी सब वर्तमान नियम हैं।

प्रमण्डलों से लाभ (Advantages of Companies) : सीमित प्रमण्डलों (Limited Companies) का जन्म एक बड़ी आवश्यकता के अनुसार हुआ है जिससे किन्हीं विशेष कार्यों में जिनमें कि कुछ मनुष्य लगे हुए हों, अनिवार्य रूप से उनको सब सम्पत्ति को लगाये बिना, उन्हें व्यापारिक कार्यों में लगाया जा सके। अब हमें यह देखना है कि व्यापार संगठन (Business Organisation) के दूसरे स्वरूपों की अपेक्षा ये प्रमण्डल क्या क्या अधिक लाभ उठाते हैं :—

१—समामेलित अस्तित्व (Corporate Existence) :—प्रमण्डल का जीवन इसके सदस्यों के जीवन और उनके कार्यों पर निर्भर नहीं होता और इसीलिये उनकी दुर्घटनाओं से व्यापार के काल या अवधि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भागिता-सार्थ मनुष्यों का एक समुदाय होता है और यह उसी समय तक रह सकती है जब तक कि इसके सब सदस्य जीवित हैं और जब तक कि उनमें से प्रत्येक हैसियतदार आदमी है—दिवालिया नहीं है और अपने सह भागियों (Copartners) के साथ व्यापारिक-सम्बन्धों को स्थिर रखने का इच्छुक है। इसलिये भागिता-सार्थ (Partnership) में सदैव भंग होने की सम्भावना रहती है। किसी मृत-भागी (Deceased Partner) का वैधानिक-प्रतिनिधि (Legal Representative), किसी दिवालिये भागी के ऋण-प्रदायक (Creditors) या कोई भागी जो अपने सह-भागियों से असन्तुष्ट है, वैधानिक कार्यवाहियों से भागिता-सार्थ का जबरदस्ती विलीयन (Dissolution) करा सकता है। यह सच है कि अनेक साझेदारी के व्यापार बहुत लम्बे समय तक अस्तित्व में रहे हैं, लेकिन ऐसा कई अनुकूल-साधनों (Favourable Factors) के सुयोग से ही हो सकता है जो कि हमेशा नहीं मिलते ; जैसे यशस्वी व्यापार (Prosperous Business), भागियों (Partners)

के आपस के अभिन्न सम्बन्ध और योग्य तथा मूल्यवान कर्मचारियों को भागी के रूप में सार्थ (Firm) में शामिल कर लेना।

दूसरी ओर, किसी प्रमण्डल का निरन्तर या कम से कम किसी निश्चित काल के लिये अस्तित्व होता है। प्रमण्डल का जीवन, जो इसके सदस्यों के जीवन से भिन्न होता है, इसके आज्ञा-पत्र के द्वारा सदैव के लिये नियोजित किया जा सकता है। इससे कोई मतलब नहीं कि इसके सदस्यों पर क्या बीतती है? प्रमण्डल का जीवन आगे और आगे बढ़ता जाता है। चाहे हरएक मूल-सदस्य (Original Member) मर जावे, चाहे हर एक मूल सदस्य व्यक्तिगत रूप से दिवालिया हो जावे, चाहे हरएक मूल-सदस्य प्रमण्डल से अलग हो जावे, तो प्रमण्डल का जीवन आगे चलता रहता है; समाप्त नहीं होता। इस निरन्तर अस्तित्व (Perpetual existence) का फल यह होता है कि प्रमण्डल ऐसे अनुबन्ध (Contracts) कर सकती है जो कई साल तक रहें। यह निर्माण कार्य के ऐसे प्रोग्राम बना सकता है जो पूरा होने में २५ वर्ष भी ले सकते हैं। यह रुपया लगाने वाले (Investor) को उसकी आमदनी के लिये, स्थायी और सुरक्षित आराम का स्थान दे सकता है जहाँ उसकी लगाई हुई वह आमदनी और अधिक रुपया कमा सके।

२—समामेलित अर्थ-व्यवस्था (Corporate Finance) संयुक्त-स्कन्ध प्रमण्डल एक ऐसी कार्यशील अभिकरण (Effective Agency) है जिससे कि किसी आधुनिक व्यापार की स्थापना के लिए बहुत बड़ी आवश्यक पूँजी जमा की जा सकती है। अंशों (Shares) और ऋण-पत्रों (Debentures) के रूप में छोटी-छोटी इकाइयों में पूँजी का विभाजन कर देने से, बहुत साधारण-साधनों से सम्पन्न मनुष्य (Persons of very moderate means) भी इसकी ओर आकर्षित होते हैं और इससे फण्ड (Funds) प्राप्त करना अधिक सम्भव और सरल होता है, थोड़ी तादाद के अंशों और ऋण पत्रों से रुपया लगाने वालों के लिये यह सम्भव हो जाता है कि वे अपने विनियोगों (Investments) को विभक्त करलें और इस प्रकार हानि की जोखिम को कम से कम कर सकें। यहाँ तक कि १०००) रु० की राशि (Sum) भी कई भिन्न-भिन्न प्रमण्डलों में लगाई जा सकती है।

इससे आगे अंश और ऋण-पत्र दोनों का निर्गमन (Issue) करने की युक्ति, भिन्न भिन्न वातावरणों और भिन्न भिन्न आर्थिक अवस्थाओं के मनुष्यों को भी धन लगाने के लिये आकर्षित करती है। चूँकि ऋण-पत्र प्रमण्डल की आमदनी में सबसे पहले स्वत्व रखते हैं; इसलिये ये उन लोगों को प्रभावित करते हैं, जो या तो पुराने विचारों के आदमी हैं या जिनकी आर्थिक दशा ऐसी है कि वे अपने

विनियोगों (Investments) को सुरक्षित रखना सबसे पहली आवश्यकता समझते हैं। दूसरी ओर, अंश (Shares) अपेक्षाकृत ऊँचे प्रत्याय (Returns) का अवसर प्रदान करते हैं और इस प्रकार उन लोगों को प्रभावित करते हैं जो अधिक पुरस्कार या प्रत्याय पाने के अवसरों को प्राप्त करने के इच्छुक हैं और जिनकी आर्थिक दशा ऐसी है कि वे अपक्षाकृत बड़े जोखिम ले सकते हैं। फिर अंशों के अधिमान (Preference) और साधारण (Ordinary) अंशों में बाँट देने से भी भिन्न भिन्न दर्जे के पुराने विचारों के लोग प्रभावित होते हैं। अधिमान अंश (Preference shares), यद्यपि इतने सुरक्षित नहीं होते जितने कि ऋण-पत्र (Debentures), फिर भी ये साधारण अंशों से अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित समझे जाते हैं। परन्तु ये अपक्षाकृत बहुत बड़े जोखिम लेने पर उतने सुरक्षित नहीं होते, जिनमें यद्यपि बहुत बड़े प्रत्याय (Returns) मिलने की सम्भावना रहती है।

संगठित स्कन्ध विनमयों (Organised Stock Exchanges) के होने से प्रमण्डलों के अंश और ऋण पत्र सरलता से बेचे व खरीदे जा सकते हैं इससे विनियोगक (Investors) बिना किसी कठिनाई के अपने विनियोगों (Investments) को बेच और खरीद सकते हैं। चूँकि सरलता से कोई विनियोगक प्रमण्डल से अलग हो सकता है, इसलिये हरएक विनियोगक प्रमण्डल में प्रवेश करने के लिये बहुत जल्दी आकर्षित हो जाता है और वह प्रमण्डल में विनियोग (Investment) लगाने के लिये उत्सुक होता है। इसीलिये किसी विनियोगक के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह स्थायी रूप से प्रमण्डल से बँधा रहे।

आजकल प्राय सारे संसार में प्रमण्डल सीमित दायित्व (Limited Liability) के सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं। इसका मतलब यह होता है कि प्रत्येक अंशधारी (Share holder) का दायित्व उसके खरीदे हुए अंशों की राशि तक सीमित होता है। तो भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि सीमित दायित्व का विशेषाधिकार (Privilege) केवल अंशों पर ही लागू होता है, ऋण पत्रों पर नहीं, क्योंकि अंशधारी प्रमण्डल के प्रदायक (Creditors) होते हैं।

इन विशेषाधिकारों से पूँजी का बहुत बड़ी संख्या में एकत्रित करना सम्भव हो जाता है इससे प्रमण्डल को असाधारण शक्ति (Unusual strength) मिलता है और प्रमण्डल स्थायी (Stable) होता है, जो रुपया लगाने वाली जनता के लिए इसकी प्रतिभूतियां (Securities) को अधिक आकर्षक बना देते हैं।

३—सीमित दायित्व (Limited Liability) संयुक्त स्कन्ध साहस (Joint Stock Enterprise) का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण लाभ यह है कि इसमें दायित्व सीमित होता है। आजकल के संसार में लाक्षणिक-स्कन्ध प्रमण्डल (Typical Stock Company) एक सीमित प्रमण्डल (Limited Company) है,

अर्थात् यह उन शर्तों पर पञ्जीयित (Registered) होती है, जो इसके सदस्यों को सीमित दायित्व का विशेषाधिकार देत हैं। किसी भागिता सार्थ (Partnership) के ऋण उसके सदस्यों के सब साधनों अथवा सम्पत्ति तक सीमित होते हैं। चाहे वह सम्पत्ति साझेदारी (Partnership) की सम्पत्ति न हो, लेकिन साझेदारी के अतिरिक्त भी उनकी सम्पत्ति भागिता सार्थ के ऋणों के भुगतान के लिये ली जा सकती है। परन्तु सीमित प्रमण्डल में ऐसा नहीं होता, वहाँ प्रमण्डल में ऋण का दायित्व प्रदायक (Creditors) के विनियोगों तक ही सीमित होता है, उनकी निजी सम्पत्ति (Private Property) से उनका भुगतान नहीं किया जा सकता। ये प्रदायक जो प्रमण्डल से सम्बन्धित होते हैं और उस पर विश्वास करते हैं, भुगतान (Payment) के लिये भी प्रमण्डल को ही दायी समझते हैं। चूँकि एक प्रमण्डल स्वतः एक वैधानिक व्यक्ति होता है और वह अपने सदस्यों को व्यक्तिगत रूप से ऋण लेने का अधिकार नहीं देती, इसलिये ऋणों के भुगतान के लिये भी प्रमण्डल ही दायी होता है, प्रमण्डल को लाँघ कर सदस्यों की व्यक्तिगत सम्पत्ति को इनके भुगतान के लिये नहीं लिया जा सकता। जो कुछ भी प्रमण्डल के अधिकार में है, उसे वह ले सकता है और बेच सकता है। उसके सदस्यों का सारा रुपया जो उन्होंने इस जोखिम में लगाया है इस प्रकार जा सकता है, परन्तु उनकी निजी सम्पत्ति, प्रमण्डल के किसी भी दुर्भाग्य या दुर्घटना के होने पर अपहरण नहीं की जा सकती। यही प्रमण्डल का सीमित दायित्व है जो उन विनियोगकों को बड़ी दृढ़ता से प्रेरित करता है जो कि आमदनी की तलाश में होते हैं, परन्तु जो कम से कम जिम्मेदारी लेना चाहते हैं।

सीमित दायित्व का सिद्धान्त बड़ा उपयोगी है, क्योंकि यह अंशधारियों की जोखिम को कम कर देता है। वे लोग जो इतने डरपोक होते हैं कि भागिता-सार्थ के व्यापार में भाग लेने से घबराते हैं, जहाँ कि उसके सदस्यों का दायित्व असीमित होता है, किसी प्रमण्डल में खुशी से शामिल हो जाते हैं, जहाँ इसके सदस्यों का दायित्व सीमित होता है। अंशधारियों के दायित्व के सीमित होने से किसी सीमित प्रमण्डल का व्यवस्थापन (Management) इसकी धन-राशि का काफी भाग व्यापारिक प्रयोगों (Business Experiments) में खर्च कर सकता है वे जोखिम के कार्यों में भी भाग ले सकते हैं। यदि वे प्रयोग सफल हो जाते हैं, तो वे अंशधारियों के लिये केवल बड़े लाभ ही पैदा नहीं करेंगे बल्कि वे उत्पादक-साधनों (Productive Processes) में भी उन्नति कर सकते हैं, जो कि समाज के लिये दूसरे तरीकों से फायदा पहुँचा सकते हैं।

४—केन्द्रित व्यवस्थापन (**Centralised Management**) भागिता सार्थ में प्रत्येक सदस्य सार्थ का अभिकर्ता (Agent) होता है और वह अपने कार्यों

के लिये सार्थ को बाध्य कर सकता है। कानून ऐसा मानतो है कि व्यापार के संचालन में वे एक-दूसरे का विश्वास करेंगे, इससे हरएक भागी के शब्दों और कार्यों का वही जोर होता है जो किसी दूसरे भागी के शब्दों और कार्यों का हो सक्ता है। इस बात से भागिता-सार्थ की सदस्यता उस विनियोगक के लिये इतनी खतरनाक बन जाती है जो इस अवस्था में नहीं होता कि वह व्यापार में अपना व्यक्तिगत-ध्यान लगावे; क्योंकि उसकी सम्पत्ति दूसरे भागियों (Partners) के द्वारा किये गये किसी बुरे या कापट्यपूर्ण व्यवहार से, जिसका कि उसे पता तक न चले, नष्ट हो सक्ती है। इसलिये भागिता-सार्थ के कार्यों में हर भागी को व्यक्तिगत-ध्यान (Personal Attention) लगाना अति आवश्यक होता है, और जब एक ओर इससे व्यापार में अधिक से अधिक कार्य-क्षमता आती है; तो दूसरी ओर इससे सदस्यों की संख्या सीमित होती है; इससे वह धन की राशि भी सीमित होती है जो सार्थ के अधिकार में होती है।

दूसरी ओर, किसी संयुक्त-स्कन्ध-प्रमण्डल में प्रतिनिधि-शासन (Representative Government) की पद्धति होती है। प्रमण्डल के सदस्य संख्या में अधिक होते हैं, इसलिये वे सब यथासम्भव इसके प्रबन्ध में भाग नहीं ले सक्ते। इसीलिये उन्हें प्रमण्डल का प्रबन्ध प्रतिनिधियों को सौंपना पड़ता है जिन्हें कि संचालक (Directors) कहते हैं। यही कानून चाहता है। प्रमण्डल के स्वामित्व और प्रबन्ध अलग अलग कर दिये जाते हैं; इससे यह सम्भव हो जाता है कि प्रबन्ध के लिये उच्चकोटि के और योग्य व्यक्ति मिल जाते हैं। प्रमण्डल अत्यन्त योग्य संचालकों की अमूल्य अनुमति से लाभ उठा सक्ता है; और नीति सम्बन्धी साधारण प्रश्नों को बड़ी सरलता से हल कर सक्ता है और इस प्रकार व्यापार की कार्य क्षमता में बहुत वृद्धि की जा सक्ती है। प्रबन्ध में परिवर्तनशीलता भी सम्भव होती है क्योंकि यदि व्यवस्थापन (Management) असमर्थ (Incompetent) है तो पुराने संचालकों और प्रबन्धकों को हटाकर उनकी जगह दूसरे लोग रखे जा सकते हैं।

५—आय-कर सम्बन्धी विशेषाधिकार (Taxation Privilege): संयुक्त-स्कन्ध प्रमण्डल को भागिता-सार्थ की अपेक्षा कुछ आय कर सम्बन्धी लाभ भी होते हैं। किसी सार्थ के द्वारा भागियों के दिये गये किसी आयोग (Commission), वेतन, व्याज, प्रव्याजि (Bonus) पर आय-कर में छूट नहीं मिलती; लेकिन प्रमण्डल के द्वारा इसके अंशधारियों या संचालकों के दिये गये इस प्रकार के रुपये पर आय-कर में छूट मिलती है। इसी तरह प्रमण्डल को हानि होने के कारण या अग्रे-नीत (Brought forward) अवमूल्यन (Depreciation) होने पर प्रमण्डल का आयकर किसी विशेष वर्ष के लिये अंशधारियों को बाँटे गये अधिलाभांश (Dividend) की अपेक्षा काफी कम हो सक्ता है; और अंशधारी इस प्रकार के आय-करों की अधिकता से कम हुए

अधिलाभांशों की अवस्था में, जो कि उन्हें उस वर्ष के लिये दिये गये हैं, आय कर को वापिस करने की मॉग कर सकते हैं।

चूँकि गत युद्ध के दरम्यान में और उसके बाद आय-करों का भार काफी बढ़ा है; बहुत से प्रमण्डलों का निर्माण केवल इसी प्रयोजन से किया गया है कि वे प्रमण्डल की अवस्था में सगठित होने पर आय-करों में छूट पा सकें।

प्रमण्डलों के दुरुपयोग (Disadvantages of Companies) हम ऊपर देख चुके हैं कि सयुक्त स्कन्ध-प्रमण्डल कुछ वैधानिक-लाभ उठा सकते हैं; जैसे समामेलित अस्तित्व (Corporate Existence), समामेलित अर्थ व्यवस्था (Corporate Finance) और सीमित दायित्व, परन्तु व्यवहार में इन सुविधाओं का कभी कभी दुरुपयोग किया जाता है। ये दुरुपयोग निम्नलिखित हैं, जो सयुक्त स्कन्ध-साहस से सम्बन्धित हैं —

१—प्रवर्तन कापट्य (**Promotion Frauds**). जो व्यक्ति किसी प्रमण्डल का निर्माण करते हैं यानी जिन्हें प्रवर्तक कहते हैं, उन्हें सयुक्त-स्कन्ध प्रमण्डल की प्रतिभूतियों (Securities) खरीदने वाले व्यक्तियों को ठगने का खूब मौका मिलता है। दूसरे साधारण व्यापारिक व्यवहारों में मालों को खरीदने व बेचने वाले दोनों पक्ष बराबरी की अवस्था में कोई सौदा करते हैं और यदि आवश्यक हो तो खरीदार को, जो चीज वह खरीद रहा है, उसका मान (Value) गुण, स्वभाव आदि की जाँच करने के रास्ते खुले होते हैं, परन्तु किसी कम्पनी के अंशों का खरीदने वाला बेचने वाले के ऊपर निर्भर होता है। जो कुछ बेचने वाला उसे बताता है, उसके अलावा वह और कुछ नहीं जान सकता या यदि जान भी सकता है तो बहुत थोड़ा। वह उन बड़े-बड़े आदमियों के नामों से प्रभावित हो जाता है, जो कम्पनी की विवरण पत्रिका (Prospectus) में लिखे होते हैं, और वह विश्वास कर लेता है कि सब आवश्यक जॉच पड़ताल उन व्यक्तियों द्वारा कर ली गई होगी जिनके नाम उस विवरण पत्रिका में दिये हुए हैं। लेकिन जो चमकता है वह सब सोना नहीं होता। परिकाल्पनिक अंशों (Speculative Shares) के विषय में विनियोगक (Investor) का आशा और लाभ की लालसा इस प्रकार की विवरण पत्रिकाओं में दिये हुए काल्पनिक चित्रों से बहुत बढ़ जाती है जिनमें बहुत बड़े लाभों की कल्पना की जाती है। यदि सब या अधिकांश वास्तविक बातें (Material facts) विवरण-पत्रिका में ठीक ठीक दी हुई हों जिनकी कि वैधानिक आवश्यकता होती है, तो वह कभी भी उनके यथार्थ महत्त्व को समझने में असमर्थ नहीं रहेगा। जहाँ तक कानून के निबन्धों (Provisions) का पारिभाषिक (Technical) विवरण होता है, वहाँ उतनी ही उस पत्रिका की बाहरी टीमटाम कृत्रिम या बनावटी होती है जैसी कि

कम्पनी के प्रवर्त्तक उसे बनाना चाहते हैं: इससे साधारण विनियोगक बड़ी सरलता से भुलावे में डाल दिये जाते हैं।

प्रतिभूतियों (Securities) की बिक्री में अनेक प्रकार के दुरुपयोग हो सकते हैं। प्रवर्त्तकों की मशा शुरू से ही कपटपूर्ण हो सकती है। चाहे व्यापार के उद्देश्य बिल्कुल ठीक और उचित हों, परन्तु तो भी जो बातें जनता को बतलाई जाती हैं वे यथार्थ नहीं होतीं। जहाँ व्यापारिक-संस्थाओं (Business Concerns) का फिर से निर्माण होता है और वर्त्तमान असाधारण लाभों के आधार पर पूँजी फिर सगठित की जाती है; ऐसी अवस्था और भी खतरनाक होती है। ऐसी सब अवस्थाओं में बढ़ते हुए लाभ की लालसा के कारण जनता रुपया लगाने के लिये बड़ा तत्पर होती है और प्रवर्त्तकों को अपने हितों को बढ़ाने और लाभ उठाने का खूब मौका मिलता है; लेकिन यदि व्यापार असफल भी हो जाता है, तो वे अपनी जिम्मेदारी से बरी होते हैं। इस प्रकार जनता ऐसी गड़बड़ के समय में, व्यापार के वास्तविक मान को आँके बिना नकद रुपया दे देती है, जिस पर कि लोगों को कभी भी अपने लगाये हुए रुपये पर उचित प्रत्याय (Returns) नहीं मिलते।

इससे भी अधिक, शुरू के खर्चे के हिसाब प्रवर्त्तकों द्वारा ही बनाए जाते हैं। इनकी राशि बढ़ा-चढ़ाकर बताई जाती है। इसमें वास्तविकता बहुत कम होती है। अंशों और ऋण पत्रों आदि के अभिगोपन (Underwriting) आदि के कामों में प्रवर्त्तक अप्रत्यक्ष रूप से भागी होते हैं।

प्रवर्त्तन-चापल्य के विषय में एक सुप्रसिद्ध समाजवादी मिस्टर सिडनी वैब अपनी पुस्तक 'दे फाइनेन्शियर्स एण्ड दी नेशन' की भूमिका में लिखते हैं —

"हमें उन तरीकों का बहुत स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकता, जिनसे जनता आर्थिक चालबाजों और ठगों के द्वारा समय-समय पर मूँडी जाता है, क्योंकि पूँजीवादी-साहस (Capitalist Enterprise) की वे ऊँची आशाएं, हर प्रदर्शन के बाद बहुत शीघ्र भुलादी जाती हैं। यह बात ध्यान देने योग्य है कि गत १०० वर्षों में किस प्रकार नियमित रूप से यह कहानी दुहराई गई है। हर दस-वर्षों (Decade) में एक नई विभिन्नता मिलती है लेकिन उसका उद्गम विशेष रूप से एक ही होता है। हजारों छोटे विनियोगक और कुछ बड़े विनियोगक भी अंशों को खरीदने के लिये झूठ और छल से फुसला लिये जाते हैं, जो कि सीधे शब्दों में एक ठगी ही है। यदि लाखों नहीं तो दसियों हजार पाउन्ड इन ठगों, धूर्तों और चापलूसों द्वारा अपनी जेब में डाले जाते हैं, जो कि उन साधारण व्यापारिक कार्यों में सहयोगी होते हैं, जिनको अभी धोखा नहीं कहा जा सकता। इसके बाद कोई दुर्घटना या दुर्व्यवहार होता है और मौके पर एक या दो ठगों पर अपराध लगाया जाता है और उन्हें जनता के खर्चे पर

लम्बी सजा भी मिल जाती है। लेकिन इसका कोई प्रभावपूर्ण या लम्बा प्रकाशन (Publicity) या प्रचार नहीं होता। नगर (लन्दन) के सब प्रभाव इन बातों को शाँत कर देते हैं। स्टाक एक्सचेन्ज के व्यापार के विषय में कोई बड़ी बात करना बुरा समझा जाता है। बैंक भी इस प्रकार के विज्ञप्ति के बदन से डरते हैं और अपनी निजी हानियों को भी छुपाती हैं। प्रभावशाली व्यक्तियों की ओर से समाचार पत्रों को भी चेतावनी दी जाती है कि कोई आर्थिक आदर (Scandal) किसी उचित व्यापार में और विशेष रूप से प्रवर्त्तकों का प्रचार करने में दखल न दे और इस प्रकार जनता का हित इस अन्तिम आर्थिक ठगी से नष्ट हो जाता है। हानियों के आँकड़ों को छिपाया जाता है। इसके बाद शीघ्र ही छोटे छोटे विनियोगकों की जमात को किसी नये वेष में, फिर लूटा जाता है।

इसी बीच में, यह बात जान लेनी चाहिए कि सैकड़ों नई ठगी जनता की हानि के लिये, बिना किसी बाहरी सूचना या सार्वजनिक भर्त्सना (Denunciation) के चलाई जाती हैं। बहुत विस्तारपूर्वक प्रचारित चालों में बेकार की चीजें कितने अनुपात में होती हैं जो कि कभी कभी विनियोगक जनता से चूसे हुए बहुत बड़े मूल्य पर इकट्ठी की जाती हैं, चाहे वे पेटेन्ट दवाइयाँ हों या सस्ती लैम्प किसी आदमी ने इनकी गणना करने का अभी तक साहस नहीं किया है। मुझे याद नहीं आता कि किसी व्यवसायी अर्थशास्त्री ने कभी यह परेशानी उठाई हो कि उसने किसी एक साल का उन बुराइयों के, विनिमय मान (Exchange Value) के योग (Total) का अन्दाज लगाया हो जो धन के समान खेल करती हैं।"

२—अनुत्तरदायी व्यवस्थापन (Irresponsible Management)

यद्यपि सिद्धान्त के रूप में तो, संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डल एक प्रजातन्त्र का रूप होता है, परन्तु अभ्यास में, इस देश में अधिक से अधिक यह संचालकों और प्रबंध अभिकर्ताओं का गणतन्त्र (Oligarchy) बनता जाता है। कई तरीकों से प्रबंध कुछ लोगों के हाथों में केंद्रित हो जाता है। सबसे पहले कोई कम्पनी भिन्न भिन्न प्रकार के मतदान (Voting) के अधिकारों से भिन्न भिन्न प्रकार की प्रतिभूतियाँ (Securities) का निर्गमन (Issue) कर सकती है। व्यवस्थापक लोग उन प्रतिभूतियों को प्राप्त कर लेते हैं जो कि सबसे बड़े मतदान का अधिकार देती हैं। इस प्रकार कम्पनी की कुल पूँजी का केवल एक छोटा भाग अदा कर देने से व्यवस्थापन (Management) बोर्ड के बहुमत पर भी अपना आधिपत्य जमा लेता है। मान लीजिये कि कोई कम्पनी १०,००,००० रु० की पूँजी की माँग करती है। वह सौ-सौ रुपये के ५००० अधिमान अंशों (Preference shares) का निगमन (Issue) करती है जिन्हें वोट देने का कोई अधिकार नहीं होता, दस दस रुपयों के ४५,००० साधारण (Ordinary) अंश जिन्हें एक वोट का अधिकार होता है और

एक-एक रुपये के ५०,००० आस्थगित (Deferred) अंशों का निर्गमन करती है जिन्हें भी एक वोट का अधिकार होता है ; और मान लीजिये कि सब अधिमान और साधारण अंशों को जनता खरीद लेती है, जब कि सब आस्थगित (Deferred) अंश प्रबन्धकों के हाथ में होते हैं, तब व्यवस्थापक लोग ५०,०००) रु० की यह अमूल्य राशि अदा करके अन्य सब अंशधारियों के ४५,००० वोटों के विरुद्ध जिन्होंने कम्पनी में ६,५०,०००) रु० लगाये हैं, ५०,००० वोटों पर अपना अधिकार जमा लेते हैं। भिन्न प्रकार के अंशों में यह जादूगरी की चाल व्यापार को अपने काबू में करने का सबसे सरल तरीका है।

दूसरे, जो लोग संयुक्त-स्कन्ध-प्रमण्डलों में अपना रुपया लगाते हैं उनमें से अधिकांश लोगों के पास न तो समय होता है और न योग्यता और न लगन। वे इन संस्थाओं को केवल अधिलाभांश (Dividends) प्राप्त करने का साधन समझते हैं। जिन अंशधारियों को कम्पनी की सभाओं में उपस्थित होने और अपने वोटों से व्यापार का प्रबन्ध करने के लिये संचालकों को नियुक्त करने का अधिकार होता है, वे अक्सर उन सभाओं में भाग नहीं लेते और अपने को व्यापार के संचालन में किसी प्रकार उत्तरदायी नहीं समझते। यह स्वाभाविक है कि लगातार अंशधारियों के बदलने से एक सामूहिक प्रभाव पड़ता है। अंशधारी एक-दूसरे से बहुत दूर रहते हैं ; वे एक दूसरे से परिचित नहीं होते और ज्यादातर कम्पनी के उद्योग या व्यापार की दशाओं से अनभिज्ञ होते हैं जिसमें कि उनका रुपया फँसा हुआ है। अंशधारियों की इस उदासीनता से व्यापार का प्रबन्ध कम्पनी की कार्यकारिणी (Executive) के हाथों में केन्द्रित होता है।

तीसरे, संचालक और प्रबन्ध-अभिकर्त्ता, अपने लिये सुरक्षित बहुमत प्राप्त करने के लिये, दूसरी शक्तियों और साधनों पर अधिकार रखते हैं ; जैसे, पूर्ण रूप से अदा किये हुए अंशों के भी हस्तान्तरण (Transfer) को अस्वीकृत करने का अधिकार, प्रतिपुरुष-पद्धति (Proxy System) का अनुचित प्रयोग। वे लोग, जिनमें कम्पनी के व्यावहारिक कार्यों में भाग लेने की योग्यता और रुचि होती है, कभी-कभी उन्हें संचालक अपने अधिकार से अंश खरीदने या दूसरों से हस्तान्तरित करने की स्वीकृति नहीं देते।

जब कोई कम्पनी संचालकों और प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का गणतन्त्र (Oligarchy) बन जाती है, तब वे स्वामित्वधारियों (Proprietors) के प्रति उत्तरदायी नहीं रहते, जब कि स्वामित्वधारी कम्पनी के कार्यों की देख-रेख या निरीक्षण करने में बिल्कुल असमर्थ रह जाते हैं। प्रबन्धक लोग, जो कुछ भी चाहें, कम्पनी से करा सकते हैं। स्वाभाविक रूप से वह इस अंशधारियों के लाभ के लिये नहीं, अपितु अपने निजी व्यक्तिगत स्वार्थों के लिये प्रयोग कर सकते हैं।

३—शोषण (Exploitation) : सचालकों और प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं द्वारा प्रमण्डलों का शोषण एक दूसरा बहुत बड़ा दुरुपयोग है जो कि इस देश में बहुत प्रचलित है। व्यापार सगठन के सयुक्त-स्कन्ध (Joint-stock) का रूप शोषण का साधन है, क्योंकि इसमें स्वामित्व (Ownership) प्रबन्ध से अलग होता है। बेशक सदैव शक्तिमान और प्रभावशाली व्यक्तियों के द्वारा, जरूरतमन्द असहाय आदमियों का शोषण होता रहा है और होता रहेगा। कम्पनी की पद्धति ने शोषण के ऐसे नये सूत्र और तरीके खोल दिये हैं जिनके विषय में पहले कभी सोचा भी नहीं गया होगा। इसके लिये वास्तव में बड़े दृढ़-चरित्र और असाधारण लगन वाले मनुष्य की आवश्यकता होती है कि वह कम्पनी में किसी महत्त्वपूर्ण पद ग्रहण करने या किसी अन्य स्वार्थ के फुसलाने में न आवे। तो भी कम्पनी के सचालकों और प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के विषय में इतना कहा जा सकता है कि भारी बहुमत में वे अपने अभिन्न प्रयत्नों को कम्पनी और अशधारियों की सेवा मे लगा देते हैं, जिनके हितों का कि वे प्रतिनिधित्व करते हैं।

प्रमण्डलों का प्रबन्धकों द्वारा जिन-जिन तरीकों से शोषण होता है, उनका वर्णन प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं से सम्बन्धित अगले अध्याय में किया जायगा।

४—बड़े व्यापार की बुराइयाँ—(Evils of Big Business) बड़े व्यापार से सम्बन्धित बुराइयों का वर्णन आगे किया जायगा; लेकिन यह बात जान लेनी चाहिये कि बड़े पैमाने पर व्यापारों का निर्माण कम्पनी-सगठन के रूप में हुआ है। यदि कोई कम्पनी-पद्धति नहीं होती, तो आज के ये बड़े बड़े व्यापार अस्तित्व में नहीं होते।

५—स्कन्ध विनिमयों की परिकल्पना (Stock Exchange Speculation) · सयुक्त स्कन्ध (Stock Exchange) के सिद्धान्तों पर व्यापार का सगठन अपने साथ उस परिकाल्पनिक बुराई को भी लाया है, जोकि ससार के सब बाजारों की एक आम रिवाज है। भारत में बॉम्बे-स्टॉक-एक्सचेन्ज इस परिकल्पना की महत्त्वपूर्ण स्थली है। कम्पनी की प्रतिभूतियों के सरलता से हस्तान्तरणीय (Transferable) होने से सयुक्त-स्कन्ध के परिकाल्पनिक व्यवहारों में सुविधा मिलती है। परिकाल्पनिक व्यवहारों के विषय में स्कन्ध विनिमय के अध्याय में विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायगा।

६—व्यक्तिगत प्रमण्डल (One man Companies) कम्पनी-विधान के नियमों (Provisions) का कभी-कभी इस प्रकार उपयोग किया जाता है कि उनसे लाभ उठाकर कोई एक व्यक्ति भी सीमित दायित्व से व्यापार कर सकता है। यह विधि सरल है। किसी व्यापार का स्वामी छः दूसरे व्यक्तियों को लेता है, जोकि केवल उसके कठपुतले और नामजद होते हैं, जो उसके साथ मिल जाते हैं। ये सात आदमी पार्षद-स्मरणपत्र (Memorandum of Association) दाखिल करते हैं और

अपना पंजीयन (Registration) सीमित-दायित्व वाली एक कम्पनी के रूप में करा लेते हैं इस प्रकार बनाई हुई कम्पनी स्वामी (Owner) से व्यापार को खरीद लेती है और उसे भरपूर चुकाए हुए अंशों के रूप में अदा करती है। इनके अलावा कोई अंश निर्गमन (Issue) नहीं किये जाते और दूसरे सदस्य कम्पनी में भर्ता नहीं किये जाते। व्यापार का पहला स्वामी इस प्रकार उन छः अंशों के अतिरिक्त जोकि उसके छः नामजद व्यक्तियों पर होते हैं, कम्पनी की सारी अंश-पूँजी लगाता है और व्यापार पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है और भविष्य में वह सीमित दायित्व से व्यापार करता है। यदि केवल निजी प्रमण्डल (Private Company) बनाने की इच्छा होती है, जहाँ कम से कम आवश्यकता दो सदस्यों की होती है, तो इसकी विधि और भी अधिक सरल हो जाती है।

कई अवस्थाओं में, बड़े और मूल्यवान व्यापारों के स्वामियों के द्वारा, यह योजना पूरी तरह से सबकी भलाई के लिये चलाई जाती है। लेकिन इस तरीके से एक समिति प्रमण्डल के निर्माण करने की शक्ति का स्पष्ट रूप से दुरुपयोग हो सकता है, और कई अवसरों पर इसका बहुत बुरी तरह दुरुपयोग होता है। इस बात का विरोध किया गया है कि विधान-सभा (Legislature) ने ऐसी विधि (Proceeding) का कभी विचार न किया हो; किन्तु इसकी वैधानिकता (Legality) न्यायालयीन निर्णयों से (Judicial Decisions) से स्थापित कर दी गई है। इसमें कोई शक नहीं कि अनेकों व्यक्तिगत-प्रमण्डल कम्पनी विधान के ही दुरुपयोग हैं और केवल सीमित दायित्व का लाभ उठाने के लिये उनका निर्माण किया गया है, जिससे यदि व्यापार असफल भी हो जावे, तो प्रदायक (Creditors) केवल कम्पनी के विरुद्ध ही कार्यवाही कर सकें और स्वामित्वधारी अपनी निजी सम्पत्ति और साधनों पर बिना किसी आरोप (Charge) के बच जाता है।

प्रमण्डल और सार्थ में भेद (Contrast between Company and Firm) न्यशों से सीमित प्रमण्डल और भागिता-सार्थ के प्रमुख भेदों को जान लेना लाभदायक हो सकता है। ये निम्नलिखित हैं —

(१) कम्पनी स्वयं ही एक वैधानिक व्यक्ति है जो इसके अंशधारी सदस्यों से भिन्न होता है। यह सन् १६१३ के भारतीय-प्रमण्डल विधान द्वारा शासित होती है, जिसका कि यह उल्लंघन नहीं कर सकती। इसकी शक्तियाँ या अधिकार पार्षद सीमा नियम (Memorandum of Association) के द्वारा नियत होते हैं। सिवाय निजी प्रमण्डलों (Private Companies) के अंशधारियों की कोई सीमित संख्या नहीं होती। सार्थ के भागी वे व्यक्ति होते हैं जो साझेदारी में आपस के समझौते के अनुसार या समझौते के न होने पर भारतीय-भागिता विधान (Indian

Partnership Act) के अनुसार, साथ साथ काम करते हैं। सार्थ की कोई अलग सत्ता नहीं होती, भागी ही सार्थ होते हैं। किसी भागिता सार्थ के सदस्यों की संख्या २० से अधिक नहीं हो सकती और यदि वह व्यापार जो चलाया जा रहा है अधिकोषण (Banking) का व्यापार है तो उनकी संख्या १० से अधिक नहीं हो सकती।

(२) अंशधारी का दायित्व उस धन-राशि तक सीमित होता है जिसे वह प्रमण्डल की पूँजी में अदा करने को राजी हो गया है, और जब वह उस राशि को प्रमण्डल को अदा कर देता है, तो उस पर कोई और दायित्व नहीं लगता। परन्तु किसी भागी का दायित्व उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति तक बढ़ता है। सार्थ में प्रत्येक भागी सम्मिलित रूप से और अलग अलग दोनों प्रकार से अपने सह भागियों (Co-partners) के सार्थ के सब ऋणों और कार्यों के लिये दायी होता है जब तक कि वह भागी है।

(३) अंशधारी में प्रमण्डल या अपने सह अंशधारियों को बाध्य करने की शक्ति या अधिकार नहीं होता। न उसे ऐसा कोई अधिकार होता है कि वह प्रमण्डल के प्रबन्ध में भाग ले सके या पुस्तकों का निरीक्षण कर सके जब तक कि सीमा-नियमों में ऐसा करने की इजाजत न मिली हो। किसी प्रमण्डल के व्यापार का सञ्चालन सञ्चालकों के हाथों में होता है। एक भागी, जब तक कि वह व्यापार के सामान्य क्षेत्र में कार्य कर रहा है, सार्थ या अपने सहभागियों को बाध्य कर सकता है। साझेदारी के प्रयोजन के लिये वह सार्थ और अपने सहभागियों का अभिकर्त्ता होता है। सब भागी सार्थ के प्रबन्ध में भाग ले सकते हैं और इसकी पुस्तकों को भी देख सकते हैं।

(४) अंशधारी, उन नियमों के अधीन जो निजी-प्रमण्डल की अवस्था में हस्तान्तरण को रोक देते, अपनी रुचि के अनुसार अपने अंशों का हस्तान्तरण कर सकता है। इससे कोई मतलब नहीं कि कम्पनी के अंशधारियों में अंश हस्तान्तरण द्वारा क्या परिवर्तन हुए हैं, कम्पनी की सत्ता वही रहती है। कोई भागी, अपने सहभागियों की अनुमति के बिना अर्थात् उनसे समझौता किये बिना, अपने स्थान पर किसी दूसरे भागी को नहीं लगा सकता। किसी भागी की मृत्यु, दिवालियापन या निवृत्ति (Retirement) से (जहाँ ये घटनाएं समझौते के अनुसार सार्थ के विलीयन में परिणत नहीं होतीं), या किसी नये भागी के शामिल होने से, नई सार्थ का निर्माण करना पड़ता है।

(५) कम्पनी अपने स्मरण पत्र (Memorandum) और पार्षद अन्तर्नियमों (Articles of Association) से बाध्य होती है, और इन प्रलेखों (Documents) में किसी सीमित हद तक परिवर्तन हो सकता है, जैसा कि कानून निर्देश करता है।

भागी कोई भी समझौता जो वे चाहते हैं, कर सकते हैं, और अपनी इच्छा के अनुसार जब कभी भी साझेदारी की शर्तों में भी परिवर्तन कर सकते हैं।

(६) कम्पनी को हर साल आवश्यक लेखा पुस्तकें रखनी पड़ती हैं और एक शेष-पत्र (Balance Sheet) और लाभ और हानि का विवरण रखना पड़ता है। लेकिन साझेदारी में लेखा-पुस्तकें रखने, सामायिक-शेष-पत्र (Periodical Balance Sheet) तैयार करने और लाभ-हानि का विवरण रखने का कोई वैधानिक-निर्बन्ध (Statutory Provision) नहीं होता; यद्यपि यह विशेष रूप से आवश्यक है।

(७) केवल न्यायालय की आज्ञा से विलीयन होने पर, या वैधानिक रीति (Legal Manner) से समालोपन (Winding up) करने से, या कम्पनी के कार्य बन्द कर देने पर पञ्जीयक (Registrar) के रजिस्टर से नाम कट जाने से, किसी कम्पनी की सत्ता का अन्त हो सकता है। परन्तु भागिता-सार्थ का अन्त समझौते से किसी भी समय हो सकता है।

सहकारिता (Co-operation)

व्यापार सगठन के तीन रूप : एकाकी व्यापारी, भागितासार्थ और सयुक्त-स्कन्ध-प्रमण्डल, जिनका पिछले पृष्ठों में वर्णन किया जा चुका है, पूँजीवादी-पद्धति (System of Capitalism) के अग हैं। अब हम व्यापार-संगठन के एक दूसरे रूप पर विचार करेंगे, जिसका नाम सहकारिता है।

सहकारिता सगठन (Organisation) का वह रूप है, जिसमें मनुष्य अपने आर्थिक हितों की उन्नति के लिये, समानता के आधार पर, अपनी इच्छा से परस्पर मिल जाते है। उन लोगों का एक ही आर्थिक उद्देश्य होता है, जो इस प्रकार साथ-साथ मिलते हैं। इस उद्देश्य को वे अपने व्यक्तिगत एकाकी कार्य से पूरा नहीं कर सकते, क्योंकि उनमें से अधिकाश लोगों की आर्थिक दशा सन्तोषजनक नहीं होती। अपने सब साधनों को एकत्रित कर देने पर परस्पर अपने आप अपनी सहायता करने स, अपने चरित्र-बन्धों (Moral Bonds) को मजबूत बनाने और पूरा करने से, उनकी यह आर्थिक कमजोरी दूर हो जाती है।

सहकारिता (Co-operation) आर्थिक प्रजातन्त्र का एक रूप है; क्योंकि सहकारी-समिति (Co-operative Society) का संविधान (Constitution) प्रत्येक सदस्य का मत देने की समानता पर आधारित होता है। 'एक आदमी, एक वोट' उसका मुख्य सिद्धान्त होता है, किसी सदस्य को, संस्था में उसके जोखिम के बल पर अधिक वोट देने का अधिकार नहीं होता। बिना किसी प्रतिबन्ध के किसी सहकारी

सगठन की सदस्यता सब मनुष्यों के लिये; जो इससे लाभ उठा सकते हैं, खुली होती है। आगे, लाभों के वितरण में भी प्रजातन्त्र के सिद्धान्त की झलक मिलती है। पूँजी पर केवल नियमित (Regular) थोड़ा सा अधिलाभांश (Dividend) मिलता है।

अधिलाभ (Surplus) को सदस्यों में उनके कार्यों के अनुसार बाँट दिया जाता है। सहकारी सगठन के सामने सदस्यों की उत्तम सेवा करना ही एक उद्देश्य होता है; सब से अधिक लाभ प्राप्त करना नहीं। सहकारिता का एक उद्देश्य यह भी होता है कि वह आधुनिक पूँजीवाद को उन बुराइयों को दूर करे, जिनका कि साराश इस प्रकार दिया जा सकता है —

(१) जो पदार्थ पैदा किये जाते हैं, उनका उपभोक्ताओं (Consumers) की आवश्यकताओं के अनुसार ठीक-ठीक समायोजन (Adjustment) नहीं होता। कभी-कभी तो गलत निर्णय (Misjudgement) के कारण माल बहुत तादाद में पैदा कर लिया जाता है और बाजार उस माल से भर जाता है, और कभी इसी प्रकार की गलती से या निर्मितिकर्ताओं और सट्टेबाजों के स्वार्थ से, माल की बाजार में कमी पड़ जाती है और इस अवस्था में वे अपनी जेबें भरते हैं, जब कि दुनिया परेशान होती है। हर समय उपभोक्ता (Consumer) को अधिक से अधिक मूल्य देना पड़ता है और मूल-उत्पादक (Prime Producer) को कम से कम अनुचित प्रत्याय (Return) मिलता है; क्योंकि हरएक चीज अनेकों मध्यम-लोगों (Middle-men) के हाथों में होकर गुजरती है।

(२) पदार्थों की किस्म (Quality) गिर जाती है; क्योंकि उत्पादक या तो बेईमान होता है या अपने प्रतिद्वन्द्वियों (Rivals) द्वारा ऐसा करने के लिये बुरी तरह मजबूर होता है। उपभोक्ता (Consumer) भी, यदि उसकी साख कम है, सस्ती से सस्ती चीज खरीदता है और इससे वास्तविक मान (Value) का विचार नहीं करता।

(३) उत्पादक और उपभोक्ता दोनों ही असन्तुष्ट होते हैं, दूसरा तो इसलिये कि उसे निम्न कोटि की चीजों के लिये ऊँचा मूल्य देना पड़ता है; और पहला इसलिये कि वह अपने काम का मालिक नहीं होता और वह यह समझता है कि उसे उसके काम का ठीक प्रत्याय नहीं मिलता।

सहकारिता का आन्दोलन, पारस्परिक सहायता के सिद्धान्त पर, स्वयं अपने लिये कार्य करने की उत्तेजना और शिक्षा देता है। इससे इच्छित फल मिलते हैं जब कि यह निकृष्ट एकता, सैनिक शासन और नौकरशाही की प्रवृत्ति को रोकता है। जिस प्रकार समाज का सहकारी दर्शन (Co-operative Philosophy of Society) सामाजिक संगठनों के दूसरे स्वरूपों से भिन्न होता है, उसी प्रकार यह स्वतन्त्र, सार्वजनिक सम्मिलन, न्याय और प्रजातन्त्र शासन पर निर्भर होता है जिसमें पूर्ण न्याय और

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता होती है। यह खेती के विकास से, बाजार के सगठित तरीकों के प्रवर्तन से, औद्योगिक साधनों के विकास से और भिन्न-भिन्न अन्य कार्यों से, अपने सदस्यों की आर्थिक स्वतन्त्रता को मजबूत करने का प्रयत्न करता है। यह सब प्रकार की सम्भव उन्नति भी करना चाहता है चाहे यह सामाजिक रीति रिवाज सम्बन्धी हो या शिक्षा या सफाई सम्बन्धी और यह उन सब अयोग्यताओं को दूर करना चाहता है जो रहन-सहन के दर्जे की उन्नति में बाधक होती हैं। इसका मुख्य प्रयोजन सदस्यो को सब प्रकार से खुशहाल करना होता है। केवल अधिक उत्पत्ति और ठीक वितरण ही इस उद्देश्य के साधन हैं। यह एक नैतिक आन्दोलन है। सहकारिता की भावना श्रेष्ठतर समाज के निर्माण में सहायता देती है।

भारत मे सहकारिता का इतिहास (History of Co-operation in India) भारत में सहकारिता का आन्दोलन कई उलट-फेरों के बाद हुआ है। इसके इतिहास को चार कालों में बाँटा जा सकता है:—

१—भारत में सहकारिता का आन्दोलन उस समय से शुरू होता है जब सन् १९०४ में 'कोऑपरेटिव क्रेडिट सोसाइटीज ऐक्ट' पास हुआ। यह ऐक्ट केवल क्रेडिट सोसाइटियों के निर्माण का विधान करता था। ग्रामीण क्रेडिट की ओर नागरिक क्रेडिट की अपेक्षा अधिक जोर दिया गया था क्योंकि भारत में ग्रामीण क्रेडिट का अधिक महत्व था। यदि क्रेडिट सोसाइटी के सदस्य कम से कम ⅘ खेती करने वाले होते तो वह रूरल क्रेडिट सोसाइटी कहलाती और यदि इतने न होते तो वह अर्बन क्रेडिट सोसाइटी कहलाती। रूरल सोसाइटियों का नियम असीमित दायित्व था; परन्तु अर्बन सोसाइटियों में यह प्रश्न उनकी रुचि पर छोड़ दिया गया था। इन समितियों का अकेक्षण (Audit) और निरीक्षण (Inspection) सरकार के नियुक्त किये हुए अफसरों द्वारा होता था। ये आय कर (Income Tax), मुद्राक कर (Stamp duties) और पजीयन-शुल्क (Registration fee) देने से मुक्त थीं।

सन् १९०६ से १९११ तक इन समितियों की संख्या और इनके कार्यों में बहुत शीघ्रता से वृद्धि होती रही और सन् १९०४ का ऐक्ट इस आन्दोलन की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ मालूम हुआ। पहले तो इसमें उन समितियों के लिये, जो साख (Credit) के अलावा और किसी प्रयोजन से बनाई गई थीं, कोई वैधानिक-बचाव नहीं था। दूसरे स्थानीय समितियों की संख्या के बढ़ने और अधिक पूँजी जुटाने में कठिनाई प्रतीत होने पर यह प्रश्न उठा कि स्थानीय समितियों को पूँजी से सहायता करने व उनका नियन्त्रण करने के लिये किसी केन्द्रीय-सगठन की स्थापना होनी चाहिये। सन् १९१२ के ऐक्ट से इन दोषों को दूर कर दिया गया। इससे उत्पादक (Productive) और विभाजक (Distributive) समितियों और भिन्न-भिन्न

प्रकार के केन्द्रीय सगठनों की वैधानिक मान्यता (Legal recognition) स्वीकार की गई। ग्रामीण और नागरिक समितियों का भेद मिटा दिया गया और इसके स्थान पर असीमित (Unlimited) और सीमित (Limited) दायित्व वाली समितियों को स्थान दिया गया। इस नये विधान का तुरन्त ही यह प्रभाव पड़ा कि सहकारिता के आन्दोलन को एक नया जोश मिला। समितियों की संख्या, उनकी सदस्यता, क्रियान्वित पूँजी (Working capital) की राशि में बड़ी तेजी से वृद्धि हुई। पैदादार बेचन, खाद के खरीदन, और खेती के औजार व अन्य आवश्यक वस्तुएं बेचने के लिये नये प्रकार की सामितिया का पञ्जीयन कराया गया। अधिक उन्नति के लिए सहायता देने से पहले सरकार यह जानना चाहती थी कि यह आन्दोलन ठीक तरीकों पर उन्नति कर रहा है या नहीं और आन्दोलन की जाँच करने के लिये अक्टूबर सन् १६१४ में मैक्लेगन कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी ने आन्दोलन के भावी विकास के लिये अपनी रिपोर्ट में बहुत दूरदर्शी सुझाव रक्खे।

२—सन् १६१६ के रिफॉर्म्स ऐक्ट के अनुसार सहकारिता एक प्रान्ताय हस्तान्तरित विषय (Provincial transferred subject) बन गई और इसे एक मिनिस्टर को सौंप दिया गया। इस सुधारक कानून के शुरू के सालों में कई सूबों ने अपनी विशष आवश्यकताओं के अनुसार काफी उन्नति की। बम्बई में सन् १६२५ में एक अलग 'सहकारी समिति विधान' (Co-operative Societies Act) पास करके अन्य प्रान्तों का नतृत्व किया। इसके प्रचार और शिक्षा के लिये गैर सरकारी सस्थाओं को उत्साहित किया गया। सन् १६२६ तक आन्दोलन बड़ी तजी से बढता गया। जबकि वे कमी और दोष जिनकी ओर मैक्लेगन कमेटी ने सकेत किया था अब प्रसिद्ध हो गये थे और जो कुछ अश तक चीजों की कीमतें बढने से दोष पैदा हुए समृद्धि के समय दूर हो गये थे।

(३) खेती की पैदावार के मूल्य में कमी होने और किसानों की आमदनी के घटने से, यह आन्दोलन गिरने लगा। भिन्न भिन्न सूबों और राज्यों मे अनेक जाँच कमेटियाँ (Committees of Inquiry) इस आन्दोलन के पुनर्निर्माण के साधनों और तरीकों के सुझाव देने के लिये नियुक्त की गई। इस काल के मुख्य लक्षण थे, आन्दोलन का दृढीकरण (Consolidation), सशोधन (Rectification) और पुन स्थापन (Rehabilitation) न कि इसका विस्तार या इस पर सरकारी नियन्त्रण बढाना।

(४) दूसरे विश्व युद्ध के बाद खेती की पैदावार की चीजों के मूल्य में जो कमी हुई, उससे इस आन्दोलन का एक कठिन प्रश्न हल हो गया। खेतिहरों और सहकारी समितियों के सदस्यों में, महाजनों और सहकारी समितियों इन दोनों के ऋणों को चुकाने की प्रवृत्ति थी।

युद्ध के फलस्वरूप आर्थिक-प्रतिबन्धों (Economic Controls) और फूड-राशनिंग होने से लोगों में सहकारिता के लिये उत्साह बढ़ा और उपभोक्ताओं के सहकारी भण्डारों की वृद्धि हुई; जो सस्ते मूल्य पर भोजन के सामान प्राप्त करने के लिये स्थापित किये गये थे। इनसे सहकारी बाजार (Co-operative Marketing) की भी व्यवस्था हुई।

यह अन्तिम काल योजनाओं का नया युग भी कहलाता है। प्राय वे सभी योजनाएं, जो आधुनिक काल में बनाई गई थीं, सहकारी आन्दोलन को एक महत्त्वपूर्ण स्थान देती हैं। वे अपनी अनेक सिफारिशों के साथ इस आन्दोलन का एक उपयुक्त अभिकरण (Suitable agency) हैं।

निर्माण और प्रबन्ध (Formation and Management) : ऐसी किसी समिति का पंजीयन सीमित या असीमित दायित्व के साथ हो सकता है। पंजीयन की शर्तें ये हैं —(*i*) दस से कम व्यक्ति किसी समिति का निर्माण नहीं कर सकते, (*ii*) वे १८ वर्ष से ऊँची आयु के होने चाहियें, (*iii*) वे या तो एक ही कस्बे, या गाँव या गाँवों के समूह के रहने वाले होने चाहियें या एक ही जाति, वर्ण या पेशे के लोग होने चाहियें, और (*iv*) उन्हें सहकारी समितियों के पंजीयक के पास उप-नियमा (By-laws) और अन्य आवश्यक विवरणों की एक प्रति नत्थी करानी चाहिए।

सहकारी समिति का प्रबन्ध प्रजातान्त्रिक (Democratic) होता है। यह स्वयं सदस्यों के ही हाथ में होता है जो अपने में से ही एक वर्ष के लिये प्रबन्ध-कार्य करने के हेतु एक कमेटी नियुक्त करते हैं। प्रबन्ध समिति (Managing Committee) के सदस्य अपनी सेवाओं के बदले में कोई पारिश्रमिक (Remuneration) नहीं लेते। आमतौर से किसी सदस्य को एक से अधिक वोट का अधिकार नहीं होता; लेकिन जहाँ दायित्व सीमित होता है, कुछ लोगों को एक से अधिक वोटों का भी अधिकार मिल सकता है; यदि उपनियमों (By-laws) ने इस प्रकार की स्वीकृति दी हो। प्रत्येक समिति के लेखाओं (Accounts) का पंजीयक (Registrar) के द्वारा या पंजीयक की आज्ञा से अंकेक्षण (Audit) हो सकता है; जो हर समय समिति की पुस्तकों, लेखाओं, कागजात आदि को देख सकता है।

सहकारी समितियों के मुख्य विशेष लाभ निम्नलिखित हैं: (*i*) वे समामेलित (Corporate) संस्थाएं होती हैं, अर्थात् उनमें निरन्तर उत्तराधिकार (Succession), सार्व-मुद्रा (Common seal), अनुबन्ध करने का वैधानिक अधिकार आदि अधिकार होते हैं; (*ii*) एक पंजीकृत (Registered) समिति को अन्य

प्रदायकों (Creditors) से भी पहले यह अधिकार होता है कि वह किसी वर्तमान या भूतपूर्व सदस्य से कोई बाहरी ऋण दिला सकते हैं, (*iii*) समिति के अंश कुर्क नहीं हो सकते, (*iv*) किसी सदस्य की मृत्यु होने पर उसका अंश उसके वारिस को हस्तान्तरित कर दिया जाता है और (*v*) ये समितियाँ आय कर, मुद्राक कर (Stamp duty) और पंजीयन शुल्क (Registration fee) से मुक्त होती हैं।

सहकारी समिति और प्रमण्डल में अन्तर (Distinction between Co operative Society and Company) इन दो व्यापारिक सगठनों में निम्नलिखित अन्तर हैं —

१—सहकारी समिति सहकारी समिति विधान द्वारा नियन्त्रित होती है, जब कि संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डल प्रमण्डल विधान (Companies Act) द्वारा शासित होता है। दस से कम मनुष्य सहकारी समिति का निर्माण नहीं कर सकते, लेकिन किसी लोक-प्रमण्डल (Public Company) के लिए ७ से कम मनुष्य नहीं होने चाहिए। निजी प्रमंडल (Private Company) की दशा में केवल दो व्यक्ति ही काफी होते हैं।

२—सहकारी समिति में अंशों की सूची सदैव नये सदस्यों के लिये खुली होती है और अंश कभी भी अपने सामान्य-मूल्य से ऊँचे दामों पर नहीं बेचे जाते। किसी सदस्य के अंश खरीदने की सीमा भारतीय विधान (Indian Act) द्वारा १००० रु० और बम्बई विधान (Bombay Act) द्वारा ३०००) रु० तक सीमित कर दी गई है।

३—सहकारी समिति में लाभों का वितरण कार्य या व्यापार की उत्पत्ति की तादाद के अनुपात में होता है, अधिलाभांशों (Dividends) का वितरण बचत के भुगतान (Payment) के रूप में होता है। लेकिन संयुक्त स्कन्ध प्रमंडल में लाभों का वितरण सदस्यों की लगाई हुई पूँजी के अनुपात में होता है। इस प्रकार सहकारी समिति मनुष्यों का एक सघ है और प्रमण्डल पूँजी का एक संघ है। सहकारी समिति निस्संदेह पूँजी का उपयोग करती है, परन्तु यह उस पर नियत दर से ब्याज देती है।

४—सहकारी समिति में मनुष्य पूँजी का मालिक होता है, परन्तु कम्पनी में पूँजी मनुष्य का मालिक होती है। इसलिए कम्पनी पूँजीवादी पद्धति का रूप समझी जाती है। सहकारी समिति में शासन या प्रबन्ध पर सब मनुष्यों का बराबर बराबर अधिकार होता है परन्तु कम्पनी का शासन अंश पूँजी (Share Capital) की हद पर आधारित होता है।

५—सहकारी-समिति केवल एक व्यापार ही नहीं है, बल्कि इसमें व्यापार का

एकत्रीकरण और सेवा की भावना निहित होती है, जो वफादारी, भाईचारा और समामेलित-विचार (Co-operative feelings) पैदा करती है। इसीलिये जितना यह अपने निजी-हितों को प्रेरित करती है, उतनी ही समाज-सेवा की भी प्रेरणा देती है। परन्तु, दूसरी ओर, कम्पनी शुद्ध रूप से एक व्यापारिक संस्था है।

सहकारिता के विभिन्न रूप (Different Forms of Co-operation)

सहकारी समितियों के मुख्य-मुख्य रूप साख-समितियाँ (Credit Societies), उत्पादक समितियाँ (Producers' Societies), उपभोक्ताओं की समितियाँ (Consumers' Societies) और विभिन्न अन्य प्रकार की समितियाँ हैं।

१—साख समितियाँ (Credit Societies)

सहकारी-साख-समिति उन लोगों का एक संघ है जिनके साधन छोटे और सामान्य हैं, जिन्हें आवश्यक या उत्पादक कार्यों के लिये समय-समय पर धन की आवश्यकता होती है और जो अकेले रहने पर इसे उचित शर्तों पर प्राप्त नहीं कर सकते। ये सम्मिलित फण्ड या पूँजी में छोटे अंशों का रुपया लगायें या नहीं, इससे कोई मतलब नहीं। यहाँ तक कि अधिकांश देशों में खेतिहर लोग इस प्रकार अंश दाय (Contributions) नहीं करते, जब कि खेती न करने वाले एक प्रशंसनीय पैमाने पर अंश-पूँजी लगाते हैं।

उनके संघ (Association) का मुख्य उद्देश्य सम्मिलित रूप से साख प्राप्त करना होता है, अर्थात् एक समिति के रूप में वे अपनी उधार लेने की क्षमता को बढ़ाना चाहते हैं; और तब उस उधार लिये हुए रुपये को परस्पर एक-दूसरे की साख पर देकर काम में लाना चाहते हैं। आजकल जिस प्रकार की साख समितियाँ हर सभ्य देश में पाई जाती हैं, वे जर्मनी की रेफीजन Raiffeisen और शुल्ज-डेलिट्ज Schulze-Delitzsch के सिद्धान्तों पर आधारित हैं, जो १६ वीं शताब्दी के मध्य में बनाई गई थीं। खेतिहर-समिति (Agricultural Society) रैफीजन का अधिक अनुसरण करती है और शहरी-जमातें शुल्ज-पद्धति को अधिक अनुकूल समझती हैं। विनाश (Waste) मिलावट (Adultration) और असन्तोष सम्बन्धी पूँजीवाद की बुराइयाँ साख के क्षेत्र में ब्याजखोरी, फिजूल-खर्ची और निराशा का रूप ग्रहण कर लेती हैं। साख समिति इन बुराइयों का सामना करती है। यह कम ब्याज पर रुपया उधार देती है, यह उपयोगी कार्यों के लिये ऋण देती है और हरएक सदस्य को समान स्तर प्रदान करती है, जिससे कि वह समिति के प्रबन्ध के लिये अधिकारियों को चुनने में भाग ले सके और स्वय भी निर्वाचित हो सके। सब सदस्य समान रूप से हानि की पूर्ति करते हैं जो दुर्भाग्य या बेईमानी से होती है। प्रतिभूति (Security) की वृद्धि और ब्याज के कम करने में सब

लोग भाग लेते है। यह ब्याज की कमी स्थायी धन से और साथियों में एकता की भावना के बढ़ने से होती है।

साख की पूर्ति के लिये भारत में अनेक सहकारी संस्थाए पाई जाती हैं। वे ये हैं —

(a) ग्रामीण-प्राथमिक-साख-समिति (या ग्राम अधिकोष)

Rural Primary Credit Society (Or Village Bank)

ग्रामीण-साख-समिति रेफीज़न आदर्श पर आधारित होती है, जोकि भारत में प्राथमिक समिति (Primary Society) का सबसे अधिक प्रचलित रूप है। वे मुख्य लक्षण, जो सहकारी सिद्धान्त के अनुसार किसी समिति में होने चाहियें, ये हैं —

१—एक दूसरे से परिचय करने, कार्य समझने और निरीक्षण करने के लिये *व्यापार-कार्य का कोई सीमित क्षेत्र होना चाहिए।*

२—सुरक्षित, सम्मिलित और सीमित दायित्व, जिससे पारस्परिक नियन्त्रण और देखभाल हो सके और प्रदायकों (Creditors) को विश्वास हो सके। तो भी यह एक अभिन्न लक्षण नहीं है क्योंकि कुछ प्रान्तों में कुछ समितियों का निर्माण सीमित दायित्व के आधार पर किया जा रहा है।

३—सदस्यों का समान स्तर और प्रजातान्त्रिक-नियन्त्रण।

४—खर्च की बचत करने के लिये कार्यकारिणी (Executive) में अवैतनिक सेवा करना और 'अपने आप अपनी सहायता' करने का अभ्यास बढ़ाना।

५—अविभाज्य (Indivisible) स्थायी धन (Reserve Money) के रूप में लाभों को बाँटना, जो कि असीमित दायित्व का मुख्य सिद्धान्त है और जिससे आर्थिक स्थायित्व (Financial Stability) को शक्ति मिलती है।

६—ऋण-दान (Loans) सदस्यों तक ही सीमित रखना, जिससे आन्दोलन के सहकारिता के गुण को सुरक्षित रक्खा जा सके, जिसमें चरित्र के आधार पर बड़ी सावधानी से सदस्यों का चुनाव किया जाता है।

७—माल सम्बन्धी प्रतिभूति की अपेक्षा व्यक्ति पर अधिक विश्वास करना।

सहकारी समितियों के सफलता से कार्य करने के लिये, इन आवश्यक सुप्रसिद्ध सिद्धान्तों के अलावा, सहकारी अर्थ व्यवस्था के कुछ और भी सिद्धान्त हैं, जैसे केवल उत्पादक कार्यों के लिये ही ऋण दान (Loans) करना और अनुत्पादक खर्चे को कम से कम करना। समिति के सब सदस्यों की सामान्य-प्रतिभूति (General security) के

अलावा, प्रतिभूति-पद्धति (System of sureties) द्वारा ऋण-दान के प्रयोग पर सावधानी से नियन्त्रण रखना, और दुरुपयोग (Misuse) की अवस्था में ऋण-दान को वापिस माँग लेना, मितव्ययता (Thrift) पर जोर देना और स्थानीय-निक्षेपों (Local deposits) की ओर आकर्षण आदि। इन सिद्धान्तों में, समितियों के सदस्यों और अधिकारियों की उचित शिक्षा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(b) शहरी-प्राथमिक-साख-समिति

(Urban Primary Credit Society)

कस्बों में साख-समिति आम तौर से शुल्ज-डीलित्ज (Schulze-Delitzsch) के समान होती है। यह समिति दायित्व के आधार पर बनती है और यह अधिकांश अंशों (Shares) के द्वारा अपनी पूँजी एकत्रित करती है। इसमें पारस्परिक प्रतिबन्ध (Mutual control) के नैतिक-तत्त्व (Moral-Element) का महत्त्व कम होता है और यद्यपि लेखा तथा व्यापार विधि (Procedure) अधिक ऊँचे स्तर पर होते हैं, तो भी एकता और सबकी सामान्य आवश्यकता (Common need) का भाग इसमें गाँवों की अपेक्षा कम होता है।

शहरी-साख-समितियाँ भारतीय शहरी-सहकारी आन्दोलन की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण आकृति हैं और छोटे कस्बों में कुछ हद तक संयुक्त-स्कन्ध-अधिकोषण (Joint Stock Banking) की सुविधाओं को पूर्ण करती हैं। शहरी समितियों का संविधान (Constitution) ग्रामीण-समितियों के संविधान से भिन्न होता है। इनके कार्यों का क्षेत्र अपेक्षाकृत बड़ा होता है और सदस्यों का दायित्व आमतौर से अधिक सीमित होता है। पूँजी अंशों के द्वारा एकत्रित की जाती है और ये समितियाँ अपने सदस्यों और बाहरी लोगों सभी से निक्षेप (Deposits) स्वीकार करती हैं। जब उनके अपने साधन (Resources) आवश्यकताओं की अपेक्षा कम पड़ जाते हैं, तब वे समय-समय पर केन्द्रीय-अधिकोष (Central Bank) या प्रान्तीय-सहकारी-अधिकोष (Provincial Co-operative Bank) से रुपया उधार लेती हैं।

वे ज्यादातर छोटे व्यापारियों, कलाकारों (Artisans) और वेतन-भोगियों (Salary Earners) को व्यक्तिगत प्रतिभूति (Personal Security) या सोना चाँदी आदि माल गिरवी पर रखकर ऋण देती हैं। वे विभिन्न प्रकार के निक्षेप (Deposits) लेती हैं; और उनसे कम आमदनी वाले लोगों को विनियोग (Investment) के लिये सुविधाएं देती हैं।

शहरी अधिकोषण विशेष रूप से बम्बई और मद्रास में विकसित हुआ है, जहाँ प्रायः सभी मुख्य-मुख्य कस्बों में इस प्रकार की बैंकें स्थापित की गई हैं। बम्बई में उनके

कार्यों का सचालन सहकारी अधिकोष सघ (Co-operative-Banks' Association) द्वारा होता है, जिसने शहरी अधिकोषण की बहुमूल्य सेवा की है।

(c) जिला और केन्द्रीय सहकारी अधिकोष (District and Central Co operative Banks)

प्राय सभी अवस्थाओं में इसकी स्थापना अपेक्षाकृत धन और जन-सेवी मनुष्यों द्वारा की गई है। उन लोगों ने प्रारम्भिक साख समितियों के लाभ के लिये फंड एकत्रित करने के हेतु, अशपूजी दी है और अपनी व्यापारिक योग्यता से इस विषय में काम लिया है।

सन् १९१२ के सहकारी समिति विधान (Co-operat ve Societies Act) के पास होने के उपरात, प्राथमिक-साख समितियों की अर्थ-व्यवस्था और उनके सन्तुलन केन्द्रों (Balancing Centres) के रूप में कार्य करने के लिये, केन्द्रीय अधिकोषा का सगठन किया गया है। विस्तार से हम यह कह सकते हैं कि दो प्रकार के केन्द्रीय अधिकोष हैं, पहला तो वह है जिसके सदस्य केवल समितियाँ होती हैं और जिन्हें अधिकोष-सघ (Banking Un ons) कहा जाता है, और दूसरे वे हैं जिनके सदस्य व्यक्ति भी होते हैं और समितियाँ भी।

केन्द्रीय अधिकोषों का कार्य क्षेत्र कुछ सूबों मे ताल्लुका या तहसील तक होता है और कुछ दूसरे सूबों में जिला या कई ताल्लुके और तहसीलों तक सीमित होता है। सम्मेलित समितियों (Affiliated Societies) की अर्थ व्यवस्था के अलावा बहुत से केन्द्रीय अधिकोष अन्य अधिकोषण व्यापार भी करते हैं, जैसे निक्षप (Deposits) लेना बिल, चैक हुडियाँ आदि इकट्ठे करना मूल्यवान वस्तुओं की धरोहर रखना आदि।

(d) प्रातीय सहकारी अधिकोष [(Provincial Co operative Banks) जैसे सहकारी साख समितियों की सख्या और व्यापार बढ़ा और केन्द्रीय अधिकोष भी बढ़े, तब प्राता में कार्य सचालन के लिये प्रातीय अधिकोषों की आवश्यकता स्पष्ट प्रतीत होने लगी। मैक्लेगन कमेटी ने हर बड़े प्रात में एक सर्वोच्च अधिकोष (Apex Bank) की स्थापना की सिफारिश की और उसी के अनुसार इस प्रकार की बैंकों की स्थापना हुई।

यद्यपि इस आन्दोलन के शुरू में प्रातीय सहकारी अधिकोष प्रत्यक्ष रूप से ग्राम-गण समितियों की अर्थ व्यवस्था करते थे, अब वे प्राय सभी सूबों में सर्वोच्च अधिकोषों की कोटि में आ गये हैं और सिवाय विशेष प्रकार की समितियों के जैसे मकान समितियाँ (Housing Societies) आदि वे साधारणत इन समितियों से सीधा व्यवहार नहीं करते।

भिन्न-भिन्न प्रांतों में प्रांतीय-सहकारी-अधिकोषों के संविधान (Constitutions) भिन्न-भिन्न हैं। कुछ प्रांतों में इनकी सदस्यता व्यक्तियों और समितियां दोनों के लिये खुली होती है, और सचालकों के बोर्ड में भिन्न भिन्न प्रकार की समितियों के प्रतिनिधि और व्यक्तिगत सदस्य भी होते हैं; जब कि अन्य प्रान्तों में सदस्यता केवल समितियों के लिये ही खुली होती है और सचालकों के बोर्ड में सम्मेलित केन्द्रीय अधिकोष (Affiliated Central Banks), अधिकोषण संघ और अन्य समितियों के प्रतिनिधि होते हैं।

२—उत्पादक-समितियाँ (Producers' Societies)

भारत के गाँवों में उद्योगी जनता (Industrial Public) की संख्या कम होती जा रही है। इसका कारण यह है कि छोटी-मोटी दस्तकारी और गाँवों के उद्योग-धन्धों से, बड़े पैमाने पर चलने वाले उद्योग बड़ी स्पर्द्धा (Competition) करते हैं। इसलिये खेती का रोजगार करने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है। फलस्वरूप लोग खेती पर अधिक जोर देते हैं और गाँव का किसान खेती के ही भरोसे रहता है, साल के लगभग १५० दिन बेकार रहता है। भूमिहीन ग्रामीण की दशा और भी अधिक बुरी है; उसके पास अपना कोई स्वतन्त्र उद्योग नहीं होता और उसकी आर्थिक दशा इतनी कमजोर होती है कि वह अपने को दास-वृत्ति (Serfdom) से रोक नहीं सकता।

दो मुख्य समस्याएं, जिनको किसी भी ग्रामीण सुधार से पहले हल करना चाहिये; ये हैं :—(१) उत्पत्ति के साधनों पर अधिक जन-संख्या के दबाव को हटाकर मनुष्यों के प्रति-घण्टा उत्पादन में वृद्धि करना, और २—एक बहुत बड़ी जन-संख्या को खेती से निकाल कर दूसरे उद्योग-धन्धों में लगाना। इसीलिये अब एक ऐसी स्पष्ट नीति (Policy) होनी चाहिये, जिससे अब जो लोग जीविका की खोज में हैं उनके उद्योगों का फिर से बँटवारा हो और उन्हें खेती के बटते हुए पेशे से निकाल कर दूसरे उद्योगों में लगाया जाय।

इस बढ़ती हुई आबादी के लिये रोजगार की एक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शाखा छोटे पैमाने के उद्योग या कुटीर उद्योग (Cottage Industries) हैं। भारत की दशा को अच्छी तरह जानने वाले लोगों की अनुमति सदा उन्हीं के पक्ष में रही है और इस बात का भी सुझाव दिया गया है कि इन कुटीर उद्योगों में लगे हुए लोगों के लिये सहकारी पद्धति सबसे अधिक उपयुक्त है। भारतीय-औद्योगिक आयोग (Indian Industrial Commission 1916-18) ने सहकारिता और कुटीर उद्योगों के पारस्परिक सम्बन्ध पर बड़ा जोर दिया था और यह बयान दिया था कि तात्त्रिक-बातों (Technical matters) में राज्यों को औद्योगिक-सहकारी-समितियों का संगठन और सहायता करनी चाहिए। खेती के शाही आयोग (The Royal Commission

on Agriculture) ने भी इसी सुझाव को दुहराया था कि गाँव के कलाकारों को सहकारिता के आधार पर साख, कच्चे माल और बिक्री के लिये सगठित करना चाहिये। उन बातों का विश्लेषण करना कठिन है जिनके आधार पर बड़े और छोटे पैमाने के उद्योगों में से किसी एक को चुना जाता है। इस प्रकार की रुचि से सम्बन्धित अनेक बातें होती हैं जो बड़ी विचारपूर्ण हैं। लेकिन साधारणत यह कहा जा सकता है कि जब आधारिक उद्योगों (Basic Industries) में छोटी औद्योगिक इकाइयों के लिये कम स्थान होता है, उपभोग पदार्थ-उद्योगों (Consumption Goods Industries) में एक महत्वपूर्ण और लाभदायक स्थान होता है, जहाँ कि उनका कार्य कई अवस्थाओं में बड़ी इकाइयों के कार्य का पूरक होता है।

औद्योगिक-सहकारिता के विषय में विदेशों से बहुत कीमती बातें सीखी जा सकती हैं। युद्ध से पहले के जर्मनी में, जन-संख्या का आठवाँ भाग कुटीर उद्योगों पर निर्भर था। इन छोटे उत्पादकों ने अपने-अपने सघ बना लिये थे जो सम्मिलित रूप से कच्चा माल लाते थे और तैयार माल बेचते थे। जापान में ६०-७० प्रतिशत औद्योगिक पेशेवर गृह-उद्योगों में लगे हुए हैं और उनके निर्यात का ५० प्रतिशत से अधिक भाग, जब हम उसकी गणना मान (Value) के रूप में करते हैं, इन घर की फैक्टरियों में ही पैदा किया जाता है। रूस में २०,००० दस्तकार सहकारी-समितियाँ हैं जिनके १७,६५,००० सदस्य हैं। यू.एस.ए. में औद्योगिक सहकारिता के विचार को लोग बड़ी तेजी से स्वीकार करते जा रहे हैं। चीन में अपेक्षाकृत थोड़े से ही समय में औद्योगिक सहकारिता में आश्चर्यजनक उन्नति हुई है, यद्यपि यह सफलता अधिकाश रूप में, लड़ाई के कारण उपभोक्ताओं को आवश्यक वस्तुओं की बहुत कमी के कारण मिली है।

छोटे साधनों वाले लोग उत्पादन की सहकारी समितियों में प्रवेश करते हैं। अपने प्रयत्नों और विनियोगों को एकत्रित करके, वे एक सम्मिलित फण्ड इकट्ठा कर लेते हैं, और एक शामिल कारखाना स्थापित करते हैं और फिर यदि उनके व्यवसाय का स्वरूप उन्हें इस बात की इजाजत देता है तो वे किसी काम का संयुक्त-अनुबन्ध (Joint Contract) भी कर लेते हैं। आम तौर से उत्पादक समिति अपने मुख्य कार्यों में पूर्ति (Supply) के कार्य भी शामिल करती है, चाहे वे व्यावसायिक या घरेलू आवश्यकताओं से सम्बन्ध रखते हों, या उनके किए हुए माल को बिक्री से सम्बन्धित हों या इन दोनों कार्यों से सम्पर्क रखते हों। करघे पर बुनने वाले, किसी औद्योगिक सहकारी समिति से सम्मिलित रूप में अपना सूत खरीद सकते हैं और स्वतन्त्र रूप से बुन और बेच सकते हैं या वे उस कपड़े को जो उन्होंने बनाया है एक ही दूकान पर बेच सकते हैं।

उत्पादकों की सहकारी समितियों का उद्देश्य निम्नलिखित लाभ प्राप्त करना होता है :—(*i*) कच्चे माल की थोक-बन्दी से बिक्री, (*ii*) एक विशेषज्ञ जो उत्पादन के तरीकों की देखरेख कर सके और उनकी उत्पन्न की हुई वस्तुओं की कोटि या क्वालिटी को भी चैक कर सके, और (*iii*) एक निपुण विक्रेता जो बाजार और बाजार की सब बातों से परिचित हो। ऐसी समितियों के सदस्य गलत निर्णय (Misjudgement) के उस खतरे से दूर रहते हैं जिससे विनाश (Waste) और बुरी कोटि की चीजें पैदा हो सकती हैं।

उत्पादकों की सहकारी समिति का लाभ जब बाँटा जाता है, तब वह उस माल के अनुपात में होता है जो हर सदस्य ने समिति को या समिति के द्वारा बेचा है।

३—उपभोक्ताओं की समितियाँ (Consumers' Societies)

इनका वर्णन एक अगले अध्याय में किया जायगा।

४—विभिन्न समितियाँ (Miscellaneous Societies)

सहकारिता वह तरीका है जो कुछ विशेष समस्याओं को हल करने और कुछ बुराइयों को दूर करने में काफी अनुकूल सिद्ध हुआ है। साख के संगठन का उद्देश्य विनाश (Waste) को रोकना होता है। सहकारी-उत्पत्ति अविरत श्रम का एक विशिष्ट रूप है और संयुक्त-क्रय (Joint Purchase) में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि मिलावटी चीजों के बजाय अच्छी चीजें खरीदी जावें। इन तीन मार्गों के अलावा कई छोटे-छोटे रास्ते हैं, जिनके द्वारा सहकारी (Co-operator) शत्रु से बचना चाहता है और ऊँची जमीन पर चढ़ना चाहता है। इनमें से कुछ का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है :—

(१) सहकारी बीमा (Co-operative Insurance). बीमे का प्रचार सारी दुनिया में हो चुका है। यह जीवन की अनेक आपत्तियों से छुटकारा पाने और रुपया बचाने का एक वैज्ञानिक तरीका है। अधिकांश देशों में करों से छूट और कई अन्य तरीकों से, इसके विकास में उत्तेजना मिली है। परन्तु तो भी भारत में इसका उचित विकास नहीं हुआ है क्योंकि यहाँ लोगों का रहन-सहन औसत दर्जे का है, वे ज्यादातर गरीब हैं और बीमे की प्रव्याजि (Premium) अदा करने के लिये उन पर रुपया नहीं बचता।

यूरुप के कई देशों में, सहकारी जीवन बीमा के विकास से, खेतिहरों, कलाकरों और श्रमजीवियों को आवश्यकताओं को पूरा करने में, काफी सहायता मिलती है। भारत में कुछ वर्षों से बम्बई, मद्रास, हैदराबाद और बड़ौदा में सहकारिता के आधार पर जीवन बीमे में कुछ उन्नति हुई है। यद्यपि वर्त्तमान समय में एक किसान की आमदनी इतनी कम है कि भविष्य के लिये कुछ भी बचाने का उन्हें कोई मौका नहीं मिलता।

जब विभिन्न विकास की योजनाएं क्रियान्वित की जायँ, तब उनसे भने ही किसी प्रकार की बचत की आशा की जा सकती है और तभी बीमे का क्षेत्र उनके लिये खुल सकता है। तो भी, इस दशा में अब भी कुछ किया जा सकता है। हर गाँव में कुछ ऐसे किसान होते हैं जो ऋण-ग्रस्त नहीं होते। ये किसान कुछ बचा सकते हैं। अतः इन्हे बीमा कराने के लिये फुसलाना चाहिये, विशेष रूप से शादी के बीमे या जीवन बीमों के लिये। अच्छे समय में कुछ किसानों पर अधिभाग (Surplus) आमदनी होती है; जिसे वे विनाशपूर्ण (Wasteful) कार्यों में खर्च करते हैं या सोने और चाँदी के जेवर बनाने में खर्च करते हैं। दूसरी ओर मुसीबतों के समय में जेवरों को गिरवी रखकर वे ऋण लेते हैं जिन्हें कि वे अक्सर खो बैठते हैं क्योंकि उनके ऋण ऊँची दर की ब्याज के कारण बहुत भारी होते जाते हैं और वे उन्हे चुका नहीं पाते। यदि कोई ऐसा अभिकरण (Agency) बनाया जाय जो उन्हें इस बात के लिये फुसलावे कि वे अपने अच्छे सम्वत् की अधिक पैदावार के रुपये को भविष्य के बुरे सम्वत् के लिये बीमा कर दें, तो वह उनके ऋण ग्रस्त होने की बीमारी को, जोकि किसानों में छूत की बीमारी की तरह फैली हुई है, बिल्कुल ठीक कर सकता है। यह बीमा पॉलिसी केवल भविष्य को ही सुरक्षित नहीं रक्खेगी; बल्कि पॉलिसी वाले व्यक्ति को आवश्यकता के समय, कम ब्याज पर बीमा समिति से रुपया उधार मिल सकेगा। इससे भी कम ब्याज पर उसे इसकी जमानत से गाँव की समिति से रुपया उधार मिल सकेगा। प्राथमिक ग्रामीण समितियाँ और अन्य सहकारी सगठन, जोकि ग्रामीण क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं, बीमे के लाभों, और आवश्यकता के समय जेवर बेचने के बजाय बीमा पॉलिसी खरीदने के लाभों की व्याख्या कर सकते हैं।

सहकारी बीमा-समिति को, कुछ बातों में, अपने व्यापार के तरीकों को गाँवों की आवश्यकता के अनुसार बदलना पड़ेगा। उदाहरण के रूप में, यदि १०००) रु० से कम राशि की कोई छोटी पॉलिसी है तो शारीरिक परीक्षा (Medical Examination) और उम्र के सबूत को छोड़ देना चाहिए और उनकी जगह पर अच्छे स्वास्थ्य और जन्मतिथि की घोषणा ही काफी है और इस प्रकार की घोषणा सहकारी समिति के दो अन्य सदस्यों द्वारा प्रमाणित होनी चाहिए। इसके हितों की रक्षा के लिये, समिति को पहले तीन वर्षों के लिये, इसके जोखिम को सीमित करने के लिये, नियम और शर्तें रख देनी चाहियें जिससे किसी पॉलिसीदार की पहली वर्ष में ही मृत्यु हो जाने पर उसके वारिसों को केवल उस प्रव्याजि की राशि को लेने का अधिकार होगा जो उसने अदा की है, और दूसरी या तीसरी वर्ष में उसकी मृत्यु होने पर, उसके वारिसों को बीमे के पूरे धन को प्राप्त करने का अधिकार नहीं होगा अपितु इसके अनुपात में, जैसे एक-तिहाई या दो-तिहाई आदि। चौथे वर्ष से समिति को सारा जोखिम अपने ऊपर ले लेना चाहिये।

(२) सहकारी गृह-निर्माण (Co-operative Housing) : कुछ वर्षों से भारत में नगर बसाने और घर बनाने की एक बड़ी समस्या खड़ी हो गई है। लड़ाई के बाद जो विकास की योजनायें बनी हैं, उनमें से नगर-विकास-योजना भी है। इस समस्या को हल करने के लिये नगरों और कस्बों को इस योजना पर अमल करना पड़ेगा। इन नगर योजनाओं में सहकारी-आधार पर गृह-निर्माण में बड़ी सफलता मिल सकती है।

किसी भी गृह-निर्माण योजना में, व्यक्तिगत रूप से भाग लेने की अपेक्षा सहकारी रूप से प्रयत्न करने पर अधिक लाभ मिल सकता है। यह सहकारी-समिति के सदस्यों के हितों से सम्बन्धित होता है और सदस्य जिस प्रकार के मकान बनाना चाहते हैं, एक-दूसरे के सहयोग से बना सकते हैं। इससे वे जमीन मालिक के दखल देने से बच जाते हैं और सब सदस्य जिम्मेदारी और स्वामित्व का जोखिम अपने ऊपर लेकर सुगमता से काम कर सकते हैं।

सहकारी गृह-निर्माण समितियाँ साधारणतः दो प्रकार की होती हैं। (*i*) किरायेदारों की सहकारी समितियाँ जो अपने सदस्यों के लिये मकान बनातीं या खरीदती हैं या पट्टेदारी पर लेती हैं, और (*ii*) मकान-समितियाँ जो रेहन (Mortgage) की प्रतिभूति (Security) पर ऋण देकर मकान दिलाने में सुविधा प्रदान करती हैं।

भारत के कुछ राज्यों में सहकारिता के आधार पर गृह-समितियों का संगठन किया गया है। लेकिन उनके कार्य अभी तक शहरी इलाकों में ही सीमित हैं।

(३) सहकारी यातायात (Co-operative Transport) : भारत सरकार और कुछ रियासतों की सरकारों ने लड़ाई के बाद, बड़े पैमाने पर सड़कों के विकास की योजना बनाई थी; परन्तु इस योजना के साथ-साथ सड़कों के नियमन (Regulation) रेल-ट्राफिक और यातायात-पद्धति (Transport System) की कार्य-क्षमता सम्बन्धी समस्याएं उठ खड़ी होंगी। यातायात-पद्धति की कार्य-क्षमता को बढ़ाने के लिये और इस कार्य में लगे हुए लोगों की आर्थिक दशा सुधारने के लिये, यह आवश्यक है कि यातायात के साधनों मोटर, टेलों आदि को सहकारिता के आधार पर सगठित किया जाय। इससे भी अधिक, सहकारिता के आधार पर सगठित यातायात पर अनेक मालिकों द्वारा अलग-अलग अपने लॉरी, टेला आदि चलाने की अपेक्षा, राजकीय नियमन (State Regulation) भी अधिक अनुकूल एवं सुगम हो जायगा।

(४) विभिन्न-प्रयोजनार्थक समितियाँ (Multipurpose Societies) : साधारणतः इस बात को स्वीकार किया गया है कि हमारी ग्राम्य-विकास-योजनाएं (Rural Development Schemes) सहकारिता के सिद्धांतों पर आधारित होनी

चाहिये। किसी प्रकार की सहकारी-कार्यवाही आवश्यक है। यह कार्य चाहे एक प्रयोजनार्थक-समिति या विभिन्न प्रयोजनार्थक समितियाँ कर सकती हैं। विभिन्न प्रयोजनार्थक समिति वह संस्था है जो अपने सदस्यों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की सेवाएं करती है।

चूँकि साख की पूर्ति (Supply of Credit) किसान के जीवन के केवल एक पहलू से सम्बन्ध रखती है, इसलिये प्राथमिक-सहकारी-समितियों के कार्य उसके सारे जीवन से सम्बंधित होने चाहियें। इसीलिये प्राथमिक-साख-समिति में सुधार होने चाहियें और इसका फिर से संगठन होना चाहिये, जिससे यह अपने सदस्यों के सामान्य आर्थिक विकास के लिये एक केन्द्र (Centre) का कार्य कर सके। विभिन्न-प्रयोजनार्थक समिति निम्नलिखित कार्य कर सकती है:—

(*a*) अनाज-उत्पादन की आर्थिक व्यवस्था करना ;

(*b*) एक अभिकर्त्ता (Agent) की हैसियत से पैदावार की बिक्री का प्रबन्ध करना, जैसे कि पास वाले सहकारी-विपणन संगठन (Co-operative-Marketing-Organisation) के द्वारा बिक्री का प्रबन्ध करना ;

(*c*) अनाज उत्पादन के लिये किसान की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति करना ; जैसे बीज, मवेशियों का चारा, खाद और खेती के औजार, और अन्य दैनिक प्रयोग की चीजें भी—जैसे कपड़ा, मिट्टी का तेल, नमक, दियासलाइयाँ आदि ;

(*d*) पास वाली डेरी के लिये दूध इकट्ठा करना और जानवरों का प्राथमिक उपचार (First-Aid) और साँड बैल रखना ;

(*e*) सदस्यों के संयुक्त (Joint) प्रयोग के लिये खेती की मशीनें रखना ; और

(*f*) सदस्यों को सहायक व्यवसायों, (Subsidiary Occupation) की प्रेरणा देना।

राज्य की सरकारों ने गाँवों में पंचायतें स्थापित कर दी हैं ; इसलिये ऐसे कार्य जैसे फसलों की योजनाएं, सिंचाई, ईंधन के लिये पेड़ लगाना, चरागाहों का प्रबन्ध और पशुओं के चारे का प्रबन्ध करना आदि पंचायतों के सुपुर्द होने चाहियें।

विभिन्न प्रयोजनार्थक-समितियों के विरुद्ध तीन बातें कही जाती हैं ; वे ये हैं ; (*i*) यह भिन्न-भिन्न कार्यों के लेखा (Account) हिसाब-किताब आदि को मिला-मिलाकर एक जगह रखती है और इस प्रकार किसी एक प्रकार के कार्य को वास्तविक परिस्थिति का पता नहीं चलने देती ; (*ii*) किसी एक कार्य में असफल होने पर लाभदायक कार्यों का भी समालोपन (Winding up) करने के लिये समिति मजबूर हो सकती है ; और (*iii*) चूँकि इसके कार्य अनेक हो जाते हैं, इसलिये कुछ थोड़े से बुद्धिमान मनुष्य ही समिति का नियन्त्रण कर सकते हैं और इस प्रकार का संगठन

सहकारिता की भावना के विरुद्ध है। लेकिन इन ऐतराजों का बड़ी सरलता से सामना किया जा सकता है। भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए भिन्न भिन्न लेखा (Accounts) रक्खे जा सकते हैं। किसी एक कार्य से हुई हानि इतनी बड़ी हानि नहीं हो सकती कि उससे समिति को अन्य सब कार्यों का भी समालोपन करना पड़े। कुछ लोगों के हाथ में समिति का नियन्त्रण जाने का डर इस कारण पैदा होता है कि अब तक सहकारिता की शिक्षा की अवहेलना की गई है।

यह सच है कि विभिन्न प्रयोजनार्थक समिति के ऊपर बहुत अधिक कार्य नहीं डाल देन चाहिये। पहले खेती और घर की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये साख-समितियाँ बनानी चाहिए और उन्हें पैदावार की बिक्री के लिए अभिकर्त्ताओं (Agents) के रूप में कार्य करना चाहिए।

Test Questions

1 What are the advantages and disadvantages of a single enterpreneur business? Discuss the prospects of such a form of business organisation in India (Agra B Com 1948)

2 *A sole trader whose business is expanding feels the need of* some assistance in his business. Should he take a partner or engage a servant? Give reasons

(Bombay B. Com 1946)

3 What are the requisites of an ideal partnership? Under what circumstances can a partnership be dissolved?

(Agra B Com 1948)

4 What is partnership and how does it differ from a Joint Hindu Family Firm? (Agra B Com 1946)

5 Specify with reasons the important clauses which should be included in a properly framed partnership agreement

(Agra B Com 1942)

6 What are the advantages of registration of firms? How may a firm be registered? What do you understand by the principle of Holding out in a partnership concern?

(Alld B Com 1938)

7 What are the chief characteristics of a joint stock enterprise? How do you account for the slow progress of this form of business organisation in India (Agra B Com 1947)

8 Why is the joint stock company so popular as a form of business organisation? (Bombay B Com 1945)

9 Discuss, with special reference to the following statement the principal abuses to which the system of joint stock enterprise is open to this country —The distribution of shares among the various categories is so arranged as to ensure a controlling voice in the management to an individual or a small group

(Agra B Com 1944)

10 What advantages does a Limited company enjoy over other forms of business organisation ? (Agra B Com 1948)

11 Being invited to interest yourself financially in a business, suggest the points which would influence you in making a decision

(Bombay B Com 1936)

12 Compare the business position of a co operative society with that of a joint stock company (Bombay B Com 1947)

13 Discuss the future of co operation as a form of business organisation in India (Bombay B Com 1946)

14 What suggestions would you make in regard to the form of organisation suitable for cottage industries in India ?

(Agra B Com 1942)

तीसरा अध्याय

कम्पनी का संगठन (१)

यह पहले ही कहा जा चुका है कि कम्पनी के समस्त नियम भारतीय कम्पनी विधान सन् १९१३ ई० से सम्बन्ध रखते हैं। इस अध्याय में जिन धाराओं का उल्लेख किया गया है तथा आगे दो अध्यायों में जिस विषय का उल्लेख होगा वे सभी इसी विधान के अन्तर्गत आते हैं।

कम्पनी के संस्थापन की पद्धति (Methods of Incorporation)

किसी भी कम्पनी या प्रमण्डल की स्थापना निम्नलिखित पद्धतियों के आधार पर की जाती है —

(१) राज्य के आज्ञा पत्र द्वारा (By Royal Charter)—इस पद्धति के अनुसार किसी कम्पनी की संस्थापना उस समय होती है जब वह कम्पनी राज्य के से विशेष अधिकारों को प्रयोग में लाकर राज्य-संचालन का ही कार्य करती है। उस समय वह प्रान्तों मे शासन करना, सेना शक्ति का बढाना तथा अन्य इसी प्रकार के कार्य करती है। कम्पनी को इस प्रकार के कार्य करने का उत्तरदायित्व राज्याज्ञा (Royal Charter) द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार के काय करन वाली कम्पनी का मुख्य उदाहरण ईस्ट इण्डिया कम्पनी है। आधुनिक युग में इस पद्धति का प्रचार विशेष रूप से नहीं पाया जाता। राज्य की आज्ञा से संस्थापित हुई कम्पनियाँ "आज्ञा-पत्रधारी' कम्पनियाँ कहलाती हैं। ये कम्पनियाँ बहुधा अपने नाम के साथ आज्ञा-पत्रधारी या चार्टर्ड (Chartered) शब्द का भी प्रयोग करती हैं। परन्तु इस शब्द का प्रयोग अधिक नहीं मिलता। केवल कुछ बैंकें ऐसी अवश्य मिलती हैं जो अपने नाम के साथ चार्टर्ड या आज्ञा-पत्रधारी शब्द का प्रयोग करती हुई दिखाई देती हैं जिनमें से चार्टर्ड बैंक ऑफ इण्डिया, आस्ट्रेलिया अथवा चीन ऐसी ही कम्पनी है। यह अवश्य देखन में आता है कि जहाँ किसी चार्टर्ड या आज्ञा-पत्रधारी कम्पनी के अंशधारियों का दायित्व (Liability) सीमित (*Limited*) होता है वहाँ वह कम्पनी अपने नाम के साथ चार्टर्ड शब्द का प्रयोग आवश्यक नहीं समझती।

(२) संसद् के विशेष विधान द्वारा (By Special Act of Legislature)—जब कोई कम्पनी राष्ट्रीय कार्य करने के लिए संस्थापित की जाती है, उस समय यह दूसरी पद्धति बहुधा प्रयोग में लाई जाती है। इस प्रकार की कम्पनियाँ

वैधानिक कम्पनियाँ (Statutory Companies) कहलाती हैं। ऐसी प्रत्येक वैधानिक कम्पनी अपने विधान के अनुसार ही समस्त कार्य करती है। भारतवर्ष में ऐसी अनेक वैधानिक कम्पनियाँ विद्यमान हैं जो या तो ब्रिटिश संसद (Parliament) के विशेष विधान द्वारा संस्थापित हुई हैं या भारतीय व्यवस्थापिका सभा (Indian Legislature) के विशेष विधानों द्वारा संचालित होती हैं। ऐसी कम्पनियों में से ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी, जी० आई० पी० रेलवे कम्पनी, इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया, रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया तथा इण्डस्ट्रियल फाइनैंस कॉर्पोरेशन आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। चार्टर्ड या आज्ञापत्र धारी कम्पनियों की भाँति इन कम्पनियों के अंशधारियों का दायित्व भी सीमित होता है परन्तु ये कम्पनियाँ अपने नाम के साथ सीमित (Limited) शब्द का प्रयोग नहीं करतीं, जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से और भी स्पष्ट हो जाता है।

(३) भारतीय कम्पनी विधान द्वारा (By Incorporation under the Indian Companies Act)—भारतवर्ष में उपर्युक्त दोनों पद्धतियों की अपेक्षा यह तीसरी पद्धति कम्पनियों की संस्थापना के लिए विशेष अपनाई जाती है। थोड़ी सी आज्ञा पत्रधारी या चार्टर्ड कम्पनियों तथा वैधानिक कम्पनियों को छोड़कर शेष सभी कम्पनियाँ इसी पद्धति पर संस्थापित की जाती हैं।

अधिक साझेदारी पर प्रतिबन्ध (Prohibition of Large Partnership)—भारतीय कम्पनी विधान की धारा ४ के अनुसार किसी भी अधिकोषण व्यापार (Banking business) के लिए अधिक से अधिक १० व्यक्ति तथा अन्य किसी व्यवसाय के लिए अधिक से अधिक २० व्यक्ति मिलकर उस समय तक कार्य कर सकते हैं जब तक वह संघ (Association) भारतीय कम्पनी विधान द्वारा रजिस्टर्ड या पंजीकृत नहीं हो जाता या उपर्युक्त दोनों पद्धतियों पर संस्थापित नहीं होता। २० मनुष्यों से अधिक व्यक्तियों की ऐसी संस्था के लिए रजिस्टर्ड होना अनिवार्य नहीं जो कि लाभ प्राप्त करने के लिए व्यवसाय न करके केवल कला की उन्नति, दान आदि के कार्य सामाजिक उन्नति के लिए करती रहती है। नियम या विधान सदैव प्रचलित बुराइयों को रोकने एवं दूर करने के लिए ही बनाये जाते हैं। भारतीय कम्पनी विधान का भी उद्देश्य यही है कि वह उन बुराइयों को सदैव के लिए दूर कर दे जोकि अधिक जोखम उठाने वालों या उत्थान पतन (Fluctuating) की ओर सदैव अग्रसर रहने वाली व्यापारिक संस्थाओं द्वारा उत्पन्न होती हैं। इन विस्तीर्ण व्यापार करने वाली संस्थाओं के विषय में विचारे भोले भाले व्यापारी भी कुछ नहीं जानते। इसी कारण इनके चंगुल में फँसकर तथा इनके बहकावे में आकर अपनी पूँजी गँवा बैठते हैं। यह एक सार्वजनिक अपराध है जिस पर शासन की ओर से प्रतिबंध होना अत्यावश्यक माना गया है।

"व्यक्तियों" कहने से हमारा तात्पर्य कोई कम्पनी, संस्था, संघ या मनुष्यों का समूह ही होता है। यह दूसरी बात है कि चाहे वे कम्पनी, संघ या संस्थायें संस्थापित (Incorporated) हों अथवा नहीं। यही कारण है कि हिन्दुओं का संयुक्त-कुटुम्ब भी एक व्यक्ति ही कहलाता है जिसका कि समस्त प्रबन्ध एक व्यक्ति के ही हाथ में रहता है और वही उस कुटुम्ब का प्रतिनिधि भी माना जाता है। हिन्दू-विधान (Hindu Law) के अंतर्गत भी ऐसे परिवार या संयुक्त कुटुम्ब का एक स्वतन्त्र अस्तित्व माना गया है चाहे फिर उसमें कितने ही सदस्य क्यों न हों। अतः यह स्पष्ट है कि भारतीय कम्पनी विधान की धारा ४ कौटुम्बिक व्यापार (Family business) करने वाले एक संयुक्त-हिन्दू-कुटुम्ब पर लागू नहीं होती। यदि कहीं दो या दो से अधिक ऐसे परिवार मिलकर कोई स्वतन्त्र व्यापार करते हैं तो व्यक्तियों की गणना के समय अल्प वयस्क (Minors) या बच्चे उस गिनती से पृथक् ही रक्खे जायेंगे और व्यक्तियों की संख्या में दोनों परिवारों के सभी वयस्क (Adult) पृथक्-पृथक अस्तित्व रखने वाले माने जायेंगे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि भारतीय संविधान की धारा ४ एक संयुक्त-हिन्दू-कुटुम्ब पर उस समय नहीं लगती जब वह अपना व्यक्तिगत रूप से ही व्यापार करता है, परन्तु ऐसे ही संयुक्त कुटुम्ब यदि दो या दो से अधिक मिलकर कोई व्यवसाय प्रारम्भ करते हैं या साझेदारी स्थापित करके व्यापार चलाते हैं तो वहाँ प्रत्येक संयुक्त-कुटुम्ब एक व्यक्ति नहीं माना जायेगा, अपितु उसमें जितने वयस्क (adults) सदस्य होंगे उतने ही व्यक्ति माने जायेंगे; परन्तु एक पंजीकृत या रजिस्टर्ड कम्पनी सदैव एक व्यक्ति ही मानी जायेगी।

एक ऐसा संघ या पार्षद (Association) जो भारतीय कम्पनी विधान की धारा ४ के विपरीत स्थापित होता है, अवैधानिक संस्था या संघ (Illegal Association) कहलाता है। ऐसी अवैधानिक संस्थाओं का कोई अस्तित्व नहीं होता। ये संस्थायें अस्तित्व-हीन प्रेत के समान होती हैं। इन अवैधानिक संस्थाओं के निम्नलिखित दुष्परिणाम देखने में आते हैं।

(१) ऐसी संस्थाओं की समस्त कार्यवाहियाँ, चाहे वे अपने सदस्यों के विरुद्ध की गई हों और चाहे अन्य किसी व्यक्ति के, सदैव असफल ही रहती हैं। उस समय तो कोई भी कार्यवाही सफल नहीं हो सकती जब ऐसी संस्थाओं की अवैधानिकता का पता उनके विरोधियों को चल जाता है। ऐसी संस्थायें किसी प्रकार का अभियोग भी नहीं चला सकतीं, चाहे आगे जाकर वे संस्थायें पंजीकृत या रजिस्टर्ड बने ही हो जायें।

(२) ऐसी संस्थाओं के प्रत्येक सदस्य व्यापार द्वारा उत्पन्न हुई समस्त देनदारी के व्यक्तिगत रूप में उत्तरदायी होते हैं। कोई भी व्यक्ति तथा कम्पनी

अपनी देनदारी के लिए ऐसी संस्थाओं के किसी भी सदस्य के विरुद्ध अभियोग चलाकर उसे वसूल कर सकते हैं। उस समय न्यायालय में भी इस बात का विचार नहीं किया जाता कि उक्त संस्था के उस सदस्य को उस संस्था की अवैधानिकता का ज्ञान है अथवा नहीं।

(३) १५ जनवरी सन् १९३७ के उपरान्त स्थापित हुई ऐसी अवैधानिक संस्थाओं का प्रत्येक सदस्य दण्डनीय है। वह दण्ड यद्यपि १०००) रु० से अधिक नहीं होगा।

कम्पनियों का वर्गीकरण (Kinds of Companies) भारतीय कम्पनी विधान के अनुसार निम्नलिखित तीन प्रकार की कम्पनियाँ रजिस्टर्ड की जाती हैं —

(१) अंश सीमित कम्पनियाँ (Companies limited by shares)

(२) प्रत्याभूति सीमित कम्पनियाँ (Companies limited by Guarantee)

(३) असीमित कम्पनियाँ (Unlimited Companies)

पंजीयन या रजिस्ट्रेशन का प्रमुख स्वरूप यह माना जाता है जब कोई कम्पनी अंशों में सीमित हो जाती है और प्रत्येक सदस्य उसका अंशधारी (Shareholder) बनकर एक या अधिक अंश प्राप्त कर लेता है। उन अंशों में ही कंपनी की समस्त पूँजी विभाजित रहती है। प्रत्येक अंशधारी का दायित्व भी उतना ही होता है जितने कि वह अंश प्राप्त करता है। यही सीमित दायित्व वाली कम्पनी अंश सीमित कम्पनी (*Company limited by shares*) कहलाती है।

प्रत्याभूति सीमित कम्पनी वह कहलाती है जिसमें प्रत्येक अंशधारी लिखित स्मरण पत्र (Memorandum) द्वारा यह प्रतिज्ञा कर देता है कि कम्पनी की परिसमाप्ति (Winding up) के समय वह अमुक रकम देने के लिए तैयार रहेगा। इस प्रकार उसका दायित्व भी उस राशि तक सीमित हो जाता है। ऐसी कम्पनियाँ दो प्रकार की मिलती हैं। किसी कम्पनी की पूँजी का विभाजन अंशों में रहता है और कोई कम्पनी अपनी पूँजी अंशों में नहीं भी रखती है।

असीमित कम्पनी (Unlimited Company) साधारण साझेदारी के समान ही होती है। इसका प्रत्येक अंशधारी कम्पनी के समस्त ऋणों को चुकाने के लिए अन्त तक उत्तरदायी रहता है। इतना अवश्य है कि यदि कोई सदस्य ऐसी कम्पनी की सदस्यता से अलग हो जाये तो उसके अलग होने की तिथि से १ वर्ष बाद वह समस्त दायित्व से वंचित हो जाता है। आधुनिक युग में ऐसी कम्पनियाँ व्यावहारिक रूप से कार्य करती हुई नहीं मिलतीं।

विधान के अनुसार रजिस्टर्ड होने वाली कम्पनियाँ पुन दो भागों में बाँटी जाती हैं—(१) व्यक्तिगत या वैयक्तिक कम्पनी (Private Company) तथा (२)

सार्वजनिक कम्पनी (Public Company)। व्यक्तिगत कम्पनी वह होती है जो अपने वैयक्तिक अन्तर्नियम (articles) बनाकर अशों के हस्तान्तरण पर प्रतिबध लगा देती है, उपस्थित कर्मचारियों को छोड़कर शेष सदस्यों की सख्या ५० तक सीमित कर लेती है तथा कम्पनी के अशों या ऋण-पत्रों (debentures) को खरीदने के लिये जनता का निमन्त्रण अस्वीकार कर देती है। ऐसी व्यक्तिगत कम्पनियों के अतिरिक्त देश में अन्य जो भी कम्पनियाँ पाई जाती हैं वे सभी सार्वजनिक कम्पनियाँ कहलाती हैं।

व्यापार की दृष्टि से प्रत्याभूति सीमित तथा असीमित कम्पनियाँ अधिक उपयुक्त नहीं होतीं। यही कारण है कि प्राय लोग ऐसी कम्पनियों से अधिक सम्बन्ध नहीं रखते। परन्तु अश-सीमित कम्पनियाँ व्यापार के लिए अधिक उपादेय होती हैं। इन कम्पनियों से अधिकाश लोग अपना सम्बन्ध रखते हैं। कारण यह है कि इनकी व्यवस्था अत्यन्त सुदृढ होती है।

लोक-सीमित-कम्पनियों का प्रचलन
(Flotation of Public Limited Companies)

व्यापार के अतर्गत कम्पनी-निर्माण (Company formation) तथा कम्पनी-प्रचलन (Company-flotation) ये दो शब्द बहुधा एक ही अर्थ में प्रयोग किये जाते हैं। परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो दोनों शब्दों के मध्य में एक विशेष अन्तर दिखाई देगा। निर्माण की अपेक्षा प्रचलन शब्द अधिक विस्तीर्ण है। पहला यदि स्थिरता का द्योतक है तो दूसरा गत्यात्मक्ता की ओर सकेत करता हुआ दिखाई देता है। निर्माण का अभिप्राय किसी वस्तु का उत्पादन है। इसके द्वारा उत्पन्न होकर कोई वस्तु व्यापार-क्षेत्र में अपना अस्तित्व ग्रहण करती है। परन्तु प्रचलन का अर्थ है किसी वस्तु का चालू करना। इस प्रचलन द्वारा कोई वस्तु जीवन ग्रहण करके अनन्त काल तक चलती रहती है। उसका अस्तित्व अनिर्दिष्ट अवधि तक विद्यमान रहता है जैसे शिल्पकला आदि। निर्माण किसी वस्तु को केवल जीवन ही दे सकता है परन्तु उसको उपयोगी बनाना तथा आगे बढ़ाने का कार्य प्रचलन के ही हाथ में है। इसलिये जब हम कम्पनी-प्रचलन शब्द का प्रयोग करत हैं तो इसका अभिप्राय केवल निर्माण ही नहीं होता, अपितु निर्माण के अतिरिक्त कुछ और बातें भी इसमें सम्मिलित रहती हैं। जैसे व्यापार के लिए पूँजी सग्रह करना तथा उन समस्त वैधानिक औपचारिकताओं (legal formalities) की पूर्ति करना जो कि कम्पनी के व्यापार को सुचारु रूप से चलाने के लिए प्रारम्भ में ही आवश्यक होती हैं।

प्रवर्त्तक (Promotor) वह व्यक्ति, सस्था या फर्म अथवा कम्पनी प्रवर्त्तक कहलाते हैं जो किसी कम्पनी की स्थापना के पूर्व उससे सम्बन्धित समस्त आवश्यक कार्यों को पूर्ण करते हैं। प्रवर्त्तक की उपयुक्त परिभाषा देना तो कठिन है, क्योंकि

किसी भी विधान में इसकी परिभाषा नहीं मिलती और न वहाँ यह नाम ही दिया गया है। यह नाम तो केवल व्यापार-क्षेत्र में काम चलाने के लिए प्रयोग किया जाता है। साधारण रूप से यह नाम उन्हीं व्यक्ति या व्यक्तियों को दिया जाता है जो किसी निश्चित योजना के अनुसार कम्पनी का निर्माण करते हैं। तथा निर्माण करके उसका संचालन भी करते हैं। साथ ही उस कम्पनी को सुचारु रूप से चलाने के लिए समस्त आवश्यक सामग्रियों का भी सग्रह करते रहते हैं। इस प्रकार उनका कार्य कम्पनियों के व्यापार को पूर्णता देना है। किसी भी सीमित-कम्पनी (Limited Company) की स्थापना या तो किसी पूर्व स्थापित व्यवसाय को खरीदकर होती है या उसे पट्टे पर लेकर की जाती है अथवा कोई स्वतंत्र व्यापार आरम्भ करके भी ऐसी कम्पनियाँ स्थापित की जाती हैं। इस दृष्टि से एक कम्पनी प्रवर्तक (Promotor) के निम्नलिखित कार्य होते हैं —

(१) वह किसी कम्पनी के निर्माण करने की पहले कल्पना करता है तथा उसके लिए सभी आवश्यक सामग्री जुटाता है।

(२) वह ऐसे व्यक्तियों की खोज करता है जो संघ या पार्षद सीमा नियम (Memorandum of association) पर हस्ताक्षर कर सकें तथा सर्व-प्रथम संचालक होने के लिए अपनी सम्मति दे सकें।

(३) वह कम्पनी का नाम, पूँजी की राशि तथा उसके स्वरूप को निर्धारित करता है और यदि आवश्यक होता है तो अभिगोपन (Underwriting) के लिए भी प्रबन्ध करता है।

(४) वह अधिकोषों (Banks) अकेक्षकों (Auditors), दलालों (Brokers) तथा वैधानिक सलाहकारों (Legal advisors) को निर्धारित करता है।

(५) वह संघ या पार्षद सीमा-नियम (Memorandum) तथा संघ-अन्तर्नियम (Articles) और विवरण-पत्रिका (Prospectus) बनवाता है।

(६) वह कम्पनी की रजिस्ट्री के समय भी उपस्थित रहता है।

(७) वह विक्रेताओं (Vendors), अभिगोपकों (Underwriters), तथा प्रबन्ध अभिकर्ताओं (Managing agents) से अनुबन्ध (Contract) की पूर्ति के लिए प्रबन्ध करता है।

(८) वह रजिस्ट्रार के यहाँ विवरण-पत्रिका (Prospectus) प्रस्तुत करता है, उसे सभ्य लोगों के पास पहुँचाता है तथा उसका विज्ञापन कराता है।

(९) वह प्रारम्भ में होने वाले समस्त व्ययों का भुगतान करता है।

(१०) वह अंशों (Shares) तथा ऋण पत्रों (Debentures) का बँटवारा करता है।

(११) वह कम्पनी को व्यापार प्रारम्भ करने के लिए प्रमाण पत्र दिलाने का प्रबन्ध करता है।

(१२) वह कार्यालय, कारखाना, यत्र या मशीन तथा आवश्यक कर्मचारियों की व्यवस्था करता है।

उपर्युक्त ढँग से कम्पनी-प्रवर्त्तक का कार्य करने वाली विशेषज्ञ सस्थाए या एजेन्सियाँ भारतवर्ष में नहीं पाई जातीं। यहाँ पर प्राय वे ही मनुष्य प्रवर्त्तक का कार्य करते रहते हैं जो भविष्य में प्रबन्ध-अभिकर्त्ता (Managing agents) होना चाहते हैं। ऐसे मनुष्य पहले तो पथ-प्रदर्शक की भाँति कार्य करते हैं, फिर प्रवर्त्तक हो जाते हैं और अन्त में प्रबन्ध-अभिकर्त्ता बनकर कार्य चलाते हैं। यहाँ कम्पनियों की व्यवस्था के अन्तर्गत सबसे अधिक प्रभाव प्रबन्ध अभिकर्त्ता का ही पाया जाता है। अत यह स्पष्ट है कि भारतवर्ष में एक ही व्यक्ति पथ-प्रदर्शक, प्रवर्त्तक तथा प्रबन्ध अभिकर्त्ता होता है।

प्रारम्भिक अनुबन्ध Preliminary contracts) जब कोई प्रवर्त्तक किसी पूर्व-स्थापित व्यापार को खरीदकर अथवा उसे पट्टे पर लेकर किसी कम्पनी की स्थापना करता है तो उस समय होने वाले समस्त व्ययों को अपने ऊपर नहीं लेता। वह अपने ऊपर उन खर्चों को तभी लेता है जब उस व्यापार के विक्रेता या पट्टे पर उठाने वाले से अनुबन्ध (Contract) स्थापित कर लेता है। ये अनुबन्ध प्राय विक्रेता या पट्टे पर उठाने वाले तथा प्रवर्त्तक के मध्य में ही होते हैं। कम्पनी से इनका कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। ऐसे अनुबन्ध किसी भी पक्ष से बहुधा तोड़ भी दिए जाते हैं। ये उसी समय तोड़े जाते हैं जब या तो किसी निश्चित कम्पनी का निर्माण नहीं होता, अथवा न्यूनतम प्रार्थित-धन (Subscription) प्राप्त नहीं होता या कम्पनी की स्थापना तो हो जाती है परन्तु उसकी स्थापना से एक निश्चित अवधि तक वे सभी अनुबन्ध स्वीकार नहीं कर लिये जाते। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि अनुबन्धों से कम्पनी को कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए कम्पनी के लिए यह आवश्यक है कि जिस समय उसका निर्माण हो तो प्रवर्त्तक के दायित्व की रक्षा के लिए अथवा उसे अनुबन्धों के बोझ से मुक्त करने के लिए वह एक ऐसा नवीन स्वीकृति-पत्र (Agreement) लिख दे जोकि प्रवर्त्तक द्वारा किए हुए मूल अनुबन्धों के ही समान हो। ऐसा करने से दोनों के दायित्व की रक्षा हो जायेगी।

प्रवर्त्तक का पारिश्रमिक (Promotor's Remuneration) कम्पनी-प्रचलन के लिए प्रवर्त्तक को अथक परिश्रम करना पडता है। वह निरतर आवश्यक सामग्री जुटाने में व्यस्त रहता है। अत उसके कार्य के लिए यह उचित है कि कम्पनी कुछ पारिश्रमिक उसे प्रदान करे। यह पारिश्रमिक निम्नलिखित तीन रूपों में से किसी एक रूप में दिया जा सकता है :—

(१) या तो प्रवर्त्तक को उस व्यवसाय या जायदाद का मूल्य द्रव्य में ही मिल जाना चाहिए जिसे कि उसने कम्पनी को सहर्ष दे दिया है;

(२) या उस व्यवसाय अथवा जायदाद के क्रय-मूल्य पर उसे आयोग या कमीशन मिलना चाहिए;

(३) या कोई इकट्ठी निश्चित धन राशि (Certain lump sum) उसके लिए स्वीकृत कर देनी चाहिए। यह अवश्य उल्लेखनीय है कि प्रवर्त्तक का पारिश्रमिक चाहे इकट्ठी धन-राशि में दिया जाये, चाहे अंश रूप में दिया जाये और चाहे कम्पनी के ऋण पत्रों के रूप में दिया जाये, परन्तु उसका स्पष्ट उल्लेख विवरण-पत्रिका (Prospectus) में होना चाहिए। भारतवर्ष में यह प्रायः देखा गया है कि सभी प्रवर्तक कम्पनियों के प्रबन्ध अभिकर्त्ता बनने के लिए ही कार्य करते रहते हैं और उस कार्य का उस समय तक कुछ भी पारिश्रमिक नहीं लेते जब तक कि वे प्रबन्ध-अभिकर्त्ता न बन जायें। कारण यह है कि प्रबन्ध अभिकर्त्ता होकर वे पर्याप्त मात्रा में धनोपार्जन कर लेत हैं। इसी से प्रवर्त्तक के कार्य का कुछ भी पारिश्रमिक नहीं लेते।

सार्वजनिक सीमित कम्पनी का निर्माण (Formation of a Public Limited Company) जब किसी नवीन कम्पनी का निर्माण किया जाता है तो उसके पंजीयन या रजिस्ट्रेशन के लिए निम्नलिखित कार्यवाहियाँ करना आवश्यक होता है —

१—जिस प्रान्त में कम्पनी का प्रमुख कार्यालय स्थित हो, तो उसी प्रान्त की सयुक्त-स्कन्ध कम्पनी (Joint Stock Company) के रजिस्ट्रार या पजीयक के सम्मुख प्रस्तुत करने के लिए निम्नलिखित प्रलेखों (Documents) को भेजना चाहिए —

(अ) ऐसे संघ-सीमा नियम (Memorandum of Association) तथा सघ अन्तर्नियम (Articles of Association) जिन पर सात व्यक्तियों के हस्ताक्षर हों (धारा २२)। यदि कोई कम्पनी सारणी 'अ' (Table A) के नियमों को अपना लेती है तो उसे किसी प्रकार के विशेष अन्तर्नियमों को रजिस्ट्रार के सम्मुख प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं। परन्तु इस बात का भी उल्लेख स्पष्ट रूप से सीमा नियम में होना चाहिए। इसके साथ ही सघ सीमा-नियम तथा अन्तर्नियम पर मुद्राङ्क कर (Stamp duty) भी लगता है जो कि विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न रूप में लिया जाता है।

(आ) उन व्यक्तियों की सूची या तालिका, जोकि कम्पनी के सचालक बनने के लिए तैयार हों—धारा ८४।

(इ) यदि सचालकों की नियुक्ति सघ अन्तर्नियम के अनुसार ही हुई हो तो सचालकों के हस्ताक्षर कराकर निम्नलिखित वस्तुएं रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करनी चाहिए —

(क) संचालक के कार्य करने की लिखित सम्मति, तथा

(ख) सचालक का ऐसा प्रमाण-पत्र जिसमें इस बात का स्पष्ट उल्लेख हो कि कम्पनी के अश खरीदने के लिए यदि उसने कम्पनी से ही रुपया लिया है तो वह चुका दिया है या चुकाने का वायदा कर दिया है अथवा अपने और कम्पनी के बीच कोई लिखित अनुबंध (Contract) कर दिया है। साथ ही उसमें यह भी लिखा हुआ हो कि उसकी योग्यता के अनुसार ही अशों की रजिस्ट्री उसके नाम हुई है —धारा ८४ ।

(ई) एक ऐसी परिनियत या वैधानिक घोषणा (Statutory declaration) जिसमें इस बात का सकेत हो कि रजिस्ट्री के लिए वैधानिक आवश्यकताओं की पूर्ति पूर्ण रूप से कर दी गई है—धारा ८४।

(उ) कम्पनी के पजीयित अथवा रजिस्टर्ड कार्यालय की स्थिति की सूचना —धारा ७२ ।

(ऊ) विवरण-पत्रिका या उसकी अनुपस्थिति में कोई अन्य विवरण। —धारायें ६२ तथा ६८।

टिप्पणी—उपर्युक्त भाग (उ) तथा (ऊ) में निर्दिष्ट प्रलेखों (Documents) को या तो रजिस्ट्री के समय ही प्रस्तुत कर देना चाहिए, यदि ऐसा न हो सके तो रजिस्ट्री हो जाने के उपरान्त शीघ्र ही रजिस्ट्रार के यहाँ पहुँचा देना चाहिए।

२—पजीयन या रजिस्ट्री होने के लिए कुछ शुल्क (Fees) रजिस्ट्रार के यहाँ जमा करना पड़ता है। यह शुल्क आवश्यकतानुसार सरकारी अधिकोष (Government Treasury) में जमा करना चाहिए।

(अ) वह कर या शुल्क जोकि कम्पनी को अश-पूँजी रखने पर देना पड़ता है इस प्रकार है —

यदि वह पूँजी २०,०००) रु० से अधिक न हो तो	४०) रु०
यदि पूँजी २०,००००) से अधिक हो तो—	
प्रति १०,०००) रु० या उसके खड से ५०,०००) तक	२०) रु०
प्रति १०,०००) रु० या उसके खड से परे ५०,०००) रु० तथा १०,००,०००) रु० तक	५) रु०
प्रति १०,०००) रु० या उसके खड से परे १०,००,०००) रु० तक	१) रु०

अधिक से अधिक १०००) रु० कर या शुल्क के रूप में देना पड़ता है और इतना शुल्क तभी दिया जाता है जब किसी कम्पनी की पूँजी ५२,५०,०००) रु० होती है। कभी-कभी कम्पनी की अश पूँजी में वृद्धि हो जाती है। ऐसी दशा में कम्पनी को कुछ अधिक शुल्क जमा करना पड़ता है। यह अधिक शुल्क कम्पनी द्वारा जमा किए हुए शुल्क तथा पूँजी के कारण बढ़ने वाले शुल्क के अन्तर के बराबर

होता है। उदाहरण के लिए मानलो यदि किसी कम्पनी की अश पूँजी रजिस्ट्री होने के समय १०,००,०००) रु० है तो उस समय उसे ५७५) रु० शुल्क के रूप में जमा करने पड़ेंगे। अब यदि उसकी अश पूँजी बढ़कर १५,००,०००) रु० होगई तो उस ५०) रु० और अधिक देने पड़ेगे, क्योंकि १५,००,०००) रु० पर शुल्क ६२५) रु० होता है और वह रजिस्ट्री के समय ५७५) रु० जमा कर चुका है तो अब उसे ६२५) रु० – ५७५) रु० = ५०) रु० अधिक और जमा करने पड़गे।

(आ) प्रलेखों को प्रस्तुत करने का शुल्क (Filing Fees) प्रत्येक प्रलेख के लिए कम्पनी को ३) रु० शुल्क रजिस्ट्रार के यहाँ जमा करना पड़ता है।

सस्थापन का प्रमाण पत्र (Certificate of Incorporation) जब रजिस्ट्रार या पजीयक यह देख लेता है कि कम्पनी ने समस्त प्रलेखों का आवश्यक शुल्क जमा कर दिया है तथा अन्य सभी आवश्यक बातों की पूर्ति करदी है तो वह अपने हस्ताक्षरों द्वारा कम्पनी को एक प्रमाण पत्र लिखेगा जिसमें इस बात का स्पष्ट उल्लेख होगा कि कम्पनी अब सस्थापित (Incorporated) है और यदि कम्पनी सीमित (Limited) दशा में है तो यह लिखेगा कि अब कपनी सीमित है। इस प्रमाण-पत्र का यह प्रभाव होता है कि कपनी के सस्थापन दिवस से ही स्मरण पत्र या सीमा नियम (Memorandum) पर हस्ताक्षर करनेवाले सदस्यों का अन्य समय समय पर होने वाले सदस्यों के सहित एक ऐसा सस्थापित समुदाय होगा जो उसी समय से उस कम्पनी के समस्त कार्यों को करने में पूर्ण समर्थ रहेगा और जिसका निरतर क्रम तथा सामान्य मुद्रा या मुहर भी होगी, परन्तु कम्पनी के सभी सदस्यों का दायित्व अशानुसार सीमित होगा। यह दूसरी बात है कि कम्पनी में सभी अशधारियों ने अपने अशों के लिए रुपया जमा नहीं किया हो, परन्तु जितने अशों को प्रतिज्ञा वे लोग करेंगे उतने अशों के ही वे उत्तरदायी होंगे।

अब हम उन तीन प्रलेखों (Documents) का सविस्तार वर्णन करेंगे जिनका कि कम्पनी की स्थापना में प्रमुख स्थान है। उनके नाम क्रमश ये हैं —(१) सघ सीमा नियम या सघ स्मरण पत्र (Memorandum of Association) (२) सघ अतर्नियम *Articles of Association*), (३) विवरण पत्रिका (*Prospectus*)।

सघ सीमा नियम या सघ स्मरण पत्र (Memorandum of Association)

यह कम्पनी का अत्यत महत्त्वपूर्ण प्रलेख कहलाता है। इसे 'साझेदारी का वैधानिक सलेख" (Statutory deed of Partnership) भी कहते हैं। इसमें कम्पनी के उन समस्त उद्देश्यों का पूर्ण रूप से उल्लेख रहता है जिनके आधार पर किसी कम्पनी की सस्थापना होती है। इसमें ही समस्त सदस्यों के दायित्व की सीमा भी निर्धारित रहती है। कम्पनी के समस्त व्यावसायिक कार्य इसी के आधार पर होते

हैं। इस सघ-सीमा-नियम के बाहर कम्पनी का कोई भी कार्य नहीं होता। इसके अतर्गत ही कम्पनी के अधिकारों एवं उसकी शक्तियों का पूर्ण विवेचन रहता है। साथ ही निम्न-लिखित बातों का उल्लेख भी इस सघ-सीमा-नियम में अनिवार्य रूप से रहता है :—

(अ) इसमें कम्पनी के नाम के साथ अत में "सीमित" या "लिमिटेड" शब्द लिखा रहता है।

(आ) इसमें कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय की स्पष्ट सूचना रहती है कि वह किस स्थान पर स्थित है।

(इ) इसमें कम्पनी के उद्देश्यों (Objects) का स्पष्ट उल्लेख रहता है।

(ई) इसमें यह स्पष्ट लिखा रहता है कि कम्पनी के सदस्यों का दायित्व सीमित है।

(उ) उसमें कम्पनी की अश-पूँजी (Share capital) लिखी रहती है। यह अश पूँजी उतनी ही होती है जितनी कि किसी कम्पनी में रजिस्ट्री होने के समय स्थायी रूप से रहती है। इसके साथ ही उस अश पूँजी का अशों में किस प्रकार विभाजन हुआ है इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख रहता है।

इस सीमा नियम के अत में सघ की एक घोषणा (Declaration) होती है जिसमें प्रत्येक अशधारियों के नाम के सम्मुख अलग अलग अशों की सख्या लिखी रहती है। ये अश उतने ही होते हैं जितने कि प्रत्येक अशधारी लेने के लिए प्रतिज्ञा कर देते हैं। प्रत्येक अशधारी को एक साक्षी (Witness) के सम्मुख हस्ताक्षर करना पड़ता है। यह साक्षी ही उनके हस्ताक्षरों को प्रमाणित भी करता है।

कम्पनी का नाम (Name of Company) नीचे लिखे हुए प्रतिबंधों के अतिरिक्त कम्पनी अपना कोई भी नाम रख सकती है। परन्तु नाम रखने से पूर्व कम्पनी के प्रवर्त्तक को रजिस्ट्रार से सलाह लेनी चाहिये। बहुधा यह देखा गया है कि यदि कोई प्रवर्त्तक रजिस्ट्रार के बिना पूछे कम्पनी का नाम रख लेता है तो कम्पनी की रजिस्ट्री होते समय यदि रजिस्ट्रार उस नाम को स्वीकार नहीं करता तो बड़ी आपत्ति खड़ी हो जाती है। यहाँ तक कि नाम के बदलने में व्यर्थ का व्यय भी हो जाता है। साथ ही नाम रखते समय यह भी जानना आवश्यक है कि कम्पनी का वह नाम उस व्यवसाय से ही सम्बन्धित हो। किसी भी नाम के साथ "कम्पनी" शब्द का होना अनिवार्य नहीं। कम्पनी का नाम किसी व्यक्ति के नाम पर भी रखा जा सकता है और केवल व्यवसाय के नाम पर भी नामकरण हो सकता है। परन्तु यदि किसी व्यक्ति के नाम पर कम्पनी का नाम रखा गया है तो वह व्यक्ति साख वाला तथा सम्मान प्राप्त होना चाहिए। ऐसा न हो कि उस व्यक्ति के विषय में जनता बुरे विचार रखती हो। अब हम उन प्रतिबंधों का विवेचन करेंगे जो किसी कम्पनी के नाम रखने के समय उपस्थित होते हैं :—

(अ) कम्पनी का नाम किसी अन्य उससे पूर्व स्थापित रजिस्टर्ड कम्पनी के नाम के समान नहीं होना चाहिए और न किसी अन्य रजिस्टर्ड कम्पनी से कुछ भी मिलना चाहिये क्योंकि ऐसा होने से व्यापार में धोखा होने की आशंका रहती है। इतना अवश्य है कि यदि उस नाम की कम्पनी समाप्त हो चुकी है तथा रजिस्ट्रार उस नाम के लिए अनुमति देता है तो वह नाम रखा जा सकता है—धारा ११।

(ब) किसी भी कम्पनी के नाम के साथ राज्य (Crown), सम्राट (Emperor), साम्राज्ञी (Empress), संघनीय (Federal), राजकीय (Imperial), राजा (King), रानी (Queen), शाही (Royal), रियासत (State), रिजर्व बैंक, बैंक ऑफ बंगाल, बैंक ऑफ मद्रास, बैंक ऑफ बम्बे, आदि शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसके साथ ही ऐसे वाक्यों का भी उपयोग नाम के साथ नहीं होना चाहिए जिनमें राज्याश्रय, राज्य की स्वीकृति तथा राज्य की अनुमति आदि का संकेत हो। भारत सरकार तथा रियासत सरकार द्वारा स्वीकृत, अनुमति प्राप्त तथा आश्रित आदि शब्दों का व्यवहार भी नाम के साथ नहीं होना चाहिए। इन शब्दों का प्रयोग उसी दशा में हो सकता है जबकि केन्द्रीय सरकार से लिखित स्वीकृति पहले प्राप्त करली जाय।

(स) सहकारी-समिति-विधान (Co-operative Societies Act) के अनुसार कोई भी कम्पनी जब तक उक्त विधान के अंतर्गत रजिस्टर्ड नहीं हो जाती अपने नाम के साथ "सहकारी" (Co-operative) शब्द नहीं लिख सकती। ऐसा करने के लिए उसे पहले प्रान्तीय सरकार से अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है।

(द) कोई भी कम्पनी अपने नाम के साथ नगरपालिका (Municipal), राज्याज्ञाधारी (Chartered) शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकती। इसके साथ ही ऐसे शब्दों का भी प्रयोग करना निषिद्ध है जिनका सम्बन्ध नगरपालिका या किसी अन्य राजकीय स्थानीय संस्था से हो।

(य) यदि कोई कम्पनी अपने अंशों से सीमित हो जाती है तो वह अपने नाम के अंत में लिमिटेड या सीमित अथवा लि॰ शब्द लिख सकती है।

कम्पनी विधान की धारा ७३ के अनुसार प्रत्येक सीमित या लिमिटेड कम्पनी को (१) अपना नाम अंग्रेजी या अन्य प्रान्तीय भाषाओं में एक फलक (Board) पर लिखवाकर कम्पनी के कार्यालय अथवा अन्य किसी ऐसे स्थान पर जहाँ कि व्यवसाय-कार्य होता हो, टाँगना चाहिए, (२) कम्पनी की मुद्रा या मुहर पर कम्पनी का नाम अंग्रेजी में खुदा रहना चाहिये (परन्तु अब हिन्दी में ही नाम खुदने की अनुमति प्राप्त होनी चाहिए); (३) उसका नाम प्रत्येक सूचना-पत्रों (Notices), विज्ञापनों (Advertisements), कार्यालय के अन्य प्रकाशनों (Official publications), समस्त हुँडियों, विनिमय-पत्रों (Bills of Exchange), प्रोनोटों तथा चैकों आदि पर

और समस्त धन अथवा माल के आज्ञा-पत्रों (Orders), बीजकों (Invoices), रसीदों (Receipts) तथा सभी पत्रों पर होना चाहिए।

विधान की धारा ११ के अनुसार किसी कम्पनी का नाम केवल दो प्रकार से परिवर्तित किया जा सकता है :—

(अ) यदि कम्पनी का नाम भूल से किसी अन्य कम्पनी के नाम के सदृश ही रजिस्टर्ड हो गया है तो वह नाम पंजीयक या रजिस्ट्रार की अनुमति से बदला जा सकता है।

(ब) यदि अन्य किसी कारण से नाम बदलने की आवश्यकता हो तो कम्पनी का नाम एक विशेष प्रस्ताव द्वारा बदला जा सकता है तथा प्रान्तीय सरकार की लिखित अनुमति प्राप्त करके भी नाम परिवर्तन हो सकता है।

पंजीयित या रजिस्टर्ड-कार्यालय (Registered Office) सघ सीमा-नियम के अतर्गत कम्पनी के रजिस्टर्ड-कार्यालय का पूरा पता नहीं होता। वहाँ केवल उस प्रान्त का ही निर्देश रहता है। जिसमें कि वह कार्यालय स्थित रहता है। धारा ७२ के अनुसार कोई भी कम्पनी अपने कार्यालय के विषय में या तो उसी दिन सूचना दे देती है जिस दिन से वह अपना व्यापार प्रारम्भ करती है। यदि उस दिन सूचना न दे सके तो कम्पनी की सस्थापना के २८, दिवस उपरान्त उसे अपने रजिस्टर्ड कार्यालय की सूचना देनी होगी जिससे कि समस्त पत्र आदि वहाँ भेजे जा सकें। यदि कोई कम्पनी अपना कार्यालय सस्थापना के उपरान्त किसी अन्य स्थान पर ले जाना चाहती है तो उसे कम्पनी-संस्थापना से २८ दिवस उपरान्त तक रजिस्ट्रार को इस बात की सूचना भेजनी पड़ेगी, क्योंकि उसी सूचना के आधार पर रजिस्ट्रार भी अपने यहाँ कम्पनी के कार्यालय का पता लिख लेगा। कोई भी कम्पनी अपने रजिस्टर्ड कार्यालय को एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में भी ले जा सकती है, परन्तु ऐसा करने के लिए उसे कुछ आवश्यक बातों की पूर्ति करनी पड़ती है। वे समस्त आवश्यक बातें अगले शीर्षक के अतर्गत लिखी जायेंगी।

कम्पनी का उद्देश्य (Objects of the Company) सघ अतर्नियम के अतर्गत उद्देश्य-वाक्य (Objects-clause) का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि उसके द्वारा केवल कम्पनी के कार्यों का विवरण ही प्राप्त नहीं होता, वरन् इसके साथ ही वह कम्पनी के कार्यों की सीमा भी निर्धारित करता है। यही कारण है कि उद्देश्य-वाक्य लिखते समय अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता होती है। कम्पनी के उद्देश्य कम्पनी विधान अथवा अन्य किसी राजकीय नियम के विरुद्ध नहीं होने चाहिए। जैसे —किसी भी कम्पनी को अपने निजी अशों को खरीदने तथा पूँजी में से लाभाश (Dividends) को बाँटने का अधिकार नहीं होता। न कोई कम्पनी किसी अकेक्षक या ऑडीटर पर यह प्रतिबंध लगा सकती है कि वह किसी तथ्य को अशधारियों के

सम्मुख प्रकट न करे ; न कोई कम्पनी अपने अंशधारियों को कम्पनी की समाप्ति के लिये प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करने (Filing a petition) से रोक सकती है। इसके साथ ही किसी भी कम्पनी को सार्वजनिक-नीति (Public Policy) के विरुद्ध चलने का भी अधिकार नहीं होता। अत. इन बातों का उल्लेख उद्देश्य-वाक्य में होना श्रेयस्कर नहीं।

उद्देश्य अत्यन्त स्पष्ट तथा पूर्ण होने चाहिए। उसके अन्तर्गत वे ही बातें आनी चाहिए जिनका सम्बन्ध कम्पनी के व्यवसाय को चलाने तथा उसको उन्नत करने से हो। सीमा पत्र में निर्दिष्ट अधिकारों की ही विवेचना उसमें रहनी चाहिए। कोई भी ऐसी बात वहाँ न लिखी जाय जिसका निर्देश पहले संघ सीमा-नियम में नहीं है। यदि इस प्रकार की बातें उद्देश्य-वाक्य के अतर्गत लिखी जायेंगी जिनका कि सीमा-नियम में सकेत तक नहीं है तो उन बातों से कम्पनी को कोई भी लाभ नहीं हो सकता, यहाँ तक कि कोई उसका अनुमोदन करने के लिए भी तैयार न होगा, चाहे फिर उसके अशधारी हो ऐसी बातों के लिखने के लिए सम्मत क्यों न हों। यही कारण है कि उद्देश्य-वाक्य उतना ही बड़ा होना चाहिये जितना कि आवश्यक हो। अधिक विस्तार देने से कम्पनी को कोई लाभ नहीं। उद्देश्य-वाक्य तो सूक्ष्म, उपयुक्त तथा स्पष्ट होना चाहिए।

प्रत्येक मनुष्य किसी भी कम्पनी के सीमा-नियमों तथा उसके अधिकारों से पूर्ण-परिचित होकर ही उसके साथ व्यवसाय करता है। यदि वह मनुष्य कम्पनी के सीमा-नियम तथा अधिकारों का ध्यान न करके उनसे परे कोई व्यापार करता है तो उसके हानि-लाभ के लिए कम्पनी उत्तरदायी नहीं। वह व्यक्ति ही व्यक्तिगत रूप से उस जोखम के लिए जिम्मेदार होगा।

यदि कोई कम्पनी अपना रजिस्टर्ड कार्यालय बदलना चाहती है अथवा सघ सीमा नियम में कुछ परिवर्तन करना चाहती है तो उसे एक विशेष प्रस्ताव पास करना चाहिए और उसकी पुष्टि न्यायालय द्वारा करानी चाहिए। इसके साथ ही वह इतना ही परिवर्तन कर सकती है जितना कि उसे (अ) अपने व्यवसाय को अधिक मितव्ययता तथा अधिक दक्षता से चलाने के लिए, या (ब) नवीन तथा उन्नत साधनों द्वारा अपना मुख्य आशय प्राप्त करने के लिए, या (स) अपने कार्य का स्थानीय क्षेत्र (Local area of its operation) बढ़ाने या परिवर्तित करने के लिए या (द) किसी ऐसे व्यवसाय को चलाने के लिए जो वर्तमान परिस्थितियों में सुविधापूर्वक कम्पनी के पहले व्यवसाय के साथ किया जा सकता हो, या (य) संघ सीमा-नियम (Memorandum) में निर्दिष्ट उद्देश्यों में से किसी का नियन्त्रण तथा परित्याग करने के लिए, या (फ) कम्पनी के व्यवसाय का समस्त या कोई भाग बेचने या अलग करने के लिये अथवा कुछ व्यक्तियों को हटाने के लिए, आवश्यक हो—धारा १२।

अश-पूँजी (Share Capital)—सद सीमा नियम के अन्तर्गत कम्पनी के विभाजित अशों की सख्या तथा रजिस्टी के समय उपस्थित अश पूँजा का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया जाता है। यह आवश्यक नहीं होता कि सीमा नियम के अतर्गत अशों के विभिन्न भागों का भी उल्लेख हो, क्योंकि ये बातें अन्तर्नियम (Articles) मे लिखी जाती हैं। यदि किसी प्रकार से अशों का विभाग सीमा नियम में नहीं है तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि सभी अश बराबर हैं। अशों के विभाजन का समस्त कार्य अतर्नियम में होता है और वही इस बात का निर्णय कर सकता है कि अमुक व्यक्ति के अशानुसार क्या अधिकार हैं। यदि सीमा-नियम के अन्तर्गत ही अशों के पृथक्-पृथक् भागों के अनुसार कुछ अधिकारों का उल्लेख कर दिया गया है तो वह विधान की धारा १५३ के सिवाय अन्य किसी भी ढग से बदले नहीं जा सकते। परन्तु जिन अधिकारों का उल्लेख अन्तर्नियमों के अन्तर्गत होता है वे कम्पनी के एक विशेष प्रस्ताव द्वारा बदले जा सकते हैं। ये अधिकार भी उसी समय तक बदले जा सकते हैं जब तक कि कम्पनी तथा अशधारियों (Share holders) के बीच में कोई विशेष अनुबन्ध (Contract) न हो जाय। इस अनुबध के उपरात अन्तर्नियमों में लिखे हुए अधिकारों में भी परिवर्तन नहीं होता।

अश पूँजी को बढाने, घटाने, बदलने, उप-विभाजन करने तथा एकत्रित करने का अधिकार प्रदान करने के लिए, मूलभूत (Original) या वृद्धिगत (Increased) पूँजी में अशों को जारी करने के लिए, लाभाश के बाँटने, पूँजी का पुनर्भुगतान (Repayment) करने या मतदान आदि के अधिकारों के लिए तथा अतर्नियम बनाकर सचालकों (Directors) को अश जारी करने के विशेष अधिकार देने के लिये "पूँजी वाक्य" (Capital clause) शब्द का प्रयोग अत्यन्त युक्तियुक्त तथा न्यायसगत प्रतीत होता है। इसी पूँजी वाक्य के द्वारा सचालक गण सीमा नियमों तथा अतर्नियमों में बिना किसी प्रकार का सशोधन एव परिवर्तन किये हुए अशों की स्थिति का पूर्ण नियन्त्रण करते रहते हैं। समय-समय पर कम्पनी की आवश्यकता एव परिवर्तनशील परिस्थिति के कारण अशों को जारी करने में भी इन्हें कोई अड़चन उपस्थित नहीं होती।

अपने अन्तर्नियमों (Articles) द्वारा अधिकार प्राप्त करके कोई भी कम्पनी धारा ५० के अनुसार निम्नलिखित कार्य कर सकती है —

(१) वह अपनी अश पूँजी बढ़ा सकती है।

(२) वह अपनी समस्त या कुछ अश-पूँजी को एकत्रित कर सकती है तथा अपने वर्तमान अशों की अपेक्षा अधिक धन के अंशों में विभाजित कर सकती है।

(३) अपने चुकाये हुए समस्त या कुछ अशों को स्कन्ध (Stock) में परिवर्तित

कर सकती है और उक्त स्कंध को किसी भी परिमाण के चुकाये हुए अंशों में पुनः बदल सकती है।

(४) अपने अंशों को या उनमें से किसी को भी सीमा-नियम या स्मरण-पत्र (Memorandum) द्वारा नियत किए हुए धन से कम वाले अंशों में उप-विभाजित कर सकती है। तथा

(५) ऐसे समस्त अंशों को निरस्त (Cancel) भी कर सकती है जो न तो किसी व्यक्ति द्वारा लिए गये हों या न उनके लिए किसी ने प्रतिज्ञा ही की हो। साथ ही अपनी अंश-पूँजी के परिमाण को भी निरस्त अंशों (cancelled shares) के परिमाणानुसार कम कर सकती है।

उपर्युक्त धारा में दिए हुए अधिकार किसी कम्पनी के द्वारा व्यापक सभा में ही प्रयोग किए जाने चाहिए। बहुधा कम्पनी इन समस्त शक्तियों को प्रयोग में लाने के लिए अपने अन्तर्नियम (Articles) में ही अधिकार प्राप्त कर लेती है।

इस प्रकार अपने अन्तर्नियमों द्वारा अधिकार प्राप्त कर कोई भी कम्पनी एक विशेष प्रस्ताव पास करके तथा उसकी न्यायालय से पुष्टि कराकर अपनी अंश-पूँजी को निम्नलिखित ढंग से कम कर सकती है :—

(१) वह अप्रदत्त अंश-पूँजी (Share capital not paid-up) के सम्बन्ध में अपने अंशों में से किसी के भी दायित्व को समाप्त कर सकती है;

(२) किसी भी नष्ट हो जाने वाली प्रदत्त अंश-पूँजी (Paid-up share capital) को निरस्त (cancel) कर सकती है।

(३) वह अपनी आवश्यकता से अधिक आई हुई प्रदत्त-अंश पूँजी को चुका सकती है।

(४) अथवा अन्य किसी प्रकार के साधनों का भी उपयोग कर सकती है— धारा ५६। इस धारा के अनुसार उपर्युक्त प्रस्ताव का नाम "अंश-पूँजी घटाने वाला प्रस्ताव" (A resolution for reducing share capital) दिया गया है।

यदि कोई कम्पनी अपने सीमा-नियम तथा अन्तर्नियम के अन्तर्गत अंशधारियों के अधिकारों में, थोड़े से अंशधारियों की राय से, कुछ परिवर्तन प्रस्तुत कर देती है तो धारा ६६-A के अनुसार उस परिवर्तन से सहमत न होने वाले सभी अंशधारी उस परिवर्तन को निरस्त (Cancel) कराने के लिए न्यायालय में आवेदन-पत्र भेज सकते हैं।

धारा १५३ के अनुसार कम्पनी तथा उसके सदस्य कोई प्रबन्ध योजना बना सकते हैं, परन्तु वह योजना कम्पनी की अंश-पूँजी के पुनर्सङ्गठन पर आधारित होनी चाहिए।

धारा ६६ के अनुसार कोई भी कम्पनी अपने विशेष प्रस्ताव द्वारा यह निर्धारित कर सकती है कि उसकी अंश-पूँजी का अयाचित-धन (Capital not called-up) कम्पनी के कार्य की परिसमाप्ति के समय अथवा इसी आशय को छोडकर अन्य किसी भी समय नहीं माँगा जायेगा। अश-पूँजी का यह भाग सचित-पूँजी (Reserve capital) कहलाता है।

सीमित दायित्व (Limited Liability) संघ सीमा-नियम के अन्तर्गत सदस्यों के दायित्व की सीमा निर्धारित रहती है। उसमें यह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं कि एक सीमित कम्पनी के सदस्यों का सीमित-दायित्व असीमित (Unlimited) कर दिया जाय। परन्तु धारा ७० के अनुसार सघ-सीमा-नियम में सचालकों का दायित्व असीमित किया जा सकता है। यदि सीमा-नियम या स्मरण-पत्र में इस प्रकार का उल्लेख नहीं होता तो एक विशेष प्रस्ताव द्वारा सचालकों के दायित्व को असीमित करने के लिए उसमें परिवर्तन किया जा सकता है। परन्तु यह भी तभी सभव है जबकि अन्तर्नियमों (Articles) द्वारा इस प्रकार का अधिकार प्राप्त हो।

सघ अन्तर्नियम (Articles of Association)

इस प्रलेख के अन्तर्गत सीमा-नियम या स्मरण-पत्र में निर्दिष्ट कार्यों की पूर्ति तथा कार्य सचालन के लिए उन उपनियमों तथा नियमों (By laws and regulations) का उल्लेख रहता है जिसके आधार पर कम्पनी की व्यवस्था की जाती है। इस प्रकार "अन्तर्नियमों" से हमारा अभिप्राय कम्पनी के उन नियमों से है जो कम्पनी की प्रस्थापना के समय ही बनाये जाते हैं तथा विशेष प्रस्तावों द्वारा ही परिवर्तित हो सकते हैं। अन्तर्नियम सदैव सीमा नियम (Memorandum) के सहायक होते हैं और ये नियम सीमा-नियम तथा विधान (Act) की सीमा का उल्लंघन करने में असमर्थ होते हैं। ये अन्तर्नियम छपे हुए होने चाहिए। इनका प्रत्येक प्रघट्टक (Paragraph) क्रमानुसार विभाजित रहना चाहिए। साथ ही सीमा-नियम पर हस्ताक्षर करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के इस पर भी हस्ताक्षर होने चाहिए।

सारिणी 'अ' की सीमा (Application of Table A) :— सारिणी 'अ' के अन्तर्गत विधान की प्रथम अनुसूची (First Schedule to the Act) में प्रकाशित ११६ नियमों का सकलन होता है। एक सार्वजनिक सीमित कम्पनी (Public Limited Company) सारिणी 'अ' को पूर्णरूप से अपना सकती है। परन्तु यह भी देखा जाता है कि वह इस सारिणी को उसी सीमा तक अपनाती है जहाँ तक कि उसको नियमों के बनाने में तथा विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता मिलती है। यदि इस प्रकार के विशेष अन्तर्नियम रजिस्ट्री होने के समय प्रस्तुत नहीं किए जाते तो सीमा-नियम या स्मरण पत्र (Memorandum) के ऊपर "बिना अन्तर्नियमों

के पञ्जीकृत या रजिस्टर्ड" (Registered without Articles) लिखा रहना चाहिए। ऐसी दशा में भी सारिणी 'अ' के समस्त नियम कम्पनी के प्रत्येक सदस्य पर लागू होंगे।

निजी कम्पनियों, असीमित कम्पनियों तथा प्रत्याभूत सीमित कम्पनियों को अपने निजी अन्तर्नियम बनाकर ही प्रस्तुत करना चाहिए क्योंकि ये कम्पनियाँ सारिणी 'अ' को पूर्णरूप से अपनाने में असमर्थ होती हैं। निजी कम्पनियाँ अपने अन्तर्नियमों में धारा २ (१३) के अनुसार कुछ आवश्यक निर्बन्धों (Provisions) का समावेश कर सकती हैं और सारणी 'अ' के अनावश्यक एवं अनुपयुक्त नियमों का परित्याग भी कर सकती हैं। प्रत्याभूत सीमित कम्पनी तथा असीमित कम्पनी को धारा १७ (२) के अनुसार अपने अन्तर्नियमों में अंश-पूँजी की राशि का उल्लेख करना चाहिए। यदि उनके पास अंश-पूँजी नहीं होती तो उन्हें अपने सदस्यों की ही संख्या दे देना चाहिए। ऐसा करने से रजिस्ट्रार को आवश्यक शुल्क की गणना करने में सहायता हो जाती है।

धारा १८ के अनुसार किसी भी निजी या सार्वजनिक अंश-सीमित कम्पनी के अन्तर्नियम चाहे वे रजिस्टर्ड हुए हों अथवा नहीं, परन्तु यदि वे सारिणी 'अ' के ही अनुकूल हैं तो वे किसी कम्पनी के रजिस्टर्ड अन्तर्नियमों के समान ही मान जायेंगे। इसके साथ ही धारा १७ (-) के अनुसार सारिणी 'अ' के ५६, ६६, ७१, ८५, ८७, १०५, १०७ तथा ११२ से ११६ तक के अन्तर्नियम प्रत्येक कम्पनी पर अनिवार्य रूप से लागू होंगे और ७८ से ८२ तक के अन्तर्नियम केवल व्यक्तिगत तथा कम्पनियों पर ही लागू होंगे।

अन्तर्नियम का मुख्य विषय (Subject matter of Articles) सब अन्तर्नियमों में साधारणतः निम्न बातों का समावेश रहता है—सारिणी 'अ' का बहिष्करण या परिवर्तन (Exclusion or modification), प्रारम्भिक अनुबन्धों (Preliminary contracts) की स्वीकृति, अंशों का संख्या तथा उनका मूल्य, अंशों का विभाजन या वितरण (Allotment), अंश प्रमाणपत्रों का निर्गमन (Issue), अंशों की याचना (Calls on shares); अंश सम्बन्धी कम्पनी के अधिकार (Company's lien on Shares), अंशों का हरण या आत्म-समर्पण (Forfeiture or surrender), अंशों का हस्तान्तरण (Transfer), पूँजी की वृद्धि, पूँजी की कमी, कम्पनी के ऋण अधिकार 'Borrowing Powers'), सार्वजनिक सभा सम्बन्धी नियम; सञ्चालकों तथा प्रबन्ध-अभिकर्ताओं की नियुक्ति, उनके अधिकार तथा उनका पारिश्रमिक; लाभांश (Dividend) की घोषणा तथा सञ्चित-पूँजी में हस्तान्तरण; लेखा-पुस्तकों तथा अंकेक्षण-पुस्तकों (Books of Account and Audit) के रखने की विधि; सूचना के नियम; अंशों पर आढ़त या कमीशन तथा दलाली (Brokerage)

का भुगतान; कम्पनी की पुस्तकों का निरीक्षण; तथा कम्पनी के प्रबन्ध से सम्बन्धित अन्य समस्त बातों का उल्लेख होता है।

कम्पनी विधान के अनुसार कोई भी कम्पनी अन्तर्नियमों द्वारा अधिकृत होकर ही अपनी निश्चित शक्ति का प्रयोग कर सकती है। यदि अन्तर्नियमों में उन अधिकारों का उल्लेख नहीं होता जिन्हें कि वह प्रयोग करना चाहती है तो उन्हें प्राप्त करने के लिये उसे एक आवश्यक प्रस्ताव पास करना पड़ेगा। इस विषय से सम्बन्ध रखने वाली समस्त बातें धारायें ४१, ४३, ४६, ४६.५०, ५५, ६६, ७१, ८५, ६१, १०१ (७), १०५, १०५ B, १०७, १०८ तथा १२५ में दी हुई हैं।

अन्तर्नियमों का प्रभाव (Effect of Articles) —धारा २१ के अनुसार कम्पनी तथा उसके सदस्यों (उसके उत्तराधिकारियों तथा वैधानिक प्रतिनिधियों) को ये अन्तर्नियम पूर्णतया बद्ध करेंगे। कारण यह है कि यह अन्तर्नियम कम्पनी तथा उसके सदस्यों के मध्य में एक अटूट सम्बन्ध स्थापित करता है, और जहाँ तक इसके नियम-पालन का सम्बन्ध है वहाँ तक ये नियम दोनों पर पूर्णरूपेण लागू होते हैं। कम्पनी कोई भी ऐसा कार्य अपने सदस्यों के विरुद्ध नहीं कर सकती जिसका कि उल्लेख इन अन्तर्नियमों में न हो। वैसे ही सदस्य भी कम्पनी के विरुद्ध ऐसी कोई भी कार्यवाही नहीं कर सकते जिसका उन्हें अन्तर्नियमों द्वारा अधिकार न मिला हो। इन अन्तर्नियमों के आधार पर ही कम्पनी अपने सदस्यों के विरुद्ध कार्यवाही कर सकती है। जैसे याचित अंशों के भुगतान न करने पर सदस्यों के विरुद्ध कार्यवाही कंपनियाँ करती रहती हैं। उसी प्रकार अन्तर्नियमों के विपरीत यदि किसी सदस्य के अंशों को कंपनी जब्त कर लेती है तो वह सदस्य भी कम्पनी के विरुद्ध अभियोग चला सकता है। इन अन्तर्नियमों द्वारा कम्पनी तथा सदस्य दो परिस्थितियों में आबद्ध नहीं होते, एक तो कम्पनी इनसे उस समय मुक्त हो जाती है जब वह अपना सम्बन्ध बाहरी लोगों से स्थापित करती है, ऐसे ही सदस्य भी उस समय मुक्त हो जाते हैं जब वे कम्पनी के सदस्य की हैसियत से न होकर अन्य किसी रूप में कोई कार्यवाही करते हैं। इसका कारण यह है कि कम्पनी के अन्तर्नियमों से बाहर के लोगों का कोई भी सम्बन्ध नहीं होता।

किसी कम्पनी के रजिस्टर्ड होते ही उसके सीमा-नियम या स्मरण-पत्र (Memorandum) तथा अन्तर्नियम (Articles) दोनों ही सार्वजनिक प्रलेख (Public documents) हो जाते हैं। उस समय इन्हें कोई भी मनुष्य जो कि रजिस्टर्ड कम्पनी से सम्बन्ध रखता हो या रखना चाहता हो, रजिस्टार के कार्यालय से देख सकता है। प्रत्येक व्यक्ति जो कम्पनी के साथ व्यवहार करता है इसे इन प्रलेखों से पूर्ण परिचित होना अनिवार्य है। प्रत्येक संयुक्त-स्कन्ध-कम्पनी ((Joint

Stock Company) अपने सीमा नियम तथा अन्तर्नियम प्रत्येक व्यक्ति को दिखाने के लिए प्रकट रूप में रखती है। उस कंपनी से सम्बन्धित प्रत्येक सदस्य के लिए यह आवश्यक है कि उसके सीमानियम तथा अन्तर्नियमों का भली प्रकार पढ़े तथा उनकी प्रत्येक बातों को ध्यान में भी रखे। इसी नियम के अनुसार प्रत्येक सदस्य से यह आशा की जाती है कि वह कंपनी के सीमानियमों तथा अन्तर्नियमों से पूर्ण परिचित हो। विदेशी व्यक्तियों से तो यह भी आशा की जाती है कि वे केवल कम्पनी के अधिकारों का ही ज्ञान न रखें वरन् उसके संचालकों के अधिकारों से भी पूर्ण परिचित रहें। उदाहरण के लिये जैसे यदि किसी कम्पनी के अन्तर्नियम में यह लिखा रहता है कि दो संचालकों के हस्ताक्षर हुए बिना कोई विनिमय पत्र (Bill of Exchange) वहाँ प्रभावशाली नहीं होता, तो प्रत्येक को इस बात पर ध्यान देना पड़ेगा कि उस पर दो संचालकों के हस्ताक्षर हैं अथवा नहीं। यदि दो संचालकों के हस्ताक्षर न होंगे तो वह व्यक्ति अपने विनिमय पत्र के लिए स्वत्व (claim) प्रकट नहीं कर सकता।

अन्तर्नियम-परिवर्तन (Alteration of Articles) —धारा २० के अनुसार कोई भी कंपनी, विधान के आदेशों का पालन करती हुई तथा अपने सीमा नियम की सीमा का उल्लंघन न करती हुई, एक विशेष प्रस्ताव द्वारा अपने अन्तर्नियमों (Articles) में परिवर्तन या परिवर्द्धन कर सकती है। इस प्रकार किया हुआ परिवर्तन या परिवर्द्धन उसी तरह से वैध (Valid) माना जायगा जैसे मानो वह मूल नियमों में ही समाविष्ट हो और साथ ही वह उसी प्रकार विशेष प्रस्ताव द्वारा बदला जा सकेगा।

सब अन्तर्नियमों के परिवर्तन या परिवर्द्धन करने के लिए किसी कंपनी के अधिकारों की निम्नलिखित सीमायें (Limitations) होती हैं —

(१) कंपनी के अन्तर्नियमों में केवल विशेष प्रस्ताव द्वारा ही परिवर्तन किया जा सकता है, किसी साधारण या असाधारण (Ordinary or extraordinary) प्रस्ताव द्वारा यह परिवर्तन नहीं होता, चाहे कंपनी के नियमों में इसका उल्लेख हो क्या न हो।

(२) यह परिवर्तन भारतीय कम्पनी विधान (Indian Companies Act) के विरुद्ध नहीं होना चाहिए। साथ ही कम्पनी के सब सीमा नियम की सीमा का उल्लंघन भी न होना चाहिए।

(३) यह परिवर्तन ऐसा नहीं होना चाहिए जिससे कि किसी सदस्य पर यह दबाव पड़े कि वह और अंशों को खरीदे तथा कम्पनी में अधिक रुपया जमा करने के लिये अपना अधिक दायित्व बढ़ाये। यह तो तभी सम्भव होना चाहिए जब कोई सदस्य इन बातों के लिए लिखित सम्मति प्रकट करे।

(४) केन्द्रीय सरकार की पुष्टि के बिना निम्नलिखित बातों में किया हुआ परिवर्तन पूर्णतया व्यर्थ ही माना जायेगा —

(अ) यदि कोई कम्पनी जिसमें कि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता नहीं है, किसी ऐसे प्रबन्ध-सचालक या सचालक की नियुक्ति कर लेती है जो क्रम से अपनी अवधि पर पद को न छोड़े तथा उसका पारिश्रमिक भी बढ़ा देती है।

(ब) यदि कोई कम्पनी अपने संचालकों की सख्या बढ़ा लेती है।

(स) यदि कोई कम्पनी अपने प्रबन्ध अभिकर्त्ता (Managing agent) के कार्यालय से सम्बन्धित नियमों को विस्तीर्ण कर देती है।

(द) यदि कोई कम्पनी प्रबन्ध-अभिकर्त्ता नियुक्त कर लेती है तथा उसका पारिश्रमिक (Remuneration) भी बढ़ा देती है।

(५) धारा १५३—(स) के अनुसार न्यायालय की आज्ञा के बिना कोई भी कम्पनी अपने अन्तर्नियमों में ऐसा किसी भी प्रकार का परिवर्तन या परिवर्द्धन नहीं कर सकती जोकि उस आज्ञा से असम्बन्धित हो।

(६) परिवर्तन सदैव निष्कपट रूप से समस्त कम्पनी के लिए लाभप्रद होना चाहिए। कोई भी ऐसा अधिकार जोकि व्यक्तिगत रूप से अंशधारियों के लिए आपत्तिजनक होता है, परन्तु कम्पनी के लिए लाभप्रद होता है तो वह बुरा नहीं कहलाता।

(७) कोई भी परिवर्तन अल्पसख्यकों (Minority) के साथ कपट या छल (Fraud) का व्यवहार करने वाला नहीं होना चाहिए। जैसे कम्पनी के बहुसख्यक लोग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से धन, जायदाद या अन्य किसी प्रकार के लाभ प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करते रहते हैं जिनमें कि दूसरे अंशधारियों का भी अधिकार होता है।

(८) परिवर्तन ऐसा नहीं होना चाहिए जिससे कि कम्पनी को बाहरी लोगों के साथ अनुबन्ध-विच्छेद (Breach of contract) करना पड़े।

सच-सीमानियम तथा अन्तर्नियम का भेद (Distinction between Memorandum and Articles) —कम्पनी के इन प्रमुख तथा महत्त्वपूर्ण प्रलेखों में परस्पर निम्न प्रकार का अन्तर होता है —

(१) सीमा नियम में कम्पनी के उन उद्देश्यों का विवरण होता है जिनके आधार पर उसकी सस्थापना होती है। ये नियम अपरिवर्तनशील होते हैं। परन्तु अन्तर्नियम किसी कम्पनी की आन्तरिक व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाले नियम होते हैं। इन नियमों पर सदस्यों का पूर्ण अधिकार रहता है और वे सुगमता से परिवर्तित भी होते रहते हैं।

(२) सीमानियम (Memorandum) किसी कम्पनी को कम्पनी-विधान के नियमों के विरुद्ध कार्य करने का अधिकार देने में सर्वथा असमर्थ रहते हैं। जबकि अन्तर्नियम केवल कम्पनी विधान से ही सीमित नहीं रहते, वरन् सीमा-नियम के भी सहायक होते हैं और उसमें दिये हुए अधिकारों के बाहर कोई भी कार्य नहीं करते।

(३) सीमानियम, कम्पनी तथा अन्य पक्षों के मध्य, एक प्रकार का अनुबन्ध होता है। इसीलिए कम्पनी से सम्बन्धित ऐसे अन्य लोगों को भी सीमा-नियम का ज्ञान होना आवश्यक है। परन्तु अन्तर्नियमों का बाह्य-पक्ष वालों से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता और न ये बाह्य पक्षों तथा कम्पनी के मध्य किसी प्रकार का अनुबन्ध स्थापित करते हैं। फिर भी कम्पनी से सम्बन्धित प्रत्येक मनुष्य को इन नियमों के विषय में जानकारी रखना आवश्यक है। यद्यपि बाह्य-पक्ष वाले इनसे बाध्य नहीं होते, परन्तु फिर भी यदि किसी प्रकार का व्यवधान कम्पनी तथा उनके बीच में है तो उसकी जानकारी होना भी आवश्यक है।

(४) सीमानियम में कम्पनी के उद्देश्य तथा अधिकारों का उल्लेख रहता है। परन्तु अन्तर्नियम में उन उद्देश्यों तथा अधिकारों की पूर्ति के लिए किए जाने वाले कार्यों की पद्धति का विवेचन किया जाता है।

(५) विधान के नियम तथा अन्य विशिष्ट बातों को छोड़कर सब-सीमा-नियम में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। परन्तु अंतर्नियमों में किसी भी समय एक विशेष प्रस्ताव द्वारा परिवर्तन हो सकता है। ये नियम कम्पनी के आंतरिक नियम होने के कारण अंशधारियों के अधिकार में रहते हैं और सीमानियमों से पूर्णतया भिन्न होते हैं।

"शक्ति से परे" का सिद्धान्त (Doctrine of Ultra Vires) :— "शक्ति से परे" (Ultra Vires) का सिद्धांत बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका सम्बन्ध प्रत्येक संस्था या कम्पनी से होता है। इस सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि कोई भी कम्पनी अपने निर्दिष्ट उद्देश्यों से परे किसी प्रकार का अन्य कार्य करने में पूर्ण असमर्थ होती है। यदि वह कम्पनी कोई भी ऐसा कार्य कर बैठती है जोकि उसके घोषित उद्देश्यों अथवा नियमों से बाहर होता है तो वह कार्य व्यर्थ माना जाता है तथा उसका कोई भी वैधानिक प्रभाव नहीं होता। सीमित कम्पनियों से सम्बन्धित इस सिद्धान्त के अनुसार तीन प्रकार के कार्य पाये जाते हैं —

(१) वे कार्य जोकि सीमानियम (Memorandum) की शक्ति से परे होते हैं, जैसे किसी ऐसे कार्य में व्यस्त होना जिसका कि उल्लेख सीमानियम के निर्दिष्ट उद्देश्यों में नहीं है, ऐसे कार्य पूर्णतः अवैधानिक या व्यर्थ (Void) माने जाते हैं।

(२) वे कार्य जो कि अन्तर्नियमों की शक्ति से तो परे होते हैं परन्तु सीमानियम के अन्तर्गत आ जाते हैं। जैसे, अन्तर्नियम में निर्दिष्ट दर से कहीं अधिक किसी याचना (calls) पर पेशगी ब्याज दे देना। ऐसे कार्य भी अवैधानिक या व्यर्थ ही माने जाते हैं, परन्तु कम्पनी किसी व्यापक सभा में इस विषय का एक प्रस्ताव पास करके ऐसे अनधिकृत कार्यों के विषय में अन्तर्नियमों को परिवर्तित कर सकती है। जब कभी इस प्रकार के कार्यों को उचित रूप दिया जाता है उस समय भारतीय अनुबन्ध विधान (Indian Contract Act) के सिद्धान्तों को ध्यान में रखना आवश्यक होता है।

(३) वे कार्य जो सचालकों की शक्ति से परे होते हैं, परन्तु कम्पनी की शक्ति के अन्तर्गत आ जाते हैं —जैसे, किसी अनधिकृत (Unauthorised) सचालक द्वारा कम्पनी के किसी कर्मचारी को उपहार (Gratuity) प्रदान करना। कम्पनी व्यापक सभा (General meeting) में एक साधारण प्रस्ताव पास करके इस प्रकार के कार्य को उचित रूप दे सकती है। यदि कम्पनी अपने सचालकों को भविष्य के लिए कुछ अतिरिक्त शक्ति (Additional power) प्रदान करना चाहती है, जिसका कि निर्देश अन्तर्नियमों में भी नहीं है तो वह एक विशेष प्रस्ताव (Special resolution) द्वारा यह कार्य कर सकती है और इसी के द्वारा अन्तर्नियमों में भी परिवर्तन उपस्थित किया जा सकता है।

विवरण-पत्रिका (Prospectus)

परिभाषा—धारा २ (१४) के अनुसार "विवरण-पत्रिका" से तात्पर्य किसी विवरण-पत्र, सूचना, प्रसिद्ध-पत्र (Circular), विज्ञापन अथवा अन्य ऐसे निमंत्रण से है जिसके द्वारा किसी कम्पनी के अंशों या ऋण पत्रों के खरीदने तथा अंशदान (Subscription) के लिए सर्वसाधारण से प्रस्ताव किया जाय। परन्तु इसमें ऐसा कोई भी व्यापारिक विज्ञापन सम्मिलित नहीं होता जिसके देखने से ही यह प्रकट होता हो कि कोई विवरण पत्र नियमानुसार तैयार किया जा चुका है और प्रस्तुत (file) कर दिया गया है। धारा ९३ (३) के अनुसार ऐसा कोई भी सरक्यूलर या प्रसिद्धि पत्र विवरण पत्रिका नहीं कहला सकता जिसमें कि केवल कम्पनी के सदस्यों अथवा लाभांशधारियों को अंशों या लाभांशों के खरीदने के लिए आमंत्रित किया गया हो, भले ही, वह पत्र दूसरे मनुष्यों के अधिकारों से युक्त या रहित ही क्यों न हो।

किसी भी कम्पनी को रजिस्ट्री के होने तथा स्थापना का प्रमाण पत्र प्राप्त करने के पश्चात् व्यापार करने के लिए धन की आवश्यकता होती है, और सर्वप्रथम प्रवर्तक इसी धन को संग्रह करने का कार्य करता है। कभी-कभी यह धन किसी

प्रवर्तक आदि कम्पनी के निजी व्यक्ति से ही पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हो जाता है। परन्तु उचित यही है कि विवरण-पत्रिका को जारी करके आवश्यक पूँजी प्राप्त की जाये। बहुधा पूँजी की माँग करने के लिए सर्वसाधारण को आमन्त्रित किया जाता है और उस आमन्त्रण के लिए वैधानिक दृष्टि से विवरण-पत्रिका का भेजना न्याय-संगत है। यह विवरण-पत्रिका कम्पनी की सस्थापना की अपेक्षा नहीं रखती क्योंकि कम्पनी के कार्य आरम्भ करने से पूर्व ही इसका निर्माण करना पड़ता है और इसके ही द्वारा किसी कम्पनी के निर्माण की सूचना सर्वसाधारण को दी जाती है।

प्रस्तुतीकरण (Filing) —धारा ६२ के अनुसार प्रत्येक विवरण पत्रिका को दिनाङ्क (Date) डालकर तथा सभी सचालकों से हस्ताक्षर कराकर रजिस्ट्रार या पञ्जीदक के पास प्रस्तुत करना चाहिए। विवरण पत्रिका के मुख पृष्ठ पर इस बात का स्पष्ट निर्देश होना चाहिए कि इसकी एक प्रतिलिपि रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत की जा चुकी है।

निर्माण (Preparation)—विवरण पत्रिका के निर्माण करने में किसी बात का प्रतिबन्ध नहीं होता। केवल इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि उसमें कोई ऐसी बात न लिखी जाय जो कम्पनी विधान या सर्वसाधारण की नीति के विरुद्ध हो। वह पुस्तक या छोटी पत्रिका के आकार में प्रकाशित होनी चाहिए। वह कितने ही भागों में भी प्रकाशित हो सकती है, साथ ही उसमें चित्र या फोटो भी दिये जा सकते हैं।

विवरण-पत्रिका का परिचालन (Circulation of Prospectus) — विवरण-पत्रिका डाक द्वारा अथवा अन्य किसी साधन द्वारा भेजी जा सकती है। समाचार-पत्रों में भी इसका विज्ञापन हो सकता है। बहुधा दोनों पद्धतियों का भी प्रयोग देखा जाता है। बहुत सी कम्पनियाँ डाक द्वारा तो भेजती ही हैं, परन्तु साथ ही समाचार पत्रों में भी विज्ञापित करा देती हैं। इस प्रकार सर्वसाधारण को सुगमता से सूचना मिल जाती है। इसके अतिरिक्त उसकी कुछ प्रतियाँ बैंकों या अधिकोषों अथवा दलालों से भी जनता को मिल सकती हैं।

अनुक्रमणिका (Contents)—विवरण-पत्रिका ही किसी कम्पनी की आधार-भित्ति कहलाती है। इसी के ऊपर कम्पनी के भवन का निर्माण होता है। कारण स्पष्ट ही है क्योंकि इसमें ही कम्पनी के मुख्य उद्देश्य, उनकी पूर्ति का ढंग, व्यवस्था आदि का विवेचन होता है। इस विवरण-पत्रिका के आधार पर जनता कम्पनी के अंशों के लिए प्रार्थना-पत्र भेजती है तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए उचित कार्यवाही करती है। इसलिये इसके अन्तर्गत समस्त यथार्थ बातों का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए जिससे कि जनता को कोई भ्रम न रहे तथा वह विश्वस्त होकर अंश खरीदने के लिए आकर्षित हो। बहुत सी ऐसी बुराइयाँ भी होती हैं

जिनको कि विवरण-पत्रिका में छिपाया जाता है और जिन्हे दूर करने के लिए विधान बनाये जाते हैं। बहुधा ऐसी बुराइयाँ विवरण पत्रिका में यथार्थ बात को प्रस्तुत न करने पर उत्पन्न होती हैं। कभी-कभी किसी कम्पनी में सचालकों का कोई भी हाथ नहीं होता। बहुत सी कम्पनियाँ अत्यत कम पूँजी से प्रारम्भ होती है तथा अन्त मे शीघ्र ही समाप्त हो जाती है। जनता का बहुत सा दिया हुआ धन कम्पनियाँ मार बैठती हैं और कितनी ही कम्पनियों में प्रबन्ध अभिकर्त्ता अत्यधिक पारिश्रमिक पर नियुक्त किये जाते हैं तथा विस्तीर्ण शक्तिधारी बन बैठते हैं।

कम्पनी की विवरण पत्रिका से सम्बन्धित नियम का उद्देश्य एक विदेशी समिति (Foreign Commission) ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है — "हम इतने आशावादी नहीं हैं कि प्रत्येक ऐसे न्यायसगत एव प्रभावशाली विधान (Legislation) में पूर्ण विश्वास कर लें कि वह समस्त अप-व्ययों तथा कम्पनी के अव्यवस्थित प्रवर्त्तना (Promotions) को रोकने में समर्थ हो जायेगा। किसी भी नागरिक को मूर्ख बनाकर उसके अहस्तान्तरित अधिकार (Inalienable right) को छीनने का हमें कोई अधिकार नहीं, चाहे हमारे हृदय में इस प्रकार की अभिलाषा भले ही बनी रहे। हमें अपने हृदय में यह अनुभव करना चाहिए कि हमें उन व्यक्तियों को रोकने का पूर्ण अधिकार है जो नागरिकों को व्यर्थ में ही मूर्ख बनाया करते हैं।" दूसरे शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं कि यदि विधान द्वारा किसी मूर्ख की मूर्खता दूर नहीं होती, तो बुद्धिमानों को चाहिए कि वे अपने भरसक प्रयत्न द्वारा उसे दूर करने की चेष्टा करें।

धारा ९३ के अनुसार विवरण पत्रिका (Prospectus) में कुछ आवश्यक बातों का उल्लेख होता है जिनको सक्षेप में आगे दिया गया है। धारा ९६ (१) के अनुसार कोई भी ऐसी परिस्थिति व्यर्थ घोषित करदी गई है जो कि प्रार्थी को अशों अथवा ऋण पत्रों के लिए उपर्युक्त धारा से विरत रहने के लिए बद्ध करती है। इसके साथ ही धारा ९६ (२) के अनुसार किसी भी कम्पनी को आवेदन पत्र के साथ विवरण पत्रिका भेजना अनिवार्य कर दिया है। अभिगोपकों (Underwriters) या अप्रदत्त अशों पर यह प्रतिबन्ध लागू नहीं होता।

(अ) नव-स्थापित कम्पनी द्वारा प्रकाशित विवरण पत्रिका
(Prospectus issued by a new company)

(१) उद्देश्य (Objects) —

* कम्पनी के सघ-सीमानियम की विषय सूची हो जिसपर कि हस्ताक्षर करने वाले व्यक्तियों के नाम विवरण तथा पते लिखे हुए हों। साथ ही उन व्यक्तियों द्वारा लिए हुए अशों की सख्या भी पृथक्-पृथक लिखी रहनी चाहिए। परन्तु यदि कोई विवरण-

पत्रिका किसी समाचार पत्र में प्रकाशित की जाती है तो उस समय उसके अन्तर्गत उपर्युक्त बातों का होना अनिवार्य नहीं होता।

(२) संचालक-गण (Directors) —

*१—उस पर संचालकों के नाम, विवरण तथा पते लिखे रहने चाहिए। परन्तु इन समस्त बातों का उल्लेख उस समय तक नहीं करना चाहिए जब तक कि संचालकों के विज्ञापन सम्बन्धी धारा ८४ के अनुसार सभी आवश्यक बातों की पूर्ति न हो जाय।

*२—अंशों की योग्यता (Share qualification) तथा संचालकों के पारिश्रमिक (Remuneration) का स्पष्ट उल्लेख रहना चाहिए।

*३—कम्पनी द्वारा ली जाने वाली सम्पत्ति में अथवा उसके प्रवर्तन कार्य में संचालकों के प्रत्यक्ष या परोक्ष हित का स्वरूप स्पष्ट रहना चाहिए, साथ ही संचालक की योग्यता के लिए उसे दी गई धन राशि का भी उल्लेख होना चाहिए।

४—व्यवस्थापन कार्य में संचालकों के अधिकारों पर अन्तर्नियम द्वारा घोषित प्रतिबन्धों का उल्लेख रहना चाहिए।

५—प्रबन्ध-संचालक (Managing director) के पारिश्रमिक तथा उसकी नियुक्ति (Appointment) से सम्बन्धित प्रत्येक अनुबन्ध (Contract) की तारीख तथा पक्षकारों (Parties) का पूर्ण विवरण रहना चाहिए। साथ ही उस स्थान तथा समय का भी उल्लेख रहना चाहिए जहाँ जाकर इन समस्त बातों का निरीक्षण (Inspection) हो सके।

(३) प्रबन्ध अभिकर्त्तागण (Managing Agents) —

१—उस विवरण पत्रिका पर प्रबन्धकों तथा प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के नाम, पते तथा विवरण के सहित लिखे रहने चाहिए।

२—प्रबन्धकों या प्रबन्धक अभिकर्ताओं के पारिश्रमिक एवं नियुक्ति से सम्बन्धित अनुबन्धों तथा अन्तर्नियम की धाराओं का उल्लेख स्पष्ट रूप से रहना चाहिए।

३—प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को अंशों या ऋण पत्रों पर दिये जाने वाले आयोग (Commission) तथा छूट (Discount) का विवेचन स्पष्ट रहना चाहिए।

४—प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं (Managing agents) के पारिश्रमिक तथा उनकी नियुक्ति से सम्बन्धित प्रत्येक अनुबन्ध की तारीख तथा पक्षकारों का पूर्ण विवरण रहना चाहिए। साथ ही उस स्थान तथा समय का भी उल्लेख रहना चाहिए जहाँ जाकर इन समस्त बातों का निरीक्षण हो सके।

(४) अश पूँजी (Share Capital) :—

१—सस्थापकों या प्रबन्ध करने वालों की सख्या लिखी रहनी चाहिए। यदि कम्पनी में स्थगित ग्रश (Deferred shares) हों तो उनकी सख्या भी दे देनी चाहिए। इसके साथ ही ग्रशधारियों का कम्पनी की सम्पत्ति तथा उसके लाभ में जो हित है उसके स्वरूप एव विस्तार का स्पष्ट निर्देश रहना चाहिए।

२—विमोचनशील-अधिमान-अशों (Redeemable preference shares) की सख्या उनके सम्पन्न विवरण सहित लिखी रहनी चाहिए।

३—यदि अश विभिन्न प्रकार के हों तो प्रत्येक प्रकार के ग्रश के साथ उससे सम्बन्धित मतदान के अधिकारों तथा पूँजी या लाभाँश के अधिकारों का उल्लेख रहना चाहिए।

४—व्यापक सभाओं (General meeting) में सदस्यों की उपस्थिति, भाषण तथा मतदान सम्बन्धी अधिकारों पर जो प्रतिबन्ध अन्तनियम में निर्दिष्ट किए हों उनका उल्लेख रहना चाहिये तथा अशों के हस्तातरण (Transfer) सम्बन्धी अधिकारा पर लगे हुए प्रतिबन्ध भी लिखे रहने चाहिए।

५—आवेदन-पत्र के साथ ही दिये जाने वाले धन तथा प्रत्येक ग्रश के वितरण (Allotment) से सम्बन्धित सभी बातें लिखी रहनी चाहिए।

६—न्यूनतम प्रार्थित पूँजी (Minimum subscription) का उल्लेख रहना चाहिए। उसके साथ ही जब कभी किसी याचित धन का भाग ग्रश पूँजी के अतिरिक्त किसी अन्य साधन द्वारा दिया जाना हो तो उस राशि तथा उसके साधनों का पूर्ण विवरण रहना चाहिए। न्यूनतम प्रार्थित पूँजी उस धन को कहते हैं जिसे सचालकगण, सम्पत्ति खरीदने के लिए प्रारम्भिक खर्च करने के लिये, अशों पर आयोग या कमीशन देने के लिए, उधार रुपये का भुगतान करने के लिये तथा कम्पनी का कार्य चलाने के लिए अशों द्वारा इकट्ठा करते हैं।

७—अभिगोपकों (Underwriters) के नाम तथा सचालकों का यह मत स्पष्ट लिखा रहना चाहिए कि अभिगोपकों के साधन आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त हैं।

८—अशों या ऋणपत्रों पर दिए जाने वाले आयोग या कमीशन तथा किसी भी छूट (Discount) आदि का स्पष्ट उल्लेख रहना चाहिए।

(५) क्रीत सम्पत्ति (Property Purchased) :—

१—विवरण-पत्रिका में क्रीत सम्पत्ति की मूल्य-राशि का स्पष्ट निर्देश रहना चाहिए, साथ ही साख (Good will) के लिए दिए हुए धन का भी उल्लेख रहना आवश्यक है।

२—यदि कम्पनी द्वारा खरीदी हुई या क्रीत सम्पत्ति दो वर्ष के अन्दर ही विक्रय द्वारा हस्तान्तरित (Transfer) हो जाये तो जो धन, खरीदने वाले ने उक्त प्रत्येक हस्तान्तर पर दिया हो, उसका उल्लेख विवरण पत्रिका में होना चाहिए। यदि वह संपत्ति कोई उद्योग या व्यवसाय (Business) है तो पिछले तीन वर्षों का समस्त लाभ आय-व्यय विवरण-पत्र (Balance sheet) के सहित ६० दिन से पूर्व ही प्रस्तुत कर देना चाहिए। इस विवरण (Statement) में व्यापार की दशा तथा समस्त आय व्यय का पूरा पूरा उल्लेख रहना चाहिए। परन्तु उसमें (अ) उक्त काल से सम्बन्ध न रखने वाले लाभ (ब) तथा अनावर्तक (Non-recurring) लाभ को छोड़कर उसी लाभ का वर्णन होना चाहिए जिसका सम्बन्ध करों के देने तथा संचित कोष के बनाने से हो। इससे मालमत्ते (Assets) के स्फीत (Inflation) होने में सुरक्षा होती है, परन्तु यह तभी प्रभावशाली हो सकता है जब कि एक लेखापाल (Accountant) लाभ के विषय में तथा एक मूल्यांकक (Valuer) मालमत्ते के विषय में सूचित कर दे।

(६) विक्रेता (*Vendors*) —

१—विक्रेताओं का नाम पते सहित लिखा रहना चाहिए; साथ ही उनको अंशों में या ऋण पत्रों में अथवा नकद दिए जाने वाले धन का भी उल्लेख रहना चाहिए।

२—ऐसे अंशों या ऋण पत्रों के प्रचलित करने के विषय में भी उल्लेख रहना चाहिए जिन्हें पूर्णतः या अंशतः अथवा नकद रुपये देकर लेना चाहते हों।

इसी कारण से जब कभी कोई सम्पत्ति या जायदाद पट्टे पर ली जाती है तो 'विक्रेता' (Vendor) शब्द में 'पट्टे पर देने वाला' (lessor) शब्द का भी समावेश रहता है।

(७) प्रवर्त्तक (Promoters) —

जो धन प्रवर्त्तक को दिया जाये अथवा उसे देने के लिए निश्चय कर दिया जाये उससे सम्बन्धित सभी बातों का उल्लेख विवरण-पत्रिका में होना चाहिए।

(८) प्रारम्भिक व्यय (Preliminary Expenses) —

प्रारम्भिक व्ययों के लिए जो धन निश्चित किया गया हो अथवा जो व्यय हो चुका हो उस सबका निर्देश विवरण-पत्र में रहना चाहिए।

(९) महत्त्वपूर्ण अनुबन्ध (Material Contract) —

प्रत्येक महत्त्वपूर्ण अनुबन्ध की तारीख तथा उसके पक्षकारों (Parties) का उल्लेख रहना चाहिए, इसके साथ ही यथोचित समय (Reasonable time) तथा स्थान (Place) का भी निर्देश रहना चाहिए जहाँ पर जाकर उसका निरीक्षण हो

सके। किन्तु प्रतिबन्ध यह है कि आदेश उस अनुबन्ध पर लागू नहीं होगा जो कपनी द्वारा चलाये हुए उद्योग के साधारण क्रम में किया गया हो। इस महत्त्वपूर्ण अनुबन्ध का आशय यह है कि यह मनुष्यों पर ऐसा प्रभाव डाले जिससे वे कम्पनी क अशों को खरीदने के लिए आकर्षित हों, फिर चाहे वे उनक लिए आवेदन-पत्र भेजें अथवा नहीं यह दूसरी बात है।

धारा ६६ के अनुसार बिना व्यापक-सभा (General meeting) की अनुमति के इन अनुबन्धों में किसी प्रकार का भी परिवतन सम्भव नहीं होता।

(१० अकेक्षक (Auditors) —

यदि किस कम्पनी के अकेक्षक (Auditors) पूर्व ही नियुक्त हो तो उनके नाम तथा पते विवरण-पत्रिका में स्पष्ट रूप से लिखे रहने चाहिए।

स्वेच्छित सूचना (Voluntary Information)— उपयुक्त विधान के अनुसार निर्दिष्ट सूचनाओं के अतिरिक्त कोई भी कम्पनी अपनी इच्छानुकूल भी कुछ सूचनाए दे सकती है। जैसे अश-पूँजी का विवरण तथा अशों एव ऋण-पत्रों के लिए प्रार्थित पूँजी (Subscriptions) की सूचना, अशों एव ऋण-पत्रों के लिए आवेदन पत्र भेजने की पद्धति की सूचना, कम्पनी के नियमों तथा विधानों से युक्त विवरण पत्रिका की सूचना, सचालकों एव कम्पनी स सम्बन्धित अन्य व्यक्तियों की योग्यता की सूचना, तथा कपनी के अश खरीदने के लिए स्कन्ध विनिमय (Stock Exchange) में आवेदन पत्र भेजने की सूचना इत्यादि। इस प्रकार कपनी अनक बातों की सूचनायें व्यक्तिगत रूप से प्रकाशित कर सकती है।

सूची की समाप्ति (Closing of lists)—जब कोई व्यक्ति किसी कपनी क अश खरीदना चाहता है तो उसे अपेक्षित धन सहित आवेदन-पत्र भेजना पड़ता है और उस समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है जब तक कि समस्त अश-धारियों की सूची कपनी द्वारा प्रकाशित नहीं होती। सूची के प्रकाशित होने पर ही उसे यह पता चल पाता है कि जितने अशों क लिए उसने आवेदन-पत्र भेजा था उसमें से कितने मिले हैं। हो सकता है कि इच्छित सभी अश उसके लिए निश्चित कर दिये गये हों, परन्तु कभी-कभी समस्त अश न देकर कुछ अश ही उसके नाम निश्चित किए जाते हैं।

प्राय यह देखा जाता है कि कपनियाँ उस समय तक अपनी सूची प्रकट नहीं करतीं जब तक कि प्रार्थित धन का न्यूनतम अश भी उन्हें नहीं मिलता। प्रार्थित धन के प्राप्त होने पर ही सूची का कार्य समाप्त किया जाता है, परन्तु फिर भी प्रवर्त्तक-गण (Promoters) अपने इस कार्य में अधिक सावधान नहीं रहते। वैसे तो इन सूचियों के विषय में एक घोषणा प्रकाशित होनी चाहिए कि अमुक तारीख तक ही केवल

नाम लिए जायेंगे, उसके उपरान्त आने वाले आवेदन पत्रों पर कोई भी विचार नहीं किया जायगा। ऐसा करने से अधिक से अधिक आवेदन-पत्र शीघ्र ही प्राप्त हो सकते हैं और यदि अधिक संख्या में आवेदन-पत्र आ जाते हैं तो अंशों का विभाजन भी सुगमता से हो सकता है और जनता के प्रचलित किए हुए अंशों में से कोई भी शेष नहीं रहता। इस सुगमता का परिणाम यह होता है कि सूची के खुले रहने से कोई भी आवेदक अपना आवेदन-पत्र शीघ्र ही दाखिल नहीं कराता और शान्तिपूर्वक अंशों के वितरण की प्रतीक्षा करता रहता है नहीं तो बहुत से इच्छुक या चतुर व्यक्ति तुरन्त ही अपने आवेदन-पत्रों को दाखिल करा देते हैं और जनता को अपने प्रचलित किए हुए अंशों में से कितने ही अंशों के लिए पुनः नाम माँगने पड़ते हैं।

सूची के शीघ्र ही समाप्त करने का यह अभिप्राय नहीं होता कि एक नव स्थापित कम्पनी का भविष्य बड़ा अच्छा है और न इसका यही अर्थ होता है कि इस कम्पनी के अंशों का आधार अत्यन्त दृढ़, स्थिर तथा स्थायी है।

कार्य करने की अनुमति (Permission to Deal) —विवरण-पत्रिका में इस बात की घोषणा प्रायः पहले ही कर दी जाती है कि कम्पनी अपने अंशों के क्रय विक्रय के लिए स्कंध विनिमय (Stock Exchange) से शीघ्र ही अनुमति प्राप्त करेगी। क्योंकि बिना इस प्रकार के अनुमति लिए हुए कोई भी कम्पनी अपने अंशों का क्रय विक्रय खुले आम करने में असमर्थ रहती है। जब कम्पनी के अंश इस प्रकार बिक जाते हैं तब उनका यथोचित वितरण (Allotment) होता है। अंशों के लिए इस प्रकार की अनुमति देने से पूर्व स्कंध विनिमय में इनकी पूर्ण जाँच की जाती है। इस जाँच के लिए एक विशेष समिति (Special Committee) का निर्माण होता है। अनुमति प्रदान करने के उपरान्त उन अंशों तथा प्रतिभूतियों के नाम (Name of the securities) कार्यालय की सूची (Official list) में अंकित कर लिए जाते हैं तथा दलालों (Brokers) द्वारा किए हुए समस्त व्यापार का भी उल्लेख किया जाता है।

दुर्भाग्यवश यह विचारधारा बड़ी तीव्रता के साथ फैल गई है कि कम्पनियाँ स्थिरता, दृढ़ता एवं गौरव का आश्वासन प्राप्त करने के लिए ही स्कन्ध विनिमय (Stock Exchange) से अपना सम्बन्ध स्थापित करते हैं। परन्तु तथ्य यह है कि सूची सम्बन्धी आवश्यक बातों की पूर्ति होने पर प्रत्येक स्थिर एवं अस्थिर कम्पनी को *अंशों के क्रय विक्रय करने का अधिकार स्कंध विनिमय द्वारा स्वाभाविक रूप से प्राप्त* हो जाता है। स्कंध विनिमय किसी को स्थिरता एवं सौभाग्यशालीनता प्रदान नहीं करता और न किसी नई कम्पनी के भविष्य को गौरवमय बनाने का कार्य उसके हाथ में ही है। वह तो एक मात्र ऐसी संस्था है जिसके द्वारा अंशों का क्रय विक्रय इतने बाजार सुगमता से हो सकता है।

(व) पूर्व-संचालित एवं संस्थापित कम्पनी की प्रकाशित विवरण-पत्रिका
(Prospectus issued by a company already carrying on business)

यदि कोई पूर्व-सस्थापित कम्पनी अपनी सस्थापना के १ वर्ष या उससे अधिक समय पश्चात् कार्य प्रारम्भ करने के लिये अपनी विवरण पत्रिका प्रकाशित करती है तो उसे नवीन कम्पनी की विवरण-पत्रिका में फूल (*) स चिह्नाङ्कित बातों के देने को कोई आवश्यकता नहीं होती। परन्तु उसे पूर्व-लिखित बातों के अतिरिक्त नीचे लिखी हुई अधिक बातें आनिवार्य रूप से देनी पड़ेगी —

१—गत दो वर्षों में प्रत्येक अंश वितरण (Allotment) के समय प्रस्तावित अंशों की राशि तथा उन वितरित अंशों के लिए दिया हुआ समस्त धन;

२—अंशों एव ऋण पत्रों पर गत दो वर्षों में दिया हुआ आयोग या कमीशन तथा छूट (Discount), साथ ही प्रबन्ध अभिकर्त्ता को दी गई समस्त धन-राशि का पृथक् पृथक् विवरण;

३—गत दो वर्षों में पूर्णदत्त (Fully paid) या अंशतः दत्त (Partly paid) प्रचलित अंशों तथा ऋण पत्रों की सख्या एव रोकड़ के अतिरिक्त प्रचलित किए हुए अंशों का पारितोषिक (Consideration);

४—गत दो वर्षों में प्रवर्त्तक (Promoter) को दी हुई या दी जाने वाली धन राशि तथा न देने पर निश्चित पारितोषिक (Consideration);

५—कम्पनी द्वारा (अ) सामान्य व्यापारों के लिए किये हुए अनुबन्धों तथा (ब) प्रबन्ध-सचालक या प्रबन्ध अभिकर्त्ता की नियुक्ति से सम्बन्ध न रखने वाले दो वर्ष से पूर्व के अनुबन्धों को छोड़कर प्रत्येक महत्त्वपूर्ण अनुबन्धों (Material Contracts) की तिथि, पक्षकार (Parties) उचित समय तथा स्थान का निर्देश हो जहाँ जाकर उनका निरीक्षण किया जा सके, तथा

६—अंकेक्षक (Auditor) और लेखापाल (Accountant) के निम्नलिखित वृत्तलेख (Reports) होने चाहिए —

अंकेक्षक का वृत्तलेख (Auditor's report)—कम्पनी के अंकेक्षक या ऑडीटर के वृत्तलेख (Report) में निम्नलिखित बातें होनी चाहिए।

(अ) उसमें विवरण-पत्रिका के प्रकाशित होने के उपरान्त तीन वर्षों में से कम्पनी के प्रत्येक वर्ष का लाभ, लाभ हानि के हिसाब सहित प्रस्तुत होना चाहिए। उस विवरण में उक्त समय के अलावा तथा अनावर्तक Non-recurring) लाभ को छोड़कर व्यापार के परिणाम तथा समस्त प्रभारों (Charges) तथा व्ययों (Expenses) का उल्लेख होना चाहिए। साथ ही करों तथा सचित कोष (Reserves) से सबन्धित लाभों का भी पूर्ण समावेश रहना चाहिए।

(ब) यदि कम्पनी ने गत तीन वर्षों में कोई लाभांश दिये हों तो उन लाभांशों (Dividends) की दर तथा उन अंशों का पूर्ण विवरण देना चाहिए जिन पर कि वे लाभांश दिये गये हैं। इसका अर्थ यह है कि सम्पूर्ण प्रदत्त अंश पूँजी (Total paid-up share capital) तथा सम्पूर्ण अंशों का उल्लेख प्रत्येक अंश की धन राशि के सहित होना चाहिए। इसके साथ ही उन साधनों का भी वर्णन करना चाहिये जिनके आधार पर वे लाभांश चुकाये गये हैं तथा लाभांश न दिये जाने वाले अंशों का भी निर्देश रहना चाहिए।

इसके अतिरिक्त यदि किसी कम्पनी का हिसाब विवरण पत्रिका के प्रकाशित होने से तीन वर्ष पुराना है, तो अंकेक्षक को अपने वृत्तलेख (Report) में इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख कर देना चाहिए। साथ ही यदि किसी कम्पनी ने तीन वर्ष से भी कम समय से व्यवसाय करना प्रारंभ किया है और उसके पास दो वर्ष या उससे भी कम का ही हिसाब है तो अंकेक्षक को केवल उतने ही वर्षों के हिसाब से सम्बन्ध रखना चाहिए जितना कि वह कम्पनी उपस्थित कर सकती है।

यदि किसी कम्पनी ने अपनी एक सहायक कम्पनी (Subsidiary Company) और खोल रखी है तो अंकेक्षक को अपने वृत्तलेख के अन्तर्गत उससे सम्बन्धित वैसी ही समस्त बातों को और सम्मिलित कर लेना चाहिए।

अंकेक्षक के वृत्तलेख (Report) का यह परिणाम होता है कि प्रत्येक विनियोक्ता (Investor) जोकि कम्पनी में अपना धन व्यय करता है, सुगमता से कम्पनी के विगत फल से परिचित हो जाता है और उसके भावी स्वरूप की भी अपने मन में एक धारणा स्थिर कर सकता है। इतना अवश्य है कि अंकेक्षक की सूचना से कम्पनी के विगत लाभों या लाभांशों का कुछ ज्ञान हो जाता है परन्तु आय व्यय की पूरी जानकारी नहीं होती। इस जानकारी के लिए तो आय व्यय के स्थिति विवरण (Balance-sheet) का होना ही आवश्यक है, जिसका कि सम्भवतः विवरण पत्र में भी उल्लेख नहीं रहता। हो सकता है कि कम्पनी की वस्तुओं पर अत्यधिक प्राधियाँ (Mortgages) तथा प्रभार (Charges) हों, साथ ही यह भी सम्भव है कि कम्पनी पर अत्यधिक संयोगिक दायित्व (Heavy contingent liabilities) हों, और यह भी सम्भव है कि कम्पनी पर बहुत से ऐसे अनुपयुक्त ऋण (Bad debts) हों जिनके चुकाने में कम्पनी पूर्णतया असमर्थ हो। यह भी सर्वथा सम्भव है कि अवक्षयण (Depreciation) भी अपर्याप्त हो जिसके परिणामस्वरूप अवरुद्ध-हिसाब या लेखा (Block account) का विस्तार हो रहा हो। यह भी हो सकता है कि कम्पनी की कार्यशील पूँजी (Working capital) अपर्याप्त हो। ऐसी ही अनेक बातें जो कम्पनी के आर्थिक मामलों से सम्बन्धित है केवल स्थिति विवरण (Balance Sheet) द्वारा ही पता चलती हैं। अतः एक विनियोक्ता के लिए यह आवश्यक है कि वह कम्पनी

के विगत वर्षों का स्थिति-विवरण किसी भी प्रकार से मँगाले। यह विवरण कम्पनी से भी मिल सकता है।

लेखापाल का वृत्तलेख (Accountant's Report)—यदि कोई व्यक्ति किसी व्यवसाय को खरीदने के लिए अंशों तथा ऋण-पत्रों पर कोई कार्यवाही करना चाहता है तो उसे सर्वप्रथम उस व्यवसाय से सम्बन्धित गत तीन वर्षों का रजिस्टर्ड एकाउण्टण्ट या पञ्जीकृत लेखापाल का वृत्तलेख देखना चाहिए। वर्षों का उल्लेख विवरण पत्रिका में भी मिल सकता है और उसी से यह भी पता चल सकता है कि उस व्यवसाय का प्रारंभ कब से हुआ है, परन्तु उसकी आर्थिक स्थिति का परिचय एकाउण्टण्ट की रिपोर्ट से ही ठीक ठीक मिलेगा।

लेखापाल की इस रिपोर्ट में खरीदने योग्य उस व्यवसाय की आय तथा व्यय एवं लाभ तथा हानि का पूर्ण एवं संक्षिप्त विवरण रहना चाहिए। इसके साथ ही अनावर्तक लाभों (Non recurring profits) तथा उस काल से असम्बन्धित लाभों को छोड़कर उसके व्यापार की दशा समस्त प्रभारों (Charges) एवं व्ययों (Expenses) का भी स्पष्ट उल्लेख रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त उन समस्त लाभों का निर्देश रहना चाहिए जो कि कर (Taxation) तथा संचित (Reserves) के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

इस रिपोर्ट या वृत्तलेख का आशय यह होता है कि अंशों एवं ऋण-पत्रों को खरीदने वाले प्रत्येक व्यक्ति कम्पनी की आर्थिक स्थिति से पूर्ण परिचित हो जायें। धारा ६३ (१) (ii) के अनुसार प्रत्येक कम्पनी के लिए यह आवश्यक है कि उसे विवरण-पत्रिका के जारी करने के उपरान्त ऐसे व्यवसाय का स्थिति-विवरण (Balance sheet) ६० दिन के अन्दर ही बनाकर अपनी विवरण-पत्रिका के साथ लगा देना चाहिए। इसके अतिरिक्त वह स्थिति-विवरण किसी लेखापाल (Accountant) के द्वारा अंकेक्षित (Audited) भी होना चाहिए, यद्यपि यह कोई वैधानिक नियम नहीं है परन्तु फिर भी यह आवश्यक है क्योंकि ऐसा करने से त्रुटियों रहने की आशंका नहीं रहती। बहुधा देखा गया है कि जब कोई लेखापाल किसी व्यापार के लाभ पर अपना वृत्तलेख उपस्थित करता है तो उससे स्थिति-विवरण (Balance sheet) पर अपनी रिपोर्ट देने की भी माँग की जाती है, क्योंकि ऐसा करने से कम्पनी की स्थिति सुरक्षित हो जाती है तथा विनियोक्ताओं के लिए भी आशंका का स्थान नहीं रहता।

(स) एक निजी कम्पनी का सार्वजनिक कम्पनी हो जाने के उपरान्त प्रकाशित की हुई विवरण-पत्रिका (Prospectus issued by a private company on becoming Public)

जब कोई निजी कम्पनी (Private Company) सार्वजनिक (Public) कम्पनी होना चाहती है तो उसे धारा १५४ के अनुसार अपने संघ-अन्तर्नियमों (Articles of

association) में कुछ आवश्यक परिवर्तन करने पड़ते हैं और रजिस्ट्रार के यहाँ अपनी विवरण-पत्रिका (Prospectus) भेजनी पड़ती है। यदि विवरण-पत्रिका तैयार न हो तो एक साधारण विवरण (Statement) ही भेजा जा सकता है। ऐसी कम्पनियों द्वारा प्रकाशित विवरण-पत्रिका में उन सभी बातों का उल्लेख अनिवार्य होता है जो किसी नवीन संस्थापित कम्पनी की विवरण-पत्रिका में रहती हैं। इतना आवश्य है कि ऐसी कम्पनियों को प्रारम्भिक व्ययों (Preliminary expenses) का अनुमानित या वास्तविक लेखा-जोखा नहीं देना पड़ता।

(द) विदेशी कम्पनियों द्वारा प्रकाशित विवरण-पत्रिका

(Prospectus issued by a foreign company)

भारतवर्ष से बाहर रजिस्टर्ड होने वाली अर्थात् विदेशी कम्पनियों से सम्बन्ध रखने वाले समस्त नियम कम्पनी विधान की धारा २७७, २७७ A, २७७-B, तथा २७७-C के अन्तर्गत आते हैं।

जब तक कोई व्यक्ति उपर्युक्त धाराओं में निर्दिष्ट नियमों का पालन नहीं करेगा उस समय तक यहाँ किसी भी विदेशी कम्पनी की विवरण-पत्रिका का प्रचार नहीं कर सकता। यदि वह ऐसा कार्य करता है तो उसका यह कार्य पूर्णत. अवैधानिक माना जायेगा, भले ही उसने भारतवर्ष में अपने व्यवसाय के लिए सुदृढ स्थान स्थापित कर लिया हो। (ब) और न वह ऐसी कम्पनी का ऋण पत्रों तथा अंशों के लिए आवेदन पत्र ही किसी व्यक्ति को दे सकता है, जब तक कि वह आवेदन पत्र के साथ अपनी विवरण-पत्रिका (Prospectus) भी नत्थी न करे। एक विदेशी कम्पनी को भारत में अपनी विवरण पत्रिका का प्रचार करने के लिए निम्नलिखित बातें अपनानी पड़ती हैं —

(१) उसकी विवरण-पत्रिका पर प्रकाशित होने की तारीख तथा इस बात का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए कि इसकी एक प्रमाणित प्रतिलिपि (Certified copy) भारत में किसी एक प्रान्त के रजिस्ट्रार के पास भेज दी गई है।

(२) उसमें निम्नांकित बातों का पूर्ण उल्लेख रहना चाहिए :—

(अ) कम्पनी के उद्देश्य, अथवा यदि उसकी विवरण-पत्रिका विज्ञापन के रूप में किसी समाचार-पत्र में प्रकाशित हुई है तो उसका मूल-उद्देश्य ;

❀ (आ) कम्पनी के विधान को स्पष्ट करने वाला अथवा स्थिर करने वाला लिलेख (Instrument) ;

❀ (इ) उस नियम (Law) जिसके आधार पर कम्पनी की संस्थापना हुई है ;

(इ) भारत में स्थित पता, जहाँ पर आकर उक्त नियम-विलेख (Instrument of law) अथवा उसकी प्रतिलिपियां का निरीक्षण किया जा सके ,

(उ) संस्थापना-तिथि (Date of incorporation) तथा संस्थापना का स्थान (Country where the company was incorporated) ;

(ऊ) यदि उस कम्पनी ने भारत में अपना व्यापार स्थापित कर लिया है तो उसके भारत स्थित प्रमुख कार्यालय का पता ;

परन्तु यदि कम्पनी का व्यापार विवरण पत्रिका के प्रकाशित होने से दो वर्ष पूर्व से अधिक का है तो उसे उपर्युक्त नियमों में से जिन पर फूल (*) का चिह्न है, उनको अपनी विवरण पत्रिका में सम्मिलित करना अनिवार्य नहीं।

(३) यदि ऐसी कम्पनी ने अपनी विवरण-पत्रिका प्रकाशित कर दी है तो उसे भारतीय कम्पनी विधान की धारा ६३ (IA) के अनुसार अंकेक्षक (Auditor) तथा लेखापाल (Accountant) का वृत्तलेख (Report) देना अनिवार्य है।

(४) यदि ऐसी कम्पनी के सदस्यों का दायित्व (Liability) सीमित है तो इस तथ्य का उद्घाटन विवरण-पत्रिका में स्पष्ट रूप से रहना चाहिए।

(५) किसी भी ऐसी विदेशी कम्पनी के मनुष्य को अंश अथवा ऋण पत्र बेचने के लिए भारतवर्ष में घर घर नहीं डोलना चाहिए। यदि वह इस प्रकार डोलकर जनता में अंशों या ऋण पत्रों को बेचता है तो उसका यह कार्य सर्वथा अवैधानिक माना जायेगा।

टिप्पणी—यदि कोई आवेदन-पत्र किसी अभिगोपक (Underwriter) को दिया जाता है तो उसके साथ विवरण-पत्रिका का होना आवश्यक नहीं। उपर्युक्त नियम कम्पनी के सदस्य को भेजे जाने वाली विवरण-पत्रिका अथवा आवेदन-पत्र पर भी लागू नहीं होते। विदेशी कम्पनी के अंशों अथवा ऋण-पत्रों के विक्रय-प्रस्ताव (Offer for sale) को भी विवरण पत्रिका (Prospectus) ही माना जायेगा। परन्तु यह प्रस्ताव जनता से ही होना चाहिए, इसमें व्यवसायी दलालों (Brokers) का आना उचित नहीं।

उपर्युक्त नियमों का उद्देश्य भारत में विदेशी कम्पनियों की अयोग्य प्रतिभूतियों (Worthless securities) के क्रय-विक्रय को रोकना है। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में रुपये का पहले ही अत्यन्त अभाव है। यदि यह रुपया विदेशों को चला जायेगा तो उससे भारतवर्ष को कोई लाभ नहीं। इस रुपये का सदुपयोग इसी में है कि अपने देश के उद्योग धन्धों की अभिवृद्धि में अधिक से अधिक सहायक हो। सन् १९३६ के इस

विधान से पूर्व भारतवर्ष के धन का पर्याप्त भाग विदेशी कम्पनियों के द्वारा विदेशों को चला जाता था। इन विदेशी कम्पनियों के समर्थक एवं हितैषी महानुभाव कम्पनी का अत्यन्त उज्ज्वल भविष्य बतलाकर मनोमोहक हिसाब दिखलाकर लोगों को अपने चंगुल में फँसा लेते थे। बिचारे भोले भारतवासी इस चकाचौंध में फँसकर अपनी अथक परिश्रम द्वारा उपार्जित धन-राशि को इन विदेशी कम्पनियों को सौंप देते थे। बहुधा ये कम्पनियाँ केवल आकर्षण प्रस्तुत करना ही जानती थीं, फिर तो मनमाना रुपया लूटकर हजम कर जाती थीं जिनके लेखा आदि का ज्ञान भी बिचारे भारतीयों को नहीं हो पाता था। इस तरह पर्याप्त मात्रा में भारतवर्ष का धन इन विदेशी कम्पनियों द्वारा अपहरण कर लिया जाता था।

विवरण-पत्रिका के स्थान पर अन्य विवरण (Statement in lieu of Prospectus) :—यदि किसी सार्वजनिक कम्पनी (Public company) की संस्थापना के समय उसकी विवरण पत्रिका तैयार नहीं होती, तो उसे एक निर्दिष्ट *ढंग पर एक विवरण लिखकर रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत कर देना चाहिए। इसके* उपरान्त ही उसे अपने अंशों तथा ऋण-पत्रों के विभाजन में हाथ डालना चाहिए। इस नियम को बनाने का यही अर्थ है कि उस कम्पनी से सम्बन्धित सभी बातों की जानकारी रजिस्ट्रार को भी हो जाती है और अन्य व्यक्तियों को भी वहाँ से सभी बातें ज्ञात हो सकती हैं।

विक्रय-प्रस्ताव (Offer for sale) —विक्रय-प्रस्ताव से अभिप्राय एक ऐसे प्रलेख से होता है जिस पर कोई कम्पनी अपने अंशों या ऋण पत्रों को सर्व-साधारण के लिए प्रस्तुत करती है। किसी भी कम्पनी का अपने अंशों एवं ऋण-पत्रों का सर्वसाधारण के लिए विभाजन या वितरण (Allotment) करना सार्व-जनिक विभाजन कहलाता है। विक्रय-प्रस्ताव द्वारा इसी प्रकार का विभाजन या वितरण किया जाता है। धारा ६८-A के अनुसार किसी भी ऐसी कम्पनी द्वारा किया हुआ यह विक्रय-प्रस्ताव (Offer for Sale) विवरण पत्रिका (Prospectus) ही कहलाता है।

विक्रय-प्रस्ताव से सम्बन्ध रखने वाली कुछ आवश्यक बातें होती हैं, जो संक्षेप में इस प्रकार हैं —

१—जो बातें एक विवरण पत्रिका में उपस्थित की जाती हैं, वे समस्त बातें विक्रय-प्रस्ताव (Offer for sale) में भी सम्मिलित रहनी चाहिए।

२—विक्रय-प्रस्ताव की एक प्रतिलिपि तारीख डालकर विवरण-पत्रिका की ही भाँति रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करनी चाहिए। इसके ऊपर भी उन समस्त व्यक्तियों के हस्ताक्षर होने चाहिएं जो विक्रय के लिए प्रस्ताव (offer) करते हों। यदि कोई कम्पनी अपनी ओर से ही विक्रय का प्रस्ताव उपस्थित करती है तो कम से

कम दो संचालकों (Directors) के हस्ताक्षर उस पर होना आवश्यक है। यदि किसी संस्था या सार्थ (Firm) की ओर से ऐसा प्रस्ताव किया जाता है तो उस सार्थ या संस्था के कम से कम आधे भाग-धारियों (Partners) के हस्ताक्षर उसपर होने चाहिए।

३—विवरण-पत्रिका में निर्दिष्ट समस्त बातों के अतिरिक्त एक विक्रय प्रस्ताव के अन्तर्गत निम्न बातें और होनी चाहिए —

(अ) प्रस्ताव से सम्बन्धित कम्पनी के समस्त अंशों एव ऋण पत्रों की शुद्ध धन-राशि (Net amount)।

(ब) समय तथा स्थान, जहाँ जाकर उन अंशों एव ऋण-पत्रों से सम्बन्धित अनुबन्धों (Contracts) का निरीक्षण हो सके।

विक्रय-प्रस्ताव बहुधा विवरण-पत्रिका के ही समान होता है, परन्तु उसमे उपर्युक्त बातों का समावेश करना अनिवार्य माना गया है।

घोषणा (Announcement)—धारा २ (१४) के अनुसार विवरण-पत्रिका के अंतगत किसी प्रकार के व्यापारिक विज्ञापन (Trade Advertisement) का समावेश नहीं होता। विनियोक्ताओं (Investors) की अभिवृद्धि की दृष्टि से यह विधान की दुर्बलता प्रतीत होती है। यह सत्य है कि किसी व्यापारिक विज्ञापन के मुख-पृष्ठ पर भी 'यह लिखा रहता है कि साधारण विवरण-पत्रिका बना ली गई है तथा रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करदी गई है। इस व्यापारिक विज्ञापन में भी किसी कम्पनी के अंशों तथा ऋण-पत्रों के लिए सर्वसाधारण को आकर्षित करने की योजना रहती है। यह विज्ञापन वैसे जनता को अपव्यय से नहीं बचा सकता, उसके लिए तो आवश्यक प्रतिबन्धों की ही आवश्यकता होती है जो कि विज्ञापन से भी सम्बन्ध रखते हैं।

यह व्यापारिक-विज्ञापन किसी भी कम्पनी के अंशों एवं ऋण-पत्रों के लिए खूब बढ़ा-चढ़ा कर बातें उपस्थित करता है। कभी-कभी तो जनता को पूर्ण रूप से धोखे में भी डाल दिया जाता है। इसके अन्तर्गत कभी-कभी उन बातों का भी विवेचन होता है जो विवरण-पत्रिका में प्रदर्शित नहीं की जातीं, इसके साथ ही कभी-कभी वे बातें नहीं भी होतीं जो कि विवरण-पत्रिका में उल्लिखित होती हैं। इस प्रकार यह व्यापारिक-विज्ञापन सर्वसाधारण को आकर्षित करके अथवा धोखे में डालकर कम्पनी के अंशों एव ऋण पत्रों के लिए उन्हें लालायित करता रहता है। इसी को प्राय "घोषणा" (Announcement) भी कहा जाता है। यद्यपि ऐसे विज्ञापन के ऊपर यह स्पष्ट लिखा रहता है कि "यह विवरण-पत्रिका नहीं है अपितु घोषणा-पत्र (Announcement) है।"

प्राय. कम्पनियों के अत्यधिक स्थापित होने के कारण इस प्रकार के व्यापारिक विज्ञापन समाचार पत्रों में निकलते रहते हैं। इन विज्ञापनों के आधार पर कोई भी व्यक्ति यह पता नहीं चला सकता कि अमुक कम्पनी की विवरण-पत्रिका (Prospectus) बनी है अथवा नहीं, क्योंकि इस विषय में ये विज्ञापन सर्वथा मौन रहते हैं। यह भी सम्भव है कि वह कम्पनी अपनी विवरण-पत्रिका का निर्माण न करा सकी हो और न उसे रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत ही कर सकी हो। किसी भी दशा में ऐसे विज्ञापन या घोषणा-पत्र विनियोक्ताओं (Investors) के लिए हितकारी नहीं होते जिनमें कि विवरण-पत्रिका सम्बन्धी समस्त बातें नहीं होतीं। ऐसे विज्ञापना को विवरण पत्रिका कहना भी सर्वथा अनुचित है।

पूँजी-निर्गमन पर नियन्त्रण (Control of Capital Issues)

भारतवर्ष में पूँजी-निर्गमन का नियन्त्रण सर्वप्रथम मई १९४३ ई० में लागू हुआ था। उस समय यह पूर्ण रूप से युद्ध-काल जन्य परिस्थिति को देखकर भारतीय सुरक्षा नियम (The Defence of India Rule) की धारा ९४-A के अनुसार कार्य रूप में परिणत किया गया था। यही कारण था कि यह नियम सितम्बर १९४६ ई० में युद्ध के समाप्त होते ही मृतप्राय· प्रतीत होने लगा, परन्तु केन्द्रीय सरकार के एक विशेष आदेश (Special ordinance of the Central Govt) द्वारा इसे पुनर्जीवन प्रदान किया गया और इसका जीवित स्वरूप आज पूँजी-निर्गमन विधान १९४७ (Capital Issue Act of 1947) के नाम से भारत में प्रचलित है।

पूँजी निर्गमन-विधान के अनुसार कोई भी भारतीय कम्पनी अपनी पूँजी का निर्गमन केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना, न तो भारत में ही कर सकती है और न भारतवर्ष के बाहर किसी भी देश में कर सकती है। कोई भी व्यक्ति केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना किसी भी कम्पनी की विवरण-पत्रिका (Prospectus) को नहीं बाँट सकता और न किसी प्रकार का विक्रय प्रस्ताव (Offering for sale) ही कर सकता है। प्रत्येक कार्य के लिये केन्द्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य है। यही कारण है कि बिना अनुमति के प्रचलित एवं प्रसारित प्रतिभूतियों (Securities) के लिये कोई भी व्यक्ति धन नहीं देगा।

उपर्युक्त पूँजी निर्गमन-विधान अथवा नियन्त्रण निम्नलिखित अवस्थाओं में लागू नहीं होता :—

(१) अधिकोषण तथा बीमा कम्पनियों (Banking and Insurance companies) को छोड़कर अन्य किसी भी ऐसी कम्पनी पर यह नियम लागू नहीं होता जिसकी कि पूँजी ५ लाख रुपये से अधिक नहीं है।

(२) यदि प्रतिभूतियाँ (Securities) अथवा अंशों को अपना व्यापार चलाने के लिये अथवा वैसे ही कोई व्यक्ति किसी अधिकोषिक (Banker) को पेशगी (Advances) के रूप में देता है तो भी यह नियन्त्रण वहाँ लागू नहीं होता।

(३) यदि भारत-स्थित भारतीय कम्पनियाँ भारत से बाहर पूँजी प्राप्त करती हैं तो उनपर भी यह विधान लागू नहीं होता।

(४) यदि जब्त या अपहृत (Forfeited) अंशों का पुन: निर्गमन किया जाता है तो यह नियन्त्रण उन पर भी नहीं लगता।

यदि कोई प्रवर्तक या सचालक उपर्युक्त विधान के विपरीत किसी प्रकार की कार्यवाही करता है तो उसे १ वर्ष की सजा या जुर्माना तथा दोनों ही बातें न्यायालय द्वारा हो सकती हैं।

यदि कोई कम्पनी पूँजी-निर्गमन (Issue of capital) के लिए अनुमति प्राप्त करना चाहती है तो उसे निर्दिष्ट रूप में भारत सरकार के पास अपना आवेदन-पत्र भेजना चाहिए। आवेदन-पत्र के पहुँचने पर अर्थ-विभाग (Finance Department) की एक समिति उसकी पूर्णतया जाँच करती है। अधिकोषण कम्पनियों (Banking companies) के आवेदन-पत्रों की जाँच रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया करती है और बीमा कम्पनियों (Insurance companies) के आवेदन-पत्रों को बीमा-निरीक्षण (Controller of insurance) देखता है। यदि उक्त कम्पनियों की समस्त बातें ठीक होती हैं तो भारत-सरकार उन्हें कार्य करने की अनुमति दे देती है।

भारत-सरकार से प्राप्त अनुमति का विवेचन प्रत्येक विवरण-पत्रिका या ऐसे ही किसी अन्य प्रलेख में अवश्य होना चाहिए। यदि सरकार ने अन्य किसी प्रकार की कोई विशेष परिस्थिति का उल्लेख नहीं किया है तो कम्पनी को चाहिए कि वह अपनी विवरण पत्रिका में केवल इतना ही अंकित करे कि "भारत-सरकार की सम्मति से हम पूँजी निर्गमन कर रहे हैं।" परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार की अनुमति या सम्मति देने के कारण भारत-सरकार किसी भी कम्पनी की आर्थिक-दृढ़ता एवं सुस्थिरता के विषय में उत्तरदायी नहीं होती और न वह किसी भी प्रलेख या विवरण की यथार्थता अथवा सत्यता की ही जिम्मेदार होती है। भारत-सरकार का उद्देश्य तो इस नियन्त्रण के द्वारा यही था कि वह युद्ध-काल में अधिकाधिक स्थापित होने वाली कम्पनियों के अव्यवस्थित विकास को रोकदे तथा युद्धोचित सामग्री का निर्माण करने के लिए प्रमुख स्थान दे जिससे कि मुद्रास्फीति (Inflation) भी रोकी जा सके। इसी तरह से जनता की बचत का अधिकाश भाग युद्ध-ऋण (War-loans) में लगाना भी सरकार का उद्देश्य था। इस नियन्त्रण का मुख्य उद्देश्य औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त पूँजी दिलाना तथा पूँजी एवं सामाजिक सेवाओं के मध्य में होने वाले संघर्ष का निबटारा करना था। इस नियन्त्रण का ध्येय ऐसे विस्तीर्ण व्यापार को भी

रोकना था जो असाधारण लाभ उठाकर बिचारी भोली जनता के रुपये का अपव्यय करता रहता है। क्योंकि वह जनता अपने अज्ञान के कारण इनके चंगुल में फँस जाती है। इस तरह कितने ही अबोध विनियोक्ताओं (Investors) को फँसाकर अनुचित लाभ उठाने वाली कम्पनियों पर ही यह नियन्त्रण पूर्णतः प्रभावशाली सिद्ध होता है। इसका उद्देश्य यह कदापि नहीं कि किसी वैधानिक एवं सुदृढ औद्योगिक-विकास (Industrial development) में किसी प्रकार का भी रोड़ा अटकाया जाय। यह तो इसका प्रमुख ध्येय रहा है कि देश के समुचित औद्योगिक-विकास के लिए पूँजी का निर्गमन पर्याप्त मात्रा में हो तथा कृषि, उद्योग एवं सामाजिक सेवाओं में पूर्ण सतुलन स्थापित किया जाय। इसके साथ ही यह नियन्त्रण यह भी विश्वास दिलाना चाहता है कि समस्त प्राप्त पूँजी कृषि की अभिवृद्धि तथा अन्य उद्योग धन्धों की उन्नति में ही लग रही है और उपयोगी वस्तुओं (consumer goods) तथा पूँजी-निर्माण (Manufacture of capital) में पूर्ण-संतुलन (Balance) स्थापित हो गया है।

किसी भी कम्पनी को निम्न बातों के आधार पर ही पूँजी निर्गमन (Issue of capital) की अनुमति प्राप्त होती है .—

(१) जब प्रवर्त्तक (Promoters), सचालक (Directors) तथा उनके मित्र पूँजी का कम से कम १/५ भाग अवश्य ले लेते हैं और विवरण-पत्रिका भी तभी निर्गमित करते हैं जब ये भाग स्वीकृत हो जाते हैं।

(२) जब विनियोग-प्रन्यास (Investment trust) तथा अर्थ कम्पनियाँ (Finance companies) के अशधारियों के मताधिकार उनकी अश पूँजी के वितरण के अनुपात से ही निश्चित हो जाते हैं। इन कम्पनियों को प्रबन्ध-अभिकर्त्ता नियुक्त करने का अधिकार नहीं होता। न ये अपनी पूँजी के लाभ को अशधारियों में बाँट सकती हैं। इनके निधि विनियोगों (Investments of funds) पर भी अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध होते हैं।

(३) यदि कम्पनी किसी व्यापार या सम्पत्ति को स्फीति जन्य मूल्यों (Inflated prices) पर खरीद लेती है या उसकी ख्याति या साख (Good will) का समुचित मूल्याङ्कन नहीं हो पाता तो जब तक वह किसी निपुण एव स्वतन्त्र व्यक्ति का मूल्याङ्कन वृत्तलेख (Valuation report) प्रस्तुत नहीं कर देती तब तक उसे पूँजी निर्गमन की अनुमति नहीं मिलती।

इस प्रकार सरकारी-नियन्त्रणों द्वारा प्रवर्त्तकों की कपटपूर्ण कार्यवाहियों (Fraudulent act) से विनियोक्ताओं की रक्षा हो सकती है। सरकार तो प्रायः सभी कम्पनियों को पूँजी-निर्गमन के लिए अनुमति दे देती है। परन्तु सरकार को चाहिए कि वह उसी कम्पनी को अनुमति प्रदान करे जो निम्नलिखित उद्देश्यों की पूति पूर्ण रूप से करती हो। ये उद्देश्य इस प्रकार हैं :—

(१) उस कम्पनी का आयोजित व्यवसाय वास्तव में लाभप्रद एव हितकर है, तथा वह व्यर्थ में ही स्थान घेरनेवाला और केवल कम्पनियों की गिनती बढ़ाने वाला ही नहीं है। यह यथार्थ रूप से परिस्थिति-जन्य आवश्यकता की पूर्ति करन वाला है तथा औद्योगिक विभाजन-सम्बन्धी सिद्धांतों पर ही स्थित है।

(२) उस कम्पनी के प्रबन्ध, प्रबन्धक-अभिकर्ता, प्रवर्तक तथा सचालक आदि सभी विश्वासपात्र व्यक्ति हैं तथा ख्याति (Reputation), अनुभव (Experience) एव योग्यता (Ability) भी पर्याप्त मात्रा में रखत हैं।

(३) उस कम्पनी के समीप अपनी कार्यशील पूँजी से सम्बन्धित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त मात्रा में धन है।

(४) उस कम्पनी द्वारा प्रचलित एव प्रसारित प्रतिभूतियाँ, उसकी सेवाओं एव मालमते या पूँजी के स्वतन्त्र तथा निपुण मल्याकन (Independent expert valuation) पर निर्भर हैं।

(५) उस कम्पनी की पूँजी का ढाचा अर्थ-समिति (Finance corporation) के सिद्धान्तों पर ही वैज्ञानिक रूप से स्थित है।

(६) उसके मतदान तथा अन्य अशों के अधिकार, विशेष रूप से स्थगित अश (Deferred shares) सम्बन्धी समस्त अधिकार अत्यन्त न्याय-सगत तथा स्पष्ट हैं।

(७) उसकी साख प्रतिभूतियाँ (Creditorship securities) यदि कोई हैं, तो ऋण-पत्रों (Debentures) तथा बधों (Bonds) की भाँति कम्पनी की धनोपार्जन शक्ति (Earning capacity) से अधिक नहीं हैं।

(८) उसके व्यवसाय की पूर्णतया खोज एव अनुसन्धान करके यह पता चला लिया गया है कि कम्पनी के प्रवर्तकों की योजनाए (Plans) पूर्ण एव व्यवस्थित हैं।

(९) उस कम्पनी के अशधारियों तथा उत्तमर्णों (Creditors) के हित (Interests) प्रवर्तकों, प्रबन्धों, प्रबन्ध-अभिकर्ताओं तथा सचालकों के कपट पूर्ण व्यवहार करने पर भी पूर्णतया सुरक्षित हैं।

(१०) एक नवीन सार्वजनिक कम्पनी (New Public Company) के लिए यह नियम कर दिया गया है कि उसे सर्वप्रथम अपने अशों का न्यूनतम भाग भारतवर्ष में ही निर्गमित (Issue) करना होगा, साथ ही सचालकों की सख्या में से न्यूनतम अश पहले भारतीय सचालकों का ही होगा।

(११) वह कम्पनी ऐसी नहीं है कि देश के उद्योग की उन्नति में सहायक न हो, परन्तु अपने अशों के लिए जनता से अत्यधिक बढे हुए मूल्य पर ही प्रस्ताव करती है।

भारत सरकार पहले से ही किसी संयुक्त स्कन्ध कम्पनी (Joint stock company) को पूँजी निर्गमन की अनुमति देते समय यह उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लेती थी कि उक्त कम्पनी की आर्थिक स्थिति अत्यन्त व्यवस्थित है तथा उसकी विवरण पत्रिका आदि सभी सत्य हैं। यदि यही दशा भविष्य में भी रही तो उपर्युक्त प्रतिबन्ध या नियन्त्रण (Control) व्यर्थ सिद्ध होगा। इसलिए सरकार को भी कुछ उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए, जिससे कि उसकी अनुमति का महत्त्व प्रत्येक व्यक्ति समझे और किसी भी कम्पनी के अंशों या ऋण-पत्रों को खरीदते समय शंका या सदेह को अपने हृदय में स्थान न दे सके। इस तरह सरकार की अनुमति में यदि पर्याप्त शक्ति होगी तो कम्पनी तथा उसके विनियोक्ता (Investors) दोनों की ही सुरक्षा हो सकेगी तथा देश एवं जनता का भी कल्याण होगा।

विवरण-पत्रिका का नमूना (Specimen Prospectus)

कम्पनी के अंशों को सूची बद्ध (Listing) कराने के लिए बम्बई स्कन्ध विनिमय (Bombay Stock Exchange) में एक आवेदन पत्र भेजना होगा। प्रार्थित पूँजी की सूची २४ मार्च १९४७ को दिन के ११ बजे प्रकट की जायेगी और जितना धन माँगा गया है उसके मिलते ही सूची बन्द कर दी जायेगी, परन्तु फिर भी २६ मार्च १९४७ से पूर्व किसी प्रकार भी बन्द नहीं होगा।

निम्नाङ्कित विवरण पत्रिका (Prospectus) की एक प्रतिलिपि बम्बई की कम्पनियों के रजिस्टार महोदय के पास प्रस्तुत करदी गई है —

वैस्टर्न इण्डिया इन्वेस्टमैंट कॉर्पोरेशन, लिमिटेड की विवरण पत्रिका

(भारतीय कम्पनी विधान १९१३ के अनुसार संस्थापित)

(सदस्यों का दायित्व सीमित है)

(Liability of the Members is Limited)

संस्थापना की तिथि —२५ जनवरी १९४७।

अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) ५० ००,०००) रु०

दस-दस रुपये के ५,००,००० अंशों में विभाजित।

निर्गमित पूँजी (Issued capital) ५,००,०००) रु०

दस दस रुपये के ५०,००० अंशों में विभाजित।

उपर्युक्त अंशों में से संघ सीमानियम (Memorandum of Association) पर हस्ताक्षर करने वाले प्रत्येक संचालक (*Director*) ने २५,०००) रु० के मूल्य वाले अंश लिए हैं जिनका कुल योग १,७५,०००) रु० है। बचे हुए ३२,५०० अंश

जिनमें से प्रत्येक १०) रु० का है तथा जिनका अंकित मूल्य (Face value) २,२५,०००) रु० है, निम्नरीति से सर्वसाधारण को दिये जायेंगे —

आवेदन-पत्र पर ५) रु० प्रति अश
वितरण पर ५) रु० ,, ,,

सचालक (Directors)

१—श्री डी० के० शेषाद्रि, बी० कॉम० (सभापति Chairman)
योक विक्रेता, जनरल एश्योरेंस बिल्डिङ्ग, हॉर्नबाई रोड, फोर्ट बम्बई ।

२—श्री के० एम० खाँ,
थोक-विक्रेता, डोंगरसी रोड, मलाबार हिल, बम्बई ।

३—श्री पी० एम० भरूचा,
थोक विक्रेता, सेंट जेम्स कोर्ट, २०६, मैरिन ड्राइव, बम्बई ।

४—श्री एम० डी० मेहता,
थोक-विक्रेता, अर्ल्स कोर्ट, मैरिन ड्राइव, बम्बई ।

५—श्री रविकान्त डी० शाह, बी० कॉम०,
थोक-विक्रेता, लदवाड़ा स्ट्रीट, पेटलाद ।

६—श्री एस० एन० चारी,
जमींदार, "राजस्थान", डा० जुहु, बम्बई २५ ।

७—श्री पी० आर० सुब्रह्मण्यम् एम० ए०
स्कध, अश तथा अर्थ दलाल (Stock, Share and Finance Broker)
६१, स्टॉक ऐक्सचेंज बिल्डिंग, ऐपोलो स्ट्रीट, बम्बई ।

कार्यवाह (Secretaries)

मैसर्स, हरीराम एण्ड क०, रजिस्टर्ड एकाउन्टेंन्ट्स, ६१, स्टॉक ऐक्सचैंज बिल्डिंग, ऐपोलो स्ट्रीट, फोर्ट, बम्बई ।

अकेक्षक (Auditors)

मैसर्स सोराब एस० इञ्जीनियर एण्ड क०, रजिस्टर्ड एकाउन्टेन्ट्स, ३८१, हॉर्नबाई रोड, फोर्ट बम्बई ।

वैधानिक सलाहकार (Solictiors)

मैसर्स मनीलाल, खेर, अम्बालाल एण्ड क०, ५१, महात्मा गाधी रोड, फोर्ट, बम्बई ।

अधिकोषिक (Bankers)

दी बैंक ऑफ इण्डिया लि० बम्बई, दी इण्डियन ओवरसीज बैंक लि० बम्बई, दी ट्रावनकोर बैंक लि०, बम्बई।

दलाल (Brokers)

श्री पी० आर० सुब्रह्मण्यम् एम० ए०, स्कंध, अंश तथा अर्थ दलाल, ६१ स्टॉक ऐक्सचेंज बिल्डिंग, ऐपोलो स्ट्रीट, फोर्ट, बम्बई।

पंजीयित कार्यालय (Registered Office)

६१, स्टॉक ऐक्सचेंज, बिल्डिंग,
ऐपोलो स्ट्रीट, फोर्ट, बम्बई।

उद्देश्य (Objects)

यह कंपनी साधारणतया उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए स्थापित की गई है जिनका कि उल्लेख संघ सीमानियम (Memorandum of Association) में किया गया है। (इन सीमानियमों की छपी हुई एक प्रति इस विवरण पत्रिका के भी साथ है)। इसके साथ ही यह कंपनी एक विनियोग कंपनी (Investment company) के समस्त कार्य करेगी तथा अंशों (Shares), स्कंधों (Stocks), ऋण पत्रों (Debentures), ऋणपत्र-स्कंधों (Debenture stocks), बंधों (Bonds), प्रतिज्ञा पत्रों (Obligations) तथा प्रतिभूतियों (Securities) के खरीदने, अभिगोपन करने (Underwrite), विनियोग करने (Invest) तथा प्राप्त एवं अधिकार करने का कार्य करेगी।

इसमें कोई भी प्रबंध अभिकर्ता (Managing agent) नहीं है। प्रबंध अभिकर्ता के अभाव में कंपनी की सारी व्यवस्था प्रत्यक्ष रूप से संचालकों के अधिकार में रहेगी। शुद्ध लाभ (Net profit) में से ५ प्रतिशत लाभ संचालकों के पारिश्रमिक (Remuneration) के लिए पृथक् रक्खा जायेगा। संचालकों को किसी प्रकार का उपस्थिति शुल्क (Sitting fee) पाने का अधिकार न होगा।

विनियोग परिवर्तन (Change of investment) द्वारा प्राप्त समस्त लाभ संघ अन्तर्नियम (*Articles of Association*) के नियम १५२ के अनुसार कंपनी की संचित पूँजी (Capital reserves) में ही हस्तान्तरित (Transfer) किए जायेंगे। केवल लाभांशों की आय (Dividend income) अभिगोपन आयोग (Underwriting commission) तथा दलाली आदि के रूप में प्राप्त होने वाले समस्त लाभ (Profits) राजकीय प्राप्ति (Revenue receipt) माने जायेंगे।

न्यूनतम प्रार्थित धन (Minimum Subscription)

न्यूनतम प्रार्थित धन २,५०,०००) रु० होगा अर्थात् दस-दस रुपये के २५,००० अंशों के बिकने पर ही कम्पनी के संचालक वितरण (Allotment) कार्य प्रारम्भ करेंगे। संचालकों की दृष्टि से उक्त रकम या धन द्वारा कम्पनी का कार्य ठीक ढंग से चालू हो सकेगा।

प्रारम्भिक व्यय (Preliminary Expenses)

प्रारम्भिक व्यय का अनुमान लगभग ७,५००) रु० किया गया है।

सचालकों की योग्यता तथा पारिश्रमिक

(Qualification & Remuneration of Directors)

ऋण-पत्र सचालक के अतिरिक्त कम्पनी का सचालक बनने के लिए दस लाख रुपये के कम्पनी के साधारण अश (Ordinary shares) लेने होंगे। एक सचालक का पारिश्रमिक कम्पनी के शुद्ध वार्षिक लाभ (Net annual profit) के ५ प्रतिशत के बराबर होगा जोकि सभी सचालकों में बराबर-बराबर बॉटा जायेगा अथवा जैसा कि सचालक गण समय समय पर निश्चित करेंगे उसी भाँति बाँटा जायेगा। इसी नियम की पूर्ति के लिए भारतीय कम्पनी विधान की धारा ८७-८ (३) के अनुसार प्रतिवर्ष शुद्ध लाभ की गणना की जायगी।

यदि किसी सचालक को उसकी सम्मति लेकर कोई अन्य कार्य और सौंपा जायेगा या कम्पनी के कार्य से कहीं बाहर भेजा जायेगा तो उसे अतिरिक्त पारिश्रमिक या निश्चित धन या लाभ अथवा वेतन आदि कम्पनी की ओर से और मिलेगा। इस धन के विषय में सचालक-सभा (Board of directors) तथा उस सचालक के बीच में हुआ समझौता ही मान्य होगा।

प्रवन्ध या व्यवस्था (Management)

समस्त सचालक कम्पनी की व्यवस्था सघ-अन्तर्नियम (Articles of Association) के अनुसार करेंगे। सचालकों ने मैसर्स हरीहरन एण्ड कम्पनी, रजिस्टर्ड एकाउन्टेन्ट को २५०) रु० मासिक पारिश्रमिक पर कार्यवाह (Secretaries) का कार्य करने के लिए नियुक्त कर लिया है और उक्त कार्यवाह सचालकों के नियंत्रण में रहकर समस्त कार्य करेंगे।

संचालको के हित का स्वरूप

(Nature & Extent of Directors' Interest)

ता० २१-२-१९४७ को होनेवाली असामान्य-व्यापक-सभा (Extra Ordinary

General Meeting) में श्री पी० आर० सुब्रह्मण्यन् को कम्पनी का दलाल (Broker) नियुक्त कर लिया गया है तथा कम्पनी से सम्बन्धित क्रय विक्रय के विनियोग (Purchases and Sale of Investments) में दलाली लेने के अतिरिक्त ये कम्पनी के संचालक बनने की भी क्षमता रखते हैं। इसके अलावा और दूसरे संचालकों का कम्पनी के प्रवर्तन (Promotion) में उतना ही हित है जितने कि अंश उन्होंने लिए हैं तथा वे संघ-अन्तर्नियम (Articles of Association) के अनुसार ही अपना पारिश्रमिक पाने के अधिकारी हैं।

दलाली तथा अभिगोपन आयोग

(Brokerage and Underwriting Commission)

कम्पनी के अन्तर्नियम के अनुसार यह कम्पनी किसी भी समय किसी ऐसे व्यक्ति को आयोग (Commission) दे सकती है जो याचित धन जमा करता है या जमा करने की सम्मति देता है तथा जो कम्पनी के अंशों, ऋण पत्रों या ऋण-पत्र-स्कंधों (Debenture Stocks) के लिए प्रार्थित धन एकत्रित करता है अथवा एकत्रित करने का वायदा करता है। परन्तु वह आयोग या कमीशन अंशादि के धन का ५ प्रतिशत होगा।

अंशों के वर्तमान निर्गमन (Present issue) का अभी अभिगोपन नहीं हुआ है अतः इनपर अभी किसी प्रकार की दलाली नहीं दी जायेगी।

उधार लेने पर प्रतिबन्ध (Restriction on Borrowing)

कम्पनी-अन्तर्नियम ७७ के अनुसार यह कम्पनी अपनी व्यापक सभा (General meeting) में अथवा समय-समय पर संचालकों की अनुमति से ही किसी मनुष्य, कम्पनी या अन्य सार्थ या संस्था (Firm) से धन उधार ले सकेगी। परन्तु उधार लिया हुआ धन (Borrowed money) कम्पनी की अंकित अंश पूँजी (Nominal share capital) से किसी भी समय अधिक न होगा। कम्पनी द्वारा व्यापक-सभा में निर्दिष्ट नियमों के अतिरिक्त संचालकों के व्यवस्था सम्बन्धी अधिकारों में किसी प्रकार का भी प्रतिबन्ध नहीं होगा, परन्तु यदि कोई नियम व्यापक सभा में बन जाता है तो वह संचालकों पर भी लागू होगा। इतना अवश्य है कि कम्पनी का कोई भी नियम, व्यापक सभा में बनकर किसी भी संचालक के वैध कार्य को उस समय तक अवैध (Invalid) या अमान्य घोषित नहीं कर सकेगा जब तक कि वह 'नियम' (Regulation) का रूप धारण न करले। नियम का स्वरूप धारण करके ही किसी संचालक को उधार रुपया लेने आदि के कार्य से रोक सकेगा।

मतदान के अधिकार (Voting Rights)

हस्त प्रदर्शन पर प्रत्येक सशरीर रूप से उपस्थित व्यक्ति जिसे कि राय या मत देने का अधिकार है एक मत देगा, परन्तु मत-गणना (Poll) के समय प्रत्येक मतदाता स्वय उपस्थित होकर अथवा अपने अधिकृत एजेंट या प्रतिनिधि या प्रति-पुरुष को भेजकर प्रत्येक अश के लिए एक वोट दे सकेगा। हस्त-प्रदर्शन पर कोई भी ऐसा सदस्य मत नहीं दे सकेगा जो या तो अपने अधिकृत अधिकारी को भेज नहीं सका हो, या यदि वह सस्था (Corporation) है तो उसका प्रति पुरुष (Proxy) न हो या यदि वह कम्पनी है तो उसका प्रतिनिधि न हो अथवा धारा ८० के अनुसार किसी भी कम्पनी ने यदि अपने प्रति-पुरुष या प्रतिनिधि या एजेंट के लिए अधिकार प्राप्त कर लिया है तो वे लोग सुगमता से उपस्थित होकर मत दे सकेंगे। विधान के अनुसार किसी भी व्यापक सभा में किसी भी ऐसे सदस्य को मत देने का अधिकार न होगा जिसपर कम्पनी के अशों का धन शेष हो। उस धन के चुकाने पर ही वह मत दे सकेगा। कोई भी ऐसा मनुष्य जो अश हस्तान्तरण के नियमानुसार यदि मत देने का अधिकारी है तो वह व्यापक-सभा में अपना मत दे सकता है, परन्तु उस सभा क समय से ४८ घट पूर्व कम्पनी क सचालकों को अपने अधिकार के विषय में उसे सन्तुष्ट करना होगा। जब सचालक उसे अपनी मतदाताओं की सूची में लिख लेंगे तो वह मतदान का अधिकारी हो जायेगा।

एक प्रति पुरुष (Proxy) को किसी कम्पनी या सस्था (Corporation) का सदस्य (Member) होना चाहिये, साथ ही उसे उस कम्पनी या सस्था द्वारा मत देने की लिखित योग्यता भी प्राप्त करनी चाहिए। कोइ भी व्यक्ति जबतक उस कम्पनी का अफसर (Officer) या सदस्य न होगा, वहाँ मत देन का अधिकारी नहीं माना जायेगा।

प्रतिनिधि नियुक्त करने का लेख-पत्र (Instrument) उस कम्पना के अभिकर्ता (Agent) या अधिकृत नियुक्तक (Appointer) के हाथों से लिखा हुआ होना चाहिए। यदि वह नियुक्तक (Appointer) कोई सस्था है तो या तो उसकी साधारण मुहर (Seal) या उसक प्रति-पुरुष (Proxy) क हस्ताक्षरों स लिखित होना चाहिये।

प्रति पुरुष (Proxy) नियुक्त करने का लेख पत्र (Instrument) तथा वैधानिक सलाहकार (Attorney) के अधिकार, यदि किसी प्रकार क हैं तथा जिनके आधार पर उस लेख पत्र में हस्ताक्षर किए गए हैं तो सभा (Meeting) होन से ७२ घट पूर्व उन्हें जमा कर देना चाहिए। कार्यवाही (Execution) की तिथि से १२ महान उपरान्त कोइ भी लेख-पत्र व्यवहार्य (Valid) नहीं माना जायेगा। इतना अवश्य है कि यदि

कोई सभा (Meeting) इसी अवधि के बीच में स्थगित कर दी गई हो तो इस अवधि के समाप्त होने पर भी वह लेख पत्र मान्य हो सकेगा।

किसी भी मुख्य सदस्य की मृत्यु तथा प्रति-पुरुष के अधिकारों का खंडन अथवा हस्तांतरण (Revocation & transfer) होने के उपरान्त भी उस प्रतिनिधि या प्रति पुरुष को मतदान करने का उस समय तक पूर्ण अधिकार होगा जबतक उस मृत्यु, खंडन अथवा हस्तान्तरण की लिखित सूचना कम्पनी के कार्यालय में नहीं आती। इतना अवश्य है कि यदि सभा होने से कुछ समय पूर्व यह सूचना कम्पनी को मिल जाती है तो उसका मत व्यवहार्य (Valid) नहीं माना जायेगा।

प्रत्येक सभा का सभापति (Chairman) उसमें दिए जाने वाले मतों की व्यवहार्यता (Validity) का मुख्य निर्णायक (Sole judge) माना जायगा। उसी भाँति उपस्थित सभापति ही लिखित मतों के डाले जाने पर उन मतों की व्यवहार्यता (Validity) का निर्णय करेगा। साराश यह है कि हस्त-प्रदर्शन द्वारा अथवा लिखित पत्रों द्वारा दिए गये वे ही मत (Vote) व्यवहार्य (Valid) होंगे जोकि सभापति की दृष्टि से पूर्णतया उचित मान्य तथा उपयुक्त समझे जायेंगे।

अंशों के हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध
(Restriction on Transfer of Shares)

किसी भी हस्तान्तरण के लिए कम्पनी के अन्तर्नियम मान्य होंगे। प्रत्येक हस्तान्तरण उन नियमों के अनुसार हो हस्तान्तर कर्त्ता (Transferors) तथा हस्तान्तर ग्रहीता (Transferees) के मध्य में होगा। यदि किसी हस्तान्तरित होने वाले अंश का रुपया कम्पनी में जमा नहीं हुआ है या उसके साथ कम्पनी का अन्य कोई प्रतिबन्ध है तो सचालकगण (Directors) उसे अपने हस्तान्तरण सूची पुस्तक (Register) में लिखने से अस्वीकार कर सकते हैं। हस्तान्तरण के समय एक विलेख या लेख पत्र (Instrument) लिखना पड़ता है। इस पर हस्तान्तर कर्त्ता तथा ग्रहीता दोनों के हस्ताक्षर होने अनिवार्य हैं और उसे मुद्रांकित करके कम्पनी में देना चाहिए। इसके साथ ही अंश प्रमाणपत्र (Certificates) तथा किसी अन्य व्यक्ति की साक्षी (Evidence) भी होनी चाहिये। इसके उपरान्त ही वह पत्र कम्पनी स्वीकार कर सकेगी। सचालकों को यह अधिकार है कि वे किसी समाचार-पत्र के विज्ञापन द्वारा सात दिन की पूर्व सूचना देकर सदस्यों के इस हस्तान्तरण-रजिस्टर को बन्द कर सकते हैं, परन्तु रजिस्टर बन्द रखने का समय अधिक से अधिक एक वर्ष में ४५ दिन होगा और एक समय में अधिक से अधिक ३० दिन तक बन्द रख सकते हैं। किसी मृत सदस्य के प्रतिनिधियों (Executor) या अधिकारियों (Administrators) के लिए अथवा उत्तराधिकार का प्रमाण पत्र धारण करने वाले किसी भी व्यक्ति के लिए

कम्पनी को यह देखना होगा कि ये उक्त सदस्य के प्रतिनिधि होने की पूर्ण क्षमता रखते हैं या नहीं। यदि वे व्यक्ति किसी प्रकार भी अयोग्य सिद्ध होंगे तो कम्पनी के अंशों का हस्तान्तरण उनके नाम नहीं हो सकेगा। इसके साथ ही यदि वे भारत के किसी न्यायालय से सच्चे प्रतिनिधि होने का प्रमाण-पत्र या रिक्थ पत्र (Probate) प्राप्त कर लेंगे तो कम्पनी किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगायेगी और अंशों का हस्तातरण उनके नाम हो सकेगा तथा उनका नाम रजिस्टर करते समय किसी प्रकार की अड़चन उपस्थित नहीं होगी। सदस्य की मृत्यु या दिवालिया होने के परिणाम-स्वरूप स्वत्वाधिकारी या प्रति-पुरुष का नाम भी कम्पनी के सचालकों की अनुमति से तथा उचित साक्ष्य (Evidence) के प्रस्तुत करने पर रजिस्टर में अंकित किया जा सकेगा। उस व्यक्ति को अंशों के हस्तान्तरण (Transfer) का पूर्ण अधिकार होगा। वह अधिकार मृत सदस्य या दिवालिया व्यक्ति की ही भाँति माना जायेगा। परन्तु सचालक-गण उसका नाम रजिस्टर करते समय यह पूरी तौर से छानबीन करेंगे कि उक्त व्यक्ति मृत या दिवालिया सदस्य के अधिकारी या प्रतिनिधि होने की क्षमता रखता है अथवा नहीं। पूरी जाँच करन के उपरान्त ही कम्पनी क सचालक उस व्यक्ति को या उसके द्वारा नियुक्त (Nominated) किसी अन्य व्यक्ति को अंशों के हस्तान्तरण के लिये अपने रजिस्टर में लिख लेंगे। किन्तु सचालकों को दोनों दशाओं में उस व्यक्ति या उसके द्वारा नियोजित व्यक्ति के नाम को रजिस्टर करन में स्थगित या अस्वीकृत करने का वही अधिकार होगा जैसा कि उन्हें हस्तान्तरण कर्त्ता के साधारण अंशों को हस्तान्तरण करने का अधिकार होता है।

सचालकों द्वारा स्वीकृत प्रत्येक हस्तान्तरण के लिये चार आना प्रति अंश के हिसाब से शुल्क लिया जायेगा। किन्तु यह शुल्क सचालकों की अनुमति से बढ़ाया भी जा सकता है।

प्रलेखों का निरीक्षण (Inspection of Documents)

संघ-सीमानियम (Memorandum), सघ-अन्तर्नियम, (Articles of Association), तथा ता० २१-२-१९४७ की असाधारण व्यापक सभा (Extra-ordinary General Meeting) में पास होन वाले प्रस्ताव का प्रतिलिपि (Copy), जिसमें कि श्री पी०आर० सुब्रह्मण्यम् को कम्पनी का दलाल नियुक्त किया गया है—इन सभी प्रलेखों (Documents) का निरीक्षण कम्पनी के कार्यकाल के समय जबकि प्रार्थित पूँजी की सूची भी प्रकट रहती है, सुगमता से हो सकता है।

अंशो का आवेदन-पत्र (Application for shares)

प्रत्येक विवरण-पत्रिका में अंशों का आवेदन-पत्र भी लगा रहता है। उसी

आवेदन पत्र पर अंशों के लिये प्रार्थना करनी पड़ेगी। यह विवरण पत्रिका कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय से आवेदन-पत्र भेजने पर प्राप्त हो सकती है।

दिनाङ्क —बम्बई, ३ मार्च १९४७,

(हस्ताक्षर) डी० के० शेषाद्रि
,, के० एम० खाँ
,, पी० एम० भरूचा
,, एस० डी० मेहता
, रविकान्त डी० शाह
,, एस०एन० चारी
, पी०आर०सुनहाण्यम्

त्रुटि या भूल के परिणाम (Consequences of Omissions)

यदि किसी विवरण पत्रिका में विधान के अनुसार आवश्यक बातें नहीं होतीं तो उसके प्रकाशित करने वाले व्यक्तियों पर ५०) रु० प्रतिदिन के हिसाब से उस समय तक दण्ड लगेगा जब तक कि वे अपनी इस भूल का सुधार नहीं करते। धारा ९३ (५) के अनुसार यदि इस प्रकार की भूल होने पर भी कुछ अंश अथवा ऋण पत्र जनता द्वारा खरीदे जाते हैं तो वे किसी प्रकार भी अमान्य या दायित्वहीन नहीं होते। न वे इस अनुबन्ध (Contract) को ही तोड़ सकते हैं। इतना अवश्य है कि यदि इस प्रकार के क्रय से उन्हें कुछ क्षति उठानी पड़ती है तो उसकी पूर्ति के लिए वे प्रवर्तक, सचालक या विवरण पत्रिका के प्रकाशक एवं उत्तरदायी व्यक्तियों के विरुद्ध कार्यवाही कर सकते हैं। परन्तु सचालक भी निम्न बातों के आधार पर इस दायित्व (Liability) से मुक्त हो सकते हैं कि—

(अ) उन्हें इस त्रुटि या भूल का ज्ञान ही नहीं था, या

(ब) वह भूल उनकी सत्य प्रेरित त्रुटि (Honest mistake) से हुई है, अथवा

(स) वह भूल महत्त्वपूर्ण नहीं है अथवा समुचित रूपेण (Reasonably) क्षम्य है।

जब कभी महत्त्वपूर्ण सत्य (Material facts) को छिपाया जाता है तो इस प्रकार की भूल, असत्य कथन अथवा कपट (Misrepresentation or fraud) कहलाती है। इस प्रकार के असत्य कथन या कपट के निम्नाङ्कित परिणाम होते हैं —

असत्य कथन या कपट के परिणाम
(Consequences of Misrepresentation of Fraud)

विवरण-पत्रिका प्रकाशित करने का मुख्य उद्देश्य कम्पनी के अशों तथा ऋण-पत्रों को खरीदने के लिए जनता को आमन्त्रित करना होता है। इसी कारण प्रत्येक विवरण पत्रिका को अत्यन्त आकर्षक, मनोमोहक एव स्पष्ट बनाने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि ऐसा करते समय उसमें कोई भी ऐसी बात न लिखी जाय जो जनता को धोखे में डालने वाली हो। उसमे तो सभी बातें अत्यन्त स्पष्ट रूप में होनी चाहिए क्योंकि उसी के आधार पर विनियोक्ता गण अपना रुपया कम्पनी में जमा करते हैं। यदि वही असत्य के आधार पर निर्मित होगी तो कोई भी विनियोक्ता कम्पनी के अश खरीदने के लिए तैयार न होगा और उस असत्य कथन का दुष्परिणाम कम्पनी को भी असफलता के रूप में उठाना पड़ेगा।

असत्य कथन या कपट क्या है? यदि इस विषय पर थोड़ा विचार करें तो पता चलेगा कि किसी महत्वपूर्ण विषय की समस्त घटनाओं में से कुछ घटनाओं का छिपाना ही असत्य कथन कहलाता है। इसी प्रकार जानबूझकर किसी महत्वपूर्ण विषय की असत्य जानकारी देने को कपट कहते हैं। अतः यदि विवरण पत्रिका में महत्त्वपूर्ण बातों को प्रदर्शित करने के लिए भी असत्य कथन या कपट का आश्रय लिया जायगा तो वह विवरण-पत्रिका कुछ सत्य बातों के रखते हुए भी, असत्य या कपटपूर्ण ही कहलायेगी।

यदि किसी विवरण पत्रिका में अधिकाश असत्य बातें ही हैं और कोई विनियोक्ता उनका विश्वास करके अपना धन कम्पनी के अशों मे लगा देता है तो उस समय उसके बचाव के लिए निम्नलिखित दो उपाय हैं :—

१—अनुबन्ध विच्छेद के अधिकार (Rights of Rescission) — अनुबन्ध के नियमानुसार कोई भी विनियोक्ता (Investor) अपने धन को वापिस कराने के लिए न्यायालय में आवेदन-पत्र भेज सकता है। भारतीय अनुबन्ध विधान (Indian Contract Act) की धारा १६ के अनुसार उसका यह कार्य सर्वथा मान्य होगा। इतना अवश्य है कि कम्पनी की विवरण पत्रिका सम्बन्धी भूलों का ज्ञान उसे पूर्ण रूपेण होना चाहिए और उन्हीं भूलों पर आधारित आवेदन-पत्र न्यायालय में भेजना चाहिए। यदि न्यायालय में उसका आवेदन-पत्र स्वीकृत हो जाता है तो कम्पनी को उसका रुपया व्याज सहित लौटाना पड़ेगा और वह व्यक्ति भी उसकी सदस्यता से अलग समझा जायगा। परन्तु यदि कोई व्यक्ति किसी अशधारी से ही कम्पनी के अश लेता है तो वह कम्पनी के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं कर सकता। परन्तु यह नियम वहाँ लागू नहीं होगा जबकि कम्पनी की विवरण-पत्रिका

स्टॉक एक्सचेंज बाजार में विक्ती है तथा उसके द्वारा ही लोगों को अंश लेने के लिए आकर्षित किया जाता है। इसके अतिरिक्त निम्नाङ्कित दशाओं में भी कम्पनी के अंशों का रुपया लेने के लिए कोई व्यक्ति कम्पनी के विरुद्ध कोई भी कार्यवाही नहीं कर सकता —

(अ) यदि विवरण पत्रिका की भूलों का ज्ञान होने के उपरान्त निश्चित एवं उपयुक्त अवधि तक वह अंशधारी कोई कार्यवाही नहीं करता, या

(आ) यदि वह उसकी भूलों को जानता हुआ भी उनका समर्थन करता है तथा अंशों के बेचने, या उचित धन को जमा करने ऋण पत्रों के प्राप्त करने या सभा में मत देने आदि का कार्य करता है।

(इ) यदि उस व्यक्ति के विरुद्ध कार्यवाही करने से पूर्व ही कम्पनी का विलीयन (Liquidation) हो जाता है। क्योंकि कम्पनी के कार्य की परिसमाप्ति के समय अंशधारियों के ये अधिकार उस ऐसा करने में बाधा उपस्थित कर सकते हैं।

इस तरह से उपर्युक्त तीनों परिस्थितियों में किसी को अनुबंध-विच्छेद का अधिकार नहीं रहता।

२—हानिपूर्ति की कार्यवाही का अधिकार (Right of Action for Damages) —जब किसी व्यक्ति को अपने अनुबंध (Contract) के विच्छेदन या भंग करने का अधिकार नहीं रहता तो उसे 'हानिपूर्ति की कार्यवाही का अधिकार' प्राप्त हो जाता है। इसके अनुसार वह कम्पनी की समाप्ति या विलीयन के उपरान्त भी अपनी उचित कार्यवाही कर सकता है। धारा १०० के अनुसार किसी भी अंशधारी (Shareholder) की अथवा ऋण पत्रधारी की इस प्रकार से होने वाली हानि की पूर्ति के लिए प्रवर्तक तथा संचालक पूर्णतया उत्तरदायी रहते हैं। निम्नाङ्कित बचावों के द्वारा वह व्यक्ति अपनी हानि के लिए दावा कर सकता है —

(१) यदि उसके विवरण (Statement) में समस्त बातें विश्वसनीय हैं

(२) यदि उसके विवरण की समस्त बातें किसी योग्य एवं अनुभवी विशेषज्ञ (Extract) द्वारा प्रमाणित की गई हैं,

(३) यदि उसका विवरण किसी राजकीय प्रलेख (Official document) के निस्सारण (Extract) की सच्ची प्रतिलिपि (Correct statement) है,

(४) यदि उसने विवरण पत्रिका के निर्गमन या प्रकाशन के लिए अपनी अनुमति वापस ले ली है या बिल्कुल दी ही नहीं,

(५) यदि उसके बिना जाने ही विवरण पत्रिका प्रकाशित कर दी गई है अथवा जब वह प्रकाशित हो चुकी थी तो उसने यह सूचना सर्वसाधारण में दे दी थी कि मेरे बिना समझे बूझे यह विवरण पत्रिका प्रकाशित की गई है, या

(६) यदि विवरण-पत्रिका के प्रकाशित होने के उपरान्त तथा अंश वितरण (Allotment) से पूर्व हो उसने विवरण-पत्रिका की त्रुटियों को समझकर अपनी अनुमति (Consent) वापस लेली थी तथा इस विषय में सर्वसाधारण को सूचित भी कर दिया था।

उपर्युक्त अधिकार अंश वितरण होने से तीन वर्ष के अंतर्गत उपयोग में आना चाहिए नहीं तो इस अवधि के उपरान्त एक अंशधारी या ऋण-पत्रधारी इसे भी खो बैठता है। यदि अंशधारी का विवरण (Statement) सर्वथा सत्य है तो न्यायालय (Court) उसके हानि होने वाले धन का मूल्यांकन (Assessment) करेगा। न्यायालय द्वारा मूल्यांकित (Assessed) धन में तथा अंशा के धन में या अंशधारी के कथन में अन्तर हो सकता है। परन्तु प्रार्थी को हानि-पूर्ति के लिए उचित धन अवश्य मिल जायगा।

जब कोई प्रवर्तक या सचालक किसी अंशधारी को हानि-पूर्ति का धन चुकाता है तो उसे यह अधिकार है कि वह अपने सहायक प्रवर्तकों एवं सहायक सचालकों से भी सहायता प्राप्त करे। ऐसा करते समय उसे किसी प्रकार का भी प्रतिबन्ध नहीं होगा।

इसके अतिरिक्त धारा १०० के अनुसार जो व्यक्ति अपने ऋण-पत्रों या अंशों पर दिए हुए धन को हानि का अधिकारी है, वह अपने धन की हानि उस समय तक वसूल नहीं कर सकता जब तक कि कम्पनी विवरण-पत्रिका के मिथ्या-प्रकाशक (Misrepresentation) द्वारा उस धन से कुछ लाभ नहीं उठा लेती। ऐसी दशा में वह केवल अपना धन ही वापस ले सकता है।

कम्पनी की विवरण पत्रिका पढ़ने का ढंग
(How to Read a Company Prospectus)

प्रत्येक कम्पनी अपनी विवरण-पत्रिका (Prospectus) इसलिए प्रकाशित करती है कि अधिक से अधिक विनियोक्ता-गण (Investors) उसके अंश लेने के लिये आकर्षित हों। सभी कम्पनियाँ तीन-टाँग के घोड़ों के समान होती हैं परन्तु उनकी विवरण-पत्रिकायें यह निश्चय करा देती हैं कि अमुक कम्पनी चार टाँग के घोड़े के ही समान है अर्थात् वह सब प्रकार से पूर्ण, व्यवस्थित तथा सुदृढ़ है। विवरण पत्रिका में सभी बातें कम्पनी के महत्त्व को प्रदर्शित करने वाली होती हैं क्योंकि उसका उद्देश्य ही सर्वसाधारण के हृदय में कम्पनी के अंशों के लिए अभिलाषा जाग्रत करना माना गया है। श्री डब्ल्यू० कॉलिन ब्रुक्स ने अपनी 'आर्थिक सिद्धान्त तथा प्रयोग" (Theory and Practice of Finance) नामक पुस्तक में ठीक ही लिखा है कि:—"विवरण पत्रिका, किसी उदार, आशावादी तथा विश्व-बन्धुत्व प्रेमी व्यक्ति द्वारा निर्माण किया हुआ ऐसा प्रलेख होता है जोकि दूसरों

की जेब से धन निकलवाने की दृष्टि से ही बनाया जाता है। जब कोई सरकार या अत्यन्त प्रतिष्ठित सार्वजनिक संस्था ऋण लेती है तब उसकी प्रार्थना अत्यन्त सीमित (Restrained) एव महत्त्वपूर्ण (Dignified) शब्दों में होती है, परन्तु जब कोई साधारण कम्पनी धन उधार लेने के लिए जनता से निवेदन करती है तब वह केवल जनता में से सब प्रकार के व्यक्तियों को ही आमंत्रित नहीं करती वरन् उन व्यक्तियों को भी सदस्य बनाने की अभिलाषा रखती है जिनका कि अभी संसार में विशेष अस्तित्व ही नहीं है।''

यद्यपि भारतीय कम्पनी विधान १९३६ (संशोधन) ने विवरण-पत्रिका सम्बन्धी अधिकांश नियमों पर पर्याप्त नियंत्रण कर रक्खा है, परन्तु फिर भी उसकी अवहेलना करके अधिकांश व्यक्ति मनमाना कार्य करते हैं। यहाँ के समाचार पत्र भी विनियोक्ताओं (Investors) की सहायता करने में विशेष प्रयत्नशील नहीं रहते। भारत की अधिकांश जनता अबोध एवं अज्ञानी है। कम्पनियों की मिथ्या चारिता एवं कपटशीलता से उसका विशेष परिचय नहीं है। अतः ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि विधान के नियमों को दृढ़ता-पूर्वक स्वीकार कराने का प्रयत्न सरकार की ओर से हो और जनता की सुरक्षा के लिए कम्पनी के प्रवर्तकों एवं संचालकों पर कठोर नियन्त्रण रक्खा जाय। विवरण-पत्रिका का निर्माण सत्यता एव यथार्थता की भित्ति पर होना चाहिये तथा सर्वसाधारण को अत्यन्त सुगमतापूर्वक स्वाभाविक रीति से मिलनी चाहिये। इसका प्रचार करने वाले हितैषियों एवं एजेन्टों को भी मिथ्या-चरण एवं कपट व्यवहार से सर्वथा दूर होकर अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से सत्य बात बतलाते हुए इसका प्रचार करना चाहिये। परन्तु इसके विपरीत दशा में यह देखा जाता है कि अधिकांश विवरण-पत्रिकाएं जो अत्यधिक मात्रा में प्रकाशित की जाती हैं मिथ्या एवं कपटपूर्ण बातों के आधार पर ही स्थित रहती हैं। साथ ही कम्पनी के प्रवर्त्तकों एवं अनुमोदकों द्वारा पर्याप्त मात्रा में असत्य कथन से युक्त होकर प्रचारित होती हैं। कम्पनी की दशा को खूब बढ़ा-चढ़ा कर बतलाया जाता है और सत्य एव यथार्थ बात को छिपाकर विचारे भोले, अबोध एवं अज्ञानी व्यक्तियों को चंगुल में फँसा लिया जाता है। अतः किसी भी कम्पनी की विवरण-पत्रिका को अत्यन्त सावधानी के साथ पढ़ना चाहिये। निम्नाङ्कित कुछ प्रमुख बातें हैं जिनको कि प्रत्येक विवरण-पत्रिका में देखना अनिवार्य होता है और जिन बातों की जानकारी के उपरान्त धोखे में पड़ने की विशेष आशंका नहीं रहती। वे इस प्रकार हैं :—

(१) व्यापार तथा उसकी विवरण-पत्रिका का स्वरूप (Nature of Business and its Prospectus) :—सर्वप्रथम किसी भी कम्पनी के व्यवसाय के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। यह भली प्रकार देखना चाहिये कि अमुक कम्पनी का व्यवसाय तथा उसकी विवरण-पत्रिका में कहाँ तक सत्य है। दूसरे यह

युग ही प्रतिस्पर्द्धा (Competition) का है। अतः इस प्रतिस्पर्द्धा में उसके व्यवसाय का क्या स्वरूप है अर्थात् उसमें स्थिर एवं दृढ रहने की कितनी शक्ति है, इन समस्त बातों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता है। इसके साथ ही मजदूरों की व्यवस्था तथा उनकी पूर्ति, कच्चे माल (Raw material) की प्राप्ति, बाजार, कार्य की स्थिति, वस्तु-निर्माण तथा अन्य व्यवसाय सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण समस्याओं के विषय में भी पूरा-पूरा परिचय होना चाहिये। बहुधा देखा जाता है कि उपर्युक्त बातों के विषय में विवरण-पत्रिकायें (Prospectus) सदैव अधिकाधिक बढ़ा-चढ़ा कर बातें करती हैं। उनमें दिए हुए अधिकांश विवरण असत्य, मिथ्या एवं अनर्गल भी हुआ करते हैं। अतः उन विवरणों का पूर्ण विश्वास न करते हुए स्वयं भी उस कम्पनी के विषय में जानकारी प्राप्त करना अनिवार्य होता है। यह ध्यान रखना चाहिए तथा अनुभवी लोगों का यह विश्वास भी है कि प्रायः प्रवर्त्तक एवं सचालकगण विवरण-पत्रिका बनाते समय एक ऐसी दुर्बलता के शिकार रहते हैं जिसके आधार पर प्रत्येक वस्तु को महत्त्वपूर्ण प्रदर्शित करने की ही अभिलाषा बनी रहती है और उसी अभिलाषा के परिणामस्वरूप यथार्थ बात को भी छिपाया जाता है। इसलिए विवरण-पत्रिका की सभी बातें अक्षरशः सत्य हैं ऐसा कभी नहीं समझना चाहिए।

यदि किसी विवरण-पत्रिका में यह लिखा रहता है कि दूसरी अधिकांश कम्पनियाँ इस व्यवसाय में अत्यधिक लाभ उठा रही हैं और हम भी इसी प्रकार कार्य करते हुए अधिक से अधिक लाभ उठावेंगे तो ये बातें उसकी सफलता की द्योतक नहीं कहलातीं। कारण यह है कि दूसरी कम्पनी का व्यवसाय दृढ एवं स्थिर हो चुका है, परन्तु इस विवरण पत्रिका प्रकाशित करने वाली नई कम्पनी का कार्य तो पूर्णतया नया ही है। अतः यह सर्वथा सम्भव नहीं कि वह सफल ही होगी और अत्यधिक लाभ प्राप्त करके लोगों को भी लाभान्वित कर सकेगी। इसीलिए किसी भी नई कम्पनी की सफलता के लिए तो केवल यही देखना चाहिए कि उसमें उस व्यवसाय के करने की कितनी क्षमता है तथा उसका सचालन करने वाले कैसे व्यक्ति हैं।

(७) **व्यवस्था** (Management) —कम्पनियों की व्यवस्था प्रायः सचालकों एवं प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं द्वारा होती है। एक विवरण-पत्रिका में केवल सचालकों या प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की योग्यता, उनका पारिश्रमिक, उनका दायित्व, स्वत्व एवं अधिकार आदि की ही चर्चा रहती है। किसी भी विवरण-पत्रिका के पढ़ते समय यह जानना भी आवश्यक होता है कि उसमें दिए हुए सचालकों के नाम चाहे अत्यन्त प्रसिद्ध न हों परन्तु वे लोग ऐसे अवश्य हों जिन्होंने कि उस व्यवसाय में दक्षता एवं विशेषता प्राप्त की हो। यदि वे उस व्यवसाय की दक्षता से शून्य होंगे तो कम्पनी का भविष्य अन्धकारमय हो सकता है। इसके साथ ही यह भी जानना अनिवार्य है कि प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं (Managing-agents) के अधिकांश

अधिकार संचालकों के ही समान हैं अथवा उनमें कुछ भिन्नता है तथा सचालकों के अधिकारा पर अन्तर्नियम (Articles) द्वारा किसी प्रकार का प्रतिबन्ध भी है अथवा नहीं ?

प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के विषय में यह जानना अत्यावश्यक होता है कि वे कम्पनी के इस व्यवसाय के बारे में कुछ अनुभव भी रखते हैं या कि इस क्षेत्र में बिल्कुल नये ही हैं ? साथ ही क्या उनके अधिकार तथा पारिश्रमिक कम्पनी के व्यवसाय की दृष्टि से समुचित एव युक्तियुक्त हैं अथवा अनुचित एव अयुक्त ही हैं ? उपर्युक्त बातों का ज्ञान होने के उपरा त विनियोक्ता के लिए व्यवस्था सम्बन्धी अड़चनें नहीं रहतीं।

(३) पूँजी योजना (Capital Plan) —सभी कम्पनियों के लिए पूँजी-योजना बड़ी ही महत्त्वपूर्ण एव अनिवार्य साधन होती है। इस पर ही उस कम्पनी की सफलता तथा असफलता निर्भर रहती है। देखना यह चाहिए कि उस नई कम्पनी की पूँजी क्या अपना कार्य-सचालन करने के लिए पर्याप्त है अथवा उसकी योजनाएं भविष्य में पूँजी सग्रह करने के लिए समर्थ हैं और उसे समयानुसार कार्य करने के लिए पर्याप्त धन प्राप्त करा सकती हैं अथवा नहीं ?

यदि किसी कम्पनी ने नाना प्रकार के अशों को जनता म विभाजित करने का निर्णय किया है तो लाभाश (Dividend), पूँजी का पुनर्भुगतान, मतदान (Voting) आदि से सम्बन्धित अधिकारों को भली प्रकार समझ लेना चाहिए। साथ ही शुद्ध पूँजी (*Equity capital*) तथा उधार ली हुई पूँजी (*Fixed-interest capital*) का अनुपात (Proportion) स तोषजनक है अथवा नहीं यह जानना भी आवश्यक होता है। पूँजी योजना वही सु दर मानी जाती है जो सरल, सुबोध तथा सावधानी के साथ नियोजित रहती है।

इसका भी ज्ञान रखना चाहिए कि कम्पनी का प्रार्थित धन (Subscription) उसका कार्य चलाने के लिए उपयुक्त है अथवा नहीं। यदि वह धन किसी प्रकार से कम रहता है और कम्पनी अपना काय प्रारम्भ कर देती है तो कम्पनी की सफलता में स देह हो सकता है। यदि कम्पनी ने अश पूँजी के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की प्रणीवि या कोष (Fund) एकत्रित करने का निश्चय किया है तो उसके समस्त स्रोतों (Sources) की जानकारी रखना आवश्यक होता है।

जब कम्पनी के अशों का निर्गमन या प्रकाशन (Issue) अभिगोपित (Underwritten) होता है तो उस समय यह जानना अनिवार्य है कि अभिगोपकों (Underwriters) की आर्थिक स्थिति कैसी है ? साथ ही उन्हें दिया जाने वाला अभिगोपन आयोग (Underwriting-commission) भी उचित एव उपयुक्त है अथवा नहीं ? यह भी देखना चाहिए कि निर्गमन का कोई भाग दृढता के साथ अभिगोपित हुआ है अथवा नहीं ?

(४) क्रीत सम्पत्ति (Property Purchased)—कम्पनी द्वारा खरीदी जाने वाली सम्पत्ति किस स्वरूप की है, उसका मूल्य कितना दिया गया है, वह मूल्य उचित अथवा अनुचित है और किस प्रकार चुकाया गया है—आदि सभी बातें जानना आवश्यक होता है। यदि वह सम्पत्ति कोई व्यवसाय (Business) है तो उसकी समस्त प्राप्त सामग्रियों का मूल्य (Value) तथा स्वरूप, ख्याति का मूल्याङ्कन, विक्रेताओं (Vendors) की दशा, खरीदी जाने वाली वस्तुओं का मूल्यांकन तथा उसके खरीदने का ढंग आदि सभी बातें जाननी चाहिए। अत लाभों से सम्बन्धित अंकेक्षक (Auditor) का प्रमाण पत्र तथा वर्तमान वस्तुओं (Assets) का मूल्य जानने के लिए किसी मूल्याङ्कन विशेषज्ञ (Valuer) का प्रमाण-पत्र देखना भी आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त यदि क्रीत सम्पत्ति पहले भी कितनी ही बार हस्तान्तरित होती रही है तो प्रत्येक हस्तान्तरण (Transfer) पर चुकाये गये मूल्य के विषय में जानना भी आवश्यक होता है क्योंकि उसी मूल्य के आधार पर यह निश्चय सुगमता से हो जाता है कि अमुक सम्पत्ति का वास्तविक मूल्य क्या होगा और इस समय वह कितना मूल्य रखती है। इस जानकारी से उसकी यथार्थता एव सत्यता का ज्ञान हो जायगा और कम्पनी द्वारा मिथ्या प्रचार होने पर भी धोखा न होगा।

(५) विक्रेता का लाभ (Vendors Profits)—कम्पनी की क्रीत सम्पत्ति के लिए किसी विक्रेता या प्रवर्तक (Vendor or Promoter) को कितना धन दिया गया है इसका जानना अत्यावश्यक होता है। बहुधा देखा जाता है कि कम्पनी अपनी सस्थापना के समय किसी सम्पत्ति के लिए विक्रेता या प्रवर्तक को अत्यधिक लाभ दे देती है और वह लाभ अंशों या नक्द धन में ही चुकाया जाता है। इससे यह परिणाम होता है कि कम्पनी का अधिकांश धन उन लोगों के लाभ में ही चला जाता है और उसके कार्य-सचालन के लिए पर्याप्त पूँजी शेष नहीं रहती। इससे कम्पनी पर अत्यधिक बोझ हो जाता है और कोई भी अंशधारी अपने धन का उचित लाभ नहीं उठा पाता। अत नई कम्पनी की सस्थापना के समय इस लाभ का ज्ञान रखना भी अनिवार्य है।

(६) महत्त्वपूर्ण अनुबन्ध (Material Contracts)—ये अनुबन्ध प्राय विक्रेता, प्रबन्ध अभिकर्त्ता, अभिगोपक (Underwriter) आदि के मध्य में होते हैं। अत किसी कम्पनी की वास्तविक दशा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह अत्यावश्यक है कि उसके इन अनुबन्धों (Contracts) की जानकारी भली प्रकार से की जाय। विधान के अनुसार प्रत्येक विवरण-पत्रिका (Prospectus) में इन अनुबन्धों का उल्लेख होना अनिवार्य है। परन्तु इतना नहीं कि सभी अनुबन्धों की पूरी पूरी विवेचना की जाय। उसमें तो केवल अनुबन्धकारों के नाम, तिथि तथा स्थान आदि का ही उल्लेख रहता है। अत कोई भी विनियोक्ता (Investor) इतना कष्ट नहीं उठाता कि उन

अनुबन्धों की मूल प्रति उठाकर देखे तथा उसका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करे। सभी विवरण पत्रिका पर विश्वास कर लेते हैं और उन अनुबन्धों के प्रति किसी प्रकार की भी आशंका नहीं करते। परन्तु कम्पनियाँ कभी कभी इन अनुबन्धों का अपनी विवरण पत्रिका में मिथ्या उल्लेख भी कर देती हैं। अतः इनकी मूल प्रति देखना अत्यावश्यक है।

(७) प्रतिबन्धक अन्तर्नियम (Restrictive Articles) —बहुधा कम्पनियाँ अपने अन्तर्नियमों (Articles) द्वारा सदस्यों पर भाषण देने के लिए, उपस्थित होने के लिए, मत देने के लिए, तथा अंशों का हस्तान्तरण करने के लिए कितने ही प्रकार के प्रतिबन्ध लगा देती हैं। इतना ही नहीं वे संचालकों पर भी व्यवस्था सम्बन्धी कुछ बंधन उपस्थित कर देती हैं। अतः उन समस्त प्रतिबन्धों एवं बन्धनों को अच्छी प्रकार से जानना अत्यावश्यक है क्योंकि कभी कभी वे प्रतिबंध अंशधारियों एवं संचालकों दोनों के लिए ही बड़े कठोर होते हैं।

(८) कम्पनी का विगत इतिहास (Company's Past History) —यदि कोई विवरण पत्रिका किसी पूर्व संचालित एवं संस्थापित कम्पनी द्वारा प्रकाशित की गई है तो उसमें निम्नलिखित बातें अवश्य देखना चाहिए —

(अ) कम्पनी की भूतकालीन तथा वर्तमान आर्थिक स्थिति। भूतकालीन स्थिति के लिए विवरण पत्रिका में लगी हुई अंकेक्षक या आडीटर की रिपोर्ट देखनी चाहिए तथा वर्तमान स्थिति की जानकारी के लिए उस कम्पनी का स्थिति विवरण (Balance sheet) देखना आवश्यक होता है। यह विवरण प्रायः विवरण पत्रिका (Prospectus) में नहीं होता। अतः अन्य किसी ढंग से इस स्थिति विवरण को प्राप्त कर लेना चाहिए।

(ब) नवीन निर्गमित अंश (New issues) के साथ साथ वर्तमान (Existing) अंश पूँजी का स्वरूप।

(स) विगत दो वर्षों में प्रस्तावित (Offered), वितरित (Allotted) तथा प्रदत्त (Paid up) अंशों का विवरण।

(द) गत दो वर्षों में नकद (cash) या रोकड़ की अपेक्षा प्रतिफल (considera tion) के लिए निर्गमित (Issued) अंशों की संख्या तथा उस प्रतिफल (Considera-tion) का स्वरूप (Nature)।

(य) गत दो वर्षों में होने वाले समस्त महत्वपूर्ण अनुबन्धों (Material contracts) का उल्लेख।

(९) अधिकोषिक आदि के नाम (Names of Bankers etc) —कम्पनी के अधिकोषिकों (Bankers), अंकेक्षकों (Auditors), वैधानिक सलाहकारों (Legal advisers) तथा दलालों (Brokers) के नाम जानना भी आवश्यक होता है।

इन नामों की जानकारी से भी कम्पनी की वास्तविक स्थिति का अनुमान लग सकता है क्योंकि कोई भी प्रतिष्ठित व्यक्ति उस समय तक अपने नाम का उपयोग कम्पनी को नहीं करने देता जब तक कि वह स्वयं उसकी साख में विश्वास न रखता हो। परन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उपर्युक्त व्यक्तियों के नाम से ही किसी कम्पनी की स्थिरता एवं दृढ़ता नहीं होती क्योंकि ये लोग उसकी व्यवस्था आदि से कोई सम्बन्ध नहीं रखते।

(१०) समाचार-पत्रों की टिप्पणी (Press Review)—यदि किसी कम्पनी का विवरण-पत्रिका किसी प्रतिष्ठित आर्थिक समाचार पत्र (Reputable financial journal) में विज्ञापन के लिए प्रकाशित की जाती है, तो उस कम्पनी के सम्बन्ध में प्राय समाचार-पत्र सम्पादकीय टिप्पणी (Review) के द्वारा अपनी कुछ धारणायें देते हैं। अत ऐसी टिप्पणियों को पढ़ना अत्यन्त लाभप्रद होता है। इन्हें खूब ध्यान से पढ़ना चाहिये क्योंकि ये टिप्पणियाँ भी विनियोक्ताओं के लिए कम्पनी के भविष्य के विषय में पथ-प्रदर्शक का कार्य करती हैं। इसका यह तात्पर्य निकलता है कि किसी भी विनियोक्ता को अपना धन कम्पनी के अंशों को खरीदने के लिए उस समय तक नहीं लगाना चाहिए जब तक कि उस कम्पनी के विषय में अच्छी प्रतिष्ठित संस्थाएं या फर्में (Firms) जो कि अंशों की दलाली करती हैं तथा कोई भी उत्तरदायित्वपूर्ण समाचार पत्र अपनी अच्छी सम्मति प्रकट न करे।

साराश यह है कि किसी भी विनियोक्ता को अपना धन अंशों में देने से पूर्व अच्छी प्रकार सोचना तथा विचारना चाहिए। विवरण पत्रिका को किसी भी बात में किसी प्रकार की भी आशंका अपने हृदय में नहीं रहने देनी चाहिए। यदि कोई आशंका उठती है तो उसका निराकरण किए बिना कभी भी धन व्यर्थ फेंकना उचित नहीं, क्योंकि किसी भी नई कम्पनी को अनेकों आपत्तियों का सामना करना पड़ता है और उसकी सफलता का कोई पूर्ण निश्चय नहीं होता। कभी कभी प्रवर्तकों के शब्द इतने मनोमोहक एवं आकर्षक होते हैं कि मनुष्य भावावेश में आकर अंश खरीद डालता है और कम्पनी के भविष्य के बारे में कुछ भी नहीं सोच पाता, परन्तु ऐसा करना कदापि उचित नहीं होता। प्रवर्त्तक लोग तो हृदय आकर्षित करने के लिए ही कम्पनी का उज्ज्वल पक्ष जनता के सम्मुख रखा करते हैं, परन्तु उसका एक दूसरा अन्धकारमय पक्ष भी होता है। यदि किसी प्रकार की अभावता तथा त्रुटि के कारण ही कम्पनी की असफलता सम्भव है तो उस अभाव एवं त्रुटि के बिना जाने ही अंशधारियों का अंश ले लेना मूर्खता का द्योतक है। हो सकता है कि उसके अभिगोपक (Underwriters) भी अत्यन्त वैभवशाली एवं सम्पत्तिवान हों परन्तु वे भी अनुचित कार्य कर सकते हैं और कम्पनी का अधिकांश लाभ व्यर्थ ही इधर उधर विभाजित किया जा सकता है। इस प्रकार की अनुचित कार्यवाहियों से केवल

प्रवर्त्तक, सचालक तथा अभिगोपक भले ही लाभ उठालें परन्तु बिचारे विनियोक्ता एवं अशधारियों को तो अपनी पूँजी से ही हाथ धोना पड़ता है। इसलिये विनियोक्ता को कोई भी कार्य शीघ्रता से करना उचित नहीं, वरन् अच्छी प्रकार सोच समभकर तथा कम्पनी की गत एवं वर्त्तमान स्थिति का पूर्ण ज्ञान करके तब अपना धन उसमें लगाना चाहिए।

विनियोक्ताओं की वैधानिक सुरक्षा
(Statutory Safeguards for Investors)

अमेरिका में सीमित कम्पनियाँ अत्यधिक हैं। वहाँ इस प्रथा का प्रचार भी विश्व के अन्य देशों की अपेक्षा सर्वाधिक पाया जाता है। परन्तु इस सीमित कम्पनी (Limited company) की प्रथा से पहले जब कपट, अनाधिकार, तथा अपहरण आदि के कार्य दिन-रात बढ़ने लगे तथा वहाँ के उद्योगी एवं दूरदर्शी व्यक्तियों के अथक प्रयत्न करने पर भी वे रुक न सके तो इन समस्त अमानुषिक एवं अव्यवहार्य कार्यों को रोकने की दृष्टि से वहाँ की सरकार ने कुछ नियम बनाये। ये नियम ही 'ब्लू स्काई लॉज' (Blue Sky Laws) अर्थात् 'अनाचार प्रतिरोधक नियम" कहलाते हैं। इन नियमों के बनाने की आवश्यकता इसीलिए पड़ी कि सभी सीमित कम्पनियों के प्रवर्त्तक एवं सचालक अपने अपने व्यवसाय की वृद्धि के लिए उचित एवं अनुचित सभी प्रकार के उपाय काम में लाते थे और दूसरों को मूर्ख बनाकर मनमाना लाभ उठाते थे। अन उपर्युक्त नियमों के निर्माण करने का एकमात्र यही ध्येय था कि उन व्यक्तियों की समस्त अनुचित कार्यवाहियों को रोक कर जनता के धन की सुरक्षा की जाय तथा विनियोक्ताओं को व्यर्थ एवं हानिप्रद अंशों के खरीदने से बचाया जाय। इसी आशय पर भारत सरकार ने भी कुछ प्रतिरोधक नियम बनाये हैं जिनसे कि सर्वसाधारण प्रवर्त्तकों की अनुचित एवं छलपूर्ण कार्यवाहियों से अपनी रक्षा कर सकते हैं तथा किसी कम्पनी में अपना धन लगाते समय वैधानिक कार्यवाही द्वारा उसके अपव्यय होने से बच सकते हैं। वे नियम इस प्रकार हैं —

(१) प्रतिरोधक नियम (Preventive legislation) —भारतीय कम्पनी विधान की धारा ९३ के अनुसार प्रत्येक प्रवर्त्तक (Promoter) के लिए यह आवश्यक कर दिया गया है कि विवरण पत्रिका (Prospectus) को प्रकाशित करते समय उसमें कम्पनी की क्रीत सम्पत्ति का विगत इतिहास तथा कम्पनी की भूतपूर्व परिस्थिति आदि का विवेचन पूर्ण रूप से हो, जिससे कि कोई भी विनियोक्ता धन लगाने से पूर्व उस कम्पनी के विषय में पूरी जानकारी प्राप्त करले और उसकी स्थिरता एवं अस्थिरता का निर्णय करके फिर अंशों के खरीदने में हाथ डाले। धारा ९८ A कम्पनी के विक्रय प्रस्ताव (Offer for sale) के लिए बड़ी कठोरता से लागू होती है। इसके साथ ही धारा २७७-८ के अनुसार भारतवर्ष में कोई भी व्यक्ति

विदेशी कम्पनियों के अशों, ऋण-पत्रों तथा बन्धों (Bonds) को घर घर जाकर नहीं बेच सकता। अन्त में पूजी निर्गमन प्रतिरोधक-नियम (Legislaticn for the control of Capital Issues) के अनुसार भारतवर्ष में कोई भी कम्पनी केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना ५ लाख रुपये के अशों से अधिक पूँजी का निर्गमन (Issue) नहीं कर सकती। यह नियम भारत में १७ मई १६४३ ई० से लागू हुआ है। इस नियम द्वारा जनता का भी अधिक लाभ हुआ है और वह प्रवर्तकों की अनुचित चालों से पर्याप्त मात्रा में अपने को बचा सकी है। कारण भी स्पष्ट है क्योंकि सरकार (Government) भी उस समय तक अपनी अनुमति नहीं देती जब तक वह यह नहीं जान लेती कि कम्पनी के सभी प्रवर्तक तथा उनके मित्र कम्पनी के व्यवसाय में हृदय से उत्सुक तथा इच्छुक हैं। ऐसा विश्वास होने पर ही बड़ी मात्रा में व्यवसाय करने की अनुमति सरकार द्वारा दी जाती है और फिर उससे अधिक अनाचार एव कपट व्यवहार के फैलने की आशका नहीं रहती।

(२) प्रवर्त्तकों के नागरिक दायित्व (Civil Liability of Promoters) —कम्पनियों के प्रवर्त्तकों के कुछ नागरिक दायित्व भी होते हैं। भारतीय कम्पनी विधान की धारा १०० के अनुसार यदि किसी विवरण-पत्रिका में प्रकाशित असत्य-कथन द्वारा किसी विनियोक्ता को हानि उठानी पड़ती है तो उस हानि की पूर्ति करना प्रत्येक प्रवर्त्तक के लिए अनिवार्य कर दिया गया है। उसी भाँति धारा २३५ के अनुसार किसी भी निस्तारण या विलीयन (Liquidation) होने वाली कम्पनी के प्रवर्तक के लिए यह आवश्यक कर दिया गया है कि उसके अविश्वसनीय एव अनुचित कार्यों से होने वाली समस्त क्षति की पूर्ति उसे अनिवार्य रूप से करनी पड़ेगी। यह धारा विनियोक्ताओं के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तथा उनकी पूर्णतया रक्षा करने वाली है।

(३) दड सम्बन्धी उपाय (Penal Remedies)—कम्पनी के प्रवर्तकों को अपनी अनुचित एव कपटपूर्ण कार्यवाहियों के लिए दड भी दिया जाता है। विधान की धारा १३७ तथा १४१–A के अनुसार किसी भी छल करने वाले अथवा अनुचित कार्य करने वाले प्रवर्तक को भारतीय दड विधान (Indian Penal Code) द्वारा पहले साधारण दड ही दिया जा सकता है, परन्तु इसके अतिरिक्त अशधारियों की शिकायत करने पर संयुक्त-स्कध कम्पनियों (Joint Stock Companies) के रजिस्ट्रार को उस कम्पनी तथा प्रवर्तकों के छल एव कपट पूर्ण कार्यों के अनुसन्धान (Investigation) करने का अधिकार है। सर्वप्रथम वह रजिस्ट्रार उनके कुकृत्यों का पता चलाता है और फिर प्रान्तीय सरकार (Provincial Govt) को उसकी सूचना दे देता है। उस सूचना को पाकर प्रान्तीय सरकार उन अभियुक्तों (Guilty persons) पर अभियोग चलाती है तथा कारावास आदि का कठोर दड भी देती है। इसके अलावा धारा २८२

के अनुसार मिथ्या विवरण पत्रिकाओं के प्रकाशित करने वाले समस्त प्रवर्तक कठोर कारावास या दंड पाने के अधिकारी हैं।

पूँजी की अभिवृद्धि (Raising of Capital)

कम्पनी की संस्थापना के उपरान्त एक प्रवर्तक का सर्वप्रथम यह कर्त्तव्य होता है कि वह कम्पनी की आवश्यक पूँजी बढ़ाने का कार्य करे। क्योंकि बिना पूँजी के कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता। यह कार्य दोनों प्रकार से किया जा सकता है। या तो किसी निजी व्यक्ति से धन लेकर अथवा जनता से धन की याचना करके। परन्तु जनता से याचना करने के लिए विवरण पत्रिका (Prospectus) का निर्माण करना अत्यावश्यक है। हाँ, इतना अवश्य है कि यदि किसी निजी व्यक्ति या मित्र अथवा निकट सम्बन्धी से धन लेकर कार्य प्रारम्भ किया जाता है तो उस समय विवरण पत्रिका के प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु ऐसी दशा में भी विवरण पत्रिका के स्थान पर एक साधारण विवरण (Statement) रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करना पड़ता है।

कोई भी कम्पनी अपनी सम्पत्ति या पूँजी के बढ़ाने के लिए कितनी ही पद्धतियाँ अपना सकती है। वह जनता में अपने अंश निर्गमित कर सकता है, ऋण पत्रों का प्रसार कर सकती है तथा जनता को धन जमा करने के लिए आमन्त्रित कर सकता है। परन्तु इतना आवश्यक है कि जब कभी किसी कम्पनी के अंशों या ऋण-पत्रों का निर्गमन जनता में किया जाय तो उनका अभिगोपन (Underwriting) होना चाहिए। अब शेष अध्याय में हम कम्पनी की निर्गमित प्रतिभूतियाँ तथा उनके अभिगोपन आदि पर विस्तार सहित विचार करेंगे।

प्रार्थित धन की सूची (Subscription List) —जब किसी कम्पनी की विवरण-पत्रिका का प्रचार सर्वसाधारण में पूर्णतया हो जाता है तो इसके उपरान्त कम्पनी अपने प्रार्थित-धन की सूची बनाती है। इसमें आवेदक का नाम, अंशों की संख्या तथा प्रार्थित धन की राशि लिखी रहती है। विवरण पत्रिका में एक आवेदन पत्र लगा रहता है। अंश क्रय करने के इच्छुक व्यक्ति इन आवेदन पत्रों को भरते हैं तथा उसे भरकर अंशों के याचित धन के सहित कम्पनी के कार्यालय अथवा कम्पनी के दलालों के समीप भेज देते हैं। प्रार्थित धन की सूची (Subscription list) आवेदन की अन्तिम तिथि तक खुली रहती है और विशेषतः उस समय तक तो पूर्णतया खुली रहती है जब तक कि प्रार्थित धन की न्यूनतम राशि कम्पनी को प्राप्त नहीं हो जाती। उस धन के प्राप्त होने पर यह बन्द कर दी जाती है और वितरण (Allotment) प्रारम्भ हो जाता है। अंशों के वितरण से तात्पर्य यह है कि संचालक गण जितने अंश किसी आवेदक को देना चाहते हैं तथा जितने अंशों की प्रार्थना वह व्यक्ति करता है उसका निर्णय करके प्रार्थी व्यक्ति के नाम अंशों की

संख्या लिख दी जाती है। यह वितरण का कार्य समाप्त होते ही एक पत्र द्वारा आवेदक को इसकी सूचना भेज दी जाती है।

अंशों का वितरण (Allotment of Shares):—कम्पनी विधान की धारा १०१ के अनुसार ही कोई कम्पनी अपने अंशों का वितरण (Allotment) कर सकती है। यह धारा दो शीर्षकों में विभक्त है :—(१) जहाँ पर कि अंशों के लिये जनता से प्रस्ताव किया जाता है, तथा (२) जहाँ पर कि अंशों के लिए जनता से प्रस्ताव नहीं होता।

यदि जनता से प्रस्ताव किया जाता है तो, कोई भी कम्पनी निम्नांकित निर्बन्धों की पूर्ति किये बिना किसी प्रकार भी अंश वितरण नहीं कर सकती —

(१) जब तक प्रार्थित या याचित धन का न्यूनतम अंश उसे प्राप्त नहीं होता। न्यूनतम अंश से तात्पर्य यह है कि वह राशि इतनी हो जिससे (अ) कम्पनी क्रय करने वाली सम्पत्ति को खरीद सके, (ब) आरम्भिक व्ययों तथा अभिगोपन आदि के आयोग (Commission) दे सके, (स) इन प्रारम्भिक खर्चों के लिए उधार लिए हुए धन को चुका सके तथा (द) अपना कार्य प्रारम्भ कर सके।

(२) जब तक अंशों के अंकित मूल्य (Nominal value) का कम से कम ५% भाग नक़द उसे प्राप्त नहीं होता।

(३) आवेदकों से प्राप्त समस्त धन एक निश्चित अधिकोष या बैंक में उस समय तक जमा रहेगा जब तक कि धारा १०३ के अनुसार वह कम्पनी अपना व्यवसाय प्रारम्भ करने का प्रमाण पत्र प्राप्त नहीं करती। वह सारा रुपया प्रमाण-पत्र के अभाव में आवेदकों को ही लौटा दिया जायगा। अतः ऐसी दशा में भी वितरण का कार्य सम्भव नहीं।

(४) यदि न्यूनतम याचित पूँजी विवरण-पत्रिका के प्रकाशित होने की तिथि से १८० दिवसों के अन्दर प्राप्त नहीं होती तो आगामी १० दिवसों में आवेदन-राशि (Application money) को लौटाना अनिवार्य है अन्यथा १९० वें दिन के समाप्त होते ही कम्पनी के सचालक वैयक्तिक एव सामूहिक रूप से ७ प्रतिशत ब्याज सहित इस राशि को लौटाने के उत्तरदायी होंगे। परन्तु यदि प्रवर्तक आदि यह सिद्ध करदें कि उस राशि की हानि उनके दुराचरण एव असावधानी से नहीं हुई है तो वे इस दायित्व से मुक्त हो सकते हैं।

यदि प्रार्थित धन के लिए जनता से प्रस्ताव नहीं किया जाता तो, निम्नलिखित बातों की पूर्ति किये बिना कोई भी कम्पनी अपने अंशों का वितरण (Allotment) नहीं करती,—

(१) जब तक उसे अपनी प्रार्थित धन-राशि का न्यूनतम अंश प्राप्त नहीं होता। यहाँ न्यूनतम अंश से तात्पर्य यह है कि वह (अ) संघ-सीमानियम एव अन्तर्नियमों में

निश्चित की हुई धन राशि के बराबर होना चाहिए अथवा विवरण-पत्रिका के स्थान पर दिए गए विवरण में निर्दिष्ट राशि के बराबर होना चाहिए, (आ) या, अगर किसी प्रकार की धन-राशि का वहाँ निर्देश नहीं है तो निर्गमित अंशों की समस्त अंश-पूँजी के बराबर होना चाहिए।

(२) जब तक अंशों के अंकित मूल्य का ५ प्रतिशत भाग नकद रुपयों में कम्पनी को प्राप्त नहीं होता।

(३) जब तक वह कम्पनी रजिस्ट्रार के यहाँ विवरण पत्रिका के स्थान पर अन्य विवरण (Statement) प्रस्तुत नहीं करती।

अनियमित वितरण के परिणाम (Effect of Irregular Allotment) :—विधान की धारा १०१ के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपर्याप्त पूँजी (Insufficient Capital) के द्वारा कम्पनी का परिचालन नहीं कर सकता। यदि उक्त धारा के विरुद्ध किसी प्रकार भी अंशों का वितरण किया जाता है तो वह अनियमित वितरण (Irregular allotment) कहलाता है। यदि किसी प्रकार भी ऐसा अनियमित वितरण होता है तो आवेदक परिनियत सभा (Statutory meeting) से १ मास के अन्दर ही अपना अनुबन्ध विच्छेद करा सकता है उसके बाद उसे कोई अधिकार नहीं रहता। इसी प्रकार यदि उस कम्पनी की कोई परिनियत सभा नहीं हुई है या उक्त सभा के होने के उपरान्त अंशों का वितरण हो चुका है तो भी वितरण-तिथि से १ मास के अन्दर ही वह आवेदक अपना अनुबन्ध विच्छेद करा सकता है। उसके उपरान्त अर्थात् १ मास की अवधि व्यतीत हो जाने पर फिर विच्छेदन का उसे कोई अधिकार नहीं रहता।

वितरण प्रत्याय (Return of Allotment) :—धारा १०४ के अनुसार प्रत्येक अंशधारी कम्पनी को वितरण-कार्य के उपरान्त निम्नलिखित कार्य १ माह के अन्दर ही करने होंगे :—

(१) रजिस्ट्रार के यहाँ एक ऐसा निर्दिष्ट वितरण प्रत्याय (Return of allotment) भेजना होगा जिसमें वितरित अंशों की संख्या, उनका अंकित मूल्य (Nominal Value), वितरित अंशों वाले व्यक्तियों के नाम, पते, विवरण तथा अंशों पर प्राप्त हुआ धन, प्राप्त होने वाला धन तथा प्राप्य धन (amount Payable) का पूर्ण उल्लेख होगा।

(२) यदि रोकड़ या नकदी के अतिरिक्त पूर्णप्रदत्त (fully paid) तथा अंशतः प्रदत्त (Partly paid) अंशों का वितरण किया गया है तो रजिस्ट्रार के पास निरीक्षण तथा परीक्षण के लिए उन समस्त अनुबन्धों को वितरण के नाम आदि के सहित भेज देना पड़ेगा तथा ऐसे समस्त अनुबन्धों की प्रतिलिपियाँ भी रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करनी पड़ेंगी।

टिप्पणी :—अंशों की याचना (Calls on shares), अंश-अपहृति (Forfeiture of shares) तथा अंश-प्रमाणपत्र (Share certificate) का विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा।

व्यवसाय का आरम्भ (Commencement of Business) —धारा १०३ के अनुसार प्रत्येक सार्वजनिक (Public) कम्पनी के लिए व्यवसाय आरम्भ करने से पूर्व निम्नांकित बातों की पूर्ति करना आवश्यक होता है —

(१) उस अपने रोकड़-प्राप्त अंशों (Shares payable in cash) का वितरण न्यूनतम प्रार्थित पूँजी के बराबर ही करना चाहिए। ऐसा न हो कि उस पूँजी से वे कम रहें। न्यूनतम प्रार्थित पूँजी का विवेचन पहले किया जा चुका है।

(२) कम्पनी के प्रत्येक सचालक को अपने लिए हुए अंशों तथा नकद रुपया जमा करने वाले अंशों का धन कम्पनी में जमा कर देना चाहिए। वह धन उतना ही होना चाहिए जितना कि आवेदन (Application) या वितरण (Allotment) के समय सर्व साधारण (Public) से लिया जाता है।

(३) कम्पनी के सचालक या कार्यवाह (Secretary) को रजिस्ट्रार के पास यह वैधानिक घोषणा (Statutory declaration) प्रस्तुत (File) करनी चाहिए कि उपर्युक्त सभी बातों की पूर्ति कम्पनी द्वारा कर दी गई है।

(४) यदि उस कम्पनी की विवरण-पत्रिका नहीं है तो उसके स्थान पर एक विवरण (Statement) रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करना चाहिए।

इस प्रकार वैधानिक घोषणा (Statutory declaration) के प्रस्तुत करने के उपरान्त रजिस्टार कम्पनी को व्यवसाय आरम्भ करने के लिये प्रमाण-पत्र दे देता है। इसके प्राप्त होने पर ही कम्पनी अपना व्यवसाय प्रारम्भ कर सकती है। कम्पनी के समस्त अनुबन्ध इस प्रमाण-पत्र से पहले केवल अस्थिर एवं अस्थायी माने जाते हैं, परन्तु इसके प्राप्त होते ही कम्पनी तथा अन्य पक्षों के बीच होने वाले विगत अनुबन्ध (Contract) भी दृढ स्थिर समझे जाने लगते हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि उक्त धारा के अनुसार प्रार्थित धन के प्रस्ताव के लिए, अंशों तथा ऋण पत्रों के विभाजन के लिए तथा ऋण-पत्रों पर प्राप्त होने वाले किसी भी धन के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं है। ये समस्त बातें स्वाभाविक रीति से चलती रहती हैं।

Test Questions

1 "An industrial label such as Joint Stock Company may bear very different meanings in different circumstances Distinguish between the important kinds of joint stock companies in this country. (Bombay, B. Com 1930)

2. There are certain formalities which are to be complied with by a limited company before it is incorporated and also subsequent.

ly when it is entitled to commence business State the same as precisely as you can (Agra, B Com 1946)

3 Describe the *successive stages in the floatation of a joint* stock company (Alld B Com 1936)

4 What restrictions are placed on the choice of a name of a company? Can it change its name and dispense with the use of the word Ltd as part of its name? If so subject to what conditions? (Alld B Com 1938)

5 A company registerd in the U P decides to shift its registered office to the Bombay Presidency Is it legally permissible and if so what steps will have to be taken to effect the desired change? (Agra, B Com 1944)

6 At what stage of its formation is a company entitled to issue a prospectus? What are the chief facts which the prospectus of a *company is required by law to disclose?* (Alld B Com 1937)

7 What information would you expect to find in the prospectus of a company? How would you scan it from the point of view of a investor? (Alld B Com 1936)

8 What is a prospectus? Critically discuss its contents? (Bombay, B Com 1945)

9 Explain the following statements which appear on a company prospectus —

(a) Consent of the Central Government has been obtained for this issue It must however be distinctly understood that in *giving* their consent the Government of India do not take any responsibility for the *financial soundness of any scheme or for the correct*ness of any of the statements made or opinions *expressed with regard to them*

(b) Application will be made in due course to the Committees of the Bombay and Calcutta Stock Exchanges for permission to deal in the shares now being issued (Agra, B Com 1944)

10 What is the *difference* between a prospectus and a statement in lieu of prospectus? State by whom and when each one of *them is filed* (Agra, B Com 1946)

11 What are the statutory requirements to be compiled with before the share and debentures of a foreign company can be offered *for* sale in British India? (Agra, B Com 1945)

चौथा अध्याय

कम्पनी का संगठन (२)

कम्पनी की कार्य-पद्धति —कम्पनी का स्वय कोई अस्तित्व नहीं होता। कम्पनी कहने से हमारा अभिप्राय कुछ व्यक्तियों के समूह से होता है अर्थात् जब हम यह कहते हैं कि अमुक कम्पनी का कार्य बड़ी अच्छी प्रकार चल रहा है, तो इस कथन का यही अर्थ होता है कि उस कम्पनी के समस्त सदस्य भली प्रकार कार्य कर रहे हैं, और सामूहिक प्रयत्न द्वारा अच्छा लाभ प्राप्त करके अपने व्यवसाय को दृढ, स्थिर एव स्थायी बनाने में सलग्न रहते हैं। इससे यह परिणाम निकलता है कि किसी भी कम्पनी के कार्य-सचालन में उसके सदस्यों का अधिक हाथ रहता है। स्वय कम्पनी कोई कार्य नहीं करती, वरन् उसके सदस्य ही उसकी प्रगति एव उन्नति के उत्तरदायी होते हैं। कम्पनी की व्यवस्था या प्रबन्ध आदि में भी सभी सदस्य कार्य नहीं करते। केवल तीन या चार ऐसे व्यक्ति होते हैं जो उसके व्यवसाय में अत्यन्त निपुण, दक्ष तथा कुशल होते हैं और वे ही लोग कम्पनी की सारी व्यवस्था अपनी बुद्धि एव कार्य कुशलता के द्वारा करते रहते हैं। सारिणी 'अ' (Table A) के नियम ७१ के अनुसार कम्पनी के व्यवसाय की व्यवस्था सचालकों (Directors) के हाथ में रहती है। ये सचालक भी कम्पनी के ही सदस्य होते हैं, परन्तु अन्य सदस्यों की अपेक्षा अधिक कुशल तथा अधिक योग्य होते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत-सी कम्पनियों में व्यवस्था या प्रबन्ध-कार्य के लिए प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं (Managing agents) की भी नियुक्ति की जाती है। इस प्रकार सचालकों, प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं, सदस्यों तथा अन्य अशधारियों द्वारा किया हुआ प्रबन्ध या कम्पनी की व्यवस्था बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस व्यवस्था तथा सचालकों के समस्त कार्यों के विषय में अब हम आगे चलकर विस्तार सहित विवेचन करेंगे।

धारा ८८ के अनुसार कम्पनी को अपने व्यवसाय के लिए कुछ अनुबन्ध (Contracts) करने पड़ते हैं। परन्तु उन अनुबन्धों के लिए यह कदापि आवश्यक नहीं कि सदैव लिखित ही किए जायें और उन पर कम्पनी की मुहर या मुद्रा (Seal) अकित रहे। कभी-कभी ये अनुबन्ध मौखिक भी होते हैं। जैसे प्राय सर्व साधारण में देखा जाता है कि वे आपस में किसी बात के लिए प्रतिज्ञा बद्ध हो जाते हैं और प्रतिज्ञाओं का कोई भी लिखित प्रमाण नहीं होता। यही दशा कम्पनी की भी है कि

व्या० स०—१०

एक कम्पनी भी सर्वसाधारण की भाँति परस्पर अनुबन्ध कर सकती है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति लिखित अनुबन्ध (Contract) ही करना चाहता है तो कम्पनी के लिए यह आवश्यक है कि वह भी उससे लिखित अनुबन्ध करे। इसके अतिरिक्त समस्त अनुबन्ध किसी उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति के सम्मुख ही होने चाहिए। उत्तरदायित्वपूर्ण कहने से यही अभिप्राय है कि कम्पनी के सचालकों अथवा प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के सम्मुख यदि अनुबन्ध किए जायेंगे तो वे अधिक महत्वशाली होंगे। साथ ही कम्पनी भी उन अनुबन्धों को किसी प्रकार अस्वीकार नहीं कर सकेगी। अत समस्त अनुबन्धों के लिए यह परमावश्यक है कि वे कम्पनी के उत्तरदायी व्यक्तियों के द्वारा किये जायें जिससे जनता तथा कम्पनी के मध्य किसी प्रकार की आशका या सन्देह के लिए स्थान न रहे।

धारा ८६ के अनुसार यदि कोई उत्तरदायी सचालक या अधिकृत प्रबन्ध अभिकर्त्ता (Managing agents) कम्पनी की ओर से किसी विनिमयपत्र (Bill of Exchange), हुडी या प्रॉमिसरी नोट को बनाता है या भुगतान करता है अथवा प्राप्त करता है या पृष्ठांकित (Endorse) करता है तो कम्पनी उसके विषय में पूर्णतया अनुबद्ध रहती है। परन्तु इतना अवश्य है कि इस प्रकार का कार्य करते समय अपने व्यक्तित्व की रक्षा के लिए उसे अपने नाम के नीचे 'कम्पनी के लिए' या "कम्पनी की ओर से" शब्द अवश्य लिखना चाहिए।

टिप्पणी —सार्वमुद्रा (Common seal), सभा (Meeting) तथा प्रस्ताव (Resolution) सम्बन्धी नियमों का विवेचन अगले अध्याय में किया जायेगा।

सचालक (Directors)

कम्पनी के सचालकों से सम्बन्धित समस्त नियम धारा ८३-A से ८७ तक में तथा सारिणी-'अ' के नियम ७१ तथा ७८ से ८२ तक में पाये जाते हैं। सारिणी 'अ' का नियम ७१ समस्त सार्वजनिक (Public) या व्यक्तिगत (Private) कम्पनियों पर लागू होता है, परन्तु नियम ७८ से ८२ तक केवल सार्वजनिक कम्पनियों से ही सम्बन्धित हैं। ये नियम सार्वजनिक कम्पनियों के साथ साथ उनकी सहायक कंपनियों पर भी लागू होते हैं। कम्पनी विधान के अनुसार सचालकों की नियुक्ति, उनके अधिकार तथा सत्तायें ये सभी बातें सघ अन्तर्नियम (Articles of Association) द्वारा सम्पन्न होती हैं। परन्तु यदि कम्पनी अपने अन्तर्नियमों को रजिस्टर्ड या पञ्जीकृत नहीं कराती, तो उक्त समस्त बातें सारिणी 'अ' (Table A) के अनुसार की जाती हैं।

परिभाषा—यह आश्चर्य की बात है कि कम्पनी विधान में सचालक की व्याख्या पूर्णरूप से नहीं मिलती। धारा २ (५) के अनुसार कम्पनी के सचालन कार्य को करने वाला कोई भी व्यक्ति 'सचालक' कहलाता है, चाहे उसका पद कुछ

भी क्यों न हो। इस तरह किसी भी सचालक का महत्त्व उसके कार्य से है, केवल उसके नाम से नहीं। यदि कोई व्यक्ति सचालन-कार्य तो करता नहीं, परन्तु सचालक कहलाने की अभिलाषा रखता है तो वह व्यक्ति 'सचालक' नहीं होता। सचालक तो पास. वही व्यक्ति हो सकता है जो समस्त उत्तरदायित्व को स्वीकार करके एक कम्पनी का सचालन एव उसकी व्यवस्था अत्यन्त तत्परता के साथ करता हो। नियम ७१ के अनुसार एक सचालक का कार्य कम्पनी का नियत्रण करना है। यह दूसरी बात है कि वे लोग अपने उत्तरदायित्व को किसी अन्य प्रबन्धक (Manager) या प्रबन्ध-अभिकर्त्ता (Managing agents) को सौंप दें तथा उनसे कम्पनी की व्यवस्था करायें। परन्तु ऐसी परिस्थिति में भी कम्पनी के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व सचालकों पर ही रहता है। एक सीमित कम्पनी (Limited Company) किसी दूसरी कम्पनी की सचालक हो सकती है। सामूहिक रूप से सचालकों को "सचालक सभा" (Board of Directors) अथवा "शासन सस्था" (Govern ng body) या "व्यवस्थापक-समिति" (Committee of Management) कहते है। इस प्रकार कोई भी नाम उसे क्यों न दिया जाय, परन्तु वैधानिक दृष्टि से तो एक सचालक वही व्यक्ति कहलायेगा जो कम्पनी के समस्त दायित्व (Liabilities) एव जिम्मेदारियों (Responsibilities) को धारण करता हुआ व्यवस्था एव प्रबन्ध का कार्य करता है।

सचालकों की सख्या (Number of Directors)—धारा ८३-A के अनुसार किसी सार्वजनिक कम्पनी की सहायक (Subsidiary) एव व्यक्तिगत (Private) कम्पनी को छोड़कर, सभी कम्पनियों के लिए तीन सचालक रखना अनिवार्य है। इस तरह किसी भी व्यक्तिगत कम्पनी के लिए सचालकों की आवश्यकता नहीं दिखाई देती। इतना अवश्य है कि वह व्यक्तिगत (Private) कम्पनी किसी सार्वजनिक कम्पनी की सहायक (Subsidiary) न हो। परन्तु नियम ७१ के अनुसार प्रत्येक कम्पनी की व्यवस्था के लिए सचालकों का होना अनिवार्य है। अत यह नियम एक व्यक्तिगत (Private) कम्पनी पर भी लागू होता है और उसे भी इस नियमानुसार सचालक रखना पड़ता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि व्यक्तिगत कम्पनियों के भी सचालक होते हैं। यद्यपि वहाँ तीन सचालक नहीं होते, परन्तु फिर भी सचालकों का कार्य करते हुए एक दो व्यक्ति अवश्य रहते हैं। यह बात स्पष्ट है कि यदि कोई व्यक्तिगत कम्पनी किसी सार्वजनिक कम्पनी की सहायक न होने के कारण किसी सचालक को नियुक्त नहीं करती, तो जिन अशधारियों (Shareholders) के हाथ में प्रबन्ध कार्य रहता है, वे ही वैधानिक दृष्टि से सचालक कहे जा सकते हैं; क्योंकि सारी व्यवस्था का भार उन लोगों पर ही रहता है और वे लोग नाम से नहीं वरन् अपने कार्य से ही सचालक होते हैं।

धारा ८६ J के अनुसार प्रबन्धकर्त्ता से रहित कोई भी कम्पनी केन्द्रीय

सरकार की अनुमति के बिना अपने संचालकों की संख्या बढ़ाने में सर्वथा असमर्थ रहती है।

संचालकों का निर्वाचन (Selection of Directors)—उपर्युक्त विवेचन से यह तो पूर्णतया स्पष्ट होगया होगा कि किसी भी कम्पनी की व्यवस्था के लिए संचालकों का होना अत्यावश्यक है क्योंकि इन लोगों के द्वारा ही कम्पनी की समस्त कार्य-नीति निश्चित की जाती है, ये ही लोग कम्पनी की उन्नति एवं प्रगति के उत्तरदायी होते हैं तथा इनके द्वारा ही कम्पनी का व्यवसाय अत्यधिक फलता फूलता हुआ अपने अंशधारियों को भी लाभान्वित करता है। इसलिए संचालकों की नियुक्ति के समय बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है। संचालकों के ऊपर ही जब कम्पनी का भविष्य निर्भर रहता है तो इनका निर्वाचन करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक संचालक योग्य, अनुभवी तथा दूरदर्शी हो। उसमें व्यापारिक योग्यता तथा शासन योग्यता के साथ-साथ तान्त्रिक योग्यता (Technical knowledge) का होना भी अनिवार्य है। उसमें विगत अनुभवों के साथ ही प्रतिष्ठा एवं ख्याति भी होनी चाहिए क्योंकि एक असम्मानित एवं अप्रतिष्ठित व्यक्ति द्वारा जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और फिर कोई भी अंशों में धन देने के लिए तैयार नहीं होता। बहुधा देखा गया है कि संचालक लोग अपने कार्य की महत्ता स्वीकार न करके कम्पनी की व्यवस्था में ध्यान नहीं देते। इसका परिणाम कम्पनी की असफलता के रूप में दिखाई देता है। ऐसे अनुत्तरदायी संचालकों से कभी लाभ नहीं होता और इनको दिया गया पारिश्रमिक भी व्यर्थ जाता है। अतः उस धन की सार्थकता इसी में होती है कि एक संचालक अपनी योग्यता एवं निपुणता से अंशधारियों के हित का ध्यान रखते हुए व्यवस्था करे। ऐसा करने पर ही वह सफल संचालक कहला सकता है और ऐसे व्यक्तियों को ही संचालक नियुक्त करना सर्वथा उपयुक्त होता है।

जब तक कोई संचालक अपने कार्य के विषय में पूर्ण रूप से परिचित नहीं होता, तब तक वह व्यवस्था कार्य भला दक्षता एवं निपुणता के साथ कैसे कर सकता है? इसलिए उसमें दक्षता के साथ-साथ अन्य आवश्यक बातों की जानकारी भी होना अनिवार्य माना गया है। उस व्यवसाय की सफल-व्यवस्था के लिए कम्पनी विधान (Company law) का जानना जरूरी है। साथ ही उसे अधिकोषण तथा मुद्रा चलन (Banking and Currency), अर्थशास्त्र, लेखा कर्म (Accountancy), अर्थ व्यवस्था तथा मनोविज्ञान (Finance and Psychology) एवं कम्पनी के संघ सीमानियम तथा अन्तर्नियमों (Memorandum and Articles) से भी परिचित होना चाहिए। कम्पनी के समस्त अधिकारों का ज्ञान रखना तो उसके लिए परमावश्यक है। यदि किसी कम्पनी के दो संचालक उपर्युक्त सभी बातों की अच्छी जानकारी

रखते हुए कम्पनी के व्यवसाय का तान्त्रिक ज्ञान (Technical knowledge) भी रखते हैं तथा एक सचालक अच्छा लेखापाल (Accountant) होता है तो कम्पनी की व्यवस्था अत्यन्त सुन्दर एवं सुदृढ रूप से हो सकती है।

उपर्युक्त सभी बातें यद्यपि अत्यन्त आवश्यक होती हैं; परन्तु भारतवर्ष में इन समन्त योग्यताओं से युक्त व्यक्त मिलना तनिक कठिन है। इतना अवश्य है कि इनमें से अधिकाश बातों की योग्यता रखने वाले व्यक्तियों का अभाव नहीं। अत' निर्वाचन के समय ऐसी ही योग्यताओं का ध्यान रखकर किसी व्यक्ति को सचालक के लिए चुनना चाहिए। विधान के अनुसार सभी सचालक सयुक्त रूप से व्यवस्था का कार्य करते हैं। अत प्रबध या व्यवस्था में किसी एक व्यक्ति का हाथ नहीं होता और न एक व्यक्ति केवल उसके लिए जिम्मेदार होता है। व्यवस्था का कार्य बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इसके लिए बड़ी कुशलता, योग्यता एव दूरदर्शिता की आवश्यकता रहती है। इसलिए किसी अनुभवी तथा विशेषज्ञ (Expert) को ही इसमें हाथ डालना चाहिए और उसी की सलाह से व्यवस्था कार्य सम्पादन होना चाहिये। प्राय प्रत्येक कम्पनी में इसीलिये दो प्रकार के सचालक होते हैं। कुछ तो बड़े ही कुशल एव अनुभवी होकर कार्यशील रहते हैं और कुछ कुशल तथा अनुभवी तो होते हैं परतु उतने कार्यशील नहीं रहते। अत इन्हें दो नाम दिये जा सकते हैं—(१) सक्रिय सचालक (Active Directors) तथा (२) निष्क्रिय सचालक (Passive Directors)। सक्रिय संचालकों पर ही कम्पनी की व्यवस्था का सारा भार रहता है। वे ही उसकी कार्य-नीति का निर्धारण करते हैं तथा उसका नियन्त्रण करते हैं। ये लोग प्रायः प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं (Managing agents) द्वारा मनोनीत (Nominated) होते हैं। ये लोग अपना समस्त जीवन व्यवसाय में ही व्यतीत करते हैं और व्यवसाय से अपना पुत्रवत् प्रेम रखते हैं। इनकी यह कार्य-प्रणाली बहुधा सुसगठित एव सफल कम्पनियों में देखी जा सकती है। ये लोग बहुधा कम्पनी के कार्यालयों में ही रहते हैं और क्रम से (In rotation) हटाये नहीं जाते। ये ही ऐसे लोग होते हैं जिनमें तान्त्रिक योग्यता तथा व्यवसाय को पूर्ण पटुता होती है। इनकी किसी भी कार्य-प्रणाली में अन्य निष्क्रिय-सचालकों को भी हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होता, परन्तु ये उन सचालकों के कार्यों में पूर्णतया हस्तक्षेप कर सकते हैं। परन्तु जब ऐसे सचालक ही किसी कम्पनी को सारा व्यवस्था करते रहते हैं तो दूसरे प्रकार के निष्क्रिय सचालकों (Passive Directors) की क्या आवश्यकता है? यदि थोड़ा ध्यान देकर विचार करें तो इन निष्क्रिय सचालकों की महत्ता का भी पता चल सकता है। निम्नलिखित कुछ ऐसी ही बातें हैं जिसके कारण एक कम्पनी में इन निष्क्रिय-संचालकों को भी स्थान दिया जाता है। वे सक्षेप में इस प्रकार हैं —

(१) नियमानुसार प्रत्येक सार्वजनिक (Public) कम्पनी में तीन संचालक होने अनिवार्य हैं। अतः उस नियम का पालन करने के लिए ही एक अच्छे योग्य संचालक के अतिरिक्त दो ऐसे ही निष्क्रिय संचालक रख लिये जाते हैं।

(२) कभी-कभी किसी व्यक्ति को केवल उसकी प्रतिष्ठा तथा सम्मान के कारण ही कम्पनी के संचालकों में स्थान दे दिया जाता है। कारण भी स्पष्ट है क्योंकि उसके नाम के कारण ही जनता उस नई कम्पनी के अंश, ऋण-पत्र आदि खरीद लेती है। दूसरे ये प्रबन्ध तथा कम्पनी के नियन्त्रण आदि में भी सहायक होते हैं। यद्यपि ऐसे संचालकों की नियुक्ति से कम्पनी को विशेष लाभ नहीं होता, क्योंकि कभी-कभी उनके कारण कुरीतियों के बढ़ने की भी आशङ्का रहती है, परन्तु फिर भी कंपनी के प्रारम्भिक काल में ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति उसकी संस्थापना तथा साख (Goodwill) स्थापित करने में अत्यधिक लाभकारी सिद्ध होते हैं।

(३) कभी कभी कम्पनियों के विशेष हित के लिए ऐसे निष्क्रिय संचालकों की नियुक्ति कर ली जाती है क्योंकि ये लोग कम्पनी की साख बढ़ाने में तथा उसे व्यापारिक या सरकारी सहायता दिलाने में भी सहायक होते हैं। ऐसे व्यक्ति कभी-कभी अधिक से अधिक ऋण-पत्र खरीद लेते हैं। अतः ऋण पत्रधारियों के संचालक आदि की भाँति कार्य कर सकते हैं और कम्पनी के विशेष हितों की रक्षा करने के कारण चुन लिये जाते हैं।

(४) अधिकोषण कम्पनी (Banking Company) तथा बीमा कम्पनियाँ (Insurance Companies) में तो ऐसे निष्क्रिय संचालक अत्यधिक लाभकारी सिद्ध होते हैं। कारण यह है कि इन कम्पनियों का व्यवसाय बहुधा संचालकों की प्रतिष्ठा, योग्यता एवं प्रभाव पर ही निर्भर रहता है। अतः इन लोगों के केवल प्रभाव से ही ऐसी कम्पनियाँ पर्याप्त व्यवसाय (Business) प्राप्त कर लेती हैं। यही कारण है कि उपर्युक्त कम्पनियों में संचालकों की अधिकता रहती है।

(५) कुछ संचालक परस्पर समझौते पर रख लिए जाते हैं। भारतवर्ष में ऐसी कुछ प्रबन्ध करने वाली एजेन्सियाँ हैं जो प्रायः अन्य कम्पनियों की भी व्यवस्था करती रहती हैं। इन व्यवस्थापक एजेंसियों में से आवश्यकतानुसार कम्पनियों में संचालक आते जाते रहते हैं। ये एजेंसियाँ परस्पर सम्बन्ध तो बनाये ही रखती हैं, अतः कैसा भी संचालक क्यों न नियुक्त होजाय प्रबन्ध तो सामूहिक रूप से एजेंसी ही करती है। इसी से कभी कभी निष्क्रिय संचालक भी नियुक्त कर लिए जाते हैं और वे बहुधा इन एजेंसियों या प्रबन्ध संस्थाओं के ही सदस्य होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह भली प्रकार समझ में आगया होगा कि कम्पनी के संचालकों की नियुक्ति में कितनी ही बातें विचारणीय रहती हैं। जिस समय

भारतीय कम्पनी विधान (सशोधित) १६३६ केन्द्रीय धारा-सभा (Central Legislature) में उपस्थित किया गया था तो अधिकाँश सदस्य यह चाहते थे कि कम्पनी के सचालकों में उसके समस्त हितों के प्रतिनिधि रहने चाहिए। इस संशोधन (Amendment) का विरोध करते हुए माननीय श्री नृपेन्द्र सरकार ने विभिन्न हितों वाले संचालकों की कार्य-प्रणाली का विवेचन बड़े उपहास के सहित इस प्रकार किया था :—

"नाना प्रकार के हितों का प्रतिनिधित्व तथा भारत सरकार के विधान की प्रजातन्त्रात्मक योजना को स्वीकार करते हुए ऐसे विभिन्न हित वाले संचालकों की आदर्श सभा (Board) इस प्रकार कार्य करेगी। श्री सत्यमूर्ति एक पक्ष के प्रतिनिधि हैं, श्री राजा अस्पृश्य जातियों के प्रतिनिधि हैं। श्री बजोरिया सनातन-धर्म वालों का प्रतिनिधित्व करते हैं और श्री जोशी मजदूरों के प्रतिनिधि हैं। माननीय श्री होमा मोदी एक सामान्य व्यवसाय की देख भाल करते हैं। अब इन समस्त संचालकों की सभा का कार्य किस प्रकार का होगा, यह भी देखना चाहिए। कल्पना करो कि सचालकों की यह सभा (Board) कम्पनी के व्यवसाय के साथ-साथ एक मिल और चलाना चाहती है और उस मिल के लिए मशीनें खरीदने की इच्छुक है। उस समय सर्वप्रथम श्री होमी मोदी, जो कि अच्छे व्यवसायी हैं वे तो कहते हैं कि, "हमारे पास पर्याप्त धन है और धन से ही धन कमाया जाता है। मेरा सिद्धान्त भी यही है। अत में तो एक नई मिल अपनी अलग ही चलाऊँगा।" श्री सत्यमूर्ति (उपर्युक्त प्रस्ताव को सुनकर) यह कहते हैं कि, "ऐसा कदापि उपयुक्त नहीं। क्या हम विदेशी मशीनें खर देंगे ? मे तो कभी ऐसी अनुमति नहीं दूँगा। हमें तो अपने देश की ही मशीनरी प्रयोग करनी चाहिए और उस समय तक अभी प्रतीक्षा करनी चाहिए जब तक हमारे यहाँ ही विदेशी जैसी मशीनें न बनें।" श्री जोशी किसी प्रकार का भी विरोध मशीनें खरीदने में नहीं करते, वरन् वह इतना ही चाहते हैं कि मिल में एक सप्ताह के अन्दर केवल २० घंटे ही काम हो, मजदूरों को दूनी मजदूरी दी जाय, तथा बिना सूचना दिए हुए यदि कोई मजदूर चला जाता है तो उसे भी सब प्रकार की सुविधायें (Compensation) दी जायें। अब समस्त सचालकों के हितों द्वारा सचालित कार्य फिर कैसा होगा, यह आप देख सकते हैं।"

"मैं यह तो स्वीकार करता हूँ कि सचालकगण शासक होते हैं। उन पर व्यवस्था का उत्तरदायित्व रहता है। कुछ कार्यों की उन्हें स्वतन्त्रता भी रहती है जिससे उनकी योजनाओं का क्रम भग नहीं होता। उन्हें सदैव अवसर, धन तथा बाजार की स्थिति के अनुसार कार्य करना पड़ता है। अतः आप लोगों के मस्तिष्क में यह विचार नहीं आना चाहिए कि संचालक-सभा (Board of Directors) में विभिन्न हित वाले ही पुरुष रहें। कम्पनी की व्यवस्था में तो सबका हित लाभांश (Dividend) प्राप्ति की ओर ही रहता है।"

संचालकों की नियुक्ति (Appointment of Directors)—सार्वजनिक कम्पनियों की धारा ८३-ब (१) के अनुसार यदि किसी सार्वजनिक कम्पनी के अन्तर्नियम में किसी प्रकार का उल्लेख संचालकों के लिए नहीं होता तो उनकी नियुक्ति के समय तक सीमानियम (Memorandum) पर हस्ताक्षर करने वाले व्यक्ति ही संचालक का कार्य करते रहते हैं। संचालकों की नियुक्ति (Appointment) व्यापक सभा में की जाती है। यदि किसी संचालक का स्थान बीच में ही रिक्त हो जाता है तो संचालक-सभा (Board of Directors) उसकी पूर्ति किसी अन्य मनुष्य से कर सकती है। परन्तु उस संचालक के नियुक्त होते ही उस मनुष्य को हटा दिया जाता है। इसी प्रकार धारा ८७-I के अनुसार किसी भी सार्वजनिक कम्पनी के संचालकों में से १ २ संचालकों को प्रबन्ध अभिकर्त्ता ही नियुक्त करेंगे चाहे फिर कम्पनी के अन्तर्नियमों में किसी भी प्रकार का आयोजन (Provision) क्यों न हो?

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि किसी सार्वजनिक कम्पनी के अन्तर्नियमों (Articles) में संचालकों की नियुक्ति का आयोजन (Provision) नहीं है तो सीमानियम पर हस्ताक्षर करने वाले व्यक्ति ही प्रथम संचालक कहलाते हैं और अन्य संचालकों की नियुक्ति कम्पनी की व्यापक-सभा (General meeting) में की जाती है। इस आयोजन के द्वारा सर्वसाधारण को पूर्ण विश्वास हो जाता है कि संचालकों की नियुक्ति अंशधारियों के हाथ में ही है। परन्तु यह तभी सम्भव है जबकि किसी कम्पनी के अन्तर्नियमों (Articles) में कुछ उल्लेख नहीं रहता। बहुधा कम्पनी के अन्तर्नियमों में संचालकों सम्बन्धी सभी बातें लिखी रहती हैं। संचालकों की नियुक्ति, उनकी संख्या, उनकी अंशगत योग्यता तथा उनके निष्कासन (Removal) आदि का विस्तार सहित विवेचन रहता है। यदि उपर्युक्त सभी बातें अन्तर्नियमों में दी हुई हैं तो धारा ८३-ब (१) व्यर्थ सिद्ध हो जाती है और वह उस कम्पनी पर लागू नहीं होती। अन्तर्नियमों की पद्धति के अनुसार किसी भी कम्पनी के संचालक निम्न रीति से नियुक्त किए जाते हैं —

(१) प्रथम संचालकों की नियुक्ति प्रवर्त्तक करते हैं (ये प्रवर्त्तक वे ही लोग होते हैं जो आगे चलकर प्रबन्ध अभिकर्त्ता बन जाते हैं) तथा इनके नाम अन्तर्नियमों में दिए जाते हैं। धारा ८४ के अनुसार कोई भी व्यक्ति उस समय तक संचालक नहीं हो सकता जब तक वह स्वयं या अपने एजेंट द्वारा :—

(अ) संचालक के पद पर कार्य करने की सम्मति लिखित रूप में रजिस्ट्रार के पास हस्ताक्षर करके प्रस्तुत न करे, तथा

(ब) यदि संचालक में अंश योग्यता (Share qualification) होना आवश्यक है तो (१) अपने योग्यता-अंशों के लिए सीमा नियम पर हस्ताक्षर न करे, या (२) अपने योग्यता अंशों (Qualification

shares) को खरीदने के लिये वायदा न करे या उन्हें लेकर धन न चुकाये, अथवा (३) अपने योग्यता अंशों को क्रय करने के लिए तथा उनका भुगतान करने के लिए एक लिखित अनुबन्ध (Contract) अपने हस्ताक्षर सहित रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत न करें, या (४) अपने नाम पर रजिस्टर्ड होने वाले योग्यता अंशों के विषय में एक लिखित प्रमाण-पत्र रजिस्ट्रार के पास प्रस्तुत न करे।

उपर्युक्त बातों के साथ ही एक कम्पनी को रजिस्टर्ड कराने वाले प्रार्थी को रजिस्ट्रार के समीप उन व्यक्तियों की भी सूची भेजनी चाहिये जो कम्पनी के सचालक बनने के लिए सहमत हों।

(२) जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि प्रथम सचालक केवल व्यापक-सभा में नियुक्त होने वाले सचालकों के आगमन तक ही कार्य करते हैं। व्यापक-सभा में जैसे ही नये सचालकों की नियुक्ति हो जाती है, वे प्रथम तथा पुराने सचालक कम्पनी के सचालक पद से हट जाते हैं। इसके उपरान्त सचालकों की नियुक्ति प्रबन्ध-अभिकर्त्ता करते हैं। ये समस्त सचालकों में से केवल १/३ सचालकों की नियुक्ति के अधिकारी होते हैं जैसाकि पहले ही बतलाया जा चुका है। कुछ सचालकों की नियुक्ति विभिन्न हितों की दृष्टि से की जाती है। जैसे कुछ सचालक तो ऋण पत्रों के लिए तथा सरकारी कार्य करने के लिये नियुक्त किए जाते हैं तथा कुछ सचालक प्रांतीय या नगरपालिका (Municipality) सम्बन्धी हितों को सुरक्षा के लिये कम्पनी नियुक्त करती है। इस प्रकार सचालकों का अधिकांश भाग व्यापक सभा होने से पूर्व ही नियुक्त कर लिया जाता है और व्यापक-सभा में अंशधारियों द्वारा नियुक्त होने के लिए बहुत थोड़े से सचालक ही शेष रह जाते हैं।

धारा ८३-B (२) के अनुसार किसी भी सार्वजनिक कम्पनी के सचालकों का २/३ भाग ऐसा होता है जिनकी विमुक्ति (Retirement) किसी भी समय क्रमश. (In Rotation) होती है। इस धारा के इस आयोजन का उद्देश्य प्रकट रूप में तो यही था कि सचालकों का २/३ भाग क्रमश अपने पद को छोड़ता रहे तथा योग्यतानुसार अंशधारियों से निर्वाचित होकर पुन पद ग्रहण भी करता रहे जबकि १/३ भाग ऐसा रहे कि वह कम्पनी में स्थायित्व प्राप्त करके उसकी व्यवस्था में सलग्न रहे। परन्तु केवल यही बात नहीं है, इसका उद्देश्य यह है कि २/३ सचालक क्रमशः अपना पद तो छोड़ते रहें परन्तु अन्त में केवल उन लोगों के निर्वाचन द्वारा ही पुनः नियुक्त हो सकें जिन्होंने कि अन्तर्नियम के अनुसार इन्हें पहले चुना था तथा वे ही इन्हें चुनने के अधिकारी माने जायेंगे। सचालकों की विमुक्ति (Retirement) का कार्य सारिणी 'अ' के ७८ से ८२ तक के नियमों के अनुसार सम्पन्न होता है।

कम्पनी की सुव्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि संचालकों को प्रबन्ध-सम्बन्धी समस्त अधिकार दे दिये जायँ और क्रम-क्रम से उन्हें अंशधारियों का उत्तरदायी बनाया जाय। यही इन नियमों का भी उद्देश्य है। परन्तु अंशधारियों को केवल थोड़े से ही संचालकों के चुनने या निर्वाचन करने का अधिकार होता है, यह बात पूर्णतया संतोषप्रद नहीं दिखाई देती।

(३) यदि किसी संचालक का स्थान अन्तर में ही रिक्त हो जाता है तो उसकी पूर्ति बिना अंशधारियों की अनुमति लिए हुए ही कर ली जाती है। यद्यपि वह संचालक उसी समय तक के लिए नियुक्त किया जाता है जितने समय के लिये उसका स्थानीय संचालक कार्य करने का अधिकारी था और उस समय के व्यतीत होते ही वह अपना स्थान छोड़ देता है। यह बात भी तभी लागू होती है जबकि उस संचालक का पद क्रमशः स्थान-रिक्त करने वाला हो।

(४) संचालक सभा का अध्यक्ष (Chairman) प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं द्वारा उनके मनोनीत संचालकों में से ही नियुक्त किया जाता है। वही संचालक कम्पनी का भी प्रबंध-संचालक होता है।

संचालकों के प्रकार (Kinds of Directors)—संचालकगण अपनी नियुक्ति के अनुसार नाना प्रकार के होते हैं। जो संचालक प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं द्वारा नियुक्त किया जाता है, वह स्थानापन्न-संचालक (Ex officio Director) कहलाता है, जो संचालक ऋण पत्रधारियों के हितों की सुरक्षा के निमित्त नियुक्त किया जाता है वह ऋणपत्र संचालक (Debenture Director) कहलाता है, तथा जो अन्य किसी प्रकार के हितों के लिए नियुक्त किए जाते हैं वे विशेष संचालक (Special Directors) कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त जो संचालक अंशधारियों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं, वे साधारण संचालक (Ordinary Directors) कहलाते हैं। लेकिन बीमा-कम्पनियों में कुछ संचालक बीमा-अनुबन्ध धारियों के द्वारा नियुक्त किये जाते हैं, अतः वे बीमा अनुबंध धारी संचालक (Policyholder Director) कहलाते हैं। कुछ संचालक जो अंशधारियों के द्वारा ही नियुक्त किये जाते हैं, वे सदस्य-संचालक (Member Directors) भी कहलाते हैं।

संचालकों की अंश योग्यता (Share Qualification of Directors) विधान के अनुसार संचालक का कार्य करने के लिये किसी भी अंश योग्यता की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु यह अन्तर्नियम द्वारा निश्चित की जाती है। इसके निश्चय करने का उद्देश्य यही होता है कि संचालक को भी कम्पनी के व्यवसाय में विश्वास रहे और उसके अंश लेने से ही अन्य लोग भी अंश लेने के लिए तैयार हों।

यदि वह अंश नहीं लेता तो अन्य व्यक्ति भी कम्पनी में अविश्वास कर सकते हैं। इसीलिए प्रवर्त्तक लोग विनियोक्ताओं (Investors) के हृदय में विश्वास उत्पन्न करने के लिए कम्पनी के अन्तर्नियमों में सचालकों की अंश सम्बन्धी योग्यता का भी विवेचन करते हैं। किसी भी सचालक के नाम अधिक अंशों का निश्चित करना कम्पनी के हित के लिए अच्छा नहीं होता, क्योंकि संचालकों से तो धन की अपेक्षा उनकी बुद्धि का उपयोग करना कम्पनी के लिए अधिक लाभप्रद होता है। बहुधा देखा यही जाता है कि कम्पनी अन्य लोगों से धन लेने के लिए तथा उन्हे आकर्षित करने के लिए सचालकों को ही अधिक अंश खरीदने के लिए बाध्य किया करती है। परन्तु इतना ही ठीक है कि सचालकों का भी धन थोड़े परिमाण में कम्पनी में लगा रहे जिससे कि वे व्यवस्था करने में किसी प्रकार से आलस्य या प्रमाद न कर सकें। यही कारण है कि कुछ सचालकों के लिए अंश-योग्यता (Share qualification) का होना अनिवार्य माना गया है और उनके लिए उस योग्यता का निर्णय भी अन्तर्नियमों (Articles) में उपस्थित रहता है। परन्तु कुछ सचालक इस अंश-योग्यता से मुक्त भी रहते हैं। यह दशा भारतवर्ष मे तो बहुधा देखने में आती है कि कुछ प्रबन्ध अभिकर्त्ता (Managing Agents) तथा सचालक या विशेष-सचालक इस अंश-योग्यता से मुक्त कर दिये जाते हैं, परन्तु कुछ ऐसे रहते हैं जिन पर यह योग्यता अनिवार्य रूप से लगाई जाती है।

विधान की धारा ८५ के अनुसार यदि अन्तर्नियमों में सचालकों के लिए योग्यता-अंशों का खरीदना अनिवार्य कर दिया जाता है और उनकी संख्या भी निश्चित कर दी जाती है तो उन समस्त सचालकों के लिए यह आवश्यक होता है कि वे २ माह के अन्दर ही उन योग्यता-अंशों को खरीदलें। कभी कभी यह अवधि कुछ कम भी कर दी जाती है, परन्तु इस समय का निर्देश अन्तर्नियमों में रहना आवश्यक है और उसी के अनुसार समय कम या अधिक होता है। यदि सचालक लोग अपने निर्दिष्ट अंशों को नहीं खरीदते, तो उन्हें सचालक-पद से अलग होना पड़ता है और जो व्यक्ति उन सचालकों के स्थान पर कार्य करता है उसे दड दिया जाता है। परन्तु धारा ८६ के अनुसार यदि किसी ऐसे सचालक की नियुक्ति हो जाती है जोकि सदोष एव अमान्य (Invalid) हो तो कम्पनी की ओर से किए हुए सभी कार्य तब तक मान्य (Valid) होते हैं जब तक उसकी अयोग्यता अथवा नियुक्ति की सदोषता प्रकट न हो। इस अयोग्यता अथवा दोष-जन्य नियुक्ति के प्रकट होने के बाद ही समस्त कार्य अमान्य (Invalid) होते हैं। इस प्रकार इस धारा के अनुसार अमान्य नियुक्ति का समस्त भ्रम दूर हो जाता है।

सर्वप्रथम होने वाले संचालकों को अपने योग्यता-अंश सीधे कम्पनी से ही लेने चाहिए। परन्तु उनके उपरान्त आने वाले सचालकों के लिए यह आवश्यक नहीं

होता। वे लोग तो उन अंशों को हस्तान्तरण या अन्य किसी प्रकार भी खरीद सकते हैं। धारा ४६ के अनुसार अंश प्रमाणपत्र (Share-warrant) पर उल्लिखित अंश या स्कंध (Stock) अन्तर्नियमों में निर्दिष्ट अंश-योग्यता की पूर्ति करने वाले नहीं होते। वैसे ही धारा ६३ के अनुसार समस्त व्यवसायी कम्पनियों को १ वर्ष के अन्दर ही अपनी विवरण पत्रिका में योग्यता अंशों का निर्देश कर देना चाहिए। यदि वे कम्पनियाँ योग्यता-अंश नहीं रखतीं तो दूसरी बात है। धारा १०३ के अनुसार कोई भी सार्वजनिक कम्पनी उस समय तक अपना व्यवसाय प्रारम्भ नहीं कर सकती जब तक उसके सचालक अपने योग्यता अंश को निर्दिष्ट समय में ही लेकर उनका रुपया अन्य अंशधारियों (Shareholders) की भाँति कम्पनी म जमा न करें। वह रुपया जमा होने के बाद ही उसका कार्य प्रारम्भ हो सकता है।

सचालकों का पारिश्रमिक (Remuneration of Directors) — सचालकों को सदैव अन्तर्नियमों में निर्दिष्ट आयोजन के अनुसार ही पारिश्रमिक (Remuneration) दिया जाता है। किसी भी संचालक को उस समय तक कोई पारिश्रमिक नहीं मिलता जब तक कम्पनी के अन्तर्नियम उसके लिए स्वीकृति न दें। इससे पूर्व जो भी पारिश्रमिक सचालक को दिया जाता है वह उपहार (Gratuity) कहलाता है। यह उपहार भी बिना व्यापक सभा (General Meeting) की स्वीकृति के सचालक को नहीं मिल सकता। अन्तर्नियमों में बहुधा सचालकों के पारिश्रमिक का निर्देश रहता है। इतना अवश्य है कि किसी में एक निश्चित रकम देने का आयोजन होता है, किसी में शुल्क के रूप में स्वीकृति दी जाती है और कोई अन्तर्नियम वेतन के रूप में यह पारिश्रमिक देना स्वीकार कर देता है। इस प्रकार विभिन्न रूपों में सचालकों को पारिश्रमिक दिया जाता है। परन्तु यह पारिश्रमिक किसी भी दशा में पहले निश्चित किए हुए तथा किसी सचालक को दिए हुए धन से अधिक नहीं होता अर्थात् प्रत्येक सचालक को समय समय पर मिलने वाले धन के बराबर ही होता है।

सचालकों के पारिश्रमिक में शुल्क, वेतन, लाभ का प्रतिशत भाग, कम्पनी के लिए कोई विशेष कार्य करने का पारिश्रमिक तथा यात्रा व्यय आदि सभी सम्मिलित रहते हैं। कभी कभी यह पारिश्रमिक कम्पनी के शुद्ध लाभ में से कुछ प्रतिशत के रूप में दिया जाता है। इस लाभांश के रूप में दिये जाने वाले पारिश्रमिक का एक मात्र यही उद्देश्य होता है कि सचालक अपने व्यवस्था कार्य में अत्यधिक रुचि रखें और सुन्दर व्यवस्था के द्वारा कम्पनी के लाभ की उत्तरोत्तर वृद्धि करते रहें। पारिश्रमिक चाहे जिस रूप में सचालकों को दिया जाय परन्तु हर प्रकार के पारिश्रमिक का निर्देश विवरण पत्रिका में होना अनिवार्य है।

सचालकों की अयोग्यता (Disabilities of Directors) —धारा ८८-A के अनुसार कोई भी अवर्जित दिवालिया (Undischarged insolvent)

न तो सचालक का कार्य कर सकता है और न धारा ८६-G के अनुसार कोइ भी ऐसा व्यक्ति पुन सचालक बन सकता है जो किसी असामान्य प्रस्ताव (Extra-ordinary Resolution) द्वारा कम्पनी के सचालक पद से पहले हटाया जा चुका हो। धारा १४१-A बतलाती है कि धारा १३८ के अनुसार दड प्राप्त कोई भी व्यक्ति ५ वर्ष तक न्यायालय की अनुमति के बिना सचालक के पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है।

संचालको की स्थिति (Position of Directors) —किसी भी कम्पनी में सचालकों की विभिन्न स्थितियाँ (Positions) होती हैं। कोई सचालक प्रन्यासी (Trustee) की भाँति होता है, कोई अभिकर्ता (Agent) की स्थिति में रहता है तथा कोई प्रबन्ध-सहायक (Managing Partner) के रूप में होता है। इस प्रकार सचालकों के भिन्न-भिन्न रूप उनकी शक्ति एव अधिकारों के द्योतक होते हैं। उपर्युक्त विवेचन का यह अभिप्राय नहीं है कि यदि कोई सचालक प्रन्यासी (Trustee) के रूप में कार्य करता है तो उसकी शक्ति तथा सचालक के अधिकारों में कमी आ जाती है, परन्तु इसका यही मतलब है कि कम्पनी में सचालका की नाना प्रकार की स्थितियाँ होती हैं तथा उनके नाना प्रकार के कार्य होत हैं। वे सदैव विभिन्न रूपों में अपने व्यवसाय की उन्नति के लिए ही कार्य करते हैं और उस उन्नति में ही उनकी तथा अन्य अशधारियों की उन्नति सम्मिलित रहती है। व्यावहारिक रूप स तो सचालकों को कम्पनी का अभिकर्ता (Agents) कहना अत्य त उपयुक्त एव यथार्थ प्रतीत हाता है। साधारणत सचालकों तथा कम्पनी में एक वैधानिक सम्बन्ध रहता है। इसी कारण कोई भी सचालक यदि अभिकर्ता (Agent) के ही रूप से किसी व्यक्ति से अनुबन्ध (Contract) करता है तो वह यह कार्य व्यक्तिगत रूप से नहीं कर सकता। यहाँ पर भी उसका सम्बन्ध कम्पनी से ही रहता है। उसके व्यक्तिगत रूप का तो समावेश कम्पनी के कार्यों में ही हो जाता है क्योंकि कम्पनी और सचालक में एक अटूट एव अविच्छिन्न सम्बन्ध रहता है और दोनों का पृथक् कोई भी अस्तित्व नहीं होता। इसीलिए उसे अनुबन्ध करते समय अपनी शक्ति का ध्यान रखना पड़ता है और वे अनुबन्ध कम्पनी के अधिकारों से बढ़कर नहीं होते। यदि ऐसा करत समय वे अपनी शक्ति से अधिक कार्य कर बैठते हैं या अपने अधिकारों के बाहर कोई कार्य करते हैं तो अन्य अभिकर्ताओं (Agents) की भाँति उनका भी कम्पनी से सम्बन्ध विच्छेद हो सकता है। फिर कम्पनी की ओर से वे कोई भी कार्य नहीं कर सकते। इस प्रकार सचालकगण कम्पनी क विशेष अभिकर्ता (Special agents) होते हैं। उनकी स्थिति सामान्य अभिकर्ताओं से अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। कारण यह है कि वे क्वल उन अधिकारों का ही प्रयोग कर सकत हैं जोकि उन्हें कम्पनी स प्राप्त होते हैं। कम्पनी के अन्तर्नियमों में निर्दिष्ट अधिकारों के बाहर वे एक कदम भी नहीं रख सकत हैं।

संचालक गण वास्तव में पूर्णतया प्रन्यासी (Trustee) भी नहीं होते। प्रन्यासी वे लोग कहलाते हैं जिनके अधिकार में वैधानिक रूप से कुछ सम्पत्ति रहती है और उसके लाभ की दृष्टि से वे समुचित व्यवस्था करते रहते हैं। परन्तु संचालकों को कम्पनी की ऐसी कोई भी सम्पत्ति नहीं दी जाती जिसकी कि वे संरक्षण करें। कम्पनी अपनी सम्पत्ति की स्वयं देखभाल करती है। संचालक तो केवल अपनी शक्ति के प्रन्यासी (Trustee) अवश्य कहला सकते हैं क्योंकि वे उस शक्ति का प्रयोग कम्पनी के हितों को ध्यान में रखकर किया करते हैं और वे केवल उस सम्पत्ति की व्यवस्था करते हैं जो पहले ही किसी के प्रन्यास (Trust) में सुरक्षित होता है। परन्तु उस व्यवस्था के समय भी वे अपनी शक्ति से परे (Ultra Vires) होने की सामर्थ्य नहीं रखते। यदि वे किसी प्रकार अपनी शक्ति से परे कार्य कर बैठते हैं, तो कम्पनी की सम्पत्ति का जितना भी नुकसान होता है वह सब अन्य प्रन्यासियों (Trustees) की भाँति इनसे भी वसूल किया जा सकता है और कम्पनी को क्षति-पूर्ति करने के लिए उन्हें बाध्य किया जा सकता है।

सारांश यह है कि संचालकों की स्थिति एक ऐसे अभिकर्ता (Agents) के समान होती है जिसका कि कम्पनी से केवल काल्पनिक सम्बन्ध (Fiduciary Relationship) रहता है। इस तरह संचालकों की दशा अभिकर्त्ता एवं प्रन्यासी से पूर्णत भिन्न होती है।

संचालकों के कर्त्तव्य एवं अधिकार (Powers and Duties of Directors) :—सारिणी 'अ' के नियम ७१ के अनुसार संचालक ही कम्पनी के समस्त व्यवसाय की व्यवस्था करते हैं। इसलिए वे सभी ऐसे कार्य कर सकते हैं जिनके करने का अधिकार उन्हें अन्तर्नियमों द्वारा प्राप्त होता है तथा जो कार्य करने का दायित्व उनको कम्पनी विधान के अन्तर्गत प्राप्त है। परन्तु वे ऐसा कोई भी कार्य नहीं कर सकते जो व्यापक सभा की अनुमति के द्वारा ही करणीय हो अथवा विधान द्वारा अन्तर्नियम में निर्दिष्ट न हो। अन्तर्नियम में सामान्यत संचालकों के सभी अधिकारों का निर्देश रहता है और वे अधिकार समयानुसार संमिलित तथा विस्तीर्ण भी हो सकते हैं। संचालकों के अधिकार प्राय अंशों का विभाजन करना, याचित धन मँगाना, अंशों की अपहृति (Forfeiture) करना सदस्यों के रजिस्टर का सुधार करना, हस्तान्तरण की स्वीकृति या अस्वीकृति देना, अनुबन्ध करना, पूँजी व्यय करना, लाभांश-वितरण के लिए सिफारिश करना आदि होते हैं। परन्तु सारिणी 'अ' के नियम ६१ के अनुसार कोई भी संचालक ऐसा कार्य नहीं कर सकता जिसके लिए कम्पनी के अन्तर्नियम में उल्लेख न हो। कारण यह है कि संचालक कम्पनी का प्रतिनिधि होता है और कोई भी प्रतिनिधि व्यक्तिगत कार्य करने के लिए स्वतन्त्र नहीं होता, वह तो पूर्णत उसके अधीन रहता है जिसका कि वह प्रतिनिधि है। यही बात संचालक के लिए भी लागू होती है।

एक कम्पनी अपने सदस्यों तथा सचालकों से पृथक् अस्तित्व भी रखता है। उसके कुछ अधिकारों का उपयोग तो सचालक करते हैं और कुछ अधिकार- धारक-सभा के लिए भी सुरक्षित रहते हैं। सचालकगण तो सारिणी 'अ' के नियम ७१ के अनुसार केवल व्यवस्था सम्बन्धी अधिकारों के प्रयोग करने के ही अधिकारी होते हैं। उनके इन अधिकारों में अंशधारी (Shereholders) न किसी प्रकार का हस्तक्षेप कर सकते हैं और न उन अधिकारों को छीन ही सकते हैं। अंशधारी तो केवल उन कार्यों को ही कर सकते हैं जिन्हें करने के लिए व्यापक-सभा उन्हें अधिकार देती है। यदि अंशधारी सचालकों के किसी कार्य से असंतुष्ट होते हैं तो वे उनको हटाने के अधिकारी हैं और यदि चाहें तो उन्हें हटा भी सकते हैं। सचालकों की कार्य प्रणाली को देखकर सरकार ने उनकी कार्य शक्ति पर कतिपय निर्बन्ध लगाये हैं जिनका समावेश विधान की धारा ८६-A से ८६-H तक के अन्तर्गत किया गया है। ये धारायें क्रमशः इस प्रकार हैं —

धारा ८६-A (Section 86-A) —कोई भी अवमुक्त दिवालिया (Undischarged Insolvent) सचालक का पद ग्रहण नहीं कर सकता है और न वह कम्पनी की व्यवस्था में भाग ले सकता है।

धारा ८६-B (Section 86-B) —कोई भी सचालक कम्पनी के विशेष प्रस्ताव की अनुमति के बिना अपने स्थान पर कार्य करने के लिए किसी अन्य व्यक्ति को नियुक्त नहीं कर सकता है, परन्तु यदि वह जिस प्रान्त में सामान्यतः सचालक सभायें होती हैं उस प्रान्त से तीन मास की अवधि से अधिक के लिए कहीं बाहर जा रहा हो तो वह सचालक-सभा की अनुमति से किसी दूसरे व्यक्ति को अपने स्थान पर नियुक्त कर सकता है। परन्तु ऐसे व्यक्ति को मूल सचालक के लौट आने पर अपना पद छोड़ देना होगा।

धारा ८६-C (Section 86-C) —कोई भी सचालक अपने वैधानिक दायित्व से न तो मुक्त हो सकता है और न इस धारा के अनुसार वह किसी प्रकार का प्रमाद या आलस्य ही कर सकता है। इससे पूर्व सचालकों की गलती से या भूल से कम्पनी को हानि होने पर सचालकों पर उस हानि की पूर्ति का उत्तरदायित्व नहीं रहता था, परन्तु अब ऐसा नहीं होता। सचालक अपनी त्रुटि या भूल के पूर्णतः उत्तरदायी होते हैं।

धारा ८६-D (Section 86-D) —इस धारा के अनुसार कोई भी सचालक किसी सार्वजनिक कम्पनी से अथवा उसकी सहायक व्यक्तिगत कम्पनी से सचालक होने के नाते किसी प्रकार का ऋण नहीं ले सकता है और न कम्पनी ही अपने सचालक या ऐसी फर्म को जिसका कि सचालक साझीदार है अथवा ऐसी व्यक्तिगत कम्पनी को जिनका सचालक सदस्य या सचालक है किसी भी प्रकार का ऋण दे

सकती है। यदि इस धारा का उल्लघन किया जायेगा तो प्रत्येक उल्लंघन-कर्त्ता ५००) रु० दण्ड का भागी होगा तथा सचालक को ऐसे ऋण का भुगतान करना होगा। यदि वह भुगतान नहीं करेगा तो इस उल्लघन के लिए उत्तरदायी सभी व्यक्ति उस ऋण-राशि को चुकाने के लिए व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से जिम्मेदार होंगे। इस धारा के अनुसार सचालकों को नियुक्त करने वाले व्यक्तियों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, वे किसी भी कम्पनी से ऋण ले सकते हैं और वह ऋण चाहे संचालकों के लाभ के लिए ही हो या उनके नाम पर लिये गये किसी प्रोनोट के लिये हो, परन्तु उन्हें ऐसा करने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

धारा ८६- E (Section 86-E) —कोई भी सचालक अथवा फर्म या सार्य जिसमें सचालक साझीदार है अथवा ऐसी व्यक्तिगत या निजी कम्पनी जिसमें सार्वजनिक कम्पनी का सचालक, सचालक है, निजी कम्पनी में ऐसे किसी भी कार्य की जिम्मेवारी नहीं ले सकता है जो इसकी वैयक्तिक लाभ की दृष्टि से सम्बन्धित हो अर्थात् व्यक्तिगत-लाभ उठाने के लिये कोई भी सचालक लाभदायक कार्यालय (Office of Profit) का कार्य नहीं कर सकता है। इसके लिए भी सामान्य सभा की अनुमति लेना आवश्यक है। परन्तु यह नियम उस सचालक पर लागू नहीं होता जो १५ जनवरी सन् १६३७ से पहले ही लाभदायक-कार्यालय में नियुक्त हो चुका हो। इसके साथ ही इस धारा में लाभदायक-कार्यालय की भी व्याख्या पूर्ण रूप से नहीं मिलती।

इस धारा का उद्देश्य यही है कि कम्पनी के सचालकों की ऐसी बुराइयों को रोका जाय जो उनके व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण उत्पन्न होती हैं और कम्पनी के लिए हानिकारक सिद्ध होती हैं। परन्तु सच्चे तथा ईमानदार व्यक्तियों को इस धारा से कोई आपत्ति नहीं होती क्योंकि वे कम्पनी की उन्नति के लिए लाभदायक-कार्यालय में कार्य कर सकते हैं। परन्तु ऐसा करने के लिए अंशधारियों की भी अनुमति ले लेनी चाहिए और उनकी अनुमति के उपरान्त ही किसी लाभदायक कार्यालय में कार्य करने के लिए किसी सचालक की नियुक्ति करनी चाहिए।

धारा ८६-F (Section 86-F) —कोई भी सचालक या जिस फर्म में वह सचालक साझीदार है ऐसा कोई भी उसका साझीदार या किसी सार्वजनिक कम्पनी का सचालक या उसका सदस्य ये सभी सचालकों की सम्मति के बिना कम्पनी के साथ किसी भी प्रकार का व्यापारिक अनुबन्ध (Tradin gContract) नहीं कर सकते। यह धारा सब प्रकार से सचालकों या अन्य पुरुषों के स्वार्थ पर अकुश रखती है और कर्त्तव्य तथा स्वार्थ के मध्य में उत्पन्न होने वाले सघर्ष को नष्ट करने वाली है। यदि सचालक कम्पनी से केवल काल्पनिक सम्बन्ध रखते हैं और अपने स्वार्थ की दृष्टि से अन्य कार्य करते रहते हैं तो यह नैतिक दृष्टि से सर्वथा हेय तथा

निन्दनीय है। धारा ६१-A के अनुसार इस प्रकार के स्वार्थी संचालक को सचालकों की सभा में अपनी समस्त कार्यवाही प्रकट करनी पड़ती है तथा धारा ६१-B के अनुसार इस प्रकार का सचालक किसी भी ऐसे अनुबन्ध के लिए मत नहीं दे सकता जिसमें वह स्वय अनुरक्त (Interested) रहता है और न वह गणपूरक सख्या (Quorum) में ही सम्मिलित किया जाता है। इसके अतिरिक्त धारा २१-A के अनुसार कम्पनी एक ऐसा रजिस्टर बनाती है जिसमें कि समस्त सचालकों के हितों का विवरण रहता है साथ ही उसमें उनके सभी अनुबन्धों (Contracts) का भी उल्लेख किया जाता है और यह रजिस्टर सभी अशधारियों के निरीक्षण के लिए हर समय खुला रहता है।

उपर्युक्त बचावों से भी कम्पनी की पूर्णरूप से रक्षा नहीं होती। क्योंकि धारा ६१-A तथा धारा ६१-B में इस प्रकार का कुछ भी उल्लेख नहीं होता जिससे कि अशधारियों को यह विश्वास हो सके कि इन धाराओं से सम्बन्धित सभी आयोजनों (Provisions) की पूर्ति कर दी गई है। केवल सचालकों की सभा में होने वाली कार्यवाही का विवरण ही एक ऐसी वस्तु है जिससे अशधारियों को इन समस्त बातों का ज्ञान हो सकता है परन्तु वे कार्यवाहियाँ (Minutes) भी अशधारियों को देखने अथवा निरीक्षण करने के लिए नहीं मिलतीं। इसीसे बहुधा उपर्युक्त धारायें प्रभावशाली नहीं रहतीं क्योंकि सचालक लोग अशधारियों के हितों का ध्यान इतना नहीं रखते क्योंकि ये हित उनके स्वार्थों के विरुद्ध होते हैं। अत केवल यही देखा जाता है कि सचालक लोग एक दूसरे से मिलेजुले रहते हैं।

धारा ८६-G (Section 86-G) —इस धारा के अनुसार कोई भी कम्पनी अपने एक असाधारण-प्रस्ताव (Extra ordinary resolution) द्वारा किसी भी ऐसे सचालक को उसके समय से पूर्व ही हटा सकती है जिसका कि समय क्रमानुसार निश्चित है। इसके साथ ही वह अपने साधारण प्रस्ताव द्वारा किसी अन्य सचालक को उसके स्थान पर नियुक्त कर सकती है। जो सचालक इस प्रकार अपने पद से हटा दिया जाता है वह सचालक-सभा (Board of Directors) द्वारा भी पुन नियुक्त नहीं किया जा सकता।

धारा ८६-H (Section 86-H) —इस धारा के अनुसार किसी भी सार्वजनिक या उसकी सहायक कम्पनी के संचालक अपनी कम्पनी की अनुमति के बिना न तो कम्पनी के व्यवसाय को बेच सकता है, न उसे अलग कर सकता है और न किसी अन्य सञ्चालक के ऋण को क्षमा ही कर सकता है।

धारा ८६-I (Section 86-I) :—इस धारा के अनुसार किसी भी सचालक को निम्नलिखित बातों की पूर्ति न होने पर कम्पनी से अलग किया जा सकता है —

(अ) यदि वह निर्दिष्ट समय तक कम्पनी के योग्यता-अंशों को नहीं खरीदता या उन्हें लेने से इन्कार करता है,

(ब) यदि वह अस्थिर बुद्धि वाला होता है या दिवालिया हो जाता है,

(स) यदि वह याचित धन को निश्चित तिथि तक जमा करने में असफल रहता है,

(द) यदि वह धारा ८६-D, ८६-E, या ८६-F के विपरीत आचरण करता है,

(य) यदि वह लगातार होने वाली तीन सचालकों की सभा में स्वयं अनुपस्थित रहता है या तीन महीने के समय में होने वाली समस्त सभाओं में नहीं आता और न अनुपस्थित रहने के लिए सचालक-सभा से अनुमति माँगता है, या

(फ) यदि वह कम्पनी के अन्तर्नियमों के विरुद्ध कोई कार्यवाही करता है।

धारा ८६-J (Section 86-J) —इस धारा के अनुसार किसी भी प्रबन्ध अभिकर्त्ता से रहित कम्पनी के अन्तर्नियमों के सशोधन (Amendments) या किसी भी निबंन्ध (Agreement) के परिवर्तन जो कि निम्नलिखित बातों से सम्बन्धित रहते हैं, केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना पूर्णतया अमान्य (Void) या अ यथार्थ माने जायेंगे —

(अ) यदि वह किसी भी क्रमानुसार (By Rotation) पद विमुक्त न होने वाले सचालक या प्रबन्ध अभिकर्त्ता की नियुक्ति करती है,

(ब) यदि वह कम्पनी सचालकों की सख्या बढ़ा लेती है, अथवा

(स) यदि वह क्रमानुसार पद विमुक्त न होने वाले स्थिर या स्थायी सचालक अथवा प्रबन्ध-अभिकर्त्ता का पारिश्रमिक बढ़ा देती है।

उपर्युक्त धारा का उद्देश्य उन व्यक्तियों को कम्पनी की व्यवस्था में स्थान देने से रोकना है जो बड़े चालाक तथा स्वार्थी होते हैं और अपनी चालाकी से ही कम्पनी के सचालकों में अपने मनोनीत व्यक्तियों को भेज देते हैं तथा फिर उनके द्वारा अपना स्वार्थ-साधन किया करते हैं। इस धारा के आयोजन द्वारा अब यह सम्भव हो सकेगा कि ऐसे स्वार्थ साधक लोग अपने व्यक्तियों को सचालक के पद पर नहीं भेज सकेंगे और न वे अपने व्यक्तियों द्वारा सचालक सभा को आच्छादित कर सकेंगे, जिससे कम्पनी की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहेगी और उस पर किसी प्रकार का व्यय भार न पड़ेगा। नहीं तो ऐसे लोगों द्वारा नियोजित सचालक अपने हितैषी प्रबन्ध अभिकर्त्ता या सचालकों का पारिश्रमिक बढ़ा देते हैं जिससे कम्पनी व्यय भार से दब जाती है और अशधारियों को भी अत्यधिक हानि उठानी पड़ती है। परन्तु अब वे स्वार्थी लोग अपनी चाल नहीं चला सकते और न कम्पनी से अनुचित लाभ ही उठा सकते हैं।

सचालकों की कार्य प्रणाली (How do Directors Act ?) —कम्पनी के सञ्चालक प्राय बहुमत के द्वारा कम्पनी को व्यवस्था एव उसका नियत्रण किया करते हैं। परन्तु बहुत-सी बातों के लिए सञ्चालकों के वैधानिक बहुमत (Statutory Majority) की आवश्यकता होती है। इस तरह कम्पनी के प्रबन्ध-अभिकर्त्ता बिना सचालकों के बहुमत की आज्ञा के कोई भी व्यापारिक अनुबन्ध* आदि नहीं कर सकते। ऐसा करने के लिए उन्हें ७५ प्रतिशत सचालकों की अनुमति संचालक-सभा में लेनी पड़ती है। इसी तरह प्रबन्ध-अभिकर्त्ता किसी अन्य कम्पनी के अशों या ऋण-पत्रों में अपनी कम्पनी का धन उस समय तक नहीं लगा सकते जब तक सभा में उपस्थित समस्त सचालक इस कार्य के लिए अनुमति न दे। बिना उनकी अनुमति के प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं को किसी प्रकार का ऐसा कार्य करन का अधिकार नहीं। साथ ही ऐसा करने से अर्थात् सामूहिक रूप में अनुमति देन से सभी सचालकों के उत्तरदायित्व की भी रक्षा हो जाती है।

सचालकों का पद परित्याग (Vacation of office) —सञ्चालकगण उपरिलिखित धारा ८६-I के अनुसार ही अपने पद का परित्याग किया करते हैं। इसके साथ ही धारा ८.-G के अनुसार यदि कम्पनी कोई असामान्य प्रस्ताव पास करके उन्हें हटाना चाहती है तो उन्हें अपना पद छोड़ना पड़ता है। अन्तर्नियमों के अनुसार कोई सचालक किसी भी समय अपने पद का परित्याग कर सकता है और उसके इस पद परित्याग की स्वीकृति कम्पनी के सचालकों के ही अधिकार में रहती है। यदि कोई सचालक कम्पनी के साथ आर्थिक दुर्व्यवहार करता है या अकुशल होता है अथवा अनेकों भूल करता रहता है अथवा स्थायी अयोग्यता रखता है तो कम्पनी के अशधारी उसे सामान्य नियम के अनुसार निकाल सकत हैं।

सचालकों का दायित्व (Liability of Directors) —कम्पनी के सचालकों का दायित्व अनेक प्रकार का हो सकता है। सर्वप्रथम यदि वे किसी बाहरी व्यक्ति से अनुबन्ध (Contract) करत समय अपने अधिकारों से परे कोई कार्य कर बैठते हैं या जब वे अपन नाम से ही किसी प्रकार का अनुबन्ध करत हैं और वह अनुबन्ध त्रुटिपूर्ण होता है या जब वे अपनी विवरण पत्रिका में किसी प्रकार की भ्रामक या असत्य बातों का प्रकाशन कर बैठत हैं तो उन्हें इन कार्यों से होने वाली क्षति या हानि की पूर्ति करनी पड़ती है। दूसरे, यदि कम्पनी के किसी अभिकर्त्ता द्वारा असाव धानी कर दी जाती है या किसी नियम का उल्लघन हो जाता है या प्रन्यास (Trust) भग कर दिया जाता है अथवा कम्पनी के अन्तर्नियमों को भग करने से कम्पनी को किसी प्रकार की हानि उठानी पड़ती है या अपनी शक्ति से परे कम्पनी के कोष (Funds) आदि बढ़ा लेत हैं या गुप्त आयोग या रिश्वत लेते हैं अथवा अनुपयुक्त भुगतान कर बैठत हैं तो इन समस्त कार्यों से सम्बन्धित सभी हानि की पूर्ति करन का दायित्व सचालकों का होता है।

जो सचालक अपने कर्त्तव्य का पालन यथोचित रूप में नहीं करता वह अयोग्य एव लापरवाह कहलाता है। सचालकों के सभी कर्त्तव्य कम्पनी के अन्त नियमों में लिखे रहते हैं। अपने कर्त्तव्य का पालन करते समय एक सचालक को निष्कपट एव सत्यपरायण होना चाहिए और सदैव कम्पनी की उन्नति एव लाभ का ध्यान रखकर ही कोई कार्य करना चाहिए। प्रत्येक सचालक से यही आशा की जाती है कि वह सदैव कम्पनी के हितों का ध्यान रखकर कोई कार्य करे। अन्य समस्त कर्मचारियों की अपेक्षा एक सचालक को अत्यधिक इमानदार, सच्चा तथा यथार्थ होना आवश्यक होता है क्योंकि उसकी ईमानदारी तथा सच्चाई का ही प्रभाव अन्य लोगों पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त एक सचालक के लिए कम्पनी की पुस्तकों में लिखी हुई समस्त प्रविष्टियों (Entries) की देखभाल करना अनिवार्य नहीं होता, न वह इनके निरीक्षण के लिए किसी प्रकार से बद्ध होता है।

यदि किसी सचालक की लापरवाही या अयोग्यता सिद्ध हो जाती है तो उसे समस्त हानि की पूर्ति करनी पड़ती है जोकि उसकी लापरवाही द्वारा कम्पनी को उठानी पड़ती है। यदि वह उस हानि की पूर्ति नहीं करता तो कम्पनी उस सचालक के विरुद्ध कार्यवाही कर सकती है और उस समस्त हानि का हर्जाना वसूल कर सकती है। परन्तु जब कम्पनी का विलीयन (Liquidation) हो जाता है, उस समय सचालकों की लापरवाही द्वारा होने वाली क्षति के लिए संचालकों के ही विरुद्ध कार्यवाही की जा सकती है। यदि कम्पनी की परिसमाप्ति (Winding up) के समय यह पता चलता है कि उसके सचालकों ने अपने अधिकारों का दुरुपयोग (Misfeasance) किया है (अर्थात् कर्त्तव्य का पालन न करने से ही हानि हुई है) तो निस्तारक (Liquidator) या किसी उत्तमर्ण (Creditor) या विनियोक्ता के आवेदन पत्र भेजने पर न्यायालय चालकों के कार्यों को जाँच करेगा तथा उससे होने वाली क्षति के लिए उनसे धन दिलवायेगा। एक सचालक किसी क्षति की पूर्ति करने के लिए अपने सह सचालक (Co director) से भी धन ले सकता है।

यदि सचालकगण निष्कपटता एवं निस्वार्थता के साथ कम्पनी का कार्य करते हैं तो किसी प्रकार की हानि एव क्षति की सभावना नहीं रहती। हानि या क्षति तो उस समय होती है जब वे अपनी शक्ति से परे कोई कार्य-कर बैठते हैं तथा स्वार्थ एव कपट से लिप्त रहते हैं। इसके साथ ही सचालकों के कार्य को कपटपूर्ण एव स्वार्थमय सिद्ध करने का भार उसी व्यक्ति पर पड़ता है जो ऐसा करने के लिए आह्वान करता है अर्थात् जो संचालकों की कृतियों को कपट एव स्वार्थ से लिप्त सिद्ध कर सकता है।

धारा २८१ के अनुसार कुछ मामलों में न्यायालय को सचालकों की सहायता करने का अधिकार है। यदि किसी सचालक के विरुद्ध लापरवाही की कार्यवाही

की जा रही है, परन्तु यदि उस संचालक की स यता तथा उपयुक्तना न्यायालय में सिद्ध हो जाती है तो न्यायालय उसे पूर्णत या अशत दायित्व से मुक्त कर सकता है। प्रत्येक सचालक को ३ उपयुक्त धारा के ही आधार पर सहायता मिलती है और वे लोग इसी धारा क अनुसार सहायता की याचना न्यायालय में किया करते हैं। कम्पनी तो उन्हें किसी प्रकार भी कोइ सहायता नहीं देती। कारण यह है कि धारा ८६-C के अनुसार सचालकों अकेक्षकों या अन्य अफसरों की लापरवाही पर कम्पनी किसी प्रकार भी उनके द्वारा होने वाली क्षति की पूर्ति नहीं कर सकती और यदि किसी कम्पनी के अतर्नियमा म इस प्रकार लापरवाही द्वारा होने वाली क्षति की पूर्ति का निर्देश रहता है तो धारा ८६-C उसे व्यर्थ एव अव्यवहाय (Void) सिद्ध कर देती है।

किसी किसी मामले में तो सचालकों को दड भी दिया जा सकता है। धारा २२६ के अनुसार लेखा पुस्तकों में किसी प्रकार का जानबूझ कर गलत विवरण देन पर अथवा उन पुस्तकों के जलाने पर सचालका को दड तथा कारावास दोनों हो सकते है। धारा २३७ के अनुसार यदि कोई सचालक किसी प्रकार का दोषपूर्ण काय करता है तो कम्पनी की परिसमाप्ति क समय में हा वह बन्दी किया जा सकता है। धारा २८२ के अनुसार यदि कोई सचालक किसी लेखा पुस्तक वृत्तलेख (Report) या प्रमाण पत्र आदि में किसी प्रकार जानबूझ कर गलत विवरण लिख देता है ता वह जुर्माना तथा कारावास दोनों प्रकार के दडों का अधिकारी है।

इसके अतिरिक्त यदि सचालकगण विधान के नियमानुसार कोइ कार्य नहीं करते तो वे उसे काय के लिए भी दडित किए जा सकत हैं।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता (Managing Agents)

भारतवर्ष में, अन्य देशा के विपरीत, सीमित कम्पनियों की व्यवस्था प्राय प्रब ध अभिकर्त्ताओं क हाथ में हो रहता है। इन प्रब ध अभिकर्त्ताओं द्वारा सस्थापित प्रब ध अभिकर्तृ सस्थायें (Managing agencies) भारतवष में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। देश के सुसगठित उद्योग धधों एव व्यापारिक सस्थाओं की देखभाल में इनका प्रमुख स्थान है। ये सस्थायें ही व्यापारिक आयात एव निर्यात पर्याप्त मात्रा में करती हैं तथा इसके साथ ही भारत भर में कितनी ही व्यापारिक सस्थाओं को धन देकर उन्हें उन्नति को ओर अग्रसर करती हैं। इनकी कितनी हो शाखायें (Branches) रहती हैं जो अपनी व्यवस्था तथा धन से अन्य व्यावसायिक सार्थो (Firms) का सुरक्षा तथा सरक्षण करती रहती हैं।

देश में इस प्रकार की प्रणाली का प्रारम्भ भारतवर्ष की परिस्थिति क कारण ही हुआ। अंग्रेजों क आगमन के उपरान्त ही यह आधुनिक प्रणाली अधिक प्रचलित हुई। परन्तु यह बड़े आश्चर्य की बात है कि भारतवर्ष की यह प्रबध अभिकर्तृ पद्धति

(Managing agency system) विश्व के अन्य देशों में नहीं मिलती। केवल अल्प मात्रा में यह पद्धति इङ्गलैंड में पाई जाती है। इङ्गलैंड में अल्प होने का कारण यही है कि वहाँ का औद्योगिक विकास भारत से सर्वथा भिन्न है। भारत में यह पद्धति अधिक मात्रा में इसीलिए पाई जाती है कि यहाँ का औद्योगिक विकास इस पद्धति पर लाने के लिए पहले अंग्रेजों ने प्रारम्भ किया था और धीरे-धीरे उनका अनुकरण करते हुए भारत भर ने इसको अपना लिया। परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि विश्व में और कहीं यह पद्धति नहीं मिलती। इङ्गलैंड में वे संस्थायें साधारणतः प्रबन्धक या कार्यवाह कहलाती हैं। वे अपने व्यवसाय के अनुसार विशेषता रखती हैं, परन्तु वे भारतवर्ष की तरह प्रबन्ध या व्यवस्था नहीं करतीं। इङ्गलैंड की सबसे प्रसिद्ध प्रबन्धक-संस्था जहाजों का व्यवसाय करती है और वहाँ कितनी ही ऐसी कम्पनियाँ हैं जो इस व्यवसाय में अत्यन्त निपुण हैं और प्रसिद्ध भी प्राप्त कर चुकी हैं। ये समस्त कम्पनियाँ इन प्रबन्धकर्तृ संस्थाओं के ही अधीन रहती हैं। इस प्रकार इङ्गलैंड में कितनी ही व्यावसायिक कम्पनियाँ हैं जिनमें प्रबन्धक तथा कार्यवाह (Secretaries) रहते हैं। उनमें से "दी मोटर लाइन्स लिमिटेड" इसी प्रकार की संस्था है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी संस्थायें हैं जो व्यवसाय के साथ-साथ राजनीति में भी कार्य करती रहती हैं जैसे "वाल्टर रन्सीमन एण्ड क० लि०" (Walter Runciman & Co., Ltd.) इसी प्रकार की एक संस्था है जिसने जहाजों के व्यवसाय तथा राजनीति (Politics) में प्रसिद्ध स्थान प्राप्त कर रखा है। इस प्रकार की व्यवस्था में केवल जहाजों का ही उद्योग नहीं आता, वह अन्य कार्य भी सभालती है। इसी प्रकार की एक प्रमुख संस्था और है जो स्वर्ण खानों के कोलार समूह (Kolar Group of Gold Mines) द्वारा सचालित होती है। इस ग्रूप या समूह के प्रबन्धक (Managers) मैसर्स जॉन टेलर एण्ड सन्स (Messrs. John Taylor & Sons) हैं जो कि खानों के कार्य में विशेषज्ञ हैं। इसी तरह लन्दन स्कध-विनिमय (London Stock Exchange) में उल्लिखित कितनी ही चाय की कम्पनियों का प्रबन्ध प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं तथा कार्यवाहों या केवल कार्यवाहों द्वारा होता है और ये कार्यवाह संचालक सभा (Board of Directors) के अतर्गत कार्य किया करते हैं। व्यवस्था की यही पद्धति इङ्गलैंड तथा स्कॉटलैंड में कितनी ही प्रसिद्ध विनियोग-प्रन्यास (Investment trust) कम्पनियों में पाई जाती है। वहाँ की अधिकाश ऐसी कम्पनियों की व्यवस्था प्रबन्धकों तथा कार्यवाहों की संस्थाओं या फर्मों द्वारा सम्पादित होती है। वे समस्त प्रबन्धक या कार्यवाह भारतवर्ष की ही भाँति व्यवस्था-कार्य करते हैं। इस प्रकार बहुधा यह देखा जाता है कि एक प्रबन्धकर्तृ संस्था (Managing agency) इङ्गलैंड में पाँच से आठ कम्पनियों तक की व्यवस्था सुगमता से करती रहती है। Capital 19th July 1936.

इस पद्धति का उद्गम (Origin of the System):—प्रबन्ध-अभिकर्ता पद्धति की जानकारी के लिए यह अत्यावश्यक है कि उसके मूल उद्गम का पता लगाया जाय, क्योंकि यह पद्धति भारतवर्ष के औद्योगिक विकास में प्रमुख स्थान रखती है और इसके यथार्थ ज्ञान के बिना इसका आधुनिक स्वरूप जानना कठिन है। इस पद्धति के प्रारम्भ करने का श्रेय अंग्रेजों को प्राप्त है। वे लोग ही सर्वप्रथम भारतवर्ष में आकर आधुनिक ढग पर व्यापार का आयोजन, संगठन एवं विकास करने में समर्थ हुए। इन लोगों ने यहाँ की आर्थिक एवं औद्योगिक अवस्था का अच्छी तरह अनुशीलन किया, जिससे इन्हें भारत की व्यावसायिक त्रुटियों का भली प्रकार ज्ञान हो गया और उसी ज्ञान के आधार पर अपने व्यवसाय की स्थापना में ये सिद्ध हुए। यहाँ की तत्कालीन परिस्थिति का अध्ययन करते हुए उन लोगों ने देखा था कि भारत औद्योगिक एव आर्थिक विकास में कुछ पिछड़ा हुआ है। यहाँ पर जनसख्या की कमी नहीं और इसकी अधिकता होने के कारण विस्तृत एव ऊँचे पैमाने पर व्यवसाय चल सकता है। साथ ही सस्ते वेतन पर पर्याप्त मात्रा मे मजदूर मिल सकते हैं। फिर यहाँ की प्राकृतिक देन विश्व भर में अद्वितीय है अर्थात् कृषि प्रधान होने के कारण समस्त आवश्यक नैसर्गिक सामग्री प्रचुर मात्रा में मिल सकती है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि यहाँ कच्चे माल की कमी नहीं। लोग भी यहाँ के धनी हैं, परन्तु वे नए-नए उद्योगों में धन लगाते हुए घबड़ाते हैं तथा हृदय में सशंकित रहते हैं।

यह परिस्थित देखकर भारत स्थित तत्कालीन अंग्रेजों ने यही यथेष्ट समझा कि जनता का अधिक से अधिक विश्वास सम्पादन करना चाहिए और उसके लिए यही आवश्यक था कि अंग्रेज लोग अपनी ही पूँजी लगाकर औद्योगिक उन्नति का आकर्षण सर्व साधारण के हृदय में उत्पन्न करें। अत: उन्होंने अपनी पूँजी लगाकर उद्योग प्रारम्भ किए। अपने उस व्यवसाय में यदि कभी अधिक धन की आवश्यकता हुई तो अपने मित्रों से साझेदारी के रूप में रुपया लेकर अपना व्यवसाय चालू किया। इस तरह कार्य करते हुए कितने ही वर्ष उन्हें अपना व्यवसाय हानि उठाकर भी चलाना पड़ा। परन्तु अपने परिश्रम एव उद्योगशीलता के कारण अन्त में उस व्यापार में अच्छी सफलता प्राप्त करके भी दिखलाई। इस सफलता को देखकर स्वभावतः लोगों के हृदय का आकर्षण हुआ और वे अपना धन उनके व्यवसाय में लगाने के लिए तैयार होने लगे। इस तरह जब उनका उद्योग क्रमशः वृद्धि पाने लगा तो अँग्रेजों ने अपने व्यवसाय का भी रूपान्तर करना प्रारम्भ कर दिया। व्यवसायी तो ये थे ही। अत उस रूपान्तर द्वारा इन्होंने कम्पनी का प्रारम्भ उचित समझा और अंशादि बेचकर पर्याप्त मात्रा में जनता की पूँजी अपने व्यवसाय के लिए प्राप्त की। कम्पनी का प्रारम्भ करते समय इन्होंने अपने प्रारम्भिक उद्योगों को बेच

भी दिया जिससे पर्याप्त पूँजी इनके हाथ में आ गई और फिर आगे के व्यवसाय को अत्यन्त विस्तीर्ण तथा व्यापक बनाने का प्रयत्न प्रारम्भ करने में सुगमता हो गई। कम्पनी का रूप देते समय ये प्रारम्भ में उनके प्रबन्ध-अभिकर्त्ता (Managing agents) की भाँति कार्य करते थे। साथ ही कम्पनी की व्यवस्था तथा नियन्त्रण अपने पास ही बनाए रखने के लिए अंशधारियों की ओर से कम्पनी के साथ व्यवस्था सम्बन्धी दीर्घ-कालीन समझौता कर लेते थे। इस प्रकार प्रारम्भिक कम्पनियों की सारी व्यवस्था इनके हाथ में दीर्घ काल के लिए बनी रहती थी। इसके साथ ही उस समय ऐसे अधिक परिमाण में उद्योगों का संचालन एवं उनकी व्यवस्था करने के लिए योग्य एवं अनुभवी व्यक्तियों का भारत में अभाव था। इसी कारण तत्कालीन सारी व्यवस्था इन प्रबन्ध अभिकर्तृ-गृहों को सौंप दी जाती थी। यही इस पद्धति के जन्म एवं विकास के मूल कारण थे।

इस पद्धति का सर्वप्रथम विकास बंगाल में हुआ। वहाँ पर धनी लोग भी पर्याप्त मात्रा में थे तथा अँग्रेज भी सबसे पहले यहीं पर आकर जमे थे। इसी प्रकार की अन्य व्यापारिक परिस्थितियों के कारण पुनः यह पद्धति पश्चिमी भारत में विकसित हुई। वहाँ के समस्त कपास आदि के थोक व्यापारी इस औद्योगिक विकास की ओर आकर्षित हुए। वे पहले तो साधारण व्यवसाय करते रहते थे, परन्तु अँग्रेजों की व्यावसायिक पद्धति से आकर्षित होकर औद्योगिक उन्नति की ओर अग्रसर हुए। भारत-स्थित अँग्रेजी मशीनरी के विक्रेता अँग्रेजों ने भी उन्हें पर्याप्त सहायता प्रदान की। उनकी इस सहायता से वे समस्त कठिनाइयाँ दूर हो गई जो कि औद्योगिक व्यवसाय में अड़चन डालती थीं तथा जिनका अनुभव स्वयं अँग्रेजों को भी बंगाल आदि प्रान्तों में हुआ था। वे कठिनाइयाँ प्रायः यही थीं कि इन लोगों को भी यहाँ उद्योग का नेतृत्व करने वाले नेताओं (Leaders) की आवश्यकता हुई साथ ही देश में अपना धन लगाने वाले व्यक्ति भी पहले नहीं मिले। परन्तु शनैः शनैः ये समस्त आपत्तियाँ पश्चिमी भारत के प्रान्तों से भी दूर होने लगीं और औद्योगिक विकास वृद्धिगत होता हुआ दिखाई देने लगा था।

भारतवर्ष में इस प्रबन्ध अभिकर्तृ पद्धति (Managing agency system) के प्रारम्भ करने में कम्पनी विधान का भी पर्याप्त हाथ है। सन् १९१३ ई० तक किसी भी कम्पनी को संचालक रखना आवश्यक नहीं था। अतः उस समय यह आवश्यक समझा गया कि जो लोग कम्पनी के व्यवसाय में अधिक रुचि रखते हैं उन्हें प्रबन्ध-अभिकर्त्ता (Managing agent) बनाया जाय। परन्तु सन् १९१३ के कम्पनी-विधान ने संचालकों की नियुक्ति प्रत्येक सार्वजनिक कम्पनी में अनिवार्य कर दी। अतः फिर प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं को भी अपने सहकारी व्यवसायियों में से संचालक बनाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। उन लोगों ने सुगमता से अपने हितैषी एवं शुभाकांक्षी व्यक्तियों

को सचालकों के लिए चुन लिया, जिससे वास्तविक व्यवस्था-कार्य तो उन प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के ही हाथ में रहा, और ये सचालक-गण केवल उनके सकेतों पर ही चलते थे। इस तरह यह पद्धति यद्यपि हमारे देश में सुदृढ एव स्थिर रूप धारण करके विद्यमान है।

प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के कार्य (Functions of Managing Agents)—प्रबन्ध अभिकर्त्ता से हमारा तात्पर्य एक ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों के समूह से होता है जो किसी नव स्थापित-व्यवसाय के प्रयोगों का प्रारम्भिक कार्य करता है, उसके अनुसधानों में व्यस्त रहता है, सयुक्त स्कध कम्पनियों के निर्माण तथा प्रवर्तन का कार्य करता है, समस्त आर्थिक सकटों को दूर करता है तथा जो अपने व्यवसाय का प्रबन्ध करता रहता है। इस प्रकार वह प्रमुख रूप से तीन कार्य करता है :—(१) परिचालन (Flotation), (२) अर्थ-व्यवस्था (Finance) तथा (३) तात्विक सुझाव (Technical direction)। वह प्राय कम्पनी का प्रवर्तक या निर्माता (Entrepreneur), पूँजीपति (Capitalist) तथा व्यवसाय की व्यवस्था करने वाला व्यवस्थापक होता है।

(१) कम्पनी-परिचालन या निर्माण (Flotation) —प्रबन्ध-अभिकर्त्ता गण बहुधा जब किसी नवीन कम्पनी का परिचालन करते हैं तो प्रारम्भिक समस्त आपत्तियों एवं उत्तरदायित्वों को सहन करते हुए उसकी व्यवस्था करते हैं। इस प्रकार जहाँ औद्योगिक विकास (Industrial development) की कमी रहती है अथवा जहाँ लोग अधिक जोखम उठाने के लिए तैयार नहीं रहते, वहाँ पर ये प्रबन्ध-अभिकर्त्ता गण अपने अधिक-परिश्रम एव कर्त्तव्य शक्ति द्वारा व्यवसाय को उन्नति के शिखर पर ले जाते हैं। इनका प्रादुर्भाव सयुक्त स्कध-कम्पनी के निर्माण होने के उपरान्त हुआ। भारतवर्ष में कम्पनी प्रवर्तकों का सर्वथा अभाव है। इनका कार्य प्राय यहाँ प्रबन्ध अभिकर्ता ही किया करते हैं और ये लोग ही प्रवर्तकों (Promoters) की भाँति समस्त प्रारम्भिक आपत्तियों एव जोखमों के उठाने में व्यस्त रहते हैं। ये लोग ही आरम्भिक समस्त व्ययों को स्वय सहन करते हैं तथा कम्पनी के निर्माण के लिए सम्पूर्ण आवश्यक सामग्रियों को जुटाने का प्रबन्ध किया करते हैं। ये लोग प्राय कम्पनी प्रारम्भ करने से पूर्व उसका समस्त आवश्यक सामग्री एव व्यवसाय का पूर्णरूप से अनुसधान करते हैं और स्वय सतुष्ट होकर तब फिर जनता को उसके अश लेने के लिए आमन्त्रित करते हैं। कभी-कभी जबकि किसी कम्पनी के प्रवर्तक भी कम्पनी की योजनाओं को दृढ एव स्थिर समझते हैं तो ये लोग पहले उस कम्पनी को व्यक्तिगत-रूप (Private) में ही चलाना आवश्यक समझते हैं। परन्तु जब वह कम्पनी अपनी सुदृढता एवं स्थिरता प्राप्त कर लेती है तो उसे सार्वजनिक (Public) कम्पनी का रूप दे देते हैं। ऐसा करने से किसी प्रकार की आपत्ति न तो जनता को ही उठानी पड़ती है और न कम्पनी

की साख के नष्ट होने का ही भय रहता है। इस तरह उस कम्पनी के समस्त प्रारम्भिक कार्यों की पूर्ति सुगमता से हो जाती है और फिर उसकी वृद्धि में कोई भी कठिनाई प्रस्तुत नहीं होती। साथ ही जनता के धन से वह कम्पनी विस्तीर्ण व्यवसाय करती हुई पर्याप्त लाभ प्राप्त कर लेती है। पश्चिमी देशों में कम्पनी-प्रवर्त्तकों को वेतन दिया जाता है। कभी-कभी उन्हें अपने कार्य के लिए कम्पनी के कुछ अंश दे दिए जाते हैं। इस तरह वेतन या अंशों द्वारा कम्पनी-प्रवर्त्तकों को उनके कार्य का पारिश्रमिक दिया जाता है। परन्तु यहाँ पर प्राय प्रवर्त्तकों को कम्पनी का प्रबन्ध-अभिकर्त्ता बना दिया जाता है। ये लोग कम्पनी के निर्माण में पहले पर्याप्त कठिनाइयों का सामना करते हैं। पश्चिमी देशों में कम्पनी के प्रवर्त्तक किसी कम्पनी के निर्माण हो जाने के उपरान्त फिर उससे अपना सम्बन्ध नहीं रखते परन्तु यहाँ पर प्रबन्ध-अभिकर्त्ता लोग अपनी कम्पनियों से दीर्घकाल तक सम्बन्ध बनाये रखते हैं और उसकी व्यवस्था आदि में व्यस्त रहे आते हैं।

भारतवर्ष में औद्योगिक विकास के लिए प्रबन्ध अभिकर्त्तागण अत्यधिक उत्तरदायी हैं। इनके साहस एव विश्वास अत्यन्त सराहनीय हैं। ये लोग अपने अटूट परिश्रम द्वारा प्रारम्भिक विकास के लिए अत्यधिक अनुसधान करते हैं। अत इनके वे प्रारम्भिक प्रयोग एव अनुसधान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं। ये लोग अपनी योग्यता तथा इच्छा से कम्पनी के आर्थिक सकट में पर्याप्त धन लगाते हैं। इसके साथ ही कम्पनी के निर्माण में होने वाले प्रारम्भिक व्ययों तथा समस्त जोखमों को उठाते हुए ये लोग अपनी दूरदर्शिता द्वारा समस्त भूल तथा भ्रमों से दूर रहकर व्यावसायिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। अत सयुक्त स्कंध-कम्पनियों के इस युग में इनका कार्य अत्यन्त स्तुत्य तथा प्रशसनीय है।

(२) आर्थिक व्यवस्था (Finance) —सब से अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य आर्थिक व्यवस्था का होता है। प्रबन्ध अभिकर्त्ता लोग कम्पनी में आर्थिक अभाव के समय उसकी पूर्ति का पूरा पूरा प्रयत्न करते हैं। यहाँ तक कम्पनी की समस्त आर्थिक समस्याओं को सुलझाना इनका अत्यन्त सराहनीय कार्य माना जाता है। इनमें से कितने ही ऐसे होते हैं जिनके अधिकोष (Bank) तथा अर्थ विभाग अपने निजी होते हैं और उन्हीं के आधार पर कम्पनी की आवश्यकता के समय ये लोग पर्याप्त धन लगाकर उसका सकट दूर करते रहते हैं। परन्तु जहाँ प्रबन्ध अभिकर्त्तागण अपना निजी अधिकोष आदि नहीं रखते वहाँ कोई भी व्यावसायिक उद्योग केवल उनकी ईमानदारी तथा सचाई के कारण भी पर्याप्त ऋण ले सकता है। इसके अतिरिक्त एक प्रबन्ध-अभिकर्तृ संस्था, अपने अधीनस्थ कम्पनियों की एक विस्तृत अंशधारी (Shareholder) होती है और इसी कारण वह सुगमता से आर्थिक कष्ट दूर करने में समर्थ रहती है।

प्रबन्ध-अभिकर्त्ता लोग नवीन-कम्पनियों के पालन-पोषण का कार्य भी बड़ी सफलता के साथ करते हैं। उनका यह कार्य भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है क्योंकि छोटी छोटी नवीन व्यापारिक-संस्थायें प्रायः आर्थिक संकटों के कारण ही निर्मित होकर नष्ट हो जाती हैं, परन्तु ये लोग उनको आर्थिक सहायता देकर नष्ट होने से बचा लेते हैं। कितने ही ऐसे उदाहरण यहाँ मिलते हैं जिनको देखकर हम बलपूर्वक कह सकते हैं कि कितनी ही कम्पनियाँ इन लोगों का आश्रय पाकर समाप्त होने से बची हैं नहीं तो उनकी परिसमाप्ति न जाने कब की हो गई होती। यही कारण है कि कितनी ही व्यापारिक-संस्थायें जोकि इन स्वस्थ एवं उदार प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के संरक्षण में चलती हैं उनके नष्ट होने का भय नहीं रहता क्योंकि आपत्ति या मंदी के समय ये लोग आर्थिक सहायता देकर उनका विश्वास पुन स्थापित कर देते हैं और स्वयं भी अपने भविष्य के विषय में अत्यन्त विश्वस्त रहते हैं।

(३) व्यवस्था (Management)·—उपर्युक्त विवेचन से यह तो पूर्णतया स्पष्ट हो ही गया होगा कि प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं का प्रमुख कार्य कम्पनी की आर्थिक समस्या को सुलझाना है। वे समस्त आवश्यक आयोजनों द्वारा कम्पनी की आर्थिक दशा का सुधार करते हैं और विलीयन आदि के समय आर्थिक सहायता देकर उसे नष्ट होने से बचाते हैं। इसके साथ ही जैसाकि इनके नाम से स्पष्ट है कि ये कम्पनी की व्यवस्था करने वाले होते हैं। यह व्यवस्थापक नाम बम्बई आदि प्रान्तों की ओर इनके लिए युक्ति-संगत दिखाई देता है क्योंकि उधर प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं द्वारा ही मुख्य रूप से प्रबन्ध या व्यवस्था का कार्य होता है। परन्तु भारतवर्ष के पूर्वीय प्रान्तों में प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का स्थान केवल एक अभिकर्त्ता (Agent) की ही भाँति होता है। परन्तु इनमें इतनी विशेषता अवश्य रहती है कि ये लोग कम्पनी की व्यवस्था भी करते हैं। इस प्रकार आर्थिक सहायता की अपेक्षा यहाँ उनके प्रबन्ध कार्य का अधिक महत्त्व रहता है। ये लोग भिन्न भिन्न व्यापारों के लिए आवश्यक अनुभव एवं तान्त्रिक योग्यता प्राप्त करते हैं और बहुधा प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का ऐसा ही समूह होता है जो अपनी योग्यता, शिक्षा तथा नैसर्गिक कुशलता के कारण कम्पनियों के संगठन एवं व्यवस्था कार्य में अत्यन्त दक्ष, निपुण तथा विशेषज्ञ रहता है। ये लोग अपने अभिकर्त्तृत्व गृहों (Agency houses) में तात्रिक योग्यता (Technical knowledge) प्राप्त एवं भिन्न-भिन्न व्यवसायों के विशेषज्ञ व्यक्तियों को ही नियुक्त करते हैं, जिससे ये लोग नाना प्रकार के व्यवसायों का प्रबन्ध तथा संगठन सुगमता से करने में समर्थ रहते हैं। इस प्रकार ये लोग अपने नियन्त्रण में रहने वाली समस्त कम्पनियों को अपनी आवश्यक तान्त्रिक (Technical), व्यवस्था-सम्बन्धी तथा कार्यवाहिक (Secretarial) सेवायें प्रदान करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक प्रबन्ध-अभिकर्तृ-संस्था के मुख्य कार्य हैं— कम्पनी का निमाण, उसकी आर्थिक दशा का सुधार तथा उसकी व्यवस्था। परन्तु इनके अतिरिक्त भी ये कुछ अन्य आवश्यक सेवायें करते रहते हैं। ये लोग कम्पनी के व्यापार से सम्बन्धित कच्चे माल, भण्डारों (Stores) तथा यंत्रों (Machineries) को एक अभिकर्ता (Agent) की भाँति खरीदते हैं तथा कम्पनी की निर्मित सामग्री (Manufactured goods) के बेचने का भी प्रबन्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से प्रबन्ध अभिकर्तृ-गृह (Agency houses) अधिकोषण व्यापार, बीमा तथा अन्य अभिकर्तृ-व्यवसायों (Agency business) का आयात और निर्यात (Import and Export) तथा ऐसे ही अन्य अनेक आवश्यक कार्य करते रहते हैं।

सूती वस्त्र उद्योग की भारतीय संरक्षण समिति (Indian Tariff Board on the Cotton Textile Industry) द्वारा सन् १६३२ में प्रकाशित एक वृत्तलेख (Report) में, प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के मुख्य सिद्धान्तों का आलोचना करते हुए लिखा था —'भारत सरकार द्वारा सचालित एव संस्थापित महान् औद्योगिक व्यवसायों को छोड़कर, समस्त प्रमुख औद्योगिक व्यवसाय यहाँ प्रबन्ध अभिकर्ताओं के परिश्रम द्वारा ही संस्थापित हुए हैं। भारतवर्ष में व्यवसाय का नतृत्व करने वाले प्रबन्ध-अभिकर्तृ-गृहों (Managing agency houses) की स्थापना हो चुकी है ये गृह औद्योगिक विकास में सफल प्रयत्न करते हैं तथा उन्होंने औद्योगिक प्रगति एव उन्नति के लिये एक परम्परा सी निर्माण करदी है। यही एक ऐसी महत्त्वपूर्ण एव प्रभावशाली घटना है जिसके आधार पर प्रबंध-अभिकर्तृ-पद्धति (Managing agency system) भारतवर्ष में सदैव प्रचलित रहेगी। प्रत्येक प्रबन्ध-अभिकर्ता यद्यपि योग्य, दूरदर्शी तथा साधन सम्पन्न होने का दावा नहीं करता, परन्तु अपनी आनुवंशिकता या परम्परा (Tradition) के कारण पर्याप्त लाभार्जन करता है तथा अपनी योग्यता के लिए इस पद्धति का ऋणी होता है।"

प्रबन्ध अभिकर्तृ संस्थाओं का सगठन (Constitution of Managing Agency System)—नियमानुसार किसी कम्पनी की प्रबन्ध अभिकर्तृ संस्था किसी एक व्यक्ति, साथ या संस्था (Firm) अथवा कम्पनी के अधीन रहती है। परन्तु विशेष रूप से इनका सगठन साझेदारी (Partnership) या व्यक्तिगत सीमित कम्पनियां (Private limited company) के ढग पर ही हुआ है। आजकल कहीं-कहीं, जैसे विशेष रूप से अहमदाबाद मे, सार्वजनिक कम्पनियाँ भी प्रबन्ध-अभिकर्ताओं की भाँति कार्य करती हैं। इन प्रबन्ध-अभिकर्तृ गृहों में कुछ संस्थायें भारतीय हैं तथा कुछ यूरोपीय हैं।

यूरोपीय प्रबन्ध-अभिकर्तृ-गृह बहुधा वंश-परम्परा (Heredity) तथा चुनाव (Selection) के आधार पर ही संगठित किए जाते हैं। इनमें मूल संस्थापक अपने

कुटुम्ब का एक या अधिक प्रतिनिधि रखता है तथा बाहर के चुने हुए व्यक्ति भी समय-समय पर ले लिए जाते हैं। बाहर से आने वाले व्यक्ति केवल धन तथा व्यावसायिक अनुभव लेकर ही नहीं सम्मिलित होते, वरन् कुछ तान्त्रिक योग्यता (Technical knowledge) भी रखते हैं। भारतीय अभिकर्तृ-गृहों के सगठन का स्वरूप कौटुम्बिक व्यवसायों (Family concerns) की भाँति है। यहाँ प्राय किसी भी बाहरी व्यक्ति को इनमें स्थान नहीं दिया जाता। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आनुवंशिकता को स्थिर रखने के कारण भारतीय प्रणाली त्रुटिपूर्ण है; फिर भी बाहरी योग्यता तथा अनुभवों को अपने में सम्मिलित न करने से कभी-कभी असतोषजनक परिणाम देखने में आते हैं। अत वश-परम्परा या आनुवंशिकता के होते हुए भी औद्योगिक एव आर्थिक व्यवसाय विकास की दृष्टि से भारतवर्ष के प्रबन्ध अभिकर्तृ-गृहों को भी बाहरी लोगों का आह्वान करना चाहिए जिससे कार्य कुशलता एव योग्यता में पर्याप्त वृद्धि हो।

प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का प्रमुत्व (Dominance of Managing Agents) :—कम्पनी की व्यवस्था में कुशलता उसी समय दिखाई देती है जब प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं या सचालकों को कम्पनी के अशधारी किसी प्रकार भी तग नहीं करते और न उनके ऊपर किसी प्रकार का अकुश रखकर मार्ग में विघ्न उपस्थित करते हैं। ये प्रबन्धक लोग स्वतन्त्र होकर ही व्यवसाय की अच्छी व्यवस्था कर सकते हैं।

भारतवर्ष में प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं की यही दशा है। उनके मार्ग में किसी प्रकार का विघ्न उपस्थित नहीं किया जाता। यही कारण है कि विश्व के अन्य देशों की अपेक्षा भारतवर्ष की कम्पनियों के प्रबन्धकों को अत्यधिक सुविधाये प्राप्त हैं। साथ ही प्रबन्ध-अभिकर्तृ पद्धति भी प्राय आर्थिक अल्प जनतन्त्रात्मक शासन (Economic oligarchy) की ही भाँति है। प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं का निम्नलिखित ढग से कम्पनियों पर प्राय पूरा-पूरा नियन्त्रण रहता है —

(१) प्रबन्ध अभिकर्त्तागण लिखित अनुबध (Written agreement) द्वारा कम्पनी का नियत्रण करते हैं। धारा २ (६ A) के अनुसार प्रबध-अभिकर्त्ता (Managing agent) से तात्पर्य एक ऐसे व्यक्ति या फर्म या कम्पनी से होता है जो कम्पनी की व्यवस्था का पूर्ण अधिकारी होता है और वह व्यवस्था का अधिकार एक लिखित अनुबंध द्वारा प्राप्त करता है तथा सचालकों (Directors) के नियत्रण तथा निर्देशन में रहता है। परन्तु वह लिखित अनुबध के अतिरिक्त उस सीमा तक भी, यदि कोई है तो, कार्य कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि लिखित अनुबध द्वारा एक कम्पनी के प्रबन्ध अभिकर्त्ता के लिए यह भी सम्भव है कि यदि उस अनुबध में किसी स्वतत्र कार्य के करने का भी निर्देश हो तो वह सचालकों के नियंत्रण तथा निर्देशन से स्वतंत्र होकर भी कार्य कर सकता है।

(२) वे अपने अधीनस्थ कम्पनियों के पर्याप्त अंश प्रायः अपने नाम कर लेते हैं और ये अंश ऐसे होते हैं जो अत्यधिक मतदान सम्बन्धी अधिकारों से परिपूर्ण होते हैं। इनकी वास्तविक स्थिति का परिज्ञान करना तो कठिन है क्योंकि ये अंश इनके कितने ही सम्बन्धियों के नाम से लिए जाते हैं, परन्तु उन सभी अंशों का सम्बन्ध इन प्रबन्ध अभिकर्ताओं से ही रहता है।

(३) कितनी ही कम्पनियों में ये लोग ही मुख्य रूप से ऋण पत्र-धारी तथा उत्तमर्ण (Creditors) होते हैं। कम्पनी की आर्थिक व्यवस्था तो इनके हाथ में रहती ही है। इसके साथ ही अंशधारी बनकर और भी कम्पनी पर इनका प्रभुत्व हो जाता है। धारा ८७—A (२) के अनुसार १७ जनवरी सन् १९३७ से पूर्व संस्थापित कम्पनियों के प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपनी नियुक्ति के २० वर्ष पश्चात् कम्पनी की व्यवस्था का कार्य नहीं कर सकते। परन्तु कम्पनी से उनका निकाला जाना उस समय तक सम्भव नहीं होता जब तक कि कम्पनी को दिया हुआ उनका समस्त धन उन्हें वापिस नहीं मिलता।

(४) कम्पनी के अंशधारियों की संख्या कभी-कभी बढ़ जाती है और वे दूर-दूर स्थानों पर रहते हैं। इससे वे परस्पर परिचित नहीं होते तथा उनका व्यक्तिगत स्थायित्व भी कम्पनी में अत्यन्त कम महत्त्व वाला रहता है। इस तरह ऐसी दशा में वे न तो कभी एकत्रित हो सकते हैं और न फिर कभी प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के विरुद्ध कोई कार्यवाही कर पाते हैं।

(५) कम्पनी के संचालक भी इन पर अपना नियन्त्रण रखने में असमर्थ रहते हैं, क्योंकि ये लोग भी प्रत्यक्ष रूप से या तो प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं द्वारा ही नियुक्त किए जाते हैं अथवा परोक्ष रूप से इनके प्रभाव द्वारा कम्पनी में आते हैं। अतः दोनों ही रीतियों से संचालकों पर ही एक प्रकार से इनका नियन्त्रण रहता है। दूसरे बहुत से संचालक, कितनी ही और कम्पनियों के भी संचालक होते हैं। अतः वे इनकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते और उदासीन बने रहते हैं। इसके साथ ही यह भी देखने में आता है कि ऐसे संचालक अपना कर्त्तव्य भी पूरा नहीं करते। इस प्रकार ये प्रबन्ध-अभिकर्त्ता गण अपने स्वतन्त्र अधिकारों का उपयोग करते हुए कम्पनी की व्यवस्था आदि पर पूरा-पूरा नियन्त्रण रखते हैं।

प्रबन्ध-अभिकर्तृ पद्धति के लाभ (Advantages of Managing Agency System).—भारतीय औद्योगीकरण से महत्त्वपूर्ण स्थान रखने वाली इस पद्धति की कभी कभी आलोचना भी सुनने में आती है। परन्तु क्या यह पद्धति दूषित है? अतः इससे प्राप्त लाभों तथा इसकी सेवाओं के विषय में यदि विचार करें तो पता चलेगा कि भारतीय उद्योग एवं व्यवसाय में इस पद्धति ने अभूतपूर्व परिवर्तन प्रस्तुत किया है।

(१) प्रवर्तन या निर्माण (Promotion) :—किसी भी कम्पनी के निर्माण से पूर्व कुछ आवश्यक बातों की पूर्ति करना अनिवार्य होता है। जैसे उसमें लगाने के लिए तथा प्रारम्भिक खर्चों के लिए धन की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही उसे चलाने के लिए तात्रिक एव व्यावसायिक योग्यता की आवश्यकता होती है, फिर कभी-कमी मन्दी के समय धन को अत्यन्त आवश्यकता रहती है। इस प्रकार कितनी ही प्रारम्भिक आवश्यकताओं को पूर्ति करने वाली सस्थायें भारतवष में नहीं पाई जातीं। यहाँ पर कम्पनियों के इन समस्त प्रारम्भिक कार्यों को पश्चिमी देशों को भाँति न तो कोई व्यक्ति ही कर पाता है और न कोई सस्था ऐसी रहती है जो ये कार्य कर सके। अतः प्रबन्ध अभिकर्तृ-गृहों का ही एकमात्र यह सराहनीय कार्य होता है कि वे इन समस्त कार्यों को बड़ी सुगमता से सम्पन्न करते हैं तथा ऐसी कितनी ही कम्पनियों का निर्माण एव सचालन करत रहते हैं। पाश्चात्य देशों में कम्पना-प्रवर्तकों को कुछ वेतन या पारिश्रमिक के रूप में कम्पनी के कुछ अश मुफ्त मिल जाते हैं। परन्तु भारतवर्ष में प्रवर्तक का कार्य करने वाले प्रबन्ध-अभिकर्ताओं को कम्पनी की व्यवस्था का कार्य ही सौंप दिया जाता है जिसके आधार पर ये लोग पर्याप्त धन कमा लेते हैं।

भारतवर्ष में जब किसी कम्पनी का निर्माण होता है और उसके लिए किसी स्थिर सम्पत्ति को खरीदा जाता है तो प्रबन्ध-अभिकर्त्ता लोग कम्पनी की स्थापना से पूर्व ही या तो उस सम्पत्ति को खरीद लेते हैं या उसके खरीदने का अधिकार प्राप्त कर लेते हैं, फिर जैसे ही उस कम्पनी का निर्माण होता है वैसे ही बिना कुछ अधिक मूल्य लिए केवल क्रय मूल्य पर ही उस सम्पत्ति को कम्पनी के नाम कर देते हैं। परन्तु यह दशा पाश्चात्य देशों में नहीं पाई जाती है। वहाँ पर बहुधा ऐसी सम्पत्ति, पर्याप्त लाभ उठाकर स्फीत मूल्य पर कम्पनी को दी जाती है।

(२) अभिगोपन कार्य (Underwriting) :—किसी भी कम्पनी में धन लगाने से पूर्व प्रत्येक विनियोक्ता अपने हृदय में यह विचार करता है कि कहीं ऐसा न हो कि मेरा धन मारा जाय। अत. कम्पनी के चतुर एवं धन-लोलुप प्रवर्तकों तथा विनियोक्ताओं के मध्य किसी ऐसे विश्वासपात्र व्यक्ति का रहना आवश्यक होता है जो एक ओर तो जनता के हृदय की आशका को दूर करे, तथा दूसरी ओर कम्पनी के लिए धन भी पर्याप्त मात्रा में दिलाये। इङ्गलैंड में इस कार्य को अभिगोपक (Underwriters) या निर्गमन-गृह (Issue houses) करते हैं, जर्मनी में औद्योगिक बैंक (Industrial banks) करती हैं तथा अमेरिका में विनियोगी बैंक (Investment banks) किया करती हैं। भारत में ऐसी सभी सस्थाओं का अभाव है। अतः यहाँ इस मध्यस्थता का कार्य प्रबन्ध-अभिकर्त्ता लोग ही करते हैं। ये लोग अभिगोपक (Underwriter) का कार्य तो करते ही हैं, इसके साथ ही बाजार में अशों के बेचने में सहायता करते हैं और औद्योगिक विकास के लिए जनता से धन भी एकत्रित करते हैं।

(३) अर्थ व्यवस्था (Finance) :—किसी नव स्थापित कंपनी में धन लगाकर तथा पूर्व स्थापित कम्पनी को धन देकर ये लोग औद्योगिक उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक सेवायें प्रस्तुत करते हैं। यह बात विचारणीय है कि जहाँ पर कितनी ही संयुक्त-स्कध-कम्पनियाँ (Joint stock companies) होती हैं और लोग उनके सिद्धान्तों से भी परिचित रहते हैं, वहाँ पर भी जब तक किसी प्रवर्त्तक के पास अपना निजी धन प्राप्त करने के साधन पर्याप्त मात्रा में नहीं होते, तब तक किसी नये व्यवसाय की स्थापना करना बड़ा कठिन हो जाता है। यह सत्य है कि गत वर्षों में जब कि जनता के पास पर्याप्त धन रहा है, भारतवर्ष में कितनी सार्वजनिक कपनियों की स्थापना हुई है जिनमें प्राय जनता ने ही पर्याप्त मात्रा में धन लगाया है। परन्तु १७ मई १९४३ ई० से जैसे ही पूँजी निर्गमन-नियन्त्रण लागू हुआ है, वैसे ही बिना केन्द्रीय सरकार की अनुमति के कोई भी प्रवर्त्तक पर्याप्त मात्रा में अपनी पूँजी लगाये बिना किसी भी कपनी के लिए जनता से धन-याचना नहीं कर सकता। बहुधा जब कोई व्यवसाय पर्याप्त लाभ प्राप्त करता हुआ दिखाई देता है तो सर्वसाधारण भी अपना धन अधिक मात्रा में लगाने के लिए तैयार रहते हैं। परन्तु इससे पूर्व किसी भी व्यवसाय में धन लगाने के लिए प्रवर्त्तकों को ही तैयार रहना चाहिए। यदि वे प्रारम्भ में धन नहीं लगाते तो व्यवसाय के चलने में शका तथा असंम्भवता रहती है और व्यवसाय को लाभप्रद बनाने के लिए अटूट परिश्रम नहीं होता।

कुछ कम्पनियाँ अपनी पूँजी को जनता के आभूषण आदि संपत्ति गिरवी रखकर बढ़ाती हैं। यहाँ पर भी प्रबन्ध-अभिकर्ता कम्पनी तथा जनता के मध्य एक आर्थिक संबंध स्थापित करने के लिए विश्वास पैदा करता है। इस तरह जनता की गिरवी रखने की तैयारी तथा रुपया उधार लेने का सूद भी प्रबन्ध-अभिकर्ताओं की आर्थिक स्थिति एवं उनकी साख पर पूर्ण रूप से निर्भर रहते हैं।

इसके अतिरिक्त भारत में जब तक प्रबन्ध-अभिकर्ता-गण किसी सीमित-दायित्व वाली कम्पनी (Limited liability Companies) की प्रतिभूति या जमानत (Security) नहीं देते, उस समय तक कोई भी बैंक उन्हें ऋण नहीं देती। इस प्रकार कभी-कभी प्रबन्ध-अभिकर्ताओं को बड़ी जोखम उठाकर ऐसी कम्पनियों की सुरक्षा करनी पड़ती है और उन्हे अपने व्यक्तिगत बल पर आर्थिक सहायता देते हैं।

उपर्युक्त परिस्थितियों में, किसी प्रबन्ध अभिकर्ता का पूर्ण नियन्त्रण रखना कितना आवश्यक एव महत्त्वपूर्ण है, यह भली प्रकार समझ में आ सकता है। अंश-धारियों के नियन्त्रण से प्रबन्ध-अभिकर्ताओं का स्वतन्त्र रहना, बड़ी बुरी तरह से आलोचना का विषय बना है। लोग बहुधा उनके स्वतन्त्र कार्यों की कटु आलोचना किया करते हैं। परन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तथा शान्तिपूर्वक विचार किया जाय

तो पता चलेगा कि प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का सरक्षण पाकर एक कम्पनी की स्थिरता, दृढता एव साख की कितनी अभिवृद्धि हो जाती है और यह एक मात्र इनके स्वतत्र व्यवस्था-सम्बन्धी कार्यों से ही सभव है। नहीं तो यदि इन्हें अत्यधिक नियत्रित रक्खा जाय या अशधारियों का विघ्न इनके मार्ग में कोई अड़चन उत्पन्न करे तो इस प्रकार के लाभ एव औद्योगिक विकास का होना सभव नहीं।

(४) वैज्ञानीकरण (Rationalisation) —कम्पनी के निर्माण एव आर्थिक सेवाओं के अतिरिक्त प्रबन्ध अभिकर्तृ-पद्धति कम्पनी की ऐसी व्यवस्था करती है जिसमें उसकी कार्य क्षमता तथा मितव्ययता भी स्पष्ट झलकती रहती है और ऐसी व्यवस्था अन्यत्र होना कदापि सम्भव नहीं है।

प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की बड़ी बड़ी सस्थायें बड़े-बड़े व्यवसायों का नियन्त्रण करती हैं। उदाहरण के लिए जैसे चाय का व्यवसाय, जूट मिलें तथा कोयले की खानों के व्यवसाय आदि की बड़ी दक्षता एव कुशलता द्वारा व्यवस्था करती हैं। कारण यह है कि इन सस्थाओं के कितने ही विभाग रहते हैं जो भिन्न-भिन्न कार्यों में विशेषज्ञ प्राप्त किए हुए होते हैं। इस तरह सारी व्यवस्था का कार्य विभिन्न विभागों में उनकी विशेषता के अनुसार बाँट दिया जाता है और वे विभाग पुन अपने सम्बन्धित व्यवसाय की देख भाल किया करते हैं। उन समस्त विभागों का नाम भी क्रमश दिया रहता है जैसे चाय विभाग, जूट-विभाग, कोयला विभाग, तथा जहाज या बामा-विभाग आदि। इस तरह विशेष योग्यता प्राप्त करके ये सस्थायें विभिन्न व्यापारों का बड़ी कुशलता के साथ प्रबन्ध किया करती हैं। इसके साथ ही ये लोग अपना निजी क्रय विक्रय विभाग भी रखते हैं। जिससे अपने अधीनस्थ व्यवसाय की आवश्यकताओं का क्रय एव उनकी निर्मित वस्तुओं का विक्रय इस विभाग द्वारा कुशलता एवं मितव्ययता के साथ किया जाता है।

कम्पनियों से सम्बन्धित इन प्रबन्ध-अभिकर्तृ-सस्थाओं से और भी कितने ही लाभ हैं। सर्व प्रथम ये लोग अन्य सस्थाओं की अपेक्षा अधिक योग्य एव अनुभवी व्यक्तियों को अपने यहाँ नियुक्ति करते हैं जो बड़ी तथा महत्वपूर्ण प्रबन्ध-अभिकर्तृ-सस्थाओं का सगठन करने में समर्थ रहते हैं। कम्पनियों के लिए ऐसे योग्य एव अनुभवी व्यक्ति रखना सर्वथा असभव रहता है और वे पर्याप्त खोज करने पर भी ऐसे व्यक्ति नहीं पा सकतीं हैं, इन सस्थाओं के द्वारा उन्हें भी ऐसे अनुभवी एव कार्य कुशल व्यक्तियों की सेवायें प्राप्त हो जाती हैं।

दूसरे, इस पद्धति द्वारा कम्पनियों को पर्याप्त मितव्ययता का लाभ होता है। जब किसी ऐसी सस्था के नियत्रण में एक जूट कम्पनी, एक कोयला-कम्पनी, एक चाय का बगीचा तथा एक यातायात कम्पनी होती हैं तो एक सस्था के

उत्पादित माल की खपत दूसरे में बड़ी सुगमता से हो जाती है और उन्हें अधिक आपत्ति नहीं उठानी पड़ती। प्राय एक दूसरे के व्यवसाय द्वारा पर्याप्त लाभ उठाया जाता है। जैसे यातायात कम्पनी को स्वभावत सभी सम्बन्धित कम्पनियों के माल ढोने का व्यवसाय मिल जाता है। इसी प्रकार कोयला-कम्पनी का कोयला निश्चित रूप से जूट-कम्पनी में काम आ जाता है या चाय कम्पनी में भी प्रयोग किया जाता है। उसी भाँति इन कम्पनियों में से जिन्हें माल के पैकिंग करने की आवश्यकता होती है तो वे जूट की बनी हुई वस्तुओं का उपयोग सुगमता से कर लेती हैं। इस तरह एक ही प्रबन्ध-अभिकर्तृ संस्था के संरक्षण में चलने वाली विभिन्न पूरक (Complementary) संस्थायें पर्याप्त लाभार्जन करने में समर्थ हो जाती हैं।

तीसरे, इन संस्थाओं के पास अत्यधिक योग्य तात्रिक एव प्रबन्ध करने की क्षमता रखने वाले कर्मचारी रहते हैं, जिन्हें ये व्यवस्थाकार्य के लिए नियुक्त करते हैं तथा उन्हें अच्छा वेतन भी प्रदान करते हैं।

अत में, इन प्रबन्ध अभिकर्ताओं के पास जो क्रय-विक्रय विभाग रहता है उससे कम्पनियों की प्रमुख आवश्यक वस्तुओं का क्रय विक्रय बड़ी सुगमता एव सफलता से हो जाता है। यह विभाग विभिन्न बाजारों के भावों से सतत सम्पर्क में रहने के कारण प्रत्येक क्रय विक्रय के कार्य को अन्य योग्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक मित व्ययता के साथ किया करता है। इस प्रकार जो कम्पनियाँ इन प्रबन्ध अभिकर्तृ-संस्थाओं से सम्बन्धित रहती हैं या उनके नियन्त्रण में ही व्यवसाय करती हैं वे प्राय सभी प्रकार के लाभ बड़ी सुगमता से प्राप्त कर लेती हैं। उन्हें न वस्तुओं के खरीदने में कोई कठिनाई होती है, न उसके निर्माण में आपत्ति उठानी पड़ती है और न बेचने तथा विज्ञापन आदि में ही कोई मुसीबत होती है। ऐसी कम्पनियाँ बड़ी कुशलता एव मितव्ययता के साथ कार्य करती हुई खोज तथा आर्थिक कार्यों को भी बड़ी सुविधा-पूर्वक सम्पन्न कर लेती हैं। अत यह पद्धति कम्पनियों की व्यवस्था, क्रय विक्रय कार्य तथा एकसूत्रीकरण या वैज्ञानीकरण में अधिक सफल सिद्ध हुई है।

(५) विनियोक्ताओं के बचाव (Safeguard for Investors):— वास्तव में प्रबन्ध अभिकर्तृ पद्धति साधारण विनियोक्ताओं की बड़ी ही सुरक्षा करने वाली है क्योंकि प्रबन्ध अभिकर्त्ता लोग जानते हैं कि किसी प्रकार भी उनके एजेंसी गृहों की प्रतिष्ठा कम न हो और इसीलिए वे सब प्रकार की आपत्तियाँ एवं जोखिम उठाने को तैयार रहते हैं, तभी अपने नाम की रक्षा के लिए अपने अधीनस्थ कम्पनी को नष्ट नहीं होने देते। कभी-कभी कम्पनियों की साधारण आपत्तियों में भी ये अपनी वास्तविक सेवा उपस्थित करते हैं। इस प्रकार जब कभी चाय या कपास के उद्योग घटती या मंदी में पड़ जाते हैं और मंदा के कारण बैंकें भी उन्हें ऋण देने से इनकार कर देती हैं, इस कठिनाई के समय प्रबन्ध-अभिकर्ता ही अपने धन

एव समुचित बचाव द्वारा उनकी रक्षा करते हैं और उस मृतप्राय दशा में उन्हें अपने पैरों पर खड़ा कर देते हैं। ऐसे कितने ही प्रमाण मिलते हैं जबकि प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं ने कितनी ही कम्पनियों की हानि को स्वय सहन करके अथवा उसे दूर करके आपत्ति के समय में कम्पनियों की रक्षा की है तथा उन्हें पुनः लाभार्जन करने में समर्थ बनाया है।

कम्पनियों की आपत्ति के समय रक्षा करने के अतिरिक्त प्रबन्ध-अभिकर्त्ता लोग आवश्यकतानुसार विश्वास एव भरोसे की भावना भी निर्माण करते हैं। इनकी इस भावना का ही यह परिणाम है कि आज अधिकाश भारतीय जनता औद्योगिक व्यवसायों में अपना धन स्वाभाविक रूप से लगा देती है और कोई अविश्वास या असतोष नहीं प्रकट करती। इस तरह भारत के अधिकाश लोग अब कम्पनियों के अश खरीदने लगे हैं। इस प्रवृत्ति के जाग्रत करने का श्रेय प्रबन्ध-कभिकर्त्ताओं को ही है। साधारणत किसी व्यवसाय में पूँजी लगाने के लिये दो बातें देखी जाती हैं— पहले उसकी आयका अविरल स्रोत अर्थात् ऐसी योजनायें जिनसे निरतर पूँजी प्राप्त होती रहे तथा दूसरे उसके व्यक्तियों का विश्वास अर्थात् उसकी व्यवस्था करने वाले सभी व्यक्ति ईमानदार तथा सच्चे होने चाहिए। इस प्रकार इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारतीय विनियोक्ताओं ने पर्याप्त धन कम्पनियों में लगाना आरम्भ कर दिया था। इतना अवश्य है कि बीच में विश्व की अशान्त परिस्थितियों के कारण यह कार्य कुछ शिथिल पड़ गया था, परन्तु अब पुन भारत में अधिकाश औद्योगिक व्यवसायों में भारतीय जनता का ही धन लगा हुआ है और बड़ी मात्रा में उत्पादन-कार्य होता है। इसी बात के आधार पर यह निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि कम्पनियों के प्रबन्ध-कर्त्ताओं का विश्वास तथा ईमानदारी दिन-प्रतिदिन लोगों के हृदय में घर करती जा रही है और उसी के परिणामस्वरूप कम्पनियों में विनियोक्तागण अपना धन लगाते हुए तनिक भी सकोच नहीं करते और अधिक से अधिक मात्रा में लगाने के लिये तैयार रहते हैं। बगाल में तो इन लोगों का विश्वास प्रत्येक जनता के हृदय में दृढ हो चुका है। इसी कारण वहाँ प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं की व्यवस्था में लोग किसी प्रकार की आशका नहीं करते और ये भी कम्पनी को लाभान्वित करते हुए समस्त अशधारियों को धन का उचित लाभ प्रदान करते हैं। इस तरह वहाँ पर उन लोगों ने अपनी अच्छी प्रतिष्ठा तथा अच्छा विश्वास व्यवसाय की अभिवृद्धि के लिए स्थापित कर लिया है।

कलकत्ता के व्यापारिक क्षेत्र में बहुधा यह देखने में आता है कि प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के अधीनस्थ कम्पनियाँ तो जनता की पर्याप्त पूँजी प्राप्त कर लेती हैं, परन्तु वे कम्पनियाँ जनता का धन नहीं आमन्त्रित कर पातीं जो पूर्णतया स्वतन्त्र एव स्व सचालित होती हैं। इसका भी कारण यही है कि किसी नई कम्पनी की स्थापना

होते ही उसकी विवरण-पत्रिका (Prospectus) पर ये प्रबन्ध अभिकर्त्ता लोग अपनी मुद्रा अंकित कर देते हैं जिससे उस नवीन संस्था को इनकी अनुमति प्राप्त हो जाती है और उसके भविष्य के विषय में भी लोगों की दृढ भावना हो जाती है कि इसका व्यवसाय स्थिरता एवं दृढ़ता प्राप्त करता हुआ इन लोगों के ही नियन्त्रण में रहेगा। इसस विनियोक्ताओं की आशंका का निराकरण हो जाता है और उस कम्पनी की प्रतिष्ठा लोगों की दृष्टि में अत्यन्त उच्च हो जाती है। इस प्रकार भारतवर्ष में ऐसी संरक्षक संस्थाओं के अभाव में यही उचित जान पड़ता है कि प्रबन्ध अभिकर्त्ता लोग नवीन कम्पनियों को अपना आश्रय देकर, विनियोक्ताओं को आशा एवं विश्वास प्रदान करें। जिससे उनकी पूर्व स्थापित प्रतिष्ठा के कारण, इन लोगों के संरक्षण में रहने वाली नई कम्पनी के लिए पर्याप्त धन लगाने में जनता को संकोच न हो तथा नवीन औद्योगिक संस्थायें निरन्तर उन्नति की ओर अग्रसर होती रहें। प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की संरक्षकता ईमानदारी विश्वसनीयता तथा आश्रय देने की भावना के कारण ही आज उद्योगों में अत्यधिक उन्नति की आशा है। भले ही भारत में संरक्षक संस्थायें नहीं, परन्तु यदि ऐसा ही रहा तो इन लोगों द्वारा व्यवस्थित एवं संचालित औद्योगिक कम्पनियाँ निश्चित रूप से सफलता प्राप्त कर सकती हैं।

प्रबन्ध अभिकर्तृ पद्धति के दोष (Defects of Managing Agency System) —जैसा पहले कहा जा चुका है कि प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं द्वारा कम्पनियों का नियन्त्रण अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली होता है। वे अपनी अधिकृत कम्पनियों में अपने अधिकारों का उपयोग या तो कम्पनियों की भलाई के लिए करते हैं या कभी-कभी केवल अपने लाभ के लिए भी किया करते हैं। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार कुछ लोग केवल अपने स्वार्थ में ही लिप्त रहते हैं और फिर कम्पनियों की उन्नति या औद्योगिक विकास के लिए उन्हें अवकाश नहीं रहता। इस प्रकार कितनी ही बुराइयों का जन्म इस पद्धति द्वारा होता है। निम्नलिखित कुछ प्रमुख दोष हैं जो इस पद्धति के कारण उत्पन्न होते हैं —

(१) **आर्थिक प्रभुत्व (Financial Dominance)** —प्रबन्ध अभिकर्तृ-पद्धति (Managing agency system) में सभी उद्योगों के अन्तर्गत औद्योगिक प्रतिफल (Consideration) की अपेक्षा आर्थिक प्रभुत्व की ही महत्ता दिखाई देती है। कारण यह है कि इन संस्थाओं में विशेष रूप से पूँजीपति ही होते हैं वे लोग तान्त्रिक योग्यता (Technical knowledge) उतनी नहीं रखते जितनी कि आर्थिक सहायता प्रदान कर सकते हैं। ये लोग किसी भी कम्पनी के संकट के समय में केवल आर्थिक सहायता देकर उसमें पुनर्जीवन का संचार अवश्य कर सकते हैं, परन्तु उस कम्पनी को चलाने के लिए जो तान्त्रिक एवं व्यापारिक योग्यता की आवश्यकता रहती है उसका इनमें अभाव रहता है। इससे कम्पनी की व्यवस्था में कितने ही दोष उत्पन्न

हो जाते हैं। इस आर्थिक प्रभुत्व का यह परिणाम होता है कि यदि किसी समय कम्पनी आर्थिक चक्र में फँस जाती है और इन लोगों के पास पर्याप्त धन नहीं होता तो ऐसी भीषण परिस्थिति में प्रबंध अभिकर्त्ता लोग अपने अधिकार दूसरे प्रबंध अभिकर्त्ताओं को, जिनके पास अच्छे आर्थिक साधन होते हैं, सौंपकर स्वयं अलग हो जाते हैं। ऐसा करते समय वे कम्पनी या अंशधारियों के हितों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते। क्योंकि नये प्रबन्ध अभिकर्त्ता भले ही आर्थिक दृष्टि से प्रबल हों, परन्तु तान्त्रिक योग्यता एवं व्यावसायिक कुशलता का उनमें अभाव रहता है। इससे कम्पनी पुन: समझकर भी उन्नति की ओर अग्रसर नहीं हो पाती।

(२) अंशों की अत्यधिक परिकल्पना (Excessive Speculation in Shares) —इस प्रबन्ध अभिकर्तृ पद्धति के कारण कितने ही स्थानों में विशेषकर बम्बई में, कम्पनियों के अंशों में अत्यधिक परिकल्पना (Speculation) पाई जाती है। जब किसी कम्पनी के प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की आर्थिक कमजोरियाँ का अन्य पूँजीपतियों को पता चल जाता है, तब वे लोग कम्पनी के अधिक से अधिक अंश खरीदकर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। इस चेष्टा के कारण बाजार में अंशों की परिकल्पना में वृद्धि हो जाती है और प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक अंश लेकर उस कम्पनी का स्वामी बनने का प्रयत्न करने लगता है। प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं की इस दुर्बलता के ही कारण कम्पनी की दशा भी शोचनीय हो जाती है। यद्यपि कम्पनी की स्थिति दृढ एवं स्वस्थ ही क्यों न हो, परन्तु प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की आर्थिक दुर्बलता के कारण उसकी स्थिति में भी आशंका होने लगती है। इस प्रकार के कितने ही दोष जो कि बम्बई स्कन्ध विनिमय (Bomba,-Stock Exchange) की प्रतिष्ठा को भी समय-समय पर कलंकित करते रहते हैं, वे सभी प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के कार्यों द्वारा उत्पन्न होते हैं, क्योंकि ये लोग आर्थिक अभिकर्त्ता (Financial agents) बनकर अपने अधीनस्थ कम्पनियों में प्रायः उक्त परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार स्कंध विनिमय के बाजार में जो 'कोण' (corners) निर्माण किए जाते हैं और जिनके लिए उक्त बम्बई स्कंध बदनाम है—वे भी केवल प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के परस्पर अवलम्बन के कारण तथा कम्पनियों को आर्थिक सहायता देने के कारण निर्माण होते हैं, इससे हमारे उद्योग को भी हानि उठानी पड़ती है।

(३) सचालकीय नियन्त्रण की शिथिलता (Lavity of Directorial Control) —कम्पनी की व्यवस्था एवं उसके नियन्त्रण के लिए प्रायः सचालक ही उत्तरदायी होते हैं। उनके नियन्त्रण में प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपना समस्त प्रबन्ध कार्य किया करते हैं। परन्तु सचालकों की नियुक्ति प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं द्वारा होने के कारण वे लोग इनसे नियन्त्रित रहते हैं अर्थात् कम्पनी के सचालन में सचालकों का विशेष हाथ न रहकर प्रबन्ध अभिकर्त्ता ही अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेते हैं। इसका एक कारण यह

भी है कि कम्पनी के अन्तर्नियमों (Articles) में प्रबन्ध-अभिकर्त्ता लोग पहले ही इस प्रकार का आयोजन कर लेते हैं जिससे उनके मनोनीत व्यक्ति ही संचालक-पद पर नियुक्त हों। फिर विभिन्न अंशों के विभिन्न मताधिकार होते हैं, जिनका वितरण प्रबन्ध अभिकर्त्तागण उन्हीं संचालकों के नाम कर देते हैं जो उनके पक्ष में होते हैं और जिससे उनका संचालक-सभा में बहुमत हो जाता है। इससे न तो अंशधारियों के हितों की रक्षा होती है और न कम्पनी के लाभ का ही विशेष ध्यान रहता है, वरन् प्रबन्ध-अभिकर्त्ता लोग अपना नियन्त्रण स्थापित कर लेते हैं। भारतवर्ष में संयुक्त-स्कन्ध-कम्पनियों के संचालक प्रायः अपने कर्त्तव्य का पूर्ण रूप से पालन नहीं करते। वे केवल नाममात्र के लिए संचालक-पद पर नियुक्त रहते हैं, कम्पनी के संचालन का सारा कार्य तो प्रबन्ध अभिकर्त्ता ही किया करते हैं और ये लोग ही बहुधा व्यवस्थापक (Masters) होते हैं। यहाँ तक कि संचालकों के समस्त अधिकार प्रबन्ध अभिकर्त्तागण ही प्राप्त कर लेते हैं और ये लोग प्रबन्धक से कम्पनी के स्वामी तक बन जाते हैं। फिर संचालकों के नियंत्रण का कोई भी महत्त्व नहीं रहता। कभी कभी यह भी देखने में आता है कि एक ही व्यक्ति अनेक कम्पनियों का संचालक होता है और वह किसी न किसी प्रकार से प्रबन्ध अभिकर्तृ-संस्थाओं से सम्बन्धित रहता है। इस प्रकार संचालन-कार्य कुछेक सीमित व्यक्तियों के हाथ में स्थिर हो जाता है और वे फिर अपने कार्य की जिम्मेवारी और कुशलता की ओर ध्यान नहीं देते। इस तरह यह पद्धति अत्यन्त दोषपूर्ण है। भारतीय संचालकों का ध्यान कभी कभी तो कुछ अधिक आय प्राप्त करने की ओर ही रहता है और इसी से वे किसी कम्पनी का संचालन-कार्य स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु वास्तव में वे केवल आय से ही सम्बन्धित रहते हैं, उनका ध्यान व्यवस्था की ओर या संचालन की ओर नहीं जाता। इससे प्रबन्ध अभिकर्त्तागण अपना मनमाना कार्य करते हैं तथा संचालकों को केवल उनकी अभीप्सित आय दे देते हैं। इस तरह व्यवस्था में अत्यन्त शिथिलता उत्पन्न हो जाती है जो कम्पनी तथा अंशधारी दोनों के लिए अत्यन्त अहितकर सिद्ध होती है।

(४) अन्तर्विनियोग (Inter-Investment) —प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के नियंत्रण में रहने वाली कम्पनियाँ बहुधा पूँजी का परस्पर विनियोग करती रहती हैं। इस प्रकार के ऋण लेने पर यद्यपि कम्पनी संशोधन विधान ने प्रतिबन्ध लगा दिया है, परन्तु फिर भी दूसरी कम्पनियों के अंश, ऋणपत्रादि संचालकों की अनुमति लेकर खरीदे जा सकते हैं। आज इस पद्धति में भी अनेक दोष दिखाई देते हैं। यदि विनियोग करने वाली दोनों कम्पनियों की आर्थिक अवस्था अच्छी हो तो इस पद्धति में कोई दोष नहीं आता। परन्तु उनकी प्रबल कम्पनी का धन जब किसी निर्बल कम्पनी में लगा दिया जाता है तो अंशधारियों को हानि उठानी पड़ती है।

एक कम्पनी के निर्गमित ऋण-पत्र, कभी तो दूसरी कम्पनी द्वारा पूरे चुका दिये जाते हैं और कभी अधूरे ही जमा हो पाते हैं। यद्यपि वे दोनों एक ही नियंत्रण में रहती हैं; परन्तु इस प्रकार की अन्तर्विनियोग पद्धति कभी-कभी आर्थिक दृष्टि से स्वस्थ कम्पनी का विनाश कर डालती है। क्योंकि दूसरी दुर्बल कम्पनी की स्थिति अत्यन्त भयावह रहती है उसका किसी भी समय विलीयन हो सकता है। अतः उनके समाप्त होते ही इस सुदृढ कम्पनी को पर्याप्त क्षति उठानी पड़ती है। ऐसी दुर्बल एवं दिवालिया कम्पनियाँ समाज में भार-स्वरूप होती हैं, इनका अस्तित्व न रहने देना ही श्रेयस्कर है। परन्तु प्रबन्ध-अभिकर्त्ता लोग अपने लाभ तथा कमीशन (Commission) के कारण ही उन्हे चालू रखते हैं और उनके नष्ट होने से इन्हें हानि होती है इसलिए उन्हें अपने नियत्रण में रखकर स्वस्थ एव सुदृढ कम्पनी से धन लगाया करते हैं। अच्छी, स्वस्थ एवं सुदृढ़ कम्पनी की हानि होने पर भी उन्हे कोई हानि नहीं होती, क्योंकि उनका वेतन तथा कमीशन तो उनको अनुबन्ध के अनुसार मिलना ही रहता है, केवल विचारे अंशधारियों को ही हानि उठानी पड़ती है।

(५) अयोग्य व्यवस्था (Incompetent Management) —लगभग २० वर्ष तक कम्पनी तथा प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं मे सुन्दर अनुबध रहता है। इस अवधि से पूर्व कोई भी प्रबन्ध अभिकर्त्ता कम्पनी से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकता। भारतवर्ष में यह पद्धति आनुवशिक रूप में अधिक पाई जाती है। जिसके परिणाम-स्वरूप समस्त प्रबन्ध-अभिकर्तृ-गृहों का सगठन कौटुम्बिक परम्परा पर ही स्थित दिखाई देता है। प्रायः यह देखा जाता है कि योग्य व्यक्ति की सतान अयोग्य निकलती है। अतः इन अभिकर्तृ-गृहों में कभी-कभी योग्य पिता के अयोग्य पुत्र भी कार्य करने वाले हो जाते हैं। इस तरह यह आनुवंशिक प्रणाली अत्यन्त सदोष एव अयोग्य है क्योंकि इसमें अयोग्य व्यक्तियों के आने पर किसी कम्पनी या फर्म के विनिष्ट हो जाने का पूरा-पूरा भय रहता है। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं की ऐसी सुदृढ़ कार्यशील सस्था के योग्य एव साहसी स्वामियों के स्थान-विमुक्त हो जाने पर या उनकी मृत्यु हो जाने पर उनके पुत्र आदि व्यवस्था-कार्य को सँभालते हैं। परन्तु वे उतने ही योग्य एव कार्य कुशल नहीं होते। अत. इनसे कम्पनी तथा अंशधारी दोनों को पर्याप्त हानि उठानी पड़ती है।

(६) विदोहन (Exploitation) :—प्रबन्ध-अभिकर्त्तागण निम्नलिखित ढंगों से प्रायः कम्पनियों का विदोहन करते रहते हैं :—

(क) आन्तरिक सूचनाओं का दुरुपयोग (Misuse of Inside Information) :—इन लोगों को कम्पनी की व्यवस्था सम्बन्धी समस्त आन्तरिक बातों का ज्ञान रहता है। यह ज्ञान विचारे अंशधारियों को पूरी तौर से नहीं होता। इसी कारण ये लोग आतरिक व्यवस्था में ऐसा परिवर्तन कर लेते हैं जिससे इनको ही

लाभ होता है और अंशधारियों को उसका पता तक नहीं चलता। जैसे ये अपने हितों के अनुकूल लाभांशों की घोषणा कर देते हैं, अपने मनतव से ही लाभांशों की कम या अधिक घोषणा करते हुए अंशों की कीमत कम या अधिक कर लेते है, तथा जनता और अंशधारियों के व्यय पर ही अंशों की पर्याप्त परिकल्पना (Speculation) करते रहते हैं। यहाँ तक कि लाभांशों की इस प्रकार की घोषणा का प्रभाव कम्पनी पर भी बुरा पड़ता है। क्योंकि यह घोषणा न्याय-संगत नहीं होती और इससे केवल प्रबन्ध-अभिकर्त्ता ही लाभ उठाते रहते हैं।

उदाहरण के लिए, एक जूट मिल क० को लीजिए। यद्यपि यह कम्पनी अच्छी मात्रा में लाभ प्राप्त कर रही है और अन्य सभी जूट कम्पनियाँ अच्छे लाभांश घोषित करती हैं, परन्तु इस कम्पनी के प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रत्येक छःमाही पर बहुत कम लाभांश घोषित करते हैं तथा अपने अंशधारियों को कम लाभांश देते हैं। यह कार्य कम्पनी के लाभ को देखते हुए पूर्णतया अन्यायपूर्ण है। इस प्रकार ये लोग अपने स्वार्थ के कारण ही अंशों की कीमत घटा देते हैं और स्वयं उन अंशों को खरीद लेते हैं। कम्पनी का अंश मूल रूप में लगभग १२००) रु० का था। परन्तु कितनी ही छःमाहियों पर कम्पनी के लाभांश की घोषणा अत्यधिक कम होने के कारण अंशधारियों को अपने अंश ४००) रु० से ५००) रु० प्रति अंश तक बेचने के लिए मजबूर होना पड़ा। क्योंकि इतने कम लाभांश पर जनता में से कोई भी व्यक्ति उन्हें खरीदने को तैयार नहीं हुआ। इसलिए मजबूरी के साथ उन लोगों ने प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को ही अपने अंश बेच दिये। इस प्रकार इन लोगों ने लगभग ६० लाख रुपये के ५००० अंश जनता के ही व्यय पर लगभग २० लाख से २५ लाख रुपये तक खरीद लिए और बिचारी जनता को इनके अनुचित एवं कपटपूर्ण व्यवहार के कारण ४० लाख रुपये की क्षति उठानी पड़ी। इस प्रकार ये लोग अनुचित कार्यवाहियों द्वारा पर्याप्त लाभ उठा लेते हैं जो पूर्णतया दोषयुक्त एवं कम्पनियों की शोषक हैं।

(ख) अत्यधिक पारिश्रमिक (Excessive Remuneration) — कभी कभी प्रबन्ध अभिकर्त्ता एजन्सियों में पारिश्रमिक के लिए जो अनुबन्ध (Agreement) होते हैं वे अनुचित एवं अत्यधिक न्याय विरुद्ध होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कम्पनी के प्रारम्भ में नियुक्त प्रबन्ध अभिकर्त्तागण कम्पनी के अन्तर्नियमों में इच्छानुकूल पारिश्रमिक की दर निश्चित कर लेते हैं और उसी प्रकार का अनुबन्ध भी कर देते हैं। इस प्रकार प्रबन्ध अभिकर्तृ संस्था का प्रथम अनुबन्ध अनुचित अनुबन्ध होता है। उदाहरण के लिए, एक चीनी की मिल-कम्पनी में प्रबन्ध-अभिकर्त्ता को १० प्रतिशत लाभ पर, १ प्रतिशत बेचान पर (On sales), कार्यालय का भत्ता तथा लाभ या सफलता के अभाव में न्यूनतम कमीशन (Minimum Commission) दिया

जाता है। लाभ की गणना करते समय उन वस्तुओं के लाभ का भी समावेश प्रबध-अभिकर्त्ता के कमीशन (Commission) में कर लेते हैं जिनका उससे कोई सम्बन्ध नहीं होता। कार्यालय का भत्ता भी अनुचित रूप से निश्चित कर लेते हैं। इस तरह ये लोग अपना पारिश्रमिक पर्याप्त मात्रा में अनुचित ढग से भी निश्चित कर लेते हैं।

(ग) अन्य आय (Other Income) —ये लोग कम्पनी से अनुबन्ध द्वारा प्राप्त पारिश्रमिक से ही सतुष्ट नहीं रहते। इसके अतिरिक्त अन्य रीतियों से भी पर्याप्त धन कमाते रहते हैं। ये कच्चे माल, भडारों तथा मशीनरी के खरीदने पर, मिल की निर्मित वस्तुओं के बेचने पर तथा प्रत्याभूति दलालों (Guarantee brokers) की भाँति कार्य करने पर भी कमीशन (Commission) प्राप्त करते हैं। जब प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को कम्पनी के माल बेचने पर कमीशन मिलना होता है तब उन्हें कवल माल बेचने का ही प्रलोभन रहता है। वे इस बात पर ध्यान नहीं देते कि कम्पनी को इस प्रकार के माल बेचने से लाभ होगा या नहीं। कभी कभी कपास आदि वस्तुओं की ये लोग अत्यधिक परिकल्पना (Speculation) किया करते हैं और यदि उसमें लाभ होता दिखाई देता है तो स्वय खरीद लेते हैं। परन्तु यदि उसमें हानि होने की आशका रहती है तो सुगमता से अपनी अधीनस्थ कम्पनी को दे देते हैं। इस प्रकार अपना व्यक्तिगत लाभ उठाते हुए कम्पनी का शोषण करते रहते हैं।

(घ) व्यापारिक अनुबन्ध (Trading contracts) —किसी सीमित कम्पनी की निर्मित वस्तुओं तथा कच्चे माल के क्रय-विक्रय का कार्य ये लोग नित्यप्रति करते रहते हैं। इसके लिये उनका पृथक् विभाग भी होता है। अत इस प्रकार के क्रय विक्रय में भी कम्पनी के अशधारियों तथा प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के हितों में सदैव सघर्ष रहता है, परन्तु इसमें भी अशधारियों को ही हानि उठानी पड़ती है।

(ङ) कम्पनी के धन का प्रयोग (Use of Company s Funds) —कम्पनी के धन को ये लोग कभी कभी व्यक्तिगत कार्यों में भी प्रयोग कर लेते हैं। यद्यपि सार्वजनिक तथा इनकी आश्रित निजी कम्पनियाँ प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को न तो ऋण ही देती हैं और न उनकी प्रतिभूति ही लेती हैं, परन्तु ये लोग कम्पनी की ओर से व्यापार करने के लिए अपने समीप एक चल-लेखा (Current account) रखते हैं। उस चल लेखा में और कुछ नहीं होता केवल वैयक्तिक कार्यों के लिए कम्पनी से लिये हुए ऋण का ही लेखा रहता है। इस प्रकार कम्पनी का धन पर्याप्त मात्रा में ऋण लेकर ये लोग अपना काम चलाया करते हैं।

(च) अनावश्यक पूँजी-विस्तार (Unnecessary capital expenditure) —प्रबध अभिकर्त्ता लोग बहुधा कम्पनी के लाभ को लाभाशों (Dividends) में वितरण न करके कम्पनी के कार्यों में लगा देते हैं और अन्य लोगों को दिखाने के लिये कम्पनी की कार्यशीलता विस्तीर्ण कर देते हैं। वे कभी कभी मकानों तथा

नवीन-मशीनों के खरीदने में यह धन लगा देते हैं। यद्यपि इन कामों से कम्पनी को कोई विशेष लाभ नहीं होता और अंशधारियों की दृष्टि से तो ये कार्य सर्वथा उचित प्रतीत नहीं होते, परन्तु फिर भी चाहे वह विस्तार अनुचित एव अनावश्यक ही क्यों न हो, ये लोग अपनी कुशलता एव कार्यक्षमता दिखाने के लिए कम्पनी की पूँजी का विस्तार किया करते हैं। कारण यह है कि ऐसा करने से कम्पनी का धन इनके नियन्त्रण में रहता है और कार्यों के विस्तार करने से इनका भी कमीशन (Commission) बढ जाता है। फिर इस विस्तार से भले ही कपनी की पूँजी का दुरुपयोग क्यों न हो, परन्तु अपने लाभ के कारण ये लोग इस बात की चिन्ता नहीं करते।

(छ) धन का दुरुपयोग (Waste of Funds) —कपनियों के सचालक तथा प्रबध अभिकर्त्ता लोग बहुधा हिले मिले रहते हैं और पारस्परिक मेल के कारण कभी कभी कपनी के धन का अनुचित रूप से दुरुपयोग भी करते रहते हैं। जैसे ये लोग कभी-कभी इतने ऊँचे वेतन पर कपनियों के अधिकारियों को नियुक्ति कर लेते हैं जो सर्वथा अव्यवहार्य एव अनावश्यक होती है। कारण यह है कि ये नियुक्त किए हुए अधिकारी प्राय इनके ही सम्बन्धी होत हैं। अत ऐसा करत हुए इन लोगा का ध्यान कपनी की ओर नहीं जाता, अपितु अपने सबन्धियों के स्वार्थ एव लाभ की ओर रहता है। इस प्रकार उपर्युक्त अनेक रीतियों से प्रबध अभिकर्त्ता गण कपनियों का शोषण एव विदोहन करत रहत हैं।

प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं पर वैधानिक नियन्त्रण (Statutory Control of Managing Agents) —भारतवर्ष में प्रबध-अभिकर्त्त पद्धति अत्यत प्राचीन काल से प्रचलित है, परन्तु उसकी स्थिति के विषय में भारतीय कपनी विधान १६१३ में भी कोई आयोजन नहीं दिखाई देता। सन् १६१३ से सयुक्त-स्कध कपनियों की सतत अभिवृद्धि के कारण यह आवश्यक माना गया कि इस पद्धति को भी वैधानिक मान्यता दी जाय तथा कपनी विधान में भी इनका समावेश करके उचित सशोधन किया जाय। यही सोचकर सन् १६२६ के कपनी विधान में प्रबध अभिकर्त्ताओं के विषय में भी सशोधन (Amendment) किया गया। इस सशोधन के समय यह प्रश्न उपस्थित हुआ था कि इस प्रबन्ध अभिकर्तृ पद्धति में दोष एव बुराइयाँ हैं अथवा नहीं, यदि हैं तो उन पर उचित नियत्रण किया जाना चाहिए। कुछ लोगों का विचार था कि यदि इन पर नियत्रण उपस्थित किया जायेगा तो भविष्य में औद्योगिक विकास रुक जायेगा, परन्तु साथ ही दूसरे लोगों का यह भी विचार था कि इनकी बुराइयों को दूर कर देने से औद्योगिक विकास निरतर अधिक प्रगति के साथ होगा, क्योंकि इस विकास के मार्ग में आने वाली समस्त अड़चनें नियन्त्रण द्वारा दूर हो जायेंगी। यह भी सोचा गया था कि कपनी विधान में कितने ही कठोर सशोधन

उपस्थित क्यों न किए जायँ, परन्तु इन लोगों के दोषों तथा दुष्कर्मों का निराकरण होना सम्भव नहीं। ये बुराइयाँ तो प्रत्येक देश में समान रूप से उत्पन्न होती हैं। कारण यह है कि सभी मनुष्य ईमानदार तथा सच्चे नहीं होते। अत: इस पद्धति की बुराइयों एवं दोषों से बचने के लिए केवल यही आवश्यक है कि विनियोक्ताओं (Investors) को सुशिक्षित होना चाहिए और शिक्षा द्वारा ही वे यह बात भली प्रकार से जान सकेंगे कि बुरी तथा अच्छी व्यवस्था में क्या अन्तर होता है। एक विनियोक्ता अपना धन किसी कम्पनी में केवल अच्छे लाभांश के प्रलोभन से लगाता है। यह उसका कार्य है। अतः हो सकता है कि कभी उसे अच्छा लाभांश न मिले। कभी-कभी लाभांश का न देना तथा अयोग्य पुरुषों को निकाल बाहर करना ये तो पूँजीवादी-पद्धति (Capitalist system) के न्याय संगत कार्य हैं। परन्तु ये बातें भारतीय धारा सभा के लिए उचित नहीं जान पड़तीं। इसीलिए उसने प्रबंध अभिकर्तृ-पद्धति पर नियन्त्रण लगाना आवश्यक समझा और सन् १९३६ में आवश्यक नियन्त्रण उपस्थित किये।

भारतीय कम्पनी विधान १९१३ के अन्तर्गत सन् १९३६ में जो संशोधन किए गए, उनका सबसे पहला मन्तव्य तो यह था कि संयुक्त-स्कंध कम्पनियों (Joint Stock Companies) की समस्त कार्यवाहियाँ अंशधारियों एवं जनता को पूर्णरूप से पता लग जायँ। इस संशोधन के अनुसार कम्पनी की विवरण-पत्रिका में यह अनिवार्य कर दिया गया कि कम्पनी तथा प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के बीच होने वाले समस्त अनुबन्धों तथा प्रबन्ध-अभिकर्तृ-संस्था के सभी सदस्यों के नाम उसमें स्पष्ट लिखे रहने चाहिए। इसके साथ ही उस संस्था में कम्पनी के संचालकों का प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से क्या हित है इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया; लेखा-पुस्तकों को ठीक प्रकार से रखना तथा स्थिति-विवरण (Balance-sheet) को अधिक ब्यौरे के साथ प्रकाशित करना आवश्यक कर दिया गया। हानि-लाभ का लेखा (Profit and Loss Account) किस प्रकार उपस्थित करना चाहिए यह भी निश्चित किया गया तथा सरकार ने यह अधिकार भी अपने हाथ में लिए कि यदि कोई प्रबन्ध-अभिकर्त्ता किसी प्रकार का कपट या छलपूर्ण कार्य करेगा तो सरकार उसकी जाँच करेगी, उससे पूँछेगी तथा अधिक अनुचित कार्यवाही के लिये आवश्यक दंड भी देगी।

इस प्रकार उपर्युक्त संशोधन द्वारा प्रबन्ध अभिकर्तृ-पद्धति की समस्त बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया गया और उस आदेश के अनुसार निम्नलिखित प्रतिबंध प्रबन्ध-अभिकर्ताओं पर लगाए गये :—

नियुक्ति (Appointment) :—धारा ८७-B (F) के अनुसार प्रबन्ध-अभिकर्ताओं की नियुक्ति के लिए यह आवश्यक कर दिया गया कि वह व्यापक-सभा में कम्पनी की अनुमति से ही होनी चाहिए अन्यथा यह नियुक्ति

मान्य न होगी। परन्तु जो नियुक्ति (Appointment) विवरण-पत्रिका या उसके स्थान या किसी अन्य विवरण के प्रकाशित होने से पूर्व ही की जाती है, उस पर यह धारा लागू नहीं होती। इस छूट के कारण प्रबन्ध-अभिकर्ता लोग अपनी नियुक्ति पहले ही करा लेते हैं। इसस यह धारा पूर्णतः निरुपयोगी सिद्ध हो जाती है। क्योंकि समस्त बुराइयों तो उमी पूर्व अनुबन्ध के कारण उत्पन्न होती हैं जोकि विवरण-पत्रिका प्रकाशित होने से पहले ही स्थापित हो जाता है। यद्यपि उनका विवरण विवरण पत्रिका में भी दिया होता है, परन्तु सभी अंशधारी उस ओर ध्यान नहीं देते। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि विवरण-पत्रिका में प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के समस्त निर्बन्ध (Terms) निश्चित कर दिये जाते हैं और उन्हीं के आधार पर प्राय लोग अंश खरीदना प्रारम्भ करते हैं। यदि कोई व्यक्ति वैधानिक (Statutory) या व्यापक-सभा में प्रबन्ध-अभिकर्ताओं की नियुक्ति को अमान्य सिद्ध करना चाहता है या उन्हें बदलना चाहता है तो वह ऐसा कार्य नहीं कर सकता। इतना ही है कि यदि उसे प्रबन्ध-अभिकर्ताओं की नियुक्ति मान्य नहीं है अथवा उनका पारिश्रमिक अधिक दिखाई देता है तो अंश खरीदने के लिए उसे आवेदन-पत्र नहीं भेजना चाहिए।

किसी नवीन कम्पनी के प्रथम प्रबन्ध-अभिकर्ता की नियुक्ति किस प्रकार होती है यह जानना बड़ा रोचक प्रतीत होता है। प्राय कम्पनी के प्रथम सचालक गण अन्तर्नियमों के आधार पर तथा प्रबन्ध-अभिकर्तृ-संस्था के नियमानुसार प्रथम प्रबन्ध-अभिकर्ताओं को नियुक्त कर लेते हैं। ये सचालक इन प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के मित्र तथा कम्पनी के प्रवर्तक ही होते हैं जो आगे चलकर क्रमश: स्वयं भी प्रबन्ध-अभिकर्ता बन जाते हैं। ये लोग अपने अधिकारों के अनुसार ही प्रबन्ध-अभिकर्तृ-संस्था तथा कम्पनी के बीच होने वाले अनुबन्ध (Agreement) पर हस्ताक्षर कर देते हैं जिससे उन प्रबन्ध-अभिकर्ताओं की नियुक्ति का विषय पूर्णतया अंशधारियों के सामने नहीं आता और पहले संचालकगण ही उन्हें नियुक्त कर डालते हैं।

धारा ८६-A के अनुसार कोई भी अवर्जित दिवालिया (Undischarged insolvent) यदि किसी कम्पनी का प्रबन्ध-अभिकर्ता हो जाता है, तो वह कारावास तथा भारी जुर्माने से दण्डित किया जा सकता है।

धारा ८७-८८ के अनुसार प्रबन्ध अभिकर्ता से व्यवस्थित होने वाली या अन्य किसी भी प्रकार की कम्पनी में ३१ जुलाई १९५१ के उपरान्त केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना कोई भी प्रबन्ध-अभिकर्ता नियुक्त नहीं किया जा सकता है।

धारा ८७-BB के अनुसार केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के विधान (Constitution) में किसी प्रकार का भी परिवर्तन माना नहीं जाता है। परन्तु यह धारा वहाँ लागू नहीं होती जहाँ एक सीमित कम्पनी

स्वयं प्रबन्ध अभिकर्त्ता होती है और उसके अश स्कध विनियम (Stock-Exchange) में लिखे रहते हैं।

अवधि (Duration) :—धारा ८७-A के अनुसार एक सार्वजनिक तथा उसकी आश्रित कम्पनियाँ २० वर्ष से अधिक समय के लिए किसी प्रबन्ध अभिकर्त्ता को नियुक्त नहीं कर सक्ती हैं तथा १५ जनवरी १६३७ से समस्त प्रबन्ध-अभिकर्तृ सस्थायें २० वर्ष के उपरान्त समाप्त हो जाती हैं। यदि कोई कम्पनी २० वर्ष के उपरान्त पुन उसी प्रबन्ध-अभिकर्त्ता को नियुक्त करना चाहती है तो उसे अपनी व्यापक-सभा में आगामी २० वर्षो के लिए पुन निर्बन्ध (Agreement) लिखना पड़ता है। यदि वह उसे आगामी वर्षो के लिए नहीं रखना चाहती तो प्रबन्ध-अभिकर्त्ता को अवधि समाप्त होते ही कार्यालय का भार छोड़ना पड़ता है और कम्पनी के लिए भी यह आवश्यक होता है कि उसे पारिश्रमिक, ऋण, कमीशन आदि जो कुछ भी देना हो उसका भुगतान करें। इस प्रकार प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के कार्य भार से मुक्त होते ही कम्पनी को उसका पारिश्रमिक आदि तुरन्त चुका देना पड़ता है। धारा ८७-AA के अनुसार प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के कार्यालय की कार्य-प्रणाली में केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना कोई विस्तार नहीं होता।

उपर्युक्त आयोजन नैतिक दृष्टि से तो अत्यन्त शुद्ध एव पवित्र दिखाई देता है और इसमें किसी प्रकार की सामाजिक या व्यक्तिगत बुराई के लिए अवकाश नहीं दिखाई देता, परन्तु अभिकर्त्ता लोग अपने कार्यों में बड़े कुशल होते हैं। वे लोग कम्पनी के कार्यों का ऐसा अनावश्यक विस्तार कर देते हैं जिससे कम्पनी उनके ऋण से मुक्त नहीं होती, और विवश होकर उसे प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं को पुन कार्य करन के लिए रखना पडता है।

पारिश्रमिक (Remuneration) —धारा ८७-C के अनुसार, १५ जनवरी १६३७ के उपरान्त यदि कोई कम्पनी किसी प्रबन्ध अभिकर्त्ता को नियुक्त या पुनर्नियुक्त (Reappoint) करती है तो उसका पारिश्र मक वार्षिक शुद्ध लाभ (Net annual profit) की निश्चित प्रतिशत राशि के रूप में होना चाहिए। इस शुद्ध लाभ में ऋण पर व्याज तथा अवक्षयण (Depreciation) का आयोजन होता है, परन्तु ऋण-पत्रों पर व्याज तथा आयकर (Incometax) का नियोजन नहीं होता। यदि इस पारिश्रमिक में या उसके देन की प्रणाली में किसी प्रकार का परिवर्तन करना होता है तो उसके लिए व्यापक-सभा में एक विशेष-प्रस्ताव रखना चाहिए। यदि कम्पनी को पर्याप्त लाभ नहीं होता या बिल्कुल ही लाभ नहीं होता तो वह प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को न्यूनतम निश्चित राशि तथा कार्यालय भत्ता (Office allowance) देती है। परन्तु न्यूनतम राशि कितनी होनी चाहिए इसकी अधिकतम मर्यादा नि

की जाती। इसके साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के पारिश्रमिक में किसी प्रकार की भी वृद्धि नहीं हो सकती।

अधिकार (Powers) —धारा २ (६-A) में दी हुई प्रबन्ध अभिकर्त्ता की परिभाषा के अनुसार, प्रबन्ध-अभिकर्त्ता को कपनी के समझौते द्वारा उन समस्त कार्यों के करने का अधिकार होता है जिनके लिए कम्पनी से उसका निर्बन्ध (Agreement) हो जाता है, तथा उसी समझौते के अनुसार ये लोग सचालकों के नियत्रण एवं निर्देशन (Control and direction) से भी स्वतन्त्र रहते हैं। परन्तु धारा ८७-G के अनुसार कोई भी संचालक न तो प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं को ऋणपत्रों के निर्गमन का अधिकार ही दे सकता है और न इस धारा के अनुसार कोई भी प्रबन्ध अभिकर्त्ता, सचालकों की अनुमति के बिना कम्पनी के धन का विनियोग कर सकता है। इस प्रकार उक्त दो बातों को छोड़कर अन्य सभी कार्यों के करने की स्वतन्त्रता प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं को प्राप्त होती है, परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है वे सभी कार्य कम्पनी के समझौत के अनुसार होने चाहिए।

पद-विमुक्ति या हटाव (Removal) —कोई भी नियुक्त किया हुआ प्रबन्ध-अभिकर्त्ता उस समय तक अशधारियों द्वारा नहीं हटाया जा सकता जब तक कि उसके हटाने के लिए कम्पनी के अन्तर्नियमों या प्रबन्ध-अभिकर्तृ संस्था के समझौतों में कुछ उल्लेख न हो। परन्तु धारा ८७-B (a) के अनुसार यदि कोई प्रबन्ध अभिकर्त्ता कम्पनी के कार्य के लिए किसी फौजदारी अपराध (Criminal offence) का दोषी होता है अथवा वह भारतीय दण्ड विधान के अनुसार दण्डनीय होता है तो उसे केवल सामान्य प्रस्ताव द्वारा हटाया जा सकता है। इसके साथ ही वह यदि इस प्रकार के अपराधी व्यक्ति या हिस्सेदार या सचालक को कम्पनी से निकाल देता है तो इस हटाव से भी वह सुरक्षित हो जाता है।

व्यवस्था की पवित्रता तथा कुशलता के लिए यह आवश्यक है कि किसी भी प्रबन्ध अभिकर्त्ता को उसके छल कपट-पूर्ण कार्यों पर बड़ी बड़ी भूलों पर तथा कर्त्तव्य के पालन न करने पर अथवा अन्तर्नियमों के विरुद्ध कार्य करने पर अशधारियों द्वारा हटा दिया जाना चाहिए। सम्भवत साधारण नियमों या अभिकर्तृ-सस्थाओं के नियमानुसार अशधारियों के ये अधिकार होते हैं, परन्तु उन बिचारों को इनका उपयोग करने का अवसर ही नहीं दिया जाता।

कार्यालय का परित्याग (Vacation of Office) —धारा ८७-B (b) के अनुसार यदि कोई प्रबन्ध-अभिकर्त्ता दिवालिया हो जाता है तो उसे स्वाभाविक रूप से कार्यालय का परित्याग करना पड़ता है। धारा ८७-B (c) के अनुसार कम्पनी की परिसमाप्ति (Wound up) पर किसी भी प्रबन्ध-अभिकर्तृ सस्था के अनुबन्ध समाप्त हो जाते हैं। परन्तु यदि वह परिसमाप्ति या विलीयन उसकी अयोग्यता एवं अक्षमता

से नहीं हुआ है तो वह प्रबन्ध-अभिकर्त्ता अपने समय से पूर्व हटाये जाने की क्षति-पूर्ति लेने का अधिकारी होता है। इस नियम के अनुसार जो इन लोगों को क्षति-पूर्ति दी जाती है वह अशधारियों की दृष्टि से तो असगत दिखाई देती है, क्योंकि ऐसा कोई कारण नहीं कि बिचारे अशधारियों से प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं को अधिक महत्व दिया जाय। परन्तु यह और भी विचित्र बात देखने में आती है कि चाहे कम्पनी का विलीयन इन लोगों की अक्षमता एवं अयोग्यता के कारण ही क्यों न हुआ हो, लेकिन ऐसी दशा में भी ये लोग अपनी क्षतिपूर्ति के अधिकारी हो जाते हैं।

टिप्पणी—यदि प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के पद-परित्याग के समय कम्पनी में कोई और प्रबन्ध-अभिकर्त्ता नियुक्त नहीं होता तो सारिणी 'अ' के नियम ७१ के अनुसार दूसरे प्रबन्ध-अभिकर्त्ता की नियुक्ति तक संचालक ही व्यवस्था का भार सँभालते हैं।

कार्यालय का हस्तान्तरण (Transfer of Office).—कम्पनी की व्यापक-सभा तथा केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना कोई भी प्रबन्ध-अभिकर्त्ता अपने कार्यालय हस्तांतरण किसी अन्य को नहीं कर सकता है। यदि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता का कार्य करने वाली कोई सार्थ या सस्था होती है तो उसके हिस्सेदारों में भी कार्यालय का हस्तान्तरण तब तक नहीं माना जा सकता जब तक कि उसका एक न एक साझीदार ऐसा व्यक्ति न हो जो १५ जनवरी १६३७ को उक्त सस्था का सदस्य रहा हो।

पारिश्रमिक का हस्तान्तरण (Transfer of Remuneration):—धारा ८७–B (d) के अनुसार किसी भी प्रबन्ध-अभिकर्त्ता द्वारा स्वेच्छा से किया हुआ अपने पारिश्रमिक का हस्तान्तरण अव्यवहार्य (Void) माना जाता है। परन्तु यदि वह हस्तान्तरण उसके किसी ऋणदाता (Creditor) द्वारा जबरदस्ती होता है तो वह वैधानिक माना जाता है।

प्रबन्ध-अभिकर्ताओं को ऋण देना (Loans to Managing Agents):—धारा ८७–D के अनुसार कोई भी सार्वजनिक अथवा उसकी सहायक-कम्पनी किसी भी प्रबन्ध-अभिकर्त्ता को अथवा प्रबन्ध अभिकर्तृ-संस्था के किसी साझेदार को या उसके किसी प्रबन्धक को अथवा किसी निजी कम्पनी के सचालक को अपनी धन-राशि में से ऋण नहीं दे सकती, परन्तु अपने प्रबन्ध अभिकर्त्ता के साथ अपने व्यापारिक कार्यों के लिए वह कम्पनी एक चल-लेखा (Current account) खोल सकती है।

प्रबन्ध-अभिकर्ताओं के साथ व्यापारिक अनुबन्ध (Managing Agent's Trading Contracts):—धारा ८७–D के अनुसार कोई भी प्रबन्ध-अभिकर्त्ता अपनी कम्पनी से किसी भी व्यापारिक अनुबन्ध को तब तक नहीं कर सकता

जब तक कि ऐसे अनुबन्ध का प्रस्ताव उपस्थित एवं मताधिकारी संचालकों के ७५ प्रतिशत बहुमत से स्वीकृत न हो। किसी भी कम्पनी की व्यवस्था का प्रबन्ध-अभिकर्त्ता पूर्णतया जिम्मेदार होता है अतः उस समय नैतिकता की दृष्टि से तथा सर्वसाधारण की नीति से भी यह विपरीत दिखाई देता है कि उसे अपने स्वार्थ के लिए कम्पनी से व्यवहार नहीं करना चाहिए।

कम्पनी के अन्तर्विनियोग (Inter company Investments) — धारा ८७–E के अनुसार एक ही प्रबन्ध अभिकर्त्ता के द्वारा व्यवस्थापित कम्पनियाँ परस्पर न तो ऋण दे सकती हैं और न एक दूसरे के अंश अथवा ऋण-पत्रों को खरीद सकती हैं। इसके साथ ही ऐसी परस्पर सम्बन्धित कम्पनियाँ न तो अपनी राशि का विनियोग ही कर सकती हैं और न ऋण पत्रों की प्रतिभूति ही दे सकती हैं। धारा ८७–F के अनुसार ऐसा करने के लिए संचालक-सभा की सर्व सम्मति लेना आवश्यक होता है।

प्रतिद्वन्द्वी व्यापार (Competing Business) —धारा ८७–H के अनुसार कोई भी प्रबन्ध-अभिकर्त्ता अपनी व्यवस्थित कम्पनी के व्यापार के सदृश एवं उसकी प्रतिद्वन्द्विता में न तो अपना निजी व्यापार कर सकता है और न वह कोई ऐसा वैयक्तिक व्यापार कर सकता है जो उसकी व्यवस्थापित कम्पनी की सहायक कम्पनी के व्यापार की प्रतिद्वन्द्विता में हो अथवा उसके ही समान हो।

प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के संचालक (Managing Agents' Directors) —धारा ८७–I के अनुसार कोई भी प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपनी व्यवस्थापित कम्पनी में कुल संचालकों के केवल १/३ संचालकों की नियुक्ति कर सकता है फिर भले ही कम्पनी के अतर्नियमों में कुछ भी क्यों न लिखा हो।

अनुबन्ध विमुक्ति (Contracting Out) —धारा ८६–C के अनुसार कोई भी प्रबन्ध अभिकर्त्ता कम्पनी के साथ किए हुए किसी भी अनुबन्ध के वैधानिक दायित्व (Legal responsibilities) से मुक्त नहीं होता अर्थात् वह समस्त अनुबन्धों का उत्तरदायी होता है।

इसके अतिरिक्त कम्पनी के प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की यह भी जिम्मेवारी होती है कि वे अपनी व्यवस्थित कम्पनी की लेखा पुस्तकों की समुचित रक्षा करें। साथ ही कारावास या जुर्माने के समय किसी ऋण निस्तारक (Liquidator) की पूर्णतया सहायता करने के लिए भी ये लोग बाध्य होते हैं।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि प्रबन्ध अभिकर्तृ पद्धति ने गत वर्षों में भारतीय उद्योगों के लिए महत्वपूर्ण सेवायें उपस्थित की हैं। यह पद्धति लगभग २०० वर्ष से भारतवर्ष में प्रचलित है और बिना इसकी सहायता के औद्योगिक धन्धों की वर्तमान उन्नति का होना कदापि सम्भव नहीं था। सम्भवतः यह कहना

भी अनुचित नहीं दिखाई देता कि बिना इस पद्धति के कोई भी व्यक्ति अपना धन लगाने के लिए तैयार नहीं होता। आज जो अधिक से अधिक मात्रा में जनता अपना धन लगाने के लिए उत्सुक रहती है वह सब इसी पद्धति का परिणाम है। अधिकाश लोगों के हृदय में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उद्योगों का प्रचार करना तथा उनके हृदयों को परिवर्तित करना इन लोगों का ही कार्य था। यद्यपि इस पद्धति का सूत्रपात अंग्रेजों ने हा किया था और वे लोग ही इसे प्रारम्भ करके गतिशील बनाने वाले थे, परन्तु आज जैसा विकसित स्वरूप भारत में दिखाई देता है उसका श्रेय भारतीय व्यवसायियों को ही है जिन्होंने पर्याप्त मात्रा में प्रबन्ध अभिकर्तृ गृहों का निर्माण करके तथा ईमानदारी और सचाई का वर्ताव करके भारत में इस पद्धति को चिरस्थायी बनाया है।

जो लोग इस पद्धति को समाप्त करना चाहते हैं अथवा समाप्त करने की राय देते हैं उन्हें यह जानना चाहिए कि भले ही इस पद्धति को बन्द कर दिया जाय, परन्तु जितने मनुष्य इससे सम्बन्धित होते हैं, तथा जिन लोगों ने भी इस पद्धति के आधार पर योग्यता तथा अनुभव प्राप्त किये हैं, वे लोग इसके नाश होने पर भी किसी न किसी रूप में इस पद्धति को अवश्य अपनायेंगे और अपनी योग्यता एव कार्य-कुशलता के कारण भारतीय औद्योगिक विकास में अग्रगण्य माने जायेंगे। स्वतन्त्र भारत आज महान् औद्योगिक विकास के द्वार पर है और अत्यन्त अनुभवी तथा आर्थिक साधन सम्पन्न प्रबन्ध-अभिकर्तृ-संस्थाओं की आवश्यकता को अत्यन्त उत्कट रूप से अनुभव कर रहा है। इसके साथ ही जितनी कार्य-कुशलता प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं में होती है उतनी सचालकों में नहीं दिखाई देती। अत ऐसे समय में इस पद्धति की अत्यन्त आवश्यकता है और यही पद्धति औद्योगिक विकास में सच्चा पथ प्रदर्शन कर सकती है, क्योंकि आर्थिक दृष्टि से इसके समान दूसरी और कोई प्रणाली इतनी सफल नहीं दिखाई देती। परन्तु जिन कम्पनियों को आर्थिक समस्याओं का अधिक सामना नहीं करना पड़ता तथा जिनके लिए तान्त्रिक योग्यता की आवश्यकता नहीं होती, उनमें इस पद्धति की भी आवश्यकता नहीं। इस कारण अधिकोषण तथा बीमा कम्पनियों में वैधानिक दृष्टि से भी प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को स्थान नहीं दिया जाता।

कम्पनी की कार्य-प्रणाली पर अशधारियों का नियन्त्रण
(Shareholders' Control over Company Affairs)

सयुक्त स्कध-कम्पनी केवल एक ऐसी साझेदारी कहलाती है जिसमें कितने ही हिस्सेदार होते हैं और यह विशष नियमों द्वारा सचालित होती है तथा वे नियम व्यवस्था की आपत्तियों को देखकर समय समय पर बनाये जाते हैं। इस प्रकार यह एक सहकारिता के आधार पर व्यवसाय करने का सुगम स्वरूप है। किसी कम्पनी के

व्यवसाय का साधारण रूप यह होता है कि उसके कुछ व्यक्ति व्यवसाय करते हैं और वे व्यक्ति कम्पनी के अंशधारियों द्वारा चुने जाते हैं। इस प्रकार ये लोग नियुक्त होकर अपनी कुशलता एवं परिश्रम से दूसरों का धन अपने अधिकार में करते हैं, ऐसा नहीं कि ये दूसरों के धन से उनके अधिकार में चले जायँ।

जो लोग अपने धन का कम्पनी में विनियोग करते हैं, वे लोग प्राय कम्पनी का व्यवस्था नहीं करते। धन का विनियोग करने वाले अंशधारी कहलाते हैं। ये लोग प्राय स्थान-स्थान पर दूर-दूर बिखरे रहते हैं। इन्हें व्यवसाय का भी ज्ञान नहीं होता। इसके साथ ही ये लोग सामूहिक रूप से कोई कार्यवाही करने में भी असमर्थ रहते हैं। इसी कारण ये लोग कम्पनी की व्यवस्था को दूसरे लोगों के हाथों में ही सौंप देते हैं। इसके अतिरिक्त अंशधारियों पर कोई उत्तरदायित्व भी नहीं होता, क्योंकि इनकी एक तो सख्या ही अधिक होती है, दूसरे दूर दूर फैले रहते हैं, इसके साथ ही ये लोग कितनी ही कम्पनियों के अंशों को स्वतन्त्रतापूर्वक ले सकते हैं तथा अपने धन को एक कम्पनी से निकालकर दूसरी कम्पनी में भी लगा सकते हैं। इन सभी बातों के कारण कम्पनी के व्यवसाय में इनका कोई भी नियन्त्रण नहीं होता। ये लोग तो कम्पनी से केवल लाभांश लेने का ही सम्बन्ध रखते हैं और इसी दृष्टि से अपना रुपया उसमें लगाया करते हैं। परन्तु जब कभी इन्हें लाभांश नहीं मिलता अथवा कम्पनी किसी प्रकार इनका धन मार लेती है तब इन्हें अपने बचाव की चिन्ता हुआ करती है और कम्पनी के विरुद्ध कार्यवाही करने के निमित्त कुछ समय के लिए प्रकट हुआ करते हैं।

सचालक, वे व्यक्ति कहलाते हैं जिन्हें कम्पनी के व्यवसाय की व्यवस्था का अधिकार अंशधारियों द्वारा सौंपा जाता है। इस प्रकार सचालकगण ही सयुक्त स्कध-कम्पनियों के केन्द्र-बिन्दु (Pivot) होते हैं। सभी स्थानों पर इस प्रकार की व्यवस्था पाई जाती है। परन्तु भारतीय तथा अँग्रेजी व्यवसाय पद्धति में कुछ मौलिक भेद भी पाया जाता है। अंग्रेजी पद्धति में तो केवल सचालक ही व्यवस्था करने वाला होता है, परन्तु भारतीय पद्धति में व्यवस्था केवल सचालकों द्वारा ही न होकर, प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं द्वारा भी होती है।

जब तक कोई कम्पनी अच्छी दशा में रहती है और अपने अंशधारियों को पर्याप्त राशि लाभांशों के रूप में देती रहती है, उस समय तक अंशधारियों को कोई चिन्ता नहीं होती और ये लोग सचालकों तथा प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं से पूर्णत सन्तुष्ट रहते हैं तथा उन्हीं के हाथों में व्यापार सौंप देते हैं। परन्तु जब लाभांश कम होता है अथवा कम्पनी की हानि होती है तब अंशधारियों को कम्पनी के प्रबन्ध के बारे में चिन्ता होती है और वे कम्पनी की आलोचना करने लगते हैं। व्यक्तिगत रूप से कोई भी अंशधारी कम्पनी पर नियन्त्रण करने का अधिकारी नहीं होता, परन्तु सामूहिक रूप में निम्नलिखित ढग से वे कम्पनी पर नियन्त्रण कर सकते हैं —

(१) प्रबन्धकों की नियुक्ति तथा निष्कासन (Appointment and Removal of Management) :—भारतवर्ष में कम्पनी का शासन प्राय एक-तन्त्रात्मक होता है। इसमें केवल सञ्चालकों तथा प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं का ही राज्य रहता है। यदि अशधारियों का नियत्रण सचालकों तथा प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की नियुक्ति पर रहे तो इनकी कार्यवाहियों पर पर्याप्त अधिकार हो सकता है। परन्तु ऐसा होना सभव नहीं। अत अब हमें यह देखना है कि भारत में कम्पनियों के अशधारी किस प्रकार के वैधानिक अधिकार रखते हैं।

(अ) सचालक-गण (Directors)

नियुक्ति (Appointment) —धारा ८३-B (I) के अनुसार यदि किसी सार्वजनिक कम्पनी के अन्तर्नियमों में सचालकों की नियुक्ति के बारे में कोई आयोजन नहीं होता तो (क) कम्पनी के सीमानियम (Memorandum) पर हस्ताक्षर करने वाले व्यक्ति ही तब तक प्रथम सचालक माने जाते हैं जब तक कि प्रथम सचालकों की नियुक्ति नहीं होती, (ख) कपनी की व्यापक-सभा में ही सदस्यों द्वारा सचालकों की नियुक्ति होती हैं। तथा (ग) यदि किसी सचालक का स्थान रिक्त हो जाता है तो उसके स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति की नियुक्ति उस समय तक के लिए कर दी जाती है जब तक नये सचालक की नियुक्ति नहीं होती। धारा ८७–I के अनुसार निजी कम्पनी के अतिरिक्त यदि किसी कम्पनी के अन्तर्नियमों में सचालकों की नियुक्ति सम्बन्धी कुछ बातें रहती हैं, तो भी प्रबन्धकर्त्ता लोग समस्त सचालकों की सख्या में से केवल १।३ सचालकों की नियुक्ति करने के अधिकारी होते हैं।

इस प्रकार यदि कम्पनी के अन्तर्नियमों में सचालकों की नियुक्ति के बारे में उल्लेख नहीं होता तो व्यापक सभा में सदस्य लोग सचालकों की नियुक्ति कर सकते हैं। परन्तु यह एक मिथ्या विश्वास फैलाया जाता है कि कपनी के सचालकों की नियुक्ति सदस्य लोग करते हैं। क्योंकि कार्य रूप में ऐसा नहीं दिखाई देता। बहुधा कपनी के अन्तर्नियमों में ही सचालकों की नियुक्ति का आवश्यक आयोजन रहता है। वे नियुक्त होने वाले सचालकों की सख्या निश्चित कर देते हैं तथा उनकी नियुक्ति के ढग का भी निर्देश पूर्ण रूप से करते हैं। सचालकों की सख्या का १।३ भाग तो पहले ही प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के लिए निश्चित कर दिया जाता है। एक-दो सचालक कुछ विशेष हितों के लिए नियुक्त कर लिये जाते हैं जैसे कोई ऋण-पत्रधारी सचालक होता है, तो कोई अशधारियों की वृद्धि करने वाला होता है, साथ ही किसी सचालक को सरकार, प्रान्त, नगरपालिका या जिला बोर्ड के कार्य के लिए नियुक्त किया जाता है। इस प्रकार केवल थोड़े से ही सचालक शेष रहते हैं जिनकी कि नियुक्ति व्यापक-सभा में अशधारियों द्वारा की जाती है। अत अशधारियों को सचालकों की नियुक्ति सम्बन्धी अधिकार अत्यन्त अल्प मात्रा में प्राप्त होते हैं।

धारा ८३-B (२) के अनुसार १५ जनवरी १९३७ के उपरान्त स्थापित सार्वजनिक कम्पनियों के समस्त सचालकों का २।३ भाग ऐसा होता है जिनका कार्य-काल क्रम से संचालकों के पदत्याग करने पर कुछ दिनों के लिए स्थिर किया जा सकता है। इस धारा का उद्देश्य यह था कि २।३ संचालक क्रम से पद मुक्त होते रहें तथा अशधारियों द्वारा व्यापक सभा में पुन निर्वाचित किये जायें। अतः ये नियुक्त करने वाले व्यक्ति ही २।३ सचालकों को पुन निर्वाचित कर सकें यही इस धारा का आयोजन था। परन्तु इस आयोजन से भी अशधारियों को कोई लाभ नहीं होता क्योंकि प्रबन्ध अभिकर्ता लोग संचालकों की नियुक्ति सम्बन्धी सभी समझौते अन्तर्नियमों में पहले ही कर लेते हैं।

निष्कासन या हटाव (Removal) —धारा ८६ G के अनुसार कम्पनी का कोई भी संचालक, जो क्रम से पद-त्याग करता है, अशधारियों द्वारा विशेष प्रस्ताव करने पर हटाया जा सकता है तथा उसके स्थान पर दूसरा व्यक्ति एक सामान्य प्रस्ताव द्वारा नियुक्त किया जा सकता है। यह नियुक्त किया हुआ व्यक्ति अपने स्थानीय संचालक के आते ही उस पद को छोड़ देता है।

साधारण नियम (Common law) के अनुसार कम्पनी के सदस्यों को यह भी अधिकार होता है कि वे किसी भी सचालक को धन-सम्बन्धी दुर्व्यवहार (Picuniary misconduct), उपेक्षा (Negligence), अयोग्यता अथवा स्थायी मूर्खता के कारण कम्पनी से निकाल सकते हैं।

इस प्रकार संचालकों के निष्कासन सम्बन्धी अशधारियों के अधिकार अत्यन्त सीमित हैं। धारा ८६-G के अनुसार अंशधारियों को उन व्यक्तियों के निकालने का अधिकार नहीं होता जो संचालकों के स्थान पर काय (Ex officio) करने वाले अथवा विशेष सचालक होते हैं और जो प्राय कम्पनी के व्यवस्था सम्बन्धी कार्य किया करते हैं। इसी तरह ऋणपत्रधारी सचालकों को हटाने का भी उन्हे अधिकार नहीं होता। ये संचालक प्राय प्रबन्ध अभिकर्तृ संस्थाओं के भी सदस्य होते हैं। साधारण सचालकों का भी हटाना तनिक कठिन बात है क्योंकि व्यवस्था के विरुद्ध ये भी आसानी से नहीं हटाये जा सकते हैं। यदि अशधारी उन्हें हटाने का प्रयत्न भी करते हैं, तो ये लोग बहुमत अपनी ओर कर लेते हैं, इससे उनका प्रयास विफल हो जाता है। प्राय यह तो एक साधारण सी बात है कि प्रबन्ध-अभिकर्ता तथा सचालक लोग अंशों का वितरण इस प्रकार करते हैं जिससे बहुमत उनके नियन्त्रण में ही रहता है। इस प्रकार बहुमत पर नियन्त्रण होने के कारण अशधारियों की दाल नहीं गलती और संचालक लोग आसानी से उन्हें हटा देते हैं।

(ब) प्रबन्ध अभिकर्त्ता (Managing Agents)

नियुक्ति (Appointment) —धारा ८७ B के अनुसार किसी भी प्रबन्ध

अभिकर्ता की नियुक्ति, निष्कासन (Removal) तथा अनुबन्धों का परिवर्तन उस समय तक अव्यवहार्य (Void) माना जाता है जब तक उसकी स्वीकृति कम्पनी की व्यापक सभा (General Meeting) मे नहीं होती। परन्तु विवरण-पत्रिका या उसके स्थान पर प्रकाशित किसी अन्य विवरण में घोषित नियुक्ति पर यह प्रतिबन्ध उस समय तक लागू नहीं होता जब तक कि कम्पनी की प्रथम व्यापक-सभा नहीं होती। इस प्रकार कम्पनी के प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की नियुक्ति के विषय में अशधारी कुछ नहीं कह पाते। इस धारा के अनुसार अशधारियों के अधिकार व्यर्थ एव प्रभाव शून्य हो जाते हैं।

निष्कासन (Removal) —धारा ८७ B (a) के अनुसार यदि कोई प्रबन्ध अभिकर्त्ता कम्पनी के कार्य सम्बन्धी किसी फौजदारी अपराध के लिए दोषी ठहराया जाता है तो वह अशधारियों के सामान्य प्रस्ताव द्वारा हटाया जा सकता है। इसके साथ ही अन्तर्नियमों तथा प्रबन्ध-अभिकर्तृ सस्था के अनुबन्धों के विपरीत आयोजनों के अभाव में कोई भी प्रबन्ध-अभिकर्त्ता धन सम्बन्धी दुर्व्यवहार, उपेक्षा, अयोग्यता तथा स्थायी मूर्खता के कारण अशधारियों द्वारा साधारण रूप से हटाया जा सकता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि कोइ प्रबन्ध अभिकर्त्ता अपनी कार्य समाप्ति से पूर्व ही अशधारियों द्वारा हटा दिया जाता है तो उसके अनुबन्ध के अनुसार उसे क्षति-पूर्ति देनी पड़ेगी और इस क्षति पूर्ति के कारण ही कभी कभी उसको हटाना असम्भव होजाता है।

(२) अकेक्षको की नियुक्ति (Appointment of Auditors) — वैधानिक दृष्टि से किसी भी कम्पनी के लेखे का अकेक्षण होना अनिवार्य होता है और जो अकेक्षक इस कार्य के लिए नियुक्त किया जाता है वह बहुधा अशधारियों का ही प्रतिनिधि होना चाहिए, जिससे वह इन लोगों को प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं तथा सचालकों के हिसाब का ठीक-ठीक वृत्तलेख (Report) दे सके।

किसी भी नवीन-कम्पनी के प्रथम अकेक्षकों की नियुक्ति, सचालक लोग वैधानिक-सभा होने से पूर्व हो कर लेते हैं और वह कम्पनी को प्रथम वार्षिक सामान्य सभा (First annual general meeting) तक रहता है, उसके उपरान्त नई नियुक्तियाँ अशधारियों द्वारा व्यापक-सभा में की जाती हैं। यदि किसी पद-मुक्त (Retiring) अकेक्षक के स्थान पर किसी अन्य अकेक्षक की नियुक्ति अशधारी करना चाहता है तो उसे सभा के १४ दिन पूर्व अपने इस आशय की सूचना देनी चाहिए।

(३) सामयिक वृत्तलेख तथा लेखा (Periodical Report and Accounts) —विधान के अनुसार कम्पनी को अपनी आर्थिक स्थिति का सामयिक

वृत्तलेख तथा लेखा अपने सदस्यों के पास उनकी जानकारी के लिए भेजना अनिवार्य होता है। इन वृत्तलेखों तथा लेखाओं पर अंशधारी व्यापक सभा में विचार करते हैं तथा उनको मान्यता भी प्रदान करते हैं। इन कार्यों के लिए कुछ आवश्यक सभायें होती हैं, वे इस प्रकार हैं :—

(अ) वैधानिक-सभा (Statutory Meeting): —प्रत्येक अंश सीमित या प्रत्यभूति सीमित अथवा अंशपूँजी वाली सार्वजनिक कम्पनी के लिए यह आवश्यक होता है कि उसे अपने व्यवसाय आरम्भ करने से १ माह पश्चात् अपने सदस्यों की व्यापक-सभा करनी चाहिए। यदि उस समय व्यापक सभा नहीं होती तो अधिक से अधिक ६ माह की अवधि तक अवश्य एक व्यापक-सभा कर लेनी चाहिये। उस सभा से २१ दिवस पूर्व अपने प्रत्येक सदस्य के पास एक वैधानिक वृत्त-लेख (Statutory report) भेजना आवश्यक होता है।

इस सभा का उद्देश्य यही होता है कि प्रत्येक अंशधारी कम्पनी के प्रवर्तन, कार्यशील पूँजी तथा आर्थिक स्थिति आदि के बारे में पूर्ण विचार कर सके तथा कम्पनी के भविष्य के बारे में भी आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सके। इस वैधानिक सभा में वैधानिक वृत्त लेख (Statutory report) पर विचार किया जाता है तथा उसे मान्यता भी प्रदान की जाती है। इस सभा में प्रत्येक अंशधारी को यह अधिकार होता है कि वह इस वृत्तलेख के बारे में तथा कम्पनी के निर्माण आदि के बारे में अपनी जानकारी के लिए किसी प्रकार के भी प्रश्न पूछ सकता है।

(ब) साधारण सामान्य सभा (Ordinary General Meeting) :—कम्पनी के कार्य का वार्षिक वृत्तलेख (Report) तथा लेखा (Account) आदि सदस्यों के सम्मुख उपस्थित करने के लिए यह सभा वर्ष में एक बार कम्पनी के सचालकों द्वारा अनिवार्य रूप से की जाती है। इस सभा से १४ दिन पूर्व वृत्तलेख तथा लेखा की प्रतिलिपियाँ प्रत्येक सदस्य के पास भेजी जाती हैं। सचालकों के इस वृत्तलेख, वार्षिक स्थितिपत्र (Balance Sheet) तथा लाभ-हानि के विवरण द्वारा प्रत्येक सदस्य कम्पनी की उन्नति एवं उसकी भविष्य में होने वाली प्रगति के बारे में ज्ञान प्राप्त करते हैं। इन समस्त पत्रों में कम्पनी की वास्तविक स्थिति का विवरण होता है जिससे प्रत्येक सदस्य कम्पनी के कार्यों के विषय में निश्चित धारणा बना लेता है।

इस प्रकार सदस्यों को कम्पनी की समस्त कार्यवाहियों की जानकारी के लिए यह अवसर प्रतिवर्ष प्राप्त होता रहता है। इससे कम्पनी तथा उसके प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को पूरी तौर से जानकारी प्राप्त हो जाती है और यदि वे उनकी व्यवस्था आदि से असन्तुष्ट होते हैं तो सामान्य-सभा में उनके कार्यों की आलोचना कर सकते हैं। यदि सदस्यों को किसी प्रकार का असन्तोष नहीं होता अथवा पर्याप्त लाभांश मिलता रहता है तो यह सभा एक अच्छे उत्सव के रूप में प्रारम्भ होती है और कुछ ही क्षण में

शान्तिपूर्वक समाप्त हो जाती है। परन्तु यदि इसके विपरीत कोई असंतोषप्रद बात होती है तो ये सभायें काफी देर तक चलती रहती हैं तथा अच्छी खासी भीड़ इकट्ठी हो जाती है। बहुधा उसमें ऐसे ही अंशधारी एकत्र होते हैं जिनको रुपया नष्ट होने का डर होता है और इसी कारण वे कभी-कभी अत्यन्त रुष्ट तथा वाद-विवाद-युक्त होकर सभा को कोलाहल पूर्ण बना देते हैं।

प्रायः इन सामान्य सभाओं की कार्यवाही सभापति (Chairman) से प्रारम्भ होती है। वह सर्व प्रथम कम्पनी के विगत कार्य का परिशीलन करता है तथा लेखा (Accounts) उपस्थित करता है। कभी-कभी वह कम्पनी के भविष्य पर भी प्रकाश डालता है तथा कम्पनी की उन्नति के लिए सदस्यों में आशा का सचार करता है। अत में वह अपने वृत्त-लेख तथा लेखे को सदस्यों के सम्मुख प्रस्तुत करता हुआ उसे उनसे मान्यता प्रदान कराता है।

सभापति द्वारा उपस्थित वृत्त-लेखादि का समर्थन होने पर भी अंशधारी यदि उससे असंतुष्ट होते हैं तो वे प्रश्न उपस्थित कर सकते हैं। इतना ही नहीं वे अपने असतोष के लिए कम्पनी की कटु आलोचना भी कर सकते हैं तथा लेखाओं के मान्यता सम्बन्धी प्रस्तावों को ठुकरा सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक प्रस्ताव को स्वीकार करने तथा न करने का अंशधारियों को पूर्ण अधिकार होता है। परन्तु केवल आलोचना करने से ही कोई प्रभाव नहीं होता। इसका फल तो तब निकलता है जब अंशधारी उन लेखाओं के निरीक्षण के लिए अपनी एक समिति नियुक्त करें। इस समिति की जब तक रिपोर्ट नहीं आती उस समय तक सामान्य-सभा स्थगित कर दी जाती है। सारिणी 'अ' के नियम १०५ के अनुसार कम्पनी की लेखा-पुस्तकें तथा वाउचरों या पावतियों के देखने का अधिकार प्रत्येक अंशधारी को होता है और साधारण रूप से इन वस्तुओं को देखने के लिये अंशधारी लोग एक समिति नियुक्त कर लेते हैं वही इन समस्त बातों का परीक्षण करती रहती है।

(४) निरीक्षकों की नियुक्ति (Appointment of Inspectors) :—
जब किसी कम्पनी के अंशधारी उसके कार्य क्रमों, सचालकों के वृत्तलेखों, अकेक्षित लेखों (Audited Accounts) तथा सामान्य सभा की कार्यवाहियों से असंतुष्ट होते हैं, तो वे संचालकों के अधिकारों को एकदम कुचल नहीं सकते और न वे सचालकों को ऐसी सूचना देने के लिए विवश कर सकते हैं जिससे कि कम्पनी की हानि होने की आशका हो। उस समय अंशधारियों को केवल इतना ही अधिकार होता है कि वे अपनी एक समिति नियुक्त कर सकते हैं जो कम्पनी की लेखा-पुस्तकें तथा सचालकों के वृत्त लेखों की पूरी पूरी जाँच कर सकती है और अपनी रिपोर्ट सदस्यों के सम्मुख स्थगित हुई सभा में उपस्थित कर सकती है। परन्तु यह अधिकार उसी समय उपयोगी होता है जब संचालक अंशधारियों से कोई भी महत्त्वपूर्ण बात छिपाना नहीं चाहते तथा उस समिति से भी

सहानुभूति रखते हैं, क्योंकि इस समिति को भी यह अधिकार नहीं होता कि वह गवाहों की शपथ-पूर्वक परीक्षा करे। यह पद्धति प्राय: उसी समय अपनायी जाती है जब कम्पनी की व्यवस्था में अंशधारियों को कोई अधिक गंभीर बात उनके विश्वास को पूर्णत: नष्ट करने वाली नहीं दिखाई देती। परन्तु यदि बातें अधिक महत्त्वपूर्ण तथा गंभीर होती हैं जिसमें अंशधारियों का विश्वास कम्पनी की व्यवस्था में नहीं रहता तो उन लोगों के लिए उस समय परीक्षा के लिए निम्नलिखित दो वैधानिक उपाय उपलब्ध रहते हैं। वे क्रमश. इस प्रकार हैं :—

(अ) धारा १३८ के अनुसार अंशधारियों की ओर से कम्पनी के वृत-लेखादि का निरीक्षण करने के लिए प्रान्तीय सरकार अपने निरीक्षक (Inspectors) नियुक्त कर सकती है; इतना अवश्य है कि वे अंशधारी अधिकोषण कम्पनियों के १/५ भाग को धारण करने वाले तथा अंशपूँजी वाली अन्य कम्पनियों के १/१० भाग को धारण करने वाले होने चाहिए। इसके साथ ही जिन कम्पनियों में अंशपूँजी नहीं है उसके आवेदन-पत्र भेजने वाले सदस्यों की सख्या १/५ से कम नहीं होनी चाहिए।

अंशधारियों के हाथ में यही एक हथियार होता है जिससे कम्पनी के विगत तथा वर्तमान सचालकों, अफसरों तथा अभिकर्त्ताओं को समस्त लेखा-पुस्तकें तथा अन्य प्रलेख (Documents) इन निरीक्षकों के सम्मुख उपस्थित करने पड़ते हैं तथा कम्पनी के व्यवसाय से सम्बन्धित गवाहों का निरीक्षण भी शपथपूर्वक हो जाता है। निरीक्षक लोग प्रान्तीय सरकार को अपनी रिपोर्ट भेज देते हैं। प्रान्तीय सरकार इस रिपोर्ट की एक प्रतिलिपि उस प्रान्त के रजिस्ट्रार के पास तथा एक कम्पनी को भेज देती है। इसके अतिरिक्त यदि आवेदक-लोग (अंशधारी) भी एक प्रतिलिपि माँगते हैं तो उनको भी भेज देती है। यह निरीक्षण सम्बन्धी समस्त व्यय आवेदकों को ही देना पड़ता है। इतना अवश्य है कि यदि प्रान्तीय सरकार इस व्यय के लिए कम्पनी को आदेश दे देती है तो आवेदक लोग इस व्यय से मुक्त हो जाते हैं।

(ब) धारा १४२ के अनुसार प्रान्तीय सरकार के पास न जाते हुए भी अंशधारी लोग वैधानिक रूप से निरीक्षकों को नियुक्त कर सकते हैं। परन्तु निरीक्षकों की नियुक्ति कम्पनी के विशेष प्रस्ताव द्वारा स्वीकृत होनी चाहिए। वे नियुक्त किए हुए निरीक्षक अपनी रिपोर्ट को सीधे कम्पनी के पास भेज सकते हैं, उन्हें प्रान्तीय सरकार के द्वारा भेजने की आवश्यकता नहीं होती। इसके साथ ही इन निरीक्षकों के भी अधिकार प्रान्तीय सरकार के निरीक्षकों की भाँति होते हैं।

(५) रजिस्ट्रार से शिकायत (Complaint to Registrar) .—धारा १३७ (६) के अनुसार यदि कोई अंशधारी रजिस्ट्रार के पास कम्पनी की आवश्यक सामग्री उपस्थित करते हुए शिकायत करता है कि कम्पनी अपना व्यवसाय कपटपूर्ण

चलाती है तो रजिस्ट्रार को कम्पनी के निरीक्षण का अधिकार है और निरीक्षण करने के उपरान्त वह अपनी रिपोर्ट प्रान्तीय सरकार के समीप भेज देता है।

इसी तरह धारा १४१-A के अनुसार प्रान्तीय सरकार का भी यह कर्तव्य है कि वह सरकारी व्यय से कम्पनी के व्यापार सम्बन्धी किसी भी अपराधी व्यक्ति के विरुद्ध अभियोग चलाये। वह अपराधी व्यक्ति कम्पनी के व्यवस्थापन में ५ वर्ष तक पुनः भाग नहीं ले सकता है। परन्तु यदि रजिस्ट्रार को निरीक्षण के उपरान्त यह मालूम होता है कि अंशधारी ने झूँठी शिकायत की है तो वह कम्पनी के सम्मुख उसका नाम प्रकट कर सकता है और कम्पनी पुनः उसके विरुद्ध आवश्यक वैधानिक कार्यवाही कर सकती है।

(६) कुप्रबन्ध अथवा अत्याचारों के विरुद्ध कम्पनी की परिसमाप्ति के उपाय (Alternative remedy to winding up in cases of mis-management or oppression)—धारा १५३-C एक नवीन धारा है इसके अनुसार न्यायालय के कितने ही महान् अधिकार हैं कि वह यदि किसी कम्पनी में कु प्रबन्ध या अत्याचार देखता है तो उसकी परिसमाप्ति (Winding up) कर सकता है। इस कार्य के लिए न्यायालय में एक आवेदन-पत्र कम्पनी के सदस्य या केन्द्रीय सरकार द्वारा भेजना चाहिए। कम्पनी का कोई भी सदस्य जब यह देखता है कि कम्पनी में कुप्रबन्ध है तथा वह अपने न्यूनतम अंशधारियों पर या उसी पर अत्याचार कर रही है तो वह उपर्युक्त धारा के अनुसार न्यायालय में आवेदन-पत्र भेज सकता है। परन्तु निम्नलिखित बातों की पूर्ति के बिना उसे आवेदन पत्र भेजने का अधिकार नहीं होता :—

(अ) जब तक वह अपनी अंश-पूँजी वाली कम्पनी के लगभग १०० सदस्यों की सम्मति इस कार्य के लिए नहीं लेता अथवा समस्त सदस्यों की संख्या का १/१० भाग जबतक उसे अपनी राय नहीं देता या वह स्वयं जबतक कम्पनी की निर्गमित अंश-पूँजी के १/१० भाग को नहीं खरीदता और उन अंशों से सम्बन्धित धन उस पर शेष नहीं रहता, उस समय तक वह आवेदन-पत्र भेजने में असमर्थ रहता है।

(ब) यदि वह कम्पनी अंश-पूँजी वाली नहीं है तो जबतक वह समस्त सदस्यों के १/५ भाग की सम्मति नहीं लेता उस समय तक अपना आवेदन-पत्र न्यायालय में नहीं भेज सकता है।

यदि केन्द्रीय-सरकार किसी कम्पनी के कुप्रबन्ध के बारे में पता लगा लेती है और उसे विश्वास हो जाता है तो वह भी न्यायालय में आवेदन-पत्र भेज सकती है।

न्यायालय का आदेश (Court's Order):—यदि कम्पनी के कुप्रबन्ध तथा अत्याचार से न्यायालय पूर्णतः परिचित हो जाता है और जाँच करने पर उसे ठीक मालूम पड़ते हैं तथा कम्पनी की परिसमाप्ति (Winding up) से सदस्यों तथा कम्पनी को

हानि होगी यह भी वह जान जाता है, इसके साथ ही वह जब पूर्णरूप से समझ लेता है कि कम्पनी के विरुद्ध समस्त कार्यवाहियाँ 'सत्य तथा न्याय-संगत' (Just and equitable) हैं तो न्यायालय जैसा उचित समझता है वैसा ही आदेश देता है, उसमें निम्न लिखित बातें रहती हैं —

(१) न्यायालय के आदेश में कम्पनी के भविष्य के कार्यो एवं व्यवहारों से सम्बन्धित नियम होते हैं

(२) उसमें किसी सदस्य के अंशों को किसी दूसरे सदस्य या कम्पनी द्वारा खरीदने का निर्देश होता है और इस तरह से उस कम्पनी की पूँजी के कम करने की आज्ञा रहती है,

(३) उसमें कम्पनी तथा उसके प्रबन्ध अभिकर्ता, प्रबन्ध सचालक या अन्य किसी सचालक के बीच में होने वाले अनुबन्धों पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है।

इसके अतिरिक्त न्यायालय किसी कम्पनी के सीमानियमों तथा अन्तर्नियमों में भी परिवर्तन या परिवर्द्धन कर सकता है। जैसे वह विभिन्न प्रकार के अंशों के अधिकारों में अपनी राय दे सकता है। यदि न्यायालय इस प्रकार का परिवर्तन कर देता है तो कम्पनी बिना न्यायालय की आज्ञा के उन सीमानियमों अथवा अन्तर्नियमों में किसी प्रकार का रूपान्तर या परिवर्द्धन नहीं कर सकती है। वे समस्त परिवर्तित प्रलेख भी कम्पनी के सीमानियम तथा अन्तर्नियम ही होंगे और उनकी एक प्रतिलिपि १५ दिवस के अतर्गत रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करनी पड़ेगी।

वैधानिक अधिकारों के दुरुपयोग की क्षति पूर्ति (Damages for misfeasance) —यदि न्यायालय कम्पनी तथा उसके प्रबन्ध अभिकर्ता या सचालक अथवा अन्य किसी अधिकारी के बीच में होने वाले अनुबन्ध (Agreement) को अस्वीकृत कर देता है और उसे यह पता चल जाता है कि किसी व्यक्ति ने कम्पनी की सम्पत्ति या धन का दुरुपयोग किया है अथवा कोई व्यक्ति अधिकारों के दुरुपयोग (Misfeasance) या विश्वासघात (Breach of Trust) का दोषी है तो न्यायालय उस व्यक्ति से उसके कार्यो के द्वारा होने वाली समस्त क्षति की पूर्ति करा सकता है।

अनुबन्ध विच्छेद पर क्षतिपूर्ति का न होना (No Compensation for termination of agreement) —जब न्यायालय के आदेश से कम्पनी तथा उसके प्रबन्ध अभिकर्ता, प्रबन्ध सचालक या अन्य किसी सचालक के बीच में होने वाले अनुबन्ध का विच्छेद हो जाता है तो ये लोग न तो कार्यालय की क्षति या अन्य किसी प्रकार की हानि की पूर्ति ही करा सकते हैं और न ५ वर्ष तक न्यायालय की आज्ञा के बिना अपने पदों पर पुन कार्य कर सकते हैं।

(७) अंशधारियों के अन्य अधिकार (Other powers of Share holders) —तालिका 'अ' के नियम ७१ के अनुसार कम्पनी की व्यवस्था आदि

के समस्त अधिकार सचालकों के हाथ में ही रहते हैं। केवल कम्पनी विधान द्वारा सुरक्षित तथा अन्तर्नियमों में उल्लिखित कम्पनी के सदस्यों के अधिकारों से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार अंशधारियों को विधान द्वारा कुछ और अधिकार भी प्राप्त हो जाते हैं, जैसे पूँजी का परिवर्तन, अन्तर्नियमों का रूपातर, कम्पनी के किसी भाग का विक्रय, किसी संचालक के ऋण का परित्याग या छूट, आदि। परन्तु ये सभी बातें अशधारियों द्वारा व्यापक-सभा में आवश्यक प्रस्ताव पास करने पर ही सभव हो सकती हैं।

सारांश (Conclusion)—उपर्युक्त वैधानिक उपायों द्वारा ही अशधारी कम्पनी पर अपना किसी प्रकार नियन्त्रण रख सकते हैं। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि कोई भी अशधारी उस समय तक अपनी शिकायत रजिस्ट्रार के यहाँ नहीं कर सकता है जब तक कि उस शिकायत के लिए बहुमत न हो अर्थात् कम्पनी के सदस्यों का बहुमत लिये बिना कोई भी शिकायत रजिस्ट्रार तक नहीं पहुँचती और उस बहुमत के लिए प्रबधक लोग पहले से ही दृढ होते हैं। अत. अशधारी अपने कार्य में बहुधा असफल ही रहते हैं, क्योंकि उन्हें कम्पनी के सदस्यों का बहुमत प्राप्त नहीं होता। इसके भी निम्नलिखित कारण हैं.—

(अ) कम्पनियों के सचालक कभी स्वतन्त्र नहीं होते। वे बहुधा प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के ही वश में रहते हैं। कारण यह है कि जिस समय सचालकों की नियुक्ति होती है उस समय प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के अंशधारियों, मित्रों, सम्बन्धियों, दलालों तथा वैधानिक सलाहकारों (Solicitors) का ही बहुमत रहता है। अत: अन्तर्नियमों की इस दोषपूर्ण रीति से उनके ही हितैषी चुन लिए जाते हैं। प्रारम्भ से ही यह निर्वाचन प्रणाली दोषपूर्ण रहती है क्योंकि प्रथम सचालकों का चुनाव भी प्रवर्त्तक-लोग (Promoters) ही कर लेते हैं। ये लोग चुनते समय यही ध्यान रखते हैं कि इनका ही कोई अच्छा आदमी सचालक बने। दूसरे, प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं को भी समस्त सचालकों का १ ३ भाग चुनने का अधिकार होता है। तीसरे, अन्तर्नियमों में कुछ सचालकों को विशेष हितों के लिए चुनने का उल्लेख रहता है और ये सचालक भी प्राय· प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के हितैषी व्यक्ति ही चुने जाते हैं। इस प्रकार प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं का बहुमत पूर्ण रूप से दृढ हो जाता है और उनके बीच में किसी व्यक्ति को विघ्न डालने का साहस नहीं होता।

(आ) अशधारियों के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए प्रबन्ध-अभिकर्त्ता तथा संचालक दोनों मिल जाते हैं। इस प्रकार यदि कोई अशधारी इनके विरुद्ध किसी प्रकार का प्रस्ताव करता है तो उसे ये लोग अपने बहुमत से कुचल देते हैं। वैसे तो इन लोगों का बहुमत होता ही है और यदि किसी प्रकार का अभाव होता है तो ये लोग कम्पनी में प्राय अपना बहुमत स्थापित कर लेते हैं। यह बहुमत प्राय

अंश-वितरण तथा व्यवस्था की कुशलता (Manoeuvres) से प्राप्त कर लिया जाता है। अंशधारियों में से कुछ तो अपना मत देते ही नहीं, कुछ मर जाते हैं तथा बहुत से व्यक्तियों का पता भी नहीं रहता। कुछ लोग दूर-दूर बसे रहते हैं और प्राय: भारत से बाहर रहे आते हैं। इसके साथ ही कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें मत देने का अधिकार नहीं होता क्योंकि उनके नाम अंश रजिस्टर्ड नहीं होते। इस प्रकार अंशधारियों के समर्थक लोगों के मतों का अभाव रहता है तथा संचालकों या प्रबन्ध-अभिकर्ताओं की अपेक्षा उनके मत कम रहते हैं।

इसके अतिरिक्त कम्पनी की सभा होने से पूर्व कम्पनी के अन्य कर्मचारी लोग प्रति-पुरुषों (Proxy) में पर्याप्त प्रचार करने के लिए कम्पनी की ओर से भेजे जाते हैं। इस तरह अंशधारियों तथा संचालकों की प्रतिद्वन्द्विता में विचारे अंशधारियों को ही हारना पड़ता है। इस प्रकार, यद्यपि संचालकों तथा प्रबन्ध-अभिकर्ताओं में कम्पनी के सदस्यों का विश्वास नहीं रहता, परन्तु फिर भी ये लोग कम्पनी की व्यवस्था से अलग नहीं होते, वरन् सब प्रकार के दण्डों से मुक्त होकर कम्पनी में राज्य किया करते हैं।

यदि सभी अंशधारी कम्पनी के कार्यों में रुचि रक्खें तथा सामूहिक रूप से अधिकारियों के विरुद्ध कार्यवाही करें तो वे लोग अवश्यमेव विजयी हो सकते हैं।

वैयक्तिक कम्पनियाँ (Private Companies)

जिस समय संयुक्त-स्कन्ध-पद्धति भारतवर्ष में सर्वप्रथम प्रचलित हुई, उसी समय यह स्वाभाविक रूप से विचार किया गया था कि यह पद्धति केवल बड़ी मात्रा में कार्य करने वाले उद्योगों के ही अनुकूल है क्योंकि ऐसी औद्योगिक संस्थायें बिना सर्वसाधारण से धन की याचना किए हुए अपना कार्य नहीं चला पातीं। उस समय यह कदापि नहीं सोचा गया था कि छोटे-छोटे उद्योगों में भी यह पद्धति चलाई जायेगी या उनके स्वामित्व का विभाजन करके हस्तान्तरण किया जायेगा अथवा उनके अंशों को खुले आम बाजार में बेचा जायगा। परन्तु यही सोचा गया था कि छोटे-छोटे व्यवसायों का स्वामित्व सीमित दायित्व के बिना ही रक्खा जायेगा। इस प्रकार जिस कम्पनी को भी संयुक्त-स्कंध के अधिकार स्वीकृत हो जाते थे, उसके लिए यह सम्भव नहीं था कि वह अपने अधिकारों को छोटे उद्योगों के अधिकारों के रूप में परिणत कर सके। इस कारण कुछ समय तक छोटे उद्योगों की भाँति कम्पनी का चलाना विधान के अनुसार साहस का पतन (Breach of spirit) समझा जाता था।

परन्तु फिर भी छोटी-छोटी कम्पनियों की पर्याप्त वृद्धि हुई और अंत में वे वैयक्तिक कम्पनियाँ कहलाने लगीं। ऐसी वैयक्तिक कम्पनियों का परिचय सर्वप्रथम भारतीय कम्पनी विधान १६१३ ने दिया। इससे पूर्व ये कम्पनियाँ भी ऐसी ही थीं

जैसी कि सार्वजनिक कम्पनियाँ होती हैं और इन्हें कोई विशेष सुविधाओं के उपयोग करने का अधिकार नहीं था।

परिभाषा (Definition) :—विधान की धारा २ (१) (१३) के अनुसार वैयक्तिक कम्पनी वह कम्पनी होती है जो अपने अन्तर्नियमों में :—

(अ) अंश हस्तान्तरण के अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाती है,

(ब) कम्पनी के कर्मचारियों के अतिरिक्त अपने सदस्यों की सख्या ५० तक सीमित करती है, तथा

(स) जनता को अपने अशों के क्रय करने के लिये आमन्त्रित नहीं करती है।

यदि दो या दो से अधिक व्यक्ति सम्मिलित रूप से एक या एक से अधिक अश लेते हैं तो वे 'एक सदस्य' ही माने जाते हैं।

ऐसी वैयक्तिक कम्पनी को धारा ३२ के अनुसार अपनी वार्षिक रिटर्न या प्रत्याय के साथ एक ऐसा प्रमाण-पत्र रजिस्ट्रार के सम्मुख प्रस्तुत करना पड़ता है जिसमें उस कम्पनी के अधिकारी के हस्ताक्षरों सहित यह लिखा रहता है कि गत प्रत्याय से अबतक अथवा यदि वह नई कम्पनी है तो सस्थापना से अब तक कम्पनी का कोई भी ऋण-पत्र या अश जनता को खरीदने के लिए नहीं दिया गया और यदि उसके सदस्यों की सख्या ५० से अधिक हो जाती है तो भी उसे एक प्रमाण-पत्र अपने हस्ताक्षर करके भेजना पड़ता है कि अधिक संख्या बढ़ाने वाले व्यक्ति कम्पनी की सदस्यता सम्बन्धी गणना में नहीं आते और सदस्यों की संख्या केवल ५० ही है।

निर्माण (Formation) —एक सार्वजनिक कम्पनी की भाँति एक वैयक्तिक कम्पनी का निर्माण भी प्राय' सघ-सीमानियम, सघ अन्तर्नियम, वैधानिक या परिनियत (Statutory declaration) तथा रजिस्टर्ड कार्यालय सम्बन्धी सूचना को रजिस्ट्रार के सम्मुख प्रस्तुत करने पर होता है। सार्वजनिक कम्पनी की भाँति इसके सघ-सीमानियमों (Memorandum) पर सात व्यक्तियों के हस्ताक्षरों की आवश्यकता नहीं होती, वरन् केवल दो व्यक्तियों के हस्ताक्षर ही पर्याप्त होते हैं।

वैयक्तिक कम्पनी को अपने अंशों के वितरण करने में कोई भी प्रतिबन्ध नहीं होता, यह कम्पनी अपना व्यवसाय भी सस्थापना के उपरान्त किसी भी समय प्रारम्भ कर सकती है।

धारा १४७ के अनुसार यदि इस कम्पनी की सदस्यता दो से कम हो जाती है एव इस स्थिति में भी वह ६ माह से अधिक व्यवसाय करती है तो ऐसा कोई भी व्यक्ति, जिसको इस बात का ज्ञान है एव इन ६ माह के बाद भी व्यापार चालू रखता है तो वह इस अवधि में किए गए कम्पनी के सभी ऋणों के लिए उत्तरदायी होगा।

वैयक्तिक कम्पनी के वैधानिक अधिकार (Legal Privileges).—सार्वजनिक कम्पनी के विपरीत वैयक्तिक कम्पनियों के जो वैधानिक अधिकार होते हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं —

१—कम्पनी की स्थापना के लिए इसके संघ-सीमानियमों पर केवल दो व्यक्तियों के हस्ताक्षर ही पर्याप्त होते हैं—धारा ५।

२—ऐसी कम्पनी को वैधानिक सभा (Statutory meeting) करने या वैधानिक रिपोर्ट तैयार करने की कोई आवश्यकता नहीं होती—धारा ७७।

३—ऐसी कम्पनियों के सचालकों को क्रमानुगत पद त्याग करने (Retirement by rotation) की आवश्यकता नहीं होती—धारा ८३-B।

४—ऐसी कम्पनियों के लिए प्रथम सचालकों की नियुक्ति एव विज्ञापन के निमित्त कोई भी प्रतिबन्ध नहीं होता—धारा ८४।

५—ऐसी कम्पनियों के प्रबन्ध-सचालक समस्त संचालकों की सख्या में से १/३ भाग से भी अधिक नियुक्त कर सकते हैं—धारा ८७-I।

६—ऐसी कम्पनियों को विवरण-पत्रिका के स्थान पर अन्य कोई विवरण रजिस्ट्रार के पास भेजने की आवश्यकता नहीं होती—धारा ९८।

७—ऐसी कम्पनी को अपने अशों के वितरण (Allotment) में कोई प्रतिबन्ध नहीं होता—धारा १०१।

८—ऐसी कम्पनियाँ बिना किसी प्रतिबन्ध के अपना व्यवसाय प्रारम्भ कर सकती हैं तथा अपने अधिकारों का उपयोग भी कर सकती हैं—धारा १०३।

९—एक वैयक्तिक कम्पनी को अपने वार्षिक लेखे (Annual accounts) आदि सदस्यों के पास नहीं भेजने पड़ते (धारा १३१) और न इन्हे अपनी व्यापक-सभा के सदस्यों को सूची आदि रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करनी पड़ती है—धारा १३४।

१०—ऐसी कम्पनियों के ऋण-पत्रधारियों को तथा अधिमान (Preference) अशधारियों को निरीक्षित लेखे प्राप्त करने या निरीक्षण करने का अधिकार नहीं होता, जब तक इसका स्पष्ट उल्लेख कम्पनी के अन्तर्नियमों में न हो—धारा १४६।

उपर्युक्त अधिकारों के अतिरिक्त जब तक ये वैयक्तिक कम्पनियाँ किसी सार्वजनिक कम्पनी की सहायक (Subsidiary) नहीं होतीं, उस समय तक निम्नलिखित वैधानिक छूटों (Exemptions) की अधिकारिणी रहती हैं.—

१—कम्पनी विधान की सारिणी 'अ', विधान की धारा १७ के अनुसार, समस्त सार्वजनिक कम्पनियों पर लागू होती है, परन्तु उसके नियम ७९ से ८२ तक इन वैयक्तिक कम्पनियों पर लागू नहीं होते—धारा १७।

२—आर्थिक सहायता सम्बन्धी जो वैधानिक प्रतिबन्ध सार्वजनिक कम्पनियों पर लागू होते हैं वे वैयक्तिक या निजी कम्पनियों पर लागू नहीं होते—धारा ५४-A।

३—कम्पनी की सभाओं तथा मताधिकार सबधी वैधानिक आयोजन जो सार्वजनिक कम्पनियों पर लागू होते हैं, वे वैयक्तिक कम्पनियों पर लागू नहीं होते—धारा ७६।

४—एक वैयक्तिक कम्पनी में तीन से कम संचालक भी हो सकते है—धारा ८३-A।

५—ऋणों की स्वीकृति या प्रतिभूति सम्बन्धी जो प्रतिबन्ध सार्वजनिक कम्पनियों पर लगाये जाते हैं वे वैयक्तिक कम्पनियों पर लागू नहीं होते—धारा ८६-D।

६—सार्वजनिक कम्पनियों के संचालकों पर व्यवस्था सम्बन्धी जो प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं वे वैयक्तिक कम्पनियों पर नहीं लगते—धारा ८६-H।

७—यह भी आवश्यक नहीं कि किसी वैयक्तिक कम्पनी के सचालक केवल २० वर्षों के लिए ही नियुक्त किये जायें। वे २० वर्ष से अधिक समय के लिये भी नियुक्त हो सकते हैं—धारा ८७ A।

८—वैयक्तिक कम्पनियों के सचालकों का पारिश्रमिक किसी प्रकार भी निश्चित किया जा सकता है—धारा ८७ C।

९—प्रबन्ध-अभिकर्ताओं पर ऋण-स्वीकृति सम्बन्धी जो प्रतिबन्ध अन्य कम्पनियों में लगाये जाते हैं वे यहाँ लागू नहीं होते—धारा ८७-D।

१०—मतदान (Voting) सम्बन्धी जो प्रतिबन्ध किसी रुचि रखने वाले सचालक पर लगाये जाते हैं वे इस वैयक्तिक कम्पनी में लागू नहीं होते—धारा ९१ B।

११—किसी कम्पनी के अभिकर्त्ता (Agent) के लिए यह आवश्यक होता है कि वह यदि कोई अनुबन्ध अपने नाम से कर लेता है, परन्तु वह कम्पनी की ओर से ही करता है तो उस अनुबन्ध के स्मरण-पत्र को कम्पनी के कार्यालय में प्रस्तुत करे, परन्तु यह आयोजन वैयक्तिक कम्पनियों में लागू नहीं होता—धारा ९१-D।

१२—एक वैयक्तिक कम्पनी का अकेक्षक कोई अप्रमाणित (Unqualified) व्यक्ति भी हो सकता है तथा कोई भी संचालक या अन्य अधिकारी भी अकेक्षक (Auditor) का कार्य कर सकता है—धारा १४४।

वैयक्तिक कम्पनियों से लाभ (Advantages) —एक वैयक्तिक कम्पनी को वैधानिक परिभाषा तथा अन्य अनेक वैधानिक छूटें (Exemptions) उसे विशेष परिस्थितियों में सुसगठित व्यवसाय करने की योग्यता प्रदान करती हैं। भारतवर्ष में सन् १९१३ से अब तक सहस्रों वैयक्तिक कम्पनियाँ रजिस्टर्ड हो चुकी हैं और आज भी इन कम्पनियों की ख्याति बढ रही है। उसका एकमात्र कारण यही है कि इनसे निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं :—

१—इन वैयक्तिक या निजी कम्पनियों में समस्त जनता रुचि नहीं रखती, इसलिए इनकी व्यवस्था में प्रायः वे ही व्यक्ति होते हैं जो इनमें अधिक रुचि रखते

हैं। बहुधा ऐसी कम्पनियों के अंश एक कुटुम्ब के व्यक्ति ही खरीद लेते हैं। अत समस्त व्यापार कुछेक व्यक्तियों के ही हाथ में रहता है और वे अधिक लाभ की प्रेरणा से अत्यधिक परिश्रम तथा कुशलता से कार्य करते हैं, इसलिए पर्याप्त लाभ प्राप्त कर लेते हैं।

२—एक वैयक्तिक कम्पनी सगठित व्यवसाय करने के लिए बड़ी ही उपयुक्त होती है। साधारणत इसमें ऐसे व्यक्ति ही होते हैं जिनके पास व्यापार सचालन के लिए यथेष्ट पूंजी होती है परन्तु जो सीमित दायित्व का लाभ उठाना चाहते हैं। अत वे लोग साझेदारी के स्थान पर वैयक्तिक कम्पनियों की स्थापना करके साझेदारी के लाभों के साथ साथ सीमित दायित्व का भी लाभ उठाते रहते हैं। इन्हें विज्ञापन आदि की भी पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है।

३—एक वैयक्तिक कम्पनी अपने अंश या ऋण-पत्रादि के क्रय के लिए जनता को आमन्त्रित नहीं करती, इसलिए इसकी समस्त कार्यवाहियाँ पूर्णत गुप्त रखी जाती हैं। परन्तु इतने पर भी इसके सदस्यों का सीमित दायित्व ही रहता है।

४—एक वैयक्तिक कम्पनी के अस्तित्व में भी स्थायित्व रहता है, क्योंकि किसी सदस्य की मृत्यु या दिवालिया हो जाने पर भी इनका विलीयन नहीं होता, वरन् कम्पनी का व्यवसाय सतत् चलता रहता है। इसमें कितने ही अशधारी आते जाते रहते हैं, परन्तु इस प्रकार के परिवर्तन का कम्पनी के स्थायित्व में कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

५—अन्य कम्पनियों की अपेक्षा इन वैयक्तिक कम्पनियों को ऋण पत्रादि के उधार लेने की सुविधायें अधिक मात्रा में प्राप्त रहती हैं।

६—कम्पनी तथा उसके सदस्यों के बीच में प्रबन्ध की जो सुगमता साझेदारी में भी असंभव दिखाई देती है, वह इन वैयक्तिक कम्पनियों में सर्वथा सभव हो जाती है अर्थात् यहाँ प्रत्येक सदस्य व्यवस्था में पूर्णरूप से भाग ले सकता है।

७—आधुनिक समय में कम्पनियों पर कर आदि की अधिकता देखने में आती है, परन्तु वैयक्तिक कम्पनी का स्वरूप धारण करने पर एक बड़ी कम्पनी भी करों के अनुपयुक्त भार से बच सकती है। अधिक करों (Super taxes) से प्राय नीचे लिखे ढगों से बचाव हो जाता है —

(अ) बहुधा कोई भी कम्पनी अपने लाभों का विभाजन अपने सदस्यों में इस प्रकार करती है जिससे उसे अधिक कर (Super-tax) देना पड़ता है, परन्तु यदि वह कुछ धन-राशि सचित-कोष में रखने तो अधिक कर से बच सकती है, तथा (ब) हानि वाले वर्ष में, सब लेखों का शुल्क भी दे देना चाहिए इससे वह हानि भी कम्पनी के लेखे (Accounts) में आ जाती है, और वह कम्पनी अधिक-कर (Super tax) के भार से मुक्त हो जाती है।

वैयक्तिक कम्पनी का सार्वजनिक होना (Private Company becoming Public) —धारा १५४ के अनुसार प्राय दो रीतियों से कोई नजी कम्पनी सार्वजनिक कम्पनी हो जाती है। वे रीतियाँ इस प्रकार हैं —

१—यदि कोई वैयक्तिक कम्पनी अपने अन्तर्नियमों में इस प्रकार का परिवर्तन कर लेती है कि वे उस कम्पनी के उपयुक्त नहीं रहते तो फिर वह वैयक्तिक नहीं रहती और उस परिवर्तन के १४ दिवसों के अन्दर ही अपनी विवरण पत्रिका (Prospectus) या उसके स्थान पर अन्य विवरण उसे रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करना पड़ता है। इसके साथ ही वह अपने सदस्यों की सख्या यदि ७ से कम होती है तो ७ तक कर सकती है।

२—यदि कम्पनी के अन्तर्नियमों में वैयक्तिक कम्पनियों से सम्बन्धित आयोजन रहते हैं और उन आयोजनों के आधार पर ही वह कम्पनी यदि किसी प्रकार की लापरवाही कर देती है, तो वह एक वैयक्तिक कम्पनी के अधिकार एव छूटों के प्राप्त करने की अधिकारिणी नहीं रहती और सार्वजनिक कम्पनी के ही नियम उस पर लागू हो जाते हैं। यदि उस लापरवाही के लिए वह न्यायालय में ऐसा आवेदन पत्र भेज देती है कि वह भूल या लापरवाही जानकर नहीं की, अपितु अनायास होगई है तो कम्पनी उसके लिए मुक्त हो जाती है।

सार्वजनिक का वैयक्तिक कम्पनी होना (Conversion of Public into Private Company) —कम्पनी विधान में किसी सार्वजनिक कम्पनी के वैयक्तिक कम्पनी में परिणत होने की पद्धति का निर्देश नहीं है, परन्तु इस प्रकार के परिवर्तन के लिए उसमें प्रतिबन्ध भी नहीं मिलते। केवल इतना ही उल्लेख मिलता है कि कम्पनी के कर्मचारियों को छोड़कर समस्त सदस्यों की सख्या ५० से अधिक नहीं होनी चाहिए। कोई भी सार्वजनिक कम्पनी विलीयन तथा पुनर्सगठन के बिना वैयक्तिक कम्पनी बन सकती है। इस प्रकार का परिवर्तन अन्तर्नियमों के आवश्यक संशोधन करने से ही हो सकता है।

किसी स्थापित सार्वजनिक कम्पनी को वैयक्तिक बनने के लिए यह आवश्यक होता है कि एक विशेष प्रस्ताव द्वारा वह अपने अन्तर्नियमों में परिवर्तन करे जिससे कि अंशों के हस्तान्तरण के अधिकार पर, सदस्यों की सख्या ५० से अधिक करने पर तथा कम्पनी के ऋण पत्रों या अंशों को खरीदने के लिए जनता के आमन्त्रण पर प्रतिबन्ध हो जाय। ये परिवर्तन ही उसे वैयक्तिक कम्पनी बनाने में समर्थ होते हैं, परन्तु इतने ही पर्याप्त नहीं। सारे अन्तर्नियमों को पूर्ण रूप से परिवर्तित करना चाहिए क्योंकि उसमें और भी ऐसे आयोजन हो सकते हैं जो उपर्युक्त बातों के विपरीत होते हैं। अत वे भी परिवर्तित होने चाहिए।

वयक्तिक कम्पनी तथा साझेदारी की तुलना (Private Company contrasted with Partnership) —साझेदारी की तुलना में वैयक्तिक सीमित कम्पनी (Private Limited Company) को निम्नलिखित सुविधायें तथा असुविधायें होती हैं —

सुविधायें (Advantages) —

(१) वैयक्तिक कम्पनियों के सदस्यों का दायित्व उनके अंशों के मूल्यांकन से सीमित होता है, परन्तु साझेदारी में प्रत्येक सदस्य सामूहिक रूप से या पृथक्-पृथक् समस्त ऋणों के लिए उत्तरदायी होता है।

(२) विभिन्न प्रकार के अंशों तथा ऋण-पत्रों के निर्गमन द्वारा एक वैयक्तिक कम्पनी को शीघ्र पूँजी प्राप्त हो जाती है, परन्तु साझेदारी में यह सुगमता से सम्भव नहीं होता क्योंकि उनको साझेदारी के सम्पत्ति के बंधक रखने पर या उनके वैयक्तिक साख पर ही ऋण मिल सकता है।

(३) वैयक्तिक कम्पनी के लाभ का भाग उसके कर्मचारियों को विशेष अंशों द्वारा कम्पनी के व्यापारिक नियन्त्रण के हस्तान्तरण किए बिना दिया जा सकता है, परन्तु यह साझेदारी में कदापि सम्भव नहीं होता।

(४) एक वैयक्तिक कम्पनी का अस्तित्व उसके सदस्यों से सर्वथा पृथक् रहता है। इसी कारण सदस्यों के बदलते रहने पर भी उसके अस्तित्व में कोई परिवर्तन नहीं होता, परन्तु साझेदारी में साझेदार की मृत्यु आदि के समय पूर्णत: विनाश हो जाता है।

(५) वैयक्तिक कम्पनी के किसी सदस्य की मृत्यु हो जाने पर कम्पनी के आर्थिक स्थिति में कोई भी संकट उपस्थित नहीं होता, क्योंकि उसके अंश किसी दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित कर दिये जाते हैं। परन्तु साझेदारी में किसी साझेदार की मृत्यु से उसकी पूँजी जो फर्म में रहती है वह उसके वारिसों को वापिस देना पड़ता है जिससे अर्थ संकट उपस्थित होने की आशंका रहती है।

(६) कम्पनी में एक सदस्य के धन का विभाजन अनेक हिस्सों में हो जाता है और बहुधा वह ऐसे लोगों को भी मिल जाता है जो न तो उसके अधिकारी होते हैं और न अंशधारी के दायित्व एवं कर्त्तव्यों के पालन करने की इच्छा रखते हैं। परन्तु साझेदारी में ऐसा कभी नहीं होता।

(७) जब कोई व्यवसाय कम्पनी के रूप में परिणत हो जाता है तो उसके कुछ अंश साख पर भी निर्गमित कर दिये जाते हैं। उस समय यदि विक्रेता इस योग्य होता है तो वह अपने कुछ एक अंशों को बेच भी देता है और इस प्रकार व्यवसाय पर नियन्त्रण न रखते हुए भी अपनी साख बनाये रखता है। परन्तु यह बात साझेदारी में सम्भव नहीं होती।

(८) जैसा पहले भी कहा जा चुका है वैसे ही एक वैयक्तिक कपनी को साझेदारी की अपेक्षा आयकर (Income-tax) सम्बन्धी कुछ सुविधायें उपलब्ध होती हैं।

असुविधायें (Disadvantages) —

(१) साझेदारी की अपेक्षा वैयक्तिक कपनी को अपनी वैधानिक कार्यवाहियों के लिये प्रारम्भिक व्यय (Initial expenses) अधिक करना पड़ता है।

(२) जब कोई वैयक्तिक कपनी किसी सार्वजनिक कपनी की सहायक हो जाती है तो उस समय उसे कुछ विज्ञापन आदि कराने पड़ते हैं परन्तु साझेदारी के लिए किसी प्रकार का विज्ञापन आवश्यक नहीं होता।

(३) कपनी को सीमित दायित्व वाली होने के कारण साख (Credit) प्राप्त करना उतना सुगम नहीं होता जितना कि साझेदारी में अपने सदस्यों से होता है।

(४) कपनी प्राय कपनी-विधान द्वारा नियन्त्रित होती है। इसलिए प्रत्येक वैयक्तिक कपनी को वैधानिक अनियमितता या विधान के तोड़ने पर पर्याप्त असुविधायें उठानी पड़ती हैं और कितने ही प्रकार के व्यय करने पड़ते हैं। परन्तु साझेदारी म ऐसा कोई भी बात नहीं होती।

प्रत्याभूति कम्पनियाँ (Guarantee Companies)

प्रत्याभूति सीमित कपनियाँ बहुधा पारस्परिक बीमा-व्यवसाय (Mutual Insurance Business) करने के लिए ही स्थापित की जाती हैं। ये व्यापार-सरंक्षिणी समितियाँ (Trade Protection Societies), वाणिज्य सभामंडल (Chambers of Commerce), क्लब (Club) या लाभ न उठाने वाली अन्य संस्थायें होती हैं। प्राय दो प्रकार को प्रत्याभूति कम्पनियाँ होती हैं—पहली अंश-पूँजी रखने वाली प्रत्याभूति कपनियाँ कहलाती हैं तथा दूसरी अंश प्रत्याभूति-सीमित कपनी कहलाती हैं इनकी पूँजी सदस्यों के अंशों मे विभक्त रहती है।

लाभार्जन न करने वाली संस्थायें (Associations not forprofit) धारा २६ के अनुसार जो कपनियाँ, वाणिज्य, कला विज्ञान, धर्म, दान या अन्य किसी ऐसे उद्देश्य स स्थापित की जाती हैं जिसमें लाभांश का वितरण नहीं होता, अपितु उसका लाभ उसके उद्देश्यों की पूर्ति में ही लगाया जाता है, वे यदि प्रान्तीय सरकार से अनुज्ञा-पत्र (License) प्राप्त कर लेती हैं तो 'सीमित' या 'लिमिटेड' शब्द के बिना भी अपना नाम रजिस्टर करा सकती हैं, प्रान्तीय सरकार इन कम्पनियों को अनुज्ञा-पत्र उसी समय प्रदान करती है जब वह पूर्णतया यह देख लेती है कि इसके समस्त सिद्धान्त नियमानुकूल हैं तथा यह इस कार्य के योग्य है। ऐसी कपनियों को एक सीमित कपनी जैसी समस्त सुविधायें उपलब्ध होती हैं और समस्त निर्बन्ध भी लागू होते हैं। इतना अवश्य है कि इनको अपने नाम के साथ लिमिटेड या सीमित शब्द का प्रयोग नहीं करना पड़ता, न अपने नाम के विज्ञापन की ही आवश्यकता होती है

तथा ये कपनियाँ रजिस्टार के यहाँ अपने सदस्यों की सूची भी नहीं भेजती हैं। प्रान्तीय सरकार अपने अनुज्ञा-पत्र (License) को किसी भी समय भग कर सकती है और अनुज्ञापत्र के भग होने पर फिर इन कपनियों को उपर्युक्त छूटों या अधिकारों के उपयोग करने का अधिकार नहीं रहता।

ऐसी कम्पनियाँ बहुधा अश-पूँजी न रखने वाली केवल प्रत्याभूति सीमित कम्पनियों की भाँति निर्माण की जाती हैं।

सीमानियम तथा अन्तर्नियम (Memorandum and articles)—धारा ७ के अनुसार प्रत्याभूति सीमित कम्पनी के सब सीमानियम में निम्नलिखित बातें होती हैं —

(अ) कम्पनी का नाम तथा उसके अन्त में 'सीमित' या 'लिमिटेड' शब्द

(इ) कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय का प्रान्त,

(उ) कम्पनी के उद्देश्य,

(ए) "सदस्यों का दायित्व सीमित है"—इस प्रकार का निर्देश, तथा

(ऐ) कम्पनी की परिसमाप्ति (Wound up) के समय प्रत्येक सदस्य कितना धन देने का अधिकारी है, अथवा विलीयन के १ वर्ष बाद कम्पनी के दायित्व या ऋणों के भुगतान के लिए वह सदस्यता भग होने से पूर्व कितना धन देगा, या परिसमाप्ति का खर्चा, मूल्य तथा अन्य प्रभारों (Charges) के लिए प्रत्येक सदस्य क्या देगा, और परस्पर अश-दायियों (Contributories) के अधिकारों का प्रबन्ध करने के लिए अधिक से अधिक प्रत्येक कितना धन देगा—इन समस्त बातों का उल्लेख में रहता है।

यदि कोई प्रत्याभूति सीमित कम्पनी अश पूँजी वाली होती है तो उसके सीमा नियम में उस अश पूँजी का स्पष्ट उल्लेख रहना चाहिए जिसे वह रजिस्टर्ड होने के समय रखती है, साथ ही उसके अशों का निश्चित रकमों में विभाजन आदि भी लिखा रहना चाहिए। सीमा नियमों पर हस्ताक्षर करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम एक अश लेना पड़ता है तथा उसे अपने नाम के सम्मुख अशों की सख्या का भी उल्लेख अनिवार्य रूप से करना चाहिए।

प्रत्याभूति सीमित कम्पनी के सीमा नियम में प्रत्याभूति से सम्बन्धित वाक्य के अन्तर्गत इस प्रकार के शब्द होते हैं —"कम्पनी की परिसमाप्ति के समय कम्पनी का प्रत्येक सदस्य अपनी सदस्यता में ही कम्पनी के लिये धन देने के लिए बाध्य है। कम्पनी की परिसमाप्ति के एक वर्ष बाद अपनी सदस्यता के भंग होने से पूर्व हो कम्पनी के दायित्व या ऋणों के भुगतान के लिए भी वह धन के लिए बाध्य है। इसके साथ ही विलायन का खर्च, उसका मूल्य तथा अन्य प्रभारों के लिए

तथा अंशदान करने वालों के परस्पर अधिकारों का प्रबन्ध करने के लिए भी प्रत्येक सदस्य धन देने के लिए बाध्य है और वह धन अधिक से अधिक १०० रुपये होता है।"

धारा १७ के अनुसार प्रत्येक प्रयाभूति सीमित कम्पनी को अपने सीमा नियमों के साथ ही अन्तर्नियमों (Articles) को भी रजिष्टर्ड कराना चाहिए। अन्तर्नियमों में अंश-पूँजी की राशि तथा कम्पनी के सिद्धान्तों के सहित सदस्यों की संख्या लिखी रहनी चाहिए।

धारा २६ के अनुसार लाभार्जन न करने वाली कम्पनी के सीमानियमों तथा अन्तर्नियमों के रजिस्टर्ड कराने के लिए शुल्क नहीं लिया जाता, परन्तु उस कम्पनी के सीमानियमों तथा अंतर्नियमों के साथ एक इस प्रकार का विवरण और प्रस्तुत करना पड़ता है कि यह कम्पनी अपने लाभ को अपने ही उद्देश्यों की पूर्ति में लगावेगी तथा इसे वह अपने सदस्यों में लाभांश, बोनस आदि के रूप में वितरित नहीं करेगी। इसके साथ ही एक ऐसा भी लेख भेजना पड़ता है कि उपर्युक्त आयोजन के निमित्त ही सरकार से अनुज्ञा पत्र (Licence) प्राप्त किया है।

यदि किसी अंश-पूँजी वाला प्रत्याभूति सीमित कम्पनी का विलीयन (Liquidation) हो जाता है, तो उसका प्रत्येक सदस्य, कम्पनी की परिसमाप्ति पर जितना धन देने की प्रतिज्ञा करता है उसके अतिरिक्त अपने अप्रदत्त (Unpaid) अंशों के हिसाब से भी धन देने का अधिकारी होता है।

कम्पनी के अस्तित्व का अन्त

(Termination of a company's existance)

एक संयुक्त स्कंध कम्पनी वैधानिक होने के कारण स्वाभाविक रूप से समाप्त नहीं होती। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह निरन्तर चलती ही रहती है। वास्तव में उसका निर्माण विधान के ही आधार पर होता है और इसीलिए विधान द्वारा उसका अंत भी होता है। साधारणतः ऐसी कम्पनियों का अंत तीन प्रकार से होता है —

(१) परिसमाप्ति होने पर (By winding up)

(२) रजिष्टार द्वारा कम्पनी का नाम रजिष्टर से काट देने पर, तथा

(३) न्यायालय के आदेशानुसार अनिवार्य रूप से समाप्त कर देने पर। अब क्रम से इन तीनों प्रकार की परिसमाप्ति के विषय में विचार करेंगे।

(१) परिसमाप्ति द्वारा (By winding up) —किसी कम्पनी के अस्तित्व का अंत प्रायः उसकी परिसमाप्ति (winding up) पर हो जाता है। यह बड़ी प्रचलित पद्धति है। बहुधा कम्पनियाँ अपना अन्त या तो पुनर्संङ्गठन के लिये या अपने व्यापार की इतिश्री* करने के लिए किया करती हैं। परन्तु कम्पनियाँ

का अन्त दिवाले से नहीं होता। किसी भी कम्पनी का अन्त एक व्यक्ति की भाँति नहीं होता। ये तो अन्त होने पर भी अपने ऋणदाताओं (Creditors) को पुन सगठित कर सकती हैं और अपना कार्य वैसे ही चालू कर सकती हैं। इसलिए इनकी समाप्ति का होना एकदम सभव नहीं होता।

कम्पनी की परिसमाप्ति सम्बन्धी नियम धारा १५५-२४५ के अन्तर्गत आते हैं। वहाँ कितने ही प्रकार की परिसमाप्ति का उल्लेख है। कोई कम्पनी न्यायालय द्वारा या अपनी इच्छा से या न्यायालय के निरक्षण से परिसमाप्त हो जाती है। यदि कम्पनी के अधिकाश सचालक कम्पनी के दिवालिया होने की घोषणा रजिस्ट्रार के सामने प्रस्तुत करते हैं (साथ ही उस घोषणा के साथ अकेंक्षकों का प्रमाण-पत्र भी भेज देते हैं) तो यह सदस्यों द्वारा स्वेच्छा से की हुई परिसमाप्ति कहलाती है। यदि इस प्रकार की घोषणा रजिष्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत नहीं की जाती तो यह ऋणदाताओं की स्वेच्छा से की हुई परिसमाप्ति कहलाती है। परन्तु इस प्रकार की परिसमाप्ति में ऋणदाताओं को पर्याप्त वैधानिक सुरक्षा दी जाती है।

(अ) कम्पनी की सबसे बड़ी परिसमाप्ति न्यायालय द्वारा होती है। बहुधा यह समाप्ति अनिवार्य परिसमाप्ति (Compulsory winding up) कहलाती है। यद्यपि यह अनिवार्य परिसमाप्ति कहलाती है, परन्तु इसके लिए कम्पनी अपने प्रस्ताव द्वारा न्यायालय में आवेदन-पत्र भेजती है कि वह कम्पनी को परिसमाप्ति की आज्ञा प्रदान करे। विशेषत इस प्रकार का आवेदन-पत्र ऋणदाताओं (Creditors) द्वारा उस समय भेजा जाता है जब वे यह जान लेते हैं कि कम्पनी अपना ऋण चुकाने में पूर्णत असमर्थ है। अनिवार्य परिसमाप्ति के लिये बहुधा दिवालिया होना आवश्यक होता है, परन्तु इसके अतिरिक्त और भी कई आधार होते हैं जिससे अनिवार्य परिसमाप्ति हो सकती है। जैसे यदि न्यायालय यह समझता है कि इस कम्पनी की परिसमाप्ति की सभी बातें न्यायसगत तथा निष्पक्ष (Just and equitable) हैं तो उसके लिए आदेश दे सकता है।

परन्तु न्यायालय बहुधा किसी कम्पनी को परिसमाप्ति का आदेश न देकर विलीयन (Liquidation) का आदेश देता है क्योंकि ऐसा करने से भी कम्पनी के हितों की पूर्ति पर्याप्त मात्रा में होजाती है।

(ब) रजिष्ट्रार द्वारा नाम काटना (Name struck off by Registrar) जिस समय कोई कम्पनी अपने अभीप्सित कार्यों का करना छोड़ देती है, तो उसका अस्तित्व रखना आवश्यक प्रतीत नहीं होता। इसलिए रजिष्ट्रार प्राय उसका नाम काट देते हैं। धारा २४७ के अनुसार पहले रजिष्ट्रार कम्पनी से आवश्यक जानकारी प्राप्त करके यह निश्चित करते हैं कि वास्तव में कम्पनी अपने इष्ट कार्यों को नहीं करती और जब वे यह पूर्णरूप से जान जाते हैं कि कम्पनी पूर्णतया दोषी है तो वे

सरकारी पत्रिका (Official Gazette) में इस आशय को प्रकाशित कर देते हैं कि इस तिथि से तीन मास पश्चात् उस कम्पनी का नाम रजिस्टर या पजी से निकाल दिया जायेगा और कम्पनी का विलीयन हो जायगा।

(स) न्यायालय द्वारा विलीयन (Dissolution by Court) — धारा १५३ के अनुसार जब कम्पनी अपने पुनर्संङ्गठन या एकीकरण (Reconstruction or amalgamation) की योजना—जिसमें सम्पत्ति एव व्यवसाय का हस्तान्तरण दूसरी कम्पनी को करने का प्रबन्ध रहता है—द्वारा कोइ अनुबन्ध करती है, तब न्यायालय उस योजना को मान्यता देत हुए धारा १५३ A के अनुसार कम्पनी का परिसमाप्ति क बिना उसके विलीयन (Dissolution) का आदेश दे सकता है। इस धारा के अनुसार, कम्पनी की परिसमाप्ति द्वारा उसका निस्तारण (Liquidation) नहीं होता, जिससे न तो कम्पनी का एकीकरण होता है और न पुनर्संङ्गठन ही होता है, अत वे सभी बाते सम्भव कर दी गई हैं। इस प्रकार कम्पनी की परिसमाप्ति के बिना ही उसका पुनर्संङ्गठन सम्भव हो जाता है।

Test Questions.

1 How are directors of joint stock companies selected and appointed in India? (Agra B Com 1946)

2 While selecting the directors of a large cotton mill company what factors would you weigh in order to achieve the best results? (Bombay B Com 1937)

3 What are the duties and powers of a company director under law? Explain clearly (Agra M Com 1947)

4 Discuss the law relating to the removal of and the vacation of office by a director (Agra B Com 1948)

5 What are influences which help to increase the concentration of power in the hands of the directors of a joint stock company? (Bombay B Com 1935)

6 What is the meaning of a managing agent? What are his functions in the running of a joint stock company?

7 Critically examine the part played by the managing agency system in the development of Indian industry

8 Examine the influence of the managing agency system on the structure to industry in India (Bombay B Com 1942)

9 Discuss the merits and defects of the managing agency system of organisation and control of a joint stock company (Agra B Com 1949)

10 Discuss the part played by managing agents in financing the industries in this country Do you consider it essential under modern conditions? (Agra B Com 1943)

11 What influences have operated in giving managing agents enormous powers of control over the industrial concerns managed by them ? (Bombay B Com 1936)

12 What are the advantages and disadvantages of a system of management when a managing agency firm manages a number of different companies (Bombay B Com 1941)

13 How far has the Indian company law done away with the drawbacks of the managing agency system in this country ? (Bombay B Com 1939)

14 *Assess the Indian position of managing agents in India What do you think of their future ?* (*Bombay B Com* 1944)

15 The managing agency system has outlived its utility in India Do you share this view ? (Cal M Com 1945)

16 In what ways may the shareholders of a limited company exercise control over it affairs and to what extent is their control real in this country ? (*Agra B Com* 1945)

17 In a joint stock company what control is exercised and what responsibilities are borne by (a) shareholders (b) directors and (c) managing agents ? (Bombay B Com 1934)

18 How far in India generally the control of directors over the management is effective and the responsibility of the director to the shareholders is real with special reference to the system of managing agents ? (Bombay B Com 1937)

19 How far are risk and control associated in the working of the joint stock concerns in India ? (Bombay B Com 1941)

20 What are the rights of the shareholders of a joint stock company ? How far do these rights enable the shareholders to secure control over the affairs of the company ? (Bombay B Com 1941)

21 What are the advantages which the proprietor of a private business may secure by converting it into a private limited company ? (Agra B Com 1946)

22 Discuss the relative merits of a preartnership and a private company as forms of business organisation (Agra B Com 1943)

23 *Explain the particular features and privileges of a private limited company as compared with a public limited company* (Bombay B Com 1947)

24 Describe briefly the mechanism by which resources employed in industry are provided by persons or agencies not in actual control of policy (Bombay B Com 1935)

25 Set out the main differences between a partnership firm a private limited company and a public limited company

पाँचवाँ अध्याय

व्यापार-गृहों का आन्तरिक संगठन

(Internal Organization of Business Houses)

फुटकर व्यापार (Retail Trade)

'रिटेल' (Retail) शब्द फ्रांसीसी भाषा से लिया गया है। वहाँ 'रि' (Re) उपसर्ग तथा 'टेलर' (Tailler) क्रिया के संयोग से यह शब्द बना है जिसका अर्थ 'काटना' या 'विभक्त करना' होता है। वास्तव में यदि देखा जाय, तो 'रिटेल' या फुटकर व्यापार वह कहलाता है जो वस्तुओं के अधिक समूह को छोटे-छोटे भागों में विभक्त करे। फुटकर व्यापार बहुधा वस्तुओं को छोटी मात्रा में उपभोक्ताओं (Consumers) के लिए केवल पूर्ति करने का साधन ही नहीं होता, अपितु यह बाजार में क्रय-विक्रय करने की अन्तिम कड़ी कहलाता है। फुटकर व्यापारी (Retailer) प्राय अन्तिम उपभोक्ता तथा थोक विक्रेता (Wholesaler) के बीच में मध्यस्थ (Intermediary) का कार्य करता है। वह थोक विक्रेता से वस्तुएं खरीदकर अल्पमात्रा में उपभोक्ताओं को बेचता है। इसी कारण थोक विक्रेता की अपेक्षा उसे कम धन की आवश्यकता होती है। बहुधा फुटकर व्यापार नकद में ही होता है, परन्तु नित्य सामान लेने वाले तथा मान्य उपभोक्ताओं को उधार भी दे दिया जाता है। फुटकर-विक्रेता बहुधा अपनी दुकान में अनेक प्रकार की वस्तुएं रखते हैं तथा उनके व्यापार में अधिक विशेषता नहीं होती। यदि कोई फुटकर व्यापारी अपने व्यापार का क्षेत्र बढ़ाना चाहता है अथवा अधिक से अधिक ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है तो उसे अपनी सफलता के लिए दुकान की सजावट, चतुर बेचने वाला, उपयुक्त विज्ञापन तथा बाजार में अपनी केन्द्रीय-स्थिति (Central position) की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है। यदि वह जनता में अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है तो उसके व्यापार को तथा उसे अत्यधिक लाभ होता है। एक फुटकर-व्यापारी के प्राय. निम्नलिखित मुख्य कार्य होते हैं —

(क) वह उपभोक्ताओं की विशेष रूप से तथा सर्वसाधारण जनता की साधारण रूप से सहायता करता है। वह ठीक समय पर तथा आवश्यक मात्रा में वस्तुओं की पूर्ति करके अधिकांश अपव्यय को रोकता है। वह अपने ग्राहकों को प्रत्येक सम्भव रीति द्वारा सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करता है तथा अपने द्वार की शोभा एवं दुकान

की सजावट तथा वैज्ञानिक विज्ञापन द्वारा जनता को अनेक वस्तुओं का ज्ञान कराता है। वह विभिन्न व्यावसायिक स्थानों की बनी हुई विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ अपनी दुकान में रखता है, जिससे ग्राहकों को वस्तुओं के चुनने तथा पसन्द करने का पर्याप्त अवसर प्राप्त हो जाता है।

(ख) वह ग्राहकों की रुचि एवं अरुचि का भली प्रकार अध्ययन करता है और थोक विक्रेता के द्वारा अपने उस अध्ययन के परिणाम को वस्तु निर्माताओं तक पहुँचा देता है।

• प्रायः फुटकर-व्यापार की दुकान एक साधारण स्टोर की भाँति होती है अथवा वह किसी एक प्रकार की वस्तु में विशेषता प्राप्त कर लेती है। प्रथम श्रेणी की दुकानें गाँवों या सड़क के किनारे अथवा किसी बड़े कस्बे में जहाँ कि मजदूर लोग अधिक रहते हैं, विशेष रूप से पाई जाती हैं। पसारी की दुकानें (Grocery), लोहे के सामान की दुकानें (Hardware), कपड़े या हीरा-जवाहरात की दुकानें तथा पुस्तक-विक्रेताओं की दुकानें दूसरी श्रेणी में आती हैं। विशेषीकरण (Specialisation) प्रायः बाजार के विस्तार तथा प्रतिस्पर्द्धा (Competition) की मात्रा पर निर्भर रहता है। फुटकर व्यापार वाली दुकानें बहुधा वस्तुओं के क्रय विक्रय द्वारा अपने दुकान के स्वामी को लाभ प्राप्त कराने का ही प्रयत्न करती हैं। अतः ऐसा करने के लिए उन्हें एक ऐसे स्थान की आवश्यकता होती है जहाँ ग्राहकों के देखने एवं पसन्द करने तथा उन्हें बेचने के लिए वस्तुएं रखी जा सकें और कुछ सामान इकट्ठा रखने के लिए भी स्थान होना चाहिए। इसके अतिरिक्त वस्तुओं के क्रय विक्रय का ठीक ठीक हिसाब भी रखना चाहिए जिससे दुकान का स्वामी सुगमता से व्यापार के परिणाम से परिचित हो जाय। इस प्रकार फुटकर व्यापार के लिए एक दुकान, एक गोदाम तथा एक कार्यालय होना चाहिए। जितना ही छोटा फुटकर व्यापार होता है उतनी ही अन्तिम दो वस्तुओं की कम आवश्यकता होती है, फिर भी अधिकांश रूप में इसके लिए एक दुकान की आवश्यकता तो निश्चित रूप से होती है और वही दुकान उक्त तीनों बातों के लिए पर्याप्त होती है अर्थात् उसी में गोदाम तथा कार्यालय दोनों का समावेश हो जाता है।

किसी व्यक्ति को फुटकर व्यापार करने से पूर्व उसकी कुछ आवश्यक बातों को सावधानी के साथ विचारना चाहिए। सर्वप्रथम, उसे दुकान के स्थान के बारे में निश्चय करना चाहिए। बहुधा फुटकर व्यापार के लिए कस्बे का मध्य भाग या नगर अधिक उपयुक्त होता है। यदि किसी कस्बे में उसे व्यापार करना है तो वहाँ यह देखना चाहिए कि वहाँ के निवासी किस प्रकार की वस्तुओं को अधिक चाहते हैं जिससे उसी प्रकार की वस्तुओं में वह विशेषता दिखाकर सफल हो सकता है। स्थान निर्वाचन करने के उपरान्त दुकान की सजावट की ओर भी पर्याप्त ध्यान देना चाहिए।

दुकान के सामने ऊपर की ओर चिह्न-फलक (Signboard) लगाना चाहिए तथा बाहर की ओर अत्यन्त आकर्षक ढंग से सजावट करनी चाहिए। रात्रि के समय अच्छा प्रकाश करना भी दुकान की शोभा को बढ़ाता है।

दुकान में अल्मारियों की आकर्षक ढग से सुशोभित करना भी सजावट का प्रधान अङ्ग है। आधुनिक प्रतिस्पर्द्धा के युग मे तो यह सजावट करना अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिए कलात्मक रुचि एव सौंदर्य की उपयुक्त प्रशसा करने की मनोवृत्ति होना आवश्यक होता है। अल्मारियों में सजी हुई वस्तुओं पर कीमत पत्र लगा रहना चाहिए। यह कीमत पत्र लगाना भारतवर्ष में दर्शकों को आकर्षित कर सकता है, वैसे ६०% लोगों के लिए यह अत्यन्त विचारणीय बात होती है। अन्तरङ्ग शोभा के लिए भी बहिरङ्ग की ही भाँति ध्यान देना चाहिए। अल्मारियों की शोभा का उस समय तक कुछ भी महत्त्व नहीं होता, जब तक दुकान के अन्दर कोई सजावट नहीं होती। इसके लिए अन्दर पर्याप्त स्थान होना चाहिए। दुकान के अन्दर ग्राहकों की सुगमता तथा वस्तु लेते समय उनके आराम की व्यवस्था का ध्यान रखना चाहिए।

कार्यालय की लम्बाई चौड़ाई सदैव व्यापार के विस्तार पर निर्भर रहती है। जो दुकान अपने ग्राहकों को उधार सौदा भी देती है उसे नकद रोकड़ मे बेचने वाली दुकान की अपेक्षा अधिक मुनीम आदि की व्यवस्था करनी पड़ती है। चाहे व्यापार नकद रोकड में हो और चाहे उधार किया जाय, परन्तु दोनों ही परिस्थितियों में व्यापार का ठीक-ठीक हिसाब रखना आवश्यक होता है। क्योंकि ऐसा करने से व्यापार पर समुचित नियन्त्रण रहता है और किसी प्रकार की गड़बड़ी की आशंका नहीं रहती। अधिकांश रूप में इस नियन्त्रण के लिए दो क्रय पुस्तकें काम में लाई जाती हैं। दिन के अन्त में जो रोकड़ गल्ले में होती है, वह दोनों पुस्तकों के योग अथवा रोकड़ बाकी (यदि कोई है) के बराबर होनी चाहिए। किसी सुपरिचित ग्राहक को छोड़कर दुकान के सह-कार्यकर्ता को अन्य किसी भी ग्राहक को उधार देते समय कार्यालय से सलाह लेनी चाहिए। उधार दिए हुए माल की पुस्तक से ग्राहकों के लेखे मे उनके नाम लिखा जाना चाहिये। जब वस्तुओं को दुकान के लिए खरीदा जाय तो उनके प्रत्येक बीजक (Invoice) की अच्छी तरह जाँच करनी चाहिए, इसके उपरान्त उन्हें दुकान की क्रय पुस्तक (Purchase Book) में लिखना चाहिए। इसके साथ ही वस्तुओं के सभी भुगतान समुचित रूप से करने चाहिए।

गोदाम या भडार की व्यवस्था के लिए भी विशेष ध्यान एव सावधानी की आवश्यकता होती है। वस्तुओं को वहाँ इस प्रकार सजाकर रखना चाहिए जिससे स्थान और समय की पर्याप्त बचत हो तथा चोरी होने से सुरक्षा हो सके। भण्डार में रखी हुई वस्तुओं के लिए एक पुस्तक में ठीक-ठीक हिसाब रखना चाहिए। जैसे ही कोई दुकान ले ली जाय और आवश्यक प्रारम्भिक सामग्री भी खरीद ली जाय, तो

दुकानदार को अपनी बिक्री बढ़ाने के साधनों की खोज करनी चाहिए। इस व्यापारी को अपने हित एवं ग्राहकों की भलाई की दृष्टि से "सस्ता खरीदना तथा महँगा बेचना" वाले सिद्धान्त को सावधानी के साथ छोड़ देना चाहिए। "अधिक बिक्री तथा कम लाभ" वाला सिद्धान्त अपनाना चाहिए, इससे उसे अधिक बिक्री करने के कारण कम व्यय पर ही अधिक लाभ हो सकता है तथा सदैव नवीन और ताजा माल उसकी दुकान में रह सकता है और उसे अपने व्यवसाय के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता नहीं हो सकती, वह थोड़ी पूँजी में ही अपना व्यवसाय करता हुआ अधिक लाभ प्राप्त कर सकता है। बहुधा कम तथा सस्ती कीमत में अत्यधिक आकर्षण होता है और ग्राहक लोग स्वाभाविक रूप से अपनी माँग की पूर्ति करने के लिए उसी स्थान पर घिरे रहते हैं। अतः उपर्युक्त सिद्धान्त फुटकर व्यापारी के लिए भी अत्यधिक लाभप्रद होता है एक फुटकर व्यापारी को ग्राहकों के आकर्षण के लिए निम्नलिखित समस्त या कुछ योजनाओं का उपयोग करना चाहिए —

(१) खिड़की तथा बाहरी स्थान की सजावट उसके व्यापार का विज्ञापन करने में अत्यन्त प्रभावशाली कार्य करती है। कौशलता के साथ सुसज्जित अल्मारी या बाहरी खिड़की की शोभा, सम्भावित ग्राहकों (Potential Customers) का ध्यान समाचार पत्र के विज्ञापन की अपेक्षा अधिक अपनी ओर आकर्षित कर लेती है तथा उन भविष्य में बनने वाले ग्राहकों को अन्य दुकानों की अपेक्षा अधिक सन्तुष्ट कर देती है। दुकान के खम्भों पर भी आकर्षक ढंग से अल्मारियाँ सुसज्जित रहनी चाहिए तथा दुकान की आन्तरिक सजावट भी चित्ताकर्षक होनी चाहिए। एक उन्नतशील फुटकर व्यापारी को इन कार्यों में पर्याप्त धन व्यय करना चाहिए। दुकान की आन्तरिक सजावट सदैव खिड़की की शोभा की पंक्ति में ही होनी चाहिए। दुकान में सभी वस्तुएं ऐसी सजी हुई रखी रहनी चाहियें जिससे सभी ग्राहकों को वे सुगमता से दिखाई दे सकें तथा कम स्थान को घेरता हुई देखने में अत्यन्त मनोमोहक एवं चित्ताकर्षक प्रतीत हों।

(२) उपयुक्त विज्ञापन करके ग्राहकों की माँग बढ़ाना चाहिए। इस साधन से सम्भाव्य ग्राहक प्रभावित होकर उस दुकान को देखने के लिए आ सकता है और वहाँ का सजावट देखकर ग्राहक बन सकता है। ऐसी दुकान में कुशल विक्रेता (Salesman) होना अधिक लाभप्रद होता है। उसे ग्राहकों से न तो घृणा के सहित बातें करनी चाहिये और न अधिक खुशामद का ढंग ही अपनाना चाहिए, अपितु उसे ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वह ग्राहकों के साथ नम्रता, मृदुलता तथा मितव्ययिता का व्यवहार करता हुआ उनकी ओर सदैव दत्तचित्त रहे।

(३) किसी वस्तु का मौसम समाप्त हो जाने पर उसे खुले रूप में बिक्री करनी चाहिए। इससे अधिक से अधिक संख्या में ग्राहक आकर्षित होते हैं तथा

इससे दुकानदार को किसी एक वस्तु को प्रचलित मूल्य (Regular price) पर बेचने की अपेक्षा दो वस्तुओं को कम मूल्य पर बेचने का अवसर प्राप्त हो जाता है। इस प्रचलित (Obsolete) तथा दुकान में खराब हुआ माल भी कम कीमत पर बिक जाता है।

मूल्य निर्धारण (Pricing) :—यदि अन्य बातें ठीक रहें तो अधिक बिक्री से सदैव अधिक लाभ होता है। मूल्य तथा बिक्री में सदैव पारस्परिक विरोध होता है। कम कीमत सदा सम्भाव्य ग्राहकों को वस्तु खरीदने के लिये आकर्षित किया करती है। इसी कारण फुटकर व्यापार में मूल्य का बिक्री पर बड़ा प्रभाव रहता है। फुटकर व्यापार में मूल्य-निधारण करते समय प्राय: निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए :—

(१) मुख्य एव प्रधान बात यह है कि वस्तुओं का क्रय-मूल्य प्राप्त होना चाहिए। जब तक किसी दुकानदार को वस्तुओं का क्रय मूल्य (Cost price) भी प्राप्त नहीं होता, तब तक उसे वस्तु बेचने में सदैव दु ख रहता है। यदि कीमतों के गिर जाने से लाभ कम प्राप्त होता है तो उसकी पूर्ति के लिए उसे अपने व्यय कम कर देने चाहिए।

(२) प्रतिस्पर्द्धा के कारण भी वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। साधारणतया प्रतिस्पर्द्धा करने वाले दुकानदारों के समान ही सभी वस्तुओं का मूल्य अन्य दुकानदारों को भी निश्चित करना चाहिए।

(३) फुटकर विक्रेताओं द्वारा बेची हुई वस्तुयें बहुधा भिन्न-भिन्न प्रकार की एव भिन्न भिन्न मूल्यों वाली होती हैं। जो दुकान नगर के मध्य में स्थित होती है तथा अच्छी वस्तुयें रखने के लिए प्रसिद्ध हो जाती है, वह अन्य साधारण दुकानों की अपेक्षा प्राय. अधिक मूल्य लिया करती है। कुछ विशेष प्रकार के मनुष्यों की ऐसी मनोवृत्ति होती है कि वे वस्तुओं के गुण एवं मूल्य में अत्यधिक सम्बन्ध देखते हैं। अत. यदि वे वस्तु खरीदने आते हैं तो बाजार में विशेष जाँच पड़ताल नहीं करते, अपितु जो वस्तु अधिक मूल्य की होती है उसी को अच्छा समझ कर खरीद लेते हैं।

(४) किसी वस्तु का मूल्य-निर्धारण, सदैव ग्राहकों द्वारा स्वाभाविक रूप से चुकाये जाने वाले मूल्य को देखकर ही करना चाहिए। संभवत: यदि परिस्थितियाँ स्वीकृति दें तो वस्तुओं के प्रचलित मूल्य में परिवर्तन करने की अपेक्षा उनके गुणों में परिवर्तन करना अधिक अच्छा होता है।

(५) मूल्य-निर्धारण के प्रश्न का सम्बन्ध चालू खर्चों से भी अत्यन्त निकट का सा होता है। जब तक ये निश्चित रूप से नहीं लगा लिये जाते, तब तक वस्तुओं की कीमत ठीक प्रकार से निश्चित नहीं होती। अच्छे और कुशल प्रबन्ध की बहुधा यही पहिचान होती है कि उसके चालू खर्चे अपेक्षाकृत कम होने चाहिए।

बहु परिमाण मे फुटकर व्यापार (Large Scale Retailing)

यह अत्यधिक उत्पादन तथा अत्यधिक वितरण का युग है। आज सभी व्यवसायी अधिक परिमाण में उत्पादन करने की ओर दत्तचित्त दिखाई देते हैं तथा प्रतिस्पर्द्धा के कारण अधिक से अधिक वस्तुओं की खपत करने की ओर भी उनका ध्यान रहता है। वर्तमान शताब्दि में उत्पादन एवं वितरण करने वाली संस्थाओं की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है, इससे वे प्रतिस्पर्द्धा की ओर भी पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ी हुई दिखाई देती हैं। इस मनोवृत्ति के कारण इन फर्मों या संस्थाओं में कुशलता के विलीन हो जाने से कुछ फर्में इस सघर्ष में समाप्त भी हो गई हैं और जो कुछ शेष बची हैं वे मूल्यों के गिर जाने के कारण ग्राहकों के आदेश पर कम लाभ उठाकर अभी तक स्थिति हैं। अधिक सफल फर्मों द्वारा कम वस्तुओं का खरीदना तथा अधिक से अधिक फर्मों का सम्मिश्रण (Amalgamation) हो जाना इस बात का प्रमाण है कि अब लोगों की मनोवृति प्रतिस्पर्द्धा से हटती जा रही है तथा मूल्य की सीमा पर ही स्थित रहने या आन्तरिक मितव्ययता के द्वारा अब वे अपनी लगाई हुई पूँजी तक ही अपने व्यवसाय को सीमित रखना चाहती हैं। यह बात केवल उत्पादन में ही नहीं दिखाई देती, अपितु वितरण में भी यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।

बहु परिमाण में फुटकर व्यापार करने वाले यह प्राय अपने व्यवसाय का केन्द्रीकरण करना आर्थिक दृष्टि से अधिक उपयुक्त समझते हैं। अधिक मात्रा में वस्तुयें खरीदने पर पर्याप्त बचत हो जाती है क्योंकि थोक-व्यापारी या वस्तु उत्पादक सदैव अधिक मात्रा में वस्तुएं भेजते समय ऐसे फुटकर विक्रेताओं को कुछ अधिक लाभ देते हैं। जो दुकानें कुछ अधिक पूँजी लगा सकती हैं वे अपने ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए विभिन्न प्रकार की वस्तुयें खरीद सकती हैं। इस प्रकार यदि बहुपरिमाण वाले फुटकर विक्रेता सम्मिलित रूप से व्यवसाय करने की चेष्टा करें तो छोटे फुटकर विक्रेता को भी हानि नहीं हो सकती, अपितु किसी-किसी क्षेत्र में तो, वह विशेषता प्राप्त करता हुआ स्वय व्यापार का पूर्ण अधिकारी हो जाता है। उसको बहुधा उस व्यापार में अत्यधिक ख्याति हो जाती है और उसे विभिन्न वस्तुओं को सग्रह करने एवं विभिन्न निर्माताओं से माल मँगाने की आवश्यकता नहीं रहती। यहाँ तक कि उस एकाकी फुटकर विक्रेता का व्यक्तित्व उसके सम्पूर्ण व्यापार में स्पष्ट प्रतीत होने लगता है जबकि बहु-परिमाण में व्यवसाय करने वाली दुकानों को कोई नहीं जान पाता। यही कारण है जिनके द्वारा अधिक परिमाण में व्यापार करने वालों की प्रतिद्वन्द्विता में भी वह छोटा फुटकर विक्रेता स्थिर रहा आता है। सत्य तो यह है कि जब तक उस दुकानदार का व्यक्तित्व जनता पर प्रभाव डाल रहता है, तब तक कोई भी उसे व्यापारिक क्षेत्र से हटा नहीं सकता। बहुधा बहु-परिमाण में फुटकर

व्यापार करने वाली दुकान दो रूप में पायी जाती हैं जिनमें से पहली वैभागिक भण्डार (Departmental Store) तथा दूसरी बहु-विक्रयशालायें (Multiple shops) कहलाती हैं।

वैभागिक भण्डार (Departmental Stores)

वैभागिक भण्डार की वास्तव में एक ऐसी पद्धति है जिसमें विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का व्यापार करने वाली कितनी ही दुकानें एक ही स्थान पर तथा एक ही नियन्त्रण में रहती हैं। इस पद्धति का प्रमुख उद्देश्य यह होता है कि सुई से लेकर मोटर कार तक सब प्रकार की वस्तुयें अत्यधिक मात्रा में एक ही स्थान पर ग्राहकों को दी जाय। इस वैभागिक भण्डार की पद्धति का प्रारम्भ विलास प्रिय एवं धनी ग्राहकों के लिए हुआ था जो केवल वस्तुओं के गुण एवं उनकी पूर्ति का ही ध्यान अधिक रखते थे और जिन्हें छोटे छोटे फुटकर विक्रेता सन्तुष्ट नहीं कर सकते थे। इसलिए धनी लोगों की माँग के कारण इन भण्डारों की अत्यधिक वृद्धि हुई और *स्थल सेना भण्डार (Army store)*, *जलसेना भण्डार (Navy Store)* आदि कितने ही प्रसिद्ध भण्डार ग्राहकों की इच्छा-पूर्ति एवं उनकी सेवा के विचार से खोले गये जिन्होंने अत्यधिक सफलता के साथ लाभ प्राप्त करते हुए ग्राहकों को अनेक सुविधायें प्रदान कीं।

वैभागिक भण्डार में, जैसा कि अपने नाम से ही विदित है, कितने ही विभाग होते हैं जो पृथक् पृथक् किसी विशेष वस्तु का व्यवसाय करते हैं। जैसे उसमें बजाजी विभाग (Drapery department), श्रृंगार-वस्तु विभाग (Toilet department), चर्म वस्तु विभाग (Leather goods department), पुस्तक विभाग, घड़ी विभाग, साइकिल विभाग आदि कितने ही विभाग हो सकते हैं। इस तरह यह कहा जा सकता है कि कोई भी व्यक्ति इन वैभागिक भण्डारों से अपनी आवश्यकतानुसार हर प्रकार की वस्तुएं खरीद सकता है।

व्यापार स्थान (Location) —वैभागिक भण्डार की सफलता सदैव अधिक से अधिक ग्राहकों के आकर्षण पर निर्भर रहती है, इसलिए इसे ऐसे स्थान पर होना चाहिए जहाँ धनिक एवं विलास प्रिय व्यक्ति अधिकता से रहते हों और वहां उसका केन्द्रीय स्थान होना चाहिए। उसके पास इतना स्थान रहना चाहिए जिससे समस्त दुकानदारों को चाहे वे कुछ खरीदें या नहीं, परन्तु भली प्रकार सुगमता दी जा सके। यहाँ तक कि ग्राहकों को सुविधायें देने के लिये ये भण्डार अपने यहाँ एक स्वतन्त्र सेवा विभाग भी रखते हैं जो ग्राहकों के लिये मनोरंजन आदि की व्यवस्था करता है। इन भण्डारों में विश्रामालय, वाचनालय, लेखन-गृह, जलपान-गृह, सूचनालय (Information Bureaus), डाकघर, टेलीफून-गृह तथा तार-गृह का प्रबन्ध भी सर्वसाधारण के लिये रहता है। यहाँ तक देखा जाता है कि कुछ भण्डारों में भाषण, प्रदर्शन

(Demonstration), गान बजाने का कार्यक्रम, चल चित्र प्रदर्शन तथा गीत नाट्य एवं साधारण नाटकों का प्रबन्ध भी स्वतन्त्र रूप से सभी के लिए किया जाता है। बड़े बड़े भण्डारों का प्रत्येक विभाग एक पृथक् दूकान के समान होता है, परन्तु वे सभी विभाग परस्पर मिले हुए रहते हैं और उनमें घूमने के लिये सभी ग्राहकों को स्वतन्त्रता रहती है। ऐसा करने से ग्राहक एक विभाग में से दूसरे विभाग में जाकर स्वयं ही उन विभागों की समस्त वस्तुओं से परिचित हो जाता है और उनका भली प्रकार चुनने एवं खरीदने के लिए अपनी इच्छा स्वतन्त्र रूप से प्रकट कर सकता है।

सगठन (Organization) —वैभागिक भण्डारों के लिए प्राय अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। अत ये सीमित कम्पनियों द्वारा ही स्थापित किए जाते हैं तथा सचालक सभा ही इनकी नीति का निर्धारण करती है, परन्तु वे स्वयं इस कार्य को न करके अन्य व्यक्तियों को इसे चलाने का अधिकार दे देते हैं। इन भण्डारों का मुख्य कार्यकर्त्ता ही इनका प्रबन्ध सचालक (Managing director) होता है तथा वह सचालक-सभा की ओर से इसकी देखभाल करता है। उससे सम्बन्धित कुछ सामान्य व्यवस्थापक होते हैं जो अपने भाग व्यवस्थापकों (Section managers) की सहायता से विभिन्न भागों (Sections) के कार्य की देखभाल किया करते हैं। प्रत्येक भाग की सफलता के लिए उसके भाग व्यवस्थापक उत्तरदायी होते हैं परन्तु वे विभाग-व्यवस्थापकों (Departmental managers) के कार्य में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं करते अपितु उन्हें स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करने के लिए पर्याप्त अवकाश प्रदान करते हैं। प्राय कार्यवाहिक भागों (Secretarial Sections) तथा लेखा भाग (Accounting Sections) के लिए प्रबन्ध सचालक उत्तरदायी होता है। प्रत्येक विभाग का हिसाब रखने के लिए पृथक् पृथक् रोकड़िये तथा लेखापाल (Accountant) रहते हैं जो ठीक प्रकार से हिसाब रखते हुये लेखा-भाग (Account Section) से सम्बन्धित रहते हैं। उत्पादन भाग (Production Section) में प्राय अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है, किसी में कम धन व्यय होता है। इसीलिये सभी विभागों में उन पर व्यय होने वाले धन का हिसाब रखा जाता है, साथ ही उन पर जितना व्यय होता है वह बिक्री के अनुपात में देखकर उनका अन्तिम चिट्ठा तैयार किया जाता है। इससे यह लाभ होता है कि कौनसा विभाग लाभकर है तथा कौनसा लाभकर नहीं है, यह सुगमता से देखा जा सकता है। वैसे तो समस्त विभागों के हिसाब-किताब की देखभाल लेखा भाग द्वारा होता है, परन्तु फिर भी वास्तविक लाभ की जानकारी के के लिए अलग अलग विभागों में भी हिसाब रखा जाता है।

वैभागिक भण्डारों के प्रत्येक विभाग का प्रबन्ध एक-एक व्यवस्थापक (Manager) के हाथ में होता है और वहां उस विभाग का मुख्य क्रेता (Chief Buyer) कहलाता है। वही अपने भाग-व्यवस्थापक (Section Manager) की सफलता

का उत्तरदायी होता है। प्रत्येक विभाग के भंडार के अंक प्राय सामान नहीं होते, वरन् वे व्यापार के आधार पर घटते-बढ़ते रहते हैं। सभी विभागों के भंडारों में वस्तुओं के मूल्य प्रायः उनके गुणों के हिसाब से निश्चित किए जाते हैं। जब मूल्य निश्चित हो जाते हैं तो व्यावहारिक रूप से सभी विभाग सभी प्रतिबन्धों से मुक्त रहते हैं, फिर उनके भण्डार में कितनी ही बिक्री की रोकड़ आये अथवा न आये इसकी चिन्ता नहीं होती। वैभागिक भण्डारों को विज्ञापन भी करना चाहिए। ऐसा करने से ही वे अपने स्थान से दूर रहने वाले ग्राहकों को आकर्षित कर सकते हैं। कभी कभी प्रत्येक विभाग या समस्त विभाग सामूहिक रूप से समाचार पत्रों में या कभी-कभी सीमित रूप में जनता से प्रस्ताव करते हुए अपना विज्ञापन कर सकते हैं; ऐसा करने से भी उनके व्यापार का यशस्विता एवं ख्याति पर्याप्त मात्रा में जनता तक पहुँच जाती है।

वैभागिक भंडार के लाभ (Advantages) —प्राय ये भंडार सभी वस्तुओं को अधिक मात्रा में खरीदते हैं। अतः ऐसा करने से एक तो इन्हें अच्छी वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं और दूसरे वे सस्ते मूल्य पर भी मिल जाती हैं। यहाँ तक कि ये विभिन्न वैभागिक वस्तुओं के खरीदने के लिए कुछ क्रय विशेषज्ञों को भी नियुक्त कर सकते हैं। खरीदने की इस मितव्ययता के साथ-साथ इन्हें व्यवस्था में भी मितव्ययता हो जाती है। बहुधा ऐसे भण्डार नगरों के केन्द्र भाग में स्थित रहते हैं, अतः ये अधिक से अधिक मात्रा में ग्राहकों को आकर्षित कर सकते हैं। ग्राहकों को समस्त वस्तुएँ एक ही स्थान पर मिलने के कारण जो सुविधा प्राप्त होती है वह वास्तव में उन्हें आकर्षित करने के लिए एवं सन्तोष प्रदान करने के लिए अधिक बलवती होती है। इसके लिए ये भण्डार प्राय विज्ञापन आदि में भी पर्याप्त धन व्यय करते हैं। इन भण्डारों में जब कोई ग्राहक एक विभाग में किसी विशेष वस्तु के खरीदने के लिए आता है तो उसके सामने अन्य विभागों की वस्तुओं का भी विज्ञापन एवं प्रदर्शन रहता है, इससे उस ग्राहक को उन वस्तुओं के लेने के लिए भी स्वयमेव आकर्षण उत्पन्न हो जाता है। इन भंडारों द्वारा जो सेवायें इनके व्यापार के अतिरिक्त भी प्रस्तुत की जाती हैं, उनसे जनता का एक विशेष वर्ग आकर्षित हो जाता है और उसके हृदय में भी वहाँ से वस्तुएँ खरीदने की अभिलाषा जाग्रत हो जाती है।

वैभागिक भंडार से हानियाँ (Disadvantages) —विज्ञापन, अन्य सेवायें आदि में अत्यधिक व्यय करने के कारण इन भण्डारों में बहुधा व्यापार अत्यन्त ऊँचे मूल्य पर होता है। वैभागिक भण्डार प्रायः शहर के व्यापारिक केन्द्र में स्थित होते हैं, वहाँ पर शहर के सभी ग्राहकों का जाना सम्भव नहीं होता, क्योंकि वे बहुधा समय की बचत करते हुए अपनी आवश्यक वस्तुओं को निजी दुकान के निकट खरीदकर

विक्रेताओं से ही खरीद लेते हैं। इस तरह इन भण्डारों को सदैव लाभ नहीं होता। ये बड़े-बड़े वैभागिक भण्डार ग्राहकों की प्राय आवभगत उतनी मात्रा में नहीं करते, जितनी की फुटकर विक्रेता किया करता है। इसका भी बहुत से मनुष्यों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है और वे एक बार इन भडारों म जाकर, फिर वहाँ जाने का नाम नहीं लेते। अत. इससे भी इन्हें हानि उठानी पड़ती है।

वैभागिक भडार (Departmental Store) यूरुप तथा अमेरिका में अधिकता से पाए जाते हैं, परन्तु इस प्रकार के व्यवसाय की उन्नति भारत में विशेष नहीं मिलती। इन भण्डारों के लिए साधारणतया धनी एव विलासप्रिय व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, जो भारतवर्ष में अधिक नहीं मिलते। फिर जैसे शहर इस पद्धति को अपना सकते हैं वे भी भारतवर्ष मे बहुत कम हैं। बम्बई तथा कलकत्ता जैसे शहरों में ही ये भडार चल सकते हैं, परन्तु वहाँ पहले से ही कुछ भडार अपना व्यवसाय करते चले आ रहे हैं। अत नये भडार को वहाँ भी आपत्ति का सामना करना पड़ता है। इस देश की जनता बहुधा मध्यम वर्ग की है जो वस्तु के गुणों की अपेक्षा सस्ते मूल्य की ओर अधिक आकर्षित होती है। उनके लिए मूल्य ही सब कुछ होता है, जहाँ अधिक ऊँचे मूल्य पर वस्तुयें मिलती हैं। वे वहाँ नहीं जाते और वैभागिक भडारों में प्राय अधिक मूल्य पर ही वस्तुयें मिलती हैं। इसलिए वे वहाँ न जाकर अपने समीप के फुटकर-विक्रेताओं से ही वस्तुयें खरीद लेते हैं। वैभागिक भडारों को इसी कारण यहाँ सफलता नहीं मिलती।

बहु विक्रयशालायें (Multiple shops)

बहु-विक्रयशालाओं या शृङ्खला बद्ध भडारा (Chain Stores) की परिपाटी प्राय यूरुप तथा अमेरिका में अधिकता से पाई जाती है। भारतवर्ष में इस परिपाटी से अधिकाश लोग परिचित नहीं दिखाई देते। अमेरिका मे तो बहु-विक्रयशालाओं को शृङ्खलाबद्ध भडार ही कहते हैं। इस पद्धति की दुकानें बहुधा विभिन्न नगरों में एक ही कम्पनी, साझेदारी या एकाकी व्यापारी (Sole Trader) के स्वामित्व में चलाई जाती हैं। इस पद्धति के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बाटा शू कम्पनी तथा सिंगर सिइंग मशीन की दुकानें हैं। बाटा जूते की दुकानें प्राय भारत के सभी नगरों में पाई जाती हैं। बहु विक्रयशालाओं का मुख्य उद्देश्य विशेषीकरण (Specialisation) होता है वे किसी वस्तु द्वारा व्यापार में ऐसी विशेषता प्राप्त कर लेते हैं जिससे अधिकाश ग्राहक स्वाभाविक रूप से आकर्षित हो जाते हैं और उस वस्तु के लिए सीधे उसी दुकान पर भागे चले आते है। इस पद्धति में सफलता प्राप्त करने के लिए सब से प्रधान रहस्य वस्तुओं का चुनाव है, क्योंकि जनता की रुचि देखकर यदि सस्ती और अच्छी वस्तुये इन शालाओं द्वारा बेची जाती हैं तो ग्राहक स्वय दूर-दूर से आकर उन्हें खरीद ले जाते हैं।

बहु-विक्रयशालायें सदैव नगर के केन्द्र में स्थापित वैभागिक भंडारों की प्रतिद्वन्द्विता में ही खोली जाती हैं। इन बहु-विक्रयशालाओं द्वारा ग्राहक की आवश्यक वस्तुयें उनके घर पर भी पहुँचाई जाती हैं। इससे ग्राहकों के समय की बचत करते हुए उन्हें अत्यधिक सुगमता प्रदान की जाती है।

संगठन (Organization).—ये शालायें केन्द्रीय नियन्त्रण में रहती हैं अर्थात् इन समस्त दुकानों का नियन्त्रण एक केन्द्र द्वारा होता है। प्रत्येक दुकान में एक व्यवस्थापक नियुक्त किया जाता है और वही उस दुकान की सफलता का उत्तरदायी होता है। इन दुकानों के लिये वस्तुयें सदैव एक केन्द्रीय भंडार (Central Depot) से भेजी जाती हैं। बाग की भांति बहुत सी बहु-विक्रयशालायें अपनी बेचन वाली वस्तुओं की उत्पादक भी होती हैं। कुछ ऐसी होती हैं जो कुछ भी उत्पादन नहीं करतीं, वरन् बेचने के लिये समस्त वस्तुयें उनका केन्द्रीय कार्यालय (Central Office) खरीदता है और वहीं से आवश्यकतानुसार दुकानों पर उन्हें भेजता रहता है। कुछ स्व-निर्मित वस्तुओं को बेचने वाली निर्माणकर्त्री संस्थायें भी अपनी बहु-विक्रयशालाओं के लिये अन्य निर्माण-कर्ताओं (Manufacturers) से वस्तुयें खरीदा करती हैं। इन शालाओं के व्यवस्थापक केवल केन्द्रीय भण्डार से प्राप्त हुये माल को बेचने के ही अधिकारी होते हैं, उन्हें वस्तु खरीदने आदि की किसी प्रकार की भी स्वतन्त्रता नहीं होती।

प्रत्येक दुकान की बिक्री प्राय: बैंक में जमा करके प्रमुख-कार्यालय को भेज दी जाती है और दुकान के खर्चों के लिए वहाँ से पृथक् चैक द्वारा रुपया भेजा जाता है। कुछ दुकानें अपने आवश्यक खर्चों को निकालकर शेष धन प्रमुख कार्यालय को भेजा करती हैं। प्रत्येक दुकान का व्यवस्थापक बिक्री की रोकड़ तथा वस्तुओं के स्टॉक का एक प्रत्याय (Return) प्रमुख कार्यालय में भेजता रहता है तथा वहाँ पर सभी दुकानों का हिसाब रक्खा जाता है और व्यापार के व्यापक लेखे (General accounts) में उन सभी प्रत्यायों (Returns) को लिखा जाता है। बहुधा सभी वस्तुओं का विक्रय-मूल्य (Selling price) अंकित करके फिर उन्हें दुकानों पर भेजा जाता है, इससे स्टॉक के हिसाब रखने में सुभीता हो जाता है। दुकान के व्यवस्थापक को नित्य बिक्री तथा उपस्थित स्टॉक एवं उधार बिक्री (यदि कोई हो) के योग को मूल्यांकित वस्तुओं के स्टॉक से मिलान करना पड़ता है। इन दुकानों के निरीक्षण के लिये प्रमुख-कार्यालय समय-समय पर निरीक्षक भेजते रहते हैं जो विभिन्न दुकानों की शोभा तथा उनकी बिक्री आदि का परीक्षण करके प्रमुख कार्यालय को रिपोर्ट भेजते रहते हैं। भंडार गणक (Stock-takers) भी यदा-कदा अनायास ही भंडार या स्टॉक की गणना करने के लिये आते रहते हैं, इससे बेईमानी या कपट-व्यवहार होने की आशंका नहीं रहती।

व्यवस्था एवं नियन्त्रण की सुगमता के लिए यह आवश्यक होता है कि सभी बहु-विक्रयशालाओं की व्यवस्था-पद्धति एक समान हो। बिना समान पद्धति का उपयोग किए हुए निरीक्षण एवं नियन्त्रण वास्तव में सम्भव नहीं होता। यदि प्रत्येक दुकान अपनी पृथक् व्यवस्था-पद्धति अपनाती है तो प्रत्येक दुकान की अलग-अलग जाँच करना कठिन होजाता है, परन्तु समान-पद्धति होने के कारण सभी दुकानों का परिणाम एक ही समय में सुगमता से प्राप्त हो जाता है। इसके साथ ही यदि उस व्यवस्था में किसी दुकान को हानि उठानी पड़ती है तो दूसरी दुकान की परिस्थिति देखकर उसका सुधार सुगमता से हो सकता है।

बहु-विक्रयशाला-पद्धति का छोटे छोटे फुटकर-विक्रेताओं पर यद्यपि कुछ विपरीत प्रभाव पड़ता है, परन्तु फिर भी इससे वे पूर्णतया व्यापारिक क्षेत्र से निकल नहीं जाते। ऐसी दुकानें कुछ विशेष वस्तुओं की ऐसी माँग उत्पन्न कर देती हैं कि ग्राहक जहाँ कहीं भी होता है वहीं उन दुकानों से ही उन वस्तुओं को खरीदता है। इनके लिए वस्तुओं का क्रय केन्द्रीय संगठन द्वारा होता है, इससे एक ओर तो वस्तु खरीदने में पैसे की बचत होती है परन्तु दूसरी ओर केन्द्रीय भण्डार से ही वस्तुओं के भेजे जाने के कारण वस्तुओं के दुहरे आवागमन की आवश्यकता होती है अर्थात् पहले सभी वस्तुयें केन्द्रीय भण्डार में आती हैं और वहाँ से फिर सभी दुकानों पर भेजी जाती हैं। एकाकी दुकान तो प्रायः सीधे थोक-विक्रेता या निर्माणकर्त्ता के यहाँ से वस्तुएँ मँगाकर इस दुहरे खर्चे से अपने को बचा सकती है, परन्तु यहाँ यह सम्भव नहीं होता। इन विक्रय-शालाओं को अपने व्यापार में अच्छी बचत उसी समय हो सकती है जब ये अपनी वस्तुओं का स्वयं उत्पादन करके, उन्हें मध्यम-वर्ग के लाभ का विशेष ध्यान न रखते हुए उसी मूल्य पर बेचें जिस पर अन्य उत्पादन-कर्त्ता, जोकि फुटकर व्यापारी नहीं होते, बेचा करते हैं। परन्तु यह लाभ उसी समय सम्भव है जब उत्पादन भी अधिक से अधिक मात्रा में किया जाय तथा अन्य थोक-विक्रय करने वाले निर्माताओं की भाँति सस्ते मूल्य पर फुटकर विक्रेताओं को दिया जाय। जब कोई छोटा फुटकर विक्रेता (Small retailer) किसी बहु विक्रय करने वाली दुकान से प्रतिस्पर्द्धा कर बैठता है, तो वह अपनी कुशलता के कारण अधिक लाभ प्राप्त कर लेता है, परन्तु इस दुकान की स्थिति डाँवाडोल हो जाती है और वह उसी समय तक स्थित रहती है जब तक वह उसी फुटकर-विक्रेता के ढंग पर अपना कार्य चलाना स्वीकार करती है, अन्यथा उसे वहाँ से उठना पड़ता है।

लाभ (Advantages)—इस पद्धति द्वारा प्रायः सभी वस्तुयें अधिक मात्रा में ही खरीदी तथा निर्माण की जाती हैं, इससे मध्यस्थ को दिये जाने वाले लाभ में बचत होती है और उपभोक्ताओं को भी अत्यधिक सस्ते मूल्य पर वस्तुयें मिल जाती हैं। केन्द्रीय कार्यालय में सब प्रकार के विशेषज्ञों की नियुक्ति अधिक परिमाण

में हो सकती है, इससे उनकी सेवाओं का अत्यधिक लाभ उठाया जाता है। प्रत्येक दुकान की व्यवस्था एव सजावट आदि में एकरूपता होने के कारण ग्राहक उन दुकानों को सुगमता से पहचान लेता है तथा एक दुकान की ख्याति (Good will) का लाभ दूसरी दुकानें भी उठाया करती हैं। सभी दुकानों का विज्ञापन एकसा होने के कारण बचत के साथ हो जाता है। इन दुकानों के द्वारा सूचना भेजते ही अल्प काल में ही वस्तुओं की पूर्ति केन्द्रीय भण्डार से हो जाती है, इसीलिए इन्हे वस्तुओं का अधिक सग्रह रखन की आवश्यकता नहीं होती और न अधिक व्यापारिक स्थान ही रखना पड़ता है। इससे इन्हें मकान किराये आदि की भी बचत होजाती है। इसके साथ ही इनका वस्तुओं के मूल्य सभी दुकानों पर समान होते हैं, इससे भी जनता के मस्तिष्क में इनके प्रति विश्वास अधिक दृढ हो जाता है और इनकी ग्राहक-सख्या भी खूब बढ़ती है।

हानियाँ (Disadvantages) :—प्राय इन दुकानों पर कार्यकर्त्ता या व्यवस्थापक आदि सभी वेतन भोगी होते हैं। अत उनमें वैयक्तिक कुशलता तथा अनुपम योग्यता का अभाव रहता है। जब जनता की माँग गिर जाती है तो केन्द्रीय भडारों में अधिक माल रखने में अधिक हानि उठानी पड़ती है, क्योंकि जनता की माँग के साथ साथ बाजार भी गिर जाता है। दुकान-निरीक्षकों की नियुक्ति करके सभी दुकानों का अच्छी तरह निरीक्षण कराना पड़ता है, इससे भी अधिक व्यय हो जाता है। समस्त दुकानों की समान व्यवस्था होने के कारण स्थानीय ग्राहकों की व्यक्तिगत रुचि की पूर्ति नहीं हो पाती और एसे विभिन्न रुचि वाले ग्राहकों को आकर्षित करने में ये दुकानें असफल रहती हैं। प्राय इन दुकानों का व्यापार विस्तृत होता है और वह एक ही प्रकार से सभी दुकानों पर किया जाता है। अत इसके लिए ये सब कर्मचारी भी नियुक्त कर लेता है, उनमें महत्त्वकांक्षा एव वैयक्तिक सम्पर्क आदि का अभाव होता है, इसस भी इन्हे हानि हो उठानी पड़ती है।

विभागिक भंडारों तथा बहुविक्रयशालाओं की तुलना

(Departmental Stores Verses Multiple Shops)

सगठन की दृष्टि से विभागिक भण्डार बहुविक्रयशालाओं से निम्नलिखित बातों में भिन्न होते हैं —

(१) विभागिक भडार प्राय ग्राहकों की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, इसके लिए वे सभी आवश्यक उपायों का उपयोग भी करते हैं। परन्तु बहुविक्रयशालाओं का उद्देश्य विशिष्टीकरण (Specialisation) होता है और वे इसी विशिष्टता के कारण ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं।

(२) विभागिक भडारों में मकान तथा उसकी सजावट की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। ये प्राय स्थान के बारे में अधिक सावधान रहते हैं और नगर की

व्यस्त आबादी के केन्द्र में ही अपना व्यवसाय प्रारम्भ करते हैं। परन्तु केन्द्रीय स्थिति की ओर बहुविक्रयशालाओं का ध्यान मुख्य रूप से नहीं रहता। ये तो अपनी दुकान नगर के साधारण भाग में भी स्थापित कर सकते हैं, परन्तु इनके लिये यही पर्याप्त होता है कि ग्राहक वहाँ आने चाहिए।

(३) वैभागिक भंडारों में तो ग्राहकों को दुकान तक खिंचकर आना पड़ता है, परन्तु बहु-विक्रयशालाओं की दुकानें ग्राहकों के घर तक पहुँच जाती हैं अर्थात् भंडार तो व्यापारिक केन्द्र में ही स्थापित किये जाते हैं, परन्तु ये शालायें ग्राहकों की आबादी के मध्य में भी खोली जाती हैं।

(४) वैभागिक भंडार केवल उच्च श्रेणी के एवं धनी ग्राहकों की ही सेवा करते हैं जो वस्तुओं के गुण एवं सेवा की ओर ही विशेष ध्यान रखते हैं, परन्तु बहु-विक्रयशालायें सर्वसाधारण को अन्य दुकानों की अपेक्षा सस्ते मूल्य पर वस्तुयें देती हैं।

(५) वैभागिक भण्डारों की समस्त पूँजी एक ही व्यापार में और एक ही स्थान पर लगी रहती है तथा इनकी प्रगति एवं उन्नति सदैव एक निश्चित क्षेत्र पर ही निर्भर रहती है; परन्तु बहुविक्रयशालाओं में यह बात नहीं होती, उनमें यदि कोई दुकान लाभकर नहीं होती तो उसे बन्द करके दूसरे स्थान पर खोली जा सकती है तथा होने वाली हानि की पूर्ति अन्य दुकानों के लाभ से हो सकती है।

(६) वैभागिक भंडार बहुधा अपने ग्राहकों को उधार देने तथा उनके आदेश आने पर डाक द्वारा माल भेजने की भी सुविधा प्रदान करते हैं, परन्तु ये सेवायें बहु-विक्रयशालाओं द्वारा प्राप्त नहीं होतीं।

(७) वैभागिक भंडारों में विभिन्न प्रकार की अनेक वस्तुओं का संग्रह किया जाता है, अतः इनके लिये अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। परन्तु बहु-विक्रयशालाओं में वस्तुओं का कम संग्रह ही पर्याप्त होता है, यदि इन्हें अधिक वस्तुओं की आवश्यकता भी होती है तो अल्प-सूचना पर ही दूसरी दुकानों से वे वस्तुयें प्राप्त हो सकती हैं।

डाक के आदेश पर व्यापार (Mail Order Business)

'डाक के आदेश पर व्यापार' से साधारणतया यही अर्थ होता है कि ग्राहक अपनी आवश्यक वस्तुओं के लिये डाक द्वारा भंडारों में आदेश भेजते हैं और ये भंडार पुनः उनके पास वस्तुयें भेज देते हैं। सक्षेप में इसे 'डाक द्वारा विक्रय' (Shopping by post) भी कह सकते हैं। इससे ग्राहकों को अत्यधिक सुविधा प्राप्त होती है। यह व्यापार प्रमुख रूप में डाक द्वारा ही होता है और मध्यस्थ के बिना ही आवश्यक वस्तुयें ग्राहकों तक सीधे पहुँचाई जाती हैं। इस व्यापार में ग्राहकों को वस्तुओं का परिचय वैयक्तिक रूप से या समाचार पत्रों में विज्ञापन भेजकर अथवा

डाक द्वारा पत्र भेजकर कराया जाता है। इसमें जो भी उपाय सुगम होता है उसीके द्वारा ग्राहकों तक अपनी वस्तुओं का विज्ञापन भेजा जाता है। प्रायः ग्राहकों के सम्मुख स्वयं न जाकर ही सूचीपत्र या अन्य साहित्य छपवाकर उनके पास भिजवाये जाते हैं

उपर्युक्त पद्धति के प्रचलित होने के कितने ही कारण हैं। सबसे प्रमुख एवं प्रधान कारण विज्ञापन-पद्धति के प्रचार का अपनाना है। दूसरा कारण रहन सहन की स्थिति में उन्नति होना है जिससे कितने ही ग्रामीण लोग जिन वस्तुओं को अपने गाँव की दुकानों पर नहीं पाते उन्हें वे डाक द्वारा आदेश भेजकर सदैव मँगाया करते हैं। पहले लगभग सभी निर्माताओं को विक्रेताओं से सहयोग प्राप्त हो जाता था, परन्तु आजकल विक्रेता बहुधा नई वस्तुओं को लेना एकदम पसन्द नहीं करते। इससे नवीन-निर्माताओं को अपना निजी बाजार खोजना पड़ता है। परन्तु डाक द्वारा होने वाले व्यवसाय के निर्माताओं को बड़ी सहायता पहुँची है। अतः यह व्यवसाय कुछ तो इन निर्माताओं की आवश्यकता के कारण बढ़ा है और कुछ सुगमता से समुचित वस्तुओं के प्राप्त होजाने के कारण भी इसकी वृद्धि हुई है। प्रायः जिलों में इस पद्धति के व्यापार की संभावना स्वभाविक रूप से अधिक दिखाई देती है, क्योंकि वहाँ थोड़े से ही बड़े शहर होते हैं और वस्तुओं के खरीदने आदि की भी सुविधायें अत्यन्त सीमित होती हैं। नगरों से सुदूर स्थित जिलों में प्रायः बड़े बड़े नगरों से वस्तुओं के भेजे बिना, उनका मिलना सम्भव नहीं होता। अतः वहाँ पर डाक के आदेश पर व्यापार होने के लिये अधिक अवसर रहता है।

डाक द्वारा होने वाले व्यापार में ग्राहकों की सुविधा तथा लाभयुक्त बिक्री का ही विशेष ध्यान रक्खा जाता है। सस्ते मूल्य पर वस्तुयें भेजना भी ग्राहकों को आकर्षित करने का एक अच्छा उपाय है। सस्ता मूल्य होने के कारण कभी कभी ग्राहक अनिश्चित वस्तुओं को भी खरीद लेते हैं। इस डाक द्वारा भेजने की पद्धति से जनता को अपनी वस्तुओं का ज्ञान एवं परिचय कराकर उसे अपनी वस्तुयें खरीदने के लिये विवश भी किया जा सकता है। प्रायः सूचीपत्र आदि में लिखे हुये मूल्य को लोग स्थानीय बाजार में जाकर मिलाते हैं और यदि बाजार से मूल्य सस्ता होता है या बाजार में वे वस्तुयें उस मूल्य पर नहीं मिलतीं तो स्वाभाविकतया वे लोग डाक द्वारा आदेश भेजकर वस्तुयें मँगाते हैं। इसके अतिरिक्त कोई भी व्यापार अपने को उस समय तक सच्चा सिद्ध नहीं कर सकता जब तक वह अच्छी लाभ न ले। लाभ अच्छी तरह से उसी समय प्राप्त होता है जब पहले जनता की पर्याप्त सेवायें प्रस्तुत की जाती हैं अर्थात् जब उन्हें स्थानीय बाजार से भी सस्ते दामों पर पर्याप्त मात्रा में वस्तुयें भेजी जाती हैं, तभी अच्छा लाभ प्राप्त हो सकता है। इसी सेवा के सहारे

डाक द्वारा व्यापार में अच्छी सफलता मिलती है। कुछ विशेष वस्तुएँ जोकि स्थानीय बाजारों में नहीं मिलतीं उनसे प्राय निश्चित रूप से लाभ होता है, परन्तु वह लाभ भी वस्तुओं के निर्वाचन पर ही निर्भर होता है, क्योंकि जो वस्तु जनता को अधिक लाभप्रद एवं सुविधाजनक होती है उसी को वह खरीदती है। अत जनता की रुचि एवं सुविधा का ध्यान सदैव रखना आवश्यक होता है। ग्राहकों को ऐसे व्यापारियों के नेताओं का पूर्ण विश्वास होना भी इनकी सफलता का परिचायक है। किसी नवीन फर्म के लिए न तो कोई ग्राहक अपना धन पेशगी के रूप में ही दे सकता है और न उसके वस्तुएँ खरीदने को वह एकदम तय्यार हो सकता है, क्योंकि उसे आशंका रहती है कि कहीं वह उसके धन को मार न ले अथवा अच्छी वस्तु कहकर उसके स्थान पर कहीं बुरी वस्तु न भेजदे। इसलिए जनता का विश्वास सम्पादन करने के लिए फर्म-फर्म ग्राहकों के असन्तुष्ट होने पर वस्तुओं की कीमत डाक-व्यय सहित लौटा देना चाहिए।

डाक से होने वाले व्यापार में बहुधा विज्ञापन या सूचीपत्रों आदि के आधार पर डाक या रेल द्वारा वस्तुएँ उन लोगों के पास भेजी जाती हैं जिन्हें उनके निरीक्षण करने का अवसर भी प्राप्त नहीं होता तथा जो केवल वस्तुओं के विवरण को पढ़कर ही उन्हें खरीदने के लिए तैयार हो जाते हैं। यह निर्विवाद सत्य है कि बहुत सी वस्तुएँ डाक के आदेश पर भेजने के योग्य नहीं होतीं। डाक के आदेश पर भेजी जाने वाली वस्तुएँ प्राय ऐसी होनी चाहिए जो विवरण द्वारा ही सुगमता से समझी जा सकें तथा जो विभिन्न प्रकार के नमूनों में से आसानी से छाँटी जा सकें और जो तुरन्त ही प्रयोग में आ सकें अथवा जो यातायात के समय खराब न हों या जो यातायात की क्षति से मुक्त हों तथा जिनका चित्रवत् प्रदर्शन हो एवं जिनका विवरण प्रभावशाली ढंग से लिखा हुआ हो। इस व्यापार के लिए नवीन वस्तुएँ, ओषधियाँ, बच्चों के खिलौने, सूत एवं चमड़े की वस्तुएँ, जवाहरात आदि अधिक उपयुक्त होती हैं।

डाक द्वारा प्रस्तावित वस्तुओं का क्रय मूल्य निश्चित करना प्राय कठिन होता है। उनका न तो बिल्कुल सस्ता-मूल्य ही निश्चित किया जा सकता है, क्योंकि ऐसा करने से लोग उन्हें निम्न श्रेणी की भाँति समझने लगते हैं। अत मूल्य निर्धारण करना भी अधिक महत्व रखता है। वह इस प्रकार निर्धारित होना चाहिए जिससे सम्भाव्य ग्राहक यह अनुभव करें कि यह मूल्य वास्तव में बहुत कम है। यह व्यापार बहुधा डाकघर में वी पी पी (V P P) द्वारा होता है। वहाँ भुगतान करने से पूर्व किसी भी ग्राहक को वस्तु दिखाने की आज्ञा नहीं होती। इस व्यापार के लिए इच्छा पत्रों, सूचनापत्रों, सूचियों, मूल्य पुस्तकों, नमूनों आदि का भेजना तथा आवश्यक साहित्य का प्रकाशन कराना आवश्यक होता है। कहीं कहीं पुराने ग्राहकों के पास अपने भ्रमणकर्त्ताओं (Travellers) को भी नियुक्त करके भेजा जाता है तथा घर घर में प्रचार करने के लिए प्रचारकों (Convassers) को भी नियुक्त किया जाता है।

सूची पत्र तथा मूल्य पुस्तकें समय समय पर पुराने ग्राहकों के पास भेजी जाती हैं। जब एक बार किसी सम्भाव्य ग्राहक (Prospective Customer) से पत्र व्यवहार हो जाता है तो प्राय उससे सदैव सम्बन्ध स्थापित रखने के लिये प्रयत्न किये जाते हैं। उन समस्त सम्भाव्य ग्राहकों का एक सूची बनायी जाती है और समय-समय पर उसमें वृद्धि भी होती रहती है। यह सूची बहुधा डाक सूची (Mailing list) के नाम से पुकारी जाती है। इस सूची के निर्माण करने में पर्याप्त धन अथवा समय व्यय हो जाता है, परन्तु इससे भविष्य के लाभ की अच्छी सम्भावना रहती है। कहीं-कहीं व्यापार-सदर्श पुस्तकों (Directories) एवं टेलीफून परिचयात्मक पुस्तकों भी उपयोग किया जाता है। परन्तु परिचय कराने का अच्छा एवं सुन्दर ढंग यह है कि किसी अच्छे प्रसिद्ध पत्र में अपनी वस्तुओं के बारे में विज्ञापन देना चाहिए। प्राय ग्राहकों से उत्तर मूल्य-पुस्तकों के आधार पर ही आते हैं। अत बार-बार वस्तुओं का उसी भाँति विज्ञापन कराना अत्यन्त लाभकर होता है क्योंकि पुराने ग्राहक भी उसे देख कर आकर्षित हो सकते हैं। इसके लिये अनुभव एवं साधारण ज्ञान की आवश्यकता होती है। हो सकता है कि विज्ञापन कराने में पहले अधिक व्यय हो जाय और उसके व्यय के अनुपात में ग्राहक न बनें, परन्तु भविष्य में उससे अधिक लाभ होने की सम्भावना रहती है।

सूची पत्र सदैव डाक द्वारा भेजे जाने के लिए उचित एवं उपयुक्त आकार में छपवाना चाहिए। उसे मोड़कर भेजना भी एक कौशलपूर्ण कार्य है। साथ ही उसकी सजावट एवं विवरणों के लिखने की पद्धति भी अत्यन्त आकर्षक होनी चाहिए जिससे उसे पढ़ते ही ग्राहक मोहित हो जायँ। इसके लिए भी एक विशेष तान्त्रिक योग्यता की आवश्यकता होती है। उस सूची पत्र में समस्त वस्तुओं का श्रेणी-विभाजन तथा उनका क्रम भी अत्यन्त मनोमोहक होना चाहिए। उसे बुद्धिमानी के साथ क्रमबद्ध करना अधिक श्रेयस्कर होता है। उसमें वस्तुओं के गुण, सस्ते मूल्य एवं उनकी विशेषता का हिसाब से विवरण दिया जाता है। सुदूर स्थित ग्राहकों को प्राय अपने सुन्दर पत्र भेजकर आमन्त्रित किया जाता है। इसके लिए भी अनुभव, निर्णय तथा साधन अधिक लाभकर सिद्ध होते हैं। सूचीपत्र में ही एक विक्रेता अपनी समस्त राम कहानी कह सकता है, अत उसे भली प्रकार शोभायुक्त बनाकर भेजने से ही उसे अच्छा मुआवज़ा प्राप्त हो सकता है। उसे सजाने के लिए विक्रेता का कौशल, विवरण की महत्ता, लेखनशैली की भव्यता, प्रकाशित कराने की योग्यता तथा उसमें चित्र आदि देने की निपुणता का होना अनिवार्य होता है। यदि इस व्यापार में सफलता प्राप्त करनी है तो वस्तु उत्पादन कागज, छपाई, चित्र, तथा सूचीपत्र का समस्त सजावट में तनिक भी कृपणता नहीं दिखानी चाहिए, क्योंकि जितना सुन्दर एवं आकर्षक सूचीपत्र होगा उतनी ही सुन्दर वस्तु का होना भी सम्भव होता है और प्राय- सूचीपत्र से ही आकृष्ट लोग डाक द्वारा वस्तुयें मँगाया करते हैं।

कार्यालय के कार्य की महत्ता जितनी इस व्यापार में होती है, उतनी अन्य किसी में भी नहीं देखी जाती, कारण यह है कि इस व्यापार में उसी समय अच्छी सफलता हो सकती है, जब ग्राहकों के लगातार समाचार प्राप्त किए जायँ, उनके पास पत्र भेजे जायँ, लगातार पत्र व्यवहार द्वारा उनसे सम्पर्क रक्खा जाय, विज्ञापन आदि के आवश्यक परिणामों की देखभाल की जाय, तथा अन्त में ग्राहकों से व्यवहार करने में समय की पाबन्दी की ओर अच्छी तरह ध्यान रक्खा जाय अर्थात् उनके आदेश आने पर तुरन्त सामान भेजने तथा उनके जाँच-पड़ताल करने पर तुरत उत्तर देने के द्वारा ग्राहकों के हृदय में अधिक विश्वास स्थिर होता है। प्रत्येक ग्राहक का समुचित लेखा रखना चाहिए। उसके लिए उचित कार्ड निर्देशकों द्वारा अपने लेखे को व्यवस्थित रूप देना चाहिए। उन कार्डों पर ग्राहकों की रुचि अथवा अरुचि सम्बन्धी वैयक्तिक सूचनाओं के साथ साथ विभिन्न प्रकार के पत्र-व्यवहारों का निर्देश स्पष्ट रूप में रखना चाहिए।

डाक द्वारा व्यापार के लिए अधिक बिक्री होना आवश्यक होता है। अत इस व्यापार-कर्त्ता में वस्तुओं के स्वरूप को स्पष्ट, निश्चित एवं सूक्ष्म रूप में उल्लेख करने की उपयुक्त योग्यता होनी चाहिए। उसमें ग्राहकों के हृदय में रुचि एवं लालसा जाग्रत करने की अनोखी निपुणता का होना अत्यावश्यक होता है, जिसके उसके दिए हुए विज्ञापन को पढने वाला व्यक्ति अनायास ही यह कह उठे कि "यह वस्तु तो मुझे मँगानी चाहिए" अथवा 'इसकी तो मुझे आवश्यकता है।" ग्राहकों के हृदय में वस्तु के खरीदने की लालसा उत्पन्न करना उसका सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। इसके अतिरिक्त इस पद्धति का यह सर्वविदित उद्देश्य होता है कि ग्राहकों की रुचि परिवर्तित करके अपनी वस्तुओं की ओर संलग्न की जाय तथा उन्हें वास्तविक आदेश भेजने के लिए विवश कर दिया जाय। हो सकता है कि दो समान वस्तुओं के समान विज्ञापन हों। परन्तु एक विज्ञापन ग्राहकों के हृदय को अपनी ओर आकर्षित करने वाला होता है, जबकि दूसरे का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक में सुन्दर सुदृढ विचारों के साथ प्रत्येक वाक्य मनोमोहक हो सकता है जबकि दूसरा निर्जीव, कुरूप तथा अरुचिकर ही होता है। यदि कोई कुशल एवं कलात्मक अभिरुचि का व्यापारी होता है तो वह अपने विज्ञापन में प्रत्येक शब्द को चित्र के समान सुसज्जित कर सकता है तथा एक चित्रकार की भाँति आन्तरिक दृष्टि से प्रत्येक वस्तु को देखने के लिए ग्राहकों को विवश कर सकता है। इसलिए इस व्यापार के लिए विभिन्न क्षेत्रों के विज्ञापन आदि का अनुभव होना भी अत्यावश्यक होता है। इसके लिए उसे नाना प्रकार के ढंग भी अपनाने पड़ते हैं। इसके लिए सफल एवं प्रभावशाली विज्ञापन का आधार ही एकमात्र सफलता प्रदान करने वाला होता है, क्योंकि इसका व्यापार विज्ञापन पर ही उन्नति एवं अवनति की ओर जा सकता है। संक्षेप में यही कह सकते हैं कि इस पद्धति की आधार शिला विज्ञापन ही है।

डाक द्वारा आदेश से लाभ तथा हानियाँ (Advantages and Disadvantages) :—जहाँ तक डाक जा सकती है, वहीं तक प्रायः अपनी वस्तुओं एवं विज्ञापन आदि को ये व्यापारी भी भेज सकते हैं। अतः चित्रित सूचीपत्रों में से ग्राहक बहुधा सुगमता से वस्तु निर्वाचन कर सकते हैं। इन विक्रेताओं का व्यापार सदैव नकद रोकड़ में ही होता है, अतः अशोध्य ऋणों (Bad debts) तथा ऋण सचयक अनावश्यक व्ययों से ये लोग बच जाते हैं, जिससे मितव्ययता होकर ग्राहकों को कम मूल्यों पर ये वस्तुयें दे सकते हैं। अन्य व्यय भी इनके कम ही होते हैं, क्योंकि इनके यहाँ सहविक्रेता (Salesman) को अधिक वेतन नहीं देना पड़ता और न ये दूकान की बाह्य सजावट में ही अधिक व्यय करते हैं, परन्तु इसकी अपेक्षा इनका व्यय सूचीपत्र आदि के छपवाने तथा उन्हें भेजने में कुछ अधिक हो जाता है। प्रायः ये लोग विज्ञापन भी बड़ी कुशलता के साथ करते हैं क्योंकि इनका व्यापार ही इस पर निर्भर रहता है। डाक द्वारा व्यापार करने वाले निर्माता (Manufacturer) थोक विक्रेताओं और फुटकर विक्रेताओं से स्वतन्त्र रहते हैं, अतः ये अपने ग्राहकों को कुछ छूट भी दे देते हैं, जिसका कि उल्लेख प्रायः ये अपने सूचीपत्रों में स्वतन्त्रतापूर्वक कर देते हैं। इस पद्धति पर व्यापार इस कारण और भी बढ़ता चला जा रहा है क्योंकि कितने ही असंभावित एवं अपरिचित बाजारों की खोज इसके द्वारा हुई है।

ग्राहकों को केवल सस्ते मूल्य पर वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती, वरन् उन्हें विक्रेता की सेवाओं की भी आवश्यकता होती है जो केवल वैयक्तिक सम्पर्क द्वारा ही दी जा सकती हैं। अतः इस पद्धति द्वारा यह कार्य सर्वथा असम्भव होता है। यद्यपि सूचीपत्र आदि में वस्तुओं के चित्र आदि अच्छी प्रकार दिये रहते हैं, परन्तु उससे वैयक्तिक निरीक्षण का सुअवसर प्राप्त नहीं होता। ग्राहकों को उधार लेने की कोई सुविधा नहीं दी जाती, इससे भी उन्हें विशेष प्रेरणा नहीं मिलती। इसके अलावा विक्रेता का व्यक्तिगत सम्पर्क न होने के कारण, उन्हें ग्राहकों की रुचि एवं अरुचि की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं प्राप्त होता। विभिन्न रुचि रखने वाले सम्भाव्य ग्राहकों को प्रायः इनकी छपी हुई सूची-पुस्तकें आदि संतुष्ट नहीं कर पातीं क्योंकि वे तो सभी के लिए एक सी होती हैं। इसके साथ ही इस पद्धति द्वारा बिक्री के कम होने के कारणों का सुगमता से पता नहीं चलाया जा सकता, क्योंकि विज्ञापन आदि के भेजने पर भी कहीं अधिक और कहीं कम बिक्री प्रायः होती रहती है।

ग्राहकों को लाभ तथा हानियाँ (Advantages and Disadvantages to Customers) —ग्राहकों को इस पद्धति से सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि उन्हें घर बैठे ही अपनी इच्छित वस्तुयें प्राप्त हो जाती हैं तथा फुटकर व्यापारी की दुकान तक जाने के समय की भी बचत हो जाती है। बहुतसी ऐसी वस्तुयें भी

उन्हें सस्ते दामों पर मिल जाती हैं, जो बहुधा स्थानीय बाजार में या तो मिलती ही नहीं और यदि मिलती भी हैं तो उनकी कीमतें बहुत ज्यादा होता है। ग्राहकों को कभी-कभी अच्छी सेवायें भी प्राप्त हो जाती हैं और श्रेष्ठ वस्तुएं भी वे कम दामों पर घर बैठे पा जाते हैं। जो वस्तुयें अधिक प्रसिद्ध होती हैं, उनके खराब तथा घटिया श्रेणी के आने का भय नहीं रहता, वे प्राय अच्छे गुणवाला ही भेजी जाती हैं और ग्राहकों को असन्तोष दिखाने का अवसर नहीं मिलता।

साधारणतया डाक द्वारा माल मँगाने में ग्राहक यह भी नहीं जान पाते कि वे किससे अपना व्यवहार कर रहे हैं। कभी-कभी वस्तुओं के गुण वर्तमान में विज्ञापन आदि झूठा प्रचार भी कर देते हैं। उनके शब्द छल एवं कपटपूर्ण होते हैं। इससे जनता प्राय धोखे में फँसकर सत्यता एवं यथार्थता को नहीं जान पाती। साथ ही ग्राहकों को वस्तुओं के निरीक्षण करने का अवसर तो पहले प्राप्त ही नहीं होता, और न ये किसी प्रकार की साख सुविधायें ही ग्राहकों को देते हैं। इससे जनता इनकी वस्तुयें खरीदने के लिए एकदम तैयार नहीं होती और कभी-कभी तो माल मँगाकर भी उनकी कीमत आदि चुकाने में आनाकानी करती है। अत इससे ये कतिपय हानियाँ भी उठानी पड़ती हैं।

क्रयविक्रय व्यापार (Hire Purchase Trading)

क्रयविक्रय पद्धति द्वारा विक्रेता प्राय लोगों को इस शर्त पर उधार माल दे देता है कि वे एक निश्चित अवधि तक थोड़ा-थोड़ा मूल्य चुकाते हुए उसका पूरा भुगतान करदें। इस पद्धति में बहुधा वस्तुयें किराये पर ही दी जाती हैं और उनका मूल्य भी किराये की ही भाँति निश्चित अवधि पर निश्चित अंशों में चुकाया जाता है, जब ग्राहक समस्त मूल्य को चुका देता है तभी वह उस वस्तु का अधिकारी होता है, अन्यथा मूल्य पूरा न चुकाने की दशा में उस वस्तु पर स्वामित्व विक्रेता का ही रहता है। इस पद्धति का प्रचार आधुनिक युग में अत्यधिक दिखाई देता है। साथ ही इसने अनेक प्रकार की वस्तुयें बेचना भी प्रारम्भ कर दिया है,—जैसे फर्नीचर, रेडियो, मोटरकार, टाइपराइटर, साइकिलें, ग्रामोफोन आदि अधिक मात्रा में ग्राहकों को भेजे जाते हैं।

इस पद्धति पर व्यवसाय करने वाली फर्मों के अतिरिक्त लगभग सभी बड़े बड़े स्टोर अब तो "अपनी आय के बिना भी खरीदो" वाले सिद्धान्त का प्रचार करते हुए अधिकांश वस्तुयें ग्राहकों को इसी पद्धति पर देने लगे हैं। इस पद्धति पर लिया गया वस्तुओं का मूल्य अक्सर नकद रोकड़ की अपेक्षा कुछ अधिक होता है, वह अधिक मूल्य प्राय निश्चित अवधि तक दिये गये धन की ब्याज के रूप में ही होता है। इस पद्धति द्वारा बहुधा एक विक्रेता किसी ग्राहक के साथ वैसा ही व्यवहार करता है जैसा कि एक थोक विक्रेता कम पूँजी वाले फुटकर-विक्रेता के साथ किया करता है। वह

अपने ग्राहक के धनाभाव की पूर्ति प्राय वस्तुएँ देकर कर देता है, परन्तु उसके अनुबन्ध या शर्तें इस प्रकार की होती हैं जिससे वह अपनी आय में से उसके चुकाने के लिए धन बचाता रहता है। जिस प्रकार एक फुटकर व्यापारी किसी ऋणदाता से उधार धन लेने पर और उसका भुगतान धीरे-धीरे करने पर किसी प्रकार की छूट का अधिकारी नहीं रहता, उसी प्रकार उधार या भाड़े पर वस्तुएँ खरीदने वाले को भी निश्चित मूल्य की अपेक्षा कुछ अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है और उसका मूल्य चुकाने के लिये उसे अपनी आय में से भी पर्याप्त बचत करनी पड़ती है।

बहुधा जब तक वस्तुओं का मूल्य पूरा नहीं चुकाया जाता तब तक विक्रेता का उन वस्तुओं पर पूरा अधिकार होता है, अत बेची हुई वस्तुओं अथवा फर्नीचर आदि के आग-बीमा (Fire insurance) के लिए विक्रेता लोग ग्राहकों से ही रुपया लेते हैं। ग्राहक चाहे तो वह रुपया वस्तुओं की कीमत के साथ ही दे सकता है। यदि वह ऐसा न करे तो उसे पृथक् देना पड़ता है। प्राय क्रय-क्रय पद्धति द्वारा वस्तु भाड़े पर लेते समय ग्राहकों को दो जमानती देने पड़ते हैं। कभी-कभी ग्राहक द्वारा अन्तिम भुगतान करने की तिथि तक के लिये ये व्यापारी उनका जीवन बीमा कराना आवश्यक समझते हैं। इस पद्धति द्वारा सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति शीघ्रता-पूर्वक नहीं होती और ग्राहकों को कभी-कभी इतनी आपत्ति का सामना करना पड़ता है कि वे उसे सहन भी नहीं कर पाते। अतः इस पद्धति से छुटकारा पाना ही श्रेयस्कर है। यदि कोई वस्तु आवश्यकता के कारण ले ली जाती है, परन्तु जब उसका मूल्य नहीं चुकता तो वही विलासिता की वस्तु बन जाती है, और उसका लेना मूर्खता में शामिल हो जाता है। इस पद्धति को अमेरिका ने सर्वाधिक अपनाया है, वहाँ पर यह पद्धति अत्यन्त साधारण रूप से दिखाई देती है। इसका कारण यह है कि अधिक मात्रा के उत्पादन के लिए अधिक माँग की आवश्यकता होती है तथा अधिक माँग के लिये यह आवश्यक होता है कि सभी वर्ग के मनुष्यों के पास जाकर वस्तुओं के लिए लालसा जाग्रत की जाय और उन्हें वस्तु खरीदने के लिये उत्साहित किया जाय। अत वहाँ पर बड़े-बड़े विशेषज्ञ प्रचारकों द्वारा सर्वसाधारण की इच्छा एव अभिलाषा को जाग्रत करने का प्रयत्न किया जाता है और उन्हें वस्तु खरीदने के लिये विवश कर दिया जाता है। वास्तव में यदि देखा जाय तो मनुष्य की आवश्यकताओं, जैसे—मकान, फर्नीचर, अन्य नित्य व्यवहार की वस्तुएँ, जैसे—सीने की मशीन, टाइप-राइटर आदि की पूर्ति, उसकी परिस्थिति यदि ठीक है तो, इस पद्धति द्वारा बड़ी सुगमता से हो सकती है। भारतवर्ष में रहन-सहन का परिमाण निम्नकोटि का होने के कारण अभी इस पद्धति का प्रचलन अधिक नहीं दिखाई देता। यहाँ यह अभी बाल्यावस्था में ही है। दूसरे अभी इस पद्धति पर व्यापार करने वाले विक्रेताओं का भी यहाँ अभाव है। क्योंकि इसके लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता होती है। परन्तु

रहन सहन का परिमाण बढ़ना ही ऐसा दिखाई देता है कि यह पद्धति भी अत्यधिक मात्रा में बढ़ जायगी।

ग्राहकों का लाभ तथा हानियाँ (**Advantages and Disadvantages to Buyer**) —इससे ग्राहकों को वस्तुओं के लिये अधिक प्रतीक्षा न करके तुरन्त उपयोग करने की सुविधा प्राप्त होता है। उन्हें पर्याप्त धन संग्रह करने की आवश्यकता नहीं होती केवल थोड़ी सी ही धन-राशि से उनके इच्छित पदार्थ अधिक सहज में प्राप्त हो जाते हैं। जब कोई वस्तु ले ली जाती है तो उनका मूल्य प्रभागों (Instalments) में चुकाने के लिये धन का बचत करनी पड़ती है, इससे उनमें मितव्ययता की आदत हो जाती है। यदि खरीदी हुई वस्तु विलासिता की वस्तु होती है तो अन्य विलासिता की वस्तुओं का उन्हें परित्याग कर देना पड़ता है तथा अन्य कम आवश्यकता की वस्तुओं पर धन व्यय करने का आकर्षण भी नहीं रहता। कभी-कभी वस्तुओं के नकद खरीदने के लिए इधर उधर से धन का प्रबन्ध किया जाता है या किसी से उधार लेकर लोग ऐसा किया करते हैं, परन्तु यह कार्य अपेक्षाकृत अधिक भयानक है। क्योंकि जो ब्याज वहाँ धन उधार लेने पर दिया जाता है, वह इस पद्धति द्वारा दिये गये अधिक मूल्य से कहीं अधिक होता है। जब तक कि किसी वस्तु का मूल्य पूरा पूरा विक्रेता के पास नहीं पहुँचता, तब तक वह बहुधा उस वस्तु में उत्पन्न होने वाली खराबियों को भी ठीक करता रहता है। यह लाभ नकद खरीदने में नहीं होता। मूल्यवान वस्तुओं के लिये भी इस पद्धति से अधिक लाभ उठाया जाता है क्योंकि प्राय साधारण लोग अधिक मूल्यवाली वस्तुओं के लिये एकदम थोकड़ व्यय नहीं कर सकते, इससे उनका उपयोग करने में वे असमर्थ रहते हैं, परन्तु इस पद्धति द्वारा वे प्रभागों के रूप में उन मूल्यवान वस्तुओं की कीमत चुका देते हैं। अत थोड़ी पूँजी में मूल्यवान वस्तुयें प्राप्त करने का यह अत्यन्त सुगम साधन है। इसके साथ ही जीविकोपार्जन के लिये या छोटे छोटे उद्योग चलाने के लिये यन्त्र-सामग्री को थोड़ी पूँजी में प्राप्त करने का भी यह सबसे अच्छा उपाय है, जिससे उसका मूल्य उत्पादन अथवा अन्य उपयोग ग्राहक को उस वस्तु का कीमत चुकाने से पहले ही प्राप्त हो जाते हैं।

इस पद्धति से कुछ हानियां भी है। बहुधा इस पद्धति में जो अनुबन्ध होता है वह आगामी आय पर बंधक (Mortgage) के रूप में रहता है। इसके साथ ही वस्तुओं का मूल्य प्रभागों में चुकाया जाता है। यदि परिस्थितियाँ बदलने पर किसी अनिवार्य कारण से ग्राहक उनका मूल्य प्रभाग नहीं दे पाता तो वस्तु पर विक्रेता का अधिकार हो जाता है। प्राय वस्तुओं के अवक्षयण (Depreciation) की पूर्ति के लिये प्रथम भुगतान कुछ अधिक करना पड़ता है, इस तरह यदि अल्पकाल में ही पुन वस्तु का भाड़ा माँग लिया जाता है तो वह ठीक अनुपात में नहीं होता, इससे

विचारे ग्राहकों को बड़ी आपत्ति का सामना करना पड़ता है। वस्तु की नकद-कीमत तथा भाड़े पर ली जाने वाली कीमत में भी पर्याप्त अन्तर होता है क्योंकि इसमें वे वास्तविक कीमत के साथ उसका ब्याज, यन्त्र की घिसावट तथा अन्य आनुषंगिक व्ययों को भी जोड़ लेते हैं। कभी-कभी ग्राहकों की आय यदि कम होती है तो प्रभाग के रूप में धन देने के उपरान्त वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ हो जाता है। इस तरह ग्राहकों को इस पद्धति द्वारा उस समय और भी अधिक आपत्ति एवं असुविधा का सामना करना पड़ता है जब इसे प्रभाग अनिवार्य रूप से चुकाने पड़ते हैं और उसके जीवन-निर्वाह के साधन अत्यधिक सीमित रहते हैं। अतः यह पद्धति अधिक लाभप्रद नहीं होती।

विक्रेता का लाभ तथा हानियाँ (Advantages and Disadvantages to Seller) —बहुपरिमाण में बिक्री करने पर प्रायः अधिक लाभ होता है। साथ ही इस पद्धति में हानि उठाने की अधिक आशंका नहीं रहती क्योंकि वस्तु देने से पूर्व विक्रेता लोग पर्याप्त धन जमा करा लेते हैं या प्रथम भुगतान में ही अच्छा धन ले लेते हैं। यह धन प्रायः नवीन वस्तुओं तथा पुरानी वस्तुओं के मूल्य के अन्तर के बराबर होता है। इसके साथ ही वस्तुओं की आयु से अधिक समय के लिए भुगतान का विस्तार नहीं किया जाता। वह उससे पूर्व ही प्राप्त हो जाता है। इसके साथ ही प्रभागों के भुगतान के लिए ग्राहकों के बारम्बार आने से विक्रेता का सम्पर्क उनसे बढ़ जाता है जिससे वह सभी ग्राहकों के बारे में अच्छी पूछताछ रखता है और यदि कोई ग्राहक प्रभाग-मूल्य नहीं भेजता तो वह सुगमता से पहिचाना जाता है और उसके साथ हुए साख निबन्ध तोड़ दिये जाते हैं। इस तरह इन्हें अधिक हानि होने की आशंका नहीं रहती। यदि कोई ग्राहक बार-बार प्रभाग देने के लिए आता है और उसका सम्बन्ध विक्रेता से अधिक बढ़ जाता है तो वह और वस्तुएँ भी खरीद लेता है, इससे विक्रेता को और भी लाभ होता है। यदि किसी समय विक्रेता को कुछ अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है तो वह अपनी प्रतिष्ठित धनी कम्पनी को, जिससे कि वह क्रयविक्रय (Hire Purchase) करता रहता है, अपनी कुछ वस्तुयें भाड़े पर भेजकर उससे पूँजी प्राप्त कर सकता है और उस पूँजी के लिए उसे साधारणतया अधिक ब्याज नहीं देना पड़ता।

इस पद्धति के लिए बहुधा अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। यदि ग्राहक वस्तुओं के मूल्य का भुगतान नहीं करता तो विक्रेता को पर्याप्त हानि भी उठानी पड़ती है। इसके साथ ही यदि इस पद्धति का प्रचार अधिक मात्रा में हो जाता है तो नकद व्यापार कम हो जाता है। प्रायः इस पद्धति के व्यापार के लिए लिपिकों (Clerks) की व्यवस्था की आवश्यकता पड़ती है जिसमें विक्रेता को अत्यधिक आपत्ति एवं कठिनाई का सामना करना पड़ता है तथा उसमें व्यय भी अधिक मात्रा में हो

जाता है। यदि वस्तुओं पर तुरन्त लाभ लेने का प्रयत्न होता है तो विक्रेता की स्थिति धोखेबाज की सी हो जाती है और यदि उस लाभ का विस्तार करके उसे कितने ही वर्षों में प्राप्त किया जाता है तो वास्तविक आय की अपेक्षा आय-कर (Income Tax) अधिक मात्रा में देना पड़ता है। यदि प्रभागों के रूप में मूल्य न चुकाने वालों से वस्तुओं को वापिस लेने की आवश्यकता पड़ जाती है और उनसे वस्तुएँ ले ली जाती हैं तो सर्वसाधारण में प्रतिष्ठा के गिरने की बड़ी सम्भावना रहती है।

परन्तु इस पद्धति द्वारा होने वाला व्यापार बहुधा इतना जोखिम वाला नहीं होता जितना कि लोग कल्पना किया करते हैं। प्रायः इस पद्धति द्वारा वस्तुयें लेने वाले बड़े बड़े प्रतिष्ठित लोग भी होते हैं जो अन्य किसी प्रकार से भी मूल्यवान वस्तुयें न खरीदकर इसी सुगम उपाय को अपनाते हैं।

प्रभाग-भुगतान पद्धति (Instalment Payment System)

कुछ साहसी एवं उद्योगी फुटकर विक्रेताओं ने क्रयावक्रय पद्धति (Hire Purchase System) में ग्राहकों की लालसा जाग्रत करने के लिए कुछ परिवर्तन किये हैं, इसी परिवर्तन में प्रभाग-भुगतान (Instalment payment) या स्थगित-भुगतान (Deferred Instalment) आते हैं। इस पद्धति द्वारा ग्राहक को पहिला प्रभाग देने पर ही वस्तुओं का स्वामित्व मिल जाता है। इस पद्धति की यह विशेषता है कि वस्तुयें इसमें उचित मूल्य पर बेची जाती हैं तथा वे वापिस नहीं की जातीं और समस्त प्रभागों (Instalments) का भी भुगतान यथोचित समय में हो जाता है। यदि ग्राहक किसी समय अनिवार्य कारणों से प्रभागों का भुगतान नहीं कर पाता तो वह अपनी वस्तुयें बेचकर प्रभाग की राशि का भुगतान कर सकता है। यह छूट क्रयावक्रय पद्धति में नहीं मिलती। वहाँ तो जो वस्तुयें भाड़े पर ली जाती हैं, उनका मूल्य जब तक पूरा नहीं चुकाया जाता, तब तक ग्राहक का उस पर कोई अधिकार नहीं होता और यदि वह ग्राहक उन वस्तुओं को बेचता है तो वह निर्बन्ध तोड़ने का अपराधी होता है। ऐसी परिस्थिति में मूल विक्रेता उस उप विक्रेता से अपनी समस्त वस्तुयें पुनः प्राप्त करने का पूर्ण अधिकारी होता है।

प्रभाग भुगतान-पद्धति में प्रभागों के भुगतान न होने पर विक्रेता को अत्यधिक हानि उठानी पड़ती है। इसी कारण इस पद्धति में वस्तुओं का मूल्य क्रयावक्रय पद्धति की अपेक्षा कुछ अधिक लिया जाता है। जितने अधिक समय में प्रभागों का भुगतान होता है, उतना ही अधिक प्रतिशत में व्यय भी उसकी नकद कीमत पर लग जाता है। इसी से ये विक्रेता कुछ अधिक मूल्य लिया करते हैं। इस पद्धति में बेची हुई वस्तुओं का सावधानी के साथ लेखा तैयार किया जाता है। उसमें विक्रय-तिथि तथा देय भुगतान की राशि एवं दिये हुये भुगतानों का उल्लेख रहता है। प्रत्येक प्रभाग के प्राप्त होने पर एक रसीद ग्राहक के पास भेजी जाती है

और जब समस्त प्रभागों का भुगतान हो जाता है तो एक पक्की रसीद भेज दी जाती है। इस कार्य के लिए कार्ड-निर्देशक (Card Index) अधिक उपयोगी रहते हैं। प्रत्येक ग्राहक का एक-एक कार्ड बनाना चाहिये जिस पर उससे सम्बन्धित सभी विवरणों का उल्लेख रखना अधिक लाभदायक सिद्ध होता है।

यदि इस पद्धति में किसी प्रकार की बुराई उत्पन्न न हो तो इससे ग्राहकों को जितनी सुगमता एवं मितव्ययता का लाभ होता है उतना अन्य किसी पद्धति से नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति वायरलैस या टाइपराइटर आदि खरीदना चाहता है और उसके पास नकद रोकड़ नहीं है, इसके साथ ही उसकी आय भी यदि अत्यन्त अल्प है तो उसके लिये ये वस्तुयें खरीदना सर्वथा असम्भव है। इसके अलावा यदि वह दीर्घकाल तक रुपया बचाता हुआ इन वस्तुओं के खरीदने की प्रतीक्षा करता है तो कभी कभी ऐसा अवसर भी आ जाता है कि उसे वह अपना जमा किया हुआ धन व्यय करना पड़ता है। परन्तु इस पद्धति द्वारा उक्त वस्तुयें खरीदना उसके लिये सर्वथा सम्भव है। इतना अवश्य है कि उसे प्रभाग भेजने के लिए रुपया बचाने को विवश होना पड़ता है और प्रभाग भेजने की आवश्यकता उसे मितव्ययी बनाने के लिये बल-पूर्वक प्रयत्न करती है।

इसके अतिरिक्त इस पद्धति से अत्यन्त उपयोगी एवं गुणवान वस्तुओं को अपने किसी उत्पादन आदि के लिये खरीदने की भी अच्छी सुविधा प्राप्त हो जाती है, क्योंकि उस वस्तु का मूल्य बहुधा ग्राहक उससे कमाता हुआ प्रभागों के द्वारा बड़ी सुगमतापूर्वक चुका सकता है।

इस पद्धति से भी कुछ हानियाँ होती हैं। बहुधा इस पद्धति द्वारा लोग अपनी आगामी आय को परिस्थिति ठीक न होने पर भी आजादी के साथ बंधक (Mortgage) के रूप में एक विक्रेता के यहाँ रखने को तैयार हो जाते हैं। इस कारण इस पद्धति पर भी कुछ प्रतिबन्ध रहना आवश्यक है।

इस पद्धति का सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह व्यापार के लिए अच्छा प्रोत्साहन प्रदान करती है। परन्तु इस व्यापार की सफलता के मार्ग की भी कुछ सीमायें हैं। सर्व प्रथम, यह व्यापार वहीं सफल हो सकता है जहाँ पर विक्रेताओं को ग्राहकों की साख एवं उनके भुगतान करने की क्षमता का पर्याप्त ज्ञान होता है। बहुधा यह व्यापार कुछ निश्चित आय वाले लोगों तक ही सीमित रहता है। दूसरे, इस व्यवसाय में कभी कभी उधार माल देने की पर्याप्त छूट रहती है। अतः जब तक इसके लिए सावधानीपूर्वक कार्य नहीं किया जाता तब तक इस समस्त व्यापार के खतरे में पड़ने की सम्भावना रहती है। तीसरे, इस व्यापार के लिए अत्यधिक पूँजी की आवश्यकता होती है और वह कभी भी सुगमता से नहीं मिलती। अतः ऐसी दशा में

इस व्यापार में अधिक हानि भी उठानी पड़ती है।

उपभोक्ता सहकारी भण्डार (Consumers' Co-operative Stores) – उपभोक्ता लोग प्राय सहकारी समितियों की सहायता से एकत्रित होकर अपनी आवश्यक वस्तुओं का संग्रह कर लेते हैं तथा समस्त सदस्यों को अत्यधिक सेवायें प्रस्तुत करते हुए छोटे-छोटे लोगों को भी बड़ी मात्रा में लाभ प्रदान करते हैं। इस पद्धति द्वारा फुटकर एवं थोक विक्रेता तथा उपयोगी पदार्थों के निर्माताओं का भी कार्य किया जाता है। इसके साथ ही ये अपने ग्राहकों को अत्यन्त बचत के साथ कम मूल्य पर वस्तुयें देते हैं। निर्माताओं के आन्दोलन से ठीक विपरीत यह उपभोक्ताओं का आन्दोलन होता है। पहला आन्दोलन तो एक विशेष स्थान से विशेष वर्ग के लोगों से सम्बन्ध रखता है, परन्तु उपभोक्ताओं का आन्दोलन समस्त जनता से अपनी प्रार्थना करता है क्योंकि सभी लोग उपभोक्ता होते हैं और यह समस्त जनता को अपना सदस्य बनाता हुआ सभी लोगों का संगठन कहलाता है। इस आन्दोलन का विशेष लाभ स्त्रियों को होता है क्योंकि इसके द्वारा घरेलू खर्चों में पर्याप्त मितव्ययता करने का उन्हें अवसर प्राप्त हो जाता है।

मध्यमवर्ग को उठाने के लिए अनेक प्रयत्न हुए थे, परन्तु जर्मनी में रोशडल के २८ बुनकरों ने जो प्रयत्न किया वह अत्यधिक सफल हुआ। ये रोशडल निवासी बड़े गरीब थे, परन्तु उनमें चार महान् गुण थे अर्थात् साहस, व्यापक-ज्ञान, धैर्य तथा प्रयत्न में विश्वास—ये चार गुण प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान थे। इन्हीं विशेषताओं के कारण मानव अपने प्रयत्नों में सफल होता है। अत सन् १८४४ में इन २८ बुनकरों ने २८ पौंड की पूँजी से एक भण्डार खोला। यद्यपि इसकी पूँजी अत्यन्त अल्प थी परन्तु उनमें साहस अपार था। पुन उन लोगों ने अपने धैर्य, दूरदर्शिता एवं मितव्ययता द्वारा आधुनिक उपभोक्ता-आन्दोलन में किस प्रकार सहायता पहुँचाई, यह अत्यन्त आनन्ददायक इतिहास है।

रोशडल निवासियों द्वारा प्रथम स्थापित भण्डार के सिद्धान्तों पर ही फिर कितने ही उपभोक्ता भंडार खोले गये। उन सिद्धान्तों में खुले आम सदस्यता, प्रजातन्त्रात्मक नियन्त्रण, बाजारू कीमतों पर नकद व्यापार, पूँजी पर उचित लाभांश आदि का वितरण इत्यादि सम्मिलित थे। खुलेआम सदस्यता, प्रजातन्त्रात्मक नियन्त्रण तथा लाभांशों पर प्रतिबन्ध ही समस्त सहकारी समितियों की स्थापना के मूल विचार हैं। नकद व्यापार बहुधा उधार माल बेचने के द्वारा होने वाली आपत्तियों से बचने के लिए अपनाया जाता है तथा बाजार की कीमत पर वस्तु बेचने से समिति को वह हानि नहीं उठानी पड़ती जो प्राय कीमत गिर जाने पर हुआ करती है। इसके साथ ही इससे इसके द्वारा समितियाँ कुछ धन भी संचय कर लेती हैं और यदि सम्भव होता है तो अपने सदस्यों को खरीद पर लाभांश भी वितरण कर देती हैं। ये लाभांश

बहुधा धन लगाने के पारतोषिक होते हैं तथा सदस्यता के लिये उत्कट लालसा पैदा करते हैं और पर्याप्त लाभ प्रदान करते हैं।

भारत में सहकारी साख आन्दोलन के समय से ही सहकारी भडार कितने ही स्थानों पर खोले गये थे। परन्तु प्रथम विश्व-युद्ध तक इनमे कोई उन्नति नहीं हुई। जब इनकी अत्यधिक आवश्यकता का अनुभव हुआ, तो इनकी महत्ता एव सख्या दोनों में पर्याप्त वृद्धि हुई। परन्तु वह सफलता भी अधिक स्थिर नहीं रही। इसके उपरान्त द्वितीय विश्व-युद्ध ने इन्हें पुन नवीन एव दृढ स्वरूप प्रदान किया। कुछ ग्रामीण भडार तथा समितियाँ भी सगठित की गई और केवल मद्रास प्रान्त में ही, जहाँ कि बड़ी दृढता के साथ यह आन्दोलन चला, लगभग ४०० ग्रामीण समितियाँ स्थापित हुई। आजकल भी यह आन्दोलन विशेषतया ग्रामों से ही सम्बन्ध रखता है। युद्धकाल में खाद्यवस्तु नियन्त्रण (Control of food stuff) तथा आर्थिक नियन्त्रणों (Economic control) के कारण इन अनेकों छोटे छोटे भडारों के सगठन की आवश्यक्ता हुई तथा नगरों और बड़े-बड़े ग्रामों में सरकार द्वारा सर्वसाधारण के लिये ये खोले गये। गत दो वर्षों या उससे भी अधिक से मध्यम तथा उच्च वर्ग के लोग भी इन्हीं सगठनों से वस्तुयें लेते हैं। ग्रामीण समितियाँ द्वारा प्राय अनाज, चीनी, कोयला, मक्खन, घी, कपड़ा आदि बेचे जाते हैं, परन्तु उनके पास वस्तुओं की मात्रा अत्यधिक होती है तथा वे दिन रात नित्य व्यवहारोपयोगी वस्तुओं तथा नियन्त्रित पदार्थों के लिए अनुज्ञा (License) प्राप्त विक्रेताओं की भी वृद्धि करती जा रही हैं। यद्यपि विगत अनियन्त्रण (Decontrol) योजना के कारण अब इस आन्दोलन में प्रगति नहीं दिखाई देती, परन्तु नियन्त्रण के पुन स्थापित होते ही इसके स्वरूप में वृद्धि होने की आशा है।

दूसरे देशों में उपभोक्ता सहकारी आन्दोलन ने निम्नलिखित मुख्य सुविधायें अपने ग्राहकों को दी हैं—(क) उपभोक्ताओं को कम मूल्य पर वस्तुयें बेचा है। इस तरह उन्हें लाभ प्रदान करते हुए उनके रहन सहन को भी उन्नत करने का प्रयत्न किया है तथा उन्हें पर्याप्त आर्थिक सहायता दी है।

(ख) उन्हें अच्छी एव गुणशाली वस्तुयें देने का प्रबन्ध किया है।

(ग) मितव्ययता की वृद्धि करते हुए उनमें पर्याप्त आर्थिक प्रतिभूतियों (Economic security) को भी बढ़ाया है।

(घ) उपभोक्ताओं के लिए बुद्धिमानी के साथ खरीदने, पारिवारिक बजट बनाने तथा सामान्य मितव्ययता की ओर ध्यान देने के लिए इन्होंने पर्याप्त कार्य किया है।

(ङ) उनके रहन सहन का सुधार करते हुए जनतन्त्रात्मक व्यवस्था से युक्त व्यापार के द्वारा उन्हें अच्छे नागरिक बनाने का प्रयत्न किया है।

(च) अपने सहकारी आन्दोलन द्वारा एकाधिकार (Monopoly) तथा अधिक लाभ लेने (Profiteering) की प्रवृत्ति का विरोध करके उन्हे रोका है।

सहकारी भण्डार आन्दोलन प्राय भारतवर्ष म अधिक सफल नहीं हुआ। केवल कुछ भण्डार ही यत्र-तत्र सफलता के साथ चले हैं। परन्तु इनका सफलता के लिए सर्वप्रथम स्थानीय परिस्थितियों का उपयुक्त होना आवश्यक होता है। जैसे यदि स्थानीय दुकानदार इनसे प्रतिस्पर्द्धा नहीं करते तो ये सफलता के साथ चल सकते हैं। दूसरे, इनकी सफलता कुछ विशेष सुविधाओं के मिलने पर निर्भर रहती है, जैसे यदि रेल का किराया माल ले जाने या लाने में कम लगता है अथवा भण्डार के लिये मकान बिना किराये के मिल जाते हैं, जैसा कि रेलवे के कर्मचारियों या कॉलेज क भण्डारों को मिल जाते हैं, तो इनकी उन्नति हो सकती है।

इनकी असफलता का प्रमुख कारण यह भी दिखाई देता है कि लोगों न इस आन्दोलन के आधारभूत सिद्धान्तों को नहीं अपनाया। ये भडार प्राय अपने ग्राहकों को अन्य दुकानदारों की अपेक्षा सस्त मूल्य पर वस्तुयें देते है। परन्तु तनिक सी भी असावधानी करने से अथवा उनसे अधिक मूल्य लेने पर इन भडारों के प्रति श्रद्धा तथा इन्हें उन्नत करन की भावना नष्ट हो जाती है। ये ही इनकी उन्नति के लिए मुख्य आधार होत हैं। इन भडारों के आन्दोलन का उद्देश्य ही यह है कि वह मध्यम वर्ग के लोगों की उन्नति करें तथा बाजार की पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करें, जिससे किसी विशेष वर्ग को ही लाभ न होकर समस्त उपभोक्ताओं को लाभ हो। इसी सिद्धान्त को लक्ष्य करके यूरुपीय देशों में बहुधा इन भडारों के सदस्य कभी कभी ऊँची कीमतें भी देने को तैयार हो जाते हैं क्योंकि ऐसा करने से अल्प कालीन आपत्ति दूर हो जाती है और पुन भडार की सेवा करने का सफल अवसर प्राप्त हो जाता है।

असफलता के दूसरे कारणों में प्राय साख पर बेचना तथा घर घर जाकर सदस्यों को भडार से माल लेने के लिये आग्रह करना है। इन्हीं बुराइयों के कारण जापान में ऐसे भडारों की संख्या अत्यन्त अल्प दिखाई देती है। वहाँ पर अन्य प्रकार की समितियों के सदस्या की सख्या तो लगभग १५,००० है, परन्तु भण्डारों क सदस्य १५० से अधिक नहीं मिलते। दूसरे, थोक और फुटकर मूल्यों में अत्यन्त अल्प अतर रहने से भी भण्डारों को असफलता मिलती है, क्योंकि उनके साधारण मूल्य प्राय अधिक ही रहत हे। तीसरे यदि इन भण्डारों के व्यवस्थापक (Manager) बेईमानी करत हैं तो भी इनकी उन्नति नहीं होती। परन्तु यह बात साख (Credit) सम्बन्धी अन्य आन्दोलनों की दुकानों में भी पाई जाती है। यह बात तो ध्यान देन योग्य है कि कोई भी व्यक्ति बेईमान नहीं होता, केवल परिस्थितियाँ उसे ऐसा करने के लिए बाध्य करती हैं। अत यदि उन व्यवस्थापकों की देखभाल के लिए समुचित प्रबन्ध

कर दिया जाय अथवा उन पर कड़ी दृष्टि रक्खी जाय तो फिर बेईमानी करने का अवसर नहीं मिल सकता।

विश्व भर की उपभोक्ता-समितियों की कार्य प्रणाली का परीक्षण करने पर यह निष्कर्ष निकला है कि इनकी असफलता के निम्नलिखित मुख्य कारण होते हैं :—

(१) यदि भण्डारों के कर्मचारियों में व्यापारिक शिक्षा, योग्यता एवं अनुभव का अभाव होता है तो भण्डार असफल रहते हैं ;

(२) यदि सदस्यों की आवश्यकताओं का सावधानी के साथ अध्ययन नहीं किया जाता तो असफलता मिलती है ;

(३) यदि विभिन्न प्रकार की रुचि रखने वाले सदस्यों की सीमित माँग होने पर भी उनकी अभीप्सित वस्तुओं का संग्रह अधिक मात्रा में कर लिया जाता है तो भी भण्डार असफल रहता है ;

(४) यदि भंडार के सदस्यों में भंडार के प्रति श्रद्धा एवं रुचि का अभाव रहता है, तो भी भंडार उन्नति नहीं कर पाते ;

(५) यदि साख पर वस्तु बेचने से अधिक ऋण हो जाता है, तो भी इन्हें असफलता मिलती है ;

(६) यदि थोक और फुटकर कीमतों में अत्यन्त अल्प-अंतर रखा जाता है तो भंडारों की उन्नति नहीं होती ;

(७) यदि भंडार रखने तथा उसके हिसाब की पद्धति दोषपूर्ण होती है तो इन्हें असफलता ही मिलती है ; तथा

(८) यदि वृहत्परिमाण में कार्य करने वाली पूँजी में अनुपात नहीं रहता, तो भंडारों को सफलता मिलना कठिन हो जाता है।

भारतवर्ष में इस आन्दोलन के असफल रहने के दो और प्रमुख कारण हैं। पहला कारण यह है कि भंडारों में अवैतनिक कार्य कराया जाता है, तथा दूसरा यह है कि इन भंडारों के पास योग्य कर्मचारी तथा कौशलपूर्ण व्यवस्था रखने के लिये पर्याप्त स्थान नहीं होता।

बहुधा सहकारी उपभोक्ता आन्दोलन स्वतन्त्र समितियों पर निर्भर रहता है जोकि प्रत्येक क्षेत्र में कार्य करती हैं। इस संगठन में मतभेद उसी समय हो सकता है, यदि प्रारम्भ में ही कुछ ऐसी स्वतन्त्र संस्थायें आ मिलें जो अपनी भी शाखायें रखती हों, तो उनके द्वारा भविष्य में असंगठन की भावना जाग्रत की जा सकती है। परन्तु इस पद्धति द्वारा अपने उद्देश्य की विशेष पूर्ति होती है। यही कारण है कि मद्रास प्रान्त ने इसे अत्यधिक मात्रा में अपनाया है। इसके साथ ही बम्बई जैसे प्रान्तों में जब तक अधिक-मात्रा के उद्योगों द्वारा दिये गये मितव्ययता आदि के लाभ का

उपयोग ये भंडार नहीं करते, तब तक वहाँ इनका सफल होना सर्वथा असम्भव-सा ही दिखाई देता है। इस तरह यह उपयुक्त दिखाई देता है कि उपभोक्ता सहकारी-आन्दोलन को सदैव प्रान्तीय समिति स्थापित करके प्रारम्भ करना चाहिए तथा उस समिति की शाखायें (Branches) स्थानीय सदस्यों एवं स्थानीय कमेटियों के सहित सभी उपयुक्त स्थानों पर होनी चाहिए।

जिन प्रान्तों में परिस्थितियाँ अनुकूल हों वहाँ पर रोशडेल (Rochdale) निवासियों के सिद्धान्त पर प्रत्येक बड़े गाँव तथा शहर में इन भंडारों को स्थापित करना चाहिए। प्रत्येक ५००० की आबादी के स्थान पर एक समिति का होना आवश्यक रहता है। उस समिति को कार्य करने के लिए कुछ अंश-पूँजी से तथा आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय सहकारी बैंकों (Central Co-operative Banks) से उधार रुपया ले लेना चाहिए। लगभग ५० ग्रामीण उपभोक्ता समितियों को सम्मिलित होकर एक केन्द्रीय समिति (Central Society) का निर्माण करना आवश्यक होता है, जिससे सभी समितियाँ सम्बन्धित रहती हैं तथा एक निश्चित संख्या में अंश भी खरीद सकती हैं।

जिन प्रान्तों की परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं कि जिससे वहाँ केन्द्रीय संगठन स्थापित होना पहले आवश्यक होता है, तो वहाँ सर्वप्रथम प्रान्तीय उपभोक्ता समिति स्थापित करनी चाहिए। उसे पहले प्रारम्भिक, केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय समितियों की भाँति कार्य करना चाहिए। फिर जैसे ही उसकी कार्यवाहियाँ स्थिर हो जाय, तुरन्त अन्य शहरों में ही उसकी शाखायें खोलना चाहिए। यदि नगरों या शहरों अथवा ग्रामों में स्थापित समितियाँ स्वतन्त्र कार्य करने लगें, तो उनकी संरक्षक संस्था को प्रत्येक समिति के लिए पोषकों (Patrons) को भाँति मनुष्यों के लिए स्थानीय शाखा खोल देना चाहिए। पुनः स्थानीय लोगों में जब उन शाखाओं के प्रति उत्कट रुचि उत्पन्न हो जाय, तो उन पोषक शाखाओं को भी स्वतन्त्र समिति के रूप में परिणत कर देना लाभकर होता है।

थोक-व्यापार (Wholesale Trade)

थोक-विक्रेता प्रायः ऐसा व्यापारी होता है जो पहले निर्माणकर्त्ताओं से अधिक मात्रा में वस्तुयें खरीद लेता है तथा फिर उन्हें फुटकर विक्रेताओं को थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बेचा करता है वास्तव में थोक-विक्रेता न तो निर्माता ही होता है और न फुटकर-विक्रेता होता है, वरन् दोनों के मध्य की कड़ी होता है। दूसरे यह भी कह सकते हैं कि वह उपभोक्ता एवं निर्माता के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मध्यस्थ की भाँति कार्य किया करता है। प्रायः वह एक ऐसा संग्रहकर्ता होता है जो अल्पकाल के लिए वस्तुयें निर्माताओं के यहाँ से लाकर फुटकर-विक्रेताओं को देने के लिए अपने यहाँ संग्रह किया करता है।

थोक-विक्रेता, जैसा कि ऊपर कहा गया है, उत्पादकों एवं फुटकर विक्रेताओं के मध्य की कड़ी होता है। अत वह दोनों व्यक्तियों के लिये पर्याप्त सेवायें प्रस्तुत करता है। सर्वप्रथम हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि वह निर्माताओं की किस प्रकार सहायता किया करता है।

अधिक मात्रा का उत्पादन तथा मूल्य की कमी साथ साथ चला करते हैं। थोक-विक्रेता बड़ी मात्रा में निर्माण करने वालों से बहुधा अधिक परिमाण में वस्तुयें मँगाया करता है। इस प्रकार वह अधिक मात्रा में उत्पादन होने की मितव्ययता का उपभोग किया करता है। यह थोक-विक्रेता अपना आदेश भेजकर हर प्रकार की वस्तुओं को अधिक मात्रा में निर्माण करने के लिए निर्माताओं की सहायता करता है। वह प्राय छोटे-छोटे फुटकर विक्रेताओं से वस्तुओं के प्रति आदेश प्राप्त करता रहता है, जब अधिक आदेश आ जाते हैं तो वह उन्हें श्रेणी-बद्ध कर लेता है। इसके उपरान्त किसी प्रसिद्ध निर्माता के यहाँ किसी एक वस्तु का बड़ा आदेश तथा दूसरी वस्तु में प्रसिद्ध निर्माता के यहाँ दूसरा बड़ा आदेश भेजकर उसकी सहायता करता रहता है। साधारणतया माँग के प्राप्त होने से पूर्व ही वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। परन्तु थोक विक्रेता स्वय पहले ही वस्तुओं का अच्छा संग्रह करके निर्माता को आवश्यक पूँजी की अपेक्षा थोड़ी पूँजी में ही उत्पादन-कार्य करने की सहायता प्रदान करता है, क्योंकि कभी कभी निर्माता लोग अधिक पूँजी कीमती मशीनरी आदि में लगाकर यदि फुटकर विक्रेताओं की माँग पर वस्तुओं का अच्छा संग्रह करके एव उसका धन उन्हें चुकाकर सहायता देता है, बिचारे फुटकर विक्रेता ऐसा नहीं कर पाते। बहुधा थोक विक्रेता बड़ी मात्रा में ही वस्तुयें मँगाने का आदेश निर्माताओं के यहाँ भेजा करते हैं, अत निर्माता लोग उनके आदेशों को एकत्रित करके अपने कार्य में लगे रहते हैं। इससे उन्हें किसी खास वस्तु में विशेषता प्राप्त करने का भी अवसर प्राप्त हो जाता है। अधिक मात्रा के आदेशों के कारण अधिक उत्पादन किया जाता है और अधिक उत्पादन से विशेषीकरण (Specialisation) की मनोवृत्ति जाग्रत होती है। प्राय थोक विक्रेता जनता की रुचि एवं स्वभाव तथा फैशन का अध्ययन करते रहते हैं और उसी के आधार पर निर्माताओं को वस्तुयें निर्माण करने के लिये सूचना दिया करते हैं। कभी-कभी फुटकर-विक्रेता थोक विक्रेताओं की अनुपस्थिति में निर्माताओं से कुछ सुविधा प्राप्त किया करते हैं और उन्हें ये सुविधायें वे लोग प्रदान करते हैं। प्राय निर्माताओं और थोक-विक्रेताओं के बीच में समस्त व्यापार नकद रोकड़ में होता है। इससे निर्माताओं को अनुपाततः कम पूँजी में ही अपना कार्य करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है। निर्मित वस्तुयें तो प्राय बिकने के लिये ही होती हैं। केवल जो निर्माता अपनी वस्तुयें बेचने का स्वय प्रबंध रखते हैं

उनको छोड़कर सभी अन्य निर्माताओं की वस्तुयें थोक विक्रेताओं द्वारा ही बेची जाती हैं। अत. निर्माताओं को वस्तु-निर्माण करने के अतिरिक्त कुशल विक्रेता होने की आवश्यकता नहीं होती।

थोक विक्रेता फुटकर व्यापारियों को निम्नलिखित सहायता एव सेवायें प्रदान किया करते हैं। फुटकर विक्रेताओं को इनके यहाँ से अनेक प्रकार की अनेक वस्तुओं के मँगाने की सुविधा होती है। यदि थोक विक्रेता न हों तो आवश्यकता के समय फुटकर-व्यापारियों को अनेक वस्तुओं के लिये अनेक स्थानों पर आदेश भेजने पड़ेंगे, जिससे न तो उन्हें वस्तुयें समय पर ही मिलेंगी और न ग्राहकों को सतुष्ट करने का अवसर ही प्राप्त होगा, क्योंकि विभिन्न निर्माताओं के यहाँ से वस्तुओं के आने में अधिक समय लगता है और इस कारण उन्हें अनावश्यक देरी तथा व्यय का सामना करना पड़ता है। फिर फुटकर-विक्रेता थोड़ी पूँजी में ही अपना काम चलाया करता है, इसलिए वह बिचारा विभिन्न वस्तुओं का संग्रह भी नहीं करता। परन्तु थोक विक्रेता वस्तुओं की पूर्ति के लिए एक सतत् गामी फुव्वारे की भाँति होता, जो निरन्तर वस्तुयें भेज सकता है। एक सफल फुटकर-विक्रेता का यह उद्देश्य होता है कि वह जल्दी से जल्दी अपनी संग्रहीत वस्तुओं को बेचे और एक समय में केवल उतना ही सग्रह करे जिससे उसके उपभोक्ताओं की माँग की पूर्ति हो जाय तथा उसके समाप्त होते ही फिर किसी चालू वस्तु को बेचने के लिए अपनी दुकान में ले आये। जब तक एक निर्माता अपने यहाँ पहले ही कुछ वस्तुओं का सग्रह नहीं रखता तब तक वह आदेश आते ही उसकी पूर्ति नहीं कर पाता। सबसे मुख्य बात यह है कि थोक-विक्रेता अपने फुटकर व्यापारियों को उधार माल देकर पर्याप्त आर्थिक सहायता भी प्रदान करता है। परन्तु एक निर्माता फुटकर व्यापारियों को यह सुविधा नहीं देता। प्राय: थोक-विक्रेता अपने फुटकर-विक्रेता को किसी खास वस्तु के बेचने में विशेषीकरण प्राप्त करने की भी सहायता दिया करता है। बाजार की समस्त कार्यवाहियाँ थोक विक्रेता द्वारा ही सम्पन्न होती हैं। अत विशेषीकरण दोनों के लिए आवश्यक होता है। एक फुटकर विक्रेता सस्ते थोक-विक्रेता से वस्तुयें लेता है और थोक-विक्रेता सदैव सस्ते एव अच्छे निर्माताओं से वस्तुयें मँगाया करता है। इस प्रकार एक फुटकर विक्रेता को केवल थोक-विक्रेता के अनुभव का ही लाभ नहीं होता, अपितु निर्माता के अनुभव का भी लाभ प्राप्त हो जाता है। बहुधा थोक-विक्रेता अपने फुटकर विक्रेताओं को बाजार में चलने वाली नई-नई वस्तुयें भी भेजा करते हैं। इसके साथ ही थोक-विक्रेता पूर्ति का नियन्त्रण रखने वाला होता है, अत वह माँग और पूर्ति में समानता स्थापित करने का भी प्रयत्न करता है। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि यही वह मनुष्य होता है जो मूल्य के घटने या बढ़ने के समय पूर्ति द्वारा मूल्य को साधारण स्थिति में लाने

का प्रयत्न करता है। इस तरह बाजारू कीमतें अपनी सामान्य दशा में रही आती हैं। इसके साथ ही पूर्ति पर नियन्त्रण रखने के कारण वह फुटकर-विक्रेताओं के खतरे को भी कम कर देता है।

इसके अतिरिक्त थोक विक्रेता सामान्य जनता को भी लाभान्वित करता है। बहुधा थोक विक्रेता के अभाव में फुटकर व्यापारी को वस्तुओं की पूर्ति रुचि के अनुसार करना बड़ा कठिन होता है। प्राय फुटकर व्यापारी जनता को ताजी, मौसम के अनुसार विल्कुल नई तथा विनाशशील वस्तुएँ (Perishable goods) बेचा करते हैं। निर्माताओं के विशिष्टता प्राप्त करने तथा अधिकमात्रा में निर्माण करने के कारण उत्पादन में भी कम व्यय होता है। इन सभी बातों का परिणाम यह होता है कि वस्तुओं की फुटकर कीमतें भी कम हो जाती हैं जिससे सर्वसाधारण को अत्यधिक लाभ होता है।

थोक विक्रेता का हटाना (Eliminating the Wholesaler)—प्राय मध्यस्थों के हटाने की प्रवृत्ति का मुख्य कारण यह है कि वे लोग व्यर्थ में ही बीच का लाभ प्राप्त किया करते हैं। अत मध्यस्थों के लाभ का उन्मूलन करने की दृष्टि से ही यह प्रवृत्ति चारों ओर दिखाई देती है। बहुधा यह देखने में आता है कि एक किसान अपने दूध या आलू के लिये जो मूल्य प्राप्त करता है, वही वस्तुएँ जब व्यापारी के द्वारा आवश्यकता के समय उसे खरीदनी पड़ती हैं तो उस मूल्य में अपने लिए हुए मूल्य से पर्याप्त अन्तर रहता है। यह अन्तर क्यों रहता है? इसका कारण यह है मध्यस्थ लोग व्यर्थ में उसका लाभ खाने की चेष्टा किया करते हैं और उत्पादन एवं उपभोक्ता के बीच जो विभिन्न कड़ियाँ रहती हैं उन सबका लाभ तथा व्यय एवं वेतन आदि देने के कारण वस्तु के मूल्य में निरन्तर वृद्धि होती जाती है जो उपभोक्ता के ऊपर एक प्रकार से भार के रूप में होती है। अत इस प्रवृत्ति का उन्मूलन होना ही लाभकर है।

पाठकों के हृदय में यह पढ़कर प्रश्न उठेगा कि "थोक विक्रय पद्धति का यहाँ क्या आवश्यकता है?" आजकल इस कड़ी को तोड़ने के लिये बलपूर्वक प्रयत्न चल रहा है। सर्वप्रथम, यातायात के शीघ्र साधनों, राष्ट्रीय समाचार-पत्रों के विज्ञापनों, डाकघर की बीमियों द्वारा दी गई सुविधाओं के कारण निर्माताओं का सम्बन्ध साथ उपभोक्ताओं से स्थापित होता चला जारहा है। दूसरे, बहुविक्रयशालाओं (Multiple shops) तथा वैभागिक भंडारों (Departmental stores) की वृद्धि के कारण निर्माताओं से सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया है और थोक विक्रेताओं पर पर्याप्त नियन्त्रण होता जारहा है। तीसरे, निर्माता लोग भी अपनी वस्तुओं के बेचने के लिए अपनी दुकानें खोलने लगे हैं। चौथे, प्रसिद्ध वस्तुओं के विज्ञापन द्वारा फुटकर विक्रेताओं को वस्तुओं का संग्रह करने के लिये सीधे निर्माताओं से ही सम्बन्ध

रखना पर्याप्त होता है। पाँचवें, सहकारिता आन्दोलन थोक विक्रेताओं से पूर्णतः स्वतन्त्र होकर कार्य कर रहा है। इन सभी कारणों से थोक-विक्रेताओं के उन्मूलन की प्रवृत्ति जाग्रत हो रही है, परन्तु फिर भी ये लोग जीवित हैं। इनके जीवित रहने के क्या कारण हैं?

इसका उत्तर यही है कि थोक-विक्रेता को किसी प्रकार भी नष्ट करना असम्भव है, क्योंकि उसके कार्यों का विस्तार एक फुटकर-विक्रेता या निर्माता से कहीं अधिक होता है। आधुनिक परिस्थितियों में समस्त फुटकर व्यापारियों या समस्त निर्माताओं के लिये सामूहिक सगठित रूप में भी यह सम्भव नहीं कि वे थोक विक्रेता का कार्य कर सकें और ये दोनों कठिनाई से ही वस्तुओं को बेचने में थोक विक्रेता की अपेक्षा लाभ उठा सकते हैं। इसके साथ ही वस्तुओं की पूर्ति के अभाव में होने वाले मूल्य परिवर्तन का सामना करना न निर्माता के लिए ही सम्भव है और न फुटकर व्यापारी ही उसके लिए तैयार हो सकता है।

थोक व्यापारी के कार्य इसी कारण अत्यन्त महत्त्वशाली होते हैं। सर्वप्रथम वे निर्माता की तान्त्रिक समस्याओं (Technical problems) तथा फुटकर व्यापार की व्यापारिक एव मनोवैज्ञानिक समस्याओं से सर्वथा भिन्न होते हैं। ये थोक विक्रेता निस्सन्देह पार्टियों को पर्याप्त विशेषता प्राप्त करने का सुअवसर प्रदान करते हैं तथा निर्माण करने और फुटकर माल बेचने में भी अत्यधिक सहायता देते हैं। इसके साथ ही माँग से पूर्व वस्तु निर्माण करने की निर्माताओं की त्रुटि को भी पर्याप्त मात्रा में कम कर देते हैं।

अत चाहे थोक विक्रेताओं के उन्मूलन से लाभ ही क्यों न दिखाई दे, परन्तु इनका हटाना किसी प्रकार भी वाञ्छनीय नहीं प्रतीत होता, क्योंकि विनाशशील वस्तुओं के निमित्त निर्माता तथा फुटकर-विक्रेता दोनों के लिए थोक विक्रेता का रहना अत्यावश्यक होता है। परन्तु बड़ी-बड़ी फर्मों के लिये यह सम्भवत एक अनावश्यक कड़ा हो सकता है।

व्यापार-स्थान (Site and Location)—चूँकि थोक विक्रेता का व्यवहार सर्वाधिक फुटकर विक्रेताओं से रहता है। अत फुटकर व्यापारियों की अपनी व्यापार गृह का महत्त्व इसके लिए विशेष नहीं होता। इतना अवश्य है कि उसे व्यापार-स्थान चुनते समय यह अनिवार्य रूप से देखना चाहिए कि वहाँ पर फुटकर विक्रेताओं की पहुँच सुगमता से हो तथा वस्तुओं के संग्रह करने की भी अच्छी सुविधा हो, जिससे माल का आदान-प्रदान सुगमता से हो सके। वास्तव में, थोक-व्यापार के लिए शहर के व्यापार केन्द्र में स्थान होना चाहिए। एक फुटकर व्यापारी के लिए पूर्ण सुसज्जित भवन की आवश्यकता होती है क्योंकि उसे सभी तरह के लोगों को आकर्षित करना पड़ता है। परन्तु एक थोक-व्यापारी का व्यवहार केवल फुटकर

व्यापारियों से ही रहता है, अतः उसे इन समस्त आकर्षणों एवं सजावटों की आवश्यकता नहीं रहती।

क्रय-पद्धति (Purchase Policy) :—वस्तुओं के क्रय करने के निमित्त अत्यधिक देखभाल की आवश्यक होती है। यह तो निश्चित ही है कि शीघ्र या देर में वस्तुयें खरीदनी ही पड़ती हैं, अतः उनके खरीदने के लिए यथोचित धन संग्रह करने की ओर भी ध्यान देना चाहिए। अधिक वस्तु न खरीदी जाय इससे बेचने के लिए सदैव अपने भंडार की निगरानी रखनी चाहिए। प्रायः माँग से अधिक वस्तुयें खरीदना ठीक नहीं होता। अतः वस्तुओं का क्रम सतत् बनाये रखने के लिए अधिक-संग्रह करने से बचना चाहिए। समय-समय पर निश्चित अवधि में भंडार की वस्तुओं की गणना भी करते रहना चाहिए। इससे केवल अधिक संग्रह में ही लाभ नहीं होता, वरन् भंडार में कौन सी वस्तु समाप्त हो गई है इसकी भी जानकारी प्राप्त हो जाती है। बहुधा व्यापार में वस्तु समाप्त हो जाने पर यह कहना "कल आ रही है" या अन्य किसी प्रकार से क्षमा याचना करना अधिक हानिकर होता है, इसलिए इसके समाप्त होने से पूर्व ही भंडार में मँगा लेना अधिक लाभदायक होता है। किसी एक मौसम में अधिक बिकने वाली वस्तुओं को उस समय के आने से पूर्व ही आदेश भेजकर मँगा लेना चाहिए। उसके लिए गत मौसम का विवरण जानना अनिवार्य होता है, जिससे उतनी ही मात्रा में वस्तु मँगाने के कारण अधिक-संग्रह की भूल नहीं होती। इसके लिए प्राचीन बीजकों या आदेशों की बाह्य पुस्तक (Orders Outward Book) का देखना भी लाभप्रद होता है। यदि उचित ढँग से या सावधानी के साथ वस्तुओं का क्रय नहीं किया जाता तो अधिक-संग्रह (Overstocking) हो जाता है जिससे सकल लाभ (Gross profit) में भी कमी हो जाती है। इससे पूँजी भी व्यर्थ में घिर जाती है और इसके साथ ही व्यापार की साख तथा प्रतिष्ठा में भी शिथिलता आ जाती है।

वस्तुओं की प्राप्ति तथा संग्रह (Receipt and storage of goods) — प्रायः एक व्यापारी के वस्तु खरीदना, प्राप्त करना, संग्रह करना, दिखाना तथा बेचना आदि कार्य होते हैं। अतः वस्तुओं के लाने के लिए अत्यधिक सावधानी के साथ कार्य करना चाहिए, क्योंकि वस्तुओं के लाने में भी पर्याप्त व्यय होता है। वस्तुओं के आजाने पर उनका पूर्णतः परीक्षण करना चाहिए। वस्तु-प्राप्ति की वही पद्धति अच्छी होती है जिससे भंडार में आने वाली वस्तु अच्छी स्थिति में है, उसकी संख्या ठीक है तथा रेल आदि का भाड़ा भी ठीक है—इन सभी बातों का पता सुगमता से चल जाय।

बीजकों (Invoices) को लेखा-विभाग (Accounts department) में भेजने से पूर्व उसमें लिखी हुई वस्तुओं की संख्या, गुण, मूल्य आदि का पूर्णतः निरीक्षण करना चाहिए। अन्त में, आदेश भेजने वाले खरीददार को बीजक का निरीक्षण करके उसकी

क्रमबद्धता के लिए अपने हस्ताक्षर करने चाहिए। यही तान्त्रिक दृष्टि से "बीजक भेजना" कहलाता है। तदुपरान्त वह बीजक लेखा-विभाग में भेज दिया जाता है, जहाँ पर उसकी आवश्यक प्रविष्टियाँ (Entries) की जाती हैं। अन्त में वह बीजक बीजक-फाइल में क्रम-सख्या से नत्थी कर दिया जाता है, जिससे किसी भी समय यदि कुछ मिलान करने की आवश्यकता हो तो सुगमता से किया जा सके।

वस्तु प्राप्त होने के उपरान्त उन्हें भडार म एक क्रम से रखना चाहिए। यदि एक थोक विक्रेता फुटकर-विक्रेता भी होता है, तो उसके भण्डार में माल की पेटियाँ आदि पड़ी रहती हैं और दुकान म समस्त आया हुआ माल रखा जाता है। वहाँ भडार तथा दुकान मे तहखाना आदि ऐसे स्थान होते हैं जहाँ सभी प्रकार की अवशिष्ट वस्तुयें डाल दी जाती हैं। आये हुए माल को इस प्रकार भडार में रखना चाहिए जिससे वह खराब न हो तथा पहले आया हुआ माल पहले ग्राहक के पास भेजना चाहिए अर्थात् नये स्टॉक में पहले पुराने स्टॉक को खाली करते रहना चाहिए। इसीलिए यह कहा जाता है कि नियम-बद्धता ईश्वरीय सर्वप्रथम नियम है।

विक्रय-सगठन (Sales Organisation) —प्राय थोक विक्रेता अपने ग्राहकों से दो प्रकार सम्बन्ध स्थापित करते हैं—एक तो प्रत्यक्ष व्यवहार द्वारा तथा दूसरे अप्रत्यक्ष रूप से मध्यस्थों द्वारा। मध्यस्थ का कार्य करने के लिए विभाग व्यवस्थापक रखे जाते हैं। वे लोग अपने अपने विभागों के क्रय नियन्त्रण के अतिरिक्त विभाग की वस्तुओं को लाभ सहित बेचने के भी जिम्मेवार होते हैं। इन्हें इसी कारण वस्तुओं का मूल्य विचारपूर्वक निश्चित करना पड़ता है। बहुधा इनका वेतन आदि भी केवल बिक्री पर निर्भर नहीं होता, वरन् कुल-लाभ में से दिया जाता है। कारण यह है, यदि बिक्री पर ही वेतन दिया जायेगा तो ये लोग लाभ की ओर ध्यान न देकर कम मूल्य पर भी बिक्री कर सकते हैं। इन पर पूरा पूरा नियन्त्रण रखने के लिए इनसे निश्चित अवधि पर बिक्री का हिसाब लेते रहना चाहिए।

यद्यपि दुकान तथा खिड़की आदि की सजावट फुटकर-विक्रेता की भाँति थोक विक्रेता के लिये महत्त्वशाली नहीं होती, परन्तु दुकान के अन्दर कार्य करने वाले थोक विक्रेता के लिये सुसज्जित दुकान या दर्शनीय कमरे की आवश्यकता रहती है क्योंकि वहीं आकर प्राय फुटकर व्यापारी वस्तुओं का निरीक्षण करते हैं और निरीक्षण करके ही पुन उन्हें खरीदने के लिये तैयार होते हैं। वहाँ पर वे बहुधा समय समय पर आते रहते हैं तथा वहीं वस्तु देखकर आदेश भी दे जाते हैं। इसलिए फुटकर व्यापारियों के बैठने तथा ठहरने आदि की भी सुविधा रखनी चाहिए।

बाहरी व्यापार के लिए थोक विक्रेता प्राय अपने प्रचारकों, तथा भ्रमणकर्त्ताओं (Travellers) पर निर्भर रहते हैं। प्रत्येक भ्रमणकर्त्ता को एक-एक जिला या प्रान्त का कुछ भाग प्रचार करने के लिए निश्चित कर दिया जाता है।

वह वहाँ जाकर लोगों को वस्तुये लेने के लिये लालायित करते हैं। इस तरह एक भ्रमणकर्त्ता का कार्य भी आसान नहीं होता। उसका प्रमुख कार्य केवल बिक्री बढ़ाने के लिये लोगों के हृदय में लालसा उत्पन्न करना ही नहीं होता अपितु सन्तुष्ट ग्राहकों का निर्माण करना भी होता है। उसका मार्ग अनेक आपत्तियों एवं अड़चनों से युक्त होता है। वह वस्तुओं को अच्छी तरह दिखाकर, नमूना या फैशन के बदलने का आश्वासन देकर तथा भली प्रकार वस्तुओं का विज्ञापन करके वस्तुओं की माँग बढ़ाता हुआ ग्राहकों की सेवा करता है। वह स्थायी ग्राहकों से अपना सम्बन्ध स्थापित करता हुआ पुराने एवं छूटे हुए (Dead) ग्राहकों से भी अपना व्यवहार पुनः स्थापित करने का प्रयत्न करता है। ये ग्राहक बहुधा साधारण सी बातों पर विक्रेता के ध्यान न देने के कारण छूट जाते हैं। अतः वह पुनः ध्यान देता हुआ उनको अपनाने की कोशिश करता है। वैसे तो उसका कार्य पूर्णतः नवीन ग्राहक बनाने का होता है।

थोक व्यापार का विज्ञापन (Wholesale Advertising)—प्रत्येक व्यापारी का उद्देश्य अपने व्यापार की वृद्धि करना होता है। इसके लिये सर्वश्रेष्ठ उपाय भ्रमणकर्त्ताओं का नियुक्त करना है, क्योंकि इनके द्वारा पर्याप्त मात्रा में बिक्री बढ़ने की सम्भावना रहती है तथा ये ग्राहकों को सब प्रकार से सन्तुष्ट करके आदेश भेजने के लिए प्रेरित करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त थोक-विक्रेता प्रायः अपने व्यवसाय की वृद्धि के लिए विज्ञापन का भी आश्रय लेते हैं। ये विज्ञापन बहुधा प्रमुख समाचार पत्रों, सरक्यूलरों, सूचीपत्रों तथा पोस्टरों या मूल्य पुस्तकों आदि के द्वारा किये जाते हैं। निश्चित अवधि के उपरान्त या थोड़ा थोड़ा समय देकर इन विज्ञापनों के निकालने से भ्रमणकर्त्ताओं को भी ग्राहकों के समीप जाने में सहायता मिल जाती है। सरक्यूलर प्रायः वैयक्तिक पत्रों की भाँति तैयार किये जाते हैं। उसके लिए कुछ अधिक डाक व्यय आदि भी खर्च करते रहना चाहिए। बड़ी-बड़ी व्यापारिक दुकानों में एक प्रचार विभाग (Publicity Department) रहता है जोकि मूल्य पुस्तकें, सूचीपत्र, विज्ञापन पत्र आदि तैयार करता रहता है। थोक-व्यापार के लिये साधारणतः कुछ चुने हुए समाचार पत्रों में ही विज्ञापन दिये जाते हैं, यदि सभी पत्रों में विज्ञापन दिये जायँ तो व्यर्थ में ही अधिक व्यय हो जाता है।

'चिह्नित वस्तुयें' (Branded goods)—बहुधा दुकानदार विज्ञापन करने से पूर्व अपनी वस्तुओं के लिए किसी चिह्न या चित्र को रजिस्टर्ड करा लेते हैं, फिर उस चिह्न या चित्र में अंकित वस्तुयें उनकी ही कहलाती हैं। यह चित्र या चिह्न ही व्यापार चिह्न (Trade Mark) कहलाता है। उसके द्वारा जनता को यह पता चल जाता है कि अमुक वस्तुयें अमुक निर्माता या व्यापारी की हैं। इस चिह्न का यह लाभ होता है कि यदि कोई वस्तु जनता को अत्यन्त प्रिय होती है तो उस चिह्न द्वारा अत्यधिक माँग बढ़ जाती है। निर्माता प्रायः उपभोक्ताओं के हित को ध्यान में रख

कर ही वस्तुओं का मूल्य निर्धारित किया करते हैं। इसी कारण अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये वे वस्तुओं के गुण नहीं घटने देते। यदि एक बार जनता में विश्वास पैदा हो जाता है तो फिर व्यापारियों को अपनी वस्तुयें बेचने में कम खर्च होता है, क्योंकि लोग केवल व्यापार चिह्न देखकर ही वस्तु खरीद लेते हैं और फिर उनके पास बार-बार भ्रमणकर्त्ताओं के भेजने की आवश्यकता नहीं रहती। कभी-कभी थोक-विक्रेता को इसके द्वारा हानि भी हो जाती है, परन्तु अधिकतर इन व्यापार चिह्नों से फुटकर तथा थोक दोनों प्रकार के व्यापारियों को लाभ होता है। फुटकर व्यापारी को तो लगभग माँग का पूर्ण विश्वास हो जाता है। यहाँ तक कि वस्तुओं का भी प्रमाणीकरण (Standardisation) हो जाता है। इससे फुटकर व्यापारी को केवल यही हानि होती है कि उसे व्यापार चिह्न वाली वस्तु निश्चित मूल्य पर ही बेचनी पड़ती है और वह उसी प्रकार की दूसरी वस्तु फिर नहीं बेच सकता है।

शिकायतें (Complaints) :—क्या ग्राहक जो कुछ कहा करते हैं वह सदैव यथार्थ होता है? सम्भवतः कुछ लोग "हाँ" कह सकते हैं तथा दूसरे इसके विपरीत धारणा भी रख सकते हैं। जो लोग उनकी यथार्थता में विश्वास रखते हैं वे संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं :

"केवल ग्राहक ही किसी वस्तु की चाहना तथा उसके उपयोग के बारे में निश्चित रूप से जानता है। यदि कोई ग्राहक किसी वस्तु की कीमत बहुत अधिक बतलाता है या उसी प्रकार की वस्तु दूसरे स्थान पर कम कीमत में मिल सकती है तो उसे यथार्थ मानना चाहिए। यदि साधारण रूप से ग्राहक के कथनानुसार कीमत की जाँच की जाय तथा दूसरे प्रतिस्पर्द्धा करने वाले व्यापारी के लिए हुये मूल्य का भी भिन्नता के रूप में पता लगा लिया जाय तो यह व्यापार के लिए अत्यधिक लाभप्रद हो सकता है। जब कभी खरीदी हुई वस्तु के गुण या उसके स्थायित्व (Durability) के विषय में कोई ग्राहक शिकायत करता है तो वह निश्चित रूप से यथार्थ या सत्य होता है। इसके लिए निर्माताओं को दोष देना व्यर्थ है, यह दोष तो केवल दुकानदारों या व्यापारियों का है जो ऐसी वस्तुओं को बेचा करते हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि दुकानदार या व्यापारी उस वस्तु के दाम लौटा देता है तो यह उसके विश्वास एवं प्रतिष्ठा के लिए अत्यन्त लाभकर सिद्ध होता है।"

कोई भी प्रतिपक्षी वास्तव में अपने विरोधी को आँखों के सामने देख नहीं सकता। अतः 'नहीं' कहने वाले व्यक्ति इस प्रकार कह सकते हैं :—

"अधिकांश ग्राहक वस्तुओं के बारे में उतना नहीं जानते जितना कि विशेषज्ञ व्यापारी जानते हैं। अतः ग्राहकों द्वारा की गई समस्त आलोचना उनकी अज्ञानता पर निर्भर रहती है। जब अधिक कीमत की वस्तु उन्हें दिखाई जाती है, तो उसी समय कम कीमत वाली भी उपस्थित की जाती है। ग्राहकों द्वारा कीमत सम्बन्धी की

हुई शिकायत प्रायः त्रुटिपूर्ण होती है, क्योंकि कीमत का अन्तर बहुधा वस्तु के गुणों के अन्तर के कारण होता है। इसी कारण सस्ते मूल्य पर खरीदने वाले मनुष्यों को सस्ती वस्तुयें दिखाई जाती हैं। यदि वस्तु के गुण एवं स्थायित्व सम्बन्धी ग्राहकों की शिकायत उनके अनुचित चुनाव के कारण होती है तो उन्हें अधिक मूल्यवाली गुणवान वस्तुयें बता देनी चाहिए।"

यदि ग्राहक किसी प्रकार की शिकायत करता है तो बड़े बड़े व्यापारी उसकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते। उन्हें सदैव नम्रता के साथ तुरन्त ग्राहक को उत्तर देना चाहिए तथा उस प्रकार की त्रुटि भविष्य में न होने के लिए आश्वासन दिलाना चाहिए। यदि उस ग्राहक को किसी अन्य वस्तु द्वारा उसकी क्षतिपूर्ति करदी जाती है तो यह अधिक अच्छा होता है। व्यापारी को तो ग्राहक को सन्तुष्ट रखते हुए उस छोड़ने की अपेक्षा बनाये रखना चाहिए। संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं कि ग्राहकों को सन्तुष्ट रखना किसी व्यापारी का सबसे श्रेष्ठ विज्ञापन है। यदि सन्तुष्ट करने में व्यापारी को कुछ हानि भी उठानी पड़ती है तो उससे भविष्य के लिये स्थायी ग्राहकों का निर्माण भी हो जाता है और उसे असीम लाभ प्राप्त होने का सुअवसर प्राप्त होता रहता है।

साख तथा एकत्रीकरण पर नियन्त्रण (Control of Credit and Collection)—बहुधा थोक-व्यापार में दो कारणों से साख पर बिक्री अधिक की जाती है। सर्वप्रथम कारण तो यह है कि थोक व्यापार में प्रायः समस्त आदेश (Order) अधिक परिमाण में वस्तु मँगाने के लिये दिये जाते हैं और दूसरे बहुधा उनके आदेश विभिन्न विभागों से सम्बन्धित रहते हैं। यदि नक्द रोकड़ के आधार पर बिक्री की जाती है, तो खरीददार को रुपये चुकाने का निर्धारण करने से पूर्व रसीद तथा बीजक के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इस प्रकार समय की बचत हो जाती है। ग्राहक-लोग प्रायः थोक विक्रेताओं से अधिक मात्रा में वस्तयें खरीदा करते हैं। यदि सभी ग्राहक रुपये देने के लिए लम्बी अवधि निश्चित कर जायें तो इसमें समय तथा मजदूरी दोनों का व्यर्थ अपव्यय होता है। इसलिए एक थोक-विक्रेता के लिए यह आवश्यक होता है कि उसे नियत समय पर ग्राहकों के लेखाओं (Accounts) को देखकर एकसाथ भुगतान करने के लिए आग्रह करते रहना चाहिए। इसके साथ ही साख पर माल देने से पूर्व थोक-विक्रेता को फुटकर विक्रेता से यह निश्चित कर लेना चाहिए कि वह किस अवधि तक भुगतान करेगा। यदि वह नियत समय पर भुगतान कर देता है तो थोक विक्रेता को कुछ रोकड़ की छूट (Cash-discount) भी देनी चाहिए।

साधारणतया साख पर या उधार माल देने के लिए दो बातों का ध्यान रखना अत्यावश्यक होता है। एक तो यह कि जिस ग्राहक को साख पर माल दिया

जाता है, उसके विषय में यह पता लगाना चाहिए कि वह साख का दुरुपयोग तो नहीं कर रहा है तथा दूसरे जो समय उसने निश्चित किया है उससे वह इधर उधर तो नहीं जाता अर्थात् भुगतान यथा समय तो करता है। इन बातों के लिए प्रत्येक माह के अन्त में ऐसे साख वाले व्यक्तियों का हिसाब छाँट कर तैयार कर लेना चाहिए।

नये ग्राहकों की जाँच-पड़ताल करने के लिए दूसरी बात यह है कि थोक विक्रेता को सर्वप्रथम अपने मित्र व्यापारी को, जो उसी नगर में रहता हो उस ग्राहक के बारे में जानकारी करने के लिए लिखना चाहिए। यही सम्भवतः सरल और श्रेष्ठ उपाय है। दूसरे, अपने सम्भाव्य ग्राहक से दो ऐसे व्यक्तियों का नाम और पूछ लेना चाहिए जो उसी के नगर में रहते हों और जिनसे उसके बारे में पूरी जानकारी मिल सके। यही उपाय बहुधा प्रयोग में लाया जाता है। तीसरे, उस संभाव्य ग्राहक का परिचय अधिकोषियों (Bankers) से करा देना चाहिए। चौथे, यदि वह ग्राहक किसी व्यापारिक समिति (Trade Association) का सदस्य है तो उससे भी उसके बारे में जानकारी प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार की पूछताछ केवल समिति के सदस्यों तक ही सीमित रहती है, अन्य लोगों के बारे में इस उपाय से कोई लाभ नहीं होता। पाँचवें, उद्योग धंधों में उन्नतशील देशों के अन्दर कुछ ऐसी संस्थायें भी होती हैं जो इस प्रकार की साख सम्बन्धी सूचनायें कुछ पारिश्रमिक लेकर दिया करती हैं। ये प्रायः सूचना-संस्था (Information Bureaus) कहलाती हैं। अतः उनसे भी ऐसे ग्राहकों की साख के बारे में जानकारी हो सकती है।

प्रायः साख का कार्य साख-विभाग किया करता है। यदि उसकी अनुमति बिना किसी ग्राहक का साख लेखा नहीं खोला जाता, तो यह अत्यन्त कौशल-पूर्ण पद्धति कहलाती है। किसी भी ग्राहक का साख लेखा खोलने से पूर्व यह देखना चाहिए कि वह अधिकृत सीमाओं के अन्दर ही खोला जा रहा है अथवा नहीं। इससे साख सुविधायें देते हुए उसका उल्लेख करने में लिपिक (Clerk) को भी बड़ी सहायता मिलती है। प्रत्येक साख वाले ग्राहक के लेखा के ऊपर रुपये तथा समय की सीमा का स्पष्ट उल्लेख कर देना चाहिए।

इस प्रकार की व्यवस्था प्रायः अत्यन्त लाभकर होती है कि प्रत्येक लेखा-लिपिक (Ledger Clerk) अपने अधिकारियों को साख का समय बीत जाने पर उस ग्राहक की सूचना दे। जैसे ही वह निश्चित अवधि समाप्त हो जाय तुरन्त एक लिखित आवेदन पत्र भुगतान के लिए ग्राहक के पास भेजना चाहिए। यदि बार-बार निवेदन करने पर भी भुगतान न करे तो कुछ वैधानिक कार्यवाही करना भी आवश्यक होता है।

रोकड़ पर नियन्त्रण (Control of Cash) :—किसी भी व्यापारी को रोकड़ सम्बन्धी अव्यवस्था को रोकने के लिए कोषाध्यक्ष आदि पर निम्नलिखित प्रतिबन्ध लगाने चाहिए :—

कोषाध्यक्ष को लेखा-पुस्तकों (Ledgers) या हिसाब की प्रमुख पुस्तकों के देखने पर प्रतिबन्ध रहना चाहिए। समस्त पत्र किसी जिम्मेवार अधिकारी को ही खोलने चाहिए तथा चैक या पोस्टल आर्डर्स को प्राप्त होते ही रेखाङ्कित कर देना चाहिए और उनपर "अव्यवहार्य" (Not Negotiable) शब्द लिख देना चाहिए। इसके साथ ही लिपिक (Clerk) को किसी मामूली रोकड़-पुस्तक (Rough Cash Book) या रोकड़-रोजनामचे (Cash Diary) में उन्हें लिख लेना चाहिए तथा उन पुस्तकों में भली प्रकार निरीक्षण करके लिपिक तथा उस अधिकारी को हस्ताक्षर करना चाहिए। तदुपरान्त वह प्राप्त हुई राशि कोषाध्यक्ष के पास भेज देनी चाहिए जोकि उसे प्राप्त करते ही रसीद या प्राप्ति की प्रतिलिपियाँ तैयार करता है और उन पर किसी जिम्मेवार अधिकारी के हस्ताक्षर कराकर ग्राहकों को भेजा करता है। प्रयोग में न आने वाली रसीद पुस्तकों को सावधानी के साथ ताले में बन्द रखना चाहिए। कोषाध्यक्ष को रोकड़-पुस्तक में सभी प्रविष्टियाँ (Entries) रसीद पुस्तक से करनी चाहिए तथा प्रतिदिन प्राप्त होने वाली समस्त राशि को अधिकोष पुस्तक में चढ़ाकर अधिकोष या बैंक में भेज देनी चाहिए। प्रत्येक बिक्री के लिखने तथा निरीक्षण करने के लिए व्यवस्थित पद्धति का उपयोग करना उचित होता है, यदि भ्रमणकर्त्ताओं (Travellers) को उधार रुपया वसूल करने के लिए भेजा जाता है तो उनकी अच्छी तरह निगरानी रखनी चाहिए। छोटे-छोटे भुगतानों को छोड़कर सभी भुगतान रेखाङ्कित धनादेशों (Crossed Cheques) द्वारा करने चाहिए। ऋणदाताओं (Creditors) से प्राप्त हुए समस्त बीजकों तथा विवरणों पर निरीक्षकों द्वारा निरीक्षण होने पर उनके हस्ताक्षर होने चाहिए। प्रत्येक भुगतान के लिए धनादेश (Cheque) आने से पूर्व उसे किसी जिम्मेवार अधिकारी के पास भेजना चाहिए और उसे अपने हस्ताक्षर करने से पहले यह देखना चाहिए कि भुगतान ठीक तथा उपयुक्त किया गया है। वेतन आदि के देने में भी उपयुक्त एवं व्यवस्थित पद्धति का प्रयोग आवश्यक होता है। भुगतान करने के लिए साक्षी पत्रों (Vouchers) को रोकड़-पुस्तक (Cash Book) से मिलाना चाहिए तथा उनपर उचित क्रम-संख्या डालकर नत्थी करना चाहिए। बचत पुस्तक (Pass-Book) को भी रोकड़-पुस्तक से समय-समय पर परीक्षण करके मिलान करना चाहिए। इसके साथ ही समय-समय पर हस्तस्थ रोकड़-राशि ((Balance of cash in hand) को भी किसी जिम्मेवार अधिकारी द्वारा गणना करते रहना चाहिए।

व्यय का नियन्त्रण (Control of Expenditure) :—किसी व्यापार

को सफलतापूर्वक चलाने के लिए प्रयायों (Returns) का निर्माण तथा खरीद बिक्री, भंडार, व्यय इत्यादि सम्बधी तालिकाओं एवं यथार्थ विवरणों (Tables and statistics) का हिसाब रखना अत्यावश्यक होता है। तालिकायें (Tables) या सारिणियाँ प्राय चित्रों तथा रेखाओं (Diagrams and graphs) द्वारा भी बनाई जा सकती हैं। इसी तरह किसी प्रकार चित्र द्वारा यथार्थ विवरण (Statistics) उपस्थित करना सारिणी के रूप में बनाने से कहीं अधिक आकर्षक होता है। बड़े बड़े व्यापारों में प्रयाय तथा वृत्तलेखों (Returns and reports) की पद्धति द्वारा बजट-नियंत्रण या वैज्ञानिक आर्थिक प्रबंध (Budgetary control or Scientific financial management) अच्छी प्रकार सगठित होता है। इसके द्वारा सब प्रकार के व्यापारिक तथा औद्योगिक कार्यों में प्रामाणिकता स्थापित होती है तथा इससे यह भी निश्चित रूप से पता चल जाता है कि व्यापार के समस्त कार्य सभी विभागों में समुचित रूप से चल रहे हैं। इसीलिए सभी विभागों के प्रमुखों को अपने कार्य की ठीक ठीक सूचना देने के लिए बाध्य होना पड़ता है। बजट सम्बन्धी नियंत्रण (Budgetary control) स्थापित करने के लिये सर्व प्रथम यह आवश्यक होता है कि एक निश्चित अवधि अर्थात् १ वर्ष आदि को बिक्री के विस्तार का अनुमान लगाया जाय। इस प्रकार की भविष्यवाणी के लिए बाजार की परिस्थिति के अनुसार समस्त बातों की पूर्ण व्याख्या का होना आवश्यक होता है तथा इसके द्वारा कितनी ही ध्यान में न आने वाली समस्यायें भी खड़ी हो सकती हैं। इसके बाद बिक्री के विस्तार के आधार पर ही प्रत्येक विभाग के व्यय एवं कार्यक्रम का निश्चय किया जा सकता है। उसमें विज्ञापन का व्यय भी जोड़ा जा सकता है तथा खरीद एवं उत्पादन के व्यय का भी उल्लेख किया जा सकता है। इसके साथ ही किराया, दर तथा कर एवं कार्यालय आदि में होने वाले व्यय को भी जोड़ लेना चाहिए। इस प्रकार समस्त व्यय का अनुमान लगाकर यह पता चलाया जा सकता है कि व्यापार में कहाँ तक खर्च पूरा हो सकता है तथा कहाँ तक वस्तुओं का कीमतें घटायी जा सकती हैं। बजट सम्बन्धी नियंत्रण यहीं समाप्त नहीं हो जाता। इसके लिए निश्चित अवधि में प्रयायों (Returns) का निर्माण करना आवश्यक होता है जिनमें अनुमानित चिट्ठे से वास्तविक परिणाम को अच्छी तरह मिलाया जा सकता है तथा इन प्रयायों को बजट सम्बन्धी नियन्त्रणकर्ता (Budgetary controller) के यहाँ उपस्थित करना चाहिए। ये नियंत्रणकर्त्ता बहुधा लेखापाल (Accountant) होते हैं। इस प्रकार बजट सम्बन्धी नियंत्रण के लिये क्रय (Purchases), विक्रय (Sales), भण्डारों, पुराने ऋणों (Book debts) तथा प्रबन्धकर्त्ताओं के पास सामयिक विवरणों (Periodical statements) के भेजने सम्बन्धी नियन्त्रण की सर्व प्रथम आवश्यकता होती है। इसके उपरान्त ही व्यय एवं बजट सम्बन्धी नियंत्रण सम्पन्न होता है।

निर्माण-संस्था (Manufacturing Businesses)

बहुत कम वस्तुयें ऐसी हैं जोकि मानुषिक उपभोग के लिये उपयुक्त रूप में प्रकृति से प्राप्त की जा सकें। कुछ एक खाद्य-पदार्थों को छोड़कर अन्य समस्त कच्चे पदार्थों को खुदरा बाजार में पहुँचने से पहिले किसी निर्माण विधि में से होकर गुजरना पड़ता है। निर्माण संस्थायें काष्ठ (Timber) को कुर्सियों में परिवर्तित करने वाले छोटे कारखानों से लेकर बड़े-बड़े जहाज बनाने के कारखानों तक कई प्रकार की होती हैं। परन्तु उन सबका काम वर्तमान पदार्थों को मनुष्य-जाति के लिये अधिक लाभदायक बनाने के लिये उनका आकार बदलना ही है।

सामान्यतया निर्माणशाला (Factory) का संगठन दो भागों में बाँटा जा सकता है (क) व्यापारिक पक्ष और (ख) प्रौद्योगिक (Technical) पक्ष। प्रौद्योगिक पक्ष का काम कच्चे पदार्थों से माल तैयार करना है। व्यापारिक पक्ष का काम कच्चा माल खरीदना और तैयार माल का वितरण करना है। यह व्यापार सम्बन्धी क्रय-विक्रय के समस्त कार्य करता है। व्यापारिक पक्ष में एक विक्रय-व्यवस्थापक, उसके अधीन बहुत से विक्रेता एवम् यात्री और समस्त पदार्थों व आगार-भाण्ड (Stores) के लिये एक उत्तरदायी क्रेता होता है। इस पक्ष में रोकड़िये, हिसाबनवीस (Accountant), सचिव विभाग (Secretarial department), बीजक-विभाग आदि भी होते हैं। उन सबके कार्यों का वर्णन किया जा चुका है।

प्रौद्योगिक पक्ष

प्रौद्योगिक पक्ष में बहुत से निर्माण-विभाग होते हैं जिनका आपस में बहुत निकट सम्बन्ध होता है। प्रत्येक विभाग का एक अध्यक्ष या अधिशासी अधिकारी (Executive head) होता है जो कर्माध्यक्ष (Works manager) के प्रति उत्तरदायी होता है और स्वयम् कर्माध्यक्ष प्रौद्योगिक संचालक के प्रति उत्तरदायी होता है। कर्माध्यक्ष के अधीन काम करने वाले अधिशासियों में एक कर्मान्त इञ्जीनियर (Works engineer), एक उत्पादन-व्यवस्थापक, एक योजना बनाने वाला (Planner), एक उन्नति व्यवस्थापक (Progress Manager), एक भण्डारी आदि हो सकते हैं। कर्मान्त इञ्जीनियर समस्त प्लांट, यन्त्र और शक्ति की देखभाल के लिये जिम्मेदार होता है, उत्पादन-व्यवस्थापक वास्तविक उत्पादन और निर्माण विधियों के लिये उत्तरदायी होता है; योजना बनाने वाला निर्माणशाला के अभिन्यास (Lay-out) और कर्मों की सामान्य योजना का निरीक्षण खुद करता है, छोटे व्यवसायों में यह कार्य उत्पादन-व्यवस्थापक ही कर लेता है; उन्नति-व्यवस्थापक यह देखता है कि उत्पादन-व्यवस्थापक या योजना बनाने वाले की योजनाओं को कार्यरूप में लाया जा रहा है और कार्य को एक विधि से दूसरी विधि में जाने में अनावश्यक विलम्ब तो नहीं होता है; और भण्डारी की स्थिति बदलती रहती है। कुछ एक निर्माणशालाओं में भण्डारी अधि-

कारी हो सकता है जबकि दूसरी जगह उसको तुच्छ स्थान मिले। वह समस्त आगार-भाण्ड (Stores) का प्रभारी होता है।

इसके अतिरिक्त कर्माध्यक्ष के अधीन एक ड्राइङ्ग-कार्यालय भी होगा, जिसका प्रधान मुख्य-प्रारूपकार (*Chief draughtsman*) होता है। इस कार्यालय में समस्त कार्य के लिये रचनायें और योजनायें बनायी जाती हैं और निर्माण विधियों के लिये उत्तरदायी व्यक्तियों के पथ-प्रदर्शन के लिये निर्गमित करदी जाती हैं। कर्माध्यक्ष के अधीन दूसरा **लागत या अनुमान विभाग** होगा जहाँ सञ्चालकवर्ग और कर्माध्यक्ष की सूचना के लिये प्रत्येक विधि और अन्तिम उत्पादन की लागत परिशुद्धरूपेण मालूम की जाती है।

स्थान का चुनाव (Selection of the Site)

निर्माणशाला के लिये उपयुक्त स्थान चुनना बहुत ज्यादा महत्व का विषय है, क्योंकि इसमें गलती होने पर व्यापार को बहुत धक्का लगता है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बातें निम्नलिखित हैं:—

(१) **शक्ति का सस्ता प्राप्ति-स्थान**:—निर्माण-शाला सामान्यतया किसी कोयला-क्षेत्र या जल-शक्ति के समीप होनी चाहिये। आजकल बिजली सप्लाई की वृद्धि के साथ साथ कारखानों का स्थानीयकरण भी कम हो रहा है क्योंकि बिजली समस्त देश में प्राप्त हो सकती है।

(२) **यातायात की सुविधा**:—भारी माल के यातायात की लागत बहुत ज्यादा होती है, इसलिये निर्माणशाला को जहाँ तक हो सके कच्चे माल के प्राप्ति-स्थान के निकट स्थापित करना चाहिये। लेकिन निर्मित माल को बाहर भेजने के लिये भी उपयुक्त सुविधायें होनी चाहियें।

(३) **विस्तार की सम्भावना**:—व्यापार के विस्तार के लिये कुछ अतिरिक्त भूमि भी रहनी चाहिये।

(४) **क्रय की सुविधायें**—कच्चा माल समीप से ही मिल जाना चाहिये जिससे कि वह सस्ती दर पर प्राप्त किया जा सके और गाड़ी-किराया भी कम लगे। यातायात की सुविधायें बढ़ जाने के कारण यह सुविधा अधिक महत्त्व की नहीं रही है।

(५) **श्रम की पूर्ति**:—योग्य श्रम की पर्याप्त पूर्ति भी समीप से ही हो जानी चाहिये या घरों या बसों द्वारा श्रमिकों को कर्मशाला के समीप पहुँचाने का साधन होना चाहिये।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर निर्माण-शाला के लिये चुना हुआ स्थान कस्बा, नगर, प्रान्त या देहात में से कोई एक हो सकता है। उन प्रत्येक के अपने-अपने विशेष लाभ व हानियाँ हैं।

शहरी स्थान:—शहरी स्थानों के लाभ बाजार की समीपता, मरम्मत व साख सुविधायें (उदाहरणार्थ बैंक) और श्रम की उपयुक्त पूर्ति हैं। उनकी हानियाँ उच्च

किराया व स्थानीय कर और अनुचित उपनियम हैं। इसलिये छोटे व्यापारों के लिये शहरी स्थान अधिक उपयुक्त होते हैं। पर वस्त्रोद्योग में तो बड़ी से बड़ी मिल भी बड़े शहरों में स्थित हैं क्योंकि इस उद्योग में श्रम विशेष महत्वपूर्ण होता है।

नगर प्रान्तीय स्थान (Suburban sites) —इनके लाभ ये हैं कि भूमि मूल्य और स्थानीय-कर अधिक नहीं होते ; और श्रमिकों का किराया और निर्वाह व्यय कम होते हैं। इनकी मुख्य हानि हैं—क्रय और विक्रय के लिये बाजार से अधिक दूरी। नगर प्रान्तीय स्थान छोटी संस्थाओं के लिये या कच्चे माल के प्राप्ति स्थानों के समीप बसी हुई विशाल-संस्थाओं के लिये अनुकूल हैं।

देहाती स्थान —इसके लाभ हैं सस्ती भूमि, अल्प स्थानीयकर, विस्तार के लिये स्थान, और आयन्त्रण उपनियमों (Restrictive by-laws) की कमी। उनसे कई एक हानियाँ भी हैं जैसे कुशलश्रम प्राप्त करना कठिन है, मरम्मत खुद संस्था को करनी होता है और वे क्रय एवम् विक्रय सुविधाओं से कुछ दूर हैं। इसलिये देहाती स्थान बड़ी संस्थाओं के लिये अधिक उपयुक्त होते हैं क्योंकि वे अपने खुद के कार्य-कर्त्ता बुला सकती हैं, अपनी मरम्मतों के लिये कर्मचारी वर्ग रख सकती हैं और किसी शहर या शहरों में कार्यालय खोल सकती हैं। यातायात के सस्ता होने के साथ-साथ विशाल निर्माण संस्थायें भी न्यून लागत का लाभ उठाने के लिये नगरों से देहातों की ओर जा रही हैं।

निर्माणशाला योजना (Factory Planning) —पिछली अर्द्ध शताब्दी मे निर्माण शाला योजना का विचार पूर्णतया बदल गया है। संसार ने उद्योगों के विकेन्द्रीकरण की संभावनायें व लाभों को समझ लिया है। इसलिये आजकल निर्माण शालायें नगरों के केन्द्र को छोड़कर सस्ते स्वास्थ्यवर्धक व मनोहर स्थानों में स्थापित हो रही हैं।

श्री केडबरी की बौर्नविले (Bournville) कर्मशाला इसका एक उदाहरण है। आज की बोर्नविले को निर्माणशाला नहीं कहा जा सकता, यह निर्माणशालाओं कर्मशालाओं और कई अन्य चीजों का एक झुण्ड है। जार्ज केडबरी ने प्रारम्भ से ही अपनी खरीदी हुई भूमि की एक ऐसी योजना बनायी जिससे कि उसकी प्राकृतिक सुन्दरता बनी रह सके। उसने उस सुन्दरता को बढाने के लिये पेड़ और झाड़ियाँ लगायीं, घास के मैदान और वनस्थली (Woodland) बनायी और बहुत सा भाग कर्मशाला के कर्मचारियों के मनोरंजन के लिये छोड़ दिया। १८९५ में उसने बौर्नविले एस्टेट् की स्थापना की और ग्राम की सुन्दरता को बढाने के लिये मनोहर बौर्न स्ट्रीम के दोनों ओर तीन सौ एकड़ भूमि छोड़ी। अब उस स्थान पर ग्राम हैं जो करीब एक हजार एकड़ में फैले हुये हैं और उनकी जनसंख्या पाँच हजार से भी अधिक है।

सौन्दर्य के साथ-साथ वैज्ञानिक योजना का भी महत्व है। वैज्ञानिक योजना के अन्तर्गत प्रत्येक विधि का प्रबन्ध इस ढंग से किया जाता है कि अधिकतम कुशलता प्राप्त

होसके ; उत्पत्ति को "कम से कम पथ" तय करना पड़े । अत्यधिक उपयुक्त यन्त्र निर्माणशाला के लिये सर्वश्रेष्ठ कार्यकर्त्ता, कर्मशाला के लिये अत्यधिक उपयुक्त अभिन्यास (lay-out) और भवनों की अत्यधिक सुविधापूर्ण बनावट का प्रबन्ध किया जाता है। सूक्ष्मत प्रत्येक विधि और प्रत्येक क्रिया की ऐसी वैज्ञानिक योजना बनानी चाहिये कि वह अपना कार्य कुशलतापूर्वक कर सके और आवश्यकता पड़ने पर उसमें परिवर्तन भी हो सके।

भवन (Buildings)

निर्माणकर्त्ता के द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले भवन का नाप और आकार, भवन में स्थापित की जाने वाली विधियों की संख्या और उन विधियों के लिये आवश्यक प्लाट के नाप और आकार पर निर्भर रहता है। यह निश्चय कर लेना चाहिये कि (क) वर्तमान सामग्री के बहुविभागी स्टोर, (ख) पूर्ण माल, और सम्भाव्य विस्तार के लिये प्रत्येक विभाग में कितना स्थान आवश्यक है।

भवनों के सम्बन्ध में भी कई समस्यायें खड़ी हो जाती हैं। वे एक मंजिले होने चाहिये या एक से अधिक मंजिले ? निर्माण, बिजली, रोशनदान और उष्णता का अत्यधिक उपयुक्त नमूना कौनसा है ? इस पुस्तक में उनका केवल सामान्य वर्णन दिया जा रहा है। एक मंजिले भवन में अधिक मैदान की आवश्यकता होती है, लेकिन इसका बनाना सस्ता होता है, इसमें उदग्र (Vertical) ढुलाई नहीं होती, और इसमें छत का प्रकाश भी प्राप्त किया जा सकता है। एक से अधिक मंजिले भवनों में मैदान की बचत हो जाती है। शहरों में भूमि अधिक मूल्यवान होने के कारण यह विषय अधिक महत्व का है। ऐसे भवनों में उदग्र ढुलाई की हानि को दूर करने के लिये कच्ची सामग्री सीधी ऊपरी मंजिल पर ले जायी जा सकती है और इससे निर्मित पदार्थों को भारवाहकों (Gravity conveyer) द्वारा नीचे की मंजिल में लाया जा सकता है।

कर्मशाला व्यवस्थापन और अभिन्यास
(Works accommodation and lay out)

निर्माणशाला या कर्मशाला का स्थापन व्यापार की प्रकृति के अनुसार बदलना चाहिये, लेकिन आदर्श अभिन्यास वही है जहाँ "दुकानों" का प्रबन्ध इस प्रकार है कि विभिन्न विधियों से गुजरने वाली सामग्री प्रत्येक दुकान से दूसरी संलग्न (Adjacent) दुकान में अटूट मार्ग से होती हुई पहुँच जावे। सबसे सरल योजना यही है कि सामग्री प्रारम्भ से लेकर अन्त तक जहाँ तक हो सके सीधे मार्ग में होकर गुजरे ; परन्तु ऐसी योजना में अभिन्यास इस प्रकार का होगा जिसमें प्रवेश व निर्गम द्वार आपस में कुछ दूर होंगे। इसलिये निर्माणशाला का व्यवस्थापन अश्व खुर (Horse-shoe) आकार में करना ज्यादा अच्छा रहता है। इसमें प्रवेश व निर्गम द्वार (Entrance and exit) एक

दूसरे के समीप होते हैं। अभिन्यास के उद्देश्य से निर्माण उद्योगों को दो प्रमुख श्रेणियों में बाँटा जा सकता है : (क) संतत उद्योग और (ख) एकत्रित उद्योग।

सतत उद्योग (Continuous industry) वह है जिसमें कच्चे माल से वस्तुयें निर्माण करने में एक-एक विधि की सम्पूर्ण सामग्री पर पूरा कर लिया जाता है, अर्थात्, वहाँ पर उत्पादन के विभिन्न भागों का अलग-अलग निर्माण नहीं होता। ऐसे उद्योगों के दो उपविभाग हैं : (क) साश्लेषिक (Synthetical) उद्योग, और (ख) वैश्लेषिक (Analytical) उद्योग।

साश्लेषिक उद्योग वे हैं जो कच्ची सामग्री से वस्तुओं का निर्माण (Manufacture) करते हैं, उदाहरणार्थ : वस्त्र और स्पात उद्योग। इस प्रकार के उद्योगों में कच्ची सामग्री एक विधि से दूसरी विधि में अबाध्य रूप में गुजरती है। अभिन्यास के विभिन्न विभागों में जाने के लिए संतत मार्ग होना चाहिये।

वैश्लेषिक उद्योग वे हैं जहाँ कच्ची सामग्री से विभिन्न पदार्थ निकाले जाते हैं जैसे चीनी, आटा, और मास-भरण उद्योग। इन उद्योगों के भवनों को कई मंजिलें बनाना एक नियम सा है क्योंकि एक विधि से दूसरी विधि में सामग्री ले जाने के लिये आकृष्टि (Gravity) का प्रयोग किया जा सकता है।

एकत्रित उद्योग (Assembling Industries) : एकत्रित उद्योग वे हैं जिनमें अन्तिम उत्पादन के भिन्न भिन्न भाग पहले अलग-अलग तैयार कर लिये जाते हैं, उदाहरणार्थ : मोटर और जूते बनाने वाले उद्योग। इन उद्योगों में अभिन्यास का प्रबन्ध इस प्रकार का होना चाहिये कि जब भिन्न-भिन्न भागों (Parts) को एक-दूसरे से जोड़ने के लिये किन्हीं जगहों में पहुँचाया जावे तो उन्हें कम से कम फासला तय करना पड़े।

यातायात (Transport)

किसी भी विशाल उत्पादक फर्म के लिये यातायात की समस्या सबसे मुख्य समस्याओं में से एक है, क्योंकि इस पर ही आवश्यक कच्ची सामग्री और ईंधन का संग्रह, इस सामग्री को निर्माण शाला के विभिन्न विभागों में होते हुये निर्माण की भिन्न-भिन्न विधियों में ले जाना, और तैयार किये हुए माल का खुदरा व्यापारियों में अन्तिम वितरण निर्भर है। सस्ते और कुशल यातायात पर उत्पादन का वेग और उपभोक्ताओं के लिये माल का अन्तिम मूल्य बहुत बड़ी सीमा तक निर्भर रहता है। इसीलिये यह देखा गया है कि निर्माणशाला प्रमुख रेलवे लाइन, नहर या नौस्थात्र (dock) के पास ही स्थित होती है। सड़क यातायात की उन्नति के साथ-साथ बहुत सी विशाल निर्माणशालायें प्रमुख सड़कों के समीप स्थापित की गई हैं।

आभ्यंतर (Internal) यातायात सुविधायें विशेष महत्व की हैं। बौर्नविले में इन सुविधाओं का प्रबंध प्रशंसनीय है। निर्माणशाला के भीतर और चारों ओर यातायात की तीन मुख्य पद्धतियों और कई सहायक पद्धतियाँ हैं। मुख्य पद्धतियों में रेल, नहर

और सड़क पर चलने वाली लॉरी है। प्रत्येक के अपने-अपने नौस्थात्र (docks) हैं और उनके पार्श्वकों का प्रबंध इस प्रकार किया हुआ है जिससे कि माल भरने और उतारने में कम से कम विलम्ब हो। ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि माल और सामग्री जिस स्थान पर प्रयोग की जाने वाली है उस स्थान के बिल्कुल निकट ही उतारी जावें, और प्लांट के केन्द्र के जितने समीप हो सके वहाँ भरी जावें जिससे कि विभिन्न तैयार की हुई वस्तुयें गोदाम में लाई जा सकें और पैकिंग व प्रेषण (despatch) विभागों से कम से कम समय, श्रम और आगम के खर्च से ही भरी जा सकें।

अगर गाड़ियों और लॉरियों के कारण नौस्थात्रों (docks) और पार्श्वक से होकर जाने वाले वाहनों (vehicles) का फैलाव सम नहीं होगा तो पूर्णरूप से रचित आभ्यन्तरिक यातायात की सुविधायें भी छिन्न भिन्न हो जायँगी। अगर आमद और फरोख्त अव्यवस्थित होंगे तो यातायात विभाग में कभी तो इतनी धूम रहेगी कि कार्य सुचारु रूप से नहीं हो सकेगा और कभी इतना शून्य रहेगा कि मनुष्य और सामग्री (Equipment) दोनों निरुद्योगी रहेंगे। ऐसी अव्यवस्था को रोकने के लिये यातायात नियन्त्रण कार्यालय निर्माणशाला की ओर जाने वाले समस्त माल की सूचना रखता है। वह किसी भी कम्पनी के नौस्थात्रों या पार्श्वकों पर माल लादने वाली या उतारने वाली वैगनों, भारवाहक नावों और लॉरियों के सम्पूर्ण रिकार्ड रखता है और उसी प्रकार के रिकार्ड वर्त्तमान और भावी फरोख्तों (despatches) का रखता है। क्रय, स्टोर्स और यातायात विभागों की व यातायात व फरोख्त विभागों की सम्पूर्ण सहकारिता इस दृढ फैलाव को सम्भव बनाती है।

उत्पादन योजना (*Production Planning*)

इस योजना में निर्माण की प्रत्येक विधि की योजना सम्मिलित है जिससे कि व्यय कम हो और कुशलता बढ़े। योजना विभाग को किए जाने वाले कार्य के प्रत्येक टुकड़े या लिये गये प्रत्येक ठेके का सम्पूर्ण ब्यौरा दे दिया जाता है और फिर उसका कार्य होता है निम्नलिखित उद्देश्यों सहित कार्यों की योजना का प्रबन्ध करना —

(क) यह निश्चय करना कि कार्य दुकानों से अविलम्ब गुजरता है।

(ख) यह मालूम करना कि माल का डिलीवरी कब दी जा सकती है, और यह देखना कि वादे को पूरा भी किया जाता है।

(ग) उत्पादन को ऐसी व्यवस्था करना कि प्राप्त साधनों से अधिकतम उत्पत्ति की जा सके।

(घ) कर्मकारों के निरर्थक समय या अत्यन्त अधिक समय को टालना।

(ङ) व्यापार के व्यापारिक और औद्योगिक पक्षों का एकीकरण करना।

प्रत्येक कार्य को विचार में लाना चाहिये जिससे कि कार्यकर्ता यह जान जावे कि किस सामग्री और औजारों की आवश्यकता है, और उसे क्या करना है। यह

देख लेना चाहिये कि प्रथम श्रेणी के मनुष्य को तृतीय श्रेणी का कार्य तो नहीं दिया गया है क्योंकि इससे उच्च कुशलता का ह्रास होता है और यह भी देख लेना चाहिये कि कार्यकर्त्ता को अनावश्यक रूप में फिरना—जैसे कार्यालय में जाना, वापस काम पर आना और फिर भंडारों में जाना न पड़े। इस प्रकार के निरर्थक प्रयासों से मुक्ति प्राप्त करने के लिये सामग्रियों का स्टोर एक अकुशल श्रमिक द्वारा कार्यकर्त्ता के पास पहुँचा दिया जाता है।

उन्नति विभाग (Progress Department)

अगर योजना को कुशलतापूर्वक कार्यरूप में परिणत नहीं किया जाता है तो अत्यधिक सपूर्ण योजना भी निरर्थक है। उन्नति विभाग का कर्त्तव्य है कृत्यक कार्ड (Job Card), सामग्री चार्ट आदि तैयार करना और यह देखना कि योजक (Planner) की समस्त आवश्यकतायें पूरी की जा रही हैं। उन्नति विभाग को किसी भी समय कार्य के किसी कृत्यक की वास्तविक स्थिति सम्बन्धी सलाह लेने और कहीं पर विलम्ब हो जाने पर उपाय काम में लेने के योग्य भी होना चाहिये।

कच्ची सामग्री (Raw material)

उत्पादक अपनी कच्ची सामग्री भिन्न भिन्न प्राप्ति स्थानों से और ससार के समस्त भागों से प्राप्त करते हैं। कभी कभी वे अपनी कच्ची सामग्री स्वय उत्पन्न करते हैं और बाहर भेजते हैं। कभी वे कच्ची सामग्री किसी एजेंट या दलाल के मार्फत प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि आजकल विशाल फर्म के क्रेता के लिये दूर तक सफर करना और अपनी सामग्री वास्तविक उत्पत्ति स्थान पर ही खरीदना सामान्य सा होगया है।

कर्मशाला पर आजाने के पश्चात् कच्ची सामग्री स्टोर नियत्रक के नियन्त्रण में ले ली जाती है। उसका कर्त्तव्य यह देखना है कि विभिन्न विधियों में वह आवश्यकता के समय पहुँच गई है। उसको ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि प्रत्येक वस्तु, प्राप्ति और निर्गमन दोनों के लिये, अत्यन्त उपयुक्त स्थान पर इकट्ठी करली जाय और उसको निश्चय कर लेना चाहिये कि प्रत्येक वस्तु का स्टॉक इतना कम नहीं होगा कि उत्पादन में विलम्ब हो और न इतना अधिक ही होगा कि जिससे लाभ उपार्जन करने वाली पूँजी के ताला लग जाय या निरर्थक रूप में जगह को घेरे रहे।

स्टोर्स के अभिन्यास का प्रबन्ध करते समय, उसे माल की प्राप्ति और जाँच के लिये प्रवेश योग्य स्थान नियुक्त कर देना चाहिये। उसका सग्रह भी जहाँ तक हो सके उस स्थान के निकट होना चाहिये जहाँ उसका प्रयोग होने वाला है। इस सम्बन्ध में स्टोर्स नियत्रक को चाहिये कि वह क्रय-विभाग, योजना-विभाग और सभवतया लागत हिसाब-नवीस (Cost Accountant) से भी पूर्व विचार-विमर्श करले।

व्यापारिक पक्ष (Commercial side)

निर्माण व्यवसाय के व्यापारिक पक्ष का व्यवस्थापन किसी भी व्यापारिक सस्था

के व्यवस्थापन के बहुत कुछ सदृश् होता है। उसमें सामान्यतया एक विक्रय-विभाग, एक क्रय-विभाग, एक विज्ञापन-विभाग, एक कर्मचारी-वर्ग विभाग, एक लेखा-विभाग आदि होते हैं। उनका वर्णन व्यापारिक संस्थाओं के व्यवस्थापन वाले अध्याय में कर दिया गया है और यहाँ पर निर्माण-संस्थाओं के विशेष हित के केवल कुछ विषयों का दिग्दर्शन करना आवश्यक है।

विक्रय-नीति (Sales Policy)

निर्माण-व्यवसाय की विक्रय-नीति व्यापार के स्वरूप के अनुसार परिवर्तनशील है। निर्माण के कई वर्गों में, उदाहरणार्थ : जहाज-निर्माण में माल निश्चित आदेशों के अनुसार बनाया जाता है; लेकिन अधिकतर अवस्थाओं में, उदाहरणार्थ : साइकिल या साबुन या बिस्कुट-निर्माण कारखानों में माल पहले से तैयार कर लिया जाता है। पिछली अवस्थाओं में माल फरोख्त करने का काम विक्रय विभाग का होता है।

किसी सुव्यवस्थित संस्था में विक्रय-नीति मुख्य अधिशासक द्वारा वैज्ञानिक ढंग से निर्धारित की जाती है। अधिशासक लागत और अर्थशास्त्र विभागों (जिनका काम अधिकतम लाभ उपार्जन करने वाली विक्रय की रकम मालूम करना है) द्वारा बताये हुए अंकों, क्रय-विभाग की कच्ची सामग्री की बाजार सम्बन्धी अवस्थाओं की रिपोर्टों, और विक्रय-विभाग की विक्रय क्षेत्र सम्बन्धी अवस्थाओं की रिपोर्टों के सावधानीपूर्ण विश्लेषण और विचार के पश्चात् नीति निर्धारित करता है। विक्रय-नीति के अन्तिम रूप से निर्धारित होने के पश्चात् ही विक्रय-विभाग संचालकगणों या प्रबन्धकों की इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये उपयुक्त स्पर्द्धा की योजना बनाने के अधिकारी होंगे।

विपणन (Marketing)

उत्पादक अपना माल देशी या विदेशी बाजारों के लिये उत्पन्न करता है। देशी उपभोग के लिये उत्पन्न करने वाला उत्पादक अपने माल को फरोख्त करने को विभिन्न पद्धतियाँ अपना सकता है; वह सीधा उपभोक्ताओं को, सीधा खुदरा व्यापारियों को, या थोक व्यापारियों के मार्फत खुदरा व्यापारियों को माल बेच सकता है। उसका चुनाव विशेषकर उसके माल के स्वरूप पर निर्भर रहेगा।

अगर माल 'विशेषता' माल वाली श्रेणी का हो तो बहुधा माला सीधा उपभोक्ताओं को ही बेचा जाता है। ऐसे माल में 'उद्योग' की आवश्यकता होती है: उनके लिये बाजार मौजूद नहीं होता, लेकिन वह मनुष्यों के समक्ष उसके लाभ उपस्थित करके बनाया जाता है। प्रत्यक्ष विक्रय की बढ़ती हुई प्रवृत्ति का वर्णन इसी पुस्तक में अन्यत्र किया गया है।

बेतार के तारों और साइकिलों, मुरब्बे, चाय आदि के प्रख्यात प्रोप्राइटरी ब्रांडों आदि का विज्ञापन उत्पादक के द्वारा ही किया जाता है। इन वस्तुओं के

होने के कारण खुदरा व्यापारी उनकी विश्वस्त माँग का अनुमान लगा सकता है और फलतः उत्पादक बहुत-सी वस्तुयें सीधे खुदरा व्यापारियों को ही बेचता है। कई एक वस्तुओं, उदाहरणार्थ. कपड़ा के लिये यह नीति हानिकारक है और इसलिये उत्पादक के लिये थोक-व्यापारी की सेवाओं का प्रयोग करना ही अधिक लाभप्रद होता है।

उत्पादक के लिये थोक या खुदरा व्यापारियों के पास पहुँचने की मुख्य पद्धतियाँ निम्न हैं —

(क) विज्ञापन के द्वारा ;

(ख) घूमते-फिरते विक्रय करने वाले मनुष्यों द्वारा व्यक्तिगत याचना के द्वारा, और

(ग) शाखाओं और एजेन्टों की मार्फत।

अपने माल के विज्ञापन के द्वारा उत्पादक दुकानों में उनके लिये माँग उत्पन्न करता है। अगर खुदरा व्यापारी इस माँग को भुला देता है तो वह अपने भावी ग्राहकों को खो देता है क्योंकि वे और दूसरी जगह चले जावेंगे। इस तरह से उत्पादक अपने माल के लिये माँग उत्पन्न करके दुकानों को अपने से माल खरीदने के लिये बाध्य करता है और दुकानदार को उसके विक्रय बढ़ाने में सहायता देता है।

फिर जिन जिलों में उसके माल की थोक माँग अधिक हो, वहाँ उत्पादक अपना खुद का विक्रय कर्मचारी वर्ग रख सकता है या अपने माल को फरोख्त करने के लिये विक्रय एजेण्ट रख सकता है। इस नीति से लाभ यह है कि कर्मचारी-वर्ग या एजेण्ट उसके माल की बिक्री बढ़ाने का भरसक प्रयत्न करते हैं, क्रेता के लिये उस स्थान पर एक ऐसा आदमी रहता है जिसे वह अपनी आवश्यकतायें बता सकता है या शिकायत कर सकता है, और आदेश का प्रत्येक सम्भव अवसर प्रयोग में लाया जाता है। वैसे तो यह प्रबन्ध केवल विशाल व्यवसाय के लिये ही है, और विशाल व्यवसाय में भी कुछ क्षेत्र ऐसे होते हैं जहाँ माँग इतनी अधिक नहीं होती और जहाँ अन्य पद्धत्तियाँ अपनानी पड़ती हैं।

सम्भवत उपभोक्ता या क्रेता के पास तक पहुँचने की सबसे साधारण पद्धति उन घूमने-फिरने वाले मध्यस्थों की है जो उत्पादक के नौकर होते हैं और वेतन प्राप्त करते हैं। वे जिले के समस्त ग्राहकों में चक्कर लगाते हैं और माल के ऑर्डर प्राप्त करते हैं। वे पड़ौस के दूसरे व्यापारियों के पास भी पहुँचते हैं जोकि उनके ग्राहक नहीं हैं। उनका उद्देश्य उनको ग्राहक बनाना होता है। विक्रय को बढ़ाने के लालच स्वरूप उन्हें उनके वेतन के अतिरिक्त विक्रय पर कुछ कमीशन भी दिया जाता है।

अब रह गई एजेण्ट के मार्फत विक्रय करने की पद्धति। वह एजेण्ट चाहे तो केवल एक उत्पादक का कार्य कर सकता है, लेकिन सामान्यतया वह कई एक उत्पादकों का प्रतिनिधि होता है। उसके पास उसका अपना कार्यालय और कर्मचारी-वर्ग होता है

और उसे साधारणतौर से कमीशन के तौर पर वेतन दिया जाता है। यद्यपि कई एक अवस्थाओं में वह उसके लिये खरीद व बिक्री-प्रधान (Principal) के रूप में कर सकता है। ऐसा एजेण्ट रखने से हानियाँ यह हैं कि वह फर्मों से प्रतिस्पर्द्धा करते हुये अपने को सौंपे हुये माल के विक्रय पर सर्वोत्तम ध्यान न दे, और विक्रय के इतने ऑर्डर प्राप्त न कर सके जितने कि एक कर्मचारी कर सकता है। यह विशेषकर वहीं होता है जहाँ कोई प्रतिस्पर्द्धी फर्म के कमीशन की दर अधिक हो। इसलिये ऐसे एजेण्टों की सपूर्ण सहकारिता प्राप्त करने के लिये उत्पादक बहुधा उनको कुछ क्षेत्र पर एकल (Sole) या विशेष अतिरिक्त (Exclusive) अधिकार दे देते हैं। तब एजेंट यह जानता है कि उसकी प्राप्ति सतोष-जनक है क्योंकि उसको एक निश्चित विक्रय क्षेत्र का विश्वास है, वह उस क्षेत्र को बढाने का प्रयास कर सकता है क्योंकि वह जानता है कि उसके लाभ उसी को प्राप्त होंगे। परिणामस्वरूप वह माल के विक्रय को बढाने का भरसक प्रयत्न करता है।

स्वतन्त्र एजेण्टों (कमीशन पर) की मार्फत बेचने वाली सस्थाओं और अपने यात्रियों या विक्रय ब्राँचों की मार्फत बेचने वाली सस्थाओं में कोई स्पष्ट भेद नहीं है। कई एक अवस्थाओं में बिक्री के कार्य को सभालने के लिये एक अलग सहायक कम्पनी स्थापित की जाती है। वास्तव में कुछ वर्षों से इस प्रकार की कुछ वस्तुओं के लिये सीमाबद्ध प्रदेश में एकल विक्रय-अधिकार लेने के लिये बहुत सी कम्पनियाँ स्थापित हुई हैं।

एजेण्ट नियुक्त करना पूर्णरूप से प्रत्येक घटना की अवस्थाओं पर निर्भर रहता है। नई वस्तु का प्रवेश करने वाले या नये बाजार में घुसने वाले उत्पादक के लिये एक ऐसे उच्च ख्याति वाले फर्म को एजेण्ट नियुक्त करना लाभप्रद होगा जो उसी वस्तु का या उसी नवीन बाजार में व्यापार कर रहा हो। इस प्रकार वह एजेण्ट के विशिष्ट ज्ञान और अनुभव से लाभ उठाने के योग्य हो जाता है और इस कारण उसके लिये यही अनुमति-योग्य है कि वह भरसक प्रयत्न करे। सघर्ष से बचने के लिये उसे चाहिये कि विभिन्न एजेण्टों में क्षेत्र इस प्रकार बाँटे कि उनमें आपस में स्पर्द्धा न रहे।

मूल्य स्थिर करना (Price Fixing)

जब उत्पादक "ब्रॉण्डेड" या "प्रोप्राइटरी" माल थोक या खुदरा व्यापारियों को बेचते हैं तो कभी कभी अपने विक्रय के प्रसविदे में कुछ शर्त जोड़ देते हैं जिससे क्रेता वस्तुओं को कुछ निश्चित मूल्यों से कम में न बेचने के लिये राजी हो जाता है। इसका उद्देश्य उत्पादन को अपना माल आसानी से फरोख्त करने के योग्य बनाना है। जहाँ पर यह खतरा हो कि अन्य व्यापारी उससे कम कीमत पर माल बेचेंगे तो थोक या खुदरा व्यापारी माल लेने के अनिच्छुक हो सकते हैं। इसलिये उसको यह विश्वास हो जाता है कि कीमतें निश्चित कीमत से कम नहीं होंगी और वह अपने आपको सुरक्षित समझता है। उत्पादक उनके विक्रय कृत्यों को सुविधापूर्ण बनाता है, थोक या खुदरा व्यापारियों

के अपने हितों की रक्षा होती है और उपभोक्ताओं को दृढ मूल्यों से लाभ होता है। फिर भी उपभोक्ताओं को स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धी मूल्यों से होने वाले लाभ के कुछ भाग की हानि भी हो सकती है। उधर कभी कभी उत्पादक यह दावा करते हैं कि उनका उद्देश्य खुदरा व्यापारियों को उपभोक्ताओं से अत्यधिक मूल्य चार्ज करने से रोककर उनके लाभ को सीमित करना है।

इस प्रकार के मूल्य राजीनामें वैधानिक रूप से विक्रेता द्वारा ही प्रवर्तन योग्य होते हैं। इसमें कठिनता यह है कि अगर प्रथम क्रेता माल को बेचता है तो नवीन क्रेता पर कोई पाबन्दी नहीं होती है और वह चाहे जिस मूल्य पर माल बेच सकता है। इस पर विजय प्राप्त करने के लिये बहुधा राजीनामें में प्रथम क्रेता से यह वादा भी करवा लिया जाता है कि वह किसी भी आगामी बिक्री पर इसी प्रकार की शर्त लगा देगा। थोक या खुदरा व्यापारियों से इस प्रकार के राजीनामें का परक्रामण (Negotiation) करने में उत्पादक क्रेता को तब तक अपना माल नहीं देता जब तक कि वह प्रत्येक की शर्तों को स्वीकार न करले, इस प्रकार वह अपने स्वत्व की रक्षा करता है। कुछ हद तक इस प्रकार के मूल्य सम्बन्धी राजीनामें (जिसे "बन्धनीय राजीनामा" कहते हैं) के प्रभावस्वरूप सस्ती स्थानापन्न वस्तुओं की बिक्री का ह्रास होता है।

मूल्य-राजीनामें की तरह मूल्य-विवेचन (Price discrimination) भी उसी श्रेणी में रखा जा सकता है। कभी-कभी मूल्य विवेचन एकाधिकारी उत्पादकों द्वारा प्रयोग में लाया जाता है। इसके अन्तर्गत एक व्यापार का दूसरों के खर्चों पर पक्ष लिया जा सकता है या माल एक जिले या देश में दूसरे जिलों या देशों से एक कीमतों पर बेचा जा सकता है। इस विवेचन का उद्देश्य या तो कुछ स्थानों में प्रतिस्पर्द्धा को नष्ट करना या शक्तिशाली ग्राहकों का पक्ष लेना या सम्भवतया कठोर स्पर्द्धा होने वाले स्थान पर विक्रय बनाये रखना हो सकता है। एकाधिकार को दृढ करने के उद्देश्य से जो पद्धति अपनाई जाती है वह निन्दनीय है, परन्तु जहाँ पर उद्देश्य केवल विक्रय को स्थिर रखना होता है वह कुछ उचित भी है। विवेचन कहाँ पर पूर्णरूप से उचित है उसका उदाहरण है—"यातायात जो कुछ ले जायगा," उसके अदा करने के सिद्धान्त पर स्थिर की हुई रेलवे दरों की नीति।

Test Question

1 It is said that the cost of retail services is very high today Do you agree ? Could you suggest a way by which the cost could be lowered ? (Bombay B Com. 1944)

2 Analyse the factors which influence the efficiency of a retail organisation (Bombay B Com 1943)

3 Why is a large-scale retail organisation more efficient than a small-scale one ? (Bombay B Com 1942)

4 Why is the efficiency of management greater in large firms than in small firms ? If large scale management is more efficient how do you account for the existence of a number of small firms ?
(Bombay B Com 1941)

5 Briefly describe the various forms of large scale business which have become prominent in retail trade What has been the effect of the increase of Multiple shops ? (Allahabad B Com 1930)

6 How would you organize a departmental store ? Discuss its prospects in India (Allahabad B Com 1940)

7. What causes have led to the growth of the Multiple Shop system in the retail business ? How is it that this system has not so far developed much in India ? (Allahabad B Com 1937)

8 Distinguish between (a) Multiple shops and departmental stores (b) Hire purchase and deferred payment systems
(Bombay B Com 1947)

9 Give the advantages and disadvantages of hire purchase trading from the point of view of (a) buyers and (b) sellers
(Agra B Com 1944)

10 What is instalment selling ? How does it differ from the hire purchase system ? Do they help to increase sales ?
(Bombay B Com 1945)

11 The owner of a small retail shop find his business declining due to the opening of a branch of a multiple shop organisation in his neighbourhood What steps would you advise him to take ?
(Bombay B Com 1942)

12 What services are rendered by wholesalers to retailers ? Should the wholesalers be eliminated ? (Bombay B Com 1947)

13 Outline briefly the organisation and describe the functions of the purchase department of a commercial firm What are the advantages and disadvantages of large scale buying ?
(Bombay B Com 1941)

14 Why do manufacturers usually prefer to entrust the marketing of their products to a separate organisation ?
(Bombay B Com 1935)

15 Outline briefly the organisation and describe the functions of the Credit Department of a commercial firm What methods are available for coordinating the activities of the Credit Department with the work of the Sales Department ? (Bombay B Com 1940)

16 Outline briefly the organisation of a sales Department Is a larger sales Organisation more efficient than a smaller one ?
(Bombay B Com 1939)

17 Describe the internal organisation of an Indian wholesale firm engaged in any distributive trade (Agra B Com 1946)

18 As the general manager of a large wholesale firm what system of internal organisation would you introduce with a view to preventing the misappropriation of cash ? (Agra B Com 1945)

19 What are the chief characteristics of a mail-order business ? Can it be a successful agency for retailing agricultural goods in India ? (Agra B Com 1948)

20 What are the various difficulties in the way of the adoption of the hire-purchase system in India ? (Bombay B Com 1935)

21 What attractions does the hire purchase system offer to the purchasers ? Describe the features essential to an article suitable for hire purchase business (Bombay B Com 1935)

22 Discuss the relative advantages and disadvantages of being a customer of (*a*) a large department store (*b*) a small retail shop keeper (*c*) a cooperative distributive society (Bombay B Com 1938)

23 What advantages does a large retail store like a departmental store or a chain store enjoy over a small retailer ? (Agra B Com 1947)

24 Discuss the general effect of the growth or multiple shops on (*a*) manufacturer (*b*) the wholesaler, and (*c*) the retailer

(Bombay B Com 1848)

— — — —

(१०८ ९।७।४८

छठा अध्याय

विज्ञापन और बिक्री-कला

(Advertising and Salesmanship)

व्यापार का एकमात्र उद्देश्य लाभ प्राप्त करना होता है और इसके लिए प्रत्येक व्यापारिक संस्था उचित मूल्यों द्वारा बिक्री बढ़ाने का प्रयत्न करती है। इस प्रयत्न के लिए वह अपनी वस्तुओं के गुण एवं विशेषताएं विज्ञापन द्वारा जनता तक पहुँचाती है। इस तरह व्यापार में सफलता प्राप्त करने के लिए विज्ञापन एवं बिक्री-कला (Advertising and Salesmanship) का आश्रय लेना पड़ता है। ये दो साधन ही व्यापार के प्रचार एवं प्रसार में अत्यधिक सहायता देते हैं। अब हम इन दोनों साधनों की क्रमशः विस्तार सहित व्याख्या करेंगे।

विज्ञापन (Advertising)

विगत शताब्दि तक 'विज्ञापन' शब्द का अर्थ केवल 'सूचना देना' या 'सूचित करना' होता था, परन्तु आधुनिक समय में इसके अर्थ में कुछ परिवर्तन हो गया है और यह केवल व्यापारिक अर्थ में ही प्रयोग किया जाता है। यह शब्द आजकल बिल्कुल आधुनिक ही माना जाता है और व्यापारिक क्षेत्र में इस विज्ञापन का अभिप्राय जनता से धन-विनियोग करने के लिये तथा अपनी बिक्री बढ़ाने के लिए वस्तुओं के गुण एवं मूल्य की सूचना देना होता है। इस तरह से इसका उद्देश्य जनता को अधिक से अधिक वस्तुओं की जानकारी कराना, उसके हृदय में वस्तुओं के प्रति लालसा जाग्रत करना, वस्तुओं के उत्तम होने का विश्वास जमाना, जनता के मस्तिष्क में वस्तुओं का प्रभाव स्थापित करना तथा इस तरह वस्तुओं की अधिक से अधिक मात्रा में माँग बढ़ाना होता है।

यदि किसी वस्तु का बाजार स्थायी एवं इच्छुक बनाना है तो उसके लिए ज्ञान तथा कुशलता से युक्त नियमित विज्ञापन करना आवश्यक होता है। अत्यधिक ईमानदार, प्रतिष्ठासम्पन्न तथा व्यापारिक योग्यता रखने वाली संस्था को भी अपनी वस्तुओं की माँग बढ़ाने के लिए विज्ञापन का आश्रय लेना अनिवार्य माना गया है। इस विज्ञापन के आधार पर ही उत्तम वस्तुओं की उत्तमता का प्रचार करोड़ों व्यक्तियों में होता है। इसके साथ ही एक-एक व्यक्ति को वस्तुओं की विशेषता बतलाने में जितना व्यय होता है, उसकी अपेक्षा अत्यधिक कम और सस्ते मूल्य पर ही अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से इसके द्वारा परिचय करा दिया जाता है। यह विज्ञापन की ही

विशेषता होती है कि ग्राहक जिन वस्तुओं से घृणा करता है उन्हीं को पुन: खरीदने के लिये तैयार हो जाता है। विज्ञापन हो बहुत से व्यापारी का दृष्टिकोण तक बदल देता है। इसी के कारण बहुत से व्यापारी अनिच्छित वस्तुओं को भी मँगाने के लिये विवश हो जाते हैं और अपने यहाँ उनका संग्रह करते हैं। यह मानवी इच्छाओं को भी बढ़ाता है। यही मनुष्यों को वह दृष्टि प्रदान करता है जिससे वे विभिन्न वस्तुओं के गुणों एव विशेषताओं के जानने में समर्थ होते हैं। विज्ञापन में इतनी शक्ति होती है कि यह व्यापार को एक वस्तु से दूसरी वस्तु में, एक दुकान से दूसरी दुकान में, एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में, एक नगर से दूसरे नगर में तथा एक देश से दूसरे देश में हस्तान्तर (Transfer) कर सकता है। यह जनता की आदतों को बदल सकता है। इसके साथ ही यह मनुष्यों के पहनने, खाने, पीने, धूम्रपान करने तथा पढ़ने-लिखने के ढग में भी पर्याप्त परिवर्तन कर सकता है।

विज्ञापन का आर्थिक महत्त्व (Economics of Advertising) — आर्थिक दृष्टि से निस्सन्देह विज्ञापन का अत्यन्त महत्त्व है। यह महत्त्व केवल एक सकुचित सीमा से ही सम्बन्ध नहीं रखता, अपितु विश्व में एक टूटी झोपड़ी से लेकर ऊँचे महलों तक प्रभाव रखता है। अधिकाश जनता इस विज्ञापन एवं तत्सम्बन्धी कार्यवाहियों से ही अपना जीवन निर्वाह करती है। यह अनेकों कलाकारों (Artists) तथा लेखकों (Writers) को जीविका प्रदान करता है तथा इसके द्वारा कितने ही प्रतिभावान एव बुद्धिगुण-सम्पन्न व्यक्ति अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। यह नवीन व्यापारियों को शिक्षा देने का कार्य भी करता है, विशेषरूप से वे लोग तो इससे अत्यधिक शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं जो अपने व्यवसाय में उन्नति एव प्रगति करने के अभिलाषी होते हैं। प्राय. विज्ञापन कितने ही समाचार-पत्रों में भेजे जाते हैं, जिससे उन पत्रों की भी आय बढ़ जाती है क्योंकि उनकी आय का लगभग ७५ प्रतिशत भाग केवल विज्ञापन से ही मिलता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि विज्ञापन होने के कारण ही पाठकों को दैनिक समाचार पत्र, साप्ताहिक एव मासिक पत्र आदि सस्ती दरों पर मिल जाते हैं।

अधिकाश उपभोक्ता और कभी कभी तो समस्त देश अपनी आवश्यकताओं के लिये विज्ञापनों से हो प्रभावित रहते हैं, क्योंकि विज्ञापन उन्हें नवीन-नवीन वस्तुओं से परिचित कराते हैं, जिससे उन वस्तुओं के लिये उनकी इच्छा बढ़ती है। फिर उन इच्छाओं को ये विज्ञापन दृढ कर देते हैं अथवा पहली इच्छाओं का विनाश करके नवीन इच्छाओं को जाग्रत करते रहते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बिक्री के अतिरिक्त भी विज्ञापन घरेलू इच्छाओं की अधिक मात्रा में पूर्ति करता है। आधुनिक युग में तो नर-नारियों का जीवन ही विज्ञापन पर निर्भर हो गया है। विशेषकर बहुतसी नारियाँ

तो अपने दैनिक व्यवहार की वस्तुओं के लिए नित्य विज्ञापन ही देखती रहती हैं। अतः उन फैशनेबुल महिलाओं का जीवन तो इन विज्ञापनों पर ही चलता है। यदि ये विज्ञापन दैनिक, साप्ताहिक अथवा मासिक पत्रों एव चित्रवाले पत्रों में न निकलें, तो उनका जीवन कितना नीरस एव आनन्द-शून्य हो जायेगा।

विज्ञापन जानकारी करने का एक महान् बुद्धिगुण-सम्पन्न साधन है। यह निर्मित वस्तुओं की सूचना सुदूर देशों में बड़ी सुगमता से पहुँचा देता है। इसके द्वारा पर्याप्त मितव्ययता होती है। यह यदि भली प्रकार एव उचित ढंग से किया जाय तो व्यापार मे प्रचारकों आदि मध्यस्थों (Middlemen) की आवश्यकता नहीं रहती। इतना ही नहीं एक व्यापारिक भ्रमणकर्ता (Travelling Salesman) के स्थान पर यह भी अच्छी सफलता के साथ कार्य करता है क्योंकि विज्ञापन से फिर इसकी आवश्यकता नहीं रहती। इसके साथ ही व्यापारिक मितव्ययता का तो यह सार है, क्योंकि वस्तु-निर्माण, वस्तु-विक्रय एव वस्तु-विभाजन में इससे पर्याप्त मितव्ययता होती है। इससे देशवासियों को जीविका या रोजगार प्राप्त होता है, वस्तुओं की कीमतें स्थिर होती हैं और जनता के रहन सहन का दर्जा उन्नत होता है। यह भी निर्विवाद सत्य है कि बिना विज्ञापन के अच्छे से अच्छे आविष्कारों का जनता में कोई मूल्य नहीं होता।

विज्ञापन नवीन योजनाओं से परिचय कराता है, उत्पादन एवं उपभोग के लिए नई-नई वस्तुओं का निर्माण कराता है तथा कभी-कभी तो प्रतिस्पर्द्धा (Competition) का यह सब से अधिक लाभदायक साधन माना जाता है। यदि कोई निर्माता अच्छा प्रभावशाली विज्ञापन करता है तो उसे अत्यधिक लाभ होता है। इतना ही नहीं उपभोक्ताओं (Consumers) के लिये भी यह लाभदायक होता है क्योंकि इसी के माध्यम द्वारा वे अपनी इच्छानुकूल वस्तुओं का निर्वाचन सुगमता से कर सकते हैं। विज्ञापन ही मनुष्यों को मितव्ययता एवं बुद्धिमत्ता के नये-नये गुणों को समझाता है। जीवन बीमा सम्बन्धी विज्ञापन मनुष्यों को उन पर निर्भर रहने वाले व्यक्तियों के प्रति उनकी क्या जिम्मेवारी है इसे अच्छी तरह समझाता है और कितने ही लोगों को आपत्ति-ग्रस्त परिस्थिति से बचाता है। इसके अलावा व्यापार की ख्याति (Goodwill) का यही साधन है। इसमें कोई सदेह नहीं कि कितने ही व्यापारों ने अपनी ख्याति का निर्माण एव वृद्धि इसी विज्ञापन द्वारा की है।

उपर्युक्त विवेचन से यह नहीं समझना चाहिए कि विज्ञापन से सदैव लाभ ही लाभ होते हैं और इससे कोई भी बुराई उत्पन्न नहीं होती, परन्तु इसके कुछ दोष भी हैं, जो इस प्रकार हैं —

(१) विज्ञापन का अभिप्राय ही यह होता है कि इसके लिये पर्याप्त व्यय किया जाय और यह व्यय किसी न किसी से वसूल अवश्य किया जाता है। वस्तुओं के

मूल्य में से विज्ञापन-व्यय कम करना किसी भी दशा में न्यायोचित नहीं होता। इसी कारण यह व्यय उपभोक्ताओं को देना पड़ता है।

(२) विज्ञापन से उपभोक्ता का स्वत्व (Sovereignty) नष्ट हो जाता है, क्योंकि विज्ञापन से प्रभावित होकर कोई भी व्यक्ति उस वस्तु को नहीं खरीदता जिसे वह चाहता है, परन्तु वह उस वस्तु को खरीद लेता है जिसके लिये उस पर विज्ञापन प्रभाव डालता है। इस प्रकार कोई भी उपभोक्ता अपनी आवश्यकता का अन्तिम निर्णायक नहीं रहता और न वह उसकी पूर्ति के लिये ही अपनी राय को काम में ला सकता है। ये दोनों बातें विज्ञापन-कर्त्ता के हाथों में चली जाती हैं।

(३) विज्ञापन से धन का पर्याप्त विनाश एवं अपव्यय होता है, क्योंकि कभी-कभी ग्राहक प्रभावशाली विज्ञापन होने के कारण ऐसी वस्तुओं के खरीदने को लालायित हो उठता है जो उसके लिए आवश्यक नहीं होतीं अथवा विलासिता की वस्तुएं (Luxuries) होती हैं।

(४) विज्ञापन सदैव वस्तुओं के गुण, ढंग तथा फैशन में परिवर्तन करते रहते हैं, इन आकस्मिक एवं क्षणिक परिवर्तनों के कारण उपभोक्ता तथा फुटकर-विक्रेता (Retailer) दोनों को हानि उठानी पड़ती है क्योंकि फुटकर विक्रेताओं को तो वर्तमान फैशन के उपयोग में न आने वाली वस्तुओं को कम मूल्य पर बेचना पड़ता है तथा उपभोक्ताओं को एक ही वस्तु का केवल बाह्य-रूप बदला हुआ होने के कारण अधिक मूल्य देना पड़ता है।

(५) विज्ञापन सदैव जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के लिये न होकर, ऐसी वस्तुओं के लिए होता है जो विलासिता की होती हैं तथा जिनके द्वारा सामाजिक दुष्परिणाम होते हैं। इसके साथ ही वे वस्तुएं कम गुणवाली तथा कम महत्त्ववाली होती हैं। अतः जिस समय उपभोक्ता उन वस्तुओं का निर्वाचन करने बैठता है तो उसे भली एवं बुरी वस्तु का छाँटना सर्वथा कठिन हो जाता है।

(६) विज्ञापन प्रायः अत्युक्ति (Exaggeration), असत्य-कथन (Misrepresentation) एवं झूठ पर ही निर्भर रहता है क्योंकि सस्ती दवाइयाँ जो सब प्रकार से बच्चों एवं युवकों के लिए हानिप्रद होती हैं, वे धूर्तों द्वारा प्रभावी विज्ञापन होने के कारण ऊँचे मूल्यों पर बेची जाती हैं।

यद्यपि यह कहना कठिन है कि कौन विज्ञापन के व्यय को सहन करता है। इसके साथ ही यह भी निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि उस व्यय का कौनसा भाग विक्रेता द्वारा प्राप्त होता है और कौनसा उपभोक्ता से मिलता है। वैसे तो विज्ञापन का उद्देश्य वस्तुओं को कम से कम व्यय पर उपभोक्ताओं के पास भेजना होता है। ग्राहकों के पास कम व्यय पर यदि वस्तुएं पहुँचती हैं तो इससे या तो निर्माता को लाभ होता है या ग्राहकों को कम मूल्य पर वस्तुएं मिल जाती हैं। इसके

साथ ही प्रतिस्पर्द्धा के कारण कभी-कभी इससे ग्राहकों को अत्यधिक लाभ पर वस्तुयें प्राप्त हो जाती हैं। "विज्ञापन वस्तुओं के मूल्य को घटाने वाला होता है"—यह बात सावधानी के साथ समझनी चाहिए क्योंकि इसमें अर्द्ध-सत्य होता है। इसके लिये तर्क करते हुए लोग प्राय: कुछ व्यापारों एवं कुछ व्यापारिक संस्थाओं के उदाहरण दिया करते हैं, परन्तु ये सभी उदाहरण सीमित होते हैं। यदि विज्ञापन वाली वस्तु अधिकांश लोगों के लिए लाभप्रद होती है तो उससे उसका निर्माण एवं वितरण स्वत: अधिक मात्रा में होता है और इससे उसका मूल्य भी कम रहता है। इससे एक ओर तो उपभोक्ता को कम मूल्य पर वस्तु मिल जाती है, दूसरे बिक्री अधिक होने से निर्माता को भी लाभ हो जाता है और विज्ञापन का व्यय स्वयं विज्ञापन से ही निकल आता है। दूसरे ढंग से यदि वस्तुयें क्रय-विक्रय होती हैं तो विज्ञापन का व्यय बिक्री का व्यय ही माना जाता है और वह उपभोक्ताओं को देना पड़ता है।

विज्ञापन आधुनिक व्यापार का अत्यन्त शक्तिशाली साधन है। इसके द्वारा प्राय: व्यापारी अपरिचित क्षेत्रों में भी प्रवेश करके असमाचित लाभ उठाते हैं। विज्ञापन ने आज आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है, क्योंकि इसी के माध्यम से कितनी ही पिछड़ी हुई दुर्बल व्यापारिक संस्थायें आज नाम एवं प्रतिष्ठा प्राप्त कर रही हैं तथा कितनी ही विनष्ट होने वाली कम्पनियों ने प्रभावशाली ख्याति (Goodwill) प्राप्त की है। अत: यह कोई आकस्मिक वस्तु नहीं है। इसका विकास भी किसी अशिक्षित एवं ज्ञान-शून्य व्यक्ति के मस्तिष्क से नहीं हुआ है, और न यह स्वर्ग से अनुपयुक्त मरुस्थल में आकर प्रकट हुई है, वरन् यह व्यापार को यशस्वी बनाने वाली इस भूमि पर रहने वाले लोगों के मस्तिष्क की देन है, जो अपने सिद्धान्तों से व्यापार का महत्व स्थापित करती है तथा व्यापार के हितों की दृष्टि से ही इसका अध्ययन किया जाता है। सभी व्यापार विज्ञापन की सत्यता, संलग्नता एवं कुशलता के कारण ही उन्नति करते हैं। अत: प्रत्येक व्यापार की यशस्विता का यह महत्त्वपूर्ण अंग है।

कितनी ही ऐसी बातें हैं जिनको विज्ञापन सुगमता से पूरा कर सकता है, परन्तु कुछ ऐसी बातें भी हैं जो इसकी शक्ति से सर्वथा परे होती हैं। यह किसी जादूगर का डंडा नहीं होता जोकि रेशमी टोप को सफेद खरगोश बनादे तथा दुर्भाग्य को सौभाग्य में परिणत करदे। इसमें यह शक्ति नहीं होती कि वस्तुओं को उनके निर्मित-व्यय से कम मूल्य पर बेचकर लाभ पैदा कर सके। इसके साथ ही बुरी एवं हानिप्रद वस्तुओं को स्थायी सफलता दिलाना भी इसके हाथ में नहीं रहता। यदि कोई व्यापारी अच्छी एवं उत्तम वस्तु कहकर ग्राहकों को खराब वस्तुयें भेजा करता है तो विज्ञापन ऐसे धूर्तों को लाभ के स्थान पर हानिप्रद ही सिद्ध होता है। यदि किसी वस्तु के निर्माण-कार्य की व्यवस्था खराब है तथा उसका वितरण भी अनुपयुक्त रीति से होता है तो विज्ञापन में यह सामर्थ्य नहीं होती कि ऐसा होने पर भी उस निर्माता

को सफलता प्राप्त करा सके। विज्ञापन के द्वारा यह कभी संभव नहीं कि बिना किसी प्रकार का प्रयत्न किये हुये किसी वस्तु की माँग सदैव स्थिर हो जाए। यह किसी भी व्यक्ति को अप्राप्य वस्तु की माँग करने के लिए विवश नहीं करता और न यह एक या दो दिन में ही मनुष्यों के रीति-रिवाज को ही बदल सकता है। इसके साथ ही अर्थशास्त्र तथा मानव-शास्त्र के नियमों के विरुद्ध भी यह सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि विज्ञापन की कितनी ही सीमायें हैं, परन्तु इतना आवश्य है कि विज्ञापन-कला अपने उपायक को पर्याप्त लाभ पहुँचाती है, तथा इसके स्नेही एवं कम त्रुटि करने वाले भी इससे अच्छी सफलता प्राप्त करते हैं। अनेकों निराशाजनक बातों के रहते हुए भी विज्ञापन-कला स्वयं व्यापारों को सुदृढ़ एवं महान बनाने वाली होती है। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से विज्ञापन का ऐसी कितनी ही संभावनायें हैं जिनका उपयोग करना सर्वथा कठिन है।

(३) विज्ञापन का संगठन (Organisation of Advertising):—एक बिक्री-व्यवस्थापक (Sales Manager) को विज्ञापन करने से पूर्व सर्वप्रथम इस आपत्ति का सामना करना पड़ता है कि अन्य प्रतिद्वन्द्वियों की तुलना में अपना विज्ञापन कैसे प्रभावी बनाया जाय, तथा उसके लिए कितना व्यय किया जाए जिससे कि वह उतना धन विज्ञापन के हेतु अलग निकाल कर रख सके। साधारणतः बहुत से व्यापारी इस बात का अनुमान पहले नहीं लगाते और विज्ञापन में निश्चित धन से अधिक लगा बैठते हैं। बड़े-बड़े व्यापारों में सभी योजनायें पहले ही तैयार की जाती हैं, वहाँ पर व्यवसाय सम्बन्धी बातों पर पहले ही विचार कर लिया जाता है तथा जो सम्पन्न पूरा करना होता है और उसके लिए जिन-जिन आवश्यक बातों की जरूरत समझी जाती है उसका अनुमान पहले ही लगाया जाता है।

विज्ञापन-क्षेत्र में पदार्पण करने से पहले, उसकी समस्त योजनायें बनाना आवश्यक होता है। यह भी पहले से विचार करना चाहिए कि क्या अमुक वस्तु का विज्ञापन करना उचित है, इसके लिए उचित सलाह बाजार को देखकर तथा अन्य विज्ञापनों का अध्ययन करके प्राप्त हो सकती है। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि विज्ञापन करने से यदि किसी वस्तु की माँग बढ़ेगी तो उसकी पूर्ति करने के लिये हमारे पास पर्याप्त शक्ति है अथवा नहीं। इस प्रकार योजनायें बनाकर तथा अपना उद्देश्य निर्धारित करके फिर विज्ञापन का कार्य करना उचित एवं सफल माना जाता है।

विज्ञापन के बारे में एक प्रश्न उठ सकता है कि विज्ञापन का कार्य किसे करना चाहिए। क्या विज्ञापन-संस्था (Advertising agency) द्वारा यह कार्य उपयुक्त होता है? अथवा क्या स्वयं व्यापारियों को अपना एक विज्ञापन-विभाग निश्चित

करके पुनः विज्ञापन कार्य करना चाहिए ? इसका उत्तर यही है कि यह कार्य प्रत्येक दशा में तत्सम्बन्धी परिस्थितियों पर निर्भर रहता है। यदि कोई व्यापारी-संस्था उच्च कोटि की होती है तथा विज्ञापन में अधिक धन व्यय कर सकती है तो उसे सदैव विज्ञापन-संस्थाओं द्वारा अपनी वस्तुओं का विज्ञापन कराना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से ही उन्हें इस कार्य में मितव्ययता एवं कुशलता दोनों प्राप्त हो सकती हैं। ये विज्ञापन-संस्थायें प्रायः कम मूल्यों पर ही अच्छे से अच्छे विज्ञापन निकाला करती हैं।

यदि कोई व्यापारिक संस्था अपना निजी विज्ञापन विभाग रखना चाहती है तो यह भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस विभाग के लिये प्रायः एक व्यवस्थापक अलग रखा जाता है जोकि उत्तरदायी, अनुभवी एवं बिक्री-कला में अत्यन्त निपुण होना है तथा उसे अच्छा वेतन दिया जाता है। उसमें केवल विज्ञापन बनाने की ही निपुणता नहीं होती परन्तु इसके साथ ही उसमें यह भी ज्ञान होता है कि जो धन उसके इस विज्ञापन-विभाग के लिए व्यय किया जा रहा है उसका विज्ञापन द्वारा पूर्ण उपयोग होता है अथवा नहीं।

जो विज्ञापन-विभाग व्यापारों में स्थापित किया जाता है, उसे व्यापारिक कार्यों से सर्वथा पृथक् नहीं रखना चाहिए। उसका उद्देश्य सदैव व्यापार की बिक्री बढ़ाना होता है, अतः अपने उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए इसे व्यापार से पूर्णतः सम्बन्धित रखना चाहिए तथा इस विभाग को व्यापक-बिक्री-व्यवस्थापक (General Sales Manager) के अन्तर्गत रखना उपयुक्त होता है। इस विभाग सम्बन्धी नीति का निर्धारण करते समय बिक्री-व्यवस्थापक से सलाह लेना अधिक लाभप्रद होता है। कारण यह है कि बिक्री-विभाग को ही सदैव वस्तुओं के बेचने तथा तत्सम्बन्धी समस्त योजनाओं के बनाने का ज्ञान होता है और विज्ञापन का कार्य भी इन्हीं बातों पर निर्भर रहता है। यही कारण है कि विज्ञापन-व्यवस्थापक को सदैव बिक्री-व्यवस्थापक की सलाह लेकर फिर विज्ञापन का कार्य करना अधिक सफलता प्रदान करता है। विज्ञापन-विभाग सदैव वस्तुओं का सुगमता के साथ सरल-रीति से बेचने का प्रयत्न करता है। अत. विक्रेताओं के पास समस्त विज्ञापनों के नमूने तथा तत्सम्बन्धी साहित्य भेजना उचित रहता है, क्योंकि उसी के आधार पर वे ग्राहकों को सन्तुष्ट करते हुए वस्तुओं को बेच सकते हैं अथवा विज्ञापन के आधार पर ही माँग बढ़ाते हुए ग्राहकों को आकर्षित कर सकते हैं।

इसके अलावा विज्ञापन-विभाग को भी व्यापार की साधारण नीति के अनुकूल कार्य करना चाहिए। प्रायः विज्ञापन-विभाग को व्यापार की आवश्यकता के अनुसार कार्य करना पड़ता है, परन्तु व्यापार विज्ञापन-विभाग के अनुसार कभी नहीं चलता। इसीलिये व्यापार की नीति के अनुकूल विज्ञापन में आवश्यक परिवर्तन करते

रहना चाहिए। बहुधा व्यापार की आर्थिक परिस्थिति के अनुसार ही विज्ञापन किये जाते हैं। उसके मुद्रण एव प्रकाशन में व्यापार की आर्थिक स्थिति का ध्यान रखना अधिक उचित रहता है। यदि किसी व्यापारिक सस्था के पास विज्ञापन के लिए अधिक धन सचित रहता है तो उसे सदैव विज्ञापन की दीर्घकालीन उत्तम योजना बनानी चाहिए, क्योंकि जितना उत्कृष्ट विज्ञापन होगा उतनी ही अधिक सफलता प्राप्त हो सकती है।

आधुनिक विज्ञापन-सस्था में कितने ही विज्ञापन विशेषज्ञ रहते हैं जो नाना प्रकार के विज्ञापनों का अध्ययन करते हुए विज्ञापन के निमित्त उचित राय दिया करते हैं तथा प्रतिस्पर्द्धा के समय नाना प्रकार से विज्ञापन को प्रभावी बनाने का प्रयत्न किया करते हैं। प्रत्येक विशेषज्ञ को अपने अपने कार्य-क्षेत्र का विशेष ज्ञान होता है। जो कोई व्यापारिक सस्था जिस वस्तु का विज्ञापन कराना चाहती है, तत्सम्बन्धी कार्य को उस सस्था का विशेषज्ञ सफलतापूर्वक करता है। यह संस्था विज्ञापन विभाग रखने में असमर्थ एव समर्थ दोनों प्रकार के व्यापारियों की सेवा करती है। विज्ञापन-विभाग रखने में जो व्यापारी असमर्थ रहते हैं, उनके लिये इस सस्था के पास पृथक्-पृथक् विभाग रहते हैं, जो उनको विज्ञापन सम्बन्धी नमूनों तथा सजावट आदि के बारे में उचित ढग से सलाह देते हैं तथा विज्ञापन की प्रतिलिपियाँ, सूची-पत्र तथा अन्य आवश्यक साहित्य का निर्माण करते हैं; उनकी वस्तुओं के खोल तथा बाह्य सजावट के उचित नमूने बनाते हैं; प्रचार का उपयुक्त ढग बतलाते हैं; बाजार की पद्धति सम्बन्धी योजनायें बनाते हैं तथा समाचार-पत्र आदि में विज्ञापन के लिये उचित स्थान सम्बन्धी व्यवस्था करते हैं। ये सस्थायें विज्ञापन के बाँटने, दीवालों पर चिपकाने, उचित ढग से छपवाने आदि की राय भी देती हैं। विज्ञापन सस्था के कुछ प्रत्यक्ष लाभ भी हैं। इसके कारण व्यापारी विज्ञापन-कार्य से मुक्त हो जाता है और वह अपनी वस्तुओं के निर्माण तथा बिक्री पर ही ध्यान केन्द्रित कर सकता है। विज्ञापन सस्था अपने ग्राहकों के लिये पहले से ही समाचार पत्रों में आवश्यक स्थान खरीद लेती हैं जिससे विज्ञापन देने वाली फर्मों को सुविधा हो जाती है तथा विज्ञापन के लिये स्थान भी सस्ती दर पर एवं उपयुक्त मिल जाता है। विज्ञापन सस्था से सम्बन्ध रखने के कारण एक छोटी मात्रा के व्यापार को भी बड़े-बड़े विज्ञापन-विशेषज्ञों की योग्यता का लाभ प्राप्त हो जाता है क्योंकि ऐसे विशेषज्ञों का रखना बड़े बड़े व्यापारी को भी सम्भव नहीं होता। यह सस्था विज्ञापन के सभी अन्तर्बाह्य साधनों एव उपायों को जानती है, अतः किस व्यापार के लिए कौन सा ढग उचित होगा यह इस सस्था का मुख्य कार्य है, और उसी के आधार पर सुगमता से सफलतापूर्वक कार्य किया करती है। कभी-कभी यह सस्था अपने ग्राहकों से बिना कुछ शुल्क या पारिश्रमिक लिये हुए भी विज्ञापन के ढंग बतलाया करती है। कारण यह है कि इस सस्था को समाचार-पत्रों तथा प्रकाशकों से भी कमीशन मिलता रहता है, अतः अपने किसी-किसी ग्राहक की यह मुफ्त में सेवा भी कर देती है।

थोक एवं फुटकर विक्रेताओं के विज्ञापन (Advertising by wholesalers and retailers) —बहुधा व्यापारी में भिन्न-भिन्न प्रकार की विज्ञापन-रीति अपनाई जाती है। कारण यह है कि विज्ञापन की रीति या पद्धति सदैव व्यापार के स्वरूप एवं उसकी आवश्यकताओं के अनुसार निश्चित की जाती है। विज्ञापन सदैव लाभ प्राप्त करने का सुगम साधन है, अत. व्यापार के विस्तार एवं विकास को देखकर तथा उसकी विशेष आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए विज्ञापन करना चाहिए। एक थोक-व्यापारी की स्थिति सदैव एक फुटकर-व्यापारी से भिन्न होती है। इसी के साथ उसकी विज्ञापन-नीति में भी अन्तर रहता है, क्योंकि दोनों के ग्राहक भिन्न भिन्न रुचि वाले होते हैं तथा दोनों भिन्न भिन्न प्रकार से वस्तुओं के बेचने का प्रयत्न करते हैं।

फुटकर व्यापारी तथा थोक व्यापारी के विज्ञापन में मुख्य अन्तर यह होता है कि फुटकर व्यापारी सदैव ग्राहकों को आकर्षित करके उनको आवश्यकताओं की पूर्ति अपनी दुकान पर ही करता है, परन्तु एक थोक व्यापारी सदैव अपनी वस्तुओं के लिये माँग उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है, उसे यह चिन्ता नहीं होती कि उस माँग की पूर्ति किस स्थान पर की जाय; वह तो माँग बढ़ाकर अपने माल को अधिक से अधिक मात्रा में विभिन्न स्थानों पर ही बेचने का प्रयत्न करता है, उसे किसी एक दुकान या स्थान से मोह नहीं होता। इसी कारण एक थोक व्यापारी का विज्ञापन सीधे व्यापार से सम्बन्ध रखता है। इसीलिये वह बड़े-बड़े समाचार-पत्रों में तथा कभी कभी डाक द्वारा सूचीपत्र या हैंडबिल अथवा विवरण पत्रों में विज्ञापन देता है। उसके विज्ञापन का क्षेत्र अत्यन्त विस्तीर्ण होता है, क्योंकि उसके व्यापार का विकास एवं वैभव विज्ञापन पर ही निर्भर रहता है। दूसरी ओर फुटकर व्यापारी केवल इसी उद्देश्य से विज्ञापन करता है कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये अधिक से अधिक ग्राहक उसकी दुकान पर आते रहें।

एक थोक विक्रेता की विज्ञापन नीति पर यदि विचार किया जाय तो पता चलेगा कि वह अपना विज्ञापन समस्त राष्ट्र को ध्यान में रखकर करता है, उसकी अपील एक सीमित क्षेत्र के लिए न होकर देश-व्यापी होती है और देश के समस्त लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करता है। परन्तु एक फुटकर विक्रेता कुछ सीमित व्यक्तियों को ही अपना स्थायी ग्राहक बनाने के लिये विज्ञापन किया करता है। वह तो ग्राहकों पर अपनी छाप लगाने तथा उन्हें सदैव अपना बनाये रखने का ही प्रयत्न करता है। इसी कारण वह विज्ञापनों में अपनी वस्तुओं के गुण, विशेषतायें तथा उनके नमूने या आकृति अथवा चित्र देकर ग्राहकों को मोहित किया करता है।

परन्तु एक थोक-व्यापारी विज्ञापन के अत्यन्त विस्तीर्ण एवं व्यापक ढंग को अपनाता है। उसका उद्देश्य ही यह होता है कि अपनी वस्तुओं का परिचय देश के

कोने-कोने में करा दिया जाय और इसी के लिये वह अच्छे से अच्छे प्रचलित एवं प्रतिष्ठित समाचार-पत्रों तथा व्यापारिक-पत्रों में विज्ञापन दिया करता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह अपनी कुछ विशेष वस्तुओं के नाम भी स्थिर करता है तथा अन्य आवश्यक साधनों को उपयोग में लाता है। दूसरी ओर एक फुटकर व्यापारी का विज्ञापन स्थानीय होता है, यदि वह डाक द्वारा वस्तुयें भेजने का भी प्रयत्न करता है तो उसे कुछ अधिक क्षेत्र में विज्ञापन की आवश्यकता होती है, अन्यथा एक नगर या एक कस्बे तक ही उसका विज्ञापन सीमित रहता है। इसके लिए वह केवल स्थानीय समाचार-पत्रों में ही विज्ञापन दिया करता है। यदि वह राष्ट्र-व्यापी विज्ञापन करने के लिए बड़े-बड़े प्रचलित पत्रों में समाचार देने लगे तो इसमें उसका धन व्यर्थ ही अपव्यय होता है और उससे कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं होता। बड़े-बड़े नगरों में फुटकर-व्यापारी ट्रामों, बसों तथा यातायात के स्थानीय साधनों पर अपने अपने विज्ञापन लगा देते हैं। इसके साथ ही स्थानीय चित्रपट गृहों या सिनमाओं में स्लाइड देकर एक फुटकर-व्यापारी अपना अच्छा विज्ञापन कर सकता है। नगरों में स्थान-स्थान पर अपने प्रचारक भेजकर तथा ढौंडी पिटवा कर भी एक स्थानीय फुटकर व्यापारी इस प्रकार के विज्ञापन का अच्छा लाभ उठा सकता है।

सारांश यह है कि थोक व्यापारी राष्ट्रव्यापी विज्ञापन करके उपभोक्ताओं की माँग बढ़ाने का प्रयत्न करता है; यदि उस थोक व्यापारी द्वारा जनता में वस्तुओं की माँग बढ़ा देने पर सभी फुटकर व्यापारी उससे वस्तुयें मँगा लेते हैं और जनता में उस वस्तु को अधिक से अधिक मात्रा में बेचते हैं तो इससे दोनों व्यापारियों को एक ही विज्ञापन द्वारा पर्याप्त लाभ हो जाता है और विज्ञापन में भी मितव्ययता होती है।

सहकारी या सामूहिक विज्ञापन (Co-operative or Group Advertisement) —विज्ञापन की पद्धति प्रतिस्पर्द्धात्मक तथा सहयोगात्मक दोनों प्रकार की होती है। जब विज्ञापन प्रतिस्पर्द्धा की दृष्टि से किया जाता है तो प्रत्येक व्यापारी या व्यापारिक संस्था अपनी-अपनी वस्तुओं का पृथक्-पृथक् विज्ञापन करते हैं, परन्तु जब सहकारी या सामूहिक भावना द्वारा विज्ञापन किया जाता है तो अनेक निर्माता (Manufacturers) या व्यापारी जो समान व्यापार करने वाले होते हैं वे एकत्रित होकर साथ-साथ अपनी वस्तुओं का विज्ञापन करते हैं। इस पद्धति द्वारा समस्त वस्तुओं के गुणों एवं विशेषताओं का परिचय एक साथ ही जनता को हो जाता है। भारतीय बीमा-कम्पनियों में यही पद्धति प्रचलित है। उनका एक संघ (Association) है और वही संघ सभी कम्पनियों का विज्ञापन करता रहता है। इस पद्धति द्वारा जनता को विदेशी माल खरीदने से भी रोका जा सकता है और राष्ट्रीय-धन की इस प्रकार पर्याप्त बचत की जा सकती है।

विज्ञापन की कला (Technique of Advertising)

विज्ञापन का प्रयत्न (Advertising Compaign) :—"प्रयत्न" (Compaign) से यहाँ हमारा तात्पर्य किसी वस्तु के बिक्री सम्बन्धी उस प्रयत्न से है जिसके द्वारा समय या असमय पर भी विज्ञापन द्वारा किसी वस्तु की माँग बढ़ाकर उससे सफलता प्राप्त की जाती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि यह बात बिल्कुल असम्भव होगी, परन्तु यदि देखा जाय तो अनुभव एवं ज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि विज्ञापन द्वारा सब कुछ सम्भव हो सकता है। इस विज्ञापन के प्रयत्न के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक होती हैं —

(१) बाजार का विस्तार, विभिन्न मनुष्यों के स्वभाव, बिक्री का नियमित एवं सामयिक स्वरूप तथा कम या अधिक मात्रा में खरीदने का ज्ञान होना चाहिए।

(२) वस्तु वितरण के समस्त स्रोतों का परिचय होना चाहिए कि क्या वे वर्तमान स्थिति में उपयुक्त रीति से वितरण कर सकते हैं अथवा उनमें किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता है।

(३) प्रयत्न के विस्तार का ज्ञान होना चाहिए कि देश के कौन से भाग में अभी तक विज्ञापन नहीं पहुँचते और कहाँ-कहाँ पर सुगमता से पहुँच जाते हैं।

(४) विज्ञापन का कौनसा ढंग अधिक मितव्ययी होगा इसका ज्ञान रखना चाहिए।

(५) विज्ञापन के मूल एवं केन्द्रीय विचारों का ध्यान रखना चाहिए, जिनपर कि समस्त विज्ञापन आधारित रहते हैं, क्योंकि विज्ञापन के विचारों की दृढ़ता पर ही उसकी प्रभावशालीनता निर्भर रहती है।

(६) मनुष्यों की प्रमुख इच्छाओं का ज्ञान रहना चाहिए क्योंकि उसी से उन्हें विज्ञापन अपनी ओर आकर्षित कर सकता है।

(७) विज्ञापन के तार्किक (Argumentative), ध्वन्यात्मक (Suggestive), शिक्षात्मक (Educational) आदि तत्वों की जानकारी होनी चाहिए।

(८) विज्ञापन के स्थान तथा स्थिति (Position) का विचार करना चाहिए।

(९) विज्ञापन की प्रतिलिपि कराना चाहिए तथा उसे प्रकाशकों के यहाँ छपने के लिये भेजकर उसके प्रभाव का निरीक्षण करना चाहिए।

विज्ञापन के साधन (Advertising Media) —विज्ञापन में सदैव व्यय होता है और जब तक वह भली प्रकार नहीं निकलता तब तक उस पर किया हुआ व्यय व्यर्थ ही जाता है। इसीलिए मुख्य उद्देश्य का ध्यान रखकर ही विज्ञापन का साधन अपनाना चाहिए। कभी भी अपने मित्र के कहने में आकर तथा अन्य लोगों के विज्ञापन की नकल करके यह कार्य करना अच्छा नहीं होता। इसके लिये

विज्ञापन-संस्थाओं से उचित सलाह लेना अच्छा होता है क्योंकि उनमें बड़े बड़े विशेषज्ञ इसी कार्य के लिए नियुक्त रहते हैं तथा उनके अनुभव से हानि की संभावना कम रहती है। आजकल विज्ञापन के विभिन्न साधन (media) प्रचलित हैं जिनका वर्गीकरण निम्न रीति से किया जा सकता है —

(क) समाचार-पत्रीय विज्ञापन (Press Advertising)—जैसे, दैनिक-पत्रों, मासिक-पत्रों आदि के विज्ञापन।

(ख) दीवारों के या बाह्य विज्ञापन (Mural or Outdoor advertising)—जैसे, दीवारों पर चिपके हुए विज्ञापन-पत्र, विद्युत् प्रशोभन, विज्ञापन फलक आदि।

(ग) डाकद्वारा प्रत्यक्ष विज्ञापन (Direct Mail advertising)—जैसे, पत्रों, सूचना-पत्रों, सूची-पत्रों, मूल्य-पुस्तकों आदि का भेजना।

(घ) अन्य मिश्रित विज्ञापन (Miscellaneous advertising) जैसे; द्वार सुसज्जित करके तथा तांत्रिक या व्यापारिक पत्रों में भेजकर विज्ञापन करना।

उपर्युक्त वर्ग में से किसी एक प्रकार के प्रभावी विज्ञापन साधन को चुनकर तथा बाजार की पूर्तियुक्त वस्तुओं का संग्रह करके एवं विज्ञापन के क्षेत्र के सभी मनुष्यों का परिचय लेते हुए विज्ञापन करना चाहिए। विज्ञान का साधन अपनाते समय निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिए —

(१) विज्ञापन का कौनसा साधन जनता के लिये प्रभावी एवं चित्ताकर्षक होगा, उसका विज्ञापन के लिये किस प्रकार का बर्ताव एवं व्यवहार रहेगा तथा कितने समय तक वह जनता को प्रभावित कर सकेगा?

(२) उस साधन को कितने लोग पसन्द करेंगे तथा किस प्रकार के लोग उसे पढ़ेंगे? विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों को सामाजिक स्थिति, कार्य, शिक्षा तथा धर्म आदि की दृष्टि से भिन्न भिन्न समूहों में विभाजित कर लेना चाहिए। इसके साथ ही ग्रामीण तथा नागरिक की दृष्टि से भी उनका विभाजन करना ठीक रहता है। सबसे प्रमुख बात यह है कि इस बात का विचार करना चाहिये कि कौनसा समूह अधिक कार्यशील है और उसी की दृष्टि से विज्ञापन को प्रमुखता देनी चाहिए।

(३) वे कौन से सुझाव हैं जिनसे मनुष्य प्रभावित होते हैं? सुझाव प्राप्त करने के लिए पाठकों की विज्ञापन पढ़ते समय की राय लेनी चाहिए। उससे नये नये परिवर्तन करने में भी सहायता मिलती है। प्रत्येक समय जनता कभी एक ही विज्ञापन का स्वागत नहीं करती। जैसे, एक तन्दुरुस्त एवं स्वस्थ व्यक्ति को भी औषधि देना लाभदायक नहीं होता, वैसे ही आवश्यकता न होने पर किसी वस्तु का विज्ञापन करना व्यर्थ सिद्ध होता है।

(४) किस प्रकार के विज्ञापन की वही बात प्रभावशाली ढंग में पुनः दुहराई जाती है यह देखना चाहिए क्योंकि इसी से सफलता मिलती है।

(५) समस्त शक्तिशाली विज्ञापनों में कितना व्यय होता है तथा अपने सोचे हुए विज्ञापन में अन्य विज्ञापन के अलावा कितना अधिक या कम व्यय होगा और उसका कितना प्रभाव होगा यह पहले विचारना चाहिए।

(६) विज्ञापन के अन्य प्रकार जैसे तार्किक ध्वन्यात्मक आदि जनता पर कितना असर डाल सकते हैं, इसका ज्ञान होना चाहिए।

(७) विभिन्न साधनों को अपनाने में कितने समय तक हम विज्ञापन से लोगों को आकर्षित कर सकते हैं, इसका विचार कर लेना चाहिए। durability

(८) विभिन्न प्रकार के विज्ञापन सम्बन्धी माध्यमों, जैसे—रंगीन, चित्रवाले आदि में से कौनसा माध्यम अधिक प्रभावी होगा, इसका ज्ञान होना चाहिए।

(९) विज्ञापन के अन्य माध्यमों का क्या स्वरूप है तथा वस्तुओं को जनता के सम्मुख प्रस्तुत करने में एवं जनता को मोहित करने में वे कहाँ तक प्रभावशाली होते हैं, इसका भी ध्यान रखना आवश्यक होता है।

(१०) विज्ञापन के किस माध्यम एवं साधन का जनता अधिक आदर करती है, कौनसा अधिक प्रसिद्ध एवं प्रचलित है, इसका ज्ञान होना चाहिए। यह बात निर्विवाद सत्य है कि जिस साधन का अधिक आदर किया जाता है, वही सबसे अधिक प्रयोग में लाया जाता है और वही सब से अधिक शक्तिशाली होता है। उदाहरण के लिए, जनता किसी समाचार पत्र को खरीद सकती है परन्तु उसे नहीं पढ़ती, वह किसी विज्ञापन-पत्र के नीचे से निकल सकती है परन्तु उसे नहीं देखती, वह डाक द्वारा सूचीपत्र आदि प्राप्त कर सकती है परन्तु उसे बिना पढ़े ही फेंक देती है, वह सिनेमा देखने जा सकती है परन्तु विज्ञापन की स्लाइडों या चित्रपटों पर ध्यान नहीं देती, वह बेतार का यन्त्र (Wireless Set) रख सकती है परन्तु उसमें आने वाले विज्ञापनों पर ध्यान नहीं देती। अतः यह आवश्यक नहीं कि किसी प्रकार यदि लोग ध्यान कम देते हैं तो वह विज्ञापन शक्तिशाली नहीं है, क्योंकि ध्यान न देना या कम देना यह किसी विज्ञापन के प्रभाव एवं शक्ति का मापदंड नहीं होता।

कुछ दैनिक, साप्ताहिक या मासिक पत्रों का जनता में अत्यधिक आदर रहता है, और इसी कारण प्रायः यह देखा जाता है कि लोग उन्हीं पत्रों में अपने-अपने विज्ञापन अधिक मात्रा में दिया करते हैं। यह रीति किसी प्रकार ठीक भी है क्योंकि उन पत्रों का जनता में अधिक आदर नहीं और जिन्हें वह पढ़ना पसन्द नहीं करती उनमें विज्ञापन देने से कोई महत्त्व नहीं होता। इसके अलावा किसी विज्ञापन का कितने समय का जीवन होता है यह जानना भी आवश्यक माना गया है। दैनिक पत्र

प्राय: कुछ घण्टे पढे जाते हैं, इसके उपरान्त उन्हें एक ओर डाल दिया जाता है। मासिक पत्र उसकी अपेक्षा अधिक समय तक हाथों में रहते हैं क्योंकि उन्हें एक व्यक्ति पढकर दूसरे को तथा दूसरा तीसरे को देता रहता है और वे कितने ही व्यक्तियों द्वारा महीने भर में पढे जाते हैं। इस तरह उनका जीवन अधिक होता है। एक छोटे से बॉटे जाने वाले विज्ञापन-पत्र का जीवन अत्यन्त अल्प होता है, क्योंकि वह उसी समय तक हाथ में रहता है, जिस समय तक कोई व्यक्ति किसी स्थान पर खड़ा होकर उसे पढे। परन्तु यदि विज्ञापन सूचीपत्र, मार्गदर्शक-पत्रिका (Directory), स्याही सोख्ता, कलमदान या तिथि-पत्र (Calendar) आदि पर दिया जाता है तो उसका जीवन अपेक्षाकृत सबसे अधिक होता है और अन्य साधनों की अपेक्षा मितव्ययी भी होता है क्योंकि कम व्यय पर ही अधिक से अधिक लोग इन वस्तुओं को अपने पास रखते हैं और जब तक ये वस्तुयें उनके पास रहती हैं तब तक उनमें दिये गये विज्ञापन पर उन लोगों की दृष्टि जाती रहती है।

(क) समाचारपत्रीय विज्ञापन (Press Advertising)

प्राय: व्यापक दृष्टि से किसी बात की सूचना देने के लिये समाचारपत्रों का ही उपयोग किया जाता है। इसके मुख्य दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि समाचार पत्र या मैगजीन सदैव अधिक से अधिक लोगों द्वारा पढी जाती हैं तथा दूसरे इन दैनिक या मासिक-पत्रों में विज्ञापन विभिन्न रीति से किया जा सकता है। इसके साथ ही यहाँ विज्ञापन करने वाले को निर्वाचन करने का अच्छा अवसर मिल जाता है।

समाचारपत्रीय विज्ञापनों को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—पहला "वर्गीकृत विज्ञापन" (Classified Advertisement) तथा दूसरा "अवर्गीकृत विज्ञापन" (Unclassified Advertisement)। वर्गीकृत विज्ञापन में प्राय: वस्तुओं के नाम, विवरण, पते तथा अन्य विशेषताएँ संक्षिप्त रूप में दी जाती हैं। वे मनुष्यों को एकदम आकर्षित नहीं करते, परन्तु जो व्यक्ति किसी विशेष वस्तु की क्रय-विक्रय सम्बन्धी जानकारी प्राप्त करना चाहता है, उसे इस विज्ञापन से अधिक लाभ होता है। इसके अलावा एक अवर्गीकृत विज्ञापन के लिए असीमित स्थान रहता है। वह प्राय समाचार-पत्र के पूरे पृष्ठ पर या आधे में या चौथाई भाग में दिया जाता है।

समाचारपत्रीय विज्ञापन दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक पत्रों एवं विशेष व्यापारिक पत्रों (Journals) में दिये जाते हैं। सभी प्रकार के पत्रों में सारे देश के अन्तर्गत प्रचार करने की दृष्टि से विज्ञापन भेजे जाते हैं, परन्तु इनमें विज्ञापन भेजने के उद्देश्य सदैव पृथक्-पृथक् होते हैं। राष्ट्रीय दैनिक पत्रों में प्राय: अधिक लाभ की दृष्टि से विज्ञापन दिया जाता है, परन्तु यदि किसी ऐसे स्थान में विज्ञापन पहुँचाना हो जहाँ वह दैनिक पत्र नहीं जाता, तो किसी दूसरे प्रान्तीय समाचार पत्र का आश्रय

लेना पड़ता है। सध्या के समय निकलने वाले पत्रों में स्थानीय विज्ञापन देने से अधिक लाभ होता है। साप्ताहिक एवं मासिक पत्रों का कार्य दैनिक पत्रों से सर्वथा भिन्न होता है। इनका जीवन अधिक होने के कारण ये प्राय. अधिकांश लोगों द्वारा पढे जाते हैं। इनमें जो विज्ञापन दिये जाते हैं वे भी इसी कारण शीघ्र प्रभाव डालने वाले नहीं होत, वरन् धीरे धीरे मस्तिष्क में संस्कार जमाने का प्रयत्न करते हैं। खेल-कूद के सामान तथा बच्चों के पत्रों आदि पर जो विज्ञापन दिये जाते हैं वे अपेक्षाकृत अधिक आकर्षण पैदा करने वाले होते हैं, परन्तु उनका प्रचार-क्षेत्र सीमित रहता है।

(१) एक समाचारपत्रीय विज्ञापन को प्रभावशाली होने के लिए व्यापक दृष्टिकोण रखना चाहिए। उसे व्यक्तिगत इच्छा की अपेक्षा व्यापक इच्छा को संतुष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। यह अपील या दृष्टिकोण ही विज्ञापन का अत्यन्त महत्वपूर्ण अग होता है क्योंकि किसी वस्तु के लिये किसी व्यक्ति को लालायित करना तथा खरीदने के लिये तैयार करना सदैव विज्ञापन की अपील तथा दृष्टिकोण पर निर्भर रहता है। यह अपील सभी जनता को मोहित एवं आकर्षित करने वाली होनी चाहिए। विज्ञापन एक सुसम्पादित समाचार की भाँति होने चाहिए' तथा वे इस प्रकार प्रस्तुत किये जाने चाहिए' कि यदि कोई व्यक्ति अचानक उन्हें पढे तो उस पर भी स्थायी प्रभाव डालने में वे समर्थ हो जायँ, क्योंकि प्राय' लोग विज्ञापनों से ही प्रभावित होकर अपनी आवश्यकता की पूर्ति करने वाली वस्तुओं के लिए आदेश दिया करते हैं, अत. विज्ञापन से उनका सतुष्ट होना प्रत्येक दशा म आवश्यक होता है। इन विज्ञापनों में अधिक हृदयभेदी बातों का होना अच्छा नहीं होता, इसमें केवल अपनी वस्तु का सूक्ष्म कथन होना चाहिए।

विज्ञापनों की अपील सदैव ग्राहकों की इच्छाओं को देखकर निश्चित करनी चाहिए। इसके लिए ग्राहकों, उनकी इच्छाओं, आदतों एव आवश्यकताओं का अध्ययन करना आवश्यक होता है। प्रतिस्पर्द्धा करने वालों का भी ध्यान रखना चाहिए। कभी-कभी प्रतिद्वन्दी की भूलों से अच्छा लाभ प्राप्त होता है। यदि एक बार किसी विज्ञापन की बातों को हृदय पर जमाने के लिए ग्राहकों का अच्छी तरह अध्ययन कर लिया जाता है तो लोगों की कितनी ही इच्छाओं एवं प्रवृत्तियों (Instincts) की पूर्ति हो जाती है। ये प्रवृत्तियाँ प्राय. मुख्य रूप से तीन होती हैं; पहली स्वरक्षा प्रवृत्ति (Self-preservation Instinct)—इसमें भोजन, गर्मी, स्वास्थ्य, कुशलता तथा नीरोगता आदि की अभिलाषा रहती है। दूसरी पैतृक-प्रवृत्ति (Parental Instinct) कहलाती है, इसमें बच्चों को सुरक्षा तथा उनकी इच्छा और कुशलता बनाये रखने की भावना रहती है। तीसरी, सामाजिक इच्छायें (Social desires) कहलाती हैं, इसमें आमोद-प्रमोद, महत्वाकांक्षा और वैवाहिक तथा रूढिगत कार्यवाहियाँ आती हैं। इसलिये

किसी वस्तु के विज्ञापन को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये, उस वस्तु के लिये लोगों की प्रवृत्ति का अध्ययन करना आवश्यक होता है। जैसे, यदि किसी सस्ते मूल्य वाली मोटर-कार का विज्ञापन करना है तो लोगों को मितव्ययता का आकर्षण उपस्थित करना चाहिए और यदि किसी ऊँचे मूल्य वाली मोटर कार का विज्ञापन करना है तो जनता का ध्यान आराम, आनन्द तथा सामाजिक महत्त्व की ओर आकर्षित करना चाहिए। यदि किसी कपड़े धोने के साबुन का विज्ञापन करना है तो उस साबुन से कपड़े साफ करने के गुण तथा तत्सम्बन्धी विशेषताओं का प्रचार करना आवश्यक होता है। इसके साथ ही यदि कोई नहाने वाला साबुन है तो उसका विज्ञापन करते समय उसके द्वारा सौन्दर्य एवं आनन्द के बढ़ने तथा त्वचा को सुरक्षित रखने वाली बातों का विवरण देना अधिक प्रभावशाली होता है।

विज्ञापन-लेखन (Copy-writing)—विज्ञापन सम्बन्धी कार्यों में विज्ञापन का प्रभावशाली ढंग से लिखना अत्यन्त कठिन कार्य होता है। यह कार्य प्रायः अच्छे अच्छे कलाकार (Artists) किया करते हैं, क्योंकि वे ही जनता को आकर्षित करने तथा वस्तुओं को उपयुक्त रूप से सजाने का काम भली प्रकार जानते हैं। वैसे विज्ञापन को यशस्वी ढंग से लिखने के लिये कुछ सिद्धान्त स्थिर किये गये हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि लिखा हुआ विज्ञापन ऐसा होना चाहिए जो सुगमता से लोगों द्वारा देखा जा सके, पढ़ा जा सके और उसमें दिए हुए संदेश को ग्रहण करने में कोई कठिनाई न हो। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जनता के हृदय में आकर्षण उत्पन्न करने वाली तीन बातें हैं। वे संक्षिप्त रूप में इस प्रकार हैं:—

(क) ध्यान आकर्षण करना (Attracting the attention):—प्रायः जनता की वस्तु-ग्रहण-शक्ति दुर्बल होती है, अतः जबतक उनका ध्यान कोई वस्तु आकर्षित नहीं करती, तब तक वे उसकी ओर दृष्टि उठा कर नहीं देखते। इस आकर्षण के लिए प्रायः नवीनता (Novelty) लाना अधिक लाभप्रद होता है। जैसे, बसों की अपेक्षा वायुयानों को अधिकांश लोग देखा करते हैं। इसका अर्थ यह है कि विज्ञापन को प्रभावी एवं आकर्षक बनाने के लिए उसमें कुछ न कुछ नवीनता का होना अनिवार्य होता है। आधुनिक युग में प्रायः लोग अपने अपने कार्यों में अधिक व्यस्त रहते हैं, अतः जब तक उनका ध्यान आकर्षित करने के लिए कोई नई वस्तु उनके सामने नहीं आती, तब तक वे पढ़ने के लिए तैयार नहीं होते और अच्छे से अच्छे विज्ञापन को उपेक्षा कर देते हैं। इसी कारण नाना प्रकार के रंगों से युक्त सुन्दर-सुन्दर चित्रों वाले विज्ञापनों का अधिक प्रभाव पड़ता है। इसके अलावा विज्ञापन के लिए समुचित स्थान का होना भी आवश्यक होता है। यदि कोई विज्ञापन अन्य विज्ञापनों के बीच में लगाया जाता है तो वह लोगों का ध्यान अधिक आकर्षित कर

सकता है। यही कारण है कि कितने ही लोग मासिक एवं दैनिक समाचार-पत्रों में पूरे पूरे पृष्ठ पर विज्ञापन दिया करते हैं।

(ख) ध्यान को अपने अधिकार में कर लेना (Holding the attention) —एक प्रभावशाली विज्ञापन लोगों के ध्यान को अपने अधिकार में कर लेता है जिससे वे घण्टों उसे पढ़ते रहते हैं और उसका स्थायी प्रभाव भी रहता है, क्योंकि लोगों के मस्तिष्क में वह पढ़ने के लिये रुचि जाग्रत कर देता है। इसके लिए विभिन्न विचारों को एक स्थान पर केन्द्रित करना आवश्यक है और लगातार चित्ताकर्षक विज्ञापनों का निकालना अधिक लाभप्रद होता है, क्योंकि बार-बार किसी बात को मनोमोहक ढंग से दुहराने के कारण लोगों को उसकी याद बनी रहती है। फर्म के पुराने नाम तथा वस्तुओं के नामों को नवीन बातों के साथ बार-बार प्रस्तुत करने से लोगों को उसका ध्यान सदैव बना रहता है। परन्तु यदि वे ही बातें कुछ नवीनता के साथ नहीं दुहराई जातीं तो उसका विपरीत परिणाम भी हो सकता है। ध्यान को ग्रहण एव आकर्षित करने के दूसरे और भी साधन हैं, जैसे चित्रों द्वारा, विभिन्न प्रकार की सजावट के द्वारा, नाना प्रकार के रंगों व बेल-बूटों द्वारा भी विज्ञापन आकर्षक बनाये जाते हैं। इसके साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि विज्ञापन उस पृष्ठ या दीवार अथवा सड़क पर होना चाहिए जिस पर अनायास ही लोगों की दृष्टि पड़ती हो।

(ग) हृदय लालायित कर देना (Evoking the response) — प्रत्येक विज्ञापन में सीधे विचारों तथा भावनाओं पर प्रभाव डालने की क्षमता होनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि विज्ञापन मनुष्यों के ध्यान को आकर्षित करके विज्ञापित वस्तुओं को लेने के लिये उनके हृदय को लालायित करने वाला होना चाहिए। इस कार्य के लिये उसमें किसी न किसी स्वरूप में कोई ऐसा संकेत होना चाहिए, जो स्मृति पर प्रभाव डालन वाला हो, विचारों को उभारने वाला हो तथा भावनाओं में स्पदन पैदा करके वस्तुओं के प्रति विश्वास उत्पन्न करने वाला हो। विज्ञापन में इसीलिए दृढ निश्चय एव भावनाओं का अधिक महत्त्व होता है।

विज्ञापन की प्रति के लिये कुछ और भी आवश्यक बातें होती हैं। वे इस प्रकार हैं :—

(१) उस प्रति (Copy) में सुदृढ़ शर्तें रहनी चाहिए ; विश्वास उत्पन्न करने के लिए उसमें निश्चित उदाहरणों का समावेश रहना चाहिए तथा अनिश्चित बातों का दिग्दर्शन, चाहे वह विद्वत्ता के साथ ही क्यों न किया गया हो, व्यर्थ एव अनावश्यक होता है।

(२) जो विचार पाठकों के मस्तिष्क में किसी वस्तु के बारे में पहले ही दृढ़ हो जाते हैं, उन विचारों से सम्बन्ध रखते हुए ही विज्ञापन निकालना चाहिए। इसका

अर्थ यह है उसमें ऐसी वाक्य-रचना होनी चाहिए जो ग्राहकों की आवश्यकता तथा उस समय की प्रवृत्ति के अनुकूल हो तथा समाचार पत्र की किसी घटना को लेकर लिखी गई हो।

(३) विज्ञापन की प्रति विज्ञापित वस्तु के अनुकूल होनी चाहिए, जिन व्यक्तियों के लिए वह तैयार की गई है उन्हीं के उपयोग की होनी चाहिए जिससे वे उसे पढ़कर लाभ उठा सकें, समय का ध्यान रखते हुए तैयार की जानी चाहिए तथा उपयुक्त ढंग की होनी चाहिए। यदि हम किसी खेल की वस्तु का विज्ञापन करते हैं तो विज्ञापन की प्रति भी खेल के समान विचारों को ही लेकर तैयार की जानी चाहिए। यदि किसी महत्त्वशाली वस्तु का विज्ञापन करना है तो उसकी प्रति के लिए गम्भीर एवं उन्नत वाक्यावली का प्रयोग आवश्यक होता है। वैसे ही यदि बच्चों के लिए विज्ञापन किया जाता है तो भाषा का अत्यन्त सरल, मधुर एवं सुगम होना अपेक्षित है।

(४) विज्ञापन की प्रति में अपनी इच्छित भावना का प्रदर्शन कम से कम शब्दों में होना श्रेष्ठ होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि विज्ञापित वस्तु सम्बन्धी मुख्य-मुख्य बातों में से कुछ प्रभावशाली बातों को भी छोड़ देना चाहिए। इसका यह तात्पर्य है कि यदि विज्ञापन का संदेश सूक्ष्म न होकर अधिक लम्बा होगा तो उसे कम लोग पढ़ना पसन्द करते हैं, कम व्यक्ति ही समझते हैं तथा कम लोग ही याद रख सकते हैं। इस संक्षिप्त विवरण के कारण स्थान भी थोड़ा ही आवश्यक होता है और वह सूक्ष्म संकेत अधिक प्रभाव उत्पन्न करने वाला होता है।

(५) विज्ञापन की प्रति शीघ्र ही समझ में आ जाने वाली होनी चाहिए। उसमें लिखा हुआ संदेश ऐसा होना चाहिए जिससे जनता की रुचि तुरन्त जाग्रत हो जाय और वह उसमें लिखी हुई प्रत्येक बात को मनन कर सके।

(६) विज्ञापन की पद्धति दृढ़ विश्वास-युक्त होनी चाहिए। यहाँ तक कि उस प्रति के लिखने वाले को भी अपने शब्दों पर पूर्ण भरोसा होना चाहिए कि वे लोगों के हृदय में प्रवेश करके एक अभूतपूर्व प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं और उसे अपने पाठकों को संतुष्ट करने की पूर्ण आशा रहनी चाहिए।

(७) विज्ञापन की प्रति लोगों की इच्छा जाग्रत करने वाली होनी चाहिए। इसके साथ ही उसमें उन इच्छाओं की पूर्ति करने के साधनों का भी स्पष्ट विवेचन रहना चाहिए। उसमें प्रभावी शक्ति होना आवश्यक होता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि विज्ञापन की प्रति में ऐसी शक्ति होनी चाहिए जिससे लोग स्वतः वस्तुओं के खरीदने को लालायित हो जायँ।

(८) लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए उसमें सुन्दर-सुन्दर डिजाइ तथा भिन्न-भिन्न प्रभावोत्पादक ढगों को अपनाना चाहिए।

(६) विज्ञापन की प्रति का शीर्षक आकर्षक होना चाहिए तथा उस दिया हुआ विवरण रुचिवर्द्धक एवं प्रभावी होना आवश्यक होता है। जब तक पाठ का हृदय आकर्षित नहीं होता, तब तक वह पृष्ठ ही पलटता रहता है, परन्तु हृद आकर्षित करने वाली वस्तु पर अनायास ही उसकी दृष्टि जम जाती है। अत: प्रति व आकर्षक होना आवश्यक है।

(१०) विज्ञापन की प्रति चतुराई से भरी हुई नहीं होनी चाहिए। उस आवश्यक और चित्ताकर्षक बातें रहनी आवश्यक होती हैं। वह ऐसी ध्वन्यात्मक हो चाहिए कि जिससे पाठक उसके शब्दों पर ही न रुकता हुआ उसके सदेश व ग्रहण कर सके। उसमें लिखी हुई सभी बातें उपयुक्त एवं विश्वास जाग्रत करने-वाल होनी चाहिए।

(११) विज्ञापनों में चित्रों का प्रयोग अत्यन्त लाभदायक होता है। प्राय ये चित्र चार उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं, अर्थात ध्यान आकर्षित करने वाले होते हैं विचारों को बढ़ाने वाले होते हैं, वातावरण निर्माण करने वाले होते हैं तथा प्रभा डालने वाले होते हैं।

(१२) विज्ञापन की प्रति में बिक्री-दर या मूल्य का निर्देश उपयुक्त रीति व होना चाहिए।

विज्ञापन की प्रति के लिए सबसे मुख्य बात यह है कि वह एक स्थायी प्रभाव स्थापित करने वाली होनी चाहिए और वह प्रभाव शब्दाडम्बर तथा विवरण की अधिकता के कारण कभी-कभी कम हो जाता है। अत व्यर्थ का वाग्जाल बढाना अच्छा नहीं होता। प्रत्येक विज्ञापित वस्तु के लिए अलग-अलग प्रतियाँ तैयार कराना अच्छा होता है, क्योंकि ऐसा करने से समस्त विज्ञापन की प्रति का ध्यान एक वस्तु पर ही केन्द्रित रहता है और वह लोगों पर भी उस वस्तु का स्थायी प्रभाव डाल सकती है।

जिस विज्ञापन की प्रति में उपर्युक्त बातें नहीं होतीं, वह अपने अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति में असफल रहती है। यद्यपि वह बड़े परिश्रम तथा व्यय के साथ तैयार की जाती है, परन्तु उद्देश्य की पूर्ति न करने के कारण वह व्यर्थ होती है। यही कारण है कि विज्ञापन की प्रति सम्बन्धी आवश्यक बातों के न जानने के कारण पर्याप्त धन विज्ञापन में यों ही व्यय कर दिया जाता है और व्यापार में उससे कोई लाभ नहीं होता।

विज्ञापन का उद्देश्य प्राय: जनता को वस्तुयें खरीदने के लिए तैयार करना होता है, केवल वस्तुओं के बारे में बातें करने या विचार करने के लिये जनता को

तैयार करने का मंतव्य नहीं होता। जनता के अधिकांश लोग पेटेन्ट औषधियों, प्रसिद्ध पियानो, जूते, किताबें, सिगरेट, को-को, नाटक, साबुन, विस्की (Whisky) आदि का उपयोग न करते हुए भी अच्छी तरह परिचित होते हैं। अतः इन वस्तुओं के बारे में विज्ञापन करना प्रायः असफल ही सिद्ध होता है।

उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त विज्ञापन की प्रति सम्बन्धी कुछ बुराइयाँ भी होती हैं, जिनका परित्याग करना सर्वथा आवश्यक होता है। अतः विज्ञापन की प्रति तैयार करते समय इनका ध्यान रखना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—

(१) कभी भी आडम्बरपूर्ण एवं मिथ्या कथन या विवरण उपस्थित नहीं करना चाहिए।
(२) कभी भी क्लिष्ट एवं बायवी भाषा तथा लम्बे-लम्बे शब्दों को प्रयोग नहीं करना चाहिए।
(३) ग्राहक को विश्वास उत्पन्न कराते समय अपने विचार प्रस्तुत न करके, सत्य का उद्घाटन करना चाहिए।
(४) कभी भी अतिशयोक्ति एवं नकारात्मक विवरण का प्रयोग नहीं करना चाहिए।
(५) अत्युक्ति तथा असत्य का सहारा नहीं लेना चाहिए।
(६) कभी भी व्यर्थ के प्रश्न एवं वाक्यों का प्रयोग नहीं करना चाहिए, जिससे ग्राहकों के हृदय में क्रोध एवं उत्तेजना पैदा हो।

विज्ञापन की प्रति का खाका (Lay-out) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। इसमें विज्ञापन का विषय, चित्र, व्यापार-चिह्न आदि का विवेचन रहता है। खाका बनाने का उद्देश्य यह होता है कि जिससे विज्ञापन करने वाला अपने मन की बातों को विज्ञापन-निर्माता को बताये, और वह ग्राहक को उसका साधारण विचार दे सके। खाके के ऊपर विज्ञापन की लम्बाई-चौड़ाई लिखनी चाहिए। संक्षेप में खाका बनाने का ध्येय यह रहता है कि जिससे छापेखाने में कम्पोजीटरों को यह समझाया जा सके कि समाचार-पत्र के किस स्थान पर, कितने साइज में, और किस-किस चित्र या ब्लॉक के साथ यह विज्ञापन दिया जायेगा। विज्ञापन सम्बन्धी सभी सूचनायें उस खाके पर एक ओर गोल दायरा बना कर लिख देनी चाहिए।

भिन्न-भिन्न विज्ञापन की रीतियों का व्यय जानने के लिये प्रत्येक विज्ञापन-रीति की कुंजी रहती है। उससे समस्त जानकारी प्राप्त हो जाती है। जिस प्रकार का विज्ञापन ग्राहक कराना चाहता है उसे उसी प्रकार का विज्ञापन करने वाले विभाग में भेज दिया जाता है और वहाँ आकर उसे उस प्रकार के विज्ञापन का ढंग तथा उसके व्यय का पता चल जाता है। कुंजी की योजना प्रायः निम्न रीति से काम में लाई जाती है :—

(१) यदि आप किसी घड़ी की विज्ञापन सम्बन्धी बातें जानना चाहते हैं तो "अच्छी घड़ी जानने की रीति" (How to know a good Watch) वाले शीर्षक के लिए हमारे यहाँ लिखिये।

(२) यदि आप कारों के विज्ञापन के बारे में जानना चाहते हैं तो आपकी प्रार्थना पर "सुन्दर कारों की पुस्तक" (A Book of Beautiful Cars) भेज दी जायगी।

(३) इस विषय में आप हमारी पुस्तिका क्रमाङ्क K-23 (Booklet No K-23) मँगाइये।

(४) इसके बारे में अन्य विज्ञापनों से कूपनें काटकर भेजी जायेंगी।

(५) उत्तर देते समय मैगजीन का नाम लिखकर भेजिये।

समाचारपत्रीय विज्ञापन से कुछ निश्चित लाभ होते हैं। इसके द्वारा पाठकों के एक निश्चित वर्ग को सुगमता से सूचित किया जाता है। इसके आधार पर वस्तुयें डाक द्वारा भी बेची जा सकती हैं। इसके द्वारा प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है। इसके द्वारा अधिकांश जनता को वस्तुओं का परिचय देने का सुअवसर मिल जाता है क्योंकि समाचार पत्रों को पढ़ते-पढ़ते अनायास ही चित्रों पर सभी की दृष्टि पड़ जाती है। इसके द्वारा विज्ञापन पद्धति की भूमिका निर्माण हो जाती है तथा इसके साथ ही वितरण करने, मोड़ने तथा कूपन या आवेदन पत्रों के भेजने का भी ज्ञान इस विज्ञापन-पद्धति द्वारा प्राप्त हो जाता है।

(ख) दीवारों पर किये जाने वाले विज्ञापन (Mural Advertising)

दीवारों के विज्ञापन को बाह्य विज्ञापन (Out door Advertising) भी कहते हैं। यह अनेक प्रकार से किया जाता है और सदैव तार्किक (Argumantative) होने की अपेक्षा किसी सीमा तक ध्वन्यात्मक (Suggestive) होता है। ऐसे विज्ञापन प्रायः वस्तुओं के बारे में एक वातावरण निर्माण करने के लिए, वस्तुओं के नाम और उसकी विशेषताएं जनता के मस्तिष्क में स्थापित करने के लिए तथा वस्तुओं के मिलने के स्थानों की सूचना देने के लिए किये जाते हैं।

दीवारों के विज्ञापन सदैव समाचारपत्रीय विज्ञापनों के पूरक होते हैं। बहुधा जो वस्तुयें सर्वसाधारण के प्रयोग की नहीं होतीं, उनके लिए इस प्रकार का विज्ञापन करना कोई भी महत्त्व नहीं रखता। जैसे, स्वयं-सचालित बुनने की मशीन या सूक्ष्म दर्शक यन्त्र (microscope) कुछ विशेष मनुष्यों की रुचि से सम्बन्ध रखने वाले होते हैं, इसका उपयोग सर्व साधारण में नहीं होता। अतः इन वस्तुओं का दीवारों पर विज्ञापन करना सर्वथा अनुपयुक्त है। हाँ, पोस्टरों द्वारा विज्ञापन करना उचित होता है। दीवारों के विज्ञापन के लिए जनता में प्रचलित वस्तुओं को ही लेना चाहिए, जैसे गृहस्थी की वस्तुयें, अन्न आदि, शराब, साबुन, कैमरा तथा अन्य उपयोगी वस्तुओं का

विज्ञापान दीवारों पर किया जा सकता है। इसके अलावा, सरकस, सिनेमा या नाटक की सूचना, हॉकी या फुटबाल आदि के मैचों की सूचना, नाच-गान के कार्यक्रम की सूचना आदि भी दीवारों के विज्ञापनों द्वारा दी जा सकती हैं। जब कभी ऐसा अवसर होता है कि किसी वस्तु के बारे में एक सीमित क्षेत्र के अन्तर्गत ही अच्छा प्रयत्न करना होता है तो उसके प्रचार के लिए यह विज्ञापन अच्छा साधन सिद्ध होता है। कभी-कभी किसी वस्तु के लिए फुटकर विक्रेताओं को आकर्षित करने के हेतु भी इस विज्ञापन का प्रयोग किया जाता है जिससे प्रभावित एवं सूचित होकर वे लोग उसका अधिक से अधिक संग्रह कर लेते हैं और उसे बेचकर लाभ उठाते हैं। प्रायः दीवारों के विज्ञापन के लिए सर्वसाधारण जनता के प्रयोग की वस्तुओं को ही चुनना अधिक लाभप्रद होता है और उसके लिए विज्ञापन कर्ता को अच्छी प्रकार व्यय करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए।

दीवारों पर अनेक प्रकार से विज्ञापन किये जाते हैं। स्थानों पर इश्तहारों का चिपकाना अथवा जगह-जगह बड़े-बड़े पोस्टरों का लगाना ही इसकी प्रचलित पद्धतियाँ हैं, परन्तु इसके अलावा और भी साधन प्रयोग में लाये जाते हैं, जैसे बड़े बड़े भवनों की दीवारों या छतों, चिमनियों या अन्य ऊँचे-ऊँचे विज्ञापन के उपयुक्त स्थानों पर विज्ञापन लिखवाये या चिपकाये जाते हैं। इसके साथ ही सड़कों या रेलवे लाइनों के किनारे दीवारों पर तथा वायुयान के द्वारा धूँये से अक्षर लिखवाते हुए या गुब्बारों पर वस्तुओं का सूक्ष्म विवरण देकर उन्हें उड़ाते हुए भी विज्ञापन किया जाता है। इस प्रकार के विज्ञापन का एक ढंग यह भी है कि समस्त स्थानीय यातायात के साधनों पर अपने-अपने बोर्ड या विज्ञापन फलक लगा दिये जाते हैं। बहुत से लोग कलमें, पेंसिल, डायरियाँ, पैड तथा अन्य बच्चों के काम में आने वाली वस्तुओं पर विज्ञापन लिखाकर जनता में बटवाया करते हैं, यह ढंग भी इस प्रकार के विज्ञापन के लिए अत्यन्त उपयोगी और लाभदायक होता है।

दीवारों पर किया जाने वाला विज्ञापन प्रायः इस प्रकार का होना चाहिए कि वहाँ से निकलने वाले व्यक्ति हठात् उसे पढ़ने के लिये इच्छुक हो जायँ। उसमें अत्यन्त सूक्ष्म विवरण देना चाहिए तथा एक दृष्टि में ही पढ़ा जाने वाला और एकदम प्रभाव डालने वाला होना चाहिए। उसे प्रभावी बनाने के लिए सुन्दर सजावट एवं भिन्न-भिन्न रंगों से रंजित करना आवश्यक होता है। जो लोग भी वहाँ से पैदल या किसी वाहन में बैठकर जायँ, उनकी दृष्टि आकर्षित करने के लिए उस विज्ञापन का शीर्षक अत्यन्त प्रभावोत्पादक एवं उसका चित्र उसके उद्देश्य की पूर्ति करने वाला, सुन्दर तथा सुसज्जित ढंग से बना हुआ होना चाहिए। इस विज्ञापन द्वारा किसी ऐसी वस्तु का विचार जनता के मस्तिष्क में जम जाना चाहिए जिसका कि विज्ञापन समाचार-पत्रों आदि में वे पहले भी पढ़ चुके हों। कारण यह है कि उन पत्रों में पढ़ने से उसका

विवरण कभी कभी याद नहीं रहता, परन्तु जब वे उसी वस्तु का विज्ञापन दीवारों पर बड़े आकार एवं बड़े स्वरूप में देखते हैं तो उसका प्रभाव स्थायी हो जाता है। अतः यह अत्यन्त ही सहायक साधन होता है। यह विज्ञापन प्राय उन लोगों को आकर्षित करने में अधिक यशस्वी सिद्ध होता है जो जीवन में अत्यधिक व्यस्त रहते हैं तथा जिन्हें अन्य पत्रों में विज्ञापन देखने का अवकाश नहीं मिलता। इस विज्ञापन को देखकर यदि कुछ क्षणों के लिये उनके मस्तिष्क से भी अन्य बातें दूर हो जायँ तथा इसके विवरण के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो जाय, तब समझना चाहिए कि यह विज्ञापन अपने उद्देश्य में सफल हुआ है। इस विज्ञापन के लिए जब किसी चित्र का प्रयोग किया जाता है तो वह भी प्रभावशाली होना चाहिए तथा उसमें तीन बातें होना आवश्यक माना जाता है.—वस्तु का नाम या बनावट; उसका लक्ष्य एवं उसकी उपयोगिता; तथा उसकी उत्कट विशेषताएं। चित्रों द्वारा बहुधा अत्यन्त लाभप्रद प्रभाव उत्पन्न होता है, तथा वे एक सामयिक सदेश को देने वाले होते हैं। जिस विज्ञापन में चित्रों का प्रयोग नहीं किया जाता, वहाँ सूक्ष्म विवरण देना चाहिये, जिससे वह शीघ्र पढ़ा जा सके तथा शीघ्र याद भी हो जाय। इसके साथ ही दूर से पढ़ने योग्य अच्छे बड़े-बड़े अक्षर होने चाहिए। व्यापारिक संस्था का नाम तथा व्यापार-चिह्नों को मोटे-मोटे रंगीन अक्षरों में देना चाहिए, इन नामों के साथ नारों (Slogans) का भी प्रयोग किया जाय तो पाठक की स्मरण-शक्ति पर अधिक स्थायी प्रभाव होता है। प्रायः नारे कहावतों या मुहावरों के रूप में रहने चाहिए। जैसे, "आप बटन दबायें, बाकी हम कर लेंगे" (Press the button we do the rest), "साबुनों का राजा, राजाओं का साबुन है" (The King of Soaps-the soap of the kings) आदि नारे प्रयोग में लाये जाते हैं। इसके अलावा विज्ञापन से सदैव वस्तु सम्बन्धी ध्वनि निकलती रहनी चाहिए तथा उसके मिलने के स्थान का भी निर्देश रहना आवश्यक होता है। नीचे दीवारों के विज्ञापन के मुख्य-मुख्य रूप दिये जाते हैं।

पोस्टर्स (Posters):—पोस्टर्स या विज्ञापन पत्र से हमारा अभिप्राय विज्ञापन का संदेश रखने वाले ऐसे छपे हुए कागजों, कार्डबोर्डों, लकड़ियों या धातुओं से होता है जो चौराहों, रेलवे स्टेशनों, सड़क के किनारों या दुकानों के बाहर तथा भीतर लगे रहते हैं। पहले इन पोस्टरों को अधिक आदर नहीं दिया जाता था, परन्तु अब समय बदल चुका है। आजकल अपने आसपास तथा दूर-दूर तक लोगों को आकर्षित करने के लिए विभिन्न प्रकार के साधनों का प्रयोग किया जाता है। अतः पोस्टरों को भी अत्यन्त चित्ताकर्षक ढग का बनाना चाहिए। उनका निर्माण अच्छे कुशल योग्यता वाले कलाकारों से कराना चाहिए तथा उन्हें अच्छे कागजों पर उत्तम रीति से अच्छी रंगीन स्याही से छपाना चाहिए। वे साधारण प्रचलित आकार के बनवाने चाहिएं जिससे उनके आन्तरिक परिवर्तन में कोई आपत्ति न हो। छपाई पर

विशेष ध्यान देना आवश्यक होता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि पोस्टरों में अपनी अभीष्ट-प्रयत्नों सम्बन्धी बातें रखना ही लाभदायक होता है।

पोस्टरों से बड़े महत्त्वपूर्ण लाभ होते हैं तथा उनमें से एक लाभ यह है कि इनके द्वारा विज्ञापन स्थानीय बनाया जा सकता है तथा किसी नगर, बाजार अथवा मुहल्ले का ध्यान इसमें लिखी हुई वस्तु की ओर आसानी से केन्द्रित किया जा सकता है। इसके अलावा, जब ये दीवारों पर चिपका दिये जाते हैं तो जनता की आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति करने में अत्यन्त सफल सिद्ध होते हैं। वे जनता को पूर्व-परिचित एवं प्रयोगित वस्तुओं के बारे में याद दिलाते रहते हैं, जिससे वे उन वस्तुओं को यदि भूल गये हों तो पुनः देखकर ला सकते हैं। पोस्टर लगाने के लिए सदैव ऐसा स्थान चुनना चाहिए जहाँ दूसरे पोस्टर न लगे हों तथा राहगीरों को आते जाते अच्छी तरह दिखाई दे सके।

जब कभी पोस्टर वर्षा आदि के कारण खराब हो जाते हैं तो उन खराब पोस्टरों को हटाकर अच्छे सुन्दर पोस्टर लगा देना चाहिए जिससे जनता का आकर्षण बराबर बना रहे। परन्तु इसके लिये पोस्टरों को नवीन रूप देना अच्छा नहीं होता। इतना अवश्य है कि व्यापार के परिवर्तन के साथ पोस्टरों का भी परिवर्तन करते रहना उपयुक्त रहता है। ऐसा करने में पर्याप्त व्यय अवश्य होता है, परन्तु कभी-कभी वे ऐसा कलात्मक प्रभाव डालते हैं जिससे समस्त व्यय बिक्री द्वारा पूरा हो जाता है।

पोस्टरों के ऊपर विद्युत् आदि के प्रकाश का प्रबन्ध भी किया जाता है, जिससे वे रात के समय भी दिन की भाँति सुगमता से पढ़े जा सकते हैं। रात में यदि उनके समीप होकर निकलने वाले व्यक्ति उन्हें दिन की ही भाँति पढ़ सकते हैं, तो उनके द्वारा दूना प्रभाव पड़ सकता है। वहाँ पर प्रकाश का ऐसा प्रबन्ध रहना चाहिए कि जैसे ही व्यक्ति वहाँ होकर आना-जाना बन्द करें वैसे ही वह प्रकाश भी स्वयं बन्द हो जाना चाहिए। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि प्रकाश का ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए जिससे उस पोस्टर के मूल-रंग तथा प्रभाव आदि में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन उपस्थित न हो। यदि इन सभी बातों का ध्यान रखकर पोस्टरों द्वारा विज्ञापन किया जायगा तो अवश्यमेव लाभ प्राप्त होगा।

बिजली द्वारा सजावट (Electric Displays):—प्राय. बड़े बड़े शहरों में विज्ञापन के अन्तर्गत व्यापार-चिह्न तथा व्यापारिक संस्था के नाम आदि के अक्षरों को विद्युद्दीपों द्वारा प्रकाशित करके रात में ग्राहकों को आकर्षित करने का प्रयत्न किया जाता है। उन चमकते हुए रंगीन भव्य अक्षरों द्वारा मन अनायास आकर्षित हो जाता है। इस प्रकार के विज्ञापन बहुधा ऊँचे-ऊँचे भवनों की अट्टालिकों या सर्वोच्च दीवारों पर लगाये जाते हैं। इसका कोई निश्चित आकार नहीं होता। इतना अवश्य है कि ऐसे विज्ञापनों की प्रति (Copy) अत्यन्त सुदृढ़ होनी चाहिए, उसमें मुद्रित रूप

में वस्तु का नाम, निर्माता तथा संस्था का नाम लिखा रहना ठीक रहता है। प्राय ऐसे विज्ञापनों के लिए विभिन्न रंग वाले प्रकाशों का भी प्रयोग किया जाता है, उसमें भिन्न-भिन्न बातों के लिए भिन्न-भिन्न रंग दिये जाते हैं जिससे ग्राहक सुगमता से सभी बातों को समझ लेता है। इस तरह एक प्रकाश की अपेक्षा विभिन्न रंग वाले प्रकाश का होना अधिक लाभप्रद होता है। यदि उस विज्ञापन से अधिक से अधिक लोग प्रभावित नहीं होते तो उसमें किए जाने वाला व्यय व्यर्थ ही होता है और उसकी अपेक्षा फिर उतना धन अन्य साधनों पर व्यय करना लाभदायक हो सकता है। यदि इनसे कोई विशेष लाभ नहीं होता तो ये केवल फिजूलखर्च वाले तथा विलास की सामग्री बन जाते हैं।

बस, ट्रेन तथा ट्राम के विज्ञापन (Bus, Train and Tram Advertising)—ट्रेन, बस तथा ट्राम आदि आवागमन के साधनों पर कार्ड या पोस्टर लगाकर विज्ञापन किया जाता है। प्राय इन गाड़ियों पर कुछ स्थान विज्ञापन के लिए निश्चित रहता है। यदि निश्चित न हो तो भी बाहर का और पोस्टर आदि लगा दिये जाते हैं, जिससे चलते समय आसानी से दोनों ओर की जनता उन पर लिखे हुए या चिपके हुए विज्ञापनों को पढ़ सकती है। इन गाड़ियों में अन्दर की ओर भी विज्ञापन पत्र आदि लगाये जाते हैं। उनको प्राय जनता बाहर की अपेक्षा कुछ अधिक समय तक बैठकर देख सकती है। इन अन्दर के विज्ञापनों से लाभ भी अधिक होता है। जब तक कोई यात्री किसी बस या ट्राम में बैठा रहता है, यदि उसके सामने अच्छे सुन्दर ढंग से चित्रित एवं सुसज्जित विज्ञापन लगे रहते हैं तो अनायास ही उसकी दृष्टि उन पर पड़ता है और वह अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचते समय तक लगातार उन विज्ञापनों को पढ़ सकता है। दूसरे, अन्दर वाले विज्ञापनों की प्रति के लिए संक्षिप्त होने की आवश्यकता नहीं होती। उनमें पर्याप्त सूचनायें तथा विवरण दिये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के विज्ञापन से उस समय और भी लाभ हो सकता है जब ये नगर के निकट कुछ दूरी पर स्थित गाँवों में जाने वाले वाहनों पर भी लगाये जाते हैं, उससे नगर के लोगों को ही उन वस्तुओं के विज्ञापन पढ़ने का अवसर नहीं मिलता, परन्तु ग्रामीण लोगों को भी उनके पढ़ने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

सैंडविच बोर्ड विज्ञापन (Sandwitch Board Advertising)

सैंडविच बोर्ड की पद्धति द्वारा विज्ञापन करने का अभिप्राय यह होता है कि किसी एक व्यक्ति या कुछ अधिक व्यक्तियों के चारों ओर पट्ठे या बोर्डों पर विज्ञापन लिखकर उन्हें एक पंक्ति में परेड सी कराते हुए निकाला जाता है। इससे अधिक से अधिक जनता का ध्यान उनकी विचित्र वेष भूषा तथा विज्ञापन की ओर आकर्षित होता है। यह पद्धति सिनेमा या नाटक के विज्ञापन में अधिक सहायक होती है। वैसे आजकल लोग विज्ञापन के इस साधन को अन्य व्यवसायों में अधिक प्रयोग नहीं करते क्योंकि

इससे अभीष्ट सिद्ध नहीं होता। कारण यह है कि आजकल मजदूरी के बढ जाने से कम वेतन पर लोग नहीं मिलते और यदि अधिक मजदूरी देकर यह कार्य कराया जाता है तो इसकी अपेक्षा इसके स्थान पर अन्य किसी साधन का उपयोग करना अधिक लाभप्रद रहता है। सैंडविच वाले व्यक्ति प्राय किसी ठेकेदार द्वारा प्रतिदिन की निश्चित मजदूरी पर भेजे जाते हैं और वही ठेकेदार उन्हे बोर्ड या लिखित पट्ठे इत्यादि देता है। इसके साथ ही वह नारा लगाने या परेड करने का आदेश भी विज्ञापन की सूचना के अनुसार देता है। तत्पश्चात् वे व्यक्ति निश्चित क्षेत्र में निश्चित अवधि तक घूमते हुए विज्ञापन किया करते हैं।

दीवार के या बाह्य विज्ञापन से निम्नलिखित लाभ होते हैं :—इसके द्वारा अधिक से अधिक जनता को वस्तुओं की सूचना सुगमता से दी जाती है। वस्तुओं के अनुकूल जनता की रुचि एव विचार लेने के लिए यह अत्यन्त प्रभावशाली होता है। जब लोग पैदल या किसी सवारी में बैठकर यात्रा करते हैं तो ये विज्ञापन उनका ध्यान वस्तुओं के लिये केन्द्रित करने में अधिक सहायक होते हैं, क्योंकि इनमें उनकी इच्छानुकूल सन्देश रहते हैं। इस प्रकार की पद्धति द्वारा अनेक भाँति के विज्ञापन किये जा सकते हैं तथा पर्याप्त कुशलता एव कला के उपयोग करने का सुअवसर प्राप्त हो सकता है। विज्ञापन के आकार-वृद्धि करने का भी अवसर इस पद्धति द्वारा सुगमता से प्राप्त हो जाता है। इससे स्थानीय फुटकर विक्रेताओं पर भी एक विशेष प्रभाव पड़ता है, जिससे वे वस्तुये मँगा कर अपने पड़ौस के लोगों में आसानी के साथ बेच सकते हैं और पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं। इस प्रकार के विज्ञापन में प्राय बड़े बड़े, तथा मोटे-मोटे अक्षरों में वस्तुओं का नाम अच्छी प्रकार उजा कर लिखा जाता है, इससे लोगों को उस वस्तु की अन्य बातों की जानकारी न होने पर भी उसका नाम भली प्रकार याद हो जाता है और फिर आवश्यकता के समय उसी को खरीदने की इच्छा जाग्रत हो जाती है।

ऐसे विज्ञापनों को उचित आकार में बनवा कर उचित स्थाना पर लगाना चाहिए जिससे सर्वसाधारण जनता को देखने में तथा पढने में सुविधा हो। ये विज्ञापन चित्ताकर्षक होने चाहिए, क्योंकि भद्दे और बुरे आकार वाले विज्ञापनों से जनता की रुचि एवं अभिलाषा के जाग्रत होने में सहायता नहीं मिलती। अत ऐसे कुरूप एव देखने में भद्दे विज्ञापनों को न लगाना ही श्रेयस्कर होता है।

(ग) डाक द्वारा प्रत्यक्ष विज्ञापन (Direct Mail Advertising)

सूचीपत्र आदि के द्वारा या डाक द्वारा विज्ञापन करने से अभिप्राय यह होता है कि जिन व्यक्तियों को हम अपनी वस्तुओं से प्रभावित करना चाहते हैं, उनके पास अपने सूचीपत्र, मूल्य-पुस्तक या वस्तुओं के विवरण-पत्र आदि डाक द्वारा भेजा करते हैं। इस प्रकार के विज्ञापन का प्रयोग एक स्थान पर तथा सुदूर देशों में भी किया

जा सकता है। इस पद्धति द्वारा अपने यहाँ से अत्यन्त दूर तथा विदेशों में रहने वाले ग्राहकों तथा व्यापारियों की पहुँच रहती है। यह विज्ञापन सर्वसाधारण जनता में न होकर कुछ चुने हुए लोगों के लिए ही उपयुक्त रहता है। आजकल डाक द्वारा अधिक सुविधायें प्राप्त होने के कारण तथा डाकघरों की वृद्धि हो जाने के कारण यह पद्धति अधिक प्रभावशाली हो गई है।

डाक द्वारा विज्ञापन करने की प्रायः दो पद्धतियाँ प्रचलित हैं:—पहली पद्धति के अनुसार कुछ विक्रय पत्र (Sales-letter) छपवाकर ग्राहकों से पृथक्-पृथक् अपनी वस्तुओं के लिये निवेदन किया जाता है। दूसरी पद्धति में विभिन्न प्रकार के आवश्यकतानुसार सूचीपत्र, लीफलैट्स (leaflets) आदि छपवाकर प्रत्येक ग्राहक के पास एक एक भेज दिये जाते हैं। यह विज्ञापन भी बहुधा समाचारपत्रीय तथा बाह्य विज्ञापन के सिद्धान्तों पर ही किया जाता है। इसमें भी खरीददार पर ही विशेष ध्यान केन्द्रित रहता है। इसमें अपनी वस्तु बेचने की अपेक्षा ग्राहक की आवश्यकता का जानना अत्यावश्यक है। इसके लिये भी ध्यान आकर्षित करना, रुचि उत्पन्न करना, विश्वास जमाना तथा वस्तुओं के लिये लालायित करना आदि चारों बातों को मस्तिष्क में रखना चाहिए।

व्यक्तिगत निवेदन की अपेक्षा एक पत्र अधिक प्रभावशाली होता है क्योंकि वह एक विशेष व्यक्ति के नाम भेजा जाता है। उसकी भाषा सरल तथा व्यावहारिक होनी चाहिए। देखने में भी उस पत्र का आकर्षक होना आवश्यक होता है। उसके तैयार कराने में किफ़ायत का प्रश्न तो उठता ही नहीं। उसे तो सुन्दर से सुन्दर बनाना अधिक लाभप्रद होता है। यदि उस पत्र की दूसरी प्रतिलिपि की जाती है तो उसे भी सफाई के साथ तैयार करना चाहिए। उसमें अधिक यान्त्रिकता का होना आवश्यक नहीं होता। वह तो बड़े सुन्दर एवं आकर्षक ढंग से कुछ नवीनता लिए हुए लिखा जाना चाहिए। उस पर रबड़ मुद्रा द्वारा हस्ताक्षर करना उचित नहीं होता। स्वतः विज्ञापक को अपने हस्ताक्षर करना अच्छा माना जाता है। बिक्री सम्बन्धी सभी बातें सूक्ष्म रूप से समझाते हुए प्रदर्शित करनी चाहिए। उसमें ग्राहकों को आश्वासन दिलाने के लिये नमूने की वस्तुओं के भेजने की सूचना, उनके प्रयोग करने के प्रमाण तथा अच्छी न लगने पर पैसे वापिस करने की प्रतिज्ञा आदि का निर्देश रहना अच्छा होता है। जब वस्तु के अच्छा न लगने पर पैसे लौटाने की प्रतिज्ञा की जाती है तो ग्राहकों को स्वतः उस वस्तु के प्रति विश्वास हो जाता है।

उस पत्र का सबसे प्रमुख भाग संदेश होता है। यह संदेश बड़ा ही रचनात्मक एवं प्रभावी होना चाहिए। उसका अन्तिम पैरा तर्कपूर्ण बातों से ऐसा भरा हुआ होना चाहिए जिससे ग्राहक के हृदय पर उस निवेदन का हठात् प्रभाव पड़े

और वह उस वस्तु के खरीदने के लिए एकदम उद्यत होजाय अथवा उसके बारे में सूचना मँगाने के लिए तुरन्त उत्तर दे या नमूने के लिए कुछ वस्तु तुरन्त मँगावे। उस पत्र का प्रभाव जमाने के लिए उसके साथ उत्तर लेने के लिए एक लिफाफा रख देना चाहिए और एक आदेश-पत्र (Order form) या एक सूचीपत्र भी साथ भेजना अधिक लाभप्रद रहता है क्योंकि उसे पढकर भी ग्राहक वस्तुओं का मूल्य सुगमता से जान लेता है।

इस प्रकार के विज्ञापन में सूचीपत्र, लघु-पुस्तिका तथा अन्य मूल्य पुस्तिकाओं का प्रयोग होता है। अन्य प्रकार के विज्ञापनों में ये वस्तुयें प्रयोग में नहीं आतीं। बहुत से सूचीपत्र तो वस्तुओं के मूल्य, आकार तथा प्रकार बतलाने में स्थायी रूप से काम आते हैं। इसलिये ग्राहकों पर अविचल प्रभाव स्थापित करने के लिए तथा उन्हें सतत् आकर्षित करते रहने के लिए सूचीपत्रों को सावधानी के साथ तैयार कराना चाहिए।

(घ) मिश्रित विज्ञापन (Miscellaneous Advertising)

व्यापारिक विज्ञापन बहुधा व्यापारिक पत्रों, तान्त्रिक जरनलों, घरेलू समाचार-पत्रों तथा प्रदर्शिनी आदि में किये जाते हैं। व्यापारी लोग प्रायः अपना संघ स्थापित कर लेते हैं और फिर सामूहिक रूप से ये संघ साप्ताहिक या मासिक पत्रिकायें निकाला करते हैं, जिनमें संघ के सभी सदस्यों के विज्ञापन निकला करते हैं। यदि व्यापारिक पत्रों में बुद्धिमानी के साथ विज्ञापन निकाले जायँ, तो उनसे जनता तथा फुटकर व्यापारियों पर बड़ा उत्कट प्रभाव पड़ सकता है। कभी-कभी विज्ञापनों में प्रमाणपत्र (Testimonials) भी जोड़ दिये जाते हैं। व्यापारिक पत्रों का अत्यन्त प्रभावशाली विज्ञापन नई वस्तुओं, नई नौकरियों तथा नवीन व्यापारिक योजनाओं के बारे में अच्छी प्रकार घोषणा कर सकता है।

तान्त्रिक जरनलों (Technical journals) में प्राय. वे व्यापारी ही विज्ञापन दिया करते हैं जो अनेक प्रकार की वस्तुओं के निर्माता होते हैं। इन पत्रों में दिये जाने वाले विज्ञापनों के अन्तर्गत वस्तु सम्बन्धी तान्त्रिक बातों की व्याख्या की जाती है, मशीनों के कार्य का विवरण दिया जाता है, निर्माण करने की पद्धति का विवेचन किया जाता है जिससे पाठक उसकी कार्य-कुशलता, विश्वस्तता, उपयोगिता तथा अन्य निर्माताओं से उसकी महत्ता आदि के बारे में परिचित हो जाता है।

घरेलू-समाचार-पत्र (House Organ) से अभिप्राय एक ऐसे व्यापारिक पत्र या मैगजीन से होता है जो निर्माणकर्तृ संस्थाओं द्वारा निकाला जाता है। इसके निकालने का उद्देश्य यह होता है कि वे संस्थायें अपने यहाँ की बनी हुई वस्तुओं में समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों तथा परिवर्द्धनों से फुटकर व्यापारियों को

उस पत्र द्वारा सूचित करती रहती हैं। ये पत्र फुटकर व्यापारियों की बिक्री बढ़ाने के लिए उन्हें खिड़कियों की सजावट, दुकान की शोभा आदि अनेक बातें बतलाते रहते हैं। उसमें अन्य मनोरंजक तथा आवश्यक समाचारों का भी समावेश किया जाता है। उसकी प्रतियाँ फुटकर व्यापारियों, ग्राहकों तथा अन्य विक्रेताओं को मुफ्त बाँटी जाती हैं।

कुछ व्यापारी-संघ समय-समय पर प्रदर्शिनी (Exhibition) लगाते हैं जिसमें अनेक व्यापारी अपनी-अपनी वस्तुओं का परिचय ग्राहकों को देने के लिए एकत्र होते हैं। कुछ वर्षों से प्रदर्शिनी की गाड़ियों (Exhibition Trains) द्वारा विज्ञापन करने का अच्छा साधन प्रयोग में लाया जाने लगा है। ये गाड़ियाँ प्रत्येक स्टेशन पर कुछ समय के लिये रुकती हैं जिससे विभिन्न वस्तुओं का परिचय एवं उनके प्राप्ति-स्थान की सूचना जनता को मिल जाती है। इनके द्वारा व्यापारों में पारस्परिक सम्बन्ध भली प्रकार स्थापित हो जाता है तथा व्यापार की ख्याति (*Goodwill*) भी अच्छी तरह बढ़ जाती है।

बिक्री-कला (Salesmanship)

बिक्री-कला एक प्रकार की ऐसी सेवा होती है जो वस्तुओं को बेचने के सम्बन्ध में समाज के लिए उपस्थित की जाती है। विज्ञापन तथा बिक्री-कला ये दोनों व्यापार के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग हैं। विज्ञापन सुदूर स्थित ग्राहक की इच्छा को उत्तेजित करने में अपना प्रभाव स्थापित करता है अर्थात् वस्तुओं की माँग निर्माण करता है और बिक्री कला उस ग्राहक की इच्छा एवं आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। प्रायः एक विक्रेता व्यापक आवश्यकताओं पर नियन्त्रण करने की अपेक्षा एक व्यक्ति की आवश्यकता पर नियन्त्रण करता है। बिक्री-कला समस्त व्यापारों की मूलाधार है। इसका मुख्य उद्देश्य वस्तुओं का विक्रय करते हुए क्रेता (Buyer) तथा विक्रेता (Seller) के पारस्परिक लाभ एवं अटूट सन्तोष का निर्माण करना माना गया है। यह एक ऐसी अनिवार्य सेवा होती है जो वस्तुओं के निर्माता एवं व्यापारी तथा ग्राहक के लिए भी अपेक्षित होती है।

विक्रेता के कार्यों के बारे में यहाँ के लोगों में प्रायः गलत धारणायें रहती हैं और दुर्भाग्यवश हमारे देश में एक विक्रेता के कार्य को अधिक प्रतिष्ठा एवं गौरव का कार्य नहीं समझते। यह कोई फेरी वाला (*hawkear*) नहीं होता, जो कि द्वार-द्वार पर जाकर वस्तुयें बेचा करता है। इसका सम्बन्ध महान कार्यों से होता है तथा यह एक ऐसी कला होती है जिसके लिए नैसर्गिक प्रतिभा तथा अनुपम कार्य-कुशलता की आवश्यकता होती है। बिक्री-कला केवल एक ऐसी तांत्रिक पद्धति नहीं होती, जिसके ।।र पर केवल ग्राहकों को वस्तुयें दी जाती हैं। यह कार्य तो आजकल मशीनें भी करने लगी हैं, परन्तु एक विक्रेता का कार्य वे नहीं कर सकतीं।

अब हम विक्रेता की उन सेवाओं का विचार करेंगे जिनको वह समाज के प्रति उपस्थित करता है। समस्त सेवाओं का उद्देश्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना है और सभी निर्माण इसी प्रयोजन से होते हैं। प्रत्येक वस्तु निर्माता एव वितरणकर्त्ता अपनी वस्तुओं को लाभ के साथ ही बेचता है। अत बिक्री ही प्रत्येक व्यापार का जीवन रक्त (Life blood) होती है। यदि वह किसी प्रकार कम होती है तो व्यापार की मृत्यु होना भी नि श्चत है। इसी कारण बिक्री कला को समस्त व्यापारों का 'पारस-पत्थर' (Touch stone) कहते हैं और एक विक्रेता व्यापार की रीढ की हड्डी माना जाता है। विक्रेता ही निर्माता एव वितरणकर्त्ता (Distributor) को उनकी वस्तुओं के वितरण करने में सहायता प्रदान करता है। वह खरीददार तथा बेचने वाले दोनों व्यक्तियों के लाभ का ध्यान रखता है। वही एक निर्माता को ग्राहकों की रुचि के अनुकूल वस्तुओं के निर्माण करने की सलाह देता है तथा उसी की सूचना के आधार पर वस्तुओं का निर्माण करके निर्माता लोग ग्राहकों की आवश्यकताओं को पूरा किया करते हैं। वह विनिमय का एक सफल साधन होता है। वह नये-नये बाजारों का निर्माण करता है, व्यापारिक सकटों को दूर करने का प्रयत्न करता है तथा जनता के अधिकाश भाग के लिये आवश्यक एव विलासमय पदार्थों को लाकर उन्हें सन्तुष्ट करता है।

विक्रेता के वैयक्तिक गुण (Personal qualities of a salesman) —एक सफल विक्रेता में प्राकृतिक प्रतिभा तथा वैयक्तिक विशेषताओं का होना आवश्यक होता है। वह प्रसन्न आकृतिवाला, महत्त्वाकाक्षी, उपयुक्त, युक्ति-सम्पन्न एवं उत्सुक, धैयवान एव चतुर तथा अच्छी रुचि वाला होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसका स्वस्थ एव नीरोग होना अत्यावश्यक है। जो व्यक्ति देखने में कुरूप एवं बोलने में असभ्य हों उन्हें विक्रेता के लिये नहीं चुनना चाहिए।

१ **प्रसन्न आकृति (A cheerful disposition)** —जो व्यक्ति उदास एवं दुखी रहते हैं वे अच्छी बिक्री करने में असमर्थ होते हैं। अच्छी बिक्री करने के लिए तो एक प्रसन्न एव स्मिति मुख वाले विक्रता को आवश्यकता होती है, जो ग्राहकों को वस्तुयें दिखलाते हुए तनिक भी उदासी एव सकोच न दिखलाता हुआ उन्हें सन्तुष्ट करके अधिक से अधिक वस्तुयें बेच देता है।

२-**महत्त्वाकाक्षी (Ambition)** —विक्रेता को उत्साही एव महत्त्वाकाक्षी होना चाहिए, क्योंकि महत्त्वाकाक्षी के कारण ही वह बिक्री कला के विभिन्न अगों को शीघ्रता से हृदयगम कर सकता है। सभी प्रकार की उन्नति एव प्रगति के लिए महान आकाक्षा एव तत्परता की आवश्यकता होती है। यदि किसी व्यक्ति में आकाक्षा ही नहीं है तो वह कुछ भी नहीं कर सकता।

३ उपयुक्तता (Aptitude)—बिक्री के लिए नैसर्गिक उपयुक्तता का होना अधिक महत्त्वशाली होता है। यदि किसी व्यक्ति में बिक्री-सम्बन्धी उपयुक्तता होती है तो बिक्री के अभाव का दृश्य कभी उपस्थित नहीं होता। प्रत्येक औद्योगिक मनोविज्ञान-वेत्ता यह जानता है कि व्यक्ति को अनुकूल कार्य में रुचि रहती है और प्रतिकूल कार्य में अरुचि होती है। यदि किसी बिक्री-कला में अरुचि रखने वाले नवयुवक को विक्रेता बना दिया जाता है तो वह क्षण-क्षण पर घड़ी की ओर देखता रहेगा और समय के समाप्त होने की प्रार्थना करता रहेगा, क्योंकि उसे उसकी रुचि के प्रतिकूल कार्य में लगाया जाता है। वह तो केवल मनुष्यों के नाटक देखने में ही रुचि रख सकता है। उसकी बुद्धि मनुष्यों की प्रकृति का अध्ययन करने में असमर्थ रहती है। अत विक्रेता के लिए बिक्री में रुचि रखने वाले उपयुक्त व्यक्ति को ही चुनना चाहिए।

४ युक्ति-सम्पन्नता तथा उत्सुकता (Resourcefulness and enthusiasm)—युक्ति-सम्पन्नता तो आन्तरिक गुणों में गिनी जाती है जबकि उत्सुकता का निर्माण किया जा सकता है। जो व्यक्ति अपने कर्तव्य का महत्व जानता है उसमें अपना काय करने के लिए साहस एवं उत्सुकता (energy and enthusiasm) का होना अत्यावश्यक है। उत्सुकता के कारण बिक्री में सदैव वृद्धि होती है। जो व्यक्ति स्वाभाविक रूप से हिम्मत के साथ कार्य करता रहता है और उत्सुकता के साथ उसमें सलग्न रहता है तो उसे निश्चित सफलता प्राप्त होती है।

धैर्य एव चतुरता (Patience and Tact)—प्राय मनुष्य चतुरता के कारण ही दूसरों से सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ हो जाते हैं। वे इसी चतुराई से दूसरों के दृष्टिकोण एव हार्दिक भावों को भी सरलता से समझ सकते हैं और उन्हें सतुष्ट कर सकते हैं। एक विक्रेता में तो चतुरता का होना अत्यावश्यक है, क्योंकि ग्राहकों की रुचि एव प्रवृत्ति को जानकर उसे उसके अनुकूल वस्तुयें देना इसी पर निर्भर रहता है। विक्रेता की इसी विशेषता के कारण किसी भी ग्राहक को वस्तुओं की आलोचना करने का भी साहस नहीं होता। वह अपनी इसी चतुरता के कारण एक श्रेष्ठ तथा एक साधारण व्यक्ति को सुगमता से अपना स्थायी ग्राहक बना सकता है। उसकी वाणी इसी चतुरता के कारण सभी के लिए इतनी विनम्र एव विनीत होती है कि कोई भी ग्राहक एक बार उसकी दूकान पर आकर लौट नहीं सकता, वह निश्चित रूप से अपनी इच्छित वस्तु को खरीदकर ही जा सकता है। इसके अलावा एक विक्रेता में धैर्य का होना भी अत्यावश्यक है। इसी के आधार पर एक विक्रेता कभी-कभी अत्यन्त उग्र एव कटुभाषी ग्राहकों पर भी विजय प्राप्त करता है। इसी धैर्य के कारण वह ग्राहकों के मत-स्वातन्त्र्य में विघ्न नहीं डालता और झगड़े के समय पर सतुलन स्थापित करने में यह धैर्य अत्यन्त सहायक होता है।

अनुपयोगी

नम्रता एवं अच्छी रुचि (Politeness and good taste) :—एक विक्रेता को ग्राहकों के साथ नम्रता एवं सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए तथा उसने अपनी अच्छी रुचि दिखाना अत्यावश्यक होता है। यह रुचि उस समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है जब कोई ग्राहक विक्रेता से ही किसी वस्तु के विषय में राय लेता है और उसी के मतानुसार वस्तु लेने के लिए आग्रह करता है।

इनके अतिरिक्त एक यशस्वी विक्रेता में वस्तुओं का सम्पूर्ण ज्ञान तथा सहानुभूति एवं आशापूर्ण व्यवहार का होना भी आवश्यक होता है।

बिक्रीकला के मूल तत्व (Principles of Salesmanship) —विज्ञापन की भाँति बिक्री कला के भी चार मूल तत्व होते हैं, जिसके आधार पर विक्रेता को कार्य करना पड़ता है। वे क्रमश इसी प्रकार है—(१) ध्यान आकर्षित करना, (२) रुचि उत्पन्न करना, (३) विश्वास जमाना तथा (४) वस्तु खरीदने के लिये लालायित करना।

(१) ध्यान आकर्षित करना (Attracting the attention) —एक विक्रेता किसी ग्राहक को अपने पास उसी क्षण बुला सकता है जब वह ग्राहक का ध्यान आकर्षित करने में समर्थ होता है। बिना ग्राहक के आए हुए कार्य प्रारम्भ भी नहीं होता। इसीलिए सर्वप्रथम राहगीरों को आकर्षित करना तथा फिर उन्हें दूकान में आने के लिये बाध्य करना आवश्यक होता है। इसके लिए दूकान के द्वार को शोभायुक्त और व्यापार चिह्न तथा अन्य खिड़कियों एवं वातायनों को अत्यन्त आकर्षक एवं मनोमोहक बनाना चाहिए। दुकान को देखते ही ग्राहक के मस्तिष्क में उसकी स्वच्छता एवं स्फूर्ति का विचार जाग्रत होना चाहिए। दुकान में प्रकाश का उचित प्रबंध होना आवश्यक होता है। दुकानों के द्वार तथा आने जाने के मार्गों को खूब खुला हुआ तथा सुगमता से आने जाने योग्य बनवाना चाहिए जिससे अधिक से अधिक लोग आसानी से प्रविष्ट हो सकें। प्रत्येक मार्ग में प्रकाश रहना चाहिए, परन्तु तीव्र प्रकाश का होना मार्ग में अच्छा नहीं होता। दुकान के द्वार, खिड़की तथा सामने की ही शोभा को अत्यन्त भव्य एवं मनोहर बनाना चाहिए, क्योंकि उसी से आकृष्ट होकर अधिक से अधिक ग्राहक अन्दर आने की इच्छा करेंगे। नवीन वस्तुओं में अत्यधिक आकर्षण होता है। यदि बाहर से ही देखने पर आपकी वस्तुयें अच्छी और नवीन नहीं दिखाई देतीं तो कोई भी ग्राहक अन्दर आने का कष्ट नहीं करेगा। इसलिए वस्तुओं को सदैव नवीनता प्रदान करने के लिये अलमारियों का प्रबंध करना चाहिए। यदि बिक्री-स्थान अधिक आकर्षित नहीं होता, तो भी ग्राहक वहाँ खड़ा होना पसन्द नहीं करते। बहुत से फुटकर व्यापारी अपनी दुकानों पर बिक्री का क्रम उसी पुरानी पद्धति पर चलाते हैं, क्योंकि वे अधिक ग्राहकों को दुकान के अन्दर आने देना नहीं चाहते, न वे जनता को इच्छित वस्तुयें दिखाना ही पसंद करते

हैं तो ऐसे व्यापारियों को कम-मूल्य पर वस्तुयें बेचने पर भी लाभ होना कठिन होता है, क्योंकि ग्राहक वहाँ कभी आना पसन्द नहीं करते। प्रायः लोग दुकान की खिड़कियों पर वस्तुओं के देखने के लिए इकट्ठे हो जाते हैं और अच्छी एवं नई वस्तु उनके मन के अनुकूल दिखाई देती है उसे खरीद लेते हैं। स्त्रियाँ तो प्रायः अच्छी और मनोमोहक वस्तुयें पसन्द किया करती हैं, उन्हें सस्ती और पुरानी दिखाई देने वाली वस्तुयें कभी आकर्षित नहीं करतीं। पुरुष भी सस्ती होने पर भद्दी और अनुपयुक्त वस्तुओं को नहीं खरीदते। एक विक्रेता किसी भी स्त्री या पुरुष को कोई वस्तु उस समय तक नहीं बेच सकता जिस समय तक वे बाहर खड़े-खड़े देखते रहते हैं, इसके लिये उनका अन्दर आना आवश्यक होता है। इसी कारण दुकान की खिड़कियाँ या द्वार भी दुकान की लम्बाई-चौड़ाई के अनुकूल होने चाहिए तथा ये अच्छी तरह से सुसज्जित रहने चाहिए। इसके साथ ही उन्हें ऐसा खुला हुआ रखना आवश्यक होता है जिससे दुकान के अन्दर की सभी वस्तुयें सुगमता से दिखाई दे जायँ। खिड़कियों पर अत्यन्त आकर्षक और तेज प्रकाश रहना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि दुकान की कोई भी वस्तु अन्धकार में पड़ी न रहे, वरन् सभी प्रकाश में अच्छी तरह चमकती रहनी चाहिए।

(२) <u>रुचि उत्पन्न करना (Arousing Interest)</u> :—ध्यान का केवल आकर्षण करना ही पर्याप्त नहीं होता, वरन् उसे अपने अधिकार में करना भी आवश्यक होता है। दुकान की बिक्री-खिड़की (Window) ग्राहकों के लिये चित्ताकर्षक बनानी चाहिए, उसे देखते ही उनकी रुचि उत्पन्न होना चाहिए, यदि किसी प्रकार वहाँ पर ही ग्राहक को अरुचि हो गई तो उसका सारा आकर्षण भी समाप्त हो जाता है। इसके लिए केवल नई से नई वस्तुओं को चुनकर वहाँ लगाना आवश्यक नहीं होता, वरन् रुचिवर्द्धक वस्तुओं (Interesting goods) का लगाना भी वहाँ आवश्यक होता है।

<u>प्रायः तीन प्रकार की रुचियाँ होती हैं—मानवी रुचि, समाचार सम्बन्धी रुचि (News interest) तथा नवीनता सम्बन्धी रुचि (Novelty interest)</u>। यदि हम किसी बच्चे के पालने में आश्चर्यजनक प्राकृतिक बच्चे को सो सुलाते हुए दिखाते हैं तो यह 'मानवी रुचि' कहलायेगी। यदि हम टैनिस का रैकिट लिये हुए भारतवर्ष के नं० १ खिलाड़ी का चित्र वैसा ही तैयार कराकर दिखलाते हैं तो यह 'समाचार सबंधी' रुचि कहलायेगी। यदि हम एक छोटे से नारङ्गी के पेड़ का निर्माण कराकर उस पर नारङ्गी लगी हुई दिखाते हैं तो यह 'नवीनता सम्बन्धी रुचि' कहलायेगी। इस कार्य के लिए कितने ही कलाकारों की चित्रकला, कारीगरी, कार्टून बनाने की क्षमता तथा अन्य कलात्मक उपकरणों का प्रयोग करना चाहिये। यह ध्यान देने की बात है कि वस्तुओं अपेक्षा मनुष्यों की प्रतिकृति बनवाना अधिक आकर्षक एवं रुचिवर्द्धक होता है।

ग्राहकों की रुचि बढ़ाने का दूसरा उपाय यह है कि प्रत्येक वस्तु पर मूल्य की टिकट लगा देनी चाहिए। उस मूल्य के लगे रहने से संदेह नहीं रहता। प्रायः जब दुकानदार वस्तु की कीमत बतलाते हैं तो ग्राहक सदैव उन्हें अधिक तथा अनुपयुक्त एवं अपनी विक्रय-शक्ति से परे समझ सकते हैं, परन्तु वस्तुओं पर मूल्य लगे रहने से फिर अच्छी तरह सोच-विचार कर ही ग्राहक अन्दर आता है और उसे फिर मूल्य के पूछने का साहस नहीं होता। यदि वह उतना मूल्य दे सकता है, तब तो वस्तु ले जाता है अथवा देखकर चुपचाप लौट जाता है। परन्तु ऐसी गुणवाली वस्तुओं पर मूल्य की टिकट लगाना अच्छा नहीं होता जिनकी प्रशंसा एक साधारण परीक्षण द्वारा होनी असंभव होती है।

(३) दृष्टिकोण एवं दुकान का सेवा सम्बन्धी विश्वास जमाना (Convincing the prospect for shop service) :—बिक्री-कला के लिये यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। यदि कोई ग्राहक किसी दुकान पर आकर वहाँ से पूर्णतः सन्तुष्ट होकर जाता है तो यह निश्चय है कि वह अपने मित्रों एवं सम्बन्धियों को भी वहाँ जाने के लिये आग्रह करेगा और इस तरह उस दुकान की बिक्री भी अच्छी हो सकती है। जब किसी वस्तु के लिये समाचार-पत्रों में विज्ञापन दिया जाता है तब उसके लिये इस प्रकार का विश्वास जमाना अत्यावश्यक होता है, क्योंकि विज्ञापन तो केवल आकर्षित ही कर सकते हैं, परन्तु बिक्री के लिए तो विश्वास जमाना आवश्यक होता है। विज्ञापन सदैव माँग-निर्माण करने का कार्य करता है, उसके कारण ग्राहक अधिक से अधिक मात्रा में दुकान पर आ सकते हैं और वह बिक्री के लिए उचित वातावरण निर्माण कर सकता है। परन्तु उसके उपरान्त उस वातावरण से लाभ उठाना विक्रेता के हाथ में रहता है। यदि आपके पास वस्तुओं का संग्रह पर्याप्त नहीं है तो इस प्रकार के विज्ञापन का कोई लाभ नहीं होता, जिससे अनेक ग्राहकों को दुकान से निराश लौटना पड़े। यदि विक्रेता बिक्री-कला में निपुण नहीं होता तब भी विज्ञापन का कोई लाभ नहीं होता। परन्तु जब विक्रेता भी वस्तु के विश्वास जमाने में कुशल एवं दक्ष होता है तभी विज्ञापन द्वारा पूरा-पूरा लाभ हो पाता है। इसी कारण बिक्री-कला के अभाव में विज्ञापन-कला भी पंगु एवं दुर्बल हो जाती है। प्राय. केवल विज्ञापन के आधार पर सौ में से एक व्यक्ति ही किसी वस्तु को खरीदने आता है; शेष ९९ व्यक्तियों को उत्साहित करने की आवश्यकता रहती है, उनको उत्साहित करने क लिये तथा वस्तुओं के प्रति विश्वास स्थापित करने के लिए निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए :—

दुकान में वस्तुओं का पर्याप्त संग्रह रहना चाहिए, अधिक से अधिक लोगों के आने पर भी सुगमता से वितरण करना चाहिए, वस्तुओं पर लेबिल आदि ठीक

प्रकार से लगे रहने चाहिए तथा सभी वस्तुएं ग्राहकों को दिखाने के लिए तुरन्त प्रस्तुत करनी चाहिए। जो वस्तुयें अधिक माँगी जाती हैं वे अपने निकट ही रक्खी रखनी चाहिए तथा दूसरी वस्तुयें यदि कुछ दूर भी रक्खी हों तो कोई बात नहीं, परन्तु इनी आसानी से लाई जा सकें इस प्रकार रक्खी रहनी चाहिए। यदि कोई वस्तु ग्राहक के माँगते ही तुरन्त उपस्थित करदी जाती है तो इस स्फूर्ति एवं शीघ्रता का ग्राहक पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

स्वच्छता भी बिक्री में अत्यन्त सहायक होती है। दुकान से गन्दगी एवं भद्देपन को सदैव दूर ही रखना चाहिए, क्योंकि इससे ग्राहकों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। दुकान में साधारण वायुमंडल रखने का प्रयत्न करना चाहिए। अधिक शीत या अधिक गर्मी रहना ठीक नहीं होता। गर्मियों में पंखों का तथा जाड़ों में ठंड से बचाने का सभी के लिए एकसा प्रबन्ध रखना चाहिए।

वस्तुओं को उचित समूह में, क्रम से गुण के हिसाब से दिखाना चाहिए, जिससे ग्राहकों को उन्हें पसन्द करने में सुविधा होती है और इसका अच्छा प्रभाव भी पड़ता है। सभी वस्तुयें ग्राहक के सम्मुख रखते हुए उनके मूल्य आदि को ठीक एवं उचित रूप से बतलाना चाहिए, साथ ही वस्तु के गुण एवं विशेषताओं के ऊपर भी मत देते रहना चाहिए।

ग्राहक के दुकान पर आते ही उससे उचित बातें प्रारम्भ कर देनी चाहिए। यदि ग्राहक के आते ही उससे बातें नहीं की जातीं तो बहुत से ग्राहक नाराज हो सकते हैं और दुकान से उठकर जा भी सकते हैं। विक्रेता में तीव्र ज्ञान, अच्छी स्मरण शक्ति तथा न्यायोचित व्यवहार करने की योग्यता होनी चाहिए।

दूसरे की वस्तुओं का तिरस्कार करना कभी अच्छा नहीं होता, परन्तु एक विक्रेता को सदैव उन बातों का विवेचन करना चाहिए जिससे ग्राहक को उसकी वस्तु सम्बन्धी महत्ता का ज्ञान हो जाय। यदि ग्राहक का यह विचार होजाता है कि यह विक्रेता छोटी छोटी बातों में भी बेईमानी करता है तो वह उसका विश्वास न करता हुआ उठकर चला जा सकता है अथवा कोई भी वस्तु खरीदने से इन्कार कर सकता है।

(४) <u>वस्तु खरीदने के लिये लालायित करना या विक्रय समाप्त करना।</u> <u>(Impelling to action or closing the sale)</u> —माँग उत्पन्न करने के पश्चात् उस माँग को वस्तु खरीदने में परिणत करना तथा विक्रय समाप्त करना यह कार्य विक्रेता का होता है। प्रत्येक विक्रेता भिन्न भिन्न रीति से विक्रय समाप्त करता है। कितने ही मनुष्य इस सुझाव से प्रभावित होते हैं, कि माँग उत्पन्न करके तुरन्त उसकी पूर्ति होनी चाहिए। बाजार की परिस्थिति को देखकर भी विक्रय की समाप्ति में कुशलता प्राप्त की जाती है। यदि बाजार ऊँचा जारहा हो तो विक्रय की समाप्ति तुरन्त करना ही उचित होता है। ग्राहकों को प्रभावित करने के लिए उन्हें कभी कभी कुछ

प्रलोभन देने पड़ते हैं तथा अनेक प्रकार से निवेदन भी करना पड़ता है, क्योंकि ग्राहक सदैव विभिन्न रुचि वाले होते हैं। कभी-कभी दुकानदार को ग्राहकों से यह भी कहना पड़ता है कि वस्तुयें थोड़ी ही हैं और माँग ज्यादा हो रही है, इसके साथ ही नया माल अभी जल्दी नहीं आ सकता। इस तरह विभिन्न रीति से ग्राहक को लालायित करने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु ग्राहक से सदैव सभ्यता पूर्ण एवं विनीत भाव से ही व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि यह दुकानदार के लिए एक अतिथि की भाँति होता है; यदि वह किसी प्रकार उस समय कोई वस्तु नहीं खरीदता तो वह अगले सप्ताह या मास में या दूसरे वर्ष में पुनः कुछ न कुछ खरीदने के लिए आपकी दुकान पर आ सकता है और फिर आपका स्थायी ग्राहक भी बन सकता है। अतः ग्राहक के साथ सदैव सद्भावना के साथ बर्ताव करना ही लाभप्रद होता है।

इसके अलावा एक विक्रेता के कुछ ऐसे भी कार्य हैं, जिन्हें उसे कदापि नहीं करना चाहिए। जैसे, उसे बातें करते समय ग्राहक से ज्यादा जल्दी नहीं करनी चाहिए। किसी मनुष्य को भी विश्वास होने में कुछ समय लगा करता है तथा विक्रय के लिए तैयार होने में भी कुछ सोचना-विचारना पड़ता है। विक्रेता को अपने ग्राहक का नाम भद्दे ढंग से उच्चारण नहीं करना चाहिए। ग्राहक से किसी कथन पर भी उसे तुरन्त क्रोध नहीं दिखलाना चाहिए। अपना सारा समय वस्तुओं के गुणों का वर्णन करने में ही व्यतीत नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से ग्राहक वस्तु के जिस गुण से प्रभावित होकर दुकान पर आया है वह भी उसके मस्तिष्क से जाता रहता है।

यद्यपि ग्राहक अपने व्यवहार में सदैव उचित नहीं होता, परन्तु विक्रेता की यह एक उत्तम नीति कहलाती है कि वह ग्राहक को उचित ढग से व्यवहार करने के लिए बाध्य करदे। ग्राहक के लिए सदैव सोचने-विचारने का अवकाश देना चाहिए, उसे प्रत्येक क्षण विक्रय के लिये उद्यत नहीं समझना चाहिए। अधिकांश ग्राहक बड़े प्रसन्न चित्त वाले होते हैं अत वे विक्रेता के कुशल-व्यवहार से अत्यधिक प्रभावित हो सकते हैं। विक्रेता को प्रत्येक ग्राहक का भली प्रकार स्वागत करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक ग्राहक उसके लिए अतिथि होता है। जो ग्राहक किसी प्रकार की शिकायत करने आता है उसे भी धन्यवाद देना चाहिए। इस व्यवहार के कारण यदि कोई त्रुटि ग्राहक की ओर से ही होती है तो वह तुरन्त मानने के लिए तैयार हो सकता है और यदि किसी प्रकार का अनुचित कार्य विक्रेता की ओर से हो गया है तो उसका भी प्रभाव फिर उसके सद्व्यवहार के कारण ग्राहक पर नहीं पड़ता। किसी भी आडम्बरपूर्ण ग्राहक के साथ कपट या आडम्बर का बर्ताव करना उचित नहीं होता; सदैव उसे बड़प्पन देने का प्रयत्न करना चाहिए तथा स्वयं को सदैव अहंकार से दूर रखना ही अच्छा होता है। हो सकता है कि ग्राहक छली, धूर्त या कपटी हो और आप अत्यन्त स्पष्ट तथा यथार्थ व्यवहार करने वाले हों, परन्तु उसके सामने अपनी यथार्थता का महत्त्व

दिखलाना उचित नहीं होता। सदैव ग्राहक और विक्रेता के अन्तर को समझकर ही व्यवहार करना चाहिए। बिक्री कार्य में विक्रेता को सदैव चतुरता के साथ व्यवहार करना चाहिए, उसे अपने कार्य में इतनी तत्परता दिखाना आवश्यक होता है कि ग्राहक जिससे उसका मतव्य न समझ सके तथा उसके सुन्दर व्यवहार से प्रभावित होकर उसका स्थायी ग्राहक बन जाय। प्रत्येक ग्राहक एक विक्रेता से अच्छे व्यवहार की आशा किया करता है अत विक्रेता को अपना स्थायी प्रभाव स्थापित करने के लिए सदैव सुन्दरता, सभ्यता तथा नम्रता के साथ व्यवहार करना चाहिए।

Test Questions

1 It pays to advertise Do you agree ? Justify your view by specific reasons (Rajputana B Com 1949)

2 *Money spent on advertising is wasteful* Do you agree ? Give reasons for your answer (Bombay 1947)

3 What channels are available to a manufacturer to market his products ? Which method would you advise a *manufacturer of fountain* pens to adopt and why (Bombay B Com 1946)

4 Examine carefully the principles of effective advertising and suggest methods by which an advertisement may be made to appeal *effectively to an illiterate public*

5 Outline briefly the organisation and describe the working of the advertising department of a large firm What methods are available *for testing the effectiveness of its advertising ?*

(Bombay B Com 1942)

6 By what principles would you be guided to selecting the *medium for an advertisement ? Bring out the relative merits and* and demerits of news papers and magazines as advertising media

(Bombay B Com 1942)

7 What points should the advertisement of a life insurance office bring out in order to induce the public to become its policy holders?

(Bombay B Com 1941)

8 Discuss the principal elements which should be present in a good copy of advertisement to appeal to

(a) an urban community

(b) a rural community (Bombay B Com 1934)

9 What are the *chief characteristics of a good copy of news* paper advertisement

Discuss the possibilities of (a) railway trains (b) theatrical pro *grammes and (c) shop windows as advertising media*

(Bombay B Com. 1934)

10 Messers Allum & Co are manufacturs of high class leather suit cases *in Bombay Draw up an advertisement for them not exceed* ing five lines and mention the media you would utilise

(Bombay B Com 1936)

11 Review the *merits* and *demerits* of the different media of advertising (Bombay B Com , 1937)

12 State the various methods by which display value of an advertisement in (1) a newpaper and (2) a magazine is improved and draw

up a layout as well as a copy of an advertisement for a magazine in connection with a maker of a radio set in the sale of which you are interested (Bombay B Com 1937)

13 State wh at elements a scientifically drafted copy of an advr. tisement must embrace? Draft a copy of an advertisement meet of a patent branded breakfast food for children embracing appeal to the appropriate instincts (Bombay 19t37)

14 How would you explain to an advertiser who has never used posters their suitability for this proposition detailing the object with which the posters are to be used as helps to other forms of advertise ments

Draw up a poster which you would recommend in the above case •(Bombay B Com 1938)

15 Modern advertisement has made the luxuries of yesterday the necessities of to day Comment on this statement giving suitable examples in support of your answer (Allahabad B Com 1933)

16 Write a short essay on Mural Advertising

17 State briefly the essentials of a good newspaper advertise ment and draw up a suitable advertisement (for insertion in a financial weekly) on behalf of a life insurance company or a bank (Agra B Com 1945)

18 A glass manufacturing company has been recently started under good auspices How should it in your opinion arrange for the publicity of its products ? (Agra B Com 1946)

19 Enumerate the Principal characteristics of a successful salesman and discuss if engagement of a saleswoman would in this country augement the sales of—

(a) a departmental store

(b) a retail store (Bombay B Com 1934)

20 What are the requisites of good salesmanship and efficient advertising ? Draft a specimen advertisement for the foreign press on behalf of a Banaras silk house

सातवाँ अध्याय

उपज-विनिमय

(PRODUCE-EXCHANGES)

वस्तु-बाजार एक ऐसे स्थायी एवं सुसंगठित स्थान को कहते हैं जहाँ पर प्रकृति से उत्पन्न होने वाले पदार्थों का व्यापार करने के लिए कितने ही व्यापारी एकत्रित होते हैं। इन पदार्थों में एक ओर कृषि द्वारा उत्पन्न गेहूँ, कपास, जूट, तिलहन, चाय आदि आते हैं तथा दूसरी ओर खानों से निकलने वाले सोना, चाँदी, शीशा, ताँबा आदि आते हैं; वैसे ही तीसरी ओर सुतली, सूत, धागे कपड़े, चीनी आदि निर्मित पदार्थ भी आते हैं। परन्तु "उपज-विनिमय" से एक ऐसे बाजार का बोध होता है जहाँ केवल तिलहन, गेहूँ, कपास, जूट, चना आदि कच्चे माल का ही आदान प्रदान होता है।

एक सुसगठित बाजार में केवल ऐसी वस्तुओं का ही क्रय-विक्रय आसानी से हो सकता है जिनका श्रेणी-विभाजन सुगम हो अथवा जिनकी व्याख्या ठीक ठीक हो सके तथा जो अधिक मात्रा में बिकने योग्य हों। ऐसे बाजार की विशेषता यह होती है कि (1) वहाँ पर अधिक से अधिक सख्या में प्रतिस्पर्द्धा करने वाले क्रेता तथा विक्रेता एकत्रित होते हैं, अधिक से अधिक परिमाण में वस्तुओं का (2) क्रय-विक्रय होता है; वहाँ वस्तुओं के मूल्य की सूचनायें शीघ्रातिशीघ्र सगठनों द्वारा प्राप्त होती रहती हैं, वस्तुओं के आयात-निर्यात की वर्त्तमान एव भविष्यगत सूचनाएं समाचार-पत्रों द्वारा मिलती रहती हैं, वहाँ पर वस्तुओं का क्रय-विक्रय दलालों द्वारा होता है तथा वहाँ वस्तुओं की माँग एवं पूर्ति पर ही समस्त लोगों का ध्यान केन्द्रित रहता है।

एक सुसंगठित बाजार की मुख्य विशेषता यह भी होती है कि उसमें व्यापारिक समाचारों का प्रचार बड़ी शीघ्रता के साथ होता है। उसके लिए टेलीग्राफ, टेलीफून तथा वायरलैस ने अत्यधिक सहायता प्रदान की है। इनके द्वारा व्यापार सम्बन्धी सूचनाओं के प्रचार का कार्य अधिक तीव्रता, तत्परता तथा शीघ्रता के साथ किया जाता है। प्रतिदिन मुख्य मुख्य रेडियो-स्टेशनों से भी व्यापार सम्बन्धी समाचार प्रसारित किये जाते हैं। प्रत्येक सुसगठित वस्तु-बाजार के अन्तर्गत व्यापारिक अनुबन्धों का एक ऐसा सुन्दर एव सुदृढ स्वरूप देखने को मिलता है जिसके आधार पर वस्तुओं के श्रेणी-विभाजन में कठिनाई नहीं होती, भुगतान की शर्तों का निश्चित रूप से पता चल जाता है, भेजने की उपयुक्त व्यवस्था रहती है तथा झगड़ों के तय करने के लिए प्रबन्ध किया जाता है। इन बाजारों में भविष्य के व्यवहार के लिए ऐसे

ing five lines ... 11. Revie... advertising. 12. State t... advertisement in (1,

समाशोधन-गृह (Clearing House) होते हैं जो व्यापारियों की क्रय-विक्रय सम्बन्धी क्षति-पूर्ति किया करते हैं तथा जिनके द्वारा अनुबन्ध सम्बन्धी झगड़ों का शीघ्र निबटारा हो जाता है।

मंडियाँ अथवा थोक बाजार
(Mandis or wholesale Markets)

मंडी एक ऐसे थोक बाजार को कहते हैं जो नगर के एक निश्चित व्यापारिक स्थान में होता है तथा जहाँ पर नित्यप्रति व्यापार किया जाता है। बहुत सी पुरानी मंडियों में सड़क के दोनों ओर दुकानें बनी रहती हैं, परन्तु पंजाब की केनाल कॉलोनीज (Canal Colonies of the Punjab) तथा उत्तरप्रदेश के पश्चिमी नगरों में जो आधुनिक रीति से मंडियाँ बनाई गई हैं वे चौकोर या चतुष्कोण के आकार में हैं तथा प्रत्येक दिशा में निकलने के लिए द्वार बना रहता है। मंडियों में प्रायः अधिक मात्रा में ही वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है। अतः यहाँ पर पल्लेदार, दलाल, कमीशन एजेंट आदि अनेक व्यक्ति नित्य कार्य करते हैं। मंडियों में प्रायः आस पास के स्थानों पर उत्पन्न होने वाली वस्तुयें बिकने के लिए अधिक से अधिक मात्रा में आती हैं। अतः ये विभाजन का केन्द्र कहलाती हैं। भारतवर्ष में दो प्रकार की मंडियाँ पाई जाती हैं जिनमें से कुछ केन्द्रित होती हैं और कुछ विकेन्द्रित (Decentralised) होती हैं। एक केन्द्रित मंडी में आढतियों की दुकानें नगर के विशेष भाग में स्थापित रहती हैं। ऐसी मंडियाँ मेरठ तथा मुजफ्फरनगर में हैं। परन्तु एक विकेन्द्रित मंडी में आढतियों की दुकानें गोदामों के रूप में नगर के विभिन्न स्थानों में रहती हैं और प्रत्येक दुकान स्वयं एक बाजार के रूप में होती है। इस प्रकार की मंडी का उदाहरण उत्तरप्रदेश के अन्तर्गत फर्रुखाबाद नगर में मिलता है जहाँ आलुओं की दुकानें इसी प्रकार की बनी हुई हैं।

साधारणतः मंडियों पर नगर के स्थानीय व्यापारियों, नगरपालिकाओं (Municipalities), जिला बोर्डों तथा घोषित क्षेत्रों (Notified Areas) का अधिकार रहता है। कहीं-कहीं पर मंडियाँ सरकारी नियंत्रण में रहती हैं। आसाम, बंगाल तथा बिहार में अधिकांश मंडियाँ स्थानीय व्यापारियों के अधिकार में हैं, परन्तु उत्तर-प्रदेश (U P) में ५०% मंडियाँ नगरपालिकाओं के अधीन हैं, लगभग २५% मंडियाँ जमींदारों तथा स्थानीय व्यक्तियों के अधिकार में हैं तथा शेष मंडियाँ सरकार, व्यापार-परिषद् (Chambers of Commerce) तथा कोर्ट ऑफ वार्ड्स के अधिकार में हैं।

थोक-व्यापार के लिए सदैव ऐसा क्षेत्र चुना जाता है जहाँ आवागमन अथवा पत्र-व्यवहार की सुविधायें अधिक रहती हैं, वस्तुओं के आने में कठिनाई नहीं होती, अन्य बाजारों से भी जो स्थान अधिक निकट रहता है तथा जहाँ नियमित रूप से व्यापार होने में कोई कठिनाई नहीं होती। यदि यातायात के साधनों की उचित व्यवस्था रहती है, वस्तुयें अधिक मात्रा में आती रहती हैं तथा मंडी का स्थान उपयुक्त होता है और

व्यापार उचित रीति से चलता रहता है तो उस मंडी द्वारा दूर दूर तक रहने वाले व्यापारियों एवं नागरिकों को लाभ पहुँचता है।

भारतवर्ष में यातायात एवं पत्र-व्यवहार की सुविधायें प्रदान करने के लिए अनेक साधन प्रचलित हैं, जिनमें से रेलें, जलमार्ग, सड़कें, समुद्र तथा डाक, तार, टेलीफून आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। सड़कों द्वारा यातायात के लिए बैलगाड़ी, खच्चर, ऊँट, घोड़े, मोटरें आदि अधिक मात्रा में प्रयोग किये जाते हैं। इसके अलावा सिर पर बोझा ढोने की भी व्यवस्था रहती है। प्राय पहाड़ी स्थानों पर साग तरकारी, फल आदि सिरों द्वारा मंडियों म लाये जात हैं। कहीं कहीं माल ढोने के लिए बहँगी का भी प्रयोग किया जाता है। जहाँ सड़कें नहीं होतीं या खराब होती हैं वहाँ पर इसके लिए घोड़ा, खच्चर, ऊँट आदि का प्रयोग किया जाता है। गाँवों से सुदूर स्थित नगरों की मंडियों तक माल लाने के लिए बैलगाड़ियों का साधन सबसे उपयुक्त होता है। मोटर ठेले केवल पक्की सड़कों पर ही चलत हैं। माल के ढोने में जो व्यय लगता है वह प्राय सड़क, स्थान की दूरी, मौसम तथा माल के वजन आदि पर निर्भर रहता है। आजकल तो मोटर ठेला माल के ढोने में सबसे सस्ता और शीघ्र पहुँचाने वाला साधन है।

व्यापार सम्बन्धी जानकारी के लिए आजकल जिन साधनों का उपयोग किया जाता है उनमें से समाचार पत्र या सरकारी गजट, व्यापारिक पत्र तथा रेडियो या आकाश वाणी प्रमुख हैं। साधारणत भिन्न भिन्न क्षेत्रों अथवा स्थानों पर रहने वाले व्यापारी वस्तुओं की बाजार सम्बन्धी समस्त सूचनायें किसी न किसी वैयक्तिक या अन्य साधन द्वारा नित्य प्राप्त करत रहत हैं।

मण्डियों में वस्तु का आना सदैव वहाँ के स्थानीय क्षेत्रों के उत्पादन एवं वहाँ की माँग पर निर्भर रहता है। जितनी अधिक मात्रा में जो वस्तु निकट के स्थानों पर उत्पन्न होती है वही मण्डियों में बाहर के भेजने के लिए अथवा वहाँ की आवश्यकता-पूर्ति के लिए आती है। जैसे, पश्चिमी उत्तरप्रदेश में गेहूँ, सरसों, गुड़ आदि अधिक मात्रा में होते हैं। अत इनका ही क्रय विक्रय मण्डियों में सबसे अधिक होता है। दूसरे चावल, बिनौले, मक्का आदि अधिक उत्पत्ति वाले क्षेत्रों से यहाँ मँगाये जाते हैं। साधारणत जो वस्तुयें बाहर से या अधिक उत्पत्ति वाले क्षेत्रों से मँगाई जाती हैं वे सदैव मौसम या ऋतु के अनुसार कम या अधिक आती हैं। यदि मँगाते समय किसी वस्तु के उत्पन्न होने का समय होता है और वह तैयार होकर बाहर भेजने योग्य बन जाती है तो माँग के अनुसार सभी स्थानों पर अधिक से अधिक मात्रा में आ सकती है, परन्तु उत्पत्ति के समय के उपरान्त फिर माँग करने पर भी उतनी मात्रा में नहीं मिलती। साधारणत मण्डियों में बरसात के मौसम में माल कम आया करता है। कारण यह है कि यहाँ के उत्पादन क्षेत्रों से मण्डियों तक आने में मार्ग अधिकतर कच्चे

हैं और वर्षा-काल में उनमें पानी भर जाता है। अतः माल का आना जाना कठिन हो जाता है। दूसरे, मण्डियों तक माल को लाते-लाते वह कुछ मार्ग में ही खराब हो जाता है। इसलिए कितने ही स्थानों पर यातायात पूर्णतः रुक जाता है। (२)

मण्डियों में कृषि से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं का संग्रह करना अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। कारण यह है कि मण्डियों के निकट प्रायः वहाँ की मुख्य-मुख्य वस्तुयें उत्पन्न होती हैं और वे मण्डियों में सुगमता से आजाती हैं। मण्डियों में व्यापारी लोग उन वस्तुओं को अधिक से अधिक मात्रा में एकत्रित कर लेते हैं तथा उचित समय देखकर फिर उनका बेचना आरम्भ करते हैं। साधारणतः शीघ्र नष्ट न होने वाले कृषि से उत्पन्न पदार्थों का संग्रह ये लोग कोठों, गोदामों तथा खत्तियों में करते हैं। खत्तियाँ कच्ची तथा पक्की दोनों प्रकार की होती हैं। मुजफ्फरनगर में सभी खत्तियाँ सीमैंट तथा ईंट की बनी हुई हैं।

थोक-बाजारों में कृषिज पदार्थों के संग्रह करने अथवा विभाजित करने में अर्थ की जितनी आवश्यकता होती है, उसकी पूर्ति प्राय कच्चे पक्के आढ़तिये, महाजन, बैंकें, अन्न व्यापारी संघ तथा निर्यात करने वाले व्यापारी करते हैं। बहुत से महाजन या धनी व्यक्ति खड़ी खेती की प्रतिभूति पर या उत्पादित पदार्थ की साख पर, हुण्डियों द्वारा तथा व्यक्तिगत जमानत पर उपर्युक्त कार्यों के लिए ऋण दिया करते हैं। इस सम्बन्ध में हुण्डियाँ अधिक प्रमुखता के साथ प्रयोग में लाई जाती हैं।

अधिकांश मण्डियों पर कोई सरकारी या वैधानिक नियन्त्रण नहीं होता। उनके समस्त कार्य अपनी एक प्राचीन पद्धति तथा परम्परा के आधार पर होते रहते हैं। कहीं-कहीं पर आढ़तिया लोग अपनी एक पचायत बना लेते हैं और वही पचायत उनके समस्त कार्यों की देख-रेख करती रहती है। किसी-किसी प्रान्त में वहाँ की प्रान्तीय-सरकार बाजार सम्बन्धी कुछ नियम निर्धारित कर देती है और उन्हीं के आधार पर मण्डियों में कार्य होता है। वैसे साधारणतः मण्डियों का प्रबन्ध एवं नियन्त्रण ऐसी समितियों द्वारा होता है जिनमें कुछ उत्पादक तथा कुछ व्यापारी प्रतिनिधि के रूप में रहते हैं। मण्डियों में कार्य करने वाले व्यक्ति अधिकांश आढ़तिया, दलाल, पल्लेदार आदि होते हैं। बहुधा कच्चे और पक्के आढ़तिया ही वस्तुओं का संग्रह और विभाजन किया करते हैं। दलाल लोग इन आढ़तियों के पास वस्तु के खरीददारों को लाते हैं और उसके बेचने का प्रबन्ध कराते हैं। इन खरीददारों में कुछ विक्रेता और कुछ साधारण ग्राहक होते हैं। इनके अतिरिक्त मण्डियों में तोला, पल्लेदार, प्याऊवाला, मुनीम आदि भी प्रमुख रूप से कार्य करते हैं।

कृषिज पदार्थ जैसे ही मण्डी में आता है, तुरन्त उसे किसी आढ़तिया के यहाँ रखा जाता है। यह आढ़तिया ही उसके बेचने का प्रबन्ध करता है। उस पदार्थ की बिक्री स्वयं आढ़तिया नहीं करता, उसकी सहायता के लिए कुछ दलाल रहते हैं जो

ग्राहकों को आढ़तिया के पास लाने का प्रयत्न करते हैं। जब मूल्य का फैसला हो जाता है, तब वस्तु को तोलकर तथा बोरों में भरकर खरीदने वाले के गोदाम में भेज दिया जाता है। भिन्न भिन्न वस्तुओं का विक्रय भिन्न-भिन्न ढंग से किया जाता है। जैसे गेहूँ आदि अन्नों का विक्रय कभी कभी तो सीधे ढंग से हो जाता है, परन्तु बहुधा उसके लिए कर्दा या घुमाव-फिराव की पद्धति प्रचलित है। इसके लिए पहले ग्राहक के सामने नमूने रक्खे जाते हैं, फिर उनकी व्याख्या एवं विश्लेषण किया जाता है तब ग्राहक जिस प्रकार की वस्तु को पसन्द करता है उसके मूल्य के बारे में निर्णय किया जाता है। प्राय वस्तुओं के नमूने दिखाने में तथा उनका विश्लेषण करने में क्रम बद्धता का अभाव रहता है। कभी कभी व्यापारी अच्छी वस्तु न दिखाकर बुरी वस्तु को ही अच्छी से अच्छी बताते हैं और उसकी प्रशंसा के पुल बाँध देते हैं। भारतवर्ष में वस्तु तोलने के बाँट या वजन भी सभी स्थानों पर एक समान नहीं मिलते। बाजार की प्रामाणिकता को बढ़ाने के लिए उनका एक समान होना अत्यावश्यक है। यहाँ पर साधारणत वस्तुयें हाथ की तराजुओं से या लटकने वाली बड़ी तराजुओं से तोली जाती हैं।

(6) मण्डियों में वस्तु की वास्तविक कीमत के अतिरिक्त कुछ और शुल्क या कर ग्राहकों से वसूल किये जाते हैं, जो आढ़त, दलाली, पल्लेदारी, तुलाई तथा धर्मादा कहलाते हैं। वस्तु की कीमत निश्चित करते समय कर्द का भी ध्यान रखा जाता है। कुछ शुल्क तो ग्राहक के बिना जाने ही वसूल किये जाते हैं जो उसके लिए सर्वथा भार स्वरूप होते हैं।

उपज-विनिमय (Produce Exchanges)

उपज-विनिमय (Produce Exchanges) से एक ऐसे विशिष्ट थोक-बाजार का बोध होता है जहाँ पर केवल कृषिज उपज अर्थात् खेती की पैदावार का व्यापार होता है। यह व्यापार केवल उपज-विनिमय के सदस्यों में ही किया जाता है, परन्तु सदस्य लोग अन्य व्यक्तियों की ओर से भी व्यापार कर सकते हैं। इस व्यापार के लिये ये संस्थाये अपने कुछ नियम बनाती हैं और उन्हीं नियमों के आधार पर समस्त कार्यवाहियाँ की जाती हैं। इनके प्रबन्ध के लिए संचालक-सभा रहती है, जिनमें संचालक लोग एक निश्चित अवधि तक कार्य करने के उपरान्त पुन निर्वाचित किये जाते हैं। प्राय उपज विनिमयों का निर्माण 'भविष्य'-व्यापार (Future Trading) में सुविधा प्रदान करने के लिए हुआ है जैसे ईस्ट इण्डिया कॉटन ऐसोसियेशन लिमिटेड बम्बई इसी प्रकार का कार्य करता है, परन्तु कुछ उपज-विनिमय (Produce Exchanges) तत्काल व्यापार (Spot transactions) भी करते हैं, जैसे इण्डियन प्रोड्यूस एसोसियेशन कलकत्ता, केवल तत्काल व्यापार करता है। उपज-विनिमयों का सम्बन्ध विश्व के समस्त बाजारों से रहता है। इस सम्बन्ध की स्थापना में व्यापारिक समाचार-पत्र अधिक सहायता प्रदान करते हैं तथा वस्तुओं के मूल्य की

नित्य प्रति सूचना देते रहते हैं। शीघ्रातिशीघ्र वस्तुओं के मूल्य की सूचना मिलना ही एक सुगठित एवं योग्य बाजार का लक्षण है। प्राय इन उपज-विनिमयों में बेचने के लिए वस्तुयें बाहर खोलकर नहीं फैलाई जातीं। इतना अवश्य है कुछ तत्काल व्यापार करने वाले उपज विनिमय नमूने के लिए माल बाहर रख लेते हैं। बहुधा वस्तुओं के अंशकों (Grades) की स्वीकृति हो जाने पर भी 'भविष्य' सम्बन्धी व्यापार किया जाता है। भविष्य तथा तत्काल व्यापार में अत्यधिक अंतर रहता है। एक तत्काल व्यापार की अपेक्षा भविष्य-व्यापार में वस्तुओं के मूल्य भुगतान आदि में अधिक समय लगता है। भविष्य व्यापार में जो अनुबंध किया जाता है उसके आधार पर वस्तुओं के मूल्य का भुगतान वस्तु के पहुँचने पर ही नहीं होता, वरन् उसकी निश्चित अवधि में या उस अवधि के अन्तर्गत किसी समय किया जा सकता है। प्राय तत्काल व्यापार वाले मूल्य से भविष्य-व्यापार में अधिक मूल्य लिया जाता है तथा भुगतान के लिए हुंडियों का प्रयोग होता है। दोनों व्यापार अधिकतर दलालों द्वारा होते हैं। इसके अलावा इन उपज विनिमयों में व्यापार सम्बन्धी झगड़ों का निबटारा करने के लिए पंचायत का निर्णय माना जाता है।

भारत में अधिकांश उपज विनिमयों का निर्माण केवल भविष्य सम्बन्धी व्यापार के लिये हुआ है, परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो भविष्य व्यापार की अपेक्षा तत्काल-व्यापार करते हैं। इस 'भविष्य" शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम अमेरिका में हुआ था, यह शब्द "भविष्य में कपास देने के लिए अनुबंध" (Contract for the future of delivery of cotton) से निकला है और उसी का संक्षिप्त रूप है। अब इस शब्द का क्षेत्र अधिक विस्तीर्ण हो गया है और कपास के लिये ही प्रयुक्त न होकर खेत की पैदावार आदि के लिये भी इसका प्रयोग होने लगा है। सारांश यह है कि "भविष्य-व्यापार" कहने से "भविष्य में किसी वस्तु के देने का अनुबंध करने" का तात्पर्य होता है।

भविष्य-अनुबंधों को हम एक प्रकार से बीमा का कार्य करते हुए भी देखते हैं, क्योंकि इसके आधार पर एक व्यापारी इस हाथ खरीदता है और दूसरे ही क्षण दूसरे को बेच भी देता है, परन्तु दोनों कार्य भविष्यगत अनुबंध पर आधारित रहते हैं। जैसे मानलो किसी वस्तु की कीमत उपज विनिमय में इस समय १००) रु० है। यदि कोई व्यापारी यह सोचता है कि उसे अन्य स्थान से वह वस्तु सस्ता मिल सकती है और यहाँ लाकर वह इसी कीमत पर लाभ लेकर बेच सकता है, तो वह तुरन्त जाकर वहाँ से माल 'भविष्य अनुबंध" के आधार पर खरीद लेता है और उपज विनिमय में आकर उसी कीमत पर बेच देता है। अब यदि माल के आने के समय उस वस्तु की कीमत गिर जाती है और वह ८५) रु० तक हो जाती है तो उसे १५) रु० की हानि होती है, परन्तु अपना "भविष्य अनुबंध" यदि वह इसी समय पूर्ण कर देता है तो उसे १५) रु० का लाभ हो जाता है। इस प्रकार एक ओर से होने वाली हानि की पूर्ति वह दूसरी

ओर के लाभ से कर लेता है। इसके विपरीत, एक वस्तु निर्माता को भी भविष्य-अनुवर्धी द्वारा लाभ होता है क्योंकि वह भविष्य के अनुबंधों पर वस्तु का निर्माण करके अपने ग्राहकों के पास भेज सकता है। यदि निर्माण करने के समय किसी वस्तु के कच्चे माल की कीमत १००) रु० है और आगे चलकर वह भी ८५) रु० रह जाती है तो वह अपने अनुबन्ध के अनुसार खरीदने में हानि उठाकर बेचने में लाभ प्राप्त कर सकता है।

भविष्य-व्यापार तथा तत्काल व्यापार के अनुबन्धों में मुख्य अंतर यह होता है कि तत्काल व्यापार के अनुबन्धों में उपज का प्रदान (Delivery) एवं उसका भुगतान उसी समय किया जाता है, परन्तु भविष्य व्यापार के अनुबन्धों में उपज का प्रदान तथा भुगतान दोनों के लिए ऐसे अनुबन्ध होते हैं जिनके आधार पर उसी समय भुगतान या प्रदान न होकर कुछ अवधि के उपरान्त किए जाते हैं। इसके साथ ही इनके लिए यह निश्चित नहीं होता कि एक निश्चित तिथि पर ही उसकी पूर्ति की जाय—यह पूर्ति पहले भी हो सकती है।

भारतवर्ष में भविष्य-व्यापारों की वृद्धि प्रथम विश्व युद्ध (१९१४-१९१८) के उपरान्त अधिक मात्रा में हुई। इस वृद्धि के कारण यह था कि पहले यहाँ पर आन्तरिक बाजारों का महत्त्व अधिक हो गया था। युद्ध से पूर्व अधिकांश आन्तरिक व्यापारी अन्न, कपास, तिलहन आदि का निर्यात बड़े अच्छे पैमाने पर करते थे। इनका सीधा सम्बन्ध किसानों से भी स्थापित हो गया था और वहां से माल खरीदकर ये लोग सीधे निर्माताओं के यहां अथवा उत्पादन कर्त्ताओं के यहाँ भी भेजने की व्यवस्था रखते थे। अधिकांश वस्तुओं को ये लोग ऐसे व्यापारियों को नकद दामों पर बेच देते थे जो बन्दरगाहों से भेजने की व्यवस्था करते थे। इस प्रकार इस पद्धति का प्रचार अत्यधिक मात्रा में था, परन्तु युद्ध-जनित असुविधाओं एवं कठिनाइयों के कारण निर्यात (Export) की अपेक्षा परिकाल्पनिक व्यापार (Speculation) बढ़ने लगा और अधिकांश लोग भविष्य के अनुबन्धों की ओर अग्रसर होने लगे। फल यह हुआ कि भारतवर्ष में सर्वत्र उपज विनिमयों का निर्माण होने लगा। विश्व युद्ध से पूर्व यहाँ पर कुछ बाजार ऐसे अवश्य थे जो नियमानुसार भविष्य व्यापार करते थे, परन्तु ऐसे व्यापारियों को अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। सन् १९१४ से पहले बम्बई में भविष्य सम्बन्धी कपास तथा अन्य कृषिज पदार्थों का व्यापार एक सुगठित रूप में होता था, परन्तु सन् १९२० में पंजाब के अन्दर अमृतसर में अब मे चीनी तथा अन्न व्यापारी-संघ का निर्माण हुआ तब से इस कार्य में अधिक वृद्धि हुई। इसका परम्परागत स्वरूप आधुनिक इण्डियन ऐक्सचैंज लिमिटेड (Indian Exchange Limited) के रूप में मिलता है जो इस प्रकार की एक महत्त्वपूर्ण संस्था है। कलकत्ते में सन् १९१२ ई० में जूट के भविष्य-व्यापार के लिए एक संघ (Association)

का निर्माण हुआ, परन्तु इसने जूट का कोई व्यापार नहीं किया, इसका कार्य तो वस्तुओं का आदान-प्रदान न करके केवल उनके मूल्यों के अन्तर से लाभ उठाना मात्र था। इसकी इस मनोवृत्ति को देखकर कलकत्ते के स्थानीय अधिकारियों ने सन् १६२६-२७ ई० में इसे बन्द करा दिया। इसके उपरान्त सन् १६२६ ई० में दो और नये जूट के भविष्य-व्यापार करने वाले संघों का निर्माण हुआ, परन्तु उनकी कार्यवाही भी १६२८ तथा २६ में समाप्त कर दी गई। तत्पश्चात् सन् १६२७ ई० में ईस्ट इण्डिया जूट एसोसिऐशन की स्थापना हुई, जो भारतवर्ष में आजतक जूट सम्बन्धी भविष्य-व्यापार का नियन्त्रण कर रहा है। भारतवर्ष के अन्य बाजारों की अपेक्षा भविष्य व्यापार में बम्बई को सर्वाधिक अनुभव प्राप्त है। सन् १६१४ से पहले यहाँ पर कितने ही भविष्य-व्यापार करने वाले ऐसोसियेशन थे, जिनमें से दो ऐसोसियेशन तो केवल यही कार्य करते थे। परन्तु अब सन् १६२२ से इन दोनों के कार्य को भी वैधानिक रीति से ही ईस्ट इण्डिया कॉटन ऐसोसियेशन के अन्तर्गत ले लिया गया है।

यद्यपि बन्दरगाहों पर भविष्य व्यापार करने वाले संघों की संख्या में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, परन्तु सन् १६२० से १६३३ तक समस्त उत्तरी भारत में इनका महत्त्वपूर्ण विकास हुआ। इन संघों या ऐसोसियेशनों में अधिकतर गेहूँ का भविष्य सम्बन्धी व्यापार अधिक होता था, परन्तु अन्य उपजों—जैसे चना, जौ, तिलहन आदि के अनुबन्ध भी इनके नियमानुसार होते थे। सन् १६३४ में कितने ही भविष्य व्यापार सम्बन्धी संघों का ह्रास हुआ। यहाँ तक कि आधे से अधिक संघ केवल आर्थिक कठिनाइयों एवं अनुभवी प्रबन्धकों के अभाव के कारण नष्ट हुये थे। अधिकांश संघों का ह्रास तो उनके नियमों का पालन न करने के कारण ही हुआ था।

इन उपज विनिमयों (Produce Exchanges) का संगठन निम्न रीति से किया जाता है :—

विधान एवं प्रबन्ध (Constitution and Management):—उपज-विनिमय अथवा भविष्य व्यापार सम्बन्धी संघों को प्रायः दो वर्गों में विभाजित किया जाता है :—

(१) अलाभ-भाजक (Non-Profit Sharing), तथा

(२) लाभ-भाजक (Profit Sharing).

इन दोनों प्रकार के संघों या विनिमयों का रजिस्ट्रेशन भारतीय कम्पनी विधान के अनुसार होता है। साधारणतः समस्त अलाभ भाजक संघ बन्दरगाहों पर पाये जाते हैं। बम्बई में ऐसे दो संघ हैं जिनके नाम ईस्ट इण्डिया कॉटन एसोसियेशन तथा मारवाड़ी चेम्बर आफ कॉमर्स हैं। कराची में एक विचित्र संघ है जो कराची मर्चेन्ट्स एसोसियेशन कहलाता है। लाभ-भाजक संघ केवल देश के आन्तरिक भागों में ही मिलते हैं। इस प्रकार का महत्त्वपूर्ण संघ अमृतसर में है जो इण्डियन ऐक्सचैंज

लिमिटेड, अमृतसर कहलाता है। यह एक विशेष ध्यान देने की बात है कि लाभ-भाजक संघों की अपेक्षा अलाभ-भाजक संघ अधिक प्रभावशाली एवं स्थायी होते हैं और अपने सदस्यों को अधिक सुविधायें प्रदान करते हैं। दोनों प्रकार के संघों की व्यवस्था अधिकतर सचालक-सभा या समिति (Committee) के हाथ में रहती है जिसमें विभिन्न संस्थाओं के प्रतिनिधि रहते हैं।

व्यापार की पद्धति (Methods of Business):—बहुधा उपज-विनिमयों का व्यापार बाजार में खुले स्थानों पर या सड़क पर ही होता है। केवल थोड़े से ही ऐसे उपज-विनिमय हैं, जो व्यापार के लिये हॉल या भवन निर्माण कराते हैं। ऐसे व्यापार स्थानों को 'चक्र' (Pits or Rings) कहते हैं।

(क) दलाल (Brokers) .—उपज-विनिमयों या "भविष्य" सम्बन्धी बाजारों में दलालों का अत्यधिक महत्त्व होता है। ये दलाल इन स्थानों पर कार्य करने के लिये कुछ संघों से अनुज्ञा-पत्र (License) प्राप्त करते हैं और वैयक्तिक या नकद रोकड़ के रूप में इन्हें जमानत जमा करनी पड़ती है। कुछ स्थानों पर दलाल-सम्बन्धी नियमों का पालन बड़ी शिथिलता के साथ किया जाता है। बड़े-बड़े नगरों में प्रभावशाली दलाल अपनी दुकानों पर टेलीफून लगवा लेते हैं जिससे वे अपने ग्राहकों से सदैव निकटतम सम्बन्ध बनाये रखते हैं। कुछ कम प्रभाव वाले दलाल चक्रों तथा अपने ग्राहकों की दुकानों पर चक्कर लगाते हैं उन्हें प्रचलित मूल्यों से समय-समय पर परिचित कराते हुए उनसे व्यापार सम्बन्धी आदेश (Order) प्राप्त करते रहते हैं। व्यापार के समय सदैव अधिक से अधिक संख्या में दलाल चक्र या पाटिया पर उपस्थित रहते हैं। ये लोग अपने-अपने माल की बिक्री के लिए उनके मूल्यों को ऊँची आवाज में चिल्ला-चिल्ला कर ग्राहकों को परिचित कराते हैं। इस प्रकार जोर-जोर से चिल्लाकर तथा बोली लगाकर ये लोग बड़े परिमाण में व्यापार किया करते हैं।

(ख) अनुबन्धों का पंजीयन (Registration of Contracts) :—प्राय देश के आतंरिक भागों में इन उपज-विनिमय सम्बन्धी अनुबन्धों का पंजीयन या रजिस्ट्रेशन इस प्रकार होता है। पहले दलाल ग्राहक से आदेश प्राप्त करता है और उसे अपनी साधारण नोट-बुक में लिख लेता है। प्रत्येक प्रमाणित दलाल के पास अपने अपने संघों द्वारा एक-एक छपी हुई पुस्तक रहती है। उस पुस्तक के तीन प्रपत्रों (Forms) पर फिर वह दलाल अपनी साधारण नोट-बुक से आदेशों को अंकित करता है, इन प्रपत्रों पर ग्राहकों के भी हस्ताक्षर रहते हैं। फिर वह दलाल उस पुस्तक में से एक प्रपत्र की प्रति को खरीददारों के दलाल को देता है, दूसरी विक्रेता को देता है तथा तीसरी उसके पास संदर्भ के लिए रहती है। इसी तरह खरीददार का दलाल भी एक प्रतिलिपि विक्रेता के दलाल को देता है, दूसरी खरीददार को दे देता है तथा तीसरी अपने पास रखता है। उपज-विनिमय का यह नियम है कि प्रतिदिन भविष्य

व्यापार-सघ के प्रत्येक सदस्य को अपने सघ के कार्यालय में अपने-अपने पूर्व व्यापार का सूचना एक निश्चित अवधि में भेजनी पड़ती है। इन सूचना भेजने वाले प्रपत्रों को स्थिति प्रपत्र (Position Forms) कहते हैं तथा ये समस्त प्रपत्र दलाल के पर्चे (Slip) के सहित विनिमय के कार्यालय में भेजे जाते हैं। इन पर्चे तथा प्रपत्रों की जाँच सघ कार्यालय में की जाती है और यदि ये ठीक होते हैं तो वह व्यापार दृढ मान लिया जाता है तथा उसका पजीयन या रजिस्ट्रेशन कर दिया जाता है।

(ग) राशि-अन्तर (Margin Money) —प्रत्येक अनुबंध के रजिस्ट्रेशन के लिये हरएक सदस्य को उपज-विनिमय के नियमानुसार कुल राशि जमा करना आवश्यक होता है। यह जमा की हुई राशि अन्तर-राशि (Margin Money) कहलाती है तथा मूल्यों की घटा बढ़ी के समय विनिमय की हानि पूर्ति के लिए एक प्रतिभूति के रूप में रहती है। प्रत्येक उपज-विनिमय अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार यह अन्तर-राशि जमा करता है। अधिकाश उपज विनिमयों का यह नियम है कि प्रत्येक व्यापार (Transaction) का रजिस्ट्रेशन कराते समय ही अन्तर-राशि जमा होनी चाहिए। तत्पश्चात् प्रत्येक सदस्य की स्थिति की देखभाल की जाती है और जैसे ही यह पता चलता है कि किसी सदस्य ने सुरक्षा को सख्या से कम राशि जमा की है तो तुरन्त उससे और अधिक जमा कराने का प्रयत्न किया जाता है जिससे वह निश्चित सख्या तक आ जाय।

(घ) व्यापारिक वस्तुयें तथा उनके प्रदान के महीने (Units of Trading and months of delivery) :—विभिन्न बाजारों में व्यापार के लिये विभिन्न वस्तुयें होती हैं। 'भविष्य' सम्बन्धी अनुबन्ध प्राय दिसम्बर, मार्च, मई आदि महीनों में किये जाते हैं और प्रत्येक अनुबन्ध महीने के नाम से पुकारा जाता है। विभिन्न बाजारों में एक ही वस्तु के भविष्य सम्बन्धी अनुबन्धों का प्रदान भिन्न भिन्न महीनों में होता है, जैसे यदि बम्बई में जनवरी, मई और सितम्बर में होता है तो कलकत्ते में मई और दिसम्बर मे होता है।

(ङ) अनुबन्ध-पत्र (Contract Form) —'भविष्य' सम्बन्धी समस्त अनुबन्ध कुछ शर्तों के आधार पर किये जाते हैं। ये सभी शर्त उस अनुबन्ध पत्र में लिखी रहती हैं, जिसके आधार पर 'भविष्य-व्यापार' होता है। इन शर्तों को सभी उपज विनिमय मानते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन अनुबधो मे मिलावट आदि की कुछ मर्यादा निश्चित रहती है। इस मर्यादा को उपज विनिमय ही निर्धारित करते हैं। यदि किसी उपज विनिमय पर कम या अधिक मिलावट के साथ उपज आती है तो वह इस मर्यादा को कम अथवा अधिक कर सकता है। इसके साथ ही पचायत द्वारा फैसला होने का समस्त पद्धति एव वस्तु मूल्य के अतिरिक्त अन्य करों या शुल्कों का भी उल्लेख अनुबन्ध पत्र पर कर दिया जाता है।

टिप्पणी—भविष्य व्यापार प्राय उपज विनिमय के सदस्यों तक ही सीमित रहता है। जो व्यक्ति इन विनिमयों के सदस्य नहीं होते उनकी ओर से केवल इसके सदस्य ही व्यापार कर सकते हैं। इसके लिए उन्हें कुछ कमीशन देना पड़ता है, साथ ही उपज विनिमय द्वारा निर्धारित अन्य शुल्क या करों का देना भी आवश्यक होता है। इन कमीशन लेने वाले सदस्यों द्वारा अन्य व्यक्तियों को भी उपज विनिमय में अन्तर-राशि जमा करनी पड़ती है। इस प्रकार जिले के बाजारों में जिन व्यापारियों को भविष्य व्यापार सम्बन्धी सुविधायें नहीं मिलतीं वे भी सदस्यों के सहारे व्यापार कर सकते हैं। यह केवल उपज विनिमयों के सगठित स्वरूप द्वारा ही सम्भव होता है और साधारणतया सगठित विनिमयों में ही सदस्य या कमीशन एजेंट अथवा दलाल इस कार्य को सुगमता से कर सकते हैं।

उपज विनिमय के शब्दों की परिभाषायें

(Produce Exchange Terms)

तत्काल व्यापार (Ready Business) —तत्काल व्यापार से तात्पर्य यह है कि वस्तुओं का क्रय विक्रय तुरन्त उसी क्षण हो और वस्तु के प्रदान करने में देरी न होकर उसी समय उसी स्थान पर की जाय। तत्काल व्यापार को वास्तविक वस्तु व्यापार (Trading in Actuals) भी कहते हैं। तत्काल व्यापार के लिए बहुधा कुछ वस्तुयें तो गोदामों या खत्तियों से निकाल कर बाहर लाई जाती हैं और कुछ ताजी वस्तुयें भी आती हैं। खेतों की पैदावार प्राय बाजारों में पूरे सालभर तक आती रहती है, कभी कभी मौसम के समय तो अधिक मात्रा में आती है और उसके उपरान्त कभी कभी कम मात्रा में आती है। ताजी माल की विशेष माँग करने वाले में सग्रहकर्ता, व्यापारी, मिल मालिक, कृत्यकी (Jobbers), विक्रेता, उपभोक्ता (Consumers) तथा परिकल्पक (Speculators) आदि प्रमुख होते हैं।

भविष्य या अग्रिम व्यापार (Forward Business) —वस्तु का अग्रिम प्रदान (Forward Delivery) करने के लिए जो अनुबन्ध किया जाता है वह अग्रिम अनुबन्ध (Forward Contract) या भविष्य अनुबन्ध (Future Contract) कहलाता है। अग्रिम अनुबन्ध उसे कहते हैं जिसके आधार पर वस्तुओं के देन के लिए एक आगामी तिथि पहले से ही निश्चित करदी जाती है तथा भविष्य अनुबन्ध एक ऐसे अनुबन्ध को कहते हैं जिसमें पर्याप्त परिकल्पना (Speculation) रहती है और एक अग्रिम अनुबन्ध की ही भाँति वस्तुओं के देने के लिए आगामी तिथि निश्चित की जाती है, परन्तु विशेषता यह रहती है कि वस्तुओं के मूल्य का अन्तर भुगतान करके इस अनुबन्ध की पूर्ति किसी समय भी की जा सकती है।

भविष्य अनुबन्ध सभी प्रकार की प्रमुख वस्तुओं तथा सभी प्रमुख बाजारों में पाये जाते हैं। इनका नाम उसी महीने के ऊपर रहता है जिसमें किसी वस्तु के देने के लिए अनुबन्ध किया जाता है तथा विभिन्न-वस्तुओं के प्रदान (Delivery) करने के विभिन्न बाजारों में विभिन्न महीने रहते हैं। किसी किसी बाजार में ये अनुबन्ध स स्तर के महीने अर्थात् चैत्र, वैशाख आदि के हिसाब से किये जाते हैं तो कहीं इनको ईसवी महीनों अर्थात् जनवरी, फरवरी के हिसाब से किया जाता है। यदि दो या दो से अधिक अनुबन्ध एक ही वस्तु के लिए एक ही बाजार में और एक ही समय में किये जाते हैं तो उसका नाम भिन्न भिन्न महीनों में वस्तु-प्रदान करने के आधार पर भिन्न-भिन्न कर दिया जाता है।

परिकल्पना (Speculation) —भविष्य अनुबन्धों में सदैव परिकल्पना (Speculation) रहती है, क्योंकि इनका प्रयोग तत्काल व्यापार में नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु को अग्रिम या भविष्य अनुबन्ध के आधार पर बेचता या खरीदता है तो उसे माल को अनुबन्ध की दातव्य तिथि (Due Date) पर देना होगा, इस प्रकार का व्यापार एक शुद्ध व्यापार सम्बन्धी व्यवहार कहलाता है। परन्तु, यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु को दातव्य तिथि (Due Date) पर देने या लेने की इच्छा न रखते हुए केवल उसका भुगतान उस तिथि पर लेने की अभिलाषा से भविष्य अनुबन्ध करता है और ऐसा करने में यदि उसे मूल्यों के अन्तर से लाभ कमाने की इच्छा रहती है तो ऐसे व्यापार एव व्यवहारों को परिकाल्पनिक व्यापार तथा इन क्रियाओं को परिकल्पना (Speculation) कहते हैं।

आधुनिक जनता परिकाल्पनिक व्यापार को अच्छी निगाह से नहीं देखती, वह इसे निंद्य समझती है और एक प्रकार का जुआ (Gambling) मानती है। परन्तु यह विचार भ्रममूलक है क्योंकि परिकल्पना एक प्रकार का विज्ञान है जिसके आधार पर एक व्यक्ति सम्पूर्ण समय एव मानसिक शक्तियों को केन्द्रित करके मूल्य पर प्रभाव डालने वाले तथा उपज-विनिमय सम्बन्धी कारणों का अध्ययन करता है तथा वस्तुओं के भविष्य में होने वाले मूल्यों का अनुमान लगाता है। एक जुआ तथा परिकल्पना में प्राय इस प्रकार का अन्तर होता है—"परिकल्पना का प्रारम्भ होते ही दूरदर्शिता आती है, परन्तु जुआ का प्रारम्भ होते ही दूरदर्शिता समाप्त हो जाती है।" यह अवश्य है कि दोनों में 'अवसर' का अधिक महत्त्व होता है और इसी जोखम के कारण परिकल्पना को लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं। बहुधा उतावले ढग से यदि परिकल्पना व्यापार किया जाता है तो भयकर परिणाम का सामना करना पड़ता है। जब किसी वस्तु के व्यापार में अत्यधिक परिकल्पना होती है तो उसे उत्तेजक, तीव्र, काल्पनिक अथवा अनियन्त्रित परिकल्पना कहते हैं।

यदि कोई परिकल्पना व्यापार-सम्बन्धी समस्त बातों का अध्ययन बिना किए हुए, दूरदर्शिता-रहित होती है तो उसे भी जुआ कह सकते हैं।

परिकल्पना करने वाले व्यक्तियों में से कुछ परिकल्पना व्यवसायी (Professional) तथा कुछ परिकल्पना प्रेमी (Amateurs) होते हैं। एक व्यवसायी परिकल्पक (Professional Speculator) उसे कहते हैं जो अपना सम्पूर्ण समय तथा मानसिक शक्ति इसी व्यापार के लिए अर्पण कर देता है और परिकल्पना सम्बन्धी समस्त सूचनाओं को दृढ़ता एवं लग्न के साथ अध्ययन करता है। दूसरे, एक परिकल्पना-प्रेमी व्यक्ति वह होता है जो इस कार्य को अपने अतिरिक्त समय में करता है जिसे बहुधा समस्त बातों का पूर्ण ज्ञान नहीं होता। वह केवल दूसरों के कथन या अफवाह का विश्वास करके इस व्यापार को कर बैठता है। प्रायः ऐसे परिकल्पना प्रेमी (Amateur Speculator) निस्सन्देह हानि ही उठाते रहते हैं। ये परिकल्पक कुछ तेजी वाले (Bulls) और कुछ मंदी वाले (Bears) होते हैं।

तेजी वाले (Bulls) तेजी वाला परिकल्पक वह कहलाता है जो बाजार-भाव बढ़ने की आशा में पहले ही वस्तुयें खरीद लेता है तथा भुगतान करने की तिथि से पहले ही खरीदी हुई वस्तु को ऊँची दर पर बेचकर लाभ प्राप्त कर लेता है। इसे तेजी वाला इसलिये कहते हैं कि सदैव वस्तुओं को इसी आशा में खरीदता है कि आगे चलकर इसकी दर बढ़ेगी।

निराश-तेजी वाला (Stale Bull) —जब किसी तेजी वाले व्यक्ति की आशाओं के विरुद्ध कार्य हो जाता है अर्थात् बाजार दर चढ़ने की अपेक्षा और गिर जाती है और पर्याप्त प्रतीक्षा करने पर भी बाजार दर उसके अनुकूल नहीं होती तो उसे निराश-तेजी वाला परिकल्पक (Stale Bull Speculator) कहते हैं।

पक्का तेजी वाला (Staunch Bull) —जब कोई व्यक्ति सदैव तेजी वाले का ही कार्य करता है और कदापि मंदी वाले का कार्य नहीं करता तो वह पक्का तेजी वाला परिकल्पक कहलाता है।

तेजीवाले को सहारा देना (Bull Support):—व्यापारिक क्षेत्र में सहारा देने (Support) से वस्तुओं के खरीदने का अर्थ होता है। अतः तेजी वाले को सहारा देने से यही अर्थ होता है कि बाजार में अधिक से अधिक परिकाल्पनिक-क्रय होने लगता है। इसके लिए 'तेजीवाले की कार्यवाही" (Bull Activity) शब्द का भी प्रयोग होता है।

तेजीवाला घटक (Bull Factor):—जब किसी घटक (Factor) के कारण वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है तो वह तेजी वाला घटक या तीव्रगामी घटक (Bullish Factor) कहलाता है।

तेजीवालों का विस्फोट (Bullish Out-burst):—जब भविष्य में बाजार दर बढ़ने की आशा से इन परिकल्पकों द्वारा वस्तुओं की खरीद अधिक मात्रा में होती है, तब उसे तेजी वाला विस्फोट कहते हैं।

तेजीवालों की भावना (Bullish Sentiment)—जब परिकल्पकों में यह भावना दृढ़ हो जाती है कि उपज के मूल्य बढ़ेंगे तब उसे तेजी वालों की भावना कहते हैं।

तेजीवालों का विलीयन (Bull Liquidation)—जब अपने पहले सौदों को निबटाने के लिये ये परिकल्पक वस्तुओं का बेचना प्रारम्भ कर देते हैं तब इसे तेजी वालों का विलीयन कहते हैं। विलीयन का अभिप्राय यहाँ पर कुछ हानि उठाकर माल बेचना है। इस कार्य को 'भार से हल्का होना' (Unloading) भी कहते हैं।

तेजीवालों का लेखा (Bull Account)—जब किसी परिकाल्पनिक खरीद के कारण वस्तुओं की दर चढ़ जाती है तो उसे 'क्रयाधिक्य स्थिति' (Overbought Position) या तेजी वाले का लेखा कहते हैं तथा वस्तु की स्थिति को तेजी वाली स्थिति कहा जाता है।

तेजीवाले का धावा (Bull Campaign or Bull Rigging):—जब किसी वस्तु की दर बाजार में परिकाल्पनिक खरीद के कारण बढ़ जाती है और तेजी वाले भी अपनी वस्तुओं का मूल्य बढ़ाने के लिए तरह तरह की अफवाह या गप्प उड़ाया करते हैं तब उनकी ये कार्यवाहियाँ तेजीवाले के धावे के नाम से पुकारी जाती हैं।

तेजीवालों का बाजार (Bull Market):—जिस बाजार में सदैव वस्तुओं की दरें ऊँची चढ़ती रहती हैं वह तेजीवालों का बाजार कहलाता है।

तेजी वालों की परिषद् (Bull Syndicate)—परिकल्पकों का संगठन जो वस्तुओं की दर चढ़ाता रहता है उसे तेजी वालों की परिषद् कहते हैं। वस्तुओं को अधिक मात्रा में खरीद कर उनकी दरें चढ़ाने का उद्देश्य यह होता है कि जनता अधिक से अधिक अपनी वस्तुओं को उपज-विनिमयों में बेचने जाय और लाभ प्राप्त करे। अमेरिका में इन परिषदों को तेजीवाला संघ (Bull Pool) कहते हैं।

मंदीवाले (Bears)—एक ऐसा परिकल्पक जो किसी वस्तु को दातव्य तिथि से पहले ही इस आशा में बेच देता है कि भविष्य में मूल्य गिर जायेंगे और भुगतान से पहले ही वह मूल्य गिरने से सस्ती दर पर वस्तु खरीद लेगा, जिससे उसे लाभ हो जावेगा, वह मंदीवाला परिकल्पक कहलाता है तथा उसके इस कार्य को निरंक विक्रय अथवा मंदीवाला विक्रय (Blank Sale or Bear Sale or Short Sale) कहते हैं। साधारणतः वस्तुओं के देने का प्रश्न उपस्थित नहीं होता क्योंकि

भविष्य के अनुबन्धों को खरीदकर ये लोग वस्तु-भुगतान करने के समय से पहले ही वस्तु को बेचकर अपनी प्रतिज्ञा से बाहर हो जाते हैं और इस प्रकार एक चक्र में अपना व्यापार करते रहते हैं।

मंदीवालों का आच्छादन (Bear Covering).—प्रायः एक मंदीवाला (Bear) भविष्य में अनुबंध की हुई वस्तु को इस आशा से पहले ही बेच देता है कि आगे चलकर इसका मूल्य गिर जायगा और वह इसी कारण उस वस्तु को सस्ते दामों पर पुन: खरीदकर अपने अनुबन्ध की पूर्ति कर लेगा। परन्तु उसका यह अनुमान यदि ठीक नहीं बैठता और वस्तु का मूल्य गिरने की अपेक्षा और बढ़ने लगता है तो उसे भी वस्तु खरीदने के लिए विवश होना पड़ता है। एक मंदीवाले व्यक्ति का इस परिस्थिति में वस्तु का खरीदना "मंदी वाले आच्छादन" (Bear Covering) कहलाता है। इसका साधारण प्रभाव यह होता है कि वस्तु का मूल्य बढ़ जाता है।

मंदीवाला घटक (Bear Factor).—जिस घटक (Factor) के कारण वस्तु के मूल्य गिरने लगते हैं उसे मंदीवाला घटक कहते हैं।

मंदीवालों की भावना (Bear Sentiment):—जब परिकल्पकों (Speculators) की यह धारणा होजाती है कि वस्तु के मूल्य अब गिरेंगे, वह मंदीवालों की भावना (Bearish Sentiment) कहलाती है।

मंदीवालो का लेखा (Bear Account):—जब किसी विशेष वस्तु की खरीद की अपेक्षा उसकी बिक्री किसी अग्रिम-बाजार में अधिक होने लगती है तब उस स्थिति को अधिविक्रय-स्थिति (Oversold Position) तथा उस व्यवहार को मंदीवालों का लेखा (Bear Account) कहते हैं। यह स्थिति तान्त्रिक दृष्टि से (Technically) भी मंदीवाली स्थिति कहलाती है। जब परिकल्पक किसी ऐसी वस्तु की बिक्री करते हुए दिखाई देते हैं जो वस्तु न तो इनके पास होती है और न इनकी तब तक खरीदी हुई होती है तो इस दशा को "मंदी वालों का खुला लेखा" (Open or Uncovered Bear Account) कहते हैं। मंदीवालों के खुले लेखे द्वारा यह पता चल जाता है कि वस्तु की कीमत बढ़ते ही मंदीवालों का आच्छादन (Bear Covering) प्रारम्भ हो जायगा।

मन्दीवालों का धावा (Bear Raid).—जब बाजार में अधिविक्रय की स्थिति होती है अर्थात् वस्तु का अधिक से अधिक बेचना आरम्भ होजाता है तब उस वस्तु के मूल्य गिराने के लिए उसके विषय में अनेक अपवाद या अफ़वाह फैलाए जाती हैं, तो इस स्थिति को मन्दीवालों का धावा (Bear Raid) या मंदीवालों की चालें (Bear Tactics) कहते हैं।

मंदी वालो का विदोहन (Bear Squeeze):—कभी-कभी मंदी वाले बाजार में किसी वस्तु की जब अधिक बिक्री करना आरम्भ कर देते हैं और ऐसे

व्यक्तियों को अपनी वस्तु बेचते हैं जो यह समझते हैं कि वस्तु बेचने में अधिविक्रय की स्थिति कार्य कर रही है, तो वे लोग इस अग्रिम विक्रय को जितना हो सके उतना प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं क्योंकि उन्हें पता है कि मन्दीवालों के पास देने को तो कुछ है नहीं जिससे आगे चलकर अपने वायदे की पूर्ति कर सकें। अत वे मदीवालों से भुगतान की अवधि से पहले ही उस वस्तु के अधिक मूल्य माँगते हैं। ऐसी दशा में मदीवाले वस्तु को किसी भी मूल्य पर खरीदने के लिए तैयार होजाते हैं, नहीं तो भुगतान के समय सकट उपस्थित हो सकता है क्योंकि देने के लिए वस्तु नहीं होती। इस प्रकार जब मदी वाले ऐसी आपत्ति में फँस जाते हैं तब उस दशा को "मदी वालों का विदोहन" (Bear Squeeze) या केवल "विदोहन" (Squeeze) कहते हैं।

टेडर्स (Tenders) —जब किसी अग्रिम व्यापार के आधार पर किसी वस्तु के बेचने का प्रस्ताव किया जाता है और अन्त में अवधि के आने पर उसकी पूर्ति की जाती है तो इसे 'टेंडर्स' कहते हैं तथा जो वस्तुयें इस प्रकार के अग्रिम अनुबधों (Forward Contracts) की पूर्ति करने के लिए बाजार में मिल सकती हैं उन्हें "टेंडर्स योग्य वस्तुयें" (Tenderable Stock) कहते हैं।

टिप्पणी—तेजीवाले तथा मदीवाले ये दोनों ही परिकल्पक (Speculators) होते हैं इन्हें बाजार का क्रियाशील व्यक्ति (Market Operators) भी कहा जाता है। इन दोनों में एक प्रकार से रस्सा कसी सी चलती रहती है जिसको परिकाल्पनिक द्वन्द्व (Speculative Bout) कहते हैं। जब बाजार में तेजी होती है तो तेजी वालों का ऊपरी हाथ रहता है, परन्तु जैसे ही बाजार मदा होता है और वस्तुओं के मूल्य गिरना प्रारम्भ होते हैं बाजार मदीवाला के हाथ में आ जाता है। अधिकाश परिकल्पक तो मदी वाले ही होते हैं परन्तु कुछ परिकल्पना प्रेमी (Amateurs) जो कि अधिक आशावादी होते हैं वे प्राय तेजी वाले की भाँति कार्य किया करते हैं। दोनों तेजी तथा मदी वाले परिकल्पक सदैव बाजार को अपने अनुकूल बनाने के लिए नाना प्रकार के हथकंडे तथा चालाकियाँ काम में लाया करते हैं।

विकल्प (Options) —विकल्प एक प्रकार का अधिकार होता है जिसके आधार पर कोई व्यक्ति पूर्व निश्चित की हुई वस्तु को उसी मूल्य पर 'निश्चित अवधि के अन्दर खरीद या बेच सकता है। एक व्यक्ति जो विकल्प देता या बेचता है उसे विकल्प-विक्रेता कहते हैं। वह अपने विकल्प द्वारा वस्तु खरीदने वाले ग्राहक से वस्तु का मूल्य प्रब्याजियां (Premiums) में लेता है। ये प्रब्याजियाँ विकल्प-राशि (Option-money) कहलाती हैं। यदि किसी विकल्प द्वारा बेची हुई वस्तु की कीमतों में उतार-चढाव होने से विकल्पधारी को बेचने में लाभ दिखाई देता है तो वह वस्तु बेच देता है, यदि ऐसा नहीं दिखाई देता तो विकल्प के लिए लगाये हुए धन को जाने देता है। इस

व्यवहार द्वारा लाभ यह होता है कि मूल्य के उतार-चढाव से विकल्प में धन लगाने वाले को लाभ की सम्भावना रहती है, परन्तु उनकी हानि की राशि विकल्प राशि तक ही सीमित रहती है।

प्राय एकाकी विकल्प (Single Option) दो प्रकार के होते हैं —क्रय विकल्प (Call Option) तथा विक्रय-विकल्प (Put Option)। क्रय-विकल्प (Call Option) के आधार पर कोई भी विकल्पधारी जिस वस्तु को अपनी इच्छानुसार खरीदना चाहता है उसे एक निश्चित तिथि तक निश्चित मूल्य पर खरीद सकता है। इस मूल्य को 'लगाया हुआ मूल्य" (Striking Price) कहते हैं। यदि वह नहीं खरीदना चाहता तो छोड़ भी देता है। दूसरे विक्रय विकल्प (Put Option) के आधार पर एक विकल्प धारी को निश्चित मूल्य पर तथा एक आगामी निश्चित तिथि तक किसी वस्तु के बेचने या न बेचन का अधिकार होता है।

एकाकी विकल्प के अतिरिक्त दुहरा-विकल्प (Double Option) भी होता है। इसके भी क्रय तथा विक्रय दोनों भेद होते हैं तथा इसके आधार पर भी एक विकल्पधारी (Option Holder) के आगामी निश्चित तिथि तक तथा निश्चित मूल्य पर वस्तु के बेचने तथा खरीदन का अधिकार होता है।

भारतीय बाजारों में इस विकल्प- व्यवहार को "तेजी-मन्दी-व्यापार" कहते है। "तेजी विकल्प" सदैव "क्रय विकल्प ' के समान होता है तथा तेजी विकल्प के खरीदने को "तेजी लगाना" कहते हैं। "मन्दी विकल्प" सर्वथा "विक्रय-विकल्प" के समान होता है और "मन्दी-विकल्प" के खरीदने को "मन्दी लगाना" कहते हैं। दुहरे-विकल्प को "नजराना विकल्प" कहते हैं तथा एक नजराना विकल्प का खरीदना 'नजराना लगाना' कहलाता है। जो मनुष्य विकल्प खरीदता है उसे "तेजी-मन्दी या नजराना लगाने वाला" कहत है तथा एक विकल्प विक्रेता (Option Dealer) को "तेजी मन्दी या नजराना खाने वाला" कहते हैं।

विकल्प के मूल्य को "तेजी-मन्दी या नजराना दर" कहा जाता है, यह सदैव बाजार के उतार चढाव पर निर्भर रहती है तथा "भविष्य" की कीमतों के साथ नित्य लिखी जाती है। एक परिकल्पना प्रेमी व्यक्ति के लिए विकल्प पद्धति (System of option) अत्यन्त लाभप्रद होती है, क्योंकि इसके द्वारा उसकी हानि सीमित हो जाती है।

उदाहरण के लिए, मानलो १६ अप्रैल १६४१ ई० को जेठ तेजी क गेहूँ की 'भविष्य' दर ३ रु० २ आ० ६ पाई प्रतिशत है, जेठ तेजी-विकल्प की दर १ आ० ३ पाई प्रति मन है, जेठ मन्दी विकल्प की दर १ आ० ४½ पाई प्रति मन है तथा जेठ-नजराना की दर २ आ० ६ पाई है। अब यदि कोई व्यक्ति जेठ के गेहूँ की भविष्य दर पर अर्थात् ३ रु० २ आ० ६ पा० पर १०० मन गेहूँ

खरीद लेता है तो उसे इस व्यापार में लाभ तथा हानि दोनों हो सकते हैं। यदि गेहूँ का मूल्य जेठ के अन्त तक ३ रु० ८ आ० होजाता है तो उसे ५ आ० ६ पा० प्रति मन के हिसाब से लाभ हो जाता है और यदि उस समय तक गेहूँ का मूल्य गिरकर २ रु० १२ आ० हो जाता है तो ६ आ० ६ पा० प्रति मन के हिसाब से हानि होगी।

यदि वह किसी प्रकार अपनी हानि को सीमित करना चाहता है तो उसे भविष्य के अनुबन्ध पर जेठ वाला १०० मन गेहूँ नहीं खरीदना चाहिए। उसे इसकी बजाय १०० मन गेहूँ पर २ आ० ६ पा० प्रति मन की दर से नज़राना लगाना चाहिए और १५ रु० १० आ० नज़राने के लिये दे देना चाहिए। यदि वह नज़राना लगाता है तो जेठ के अन्त में ३ रु० २ आ० ६ पा० की दर से १०० मन गेहूँ को बेचने या न बेचने—दोनों कार्यों का उसे अधिकार होता है। इस विकल्प-व्यापार के निर्णय की तिथि यदि जेठ सुदी ६ होती है तो उस तिथि तक उसे बेचने या न बेचने का अधिकार रहता है। इस तिथि को घोषणा तिथि (Declaration date) कहते हैं। अब बाजार में गेहूँ की दर में चाहे जैसा उतार-चढ़ाव हो सकता है, परन्तु उसके हानि की सीमा नज़राने के द्वारा निश्चित होगई है। यदि दर गिर जाती है तो केवल उसको नज़राने के रुपयों की ही हानि होगी, क्योंकि नज़राने के रुपये किसी भी दशा में लौटाये नहीं जाते, और यदि दर चढ़ जाती है तो जितनी दर चढ़ेगी उसे उतना ही लाभ होगा। यदि उस दर में कोई भी परिवर्तन नहीं होता और वह ३ रु० २ आ० ६ पाई ही रहती है तो भी नज़राने की 'घोषणा-तिथि' के समय उसकी केवल १५ रु० १० आना की ही हानि होगी। इस प्रकार ऐसे परिकल्पक की हानि सीमित हो जाती है।

सरक्षित तेजी तथा मन्दीवाले (Protected Bear and Bull) :—जब कोई तेजी विकल्प-धारी अग्रिम व्यापार में मूल्य ऊँचे होते ही उसी मास का अग्रिम-विक्रय करता है तो उसे "सरक्षित मन्दीवाला" (Protected Bear) कहते हैं। यदि बाजार-भाव गिर जाता है तो वह उसी मास के लिए पुनः विक्रय कर सकता है और अपने इस विकल्प द्वारा लाभ प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत एक मन्दी-विकल्पधारी (Holder of a Mandi Option) यदि बाजार-भाव गिर जाता है तो अग्रिम-क्रय करके अर्थात् पहले ही वस्तुओं को खरीदकर इस आगामी क्रय द्वारा हानि से अपनी सुरक्षा करता है, इसलिए उसे "संरक्षित तेजीवाला" (Protected Bull) कहते हैं। यदि किसी प्रकार बाजार-भाव चढ़ जाता है तो वह उसी विकल्प मास का विक्रय कर देता है और इस तरह लाभ प्राप्त करके अपने विकल्प को भी स्थिर रखता है। इस पद्धति को तेजी के पेटे बेचना तथा मन्दी के पेटे खरीदना कहते हैं। कुशल परिकल्पकों एवं क्रियाशील व्यक्तियों को ऐसे व्यापारों में अधिक लाभ होता है तथा उनका विकल्प भी उनके पास बना रहता है।

तीव्र विकल्प (Gale Option) .—जब कोई परिकल्पक किसी वस्तु ' प्रचलित मूल्यों से अधिक या कम मूल्य पर खरीदने या बेचने के लिये विकल (Option) खरीदता है तब इस विकल्प को तीव्र विकल्प (Gale Option) कहा हैं। जैसे, यदि किसी दिन जेठ के गेहूँ का मूल्य ३ रु० २ आ० ६ पाई है और उस जेठ के लिए तेजी-विकल्प की दर १ आ० ७½ पाई प्रति मन है तो वह व्यक्ति ३ रु० २ आ० ६ पाई के स्थान पर ३ रु० २ आ० की दर से 'तीव्र विकल्प' ले सकता है कारण यह है कि तीव्र-विकल्प की दर सस्ती होती है, अर्थात् ६ पाई प्रति मन का रहती है, दूसरे परिकल्पक-व्यापारी को हानि का खतरा भी कम हो जाता है क्योंकि इसमें क्रय-विक्रय के भाव अनुबन्ध के दिन जो भाव रहते हैं उनसे कम होत हैं। इस प्रकार जो परिकल्पक वस्तुओं के वर्तमान मूल्य पर तेजी, मन्दी या नजराना नहीं लगा सकते, वे तीव्र-विकल्प (Gale Option) खरीद सकते हैं।

सट्टा करना (Straddling) —उपज-विनिमयों में विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों के अन्तर में व्यापार करने की परिकल्पना सम्बन्धी यह दूसरी सुरक्षित पद्धति है मूल्यों के इस अन्तर को प्रव्याजि (Premium), छूट (Discount) या सट्टा (Satta) आदि कहते हैं। जैसे, यदि हापुड़ में जेठ के गेहूँ का भविष्य-अनुबन्ध सम्बन्धी मूल्य ३ रु० २ आ० ६ पा० है तथा बम्बई में मई के गेहूँ का भविष्य सम्बन्धी मूल्य किसी दिन ४ रु० ४ आ० ६ पाई है तो इन दोनों मूल्यों में दो विभिन्न बाजारों में १ रु० २ आ० का अन्तर है। अब यदि कोई परिकल्पक यह समझता है कि यातायात-व्यय आदि ध्यान पर भी १ रु० २ आ० के अन्तर में उसे वस्तु बेचने पर लाभ रहेगा और संभवतः भविष्य में जाकर यह अन्तर कम हो जायेगा तो वह हापुड़ के विनिमय से गेहूँ खरीदकर बम्बई में भविष्य के अनुबन्ध पर बेच देगा। इस प्रकार की परिकाल्पनिक व्यापार प्रणाली को "सट्टा करना" (Straddling) कहते हैं और जो व्यक्ति सट्टा करता है उसे "सटोरिया" (Straddler or Straddle Operator or Spreader) कहते हैं।

अब यदि १ रु० २ आ० का वह अन्तर भविष्य में कम होकर १२ आ० हो जाता है तो वह 'सटोरिया' बम्बई से खरीदने तथा हापुड़ में बेचने के द्वारा ६ आ० प्रति मन लाभ उठा सकता है। इस प्रकार के सट्टा व्यापार सम्बन्धी भुगतान को "सट्टा तोडना" (Reversal of Straddle) कहते हैं। यदि हापुड़ तथा बम्बई की दरों में अन्तर बढ़कर १ रु० ४ आ० हो जाता है तो "सटोरिये" को २ आ० प्रतिमन की दर से हानि उठानी पड़ेगी।

सुरक्षा करना (Hedging) —"सुरक्षा करना" भी एक प्रकार का बीमा होता है, जो मूल्य के उतार चढ़ाव के कारण भविष्य में आने वाले खतरों से सुरक्षा करता है। इसके द्वारा प्राय भविष्य के मूल्यों में जो उतार-चढ़ाव रहता है उससे व्यापारी अपने को बचाते हैं। जैसे, यदि कोई कपड़ा मिल किसी निश्चित मूल्य पर

भविष्य में कपडे की पूर्ति करने का वायदा कर लेती है तो अब वह भविष्य के खतरे से बचने के लिए या तो आवश्यक कच्चा माल भविष्य के अनुबंध पर अभी खरीद लेती है या उसे यह आशा रहती है कि आगे चलकर बाजार गिर जायगा अत: उस जोखिम को उठाने को तैयार रहती है। अब यदि बाजार नहीं गिरता, बल्कि वह और चढ़ जाता है तो उसे अनुबंध में हानि उठानी पडेगी, परन्तु इस हानि से बचने के लिए यदि वह कपड़ा-पूर्ति करते समय कच्चे माल की जो दर है उसी दर पर एक ओर तो तत्काल क्रय कर लेता है और पहले खरीदे हुए माल को बेच देता है तो दोनों सौदे तत्कालीन मूल्य पर हो होंगे और उसके एक व्यापार से होनी वाली हानि की पूर्ति दूसरे व्यापार के लाभ से हो जायगी।

यदि गेहूँ की दर गिर जाती है तो एक अग्रिम गेहूँ भरने वाले व्यापारी को हानि उठानी पड़ती है। मगर, यदि वह पहले खरीदे हुए गेहूँ को बेचकर तत्कालीन भाव पर गेहूँ खरीद लेता है तो इस प्रकार वह भी लाभ कमा सकता है। इस तरह उसके दो व्यवहारों द्वारा एक से होने वाली हानि की पूर्ति दूसरे व्यवहार के लाभ से हो जाती है और वह मूल्यों के उतार-चढ़ाव से होने वाली हर प्रकार की हानि के खतरे से बच जाता है।

अन्य प्रकार की परिकल्पनाओं से "सुरक्षा" सम्बन्धी परिकल्पना (Hedging) में अत्यधिक अन्तर होता है। कारण यह है कि इसका उद्देश्य लाभ न कमा कर केवल हानि के खतरे से सुरक्षा करना होता है।

सट्टा परिवर्तन करना (Switching Over) :—एक स्थिति में से दूसरी स्थिति में बदलना अर्थात् जेठ के अनुबन्ध को मादों में परिवर्तन करने को "सट्टा-परिवर्तन करना" (Switching Over) कहते हैं। जैसे, यदि कोई व्यापारी यह जानकर कि जेठ तक बाजार उसके अनुकूल नहीं आवेगा, अपने जेठ के अनुबन्ध किए हुए गेहूँ को बेचता या खरीदता है, परन्तु वह समझता है कि जेठ के बाद बाजार उसके अनुकूल हो जावेगा तो वह अपने जेठ के अनुबन्ध को मादों के अनुबन्ध में परिवर्तित कर लेता है। उसका यही परिवर्तन करना "सट्टा परिवर्तन करना" (Switching Over) कहलाता है।

एकत्रीकरण (Cornering) :—जब अधिकांश तेजी वाले व्यापारी (Bulls) किसी विशेष वस्तु की पूर्ति करने के लिए किसी बाजार में वहाँ आई हुई उस वस्तु की सारी संख्या को अपने यहाँ एकत्रित करने का प्रयत्न करते हैं तो उनका यह कार्य वस्तु का एकत्रीकरण (Cornering the Commodity) कहलाता है।

क्रय (Purchases) :—सभी प्रकार की वस्तुओं की माँग व्यापारियों तथा परिकल्पकों पर निर्भर रहती है। परिकल्पक प्राय निम्न प्रकार का क्रय किया करते हैं :—
तेजीवाला क्रय तेजीवाली सहायता (Bull Buying Bull Support), मंदीवाला

आच्छादन (Bear Covering), कम आच्छादन परिकाल्पनिक क्रय (Short Covering Speculative Buying), सट्टेवाला क्रय, लाभ लेने वाला या लाभ प्राप्त करने वाला क्रय तथा हानि-रोधक आदेश (Stop Loss Orders) आदि। व्यापारिक माँग का निर्देश करने वाले प्रायः ये शब्द होते हैं —व्यापारिक सहायता (Trade Support), व्यापारिक पूछताछ (Trade Inquiry), व्यापारिक क्रय (Trade Buying), व्यापारिक याचना (Trade Calling), व्यापारिक मूल्य निर्धारण (Trade Price fixing), मिल द्वारा निर्दिष्ट निर्यात सम्बन्धी पूछताछ (Mill fixing export inquiry) आदि।

विक्रय (Sales) .—विक्रय भी व्यापारी तथा परिकल्पक दोनों के द्वारा होता है। एक व्यापारी सुरक्षित विक्रय (Hedge Sale) करता है, परन्तु एक परिकल्पक का विक्रय तेजी या मदीवाला होता है । परिकाल्पनिक विक्रय अनेक प्रकार का होता है। जैसे, मदीवाला परिकल्पक (Bear) सदैव मदीवाला-विक्रय, निरंक विक्रय (Blank Sale) या कम-विक्रय (Short Sale) करता है; परन्तु तेजीवाला परिकल्पक सदैव लाभयुक्त या लाभ प्राप्त करने वाला विक्रय किया करता है। तेजी वाले लाभ या हानि उठाकर जो विक्रय किया करते हैं उसे तेजीवाले का निस्तारण या दीर्घ निस्तारण (Bull liquidation or long liquidation) कहते हैं, परन्तु जो विक्रय तेजी वाले परिकल्पक केवल हानि उठाकर किया करते हैं उसे हानि रोकने वाला विक्रय (Stop loss Sales), आरत्ति रूपों का विक्रय (Distress Sales), थकित निस्तारण (Tired Liquidation), तेजीवालों का बोझ हलका करने वाला विक्रय (Unloading by bulls) कहते हैं।

निर्णय (Settlement) .—जब एक तेजीवाला परिकल्पक (Bull) अपनी खरीदी हुई वस्तु को बेच देता है या जब एक मदी वाला अपनी बेची हुई वस्तु को पुन खरीदता है तो इसे फैसला करना या निर्णय करना कहते हैं।

व्यापार की गति (Volume of Trading) :—जिस दिन जैसा व्यापार चलता है उसी के अनुसार वह कभी तीव्र, कभी साधारण (Moderate), कभी रुका हुआ, कभी सीमित, कभी थोड़ा कम (Meagre), कभी सुस्त, कभी मन्दा, कभी स्थिर (Stagnant), कभी तेज, कभी कम परिमाण वाला, कभी अधिक परिमाण वाला, कभी विस्तीर्ण परिमाण वाला, कभी कम और कभी कुछ नहीं तथा कभी साधारण गति वाला इत्यादि नाम से पुकारा जाता है। बाजार को भी उसकी स्थिति के अनुसार कभी तीव्र, कभी शान्त, कभी मदा, कभी अरुचिकर, कभी आकारहीन, कभी रंगहीन, कभी घटनापूर्ण, कभी घटना-रहित, कभी गिरा हुआ, कभी स्थिर और कभी उपेक्षापूर्ण कहते हैं।

मूल्य (Prices)—किसी वस्तु की कीमत या मूल्य या दर सदैव एकसी नहीं रहती, उसमें उतार-चढ़ाव बना ही रहता है। यह उतार-चढ़ाव कभी कम, कभी सीमित, कभी विस्तीर्ण तथा कभी अधिक तीव्र या अधिक विस्तीर्ण होता रहता है। कभी-कभी तो एक ही समय में एक ही वस्तु के दो दो मूल्य रहते हैं जिनमें से एक बेचने वाले का रहता है तथा दूसरा खरीददार का होता है। जैसे बेचन वाले का ३ रु० २ आ० ६ पा० है तो खरीददार ३ रु० २ आ० ५¾ पा० लगाता है। खरीदने वाले की कीमत को 'मूल्य' (Value) कहते हैं क्योंकि वही वास्तविक मूल्य (True Price) होता है। "ऊँचे मूल्य" के लिए और शब्दों का भी प्रयोग होता है, जैसे इसे "उन्नत-मूल्य" (Peak Price) या "बाजार की सर्वोच्च दशा" (Ceiling of the Market) भी कहते हैं। "कम मूल्य" को "निम्नतर मूल्य" (Rock bottom price) कहते हैं। 'इस मूल्य पर विक्रेता समाप्त" (With Sellers over) इस मुहाविरे का प्रयोग जब वस्तु के मूल्य के लिए किया जाता है तो इसका अर्थ यह होता है कि बाजार गिर रहा है और किसी विशेष मूल्य पर खरीददारों की अपेक्षा बेचने वाले ही अधिक हैं। जैसे "२ रु० ३ आ० ६ पाई पर विक्रेता समाप्त" (Rs. 2 3 6 Sellers over) का अर्थ यह है कि इस मूल्य पर खरीदने वाले नहीं हैं या दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि वह वस्तु का अङ्कित मूल्य (Nominal Value) है। इसी प्रकार 'इस मूल्य पर खरीददार समाप्त' (With buyers over) का भी यही अर्थ होता है कि एक ऊँचे बाजार में विक्रेताओं की अपेक्षा खरीददार अधिक दिखाई देते हैं।

जब किसी वस्तु की एक दिन की या एक सप्ताह की प्रारम्भिक (Opening) तथा अन्तिम (Closing) दरों का मिलान किया जाता है तो उसके परिणाम का उल्लेख निम्न प्रकार के वाक्यों में किया जाता है—बाकी निकालने पर ५ आ० लाभ रहा, सारे सप्ताह में दर चढ़ने पर ५ आ० मिले, मूल्य में केवल ५ आ० शुद्ध लाभ हुआ, इत्यादि।

प्रतिक्रिया (Reaction)—जब यह 'प्रतिक्रिया' शब्द वस्तुओं के मूल्य के सम्बन्ध में प्रयोग किया जाता है तो इसका अर्थ "विपरीत दशा में चलना" (Movement in the opposite direction) होता है। यदि किसी वस्तु का मूल्य बढ़ता है तो वह सदैव बढ़ता ही नहीं जाता, वरन् उसकी भी एक सीमा होती है; और जब एक बार चरम सीमा पर पहुँच जाता है तो वह अवश्यमेव गिरता है। जब उसका गिरना प्रारम्भ हो जाता है तब वह 'प्रतिक्रिया' के नाम से पुकारा जाता है। इसी प्रकार एक गिरते हुए बाजार में मूल्य सम्बन्धी 'प्रतिक्रिया' होती है।

वस्तु-मूल्य को प्रभावित करने वाले घटक (Factors affecting Prices)—प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसकी माँग एवं पूर्ति पर निर्भर रहता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि जो कारण वस्तु की तत्कालीन एवं अग्रिम माँग

तथा पूर्ति को प्रभावित करते हैं वे ही वस्तु के मूल्यों पर भी प्रभाव डालते हैं और इसी कारण मूल्यों में उतार-चढ़ाव हुआ करता है। अतएव जो कारण या घटक (Factors) उपज-विनिमय की माँग एवं पूर्ति पर प्रभाव डालते हैं, उनमें से प्रमुख घटक इस प्रकार हैं :—

(क) वस्तुओं का मूल्य सदैव देश तथा विदेश में वस्तु की वास्तविक स्थिति एवं उसकी उत्पत्ति सम्बन्धी आशा पर निर्भर रहता है, अर्थात् किसी वस्तु का वर्तमान संग्रह तथा भविष्य में होने वाले उत्पादन के आँकड़े पर ही किसी वस्तु का मूल्य स्थिर किया जाता है।

(ख) मौसम की स्थिति पर मूल्यों का उतार-चढ़ाव निर्भर रहता है।

(ग) सरकारी कार्यवाहियाँ भी मूल्य पर प्रभाव डालती हैं; जैसे—आयात, निर्यात या अन्य करों का लगाना या हटाना, मूल्यों पर नियन्त्रण करना, आयात-निर्यात पर प्रतिबंध लगाना, व्यापार सम्बन्धी नियम बनाना इत्यादि कार्य वस्तुओं के मूल्यों को प्रभावित किया करते हैं।

(घ) राजनैतिक परिस्थिति और विशेषकर युद्ध आदि भी मूल्यों को घटाने-बढ़ाने में सहायक होते हैं।

(ङ) बढ़े हुए मूल्य वाली वस्तुओं से सहानुभूति रखने के कारण जिन वस्तुओं के मूल्य कम होते हैं उनके भी बढ़ जाते हैं; वैसे ही सहानुभूति के कारण मूल्यों के गिरने की दशा में अन्य वस्तुओं के भी मूल्य गिर जाते हैं। इस तरह सहानुभूति भी मूल्यों के बढ़ाने और गिराने में सहायता प्रदान करती है।

(च) आयात एवं निर्यात की कमी या अधिकता के कारण मूल्य घटते या बढ़ते रहते हैं।

(छ) प्रति-वस्तुओं (Substitutes) के प्रभाव से भी मूल्यों में अन्तर पड़ जाता है, जैसे यदि किसी वस्तु का मूल्य अधिक है परन्तु उसकी प्रति-वस्तु (Substitude) का मूल्य कम है तो जनता साधारणतः उसी प्रतिवस्तु का प्रयोग करने लग जाती है जिसके परिणामस्वरूप उस मूल-वस्तु की माँग भी घट जाती है और उसका मूल्य भी फिर गिर जाता है।

(ज) बाजार में भ्रमात्मक अपवाद या अफवाहों के फैलने तथा कभी-कभी व्यर्थ प्रवादों का प्रचार करने से मूल्यों में गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है।

(झ) विदेशी विनिमय-दर में उतार-चढ़ाव (Fluctuations) होने से भी किसी देश की वस्तुओं के मूल्यों में उतार-चढ़ाव उत्पन्न हो जाता है।

मूल्य का उतार-चढ़ाव (Price Fluctuation) —वस्तु के मूल्यों में प्राय जो परिवर्तन होते हैं उन्हें निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया जाता है :—

संज्ञा तथा विशेषण शब्द:—चढ़ाव, उतार, गिरावट, उन्नत, अवनत, तेज़ी, मंदी, लाभ, हानि, उच्च, अवचन, बढ़ा हुआ, चढ़ा हुआ, गिरा हुआ, इत्यादि।

क्रिया-शब्द:—चढ़ना, उतरना, गिरना, उठना, उछलना, बढ़ना, घटना, ऊँचा होना, नीचा होना, सरकना, चलना, ठहरना, चालू होना इत्यादि।

इसके अतिरिक्त मूल्यों के उतार-चढ़ाव सम्बन्धी कुछ मुहाविरों का भी प्रयोग होता है, जैसे—मामूली चढ़ना (Slight Improvement), आंशिक लाभ होना (Partial Recovery) इत्यादि।

जब सरकार किसी वस्तु का मूल्य निश्चित करती है तो उच्चतम मूल्य को सर्वोच्च मूल्य (Price Ceiling) तथा निम्नतम मूल्य को अतिनिम्न मूल्य (Price Floor) कहते हैं।

बाजार की प्रवृत्ति (Market Tone) —"प्रवृत्ति" से हमारा अभिप्राय बाजार के अन्तर्गत वस्तुओं के मूल्य सम्बन्धी झुकाव (Tendency) से है। दशा, स्थिति, स्वभाव, भावना, वातावरण तथा व्यवहार आदि शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। बाजार की "भावी प्रवृत्ति" या "भावी लहर"—ये शब्द वस्तु के मूल्य सम्बन्धी आगामी झुकाव के द्योतक हैं।

बाजार की प्रवृत्ति शान्त, मंद, अरुचिकर, आसान, दुर्बल, सुस्त, गिरी हुई, उठी हुई, दृढ, स्थिर, तीव्र, स्वस्थ, विश्वासपूर्ण, उन्नत, नियमित, अनियमित, भिन्न, अभिन्न, उतावली, प्रतिक्रिया युक्त, आशावादी, निराशावादी आदि अनेक प्रकार की हो सकती है।

बाजार का वृत्त (Market Report):—आधुनिक युग में प्रत्येक हिन्दी अँग्रेजी तथा उर्दू के समाचार-पत्रों में बाजार का मूल्य सम्बन्धी हाल देना अनिवार्य माना जाता है और प्रत्येक समाचार-पत्र वस्तु सम्बन्धी या बाजार सम्बन्धी वृत्त छापना अपना प्रमुख कर्त्तव्य समझता है। अँग्रेजी के समाचार-पत्र बहुधा विस्तार सहित एवं विश्वासपूर्ण व्यापारिक समाचार देते हैं, क्योंकि ये पत्र या तो अपने विशेष प्रतिनिधियों द्वारा भारत के बड़े बड़े व्यापारिक केन्द्रों के समाचार एकत्रित करते हैं अथवा विश्वासपात्र समाचार भेजने वाली एजेंसियों से समाचार मँगाया करते हैं। इन एजेन्सियों में से 'प्रेस ट्रस्ट ऑफ इण्डिया' (P. T I) या रयूटर्स एजेन्सी (Reuter's Agency) प्रमुख हैं।

प्रायः बाजार का वृत्त दैनिक, साप्ताहिक तथा वार्षिक समाचार पत्रों में प्रकाशित हुआ करता है। बाजार का दैनिक वृत्त बहुधा संक्षिप्त होता है। उसमें वस्तु

के आरम्भिक उच्चतम या निम्नतम मूल्य पहले दिन के अन्तिम मूल्यों के साथ दिए रहते हैं। इसके साथ ही उसमें बाजार की प्रवृत्ति का भी वर्णन रहता है कि वह किस ओर अधिक रही और उसका उस ओर जाने का क्या कारण था। यह समाचार प्रायः दोपहर को समाचार-पत्रों में भेजा जाता है। साप्ताहिक समाचार-पत्र में पूरे सप्ताह का बाजार सम्बन्धी वृत्त विस्तार सहित लिखा जाता है। उसमें उस सप्ताह के अन्दर व्यवहारों की प्रवृत्ति किस ओर अधिक एवं किस ओर कम रही तथा उसके क्या-क्या कारण थे एवं सारे सप्ताह की प्रारम्भिक एवं अन्तिम उच्चतम तथा निम्नतम दरें तथा आगामी सप्ताह में कौनसी प्रवृत्ति कार्य करेगी और क्यों, इन सभी बातों का सहित एवं विवरणात्मक वर्णन दिया जाता है। साप्ताहिक वृत्त प्राय. शनिवार की सध्या को लिखे जाते हैं और सभी प्रमुख-प्रमुख पत्रों में सोमवार के प्रभात में प्रकाशित होते हैं। वार्षिक बाजार-वृत्त में सम्पूर्ण वर्ष की बाजार सम्बन्धी परिस्थिति का दिग्दर्शन कराया जाता है। यह बहुधा कुछ लम्बी होती है और इसके लिखने में अधिक सावधानी की आवश्यकता होती है।

भारतवर्ष में दैनिक एवं साप्ताहिक बाजार-वृत्त को प्रकाशित करने वाले दैनिक पत्रों में से अँग्रेजी के 'हिन्दुस्तान टाइम्स', टाइम्स ऑफ इण्डिया' तथा 'स्टेट्समैन' अधिक प्रसिद्ध हैं। अँग्रेजी के साप्ताहिकों में 'कॉमर्स', 'कैपीटल' तथा 'इण्डियन फाइनैंस' साप्ताहिक वृत्त को विस्तार सहित प्रकाशित करते हैं। अँग्रेजी भाषा में एक वार्षिक बाजार-वृत्त मैसर्स प्रेमचन्द रायचन्द एण्ड सस लिमिटेड, प्रतिवर्ष बम्बई से निकालते हैं। उसका नाम "दी एन्यूअल मार्केट रिव्यू" है, जिसमें भारतवर्ष के सभी प्रमुख बाजारों की वार्षिक रिपोर्ट अत्यन्त सुन्दरता के साथ प्रकाशित की जाती है। 'कॉमर्स' पत्र के वार्षिक अंक में भी बाजारों का वार्षिक वृत्त प्रतिवर्ष निकला करता है। वैसे ही 'इण्डियन फाइनैंस' भी वर्ष के प्रारम्भ में वार्षिक वृत्त प्रकाशित किया करता है। हिन्दी के दैनिक पत्रों में से 'विश्वमित्र', 'हिन्दुस्तान', 'आज', 'नवभारत टाइम्स' आदि ऐसे प्रमुख पत्र हैं जिनमें नित्य अच्छे बाजार-वृत्त निकाला करते हैं। उर्दू में दैनिक बाजार वृत्त निकालने वाला एक पत्र दिल्ली से प्रकाशित होता है जिसका नाम 'तेज' है, इसमें भी अच्छा बाजार वृत्त दिया जाता है।

भविष्य सम्बन्धी बाजारों का नियमन
(Regulation of Future Markets)

भविष्य सम्बन्धी बाजारों की महत्ता को दृष्टि में रखकर भारत सरकार ने इसके बारे में एक तज्ञ-समिति (Expert Committee) को नियुक्त किया था जिसने अब अपना इतिवृत्त (Report) भारत सरकार के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया है।

इस समिति ने अग्रिम अनुबन्धों के नाना स्वरूपों का अच्छी प्रकार अध्ययन किया है। इस समिति के अनुसार अग्रिम अनुबंध (Forward Contracts) प्रमुख

रूप से तीन प्रकार के होते हैं —(१) भविष्य सम्बन्धी अनुबंध (Future Contracts), (२) हस्तान्तरणशील निर्दिष्ट प्रदान वाले अनुबंध (Non-Transferable specific delivery contracts) तथा (३) अ हस्तान्तरणशील निर्दिष्ट प्रदान वाले अनुबंध (Non-Transferable Specific Delivery Contracts)। भविष्य सम्बन्धी अनुबंध अन्य अनुबंधों से कार्यरूप में पूर्णत भिन्न होते हैं, परन्तु वैसे हस्तान्तरणशील निर्दिष्ट प्रदान वाले अनुबंधों से इनमें विशेष अन्तर नहीं होता।

इस प्रकार यह समिति इस निर्णय पर पहुँची है कि भविष्य-सम्बन्धी अनुबंधों तथा हस्तान्तरणशील निर्दिष्ट प्रदान वाले अनुबंधों का नियम (Regulation) करने के लिए भारत सरकार को निम्नलिखित अधिकार अपने हाथ में रखने चाहिए —

(क) यदि हस्तान्तरणशील निर्दिष्ट प्रदान वाले अनुबंधों (Transferable specific delivery contracts) के कारण किसी व्यापारिक संस्था को अनावश्यक आपत्तियाँ अथवा असुविधायें प्राप्त होती हैं तो सरकार उन्हें भंग कर सकती है।

(ख) जब सरकार को इस बात का पूर्ण प्रमाण मिल जाय कि अहस्तान्तरणशील निर्दिष्ट प्रदान वाले अनुबंध (Non Transferable specific delivery contracts) सरकारी यूनियन के उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते तो सरकार को ऐसे नियम बनाने चाहिए जो इन अनुबंधों पर पूर्णत नियमन कर सकें।

समिति ने यह भी सिफारिश की है कि इस कार्य के लिए केन्द्रीय सरकार को अग्रिम-बाजार आयोग (Forward Market Commission) का निर्माण करना चाहिए। इस आयोग में एक अध्यक्ष (Chairman) तथा दो सदस्य होने चाहिए, इनमें से एक सदस्य तो भारत सरकार के व्यापारिक सचिवालय का कोई अधिकारी होना चाहिए तथा दूसरा सदस्य ऐसा होना चाहिए जिसे देश भर के भविष्य-व्यापार सम्बन्धी बाजारों के कार्यों अथवा उसके सगठन का पूर्ण अनुभव हो। इस प्रकार के स्वतन्त्र आयोग या कमीशन का निर्माण होने से व्यापारिक जगत में पर्याप्त विश्वास एवं भरोसा स्थापित हो जायगा।

समिति का यह भी मत है कि अग्रिम बाजार के कार्य की सफलता के लिए वस्तुओं का सुपरिचित मापदंड (Recognized Standard) स्थापित होना चाहिए। आज ५० वर्ष के अनुभव के उपरान्त कपास का मापदंड तो स्थापित हो चुका है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय जगत में सभी परिचित हैं। परन्तु अन्य वस्तुओं का अभी तक कोई मापदंड स्थापित नहीं हुआ है। अत भारत सरकार तथा अन्य सभी प्रमुख व्यापारिक संस्थाओं को वस्तुओं का मापदंड स्थापित करने का शीघ्रातिशीघ्र प्रयत्न करना चाहिए। समिति का विचार है कि अग्रिम बाजार सम्बन्धी प्रत्येक वस्तु का मापदंड (Standard) स्थापित होना चाहिए। इसके लिए सरकार को एक निश्चित अवधि तक मापदंड के तैयार करने की आज्ञा निकालनी चाहिए तथा इसके लिए सभी व्यापारिक संस्थाओं

को सहायता देनी चाहिए। सरकार को अनुज्ञापत्रधारी संग्रहालयों (Licensed Warehouses) के स्थापित करने के लिए संगठित व्यवसायों को प्रोत्साहित करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक एसोसियेशन को अग्रिम व्यापार करने की आज्ञा प्रदान करने से पहले सरकार को यह अच्छी प्रकार देख लेना चाहिए कि यह ऐसोसियेशन अपने व्यापार पर प्रभावी नियन्त्रण करने में समर्थ है अथवा नहीं। समर्थ ऐसोसियेशन को ही आज्ञा प्रदान करना चाहिए।

इसके अतिरिक्त समिति के विचार से वस्तु विनिमयों के लिए कुछ बातें अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं जिनको प्रत्येक ऐसोसियेशन को अपने नियमों में स्थान देना चाहिए। वे बातें इस प्रकार हैं —

(१) यदि कोई ऐसोसियेशन का सदस्य नियम-विरुद्ध कार्य करता है तो उसे दण्ड देना चाहिए।

(२) नियम में अन्तर (Margin) सम्बन्धी सुसबद्ध योजना के लिए उचित स्थान रहना चाहिए। भारतवर्ष में व्यापाराधिक्य (Over Trading) ही अग्रिम बाजारों के लिए आपत्तिदायक है। अत इसे रोकने के लिए प्रभावी उपायों को काम में लाना चाहिए। इसके लिए सुगम उपाय यही है कि प्रत्येक सदस्य को क्रय विक्रय करते समय अपने ग्राहकों से अन्तर (Margin) लेना चाहिए। इन अन्तरों की दर समय समय पर ऐसोसियेशन को स्थापित करते रहना आवश्यक है।

(३) ऐसोसियेशन या सघ के प्रत्येक सदस्य को सघ कार्यालय में अपने प्रतिदिन के व्यापार का इतिवृत्त (Report) नित्य भेजना चाहिए।

(४) कम से कम १५ दिनों के पश्चात् समाशोधन का कार्य (Clearings) भी होता रहना चाहिए।

नियमों में इस बात का स्पष्ट निर्देश रहना आवश्यक है कि ऐसोसियेशन के प्रत्येक सदस्य को तत्सम्बन्धी समस्त सूचनाएं एव विवरण तथा व्यापार पुस्तकें आदि ऐसोसियेशन के माँगने पर तुरन्त प्रस्तुत करना चाहिए।

समिति का यह विचार है कि 'अग्रिम अनुबन्ध" की इस प्रकार व्याख्या होनी चाहिए जिसमें अहस्तान्तरणशील निर्दिष्ट प्रदान वाले अनुबन्धों का भी समावेश हो सके तथा प्रदान की तिथि को ७ दिन से बढ़ाकर ११ दिन कर देना चाहिए।

नियन्त्रण सम्बन्धी सुविधा की दृष्टि से समिति का यह विचार है कि सरकार को ऐसोसियेशनों को मान्यता देते समय सदस्य का ध्यान रखना चाहिए। एक वस्तु का एक क्षेत्र में एक ऐसोसियेशन या सघ होना आवश्यक है। अत इसी दृष्टि से मान्यता देनी चाहिए। प्रत्येक ऐसोसियेशन में सरकार को एक सदस्य अपनी ओर से मनोनीत करके भेजना चाहिए तथा अन्य किसी भी एसोसियेशन के हित सम्बन्धी तीन प्रतिनिधियों से अधिक उस एसोसियेशन में नहीं रहने चाहिए। किसी

ऐसोसियेशन के सदस्यों की पुस्तकें आदि का परीक्षण करने के स्थान पर समिति ने यह सुझाव रखा है कि सरकार को समस्त मान्य ऐसोसियेशनों से तत्सम्बन्धी सूचनाएं, विवरण या व्याख्या आदि मँगाने का अधिकार रखना चाहिए और यदि किसी ऐसोसियेशन या उसके सदस्य की पूछ-ताछ अथवा जाँच करनी हो तो ऐसोसियेशन के एक-दो सदस्यों की इस कार्य में सहायता लेनी चाहिए।

समिति का विचार है कि 'विकल्पों' (Options) पर विधान द्वारा प्रतिबंध लगा देना चाहिए। अन्त में समिति किसी दोष पर किसी व्यापारिक सस्था की सम्पत्ति का अपहरण करना आवश्यक नहीं समझती और न वह किसी अपराध के हो जाने पर सघ या एसोसियेशनों के प्रत्येक सचालक, व्यवस्थापक, कार्यवाह (Secretary), अभिकर्त्ता या अन्य किसी अधिकारी को उस अपराध का उत्तरदायी समझती है।

Test Questions

1. What do you understand by speculation? Discuss its relation with business. *(Bombay B. Com. 1944)*

2. Describe briefly the organisation and working of the E I. C. A. or any other produce exchange in India. *(Agra B. Com. 1945.)*

3. Explain the organisation and working of a mandi or market you are familiar with. *(Agra B. Com. 1947.)*

4. Write an essay on "Produce Market."

आठवाँ अध्याय

स्कंध-विनिमय (STOCK EXCHANGE)

स्कंध-विनिमय एक ऐसे बाजार को कहते हैं जहाँ पर संयुक्त स्कंध कम्पनियों की अंश, ऋण पत्र तथा स्कंध आदि प्रतिभूतियाँ तथा जनोपयोगी संस्थाओं की सरकारी प्रतिभूतियाँ, ऋणपत्र एवं बंध (Bonds) आदि का क्रय विक्रय होता है। प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय कितनी ही शताब्दियों से चला आ रहा है। पहले कुछ लोग एक स्थान पर साधारणतः नियमित रूप से एकत्र होते थे और क्रेता एवं विक्रेता के मध्य में कुछ कमीशन लेकर दलाल का सा कार्य करते थे। जैसे जैसे इनका व्यापार बढ़ा, वैसे ही इन्होंने फिर अपने-अपने संघ (Association) स्थापित किये और उन्हें सुचारु रूप से चलाने के लिये व्यापार सम्बन्धी कुछ नियम भी बनाये। इधर धन की उन्नति एवं उसके विभाजन का विस्तार होने के कारण धीरे-धीरे स्कंध-विनिमय के बाजार का भी प्रसार होना प्रारम्भ हुआ और गत शताब्दी के पिछले २५ वर्षों में जितना इस विनिमय बाजार का विस्तार हुआ उतना सम्भवतः कभी नहीं हुआ था। आजकल प्रत्येक सभ्य देश का व्यापारी इन स्कंध विनिमयों से अपना व्यापारिक सम्बन्ध रखता है। आज संयुक्त स्कंध कम्पनियाँ जो अत्यन्त उन्नतावस्था में दिखाई देती हैं, उसका भी मूल कारण स्कंध-विनिमय ही है, क्योंकि यदि ये विनिमय इनकी प्रतिभूतियों के बेचने में सहायता न देते तो इन कम्पनियों का आज यह रूप न दिखाई देता। इन स्कंध-विनिमयों का मुख्य कार्य यह है कि जो विनियोक्ता अपना धन किसी संयुक्त स्कंध कम्पनी में लगा देता है और यदि वह अपने अंशों को बेचना चाहता है तो उसके अंशों को अन्य किसी व्यवसाय में लगाकर उसे नकद रोकड़ दे देते हैं। बिना स्कंध विनिमय के पूँजी में गतिशीलता का अभाव रहता है, क्योंकि एक बार एक उद्योग में लगाकर फिर उसे किसी अन्य उद्योग में लगाने की इच्छा नहीं हो सकती और न किसी अन्य उद्योग में लगाने के साधन ही उपलब्ध हो सकते हैं।

लगभग ६० वर्ष पहले लन्दन जाते समय मार्ग में एक युवक जर्मन को बिस्मार्क (Bismark) ने यह सलाह दी थी, "यदि तुम ब्रिटेन के बारे में यह जानना चाहते हो कि उसकी दशा कैसी है, तो हॉउस ऑफ कॉमन्स का अध्ययन करने की अपेक्षा तुम्हें लन्दन स्कंध विनिमय (London Stock Exchange) का अच्छी प्रकार अनुशीलन करना चाहिए।" ये शब्द वर्तमान स्कंध विनिमय की महत्ता के बारे में स्पष्ट संकेत करते हैं। जो लोग इन विनिमय बाजारों की कृपा से सौभाग्यशाली बन गये हैं वे इन्हें "धन का खुला भण्डार" मानते हैं तथा जिनका सौभाग्य-

सूर्य इनके कारण अस्त हो गया है वे इन्हें "साक्षात् नरक" (Veritable Hell) समझते हैं।

आधुनिक औद्योगिक संगठन के विकास में स्कंध-विनिमयों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतवर्ष में तो इसका महत्त्व इसलिये और अधिक है क्योंकि यहाँ पर निर्गमन-गृहों (Issue houses) एवं विनियोगी बैंकों (Investment Banks) का सर्वथा अभाव है। स्कंध विनिमय ही यहाँ एक ऐसी संस्था है जो जनता की बचत का औद्योगिक विकास में विनियोग करती हुई औद्योगिक पूँजी में गतिशीलता लाती है। इस प्रकार एक स्कंध-विनिमय निम्नलिखित कार्य करता है:— Function of S

(१) यह एक प्रकार से मध्यस्थ की भाँति होता है, क्योंकि यह प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय के लिये एक निरन्तर खुला बाजार प्रस्तुत करता है। जनता किसी भी उद्योग में अपना धन इसी आशा पर विनियोग कर देता है कि स्कंध-विनिमय के खुले बाजार में वे अपने अंशों को आवश्यकता के समय बेचकर रोकड़ बना सकते हैं। जब तक स्कंध विनिमय ऐसी सुविधा प्रदान नहीं करता, तब तक पूँजी का गतिशील होना सर्वथा असम्भव है तथा उद्योगों के लिए भी पूँजी-संग्रह करना बड़ा कठिन कार्य हो सकता है, क्योंकि सभी विनियोक्ता जब यह देखेंगे कि आवश्यकता के समय उनके अंशों द्वारा रोकड़ प्राप्त नहीं हो सकती, तब वे अनायास ही अपना धन किसी भी उद्योग के अंश खरीदने में नहीं लगायेंगे।

(२) स्कंध-विनिमय द्वारा प्रत्येक विनियोक्ता को अपनी प्रतिभूति (Security) का मूल्य समय-समय पर मालूम होता रहता है। इसके लिये ये अपनी मूल्य-सूची (Quotations of the prices) प्रकाशित करते रहते हैं। यह मूल्य-सूची व्यापार-विशेषज्ञों तथा अर्थ-सम्बन्धी जानकारों द्वारा बनाई जाती है और साधारण विनियोक्ता भी इससे लाभ उठाता है।

(३) स्कंध-विनिमय सदैव अलाभप्रद उद्योगों से धन निकलवाकर लाभप्रद उद्योगों में विनियोग कराता है क्योंकि यह जो मूल्य-सूची प्रकाशित करता रहता है उसका सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि इस सूची के आधार पर प्रत्येक विनियोक्ता यह जान जाता है कि कौनसा उद्योग लाभकर है तथा कौन से उद्योग में धन-विनियोग करना व्यर्थ है। यदि स्कंध-विनिमय पूँजी के बारे में यह सहायता एवं सुविधा प्रदान न करता तो पूँजी का कुशलता एवं उपयुक्तता के साथ विनियोग नहीं हो सकता था।

(४) स्कंध-विनिमय-बाजारों में प्रतिभूतियों की भी सूची बनाई जाती है। इस सूची के कुछ विशेष नियम होते हैं, जिनकी पूर्ति के बिना किसी भी औद्योगिक प्रतिभूति को सूची में समाविष्ट नहीं किया जाता और जिस किसी उद्योग की प्रतिभूतियों को सूची में स्थान मिल जाता है वही उद्योग सुदृढ़ एवं स्वस्थ मान

जाता है। कारण यह है कि प्रतिभूतियों के सूची-बद्ध हो जाने के कारण उनका निर्गमन सर्वथा सुलभ हो जाता है। परन्तु किसी कम्पनी की यदि सभी प्रतिभूतियाँ सूची-बद्ध हो चुकी हैं, तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि उस कम्पनी की लाभार्जन-शक्ति अच्छी है। इससे तो केवल किसी भी उद्योग एवं व्यापारिक सगठन के निर्माण एवं विकास सम्बन्धी सूचनाओं के प्राप्त करने में सुगमता होती है।

आज स्कध-विनिमय विश्वभर में व्याप्त हैं, परन्तु ये अधिक प्राचीन संस्थायें नहीं हैं। इनका निर्माण सयुक्त स्कध-उद्योगों (Joint Stock Enterprise) के विकास के साथ ही सीमित दायित्व (Limited liability) के सिद्धान्त पर हुआ है। लन्दन स्कध-विनिमय का निर्माण सन् १७७३ ई० में हुआ था। भारतवर्ष में सबसे प्राचीन विनिमय-स्कध बम्बई में है जिसका नाम "दी नेटिव शेयर एण्ड स्टॉक ब्रोकर्स एसोसियेशन" (The Native Share and Stock Brokers' Association) है तथा जिसे आजकल बम्बई-स्कध-विनिमय (Bombay Stock Exchange) के नाम से पुकारते हैं; इसका निर्माण १८८७ ई० में हुआ था। इस प्रकार के विनिमय की स्थापना से पूर्व भी बम्बई में प्रतिभूतियों सम्बन्धी व्यापार होता रहता था, परन्तु इस व्यापार के लिए कोई नियम या विधान आदि नहीं बनाया गया था। कलकत्ता स्कध-विनिमय की सस्थापना १९०८ ई० में हुई थी। उस समय इसका नाम "कलकत्ता स्टॉक एक्सचैंज ऐसोसियेशन" रक्खा गया था तथा १९२३ ई० में इसको सयुक्त सगठन के रूप में रजिस्टर्ड किया गया था। मद्रास स्कध-विनिमय तृतीय श्रेणी में आता है। इसकी स्थापना १९३७ ई० में हुई थी। इसके अतिरिक्त आजकल लाहौर, कानपुर, कराची, अहमदाबाद, दिल्ली, हैदराबाद तथा अन्य स्थानों पर भी स्कध-विनिमयों की स्थापना हो चुकी है, परन्तु ये सभी अभी बाल्यावस्था में हैं।

भारतीय स्कंध-विनिमयों का विधान

(Constitution of Indian Stock Exchanges)

यद्यपि भारतवर्ष में अनेक स्कध-विनिमय हैं, परन्तु सबसे प्राचीन होने के कारण बम्बई स्कंध विनिमय का महत्व सर्वोपरि है। यह निस्संदेह एक राष्ट्रीय सत्य है तथा यहाँ पर सभी प्रकार की औद्योगिक सरकारी तथा अर्द्ध सरकारी एवं सार्वजनिक प्रतिभूतियों में व्यवहार किया जाता है, साथ ही क्रय विक्रय करने के लिए यहाँ सभी प्रान्तों के लोग दूर-दूर से आते हैं। कलकत्ता तथा मद्रास के स्कध विनिमय भी विनियोक्ताओं के लिए पर्याप्त सेवा प्रस्तुत करते हैं। इन विनिमय-बाजारों में कुछ विशेष प्रकार की प्रतिभूतियों का ही क्रय-विक्रय होता है, जो बम्बई में नहीं होता। इस प्रकार कुछ स्कंध-विनिमयों ने भारतवर्ष भर में अपनी-अपनी विशेषता स्थापित कर ली है; जैसे—बम्बई स्कंध-बाजार में स्थानीय वस्त्र-उद्योग की प्रतिभूतियों का ही क्रय-

विक्रय होता है ; कलकत्ता के स्कंध विनिमय का ध्यान विशेष रूप से जूट, चाय, कोयला तथा खानों के उद्योग की प्रतिभूतियों पर ही रहता है ; वैसे ही मद्रास में विशेषकर बगीचा उद्योग की प्रतिभूतियों का व्यापार होता है। अहमदाबाद स्कंध विनिमय में स्थानीय वस्त्र व्यवसाय की प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय होता है। कानपुर में चीनी उद्योग सम्बन्धी प्रतिभूतियों का व्यापार होता है। वैसे इस्पात (Steel) उद्योग सम्बन्धी प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय तो सभी स्कंध विनिमयों पर होता है, परन्तु बम्बई में सर्वाधिक व्यापार होता है।

भारतवर्ष के समस्त स्कंध-विनिमयों का निर्माण लगभग एक ही पद्धति पर हुआ है। बम्बई स्कंध विनिमय को छोड़कर शेष सभी विनिमय संगठित संस्था के रूप में हैं और सभी भारतीय कम्पनी विधान १९१३ के अंतर्गत स्थापित एवं रजिस्टर्ड हुए हैं, जिनमें सभी सदस्यों का दायित्व अंशपूँजी से या प्रत्याभूति (Guarantee) से सीमित रक्खा गया है। केवल बम्बई की "नेटिव शेयर एण्ड स्टॉक ब्रोकर्स ऐसोसियेशन' नामक एक संस्था ऐसी है जो उपर्युक्त विधान के अंतर्गत संस्थापित नहीं हुई है, परन्तु इसका नियमन भी ३७ अंतनियमों वाले संघ संलेख (Deed of Association of 37 Articles) तथा उन अन्य नियमों द्वारा होता है जिनको बम्बई सरकार ने स्वीकृत एवं मान्य घोषित कर दिया है। भारत में अन्य स्कंध-विनिमय भी उन्हीं संघ संलेख अन्तर्नियमों द्वारा संचालित होते हैं।

प्रत्येक स्कंध-विनिमय में कितने ही सदस्य होते हैं। इसमें प्रत्येक नवीन सदस्य से प्रवेश शुल्क लिया जाता है तथा उसे एक सदस्यता पत्र खरीदना पड़ता है जिसका मूल्य समयानुसार न्यूनाधिक होता रहता है। बम्बई स्कंध-विनिमय के अतिरिक्त शेष सभी विनिमयों की पूँजी कम्पनियों की भांति अंश-पूँजी में बँटी रहती है इसलिए प्रत्येक सदस्य को सदस्य बनते समय विनिमय का कम से कम एक अंश अवश्य खरीदना पड़ता है। जब कोई नया व्यक्ति किसी विनिमय का सदस्य होना चाहता है तो उसे विनिमय के दो सदस्यों की सिफारिश करानी पड़ती है और जब वह विनिमय का एक अंश खरीद लेता है तथा प्रवेश शुल्क जमा कर देता है तब सदस्यता प्रदान की जाती है। कितने ही स्कंध-विनिमयों में तो केवल वयस्क (Adults) ही सदस्य हो सकते हैं, परन्तु बम्बई स्कंध विनिमय ने सदस्यता के लिए न्यूनतम आयु २१ वर्ष निश्चित कर रक्खी है।

इन स्कंध-विनिमयों में केवल इनके सदस्य तथा अधिकृत लिपिक (Authorised Clerks) ही व्यापार कर सकते हैं। सदस्यता का यही लाभ है। अपने-अपने पृथक् पृथक् विनिमयों के नियमों को प्रत्येक सदस्य को पालन करना अनिवार्य होता है। यदि कोई सदस्य उन नियमों को भंग करता है तो दंड रूप में या तो उसे सदस्यता से निकाल दिया जाता है या उसकी सदस्यता स्थगित कर दी जाती है अथवा उस

मौद्रिक दड दिया जाता है। सदस्यता से तो किसी सदस्य को उसी समय निकाला जाता है जब वह किसी प्रकार का छल या कपटपूर्ण अपराध करता है या वह पागल अथवा दिवालिया हो जाता है।

बम्बई स्कंध विनिमय मे सदस्यों के अतिरिक्त भी कुछ और लोग रहते हैं जिन्हें "रैमिसाइर्स" (Remisiors) कहते हैं और जो कमीशन पर कार्य करते हैं। ये लोग सदस्य दलालों की ओर से कमीशन पर व्यापार किया करते हैं तथा इनके द्वारा जैसा व्यापार उन्हें प्राप्त होता है वैसा ही पारिश्रमिक इन्हें दिया जाता है। इन पर भी स्कध विनिमय के वही प्रतिब ध लागू होते हैं जिससे अन्य सदस्य बद्ध होते हैं। ये अन्य किसी प्रकार का व्यापार नहीं कर सकते तथा इनको विनिमय में व्यापार करने के लिए प्रतिभूति (Security) जमा करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त वार्षिक शुल्क भी इन्हें देना पड़ता है विनिमय के एक सदस्य की भाँति ये विज्ञापन नहीं कर सकते। कोई भी कमीशन खाने वाला व्यक्ति अपने नाम से या अपने स्वामी के नाम से उस समय तक व्यापार नहीं कर सकता जब तक वह अधिकृत लिपिक (Authorised Clerk) या सदस्य न हो। इस प्रकार एक "रैमिसायर" को उप दलाल (Sub-Broker) कह सकते हैं।

एक स्कध-विनिमय के सदस्यों को कितने ही अधिकृत लिपिकों या सहायकों को नौकर रखने का अधिकार होता है, परन्तु प्रत्येक ऐसे व्यक्ति के लिए वार्षिक शुल्क जमा करना पड़ता है। ये अधिकृत लिपिक तथा सहायक स्कध विनिमयों में व्यापार कर सकते हैं, परन्तु वे केवल अपने स्वामी की ओर से ही व्यापार करने के अधिकारी होते हैं। वे अपने नाम से कोई भी सौदा नहीं कर सकते। अत वे केवल सदस्य के अभिकर्त्ता की हैसियत से उनकी सूचना के अनुसार विनिमयों में कार्य किया करते हैं।

एक स्कध विनिमय का प्रबध एक प्रबध-समिति (Managing Committee) के हाथ में रहता है। इस समिति को विभिन्न विनिमयों में विभिन्न नाम दिये जाते हैं; जैसे—बम्बई स्कध विनिमय मे इसे नियामक मडली (Governing Body) तथा मद्रास में प्रबन्ध परिषद् (Council of Management) कहते हैं। प्रत्येक स्कध विनिमय के सदस्यों की सख्या उसकी वैयक्तिक परिस्थिति पर निर्भर रहती है। समिति का निर्माण प्रतिवर्ष विनिमय के सदस्यों में से निर्वाचित सदस्यों द्वारा ही होता है। इस समिति को नियन्त्रण एव प्रबन्ध सम्बन्धी समस्त अधिकार सौंपे जाते हैं और यह वर्ष भर नियमों के अनुसार कार्य करती है। इस समिति के अतिरिक्त विशेष कार्यों की देखभाल के लिए उप समितियाँ भी होती हैं, जो प्रबन्ध-समिति को *प्रबन्ध सम्बन्धी कार्यों में सहायता प्रदान* किया करती हैं।

स्कध विनिमयों का मुख्य उद्देश्य विनियोक्ताओं के हितों की सुरक्षा तथा विनिमय के दलालों का व्यापार सम्बन्धी नैतिक-स्तर उच्च करना होता है। अत

नवीन सदस्य का प्रवेश कराते समय विशेष सावधानी रखी जाती है जिससे केवल ख्यातिनामा एवं आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ व्यक्ति ही इसके सदस्य बनें। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सदस्य के दोषों का सावधानी के साथ परीक्षण किया जाता है तथा दोषी सिद्ध होने पर उचित दंड भी दिया जाता है। इसी दृष्टि से एक स्कंध विनिमय अपनी संस्थापना के समय ऐसे नियम बनाता है जिसका सम्बन्ध दलाली की दरों, विभिन्न प्रकार की स्वीकृत बोली तथा प्रस्तावों, अनुबन्धों की पूर्णता एवं उनके भुगतानों, प्रतिभूतियों के समाशोधनों (Clearings), व्यापार के निर्णय एवं भुगतानों तथा अंशों के हस्तान्तरण एवं पंजीयन (Registration) आदि से होता है।

जिस प्रकार किसी स्थान के एक बैंकिंग व्यापार को समाशोधक गृह (Clearing House) की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार स्कंध विनिमय के सदस्यों के व्यवहारों का निर्णय करने के लिए विनिमय में भी समाशोधन-गृह होना अनिवार्य है। भारतवर्ष में किसी समाशोधक गृह के द्वारा प्रतिभूतियों के समाशोधन करने की पद्धति अभी थोड़े ही वर्षों से प्रारम्भ हुई है। बम्बई स्कंध विनिमय ने इसे सन् १९२१ में अपनाया था। इन गृहों में न केवल प्रतिभूतियों का समशोधन ही होता है, वरन् उनके भुगतान का भी कार्य किया जाता है। सत्य तो यह है कि ये समाशोधन-गृह एक प्रकार से स्कन्ध विनिमयों के निर्णय विभाग (Settlement Department) का कार्य किया करते हैं। समाशोधन का अर्थ परस्पर भुगतान होता है। अतः जहाँ तक सम्भव होता है क्रय विक्रय को एक ओर रखकर तब समाशोधन किया जाता है, यदि क्रय विक्रय का अलग रखना सम्भव नहीं होता तो पार्टियों को उसके स्थान पर रखकर उनके द्वारा समाशोधन कर दिया जाता है। सदैव वस्तुओं का प्रदान (Delivery) या मूल्यों का भुगतान उनके वास्तविक क्रेता एवं विक्रेताओं को बुलाकर तथा दलालों या मध्य के लोगों को दूर करके तब किया जाता है। इस तरह वस्तुओं के वास्तविक मूल्य का भुगतान कराने में इन गृहों से अत्यधिक सहायता प्राप्त होती है।

बम्बई स्कंध विनिमय के समाशोधन गृह (Clearing house) का प्रबन्ध बैंक ऑफ इण्डिया लिमिटेड करती है। कुछ मान्य बैंकें (Approved Banks) इस समाशोधन गृह को सदस्य होती हैं। पहले इन सदस्य-बैंकों को अपने अधीनस्थ समस्त व्यापारों का एक विवरण समाशोधन गृह को भेजना पड़ता है, तदुपरान्त ये प्रदान (delivery) के देने और लेने का कार्य करती हैं। परन्तु बैंकों द्वारा होने वाले प्रदान एवं भुगतान के कार्यों की संख्या किसी भी समय समाशोधन गृह में अधिक नहीं होती। इस प्रदान एवं भुगतान पर स्वयं सदस्यों का भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। वैसे समाशोधन गृह की समस्त कार्यवाहियाँ उसके सदस्य बैंकों के सहयोग से बड़ी शान्ति के साथ चलती रहती हैं। समाशोधन की सुविधा के लिए स्कंध विनिमय के प्रत्येक सदस्य को बैंक ऑफ इण्डिया में अपना एक चालू-खाता (Current account)

रखना पड़ता है। जिन प्रतिभूतियों का भुगतान या हस्तान्तरण आदि समाशोधन-गृह द्वारा होता है उसकी वास्तविकता, उपयुक्तता एवं स्वत्व सम्बन्धी किसी प्रकार की भी गारंटी यह गृह नहीं देता। यह तो केवल इस कार्य में सुविधा प्रदान करता है, फिर चाहे वे प्रतिभूतियाँ कैसी ही क्यों न हों, इससे इसे कोई मतलब नहीं होता। मान्य बैंकें तथा विनियोग प्रन्यास कम्पनियाँ (Investment Trust Companies) इस समाशोधन-गृह के सदस्य एवं उनके सहायक की भाँति कार्य कर सकता हैं। इस प्रकार उन्हें समाशोधन-गृह की ओर से भुगतान करने एवं लेने तथा प्रदान (Delivery) स्वीकार करने एवं देने का अधिकार होता है। प्रत्येक सदस्य को अपने दो लिपिकों (Clerks) के रखने का अधिकार होता है जो समाशोधन-गृह के दैनिक कार्यों की देखभाल करते हैं तथा समस्त पत्रों पर अपने हस्ताक्षर करते हैं। समाशोधन गृह की ओर से प्रत्येक सदस्य को एक क्रमाङ्क (Number) दिया जाता है जिसे सभी आवश्यक-पत्रों के ऊपर अङ्कित करके फिर सदस्य बैंकें आदि समाशोधन-गृह के साथ व्यवहार किया करती हैं।

सूचियन तथा मूल्य-सूची (Listing and Official Quotations)

सूचियन (Listing) —स्कंध विनिमय बाजारों में जिन अंशों, बर्चों, ऋणपत्रों, सरकारी अथवा अन्य निजी प्रतिभूतियों का व्यापार किया जाता है उसके लिए प्रत्येक कम्पनी अथवा व्यापारिक संस्था को स्कंध विनिमय समिति (Stock Exchange Committee) से पहले अनुमति लेनी पड़ती है, बिना अनुमति लिए कोई भी संस्था प्रतिभूति व्यापार वहाँ नहीं कर सकती। यही कारण है कि स्कंध विनिमय में अपनी प्रतिभूतियाँ बेचना प्रत्येक कम्पनी के लिये सम्भव नहीं होता। इस कार्य के लिए विनिमय-स्कन्धों में जो दलाल रहते हैं वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। उनसे विनिमय-समिति में आवेदन पत्र भेजने में अत्यधिक सहायता प्राप्त होती है। प्रायः प्रत्येक कम्पनी का विवरण-पत्रिका (Prospectus) में पढ़ने यह लिखा जाता है, कि "अंश सम्बन्धी व्यवहार करने के लिए अमुक विनिमय स्कंध से आदेश प्राप्त करने के लिए निवेदन किया गया है।" अब जो लोग विवरण पत्रिका प्रकाशित करते हैं उन उत्तरदायी व्यक्तियों को यह देखना चाहिए कि यह पत्रिका विनिमय-स्कंध की आवश्यकताओं की पूर्ति पूर्णतः करती है अथवा नहीं। विनिमय स्कंध द्वारा कोई भी कम्पनी उस समय तक अंश-व्यापार नहीं कर सकती जब तक स्कंध-समिति उसे ऐसा करने की अनुमति प्रदान नहीं करती। यह अनुमति प्राप्त करने के लिए प्रत्येक कम्पनी के प्रवर्तक को स्कंध विनिमय सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की शर्तें करना अनिवार्य होता है।

स्कंध-विनिमय के अन्तर्गत *सूचीयन (Listing) का कार्य भी महत्त्वपूर्ण* स्थान रखता है। साधारणतः प्रतिभूतियाँ सभी प्रकार की हो सकती हैं। कभी किसी

को कपट, छल एवं छद्म का सामना भी हो सकता है, परन्तु प्रतिभूतियों का सूचीयन हो जाने के उपरान्त अर्थात् सूचीबद्ध हो जाने पर फिर छल-कपट के लिए स्थान नहीं रहता। दूसरे, विनियोक्ता के हृदय-गत सन्देह का निवारण भी हो जाता है क्योंकि उसे विश्वास हो जाता है कि सूची-बद्ध प्रतिभूति में विनियोग करना सर्वथा सुरक्षित है। सभी कम्पनियों की प्रतिभूतियों को तभी सूची-बद्ध किया जाता है जब स्कन्ध-विनियोग उस कम्पनी से प्रतिभूति सम्बन्धी समस्त सूचनायें प्राप्त कर लेता है तथा सूचीयन के लिए प्रतिभूतियों का जो स्तर होता है उस स्तर के विषय में पूर्ण सन्तोष होने पर ही स्कन्ध विनिमय उन प्रतिभूतियों को सूची बद्ध किया करता है, परन्तु फिर भी किसी कम्पनी की प्रतिभूतियाँ अधिक सुदृढ़ एवं आर्थिक दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं हैं तो इसकी जिम्मेदारी स्कन्ध विनिमय पर नहीं होती। विनियोक्ताओं को स्वयं भी समस्त प्रतिभूतियों की जानकारी रखनी चाहिए। एक स्कन्ध विनिमय किसी विनियोक्ता को यह निर्णय समुचित रूप से नहीं दे सकता कि अमुक कम्पनी आर्थिक दृष्टि से पूर्णतया सुदृढ़ है। वह तो केवल यह देखकर ही उसकी प्रतिभूतियों का सूचीयन कर लेता है कि उस कम्पनी का निर्माण विधान के अनुसार ठीक हुआ है तथा उसने समस्त वैधानिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर दी है।

उपर्युक्त विवेचन का यह अर्थ नहीं कि स्कन्ध विनिमय द्वारा किसी कम्पनी की आर्थिक दृढ़ता का पता नहीं चल सकता। स्कन्ध-विनिमय सदैव प्रतिभूतियों का सूचीयन करने से पूर्व विनियोक्ताओं की सुरक्षा के लिए कुछ सूचनायें प्रत्येक कम्पनी से एकत्रित करता है। उन सूचनाओं के आधार पर किसी कम्पनी को अंश व्यापार करने की अनुमति प्राप्त होती है तथा उनका परीक्षण करने पर यदि उस कम्पनी में कुछ गड़बड़ी दिखाई देती है तो उसे अनुमति नहीं दी जाती। इस प्रकार यह अनुमति प्रदान करने की पद्धति ही किसी कम्पनी की आर्थिक सुदृढ़ता का पूर्णतः परिचय दे देती है क्योंकि इससे इतना स्पष्ट पता चल जाता है कि अमुक कम्पनी वैधानिक रीति से निर्मित है तथा वह दिवालिया आदि नहीं है। इसके अतिरिक्त सूचीयन द्वारा किसी प्रतिभूति के क्रय-विक्रय में लाभ होगा या हानि, इस बात की गारण्टी नहीं दी जाती, परन्तु फिर भी विनियोक्ताओं को यह विश्वास रहता है कि स्कन्ध विनिमय द्वारा खरीदी हुई प्रतिभूतियाँ व्यर्थ नहीं होतीं और अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें कम्पनी की आर्थिक दृढ़ता एवं वैधानिक संगठन आदि का भरोसा हो जाता है।

इसके अतिरिक्त प्रतिभूतियों के सूची-बद्ध हो जाने से एक सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि विनियोक्ताओं को बिना अपना समय व्यर्थ बर्बाद किए हुए उनके खरीदने की सुविधा प्राप्त हो जाती है। प्रतिभूतियों की महत्ता में इतनी वृद्धि और हो जाती है कि वे सुगमता से ऋण के लिए गिरवी या बन्धक के रूप में भी रक्खी जा सकती हैं। प्रायः सूची-बद्ध प्रतिभूतियों का व्यापार कुछ सिद्धान्तों के आधार पर

चलता है, इससे क्रेता एवं विक्रेता दोनों को पर्याप्त सुरक्षा प्राप्त हो जाती है। इन सूचियों से विनियोक्ता एवं व्यापारियों को प्रतिभूतियों का एक क्रम-बद्ध एवं प्रचलित मूल्य भी पता चलता रहता है जिससे उनके बेचने या खरीदने में सब प्रकार की सुविधा होती रहती है।

स्कध विनिमय में प्रतिभूतियों का सूचीयन हो जाने के कारण किसी कम्पनी की प्रतिभूतियों का चलन भी अत्यधिक बढ़ जाता है और जनता की दृष्टि में वे अधिक महत्त्ववाली बन जाती हैं। ये प्रतिभूतियाँ अत्यधिक प्रसिद्ध हो जाती हैं तथा समाचार पत्र एवं मूल्य-सूची आदि में इनका प्रकाशन होने के कारण सारी जनता इनसे परिचित हो जाती है।

लंदन तथा न्यूयार्क-स्कंध विनिमयों में अपनी प्रतिभूतियों का सूचीयन कराना तनिक कठिन एवं दुस्तर कार्य माना जाता है क्योंकि उन स्कंध विनिमयों की आवश्यकताओं का पूर्ण करना बड़ा कठिन है। परन्तु भारतीय स्कंध विनियोगों में यह बात नहीं पाई जाती, क्योंकि हमारे यहाँ का कम्पनी विधान ही इतना सुंदर है जिसके अनुसार प्रत्येक कम्पनी को जनता एवं विनियोक्ता की जानकारी के लिए अपनी महत्त्वपूर्ण सूचना प्रकाशित करनी पड़ती है। अतः यहाँ के स्कंध विनिमय सम्बंधी नियम इतने कड़े नहीं होते। इसके अलावा यहाँ पर प्रत्येक कम्पनी जो स्कंध विनिमय में अपनी प्रतिभूतियों का व्यापार करना चाहती है, उसे भारतीय कम्पनी विधान के अनुसार रजिस्टर्ड होना पड़ता है तथा उसे अपनी विवरण-पत्रिका किसी न किसी समाचार पत्र में प्रकाशित कराना आवश्यक होता है। साथ ही उस कम्पनी को कुछ और भी शर्तें स्वीकार करनी पड़ती हैं, जैसे—यदि कोई दिन स्कंध विनिमय की दृष्टि में असुविधाजनक है तो उस दिन वह कम्पनी अपने हस्तान्तरण के रजिस्टर को बंद नहीं रख सकती। उसे अपने अन्तर्नियमों (Articles) में इस बात के लिए नियम बनाना पड़ता है। इसके साथ ही उसे स्कंध विनिमय की इच्छानुसार अन्य आवश्यकताओं की भी पूर्ति करनी पड़ती है। एक स्कंध विनिमय को यह अधिकार होता है कि यदि कोई कम्पनी उसकी निर्दिष्ट शर्तों का पालन नहीं करती तो वह अपनी सूची में से उसकी प्रतिभूतियों को काट सकता है।

प्रचलित मूल्य सूची (Quotation List) — प्रत्येक प्रमुख स्कंध विनिमय अपनी प्रचलित मूल्य-सूची नित्य प्रकाशित किया करता है। उस सूची में विभिन्न प्रतिभूतियों के विभिन्न मूल्य दिये जाते हैं, जिनमें कि स्कंध विनिमय के अन्तर्गत व्यापार होता है। इसके साथ ही इस सूची में यह भी दिया जाता है कि उस समय उन प्रतिभूतियों का मूल्य कितना है तथा किस मूल्य पर उनका क्रय विक्रय पहले हो चुका है। यह प्रचलित-मूल्य सूची कितने ही विभागों में बँटी रहती है तथा स्कंध विनिमय के विभिन्न बाजारों से प्रतिभूतियों के मूल्य लेकर इस सूची में प्रकाशित किये जाते हैं।

स्कंध-विनिमय के शब्द-प्रयोग
(Stock Exchange Terms)

प्रतिभूतियाँ (Securities):—जिन पत्रों अथवा वस्तुओं का क्रय-विक्रय स्कंध-विनिमय-बाजार में होता है उन्हें प्रतिभूतियाँ कहते हैं। इसमें सभी प्रकार की प्रतिभूतियों का समावेश रहता है; जैसे सरकारी प्रतिभूतियाँ, सार्वजनिक संस्थाओं के ऋणपत्र एवं बंध (Bonds) तथा कम्पनियों के अंश एवं ऋणपत्र आदि। केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारें जो प्रॉमिसरी नोट या बंध आदि जनता से ऋण एकत्र करने के लिए निर्गमित किया करती हैं उन्हें **सरकारी प्रतिभूतियाँ या परम-प्रतिभूतियाँ** (Government Securities or Gilt Edge Securities) कहते हैं, क्योंकि ये सर्वश्रेष्ठ प्रतिभूतियाँ होती हैं तथा इनमें धन विनियोग करना सबसे अधिक सुरक्षित होता है।

जिन अंशों या ऋणपत्रादि प्रतिभूतियों की गारंटी सरकार कर देती है ऐसी प्रतिभूतियाँ सुरक्षा की दृष्टि से **अर्द्ध परम-प्रतिभूतियाँ** (Semi-gilt-edge Securities) कहलाती हैं, क्योंकि ये भी लगभग सरकारी प्रतिभूतियों के ही समान सुरक्षित होती हैं। जो प्रतिभूतियाँ विनियोक्ता की दृष्टि में अधिक आय वाली तथा विनियोगित धन का पुनर्भुगतान कराने में अधिक दृढ़ होती हैं उन्हें **विनियोग प्रतिभूतियाँ** (Investment Securities) कहते हैं; इनमें बैंकों, बीमा कम्पनियों तथा सार्वजनिक उपयोगी संस्थाओं के ऋणपत्र तथा अंश भी सम्मिलित रहते हैं। **प्रन्यासी प्रतिभूतियाँ** (Trustee Securities) वे कहलाती हैं जिनके आधार पर प्रन्यासित धन (Trust funds) का विनियोग वैधानिक रीति से किया जाता है। जैसे, सरकारी प्रतिभूतियाँ तथा स्थानीय अधिकृत संस्थाओं (Local Authorities) के ऋण प्रन्यासी प्रतिभूतियाँ कहलाते हैं।

अंकित मूल्य (Nominal Value)—किसी प्रतिभूति का अभिहित मूल्य (Face Value) ही उसका अंकित मूल्य कहलाता है, परन्तु कभी-कभी उसका बाजारू मूल्य भी अंकित मूल्य के ही समान होता है। साधारणतः प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय इसी मूल्य पर होता हो यह बात नहीं है, यह मूल्य माँग तथा पूर्ति के कारण घटता-बढ़ता भी रहता है। इसके अलावा और भी कुछ कारण हैं, जैसे—ब्याज-दर के बदने, राजनीतिक हलचल द्वारा परिस्थिति भयंकर होने, पूँजी की सुरक्षा का विचार करने, पूँजी के लाभ और हानि की सम्भावना होने, बाजार में परिकल्पना (Speculation) का विस्तार होने तथा प्रतिभूति पर प्राप्त होने वाली आय आदि के कारणों से भी प्रतिभूतियों का बाजारू मूल्य घटता बढ़ता रहता है।

बाजारू मूल्य (Market Price):—जिस दर पर प्रायः प्रतिभूतियाँ खरीदी एवं बेची जाती हैं उसे बाजारू मूल्य (Market Price) कहते हैं। बाजारू

मूल्य के घटने-बढ़ने पर भी उपर्युक्त अंकित-मूल्य वाली परिस्थितियों का ही प्रभाव पड़ता है। जिस समय किसी प्रतिभूति का मूल्य उसके अंकित मूल्य के ही बराबर होता है तो वह समान (At par) मूल्य कहलाता है, परन्तु जब यह मूल्य अंकित मूल्य से कम हो जाता है तो वह छूट सहित (At a discount) मूल्य कहलाता है। इसके साथ ही जब प्रतिभूति का मूल्य उसके अंकित मूल्य से बढ़ जाता है तब वह प्रव्याजि-युक्त (At a Premium) मूल्य कहा जाता है।

तत्काल एवं अग्रिम व्यापार (Ready and Forward Business) — स्कन्ध विनिमय बाजार में दो प्रकार का व्यापार होता है, जिसमें से पहला तत्काल तथा दूसरा अग्रिम कहलाता है। तत्काल व्यापार में प्रतिभूतियों का आदान प्रदान एवं रोकड़ भुगतान उसी समय अथवा कुछ दिवसों में शीघ्र ही हो जाता है, परन्तु अग्रिम व्यापार में इनके लिए सदैव भविष्य की कोई तिथि निश्चित की जाती है। संगठित स्कन्ध विनिमयों में अग्रिम व्यापार वाली प्रतिभूतियों का हस्तान्तरण एवं भुगतान सदैव निश्चित तिथियों पर होता है, अतः इन तिथियों को भुगतान-दिवस (Settlement days) कहते हैं। इङ्गलैंड में अग्रिम-व्यापारों का भुगतान पाक्षिक होता है, परन्तु भारतवर्ष में यह मासिक किया जाता है। प्रत्येक अग्रिम व्यापार का भुगतान सभी स्थानों पर स्कन्ध-विनिमयों के समाशोधन गृहों द्वारा होता है।

रुक्का (Scrip) —सरकारी या सार्वजनिक प्रत्येक प्रतिभूति के लिए स्कन्ध विनिमयों में इस 'रुक्का' नाम का प्रयोग होता है। 'स्कन्ध' (Stock) शब्द को भी इसी अर्थ में प्रयोग करते हैं। कम्पनियों के अंशों (Shares) को कभी कभी प्रति निर्गमन (Counters Issues) या इकाइयाँ ((Units) भी कहते हैं। उद्योगी-कम्पनियों के अंश जो कि बैंकों अथवा बीमा कम्पनियों या सार्वजनिक लाभ वाली कम्पनियों से सर्वथा भिन्न होते हैं, उन्हें औद्योगिक (Industrial) अंश कहते हैं।

समता अंश (Equity Shares) —उन अंशों को कहते हैं जिनके आधार पर किसी अंशधारी को कम्पनी की परिसमाप्ति पर पूँजी का सब अंशधारियों को भुगतान करने के बाद जो सम्पत्ति शेष रहती है उसका समान भाग उसकी पूँजी के भुगतान में मिलता है। ये अंश प्रायः सामान्य अंश होते हैं। इसके साथ ही इन अंशों द्वारा परिकाल्पनिक व्यापार (Speculative) अधिक किया जाता है। अतः इन्हें परिकाल्पनिक अंश (Speculative counters) भी कहते हैं।

बदला (Carry Over) —जब कोई परिकल्पक (Speculator) किसी प्रतिभूति को अग्रिम प्रदान या भुगतान के अनुबंध पर खरीदता या बेचता है और यदि वह सौदे की पूर्ति करने में असमर्थ होता है अथवा करना नहीं चाहता तो वह अपने इस सौदे को आगामी दूसरी भुगतान तिथि तक स्थगित करने की अभिलाषा कर सकता है। इस प्रकार की स्थगन क्रिया को 'बदला' अथवा आगे ले जाना

(Carry over) कहते हैं। 'बदला' के लिए अर्थात् निश्चित तिथि से भुगतान का दिवस और बढ़ाने के लिये यदि तेजीवाले (Bull) को शुल्क देना पड़ता है इसे *स्थगन-शुल्क (Contango Charges) कहते हैं और यदि मन्दीवाले (Bear)* को शुल्क देना पड़ता है तो उसे पृष्ठेनयन (Backwardation) कहते हैं।

सूक्ष्म व्यापार या सूक्ष्म विषम व्यापार (Small lots or Small odd lots or S L. or S O L) —इन शब्दों का सम्बन्ध प्रचलित मूल्य-सूची से है तथा उनसे यह अभिप्राय होता है कि केवल सूक्ष्म व्यापार किया गया है और इसी मूल्य सूची में लिखे हुए मूल्यों का विशेष विचार इसमें नहीं हुआ है।

अन्तर्क्रय और बहिर्विक्रय (Buying in and Selling out) :—अन्तर्क्रय एक ऐसी पद्धति है जिसके द्वारा एक खरीदार अपनी खरीदी हुई प्रतिभूतियों को किसी विक्रेता से निश्चित समय पर लेने के लिये जोर देता है। बहिर्विक्रय का सम्बन्ध विक्रेता से है। जब विक्रेता यह देखता है कि खरीदार अपनी खरीदी हुई प्रतिभूतियों के लिये मना करता है या उनका भुगतान चुकाने में असफल रहता है तो वह बहिर्विक्रय की पद्धति का प्रयोग करता है।

वाहक तथा पञ्जीयित प्रतिभूतियाँ (Bearer and Registered Securities) :—जिन प्रतिभूतियों का अपने पास में रहना ही उनके स्वामित्व का द्योतक होता है उन्हें "वाहक प्रतिभूतियाँ" (Bearer Securities) कहते हैं तथा इनका हस्तान्तरण किसी को देने मात्र से ही हो जाता है। इसके विपरीत जिन प्रतिभूतियों का पञ्जीयन या रजिस्ट्रेशन किसी अधिकृत कम्पनी की पुस्तकों द्वारा होता है उन्हें पञ्जीयित या रजिस्टर्ड प्रतिभूतियाँ (Registered Securities) कहते हैं। इन प्रतिभूतियों का हस्तान्तरण केवल लिखित हस्तान्तरण-सलेख (Written Instrument) से ही हो सकता है।

लाभांश-सहित तथा लाभांश रहित (Cum Dividend and Ex-Dividend) .—इन नामों का प्रयोग स्कंध-विनिमय में प्रतिभूतियों के मूल्य के साथ अत्यधिक मात्रा में होता है। लाभांश सहित (Cum Div. or c d) का तात्पर्य यह है कि वस्तु का जो मूल्य सूची में दिया गया है उसमें लाभांश का भी समावेश है। सरकारी प्रतिभूतियों के अथवा ऋण-पत्रों के प्रचलित मूल्य साधारणतः लाभ युक्त ही होते हैं, उनकी ब्याज-दर भी निश्चित रहती है तथा उनका भुगतान प्राय: वर्ष में दो बार होता है। लाभांश-सहित मूल्य में सदैव शुद्ध-ब्याज (Net interest) का समावेश रहता है। शुद्ध-ब्याज का अर्थ है आय-कर रहित कुल ब्याज। इस प्रकार लाभांश-सहित मूल्य पर जो कोई व्यक्ति किसी प्रतिभूति को खरीदता है उसे प्रतिभूति की अन्तिम ब्याज-तिथि से लेकर प्रचलित मूल्य की तिथि तक उस पर जितना भी ब्याज होगा वह मिलेगा। ऐसी दशा में प्रतिभूतियों के मूल्य सदैव लाभांश सहित ही होते

हैं चाहे उन पर लाभांश-सहित शब्द लिखा हो या नहीं, परन्तु लाभांश रहित शब्द यदि लिखा रहता है तब दूसरी बात है। किसी कम्पनी के अंशों का मूल्य लाभांश-सहित उसी समय होता है जब वह कम्पनी लाभांश की घोषणा कर देती है तथा यह मूल्य केवल उसी अवधि तक लाभांश-सहित रहता है जितनी अवधि के लिये कम्पनी घोषणा करती है। यह अवधि सदैव स्कंध-विनिमय के नियमों के अनुसार ही निश्चित की जाती है। अतः लाभ-सहित मूल्य का अर्थ यह होता है कि एक प्रतिभूति के खरीदार को उस पर ब्याज या लाभांश प्राप्त करने का अधिकार है।

दूसरी ओर, लाभांश रहित (Ex Dividend or ex-div or simply x. d.) का यह अर्थ है कि प्रतिभूति का जो मूल्य सूची में अंकित किया गया है उसमें किसी प्रकार की ब्याज या लाभांश आदि का समावेश नहीं है। इसलिए जो व्यक्ति ऐसे लाभांश-रहित मूल्य वाली प्रतिभूति को खरीदता है वह लाभांश के भुगतान या ब्याज के लेने के अधिकारी नहीं हैं :

स्वत्व-सहित तथा स्वत्व-रहित (Cum Rights and Ex-Rights):— ये शब्द केवल कम्पनी के अंश सम्बन्धी मूल्यों के लिए प्रयोग किये जाते हैं। लाभांश के अतिरिक्त कम्पनी के अंशों पर 'बोनस' (Bonus) भी दिया जाता है। इसके साथ ही पूँजी के वापिसी सम्बन्धी अधिकार और नए निर्गमित अंशों को सुविधाजनक दर से (Concessional Rates) खरीदने के अधिकार भी अंशों पर प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वत्व या अधिकार-सहित (Cum-Rights) से तात्पर्य यह होता है कि अंशों से सम्बन्धित समस्त अधिकार अंश ग्रहण करने वाले को प्राप्त हैं तथा अधिकार-रहित (Ex-Rights) से इसका विपरीत अर्थ होता है कि अंश सम्बन्धी कोई भी अधिकार खरीदने वाले को नहीं है।

लाभांश तथा स्वत्वाधिकार-सहित (Cum-Dividend Cum-Rights) —यह प्रयोग केवल कम्पनियों के अंशों के प्रचलित मूल्य के बारे में ही किया जाता है। इसका अर्थ यह होता है कि कम्पनी के अंश खरीदने वाले व्यक्ति को लाभांश के साथ ही अन्य अधिकारों, जैसे बोनस प्राप्त करने का अधिकार, पूँजी के वापिसी सम्बन्धी अधिकार अथवा नए निर्गमित अंश को सुविधा जनक दर पर खरीदने का अधिकार आदि प्राप्त हो जाते हैं। इसके विपरीत यदि "**लाभांश एवं स्वत्वाधिकार रहित मूल्य** (Ex-dividend Ex-rights) शब्द का प्रयोग किसी अंश के मूल्य के लिए किया गया है तो इसका अर्थ यह है कि इस अंश सम्बन्धी समस्त अधिकार खरीदार को प्राप्त न होकर विक्रेता को ही प्राप्त हैं। इसके अलावा "**सर्वाधिकार युक्त मूल्य**" (Cum-all Price) शब्द का भी प्रयोग किया जाता है, यह शब्द 'लाभांश एवं सर्वाधिकार सहित मूल्य' का ही दूसरा रूप है। इसके साथ ही

"सर्वाधिकार रहित मूल्य" (Ex-all Quotation) शब्द का प्रयोग दूसरे प्रकार के अर्थात् 'लाभांश एवं स्वत्वाधिकार रहित' मूल्य के लिए किया जाता है।

धनोत्पत्ति (Yield) —किसी अंश आदि के खरीदने में विनियोग किए हुए धन से जो प्रतिशत आय होता है उसे धनोत्पत्ति (Yield) कहते हैं। जैसे, यदि १००) रु० के अंकित मूल्य वाला कोई ४ प्रतिशत का ऋण पत्र ८०) रु० में बाजार के अन्दर प्राप्त हो जाता है तो इस खरीद में ५ प्रतिशत की धनोत्पत्ति (Yield) है। यह धनोत्पत्ति दो प्रकार का होता है। पहली अविमोचनीय धनोत्पत्ति (Flat Yield) तथा दूसरी विमोचनीय धनोत्पत्ति (Redemption Yield) कहलाती है। अविमोचनीय धनोत्पत्ति से तात्पर्य यह है कि यह एक ऐसी आय होती है जो केवल विनियोगित धन के ब्याज के रूप में ही प्राप्त होती है, इसका सम्बन्ध अंश के विमोचन द्वारा प्राप्त होने वाले लाभ या हानि से किंचित् मात्र भी नहीं होता। परन्तु विमोचनीय धनोत्पत्ति (Redemption Yield) से तात्पर्य ऐसी आय से होता है जो यद्यपि विनियोगित धन के ब्याज से ही प्राप्त होती है, परन्तु उस ब्याज में अंशों के पुनर्भुगतान सम्बन्धी लाभ या हानि का समावेश अथवा अभाव रहता है। उदाहरण के लिए, जैसे यदि हम १००) रु० के अंकित मूल्य वाला कोई ५ प्रतिशत का ऋण पत्र ६०) रु० में खरीद लेते हैं और वह १० वर्ष में इसी दर पर विमोचित (Redeemed) होना है तो इस विनियोग में अविमोचनीय धनोत्पत्ति तो ५ रु० ८ आ० १० पा० प्रति सैकड़ा होगी तथा विमोचनीय धनोत्पत्ति (Redemption Yield) ५ रु० ८ आ० १० पा० + उतना धन होगी जितने पर यदि ५ प्रति सैकड़ा वार्षिक दर से ब्याज दी जाये तो १० साल में १०) रु० हो जायँ।

किसी कम्पनी के न्यायपूर्ण अंशों (Equity Shares) पर धनोत्पत्ति (Yield) की गणना करते समय तत्कालीन बाजार का मूल्य तथा सम्भाव्य वार्षिक लाभांश की दर का विचार करना पड़ता है। तत्कालीन बाजार-मूल्य में उस समय घोषित किसी लाभांश (Dividend) को सम्मिलित नहीं किया जाता, परन्तु कम्पनी की भावी सफलता के लिए यदि आवश्यक हो तो सम्भाव्य वार्षिक मूल्य (Expected Yearly Income) को प्रायः गतवर्ष के बढ़े हुये या घटे हुए वास्तविक लाभांश पर ही आधारित रखना आवश्यक होता है। धनोत्पत्ति (Yield) की गणना सम्बन्धी वास्तविक पद्धति को समझने के लिए नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं —

(१) एक कम्पनी अपने १००) रु० वाले पूर्ण प्रदत्त अंश पर जिनका कि मूल्य १६५) रु० लाभांश-रहित है यदि आयकर रहित १०) रु० प्रति अंश की दर से सन् १९४५ में लाभांश का भुगतान करता है, तो गणना करने पर इन अंशों के द्वारा आयकर (Income Tax) रहित ६.०६ प्रतिशत धनोत्पत्ति प्राप्त होगी। इसका अर्थ यह है कि जो विनियोक्ता इस कम्पनी का एक अंश खरीदता है उसे १६५ रु०

देने पड़ेगे और यदि गतवर्ष भी लाभाश की दर १० रु० ही रही है तो इसे इस वष भी १० रु० लाभाश प्राप्त होगा। परन्तु कम्पनी की भावी स्थिति पर विचार करने के उपरा त यदि वर्तमान वर्ष के लिए लाभाश की दर १२) रु० प्रति अश घोषित करदी जाती है तो धनो पत्ति (Yield) लगभग ७ ३ प्रतिशत आयकर रहित होगी।

(२) एक कम्पनी अपने १० रु० वाले पूर्ण-प्रदत्त (Fully paid) अशों पर—जिनका कि मूल्य ६०) रु० लाभाश सहित है—यदि १९४५ में आयकर रहित २०% लाभाश का भुगतान करती है, तो लाभाश सहित (Cum dividend) मूल्य में से २) रु० मिले हुए लाभाश (Accrued Dividend) को घटा देने पर लाभाश रहित प्रति अश का मूल्य ५८) रु० होगा तथा उस पर आयकर रहित धनोत्पत्ति (Yield) ३ ४५% होगी।

(३) कोई कम्पनी अपने ५०) रु० वाले पूर्ण प्रदत्त अशों पर—जिनकी कीमत ३१२ रु० ८ आ० लाभाश युक्त है–८ प्रतिशत आ तरिक लाभाश (Interim Dividend) तथा २८ प्रतिशत अन्तिम लाभाश (Final Dividend) का भुगतान करती है। यहाँ पर मूल्य में जो लाभाश सम्मिलित है वही अतिम लाभाश है और उसकी दर १४) रु० प्रति अश है। यदि गणना करने पर लाभाश रहित मूल्य (Ex-dividend Price) २९८ रु० ८ आ० आता है। तथा सभाव्य वार्षिक लाभाश (Expected Annual Dividend) गत वष के आधार पर १८) रु० प्रति अश निकलता है, तो धनोत्पत्ति (Yield) लगभग ६ प्रतिशत होगी।

(४) कोई कम्पनी अपने १५) रु० वाले पूर्ण प्रदत्त अशों पर जिनका मूल्य लाभाश रहित २१५) रु० है—२२½ प्रतिशत आन्तरिक लाभाश तथा २२½ प्रतिशत अन्तिम लाभाश का भुगतान करती है। ऐसी दशा में इन अशों द्वारा ५.२६ प्रतिशत धनोत्पत्ति (Yield) होगी।

कभी-कभी कम्पनी के अशों की बाजारू कीमत में घोषित लाभाश का ही समावेश नहीं होता, वरन् उन अशों के अन्य स्वत्वों का मूल्य भी सम्मिलित रहता है। ऐसे मूल्य को लाभाश एव स्वत्वाधिकारों सहित मूल्य (Cum dividend Cum rights price) कहते हैं। स्वत्वाधिकारों में या तो उन अशों को सुविधाजनक दर पर नवीन ढग से निर्गमित करने का अधिकार होता है अथवा बोनस युक्त अशों को नि शुल्क (free) निर्गमित करने का अधिकार रहता है। ऐसे लाभांश एवं स्वत्वाधिकारों सहित मूल्य वाले अशों पर प्राप्त होने वाली धनोत्पत्ति (Yield) की गणना करने के लिए पहले लाभाश तथा स्वत्वाधिकारों का जो मूल्य इस मूल्य में सम्मिलिति रहता है उसे पता चलाना चाहिए और फिर अश की लाभाश एव स्वत्वाधिकार रहित कीमत (Ex dividend Ex-rights price) की गणना अलग करनी चाहिए। यह सब किस प्रकार किया जाता है यह नीचे के उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा।

एक कम्पनी की १००) रु० के अशों में निर्गमित एवं पूर्ण प्रदत्त (Fully-paid) अश पूँजी १० लाख रुपया है। वह अपनी पूँजी में १००) रु० वाले नये अंशों का निर्गमन करके ५०००) रु० और बढ़ा लेती है। इन नवीन अशों को वह इस प्रकार निर्गमित करती है कि प्रत्येक उपस्थित अशधारी को अपने पुराने दो अशों पर एक नया अश २०५) रु० के अनुपात मे मिलता है। गत वर्ष कम्पनी ने अपने अशों पर १५) रु० प्रति अश की दर से लाभाश भी घोषित किया था। अब यदि लाभाश की घोषणा तथा स्वत्वाधिकारों की सूचना प्रसारित होने के उपरान्त इन अंशों का बाजार मूल्य लाभाश तथा स्वत्वाधिकार युक्त २६५) रु० हो जाता है तो धनोत्पत्ति (yield) की गणना निम्न रीति से की जावेगी —

	रु० आ० पा०
मान लिया कि लाभाश एव स्वत्वाधिकार सहित मूल्य	=२६५–०–०
और लाभाश की राशि	= १५–०–०
अत घटाने पर लाभाश-रहित एव स्वत्वाधिकार सहित मूल्य	=२५०–०–०
इस प्रकार लाभाश रहित (Ex dividend) तथा स्वत्वाधिकार युक्त सुविधाजनक दर पर एक नवीन अश प्राप्त करने के लिए दो अशों का मूल्य	=५००–०–०
इसमे नये अश के लिए कम्पनी को दी जाने वाली राशि को और जोड़ दिया	=२०५–०–०
अत लाभाश एव स्वत्वाधिकार रहित तीन अशों का मूल्य	=७०५–०–०
अथवा, लाभाश एव स्वत्वाधिकार रहित एक अश का मूल्य	=२३५–०–०

दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि प्रत्येक अश का स्वत्वाधिकार सम्बन्धी मूल्य १५) रु० है। इस प्रकार २३५) रु० की पूँजी पर १५) रु० लाभाश मिल सकते हैं तथा धनोत्पत्ति (Yield) ६ ४% होगी।

यदि उपर्युक्त उदाहरण के आधार पर वह कम्पनी सुविधाजनक दर (Concessional rates) से नवीन अशों का निर्गमन नहीं करती, परन्तु वह प्रति चार अशों पर एक नि शुल्क (Free) बोनस अश निर्गमित करती है, तो धनोत्पत्ति (Yield) की गणना इस प्रकार होगी:—

एक नि:शुल्क बोनस-अश प्राप्त करने के लिए लाभाश रहित एव स्वत्वाधिकारों सहित (Ex-dividend Cum rights) चार अशों का मूल्य १०००) रु० होता है। इसका अर्थ यह है कि १०००) रु० विनियोग करने पर एक अशधारी एक नि:शुल्क बोनस-अश प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। दूसरे शब्दों में इस

प्रकार भी कह सकते है कि लाभाश एव स्वत्वाधिकारों रहित (Ex dividend ex-rights) पाँच अशों का मूल्य १०००) रु० होता है या लाभाश एव स्वत्वाधिकारों-रहित एक अश का मूल्य २००) रु० होता है जिस पर कि १५) रु० लाभाश प्राप्त हो सकता है। अत गणना करने पर धनोत्पत्ति (Yield) ७·५ प्रतिशत होगी।

दूसरा उदाहरण लीजिये। एक कम्पनी ने १० रु० के पूर्ण प्रदत्त साधारण-अश (Fully paid ordinary shares) का निर्गमन करके अपनी अश पूँजी का सग्रह किया है। यह कम्पनी प्रति छ माह में अपना हिसाब जोड़ता है और छ माह के उपरान्त वह गत छ माहों के लिए ४) रु० प्रति अश की दर से आयकर रहित लाभाश की घोषणा कर देती है। इसके अतिरिक्त वह अशधारियों द्वारा लिए हुए प्रति पाँच अशों पर नि शुल्क १०) रु० का पूर्ण प्रदत्त अधिमान अश बोनस के रूप में देने की घोषणा भी कर देती है। इन दोनों घोषणाओं के उपरान्त साधारण अशों का बाजार में यदि लाभाश एव स्वत्वाधिकारों युक्त ६२॥) रु० मूल्य हो जाता है, और यह भी निश्चित है कि यदि बोनस के रूप में घोषित किए हुए अधिमान अश का मूल्य बाजार में १५) रु० प्रति अश हो जाता है, तो धनोत्पत्ति (Yield) की गणना निम्न रीति से होगी —

	रु० आ० पा०
एक लाभाश एव स्वत्वाधिकारों सहित साधारण अश का मूल्य	= ६२-८-०
लाभाश की राशि	= ४-०-०
अत घटाने पर लाभाश-रहित एव स्वत्वाधिकारा सहित (x d. c r) एक साधारण अश का मूल्य	= ८८-८-०

अब प्रति पाँच साधारण अशों पर एक अधिमान अश बोनस के रूप में नि शुल्क मिलता है और इस बोनस अश का सभाव्य मूल्य (Expected price) १५) है। अत प्रत्येक अश से सम्बन्धित स्वत्वाधिकार का मूल्य ३) होगा तथा लाभाश एवं स्वत्वाधिकारा-रहित एक साधारण अश का मूल्य ८८॥) रु०—३) = ८५॥) होगा, जिस पर ४) छ माहा लाभाश या ८) वार्षिक लाभाश मिल सकता है। इस प्रकार धनोत्पत्ति (Yield) फिर ६ ४ प्रतिशत होगी।

अशों का विभाजित मूल्य (Break-up Value of shares) :— कभी-कभी अशों के विभाजित मूल्य की गणना करना भी आवश्यक होता है। विशेषकर ऐसे समय मे तो इस मूल्य का पता लगाना अनिवार्य माना जाता है जब कम्पनी की अधिकृत पूँजी से कहीं अधिक उसके अशों की दर बाजार में हो जाती है। अशों के विभाजित मूल्य का तात्पर्य यह है कि निर्गमित अशों की राशि म शुद्ध सम्पत्ति (Net assets) का भाग देन पर जो राशि आती है, वही अशों के विभाजित मूल्य की राशि होती है। शुद्ध सम्पत्ति से तात्पर्य यह है कि समस्त सम्पत्ति में से दायित्व

वाली राशि (Liabilities) को घटाने पर जो शेष रहता है वह शुद्ध सम्पत्ति कहलाती है। इस प्रकार एक कम्पनी के अंशों का विभाजित मूल्य (Break up Value) निम्न रीति से निकाला जाता है —

१—स्थिति विवरण के मूल्यों में सभाव्य हानि या लाभ के लिए व्यवस्था करने के उपरान्त सर्वप्रथम समस्त सम्पत्ति (Total assets) में से दायित्व राशि (Liabilities) घटाकर शुद्ध सम्पत्ति (Net assets) की राशि निकालना चाहिए।

२—यदि सभी अश एक वर्ग के हैं, तो शुद्ध सम्पत्ति में निर्गमित अशों की सख्या का भाग देना चाहिए। भाग देन पर जो कुछ भजनफल आयेगा वही प्रत्येक अश का विभाजित मूल्य होगा।

३—यदि अशों में कुछ साधारण तथा कुछ अधिमान Preference) अश होते हैं, तो अधिमान अशों के लाभाश अथवा पूँजी के पुनर्भुगतान सम्बन्धी अधिकारों का पता चलाना चाहिए। कम्पनी की परिसमाप्ति (Winding up) के समय अधिमान अशों का पुनर्भुगतान (Repayment) सर्वप्रथम किया जाता है अत उनका मूल्य तो उतना ही रहता है, परन्तु अन्य निर्गमित साधारण अशों में केवल अधिमान अशों के भुगतान के उपरान्त बची हुई शुद्ध सम्पत्ति को विभाजित किया जाता है। अत शुद्ध सम्पत्ति में से प्रत्येक साधारण अश का जितनी राशि मिलती है वही प्रत्यक अश की विभाजित मूल्य-राशि होती है। परन्तु जब अधिमान अशों को सर्वप्रथम भुगतान प्राप्त करने का अधिकार नहीं होता तो कम्पनी की परिसमाप्ति के समय उनको भी साधारण अशों के ही समान समझा जाता है तथा कम्पनी की समस्त सम्पत्ति दोनों प्रकार के अशधारिया की सम्मिलित सम्पत्ति मानी जाती है। ऐसी दशा में उस सम्पत्ति का विभाजन दोनों प्रकार के अशों में उनकी प्रदत्त-पूँजी (Paid up Capital) की राशि के अनुसार किया जाता है। इस प्रकार अधिमान अशधारियों को निर्गमित अधिमान अशों के अनुपात में उस शुद्ध पूँजी में स भाग मिलेगा तथा साधारण अशधारिया को अपने साधारण अशों के अनुपात में उस सम्पत्ति का भाग मिलेगा। इस विभाजन के आधार पर ही साधारण तथा अधिमान दोना प्रकार के अशों का विभाजित मूल्य (Break up Value) पता चल जायेगा।

इस सिद्धान्त को उदाहरण के द्वारा और स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए। मानलो ३१ दिसम्बर १९४५ को एक कम्पनी का स्थिति-विवरण (Balance Sheet) निम्न प्रकार है —

	रु०		रु०
१०० रु० प्रति अश के हिसाब से ६ प्रतिशत वाले २००० अधिमान अशों की राशि	२,००,०००	कुल सम्पत्ति	१४,००,०००

१० रु० प्रति अंश के हिसाब से ४०,००० साधारण अंशों की राशि	४,००,०००	
सञ्चित राशि (Reserves)	४,००,०००	
दायित्व की राशि (Liabilities)	३,०० ०००	
लाभ हानि के लेखे की राशि	१ ००,०००	
	१४,००,०००	१४,००,०००

इसी कम्पनी की शुद्ध सम्पत्ति ११,००,००० रु० है। यदि कम्पनी की परिसमाप्ति के समय अधिमान अंशों का पुनर्भुगतान सर्वप्रथम किया जाता है तो प्रत्येक अधिमान अंश १०० रु० वाला होने के कारण २००००० रु० अधिमान अंशों में देना पड़ेगा तथा ६००००० रु० केवल साधारण अंशों के लिए शेष बचेगा। अब प्रत्येक साधारण अंश का विभाजित मूल्य २२॥) रु० होगा। यदि अधिमान अंश सर्वप्रथम भुगतान होने का अधिकार नहीं रखते तो कम्पनी की परिसमाप्ति (Winding up) के समय दोनों प्रकार के अंशों को एक समान भुगतान प्राप्त करने का अधिकार होगा। अब ११००००० रु० दोनों प्रकार के अंशों में उनके अनुपात के हिसाब से बाँटा जायगा अर्थात् दोनों में १ तथा २ का अनुपात (Ratio) रहेगा। इस प्रकार ऐसी दशा में अधिमान अंशों में ३६६६६६ रु० १० आ० ८ पा० तथा साधारण अंशों में ७३३३३३ रु० ५ आ० ४ पा० बाँटे जायेंगे। अब प्रत्येक अंश के विभाजित मूल्य के लिए यह सुगम रीति है कि उस अंश के अनुपात में आई हुई राशि में अंशों की राशि का भाग दे दिया जाय। इसलिए ३६६६६६ रु० १० आ० ८ पा० ÷ २००० = प्रत्येक अधिमान अंश का विभाजित-मूल्य और ७३३३३३ रु० ५ आ० ४ पा० ÷ ४०००० = प्रत्येक साधारण अंश का विभाजित मूल्य।

इस गणना को करते समय यदि कोई अन्य संयोगिक सम्पत्ति (Contingent assets) स्थिति विवरण में नहीं दिखाई गई है तो उसको भी हिसाब में ले लेना चाहिए। इस संयोगिक सम्पत्ति में युद्धकाल के अन्तर्गत लगाये जाने वाले अतिरिक्त-लाभ-कर (E P T) आदि भी आ जाते हैं यद्यपि इन करों का पुनर्भुगतान युद्ध के उपरान्त हो जाता है, परन्तु स्थिति विवरण में इसके लिये भी व्यवस्था होनी चाहिए।

सह-दलाल (Tout) —सह-दलाल एक प्रकार का ऐसा व्यक्ति होता है जो स्कंध विनिमय के सदस्य व्यापारियों के लिए ग्राहक बना-बना कर लाया करता है। वैसे यदि न्यायोचित दृष्टि से देखा जाय तो यह कार्य स्कंध विनिमय के सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत है, परन्तु फिर भी ऐसे लोग विनिमय-बाजारों में अधिकतर पाये जाते हैं।

प्रवाद (Tip) :—'प्रवाद' से अभिप्राय एक ऐसी सूचना से है जिसके फैलने के कारण स्कध विनिमय के मूल्य पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। जो व्यक्ति ऐसा प्रवाद फैलाता है उस प्रवादी (Tipster) कहते हैं।

सक्षिप्त-विक्रय तथा कोणीयता (Short Selling and Cornering) :—सक्षिप्त-विक्रय (Short Selling) एक प्रकार की ऐसी प्रतिभूति के बेचने की पद्धति है जिसे लोग जब यह देखते हैं कि खरीद के द्वारा विक्रय आच्छादित कर दिया गया है तब मूल्य गिर जाने के भय से अपने पास नहीं रखते। मन्दीवाला (Bear) तथा सक्षिप्त (Short) ये दोनों शब्द एक ही अर्थ रखते हैं। सक्षिप्त विक्रय स्वाभाविक रूप से परिकाल्पनिक ही होता है तथा जब कभी अत्यधिक सक्षिप्त-विक्रय की नौबत आजाती है तो ऐसी दशा कोणीयता (Cornering) को जन्म देती है। कोणीयता की स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जब भुगतान के दिवस पर प्रदान किए जाने वाले अशों की अपेक्षा अधिक अश बेचे जाते हैं तथा जिस समय खरीदार (Buyers) विक्रेताओं (Sellers) को अशों का रुपया देकर उन्हें छुड़ाने के लिए अपने अधिकार में कर लेते हैं। कोणीयता (Cornering) की स्थिति में होता यह है कि कोई एक व्यक्ति या व्यक्तियों का एक समूह किसी कम्पनी के समस्त अशों को अपने अधिकार में कर लेता है तथा सक्षिप्त विक्रेताओं (Short Sellers) से उन्हें बेचने के लिए उसी समय अनुबन्ध (Contract) स्थापित कर देता है। जब अशों के प्रदान (Delivery) का समय आता है तो ये सक्षिप्त विक्रेता उन अशों का प्रदान करने में सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं क्योंकि वे सभी अश किसी एक व्यक्ति या व्यक्ति समूह द्वारा पहले ही खरीद लिए जाते हैं। परिणाम यह होता है कि उस समय इन विक्रेताओं को इस व्यक्ति या व्यक्ति समूह से उन अशों को उनके द्वारा निर्धारित मूल्य पर खरीदना पड़ता है तब जाकर भुगतान के दिवस पर वे लोग अश या प्रतिभूतियों को दे पाते हैं।

वास्तव में यदि देखा जाय तो कोणीयता की पद्धति अशों पर नियन्त्रण करने के उद्देश्य से अपनायी जाना चाहिये, क्योंकि उनके मूल्यों में प्राय उतार चढ़ाव होता रहता है और इस उतार-चढ़ाव की स्थिति से अशों का मूल्य स्थिर करना इसी पद्धति द्वारा सम्भव होता है। परन्तु कोणीयता द्वारा यह कार्य व्यावहारिक रूप में आजकल नहीं होता। आजकल तो लोग इस पद्धति द्वारा अधिक से अधिक वस्तुओं का सग्रह कर लेते हैं और अधिक मूल्य मिलने के समय उन वस्तुओं को निकाला करते हैं, इस तरह इस पद्धति द्वारा स्वार्थ को ही प्रोत्साहन मिलता है। जब कभी सक्षिप्त विक्रय या कोणीयता की स्थिति उत्पन्न होती है उस समय किसी प्रतिभूति का मूल्य पूर्ण रूप से उस व्यक्ति के हाथ में रहता है जोकि उसे पहले खरीद कर अपने अधिकार में रख लेता है। इस प्रकार ऐसे लोग मनमाना मूल्य लेकर प्रतिभूतियों को ऐसे समय में बेचा करते हैं।

हानि रोधक आदेश (Stop Loss Order) :—इस आदेश का प्रयोग व्यापारी लोग हानि से बचने के लिए किया करते हैं। बिक्री को रोकने के लिए जो आदेश व्यापारी लोग दिया करते हैं वह सदैव किसी वस्तु के निश्चित मूल्य पर ही दिया जाता है, यह मूल्य बाजार के मूल्य से सदैव कम होता है। अब इस आदेश के उपरान्त यदि बाजार का मूल्य इस निश्चित मूल्य से भी और गिर जाता है तो समस्त सञ्चित वस्तुयें व्यापारी बेच देते हैं। इसी प्रकार जब किसी वस्तु के खरीदने को रोकने के लिए कोई व्यापारी आदेश देता है तो यह आदेश सदैव वस्तु के निश्चित मूल्य पर ही दिया जाता है जोकि बाजार के मूल्य से अधिक हुआ करता है। यदि बाजार का मूल्य उस निश्चित मूल्य से भी और अधिक बढ़ जाता है तो खरीद बन्द कर दी जाती है तथा खरीदी हुई वस्तुयें स्टॉक में जमा कर दी जाती है। इस प्रकार के आदान-प्रदानों को हानि-युक्त बिक्री-रोधक आदेश (Stop loss sales order) तथा हानि-युक्त खरीद-रोधक आदेश (Stop loss purchase order) भी कहते हैं।

अधि-क्रय बाजार (Over bought Market) :—ऐसे बाजार को कहते हैं जहाँ व्यापारी लोग अपनी सामर्थ्य से भी अधिक वस्तुओं को खरीद लेते हैं। अधि क्रय बाजार को तान्त्रिक दृष्टि से दुर्बल-बाजार (Weak market) कहते हैं। तेजी वाले (Bulls) व्यापारी प्रायः जब यह देखते हैं कि बाजार में माल अधिक बिक रहा है, तो भविष्य में लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से अधिक खरीद किया करते हैं। बाजार में अधिक बेचने वाले प्रायः ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनकी आर्थिक दशा दुर्बल होती है और जो अधिक काल तक माल को जमा नहीं रख पाते। अतः ये तेजी वाले (Bulls) व्यापारी उन लोगों से माल लेकर प्रायः अत्यधिक मात्रा में खरीद किया करते हैं, इसीसे इन लोगों को ही अधि-क्रय-कर्त्ता कहते हैं।

अधि विक्रय बाजार (Oversold Market) —जिस बाजार में वस्तु की प्राप्त होने वाली सख्या की अपेक्षा अधिक मात्रा में विक्रय होता है उसे अधि-विक्रय बाजार कहते हैं। तान्त्रिक दृष्टि से (Technically) यह बाजार दृढ़ बाजार कहलाता है। अधिक-विक्रय प्रायः मन्दी वाला (Bear) व्यापारी अधिक किया करता है, क्योंकि वह सदैव यह अनुमान लगाया करता है कि भविष्य में वस्तुओं का मूल्य अवश्य गिरेगा और भुगतान के पूर्व ही वह मूल्य गिरने से सस्ती दर पर वस्तु खरीदकर दे देगा, जिससे उसे लाभ हो जायेगा।

तांत्रिक स्थिति (Technical Position) :—इस शब्द का प्रयोग बाजार के आन्तरिक ढाँचे के लिए होता है। यदि बाजार में अधि-विक्रय (Oversold) होता है, तो उसका आन्तरिक ढाँचा दृढ़ होता है और यदि वहाँ अधि-क्रय (Over-bought) होता है तो उसका आन्तरिक ढाँचा दुर्बल माना जाता है।

अत्युन्नत बाजार (Top Heavy Market) —वह बाजार जिसमें अधिक क्रय होता है अधिक उन्नत या अत्युन्नत बाजार कहलाता है।

सक्षिप्त लेखा (Short Account) —सक्षिप्त लेखे का अभिप्राय एक ऐसे ग्राहक लेखे से है जोकि दलाल के यहाँ रहता है तथा जिससे यह पता चलता है कि अमुक ग्राहक ने सक्षिप्त रूप में वस्तुयें बेची हैं। इस सक्षिप्त लेखा (Short Account) द्वारा यह भी पता चल जाता है कि बाजार में सक्षिप्त बिक्री का योग (Total of Short Selling) कितना रहा।

विकल्प (Options) —विकल्प व्यवहार (Option Dealings) या तेजीमदी-व्यवहार का सम्बन्ध पूर्णतया सट्टे या परिकाल्पनिक व्यवहार से होता है। इसका उल्लेख इससे पूर्व अध्याय में अच्छी प्रकार किया जा चुका है।

स्कध विनिमय के व्यापार की पद्धति
(Transaction of Business)

किसी भी स्कध विनिमय में बिना दलाल (Broker) के व्यापार नहीं होता और यह दलाल इस स्कध विनिमय का एक सदस्य होता है। अत जो व्यक्ति अपनी प्रतिभूतियों का व्यापार यहाँ करना चाहता है उसे स्वाभाविकतया दलाल के सम्पर्क में आना पड़ता है। स्कध-विनिमय का प्रत्येक दलाल अपना नया ग्राहक बनाने से पूर्व उस ग्राहक का व्यक्तिगत परिचय अथवा बैंक आदि के सम्बन्ध के बारे में जानकारी प्राप्त करता है। ऐसा करने से उस अपने भावी ग्राहक की आर्थिक स्थिति के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और आगे चलकर व्यापार-सम्बन्धी व्यवहारों में अड़चन उपस्थित नहीं होती। स्कध-विनिमय बाजार में प्राय दो प्रकार का व्यापार होता है, जिसमें से प्रथम को तत्काल प्रदान व्यापार (Ready Delivery Business) तथा दूसरे को अग्रिम प्रदान व्यापार (Forward Delivery Business) कहते हैं।

तत्काल प्रदान व्यापार (Ready Delivery Business) —तत्काल व्यापार के अन्तर्गत किसी भी क्रीत या विक्रीत प्रतिभूति का आदान प्रदान एव तत्सम्बन्धी रोकड़ का भुगतान उसी समय या कुछ अवधि मे ही पूर्ण हो जाता है। उदाहरण के लिए, बम्बई स्कध विनिमय का नियम ३२१ नीचे उद्धृत किया जाता है, जिसमें लिखा है कि —

"तत्काल व्यापार सम्बन्धी प्रत्येक सौदे का भुगतान या प्रदान सौदा होने के उपरान्त दूसरे दिन के सायकाल ३ बजे तक कर दिया जावेगा। यदि उस दिन शनिवार पड़ जाता है तो यह कार्य आगामी कार्य दिवस को अर्थात् सोमवार को पूर्ण होगा। परन्तु इसके लिए शर्त यह है कि क्रय विक्रय करने वाले दोनों व्यापारियों को इस सम्बन्ध में पहले ही निश्चित कर लेना चाहिए। इसके अलावा तत्काल-व्यापार सम्बन्धी किसी भी सौदे का भुगतान या प्रदान ७ दिन तक नहीं होता तो उस दिन

तक वह व्यर्थ (Invalid) नहीं माना जायेगा।" इस प्रकार धन सम्बन्धी भुगतान बम्बई स्कंध विनिमय में ७ दिन तक हो सकता है। कलकत्ता स्कंध-विनिमय में खरीदार को भुगतान के लिए तीसरे दिन ही प्रबन्ध करना पड़ता है, परन्तु मद्रास में बम्बई की भाँति ही भुगतान होता है। अत वहाँ भी प्रदान एवं भुगतान के लिए ७ दिवस मिलते हैं।

जिन दलालों के द्वारा तत्काल-व्यापार किया जाता है उनको इस व्यापार के विषय में कुछ साधारण कार्यवाहियाँ और करनी पड़ती हैं, जैसे—अंशों के क्रय विक्रय के लिए हस्तान्तरण सलेख (Transfer Deed) तैयार करना पड़ता है तथा कम्पनी की पुस्तक में इसका रजिस्ट्रेशन कराने का प्रबन्ध करना पड़ता है।

अग्रिम प्रदान-व्यापार (Forward Delivery Business) —अग्रिम-प्रदान व्यापार को लेखा सम्बन्धी व्यवहार (Dealings for the Account) भी कहते हैं। इस व्यापार में प्रतिभूतियों का आदान प्रदान एवं उनका भुगतान उसी क्षण न होते हुए भविष्य में किसी निश्चित की हुई तिथि को होता है। ऐसे व्यापार को अवधि युक्त सौदा (Time Bargains) भी कहते हैं क्योंकि इनके भुगतान में कुछ न कुछ अवधि समाप्त होना आवश्यम्भावी है और इस बीच में प्रतिभूतियों में भी पर्याप्त उतार चढ़ाव हो जाता है जो कभी तो परिकल्पक या सट्टे वाले के अनुकूल पड़ता है और कभी प्रतिकूल पड़ने के कारण उसे पर्याप्त हानि उठानी पड़ती है। एक अग्रिम व्यापार का भुगतान या प्रदान अनुबंध की तिथि के उपरान्त किसी भी समय हो सकता है क्योंकि परिकल्पक (Speculator) यदि यह देखता है कि भुगतान करने में वस्तु के मूल्य द्वारा उसे लाभ हो रहा है तो वह निश्चित अवधि से पूर्व ही उसका प्रदान एवं भुगतान कर देता है। अग्रिम-व्यापार का अधिकांश भाग परिकाल्पनिक (Speculative) ही होता है। प्राय परिकल्पकों में से अधिकांश ऐसे होते हैं जो बिना किसी वस्तु को खरीदे या बेचे हुए ही उसका सौदा किया करते हैं और उनके मूल्य से ही लाभ या हानि का भुगतान किया करते हैं। ये लोग पहले ही यह अनुमान लगा लेते हैं कि जिस वस्तु का हम अग्रिम व्यापार कर रहे हैं उस वस्तु का मूल्य आगे चलकर गिर जायेगा, अत भुगतान के समय गिरे हुए मूल्य पर वस्तु खरीदकर उसका भुगतान कर देंगे, इसके मूल्य के अन्तर द्वारा लाभ हो जायगा।

अग्रिम व्यापार सम्बन्धी अनुबन्धों का भुगतान (Settlement of Forward Delivery Contracts) —अग्रिम व्यापारों का भुगतान एक निश्चित अवधि पर अर्थात् महीने में एक बार किया जाता है। अग्रिम व्यापार इस दृष्टि से नहीं किये जाते कि आगे चलकर वस्तु का प्रदान एवं मूल्य का भुगतान किया जायेगा, परन्तु भुगतान के दिन केवल मूल्यों के अन्तर द्वारा लाभ प्राप्त करने के विचार से किये जाते हैं। वैसे वैधानिक दृष्टि से तो प्रत्येक अग्रिम व्यापार के भुगतान दिवस पर अंशों

का आदान-प्रदान भी होना चाहिए, परन्तु व्यावहारिक रूप में ऐसा नहीं होता, वहाँ तो केवल उन अंशों के मूल्यों का अन्तर ही लिया अथवा दिया जाता है। अग्रिम-व्यापार का भुगतान सदैव स्कंध-विनिमयों के समाशोधन-गृहों (Clearing house) द्वारा होता है। भुगतान दिवस पर क्रीत या विक्रीत प्रतिभूतियों का या तो मूल्य चुकाया जाता है अथवा केवल उनका अन्तर ही दिया जाता है।

अन्तर्क्रय एवं वहिर्विक्रय (Buying-in and Selling-out) :— तत्काल-व्यापार सम्बन्धी अनुबंध होने पर यदि कोई विक्रेता प्रतिभूतियाँ देने में असमर्थ रहता है तो उसके नाम पर प्रतिभूतियों का अन्तर्क्रय (Buying-in) किया जाता है; उसी तरह यदि कोई खरीदार उस समय प्रतिभूतियां के लेने से इन्कार कर देता है तो उसकी ओर से उन प्रतिभूतियों का वहिर्विक्रय किया जाता है। जैसा इस तत्काल व्यापार में होता है वैसा ही अग्रिम-व्यापार में भी किया जाता है। जैसे यदि कोई सदस्य अग्रिम-व्यापार सम्बन्धी रुपया निश्चित अवधि तक नहीं चुकाता तो उसकी प्रतिभूतियों का वहिर्विक्रय (Selling out) कर दिया जाता है तथा यदि विक्रेता किसी प्रकार दोषी सिद्ध होता है तो खरीदार उन प्रतिभूतियों को अन्तर्क्रय कर सकता है। परन्तु यदि प्रतिभूतियों का अन्तर्क्रय (Buying in) सम्भव नहीं होता, तो फिर इसका निर्णय पंचायत द्वारा होता है।

व्यवहारों का परिवर्तन (Reversing of Transaction) — साधारणत अग्रिम व्यापार सम्बन्धी समस्त सौदे मूल्य के उतार चढ़ाव से लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से ही किये जाते हैं। इसीलिए भुगतान दिवस पर केवल मूल्यों के अन्तर का ही आदान प्रदान होता है। यह अन्तर सदैव उस मूल्य पर आधारित रहता है जो भुगतान-दिवस के समय बाजार में प्रचलित होता है।

आगे लाना या वदला करना (Carry over or Budla) :—इस अग्रेनयन या बदले से अभिप्राय यह है कि भुगतान के दिवस पर यदि कोई सदस्य अपने सौदे की पूर्ति में असमर्थ होता है तो इसके द्वारा वह भुगतान की अवधि को और बढ़ा देता है। इस अवधि को बढ़ाने के लिए उसे कुछ स्थगन शुल्क भी देना पड़ता है। इस प्रकार बदले के द्वारा किसी व्यवहार को पूर्ति के न होने पर भी उसको चालू रखा जाता है। अग्रेनयन (Carry over) का प्रयोग उसी समय किया जाता है जब कोई व्यापारी दूसरे की आशा के अनुकूल कार्य नहीं करता। बदला या अग्रेनयन सदैव दो नवीन सौदों के माध्यम से होता है। उदाहरण के लिए, जैसे यदि कोई तेजी वाला (Bull) प्रतिभूतियों का अग्रिम व्यापार करता है। अब यदि भुगतान के समय उसके पास भुगतान करने के लिए धन नहीं है तो वह विक्रेता से अग्रेनयन (Carry over) के लिए प्रबन्ध करेगा। यदि विक्रेता उसकी बात स्वीकार कर लेता है तो वह तेजी वाला उस विक्रेता को उस राशि का निश्चित दर से ब्याज

दे देगा। यदि वह विक्रेता इस बात को स्वीकार नहीं करता तो तेजी वाले को किसी बदली वाले व्यापारी के पास जाकर अपनी खरीदी हुई प्रतिभूतियों की जमानत पर ऋण लेकर फिर उसका भुगतान करना पड़ेगा। इस तरह एक तेजी वाला अपने व्यापार का अग्रेनयन (Carry-over) वर्त्तमान भुगतान के लिए वस्तुओं का विक्रय करके तथा आगामी भुगतान के लिए उनका पुनर्क्रय (Repurchase) करके किया करता है और एक मदी वाला (Bear) अपने व्यापार का बदला वर्त्तमान भुगतान के लिए वस्तुयें खरीदकर तथा आगामी भुगतान के लिए उन्हें फिर बेचकर किया करता है। अत बदला या अग्रेनयन का परिणाम यह होता है कि भुगतान-दिवस पर अनुबध की पूर्ति हो जाती है तथा आगामी भुगतान के लिए फिर नये सिरे से अनुबध स्थापित हो जाता है।

इस प्रकार तेजी वाला जब किसी प्रकार का अग्रिम क्रय सम्बन्धी अनुबंध कर लेता है और भुगतान के समय वह धन न होने के कारण प्रतिभूतियों को नहीं खरीदता तो उसे किसी बदली वाले के पास ऋण के लिए जाना पड़ता है। इस बदला व्यवहार को करने वाले अनेक व्यक्ति स्कध-विनिमयों में रहते हैं जो साख की सुविधायें देकर अग्रेनयन या बदले (Carry over or Budla) के लिए सुविधा प्रदान करते हैं। ये लोग इन तेजी वालों को उनकी खरीदी हुई प्रतिभूतियों पर ऋण देते तथा उसके लिए पर्याप्त ऊँची दर पर ब्याज वसूल किया करते हैं।

इसके विपरीत, यदि कोई तेजीवाला व्यापारी अग्रिम विक्रय का अनुबध किसी व्यापारी से करता है और भुगतान के समय प्रतिभूतियों को नहीं खरीदता तो विक्रेता उस व्यापारी को प्रतिभूतिया के खरीदने के लिए दबाव न डालकर केवल उनका ब्याज वसूल करेगा। इस व्यवहार का अर्थ यह होता है जैसे मानो उस तेजी वाले ने उस विक्रेता से रुपया उधार लिया है और भुगतान दिवस पर न चुकाने के कारण ब्याज देना पड़ा है। जो रुपया यह खरीदार उस विक्रेता को देता है उसी को स्थगन-शुल्क (Contango Charges) कहते हैं।

इसी तरह यदि भुगतान दिवस पर किसी मदीवाले व्यापारी के पास देने के लिए कोई भी प्रतिभूति नहीं होती तो वह उन्हें अपने खरीदार को देने के लिए अन्य स्थान से उधार लेता है। यदि यह मदीवाला कुछ राशि उस तेजीवाले को दे देता है तो फिर उसे प्रतिभूतियों के उधार लेने की आवश्यक्ता नहीं होती। जो धन-राशि इस प्रकार तेजीवाले को दी जाती है वह बदला शुल्क या पृष्ठेनयन (Budla-charge or backwardation) कहलाती है।

एक उदाहरण योग्य व्यवहार (An illustrative transaction) — धन का विनियोग करना वहीं सार्थक एव लाभप्रद होता है जहाँ वह सुरक्षित ढग से एव पर्याप्त लाभकारी कार्यों में लगाया जाता है। ब्याज के लोभ में पड़कर अरक्षित

स्थान पर धन का विनियोग करना अपनी पूँजी से हाथ धो बैठना है। जो व्यक्ति अपने धन का विनियोग स्कंध-विनिमयों में करना चाहता है उसे सर्वप्रथम यह सोचना चाहिए कि क्या वह खाना चाहता है अथवा सोना चाहता है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि क्या वह परिकल्पना या सट्टे के चक्कर में पड़ना चाहता है अथवा सुव्यवस्थित कार्यों में धन लगा कर निश्चित जीवन व्यतीत करना चाहता है। स्कंध विनिमय-बाजार में किसी भी अंश के बारे में दृढ़तापूर्वक यह तो कहा जा सकता है कि अमुक अंश खरीदने योग्य है, परन्तु यह कहना तनिक कठिन है कि उसके खरीदने का कौनसा उपयुक्त समय है। इस विषय में सदैव ऐसे अनुभवी व्यक्तियों से सलाह लेनी चाहिए, जोकि व्यापक ज्ञान एवं निर्णायक बुद्धि वाले होते हैं। बात यह है कि साधारण विनियोक्ता तो भेड़ के समान होता है। जहाँ दस पाँच आदमी अपना धन विनियोग करते हुए दिखाई देते हैं उन्हीं अंशों में वह भी अपना धन लगा देता है, परन्तु जब हानि होती दिखाई देती है तब उसकी आँखें खुलती हैं और उस समय उसे यह ज्ञान होता है कि धन विनियोग करते समय जो प्रकाश का प्रलोभन दिया जाता था वह सर्वथा अंधकार ही था तथा उसी चकाचौंध में आज पूँजी से हाथ धोना पड़ा है।

कल्पना करो कि आगरे के श्री शम्भूनाथ के पास ५०००) रु० हैं और वे उन रुपयों का विनियोग किसी स्कंध-विनिमय की प्रतिभूतियों में करना चाहते हैं। इसी समय धन-विनियोग के कार्य में अत्यन्त अनुभवी किसी दलाल या किसी बैंक ने उन्हें यह सलाह दी कि वैस्टर्न इण्डिया मैच क० लि० के १००) रु० वाले पूर्ण-प्रदत्त १० अंशों को खरीद लो। उन अंशों का बाजार में मूल्य इस समय ४२०) रु० प्रति अंश है तथा इनका आदान-प्रदान बम्बई-स्कंध विनिमय में होता है। अत ये महाशय उन अंशों के खरीदने के लिए समुचित कार्यवाही प्रारम्भ कर देते हैं। इस कार्यवाही के लिए उन्हें निम्नलिखित पद्धति को अपनाना पड़ेगा —

(१) पहले वे अंश खरीदने के लिए या तो अपने आगरे की बैंक को ही लिखेंगे या वे चाहें तो बम्बई के किसी दलाल के स्थानीय एजेण्ट को अपनी ओर से अंश खरीदने के लिए लिख सकते हैं या ऐसे दलाल को सीधे अपनी ओर से अंश खरीदने के लिए लिख सकते हैं जोकि बम्बई स्कंध विनिमय का एक सदस्य है। उपर्युक्त पद्धतियों में से सर्वप्रथम बैंक वाली पद्धति में अधिक खर्च पड़ता है, क्योंकि ऐसी दशा में उसे अंशों की दलाली के अतिरिक्त बैंक का कमीशन और देना पड़ेगा। बैंकें स्कंध विनिमयों से अपना सीधा सम्बन्ध नहीं रखतीं, इन्हें भी व्यापार करने के लिए अथवा अंश खरीदने के लिए विनिमयों के दलाल-सदस्यों का आश्रय लेना पड़ता है। दूसरी पद्धति में अर्थात् बम्बई के किसी दलाल के स्थानीय अभिकर्ता (Local Agent) द्वारा अंश खरीदने में अधिक जोखिम रहती है, क्योंकि वह स्थानीय एजेण्ट विश्वासपात्र न होने के कारण

श्री शम्भूनाथ को धोखा भी दे सकता है। अतः अन्तिम पद्धति अर्थात् किसी सदस्य-दलाल द्वारा अंश खरीदना श्रेष्ठ है, परन्तु यहाँ पर भी किसी अच्छे योग्य दलाल का चुनना अनिवार्य है।

स्कंध विनिमयों के आधुनिक नियमों के अनुसार कोई भी धनी व्यक्ति किसी स्कंध विनिमय का सदस्य पत्र या कोई अंश खरीदकर उसका सदस्य बन सकता है। इसके लिए कार्य सीखने की अवधि आदि का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता और न स्कंध-विनिमय के अधिकारी उसकी किसी प्रकार की कम से कम किसी योग्यता का होना भी अनिवार्य मानते हैं। जैसे स्कंध विनिमय का व्यापार अत्यन्त तान्त्रिक (Technical) होता है। यदि कोई व्यक्ति बिना योग्यता, अनुभव अथवा शिक्षा के इस व्यापार को करने लग जाता है तो उसका हानि उठाना अवश्यम्भावी है। यद्यपि सभी स्कंध-विनिमय इस बात को दृढ़ता के साथ प्रकट करते हैं कि हमारे यहाँ सभी दलाल ईमानदार, योग्य, चतुर एवं अनुभवी हैं, परन्तु फिर भी वहाँ कितने ही दलाल ऐसे होते हैं जिनके द्वारा एक साधारण विनियोक्ता को कभी लाभ नहीं होता। अतः मान लिया कि श्री शम्भूनाथजी ने मैसर्स ईमानदार एण्ड क० को अपनी ओर से दलाल बना लिया। यह फर्म बम्बई में अत्यन्त ईमानदार मानी जाती है तथा बम्बई स्कंध विनिमय की एक सदस्य भी है।

(२) अब श्री शम्भूनाथ वेस्टर्न इण्डिया मैच क० लि० के १० अंश या तो बाजार के मूल्य पर अर्थात् ४२०) रु० पर या जितने में सुगमता से मिल सकें उतने पर लेने के लिए मैसर्स ईमानदार एण्ड कं० को लिखित आदेश भेजेंगे। यदि इन्होंने अंशों के मूल्य के लिए अनुमान लगाकर बैंक चिट्ठी या बैंक ड्राफ्ट (Bank draft) भेज दिया है तो वह दलाल तुरन्त इनके आदेश को अपनी पुस्तक में लिख लेगा। परन्तु यदि श्री शम्भूनाथ अंशों की खरीद के उपरान्त रुपया भेजना चाहते हैं और इससे पहले मैसर्स ईमानदार एण्ड क० के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं आया है तो वह दलाल इनसे बैंक का परिचय प्राप्त करके फिर इनके आदेश को स्वीकार करेगा। मानलो कि श्री शम्भूनाथ आदेश के साथ ४५००) रु० का एक बैंक-ड्राफ्ट भी भेज देते हैं।

(३) इस आदेश को प्राप्त करने के उपरान्त अब वह दलाल अंश खरीदना प्रारम्भ करेगा। सबसे पहले वह अपनी पुस्तक में यह देखेगा कि क्या कोई व्यक्ति उस मैच क० के अंशों को उसी के द्वारा बेचना चाहता है और उसने क्या किसी प्रकार का मूल्य भी निर्देश किया है अथवा दलाल की इच्छा पर ही छोड़ दिया है। यदि कोई ऐसा व्यक्ति निकल आता है तो वह अपने कार्यालय में ही बैठा हुआ स्कंध-विनिमय में बिना दौड़-धूप किए हुए ही दोनों ग्राहकों को सूचना दे देगा। इस प्रकार के व्यवहार को पारस्परिक व्यवहार (Cross Transaction) कहते हैं। यदि उसको

पुस्तक में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो उस कम्पनी के अंश बेच रहा हो तो वह अपने किसी अधिकृत लिपिक (Authorised Clerk) को स्कंध-विनिमय-बाजार में अंश खरीदने के लिए भेजेगा। मानलो उस क्लर्क का नाम श्री दलाल है। स्कंध-विनिमय-बाजार में अब तक कोई व्यक्ति उसका सदस्य नहीं होता अथवा उसके सदस्य का अधिकृत क्लर्क आदि नहीं होता तब तक वहाँ जाना संभव नहीं। किसी भी अन्य व्यक्ति को वहाँ नहीं आने देते। स्कंध-विनिमय बाजार के लम्बे कमरे में केवल ऐसे दलाल या क्लर्क ही इकट्ठे होते हैं जो अपनी निर्दिष्ट भाषा में बात करते हैं तथा प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय किया करते हैं। कोई बाहर का व्यक्ति तो वहाँ जाकर झमेले में पड़ सकता है तथा वहाँ की भाषा सुनकर वह भौंचक्का-सा होकर केवल पागलों की भाँति इधर-उधर मारा-मारा फिर सकता है। परन्तु फिर भी वह एक ऐसा स्थान होता है जहाँ कितने ही व्यक्ति सौभाग्यशाली होते हैं और कितने ही नित्य दुर्भाग्य का शिकार बन जाते हैं। अब श्री दलाल उस पार्टिये में या स्कंध-विनिमय के बाजार में जाता है और वहाँ पर मैच कम्पनी के अंशों के विशेषज्ञ व्यापारी श्री सोमानी से बात चीत करता है तथा पर्याप्त झगड़ने के उपरान्त ४१५) रु० प्रति अंश की दर से सौदा तय कर लेता है। दोनों व्यक्ति अपनी-अपनी पेंसिलें और नोट-बुक निकाल लेते हैं तथा सौदे को अंकित कर लेते हैं। श्री दलाल इस सौदे को अपनी नोट-बुक में खरीद की ओर लिखेगा कि "श्री शम्भूनाथ आगरे वाले के लिए ४१५) प्रति अंश की दर से श्री सोमानी से वैस्टर्न इण्डिया मैच क० (Wimco) के १० अंश खरीदे" तथा सोमानी अपनी नोट-बुक में इसे बिक्री की ओर लिखेगा कि "विमको के १० अंश ईमानदार एण्ड क० को ४१५) रु० प्रति अंश की दर से बेचे।"

इसके उपरान्त श्रीदलाल स्कंध-बाजार के केन्द्र स्थान पर जायेगा जहाँ पर कि एक काला फलक (Black board) लगा रहता है। इसे चिह्न-फलक (Marking Board) भी कहते हैं। इस फलक पर व्यापारियों की सूचना के लिए गत व्यवहारों को लिख दिया जाता है। इस चिह्न-फलक के नीचे एक सन्दूक रक्खा रहता है। श्री दलाल भी अपने सौदे के बारे में एक छोटे से कागज पर लिखकर तथा अपने हस्ताक्षर करके उस सन्दूक में डाल देता है। दूसरे ही क्षण इन अंशों के बारे में जो पहले सौदा हुआ था उसे मिटाकर श्रीदलाल वाला मूल्य उस फलक पर विमको (Wimco) के अंशों के लिए लिख दिया जाता है। दिवस के अन्त में जो-जो मूल्य जिस-जिस प्रतिभूति के रहते हैं उनको स्कंध-विनिमय के रजिस्टर में अंकित कर लिया जाता है तथा प्रमुख-प्रमुख प्रतिभूतियों का मूल्य आकाशवाणी (Radio) द्वारा प्रसारित भी कर दिया जाता है। साथ ही दूसरे दिन समाचार-पत्रों में भी प्रकाशित हो जाता है।

(४) अब इन नोट-बुकों में से दोनों सौदों को बहियों (Ledgers) में लिखा जाता है। दोनों दलाल दूसरे दिन अपने व्यवहारों की जाँच करते हैं तथा अपने-अपने

ग्राहकों (Clients) के लिए अनुबंध पत्र (Contract Notes) तथा क्रय-विक्रय पत्र (Bought and Sold Notes) तैयार करते हैं । अतः ईमानदार एण्ड कम्पनी अनुबंध पत्र तथा क्रय विक्रय-पत्र को तैयार करके श्री शम्भूनाथ के पास आगरे भेजेगी। अनुबंध पत्र पर शम्भूनाथ हस्ताक्षर करके दलाल के पास वापिस भेज देगा तथा क्रय-विक्रय-पत्र को वह प्रमाण के लिए अपने पास ही रख लेगा ।

(५) सभी स्कंध-विनिमयों पर प्रदान तथा भुगतान सम्बन्धी शर्तें एक समान नहीं होतीं । क्रेता एवं विक्रेता को वहाँ के नियमों का पालन करना पड़ता है । यदि कोई भी पक्ष किसी प्रकार व्यवहार में दोषी सिद्ध होता है तो (Stock Exchange Committee) के सम्मुख अपना यह मामला उपस्थित कर सकता है और इस समिति को यह अधिकार होता है कि वह निर्दोष व्यक्ति की ओर से अतर्क्रय या बहिर्विक्रय (Buy-in or sell-out) जैसा करना आवश्यक होता है वैसा कर सकती है तथा उसका समस्त व्यय उस दोषी व्यक्ति से वसूल किया जाता है । श्री सोमानी भी श्री दलाल की भाँति अनुबंध पत्र एवं क्रय-विक्रय-पत्र तैयार करके अपने ग्राहक के पास भेज देंगे। वह भी अनुबंध-पत्र पर अपने हस्ताक्षर करके उसे श्री सोमानी को लौटा देगा तथा क्रय विक्रय पत्र को प्रमाण के लिए अपने पास रख लेगा । इसके उपरान्त स्कंध विनिमय का दलाल अपने ग्राहक के पास हस्तान्तरण संलेख का कोरा प्रपत्र (Form) भेजेगा तथा उससे यह प्रार्थना करेगा कि वह इसे भरकर अंश-प्रमाण पत्र के सहित शीघ्र ही दलाल के पास लौटा दे । इन प्रलेखों (Documents) के प्राप्त हो जाने पर श्री सोमानी पूरा भुगतान लेकर इन सभी प्रलेखों को ईमानदार एण्ड कम्पनी को दे देगा ।

(६) अन्त में, ईमानदार एण्ड क० इस हस्तान्तरण का रजिस्ट्रेशन ईस्टर्न इण्डिया मैच क० लि० की पुस्तक में कराने का प्रबन्ध करेगी तथा उससे शम्भूनाथ के नाम पर अंश-प्रमाण-पत्र लेगी । फिर यह अंश-प्रमाण-पत्र समस्त अंश खरीदने के व्यय सहित शम्भूनाथ के पास भेजा जायेगा । यदि उस समस्त व्यय से कुछ अधिक धन शम्भूनाथ भेज चुका होगा तो वह ईमानदार एण्ड क० उस धन को उसे वापिस कर देगी ।

स्कंध विनिमयों में परिकल्पना या सट्टेबाजी
(Stock Exchange Speculation)

स्कंध-विनिमय के व्यवहारों का परिकल्पना से घनिष्ठ सम्बन्ध है । यह परिकल्पना समाज के आर्थिक जीवन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य करती है । परिकाल्पनिक या सीधे-सीधे व्यवहार के मध्य में लाइन खींचना अत्यन्त कठिन है फिर चाहे ये व्यवहार स्कंध-विनिमय में हों या अन्य स्थान पर होते हों । परिकल्पना या सट्टा शब्द का अभिप्राय भविष्य में अंशों अथवा प्रतिभूतियों के मूल्य-परिवर्तन के बारे में कल्पना या

अनुमान करने से है। अत बाजार में प्रतिभूतियों के वर्त्तमान एव विगत मूल्यों की तुलना करके उन प्रतिभूतियों के भविष्य में क्या मूल्य होंगे, ऐसा अनुमान लगाकर उनका तो क्रय विक्रय किया जाता है, वह परिकल्पना कहलाता है। इसके द्वारा परिकल्पक वर्त्तमान तथा भविष्य के मूल्यों में जो अतर रहता है उसी से लाभ कमाया करत है।

यह कहना तो सदैव त्रुटिपूर्ण है कि जो व्यक्ति प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय परिकाल्पनिक रीति से करता है वह एक साधारण रूप में धन-विनियोग करने के लिए प्रतिभूतियाँ खरीदने वाले व्यक्ति की अपेक्षा चरित्र की दृष्टि स तुच्छ होता है। वास्तव में तो एक परिकल्पक समाज की आर्थिक दृष्टि से सेवा करता है। वह अश या अन्य प्रतिभूतियों के व्यापार की वृद्धि करता हुआ उनका एक स्वतत्र बाजार निर्माण करता है और विनियोक्ताओं के लिए सुविधाजनक शर्तों पर प्रतिभूतियों क खरीदन या बेचने की व्यवस्था करता है। एक परिकल्पक (Speculator) का प्रमुख काय यह होता है कि वह बाजार में वस्तु की माँग एव पूति में समानता स्थापित करने का प्रयत्न करता है और इसी कार्य द्वारा वह उपभोग (Consumption), उत्पत्ति (Production) तथा विनिमय (Exchange) के मार्ग में सुविधा प्रदान करता है। एक परिकल्पक इस कार्य में तभी सफल होता है जब वह वस्तु के मूल्यों का अच्छी तरह अध्ययन करके फिर कार्यक्षेत्र में उतरता है। यह परिकल्पकों का ही महत्त्वपूर्ण कार्य है कि प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय के लिए बाजार स्थायी हो जाता है और निरतर चालू रहा करता है। बाजार स्थायी होने या निरन्तर चालू रहने से अभिप्राय यह है कि बाजार में कोई भी सूची बद्ध प्रतिभूति व्यापार काल में अपने प्रचलित मूल्य की अपेक्षा अनुपातत कुछ कम मूल्य पर खरीदी एव बेची जा सकती है।

एक स्वस्थ परिकल्पना वह कहलाती है जो व्यापारिक दशा के वैज्ञानिक ज्ञान एव समुचित दूरदर्शिता पर आधारित रहती है तथा जो कवल परिकल्पक क लिये ही लाभप्रद न होकर समस्त समाज के लिए भी लाभप्रद होती है। एक परिकल्पक का उद्देश्य तो सदैव वस्तुओं के मूल्यों में चढ़ाव-उतार होने पर उनके अन्तर से लाभ कमाना होता है। इस तरह उसका यह लाभ एक प्रकार से उस पारितोषिक के समान होता है जो वस्तुओं के मूल्य सम्बन्धी उतार-चढ़ाव को शान्त करने क निमित्त समाज उसे प्रदान करता है। जब परिकल्पना भविष्य में मूल्य-परिवर्तन सम्बन्धी यथार्थ अनुमान पर आधारित होती है तो इसका परिणाम यह होता है कि मूल्यों के अत्यधिक उतार चढ़ाव में स्वाभाविक रूप से कमी उपस्थित हो जाती है। जिस प्रकार एक स्वस्थ परिकल्पना समाज के लिए लाभप्रद होती है वैसे ही एक अस्वस्थ परिकल्पना उसके लिए हानिप्रद भी हो सकती है और उसके द्वारा समाज में धन का विनाश एवं अपव्ययता की वृद्धि हो सकना है। जब कोई परिकल्पना अयोग्य व्यक्तियों द्वारा केवल अफवाहों के आधार पर ही की जाती है और उन परिकल्पकों में दूरदर्शिता

तथा मूल्यों के भविष्यगत ज्ञान का अभाव रहता है तो ऐसी परिकल्पना द्वारा वस्तु के मूल्य कम नहीं होते वरन् और बढ जाते हैं तथा इससे व्यर्थ में धन का अपव्यय होता है। इसके अलावा जब कोई परिकल्पक स्वार्थवश अपनी जेब भरने के लिए ही बनावटी साधनों द्वारा मूल्यों में परिवर्तन प्रस्तुत करने की परिकल्पना करता है तो ऐसी परिकल्पना बाजार के लिए अभिशाप होती है तथा इसके द्वारा जनता को भी पर्याप्त आर्थिक हानि उठानी पड़ती है। इस तरह समाज के कल्याण की दृष्टि से भी केवल स्वस्थ परिकल्पना हितकर तथा अस्वस्थ परिकल्पना अहितकर होती है। अतः स्वस्थ परिकल्पना को प्रोत्साहित करना एवं अस्वस्थ परिकल्पना का निष्कासन करना कल्याणकर होता है।

परिकल्पना एवं विनियोग (Speculation and Investment) — यद्यपि स्कंध विनिमय-बाजार में परिकल्पना एवं विनियोग के अन्तर्गत भेद करना सर्वथा कठिन कार्य है, परन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि एक शुद्ध विनियोक्ता (Pure Investor) तो केवल प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय अपने ही हित की दृष्टि से अथवा अपनी संचित राशि पर एक निश्चित एवं स्थायी आय प्राप्त करने के हेतु से किया करता है। परन्तु इसके विपरीत एक परिकल्पक (Speculator) का ध्यान प्रतिभूतियों की निश्चित एवं स्थायी आय की ओर नहीं होता वह इसे केवल आकस्मिक (Accidental) मानता है। वह प्रत्येक प्रतिभूति को इस उद्देश्य से खरीदता है कि वह इसे लाभ सहित बेचेगा और इसके लिए वह ऋण लेकर भी रुपया लगा देता है। प्रत्येक परिकल्पक का व्यापार मूल्य के अन्तर पर आधारित होता है। इस प्रकार एक परिकल्पक तथा एक विनियोक्ता में मूलतः भावना सम्बन्धी अन्तर रहता है। एक वास्तविक विनियोक्ता का ध्यान तो सदैव प्रतिभूति की आय पर अधिक तथा पूँजी की मूल्य-वृद्धि (Appreciation) पर कम रहता है, परन्तु एक विशुद्ध परिकल्पक का ध्यान आय की ओर विशेष नहीं रहता, वरन् वह पुनर्विक्रय द्वारा प्राप्त होने वाले लाभ की ओर पूर्णतः आकृष्ट रहता है।

परिकल्पना एवं जुआ (Speculation and Gambling) — परिकल्पना एवं जुआ में भी अन्तर करना सर्वथा कठिन है। साथ ही यह कहना भी तनिक दुष्कर है कि कहाँ पर जाकर परिकल्पना समाप्त होती है और कहाँ से जुआ प्रारम्भ हो जाता है। इन दोनों में आर्थिक दृष्टि की अपेक्षा नैतिक दृष्टि से अधिक अन्तर होता है। एक परिकल्पक अपने मस्तिष्क का जिस ढंग से प्रयोग करता है उसी ढंग के कारण जुआ तथा परिकल्पना में अत्यधिक अन्तर हो जाता है, कारण यह है कि परिकल्पक अपने ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर भविष्य के बारे में विचार करता है, जबकि जुआरी (Gambler) केवल अनुमान पर ही आधारित रहता है। जुआ अंध विश्वास पर खेला जाता है, परन्तु परिकल्पना के लिए कुछ ठोस आधार होते

हैं। इन दोनों का अन्तर देखने के लिए हम परिकल्पकों को दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं, जिनमें से एक व्यवसायी परिकल्पक (Professional Speculator) तथा दूसरा अयोग्य परिकल्पक (Amateurs Speculator) कहलाता है। इस अयोग्य परिकल्पक को भविष्य के मूल्यों का किंचिन्मात्र भी ज्ञान नहीं होता और न वह माँग एवं पूर्ति के विषय मे जानकारी रखता है। साथ ही मूल्य-परिवर्तन-सम्बन्धी परिणामों से भी वह अवगत नहीं होता। इसके सभी कार्य ज्वारी की ही भाँति होते हैं और प्राय: वह झूठे भविष्यवक्ताओं पर विश्वास कर बैठता है। परन्तु एक व्यवसायी परिकल्पक में ये बातें नहीं होतीं। वह सच्चे अर्थ में एक कुशल व्यापारी होता है तथा वह अपनी दूरदर्शिता एवं अनुभव के आधार पर सदैव भविष्य सम्बन्धी मूल्यों का अनुमान ठीक-ठीक लगाया करता है। वैधानिक दृष्टि से इन दोनों मे जो अन्तर होता है वह ३ फरवरी १६३८ के 'कैपीटल' (Capital) पत्र में इस प्रकार दिया गया था —

"परिकल्पना एव जुआ में ऐसा विचित्र अन्तर होता है कि कभी-कभी उसका पता चलाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। फिर भी नैतिक आधार पर जहाँ परिकल्पना को अहितकर न जानकर अच्छी दृष्टि से देखा जाता है, वहीं इसके जन्मजात साथी जुये को बुरी दृष्टि स देखा जाता है। अत इन दोनों के व्यवहार में अवश्य ही एक ऐसा अन्तर है जो एक को अच्छाई तथा दूसरे को बुराई प्रदान करता है। देखा जाय तो परिकल्पना मे कुछ भी अवैधानिक नहीं दिखाई देता क्योंकि स्कन्ध-विनिमय में परिकल्पना के हेतु सभी के लिए द्वार खुला है और कोई भी नियम इस पर प्रतिबन्ध नहीं लगाता। परन्तु जुआ खेलना वैधानिक दृष्टि से भी अनुचित है और इस कार्य के लिए प्रत्येक सरकार प्रतिबंध लगाती है।

"स्कन्ध-विनिमय में अधिकांश व्यापार परिकाल्पनिक ही होते हैं। साधारणत वहाँ पर व्यापारी लोग अंशों एव अन्य प्रतिभूतियों का क्रय विक्रय भविष्य के अनुबन्ध पर ही किया करते हैं और इस प्रकार के अनुबन्धों द्वारा भुगतान की तिथि पर वस्तुओं का पुनर्विक्रय या पुनर्क्रय करके उनके मूल्यों के अन्तर से लाभ प्राप्त करते हैं। कभी-कभी इस परिकल्पना के वशीभूत होकर ये व्यापारी जान-बूझकर वस्तुओं के मूल्य में उतार-चढ़ाव उपस्थित कर देत हैं। इस परिकल्पना का सम्बन्ध केवल अंशों एव प्रतिभूतियों तक ही सीमित नहीं, वरन् सभी प्रकार की वस्तुओं के क्रय विक्रय में परिकल्पना हो सकती है। जहाँ तक परिकल्पना एव जुये के अन्तर का सम्बन्ध है वहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि परिकल्पना में चाहे वस्तुओं का क्रय-विक्रय केवल उनका मूल्य चुकाकर किया गया हो या उन्हें पुनः बेचकर लाभ प्राप्त करने की दृष्टि से किया गया हो, अथवा प्रदान करने के समय से पहले ही पुन: बेचकर फिर सस्ते मूल्य पर खरीदकर

किया हो, परन्तु इस प्रकार के सभी व्यवहार पूर्णत न्याय-संगत हैं। दूसरी ओर जुआ खेलने या दाँव लगाना ये सभी कार्य उचित एव न्याय-सगत नहीं होते। इनके द्वारा भी वस्तुओं का क्रय-विक्रय तो होता है, परन्तु यह क्रय विक्रय पूर्णत अन्धानुकरण पर अथवा भविष्य के प्रति किंचित्मात्र भी ज्ञान न रखते हुए केवल कल्पना से किया जाता है। इन कार्यों में वस्तुओं का आदान प्रदान तनिक भी नहीं होता। क्रेता एव विक्रेता दोनों ही भविष्यगत अनुबन्धों के आधार पर वस्तुओं के मूल्य में जो अन्तर होता है, उसी के लेन के अधिकारी रहते हैं। ये लोग जानबूझ कर केवल मूल्या पर ही दाँव लगाया करते हैं वस्तु का लेन-देन कभी नहीं करते। इसके अतिरिक्त इस कार्य में एक पक्ष हारता तथा दूसरा जीतता है और हारने तथा जीतने वाले का दाँव लगाते समय अपने परिणाम का तनिक भी ज्ञान नहीं होता। कभी कभी जो व्यापारी पूर्णत विश्वास के साथ लाभ की दृष्टि से दाँव लगाता है वही अत्यधिक हानि उठाता दिखाई देता है।"

"इस प्रकार दोनों का अन्तर केवल उनके व्यवहार से स्पष्ट हो जाता है। यदि कोई व्यवहार भविष्य के बारे में सोच-समझकर एवं न्यायसगत रीति से किया गया है तो वह परिकल्पना की कोटि में आयेगा और यदि वह बिना सोचे समझे एव अनिश्चित हार-जीत की दृष्टि से किया गया है तो भले ही वह वास्तविक व्यवहार क्यों न हो अथवा भले ही उस व्यवहार द्वारा नियमानुसार एक पक्ष दूसरे के साथ वस्तु का क्रय-विक्रय क्यों न करता हो, परन्तु वह जुआ की कोटि में ही आयेगा।"

परिकल्पना के भेद (Kinds of Speculation) —स्कध-विनिमय-बाजार में तीन प्रकार के परिकल्पक (Speculator) होते हैं, जिनमें पहला तेजीवाला (Bull), दूसरा मन्दीवाला (Bear) तथा तीसरा चचल (Stag) कहलाता है। इनकी अपनी-अपनी विशेषताए नाम के अनुसार ही होती हैं, परन्तु एक तेजीवाला परिकल्पक निरन्तर तेजी का कार्य हो करे यह सदैव सम्भव नहीं होता, वह मन्दीवाला भी हो सकता है। उसी प्रकार एक मन्दीवाला तजीवाला भी बन सकता है।

तेजीवाला या लम्बी उड़ान भरने वाला ('Bull' or 'long'): —परिकल्पक सदैव आशावादी होता है। वह यह समझकर ही व्यवहार किया करता है कि भविष्य में प्रतिभूति का मूल्य बढेगा और इसी कारण वर्तमान मूल्य पर वह उस प्रतिभूति को खरीद कर लेता है। यह परिकल्पक प्रतिभूति का लेन देन नहीं करता। वह सदैव यही सोचा करता है कि भुगतान-दिवस तक इसकी खरीदी हुई प्रतिभूति का मूल्य बढ जायेगा और उस समय उसे बेच लेंगे जिससे क्रय एव विक्रय में जो अन्तर होगा उतना लाभ हो जायेगा। अब यदि इस तेजी वाले का अनुमान ठीक बैठता है और उसकी खरीदी हुई प्रतिभूति का मूल्य बढ जाता है तो उसे लाभ प्राप्त हो जाता है। परन्तु उस प्रतिभूति का मूल्य यदि किसी तरह गिर जाता है तो ऐसी दशा में उसे हानि की सम्भवना होती है। अतः या तो वह क्रय एवं विक्रय-मूल्य में जो अन्तर

रहता है वह अपने विक्रेता को दे देता है अन्यथा वह अपना भुगतान दिवस कुछ अवधि के लिए स्थगित करा लेता है। इस स्थगित कराने के लिए इसे कुछ शुल्क देना पड़ता है जिसे बदला शुल्क या स्थगन-शुल्क (Contango or Budla Charge) कहते हैं।

एक मन्दीवाला या सद्विप्र कार्य करने वाला परिकल्पक (Bear or 'short') सदैव निराशावादी होता है। वह केवल इस आशा से प्रतिभूतियों को बेचता है कि भविष्य में इनकी कीमत कम हो जायेंगी। वास्तव में इसके पास प्रतिभूतियाँ नहीं होतीं, परन्तु यह सदैव यही सोचा करता है कि देने की तिथि से पहले ही उनकी कीमतों के कम होने पर वह उन्हें खरीद लेगा और इस तरह नियत तिथि को उन्हें दे देगा। इस तरह प्रतिभूति के क्रय एवं विक्रय में जो अन्तर होगा वही इसे लाभ हो जायेगा। परन्तु इसके अनुमान के विरुद्ध यदि बाजार में प्रतिभूतियों का मूल्य कम होने के स्थान पर बढ़ जाता है और इसे प्रदान तिथि पर प्रतिभूतियाँ देने के लिए बढ़े हुए मूल्य पर ही उन्हें खरीदने को विवश किया जाता है तो यह प्रतिभूतियाँ न खरीदकर उसके मूल्य में बढ़ जाने के कारण जो अन्तर हो जाता है, बस केवल उसी अन्तर वाली राशि का भुगतान अपने खरीदार को कर देता है जिसमें कि इसे हानि उठानी पड़ती है। इसके साथ ही तेजीवाले की भाँति यह भी बदला शुल्क देकर अपने व्यवहार को कुछ अवधि के लिए स्थगित करा सकता है।

एक चचल परिकल्पक (Stag) वह होता है जो न तो किसी प्रतिभूति को खरीदता है और न बेचता है, परन्तु उसके लिए केवल आवेदन-पत्र ही भेजा करता है। यह परिकल्पक किसी भी नवीन कम्पनी के अंशों के लिए इस उद्देश्य से आवेदन-पत्र भेजा करता है कि जनता में जैसे ही इनके लिए माग अधिक होगी और इनका मूल्य बढ़ेगा तो यह उन अंशों को बेच देगा तथा उसके द्वारा लाभ प्राप्त कर लेगा। यह परिकल्पक केवल आवेदन-राशि (Application Money) के अतिरिक्त उन अंशों के लिए और धन राशि देना नहीं चाहता, क्योंकि इसका यह विचार रहता है कि अंशों का वितरण (Allotment) होने से पहले ही यह उन्हें किसी न किसी व्यक्ति को बेच देगा। इस तरह यह अपनी आर्थिक स्थिति से भी अधिक अंशों के लिए आवेदन-पत्र भेज देता है। कभी कभी यह परिकल्पक अंश-वितरण होने से पहले ही उन्हें किसी व्यक्ति के हाथ इस आशा में बेच देता है कि उसके इस कपट-व्यवहार का पता कम्पनी के प्रवर्तकों को नहीं चलेगा तथा वे लोग स्वयं ही बाजार की ओर न देखकर उन अंशों को खरीद लेंगे।

एक चचल परिकल्पक (Stag) के व्यवहारों को चाचल्य या चपलता (Stagging) कहते हैं। इसके ये व्यवहार भी खतरे से खाली नहीं होते। जैसे, यदि कोई चचल परिकल्पक किसी ऐसी कम्पनी में अधिक अंशों के लिए आवेदन-पत्र भेज

देता है जिसमें जनता के लिए निर्गमित होने वाले अंशों की संख्या कम होती है तो उसे स्वाभाविक रूप से समस्त अंश प्राप्त हो जायेंगे, अब यदि उनका मूल्य बाजार में उतना ही न होकर कुछ छूट देकर चालू होता है तो ऐसी दशा में उसे अपने नाम उन अंशों का वितरण कराना पड़ेगा तथा अच्छा समय आने की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इससे उसे बड़ी भारी हानि उठानी पड़ेगी। इस कारण इस प्रकार के परिकल्पक को अपने पास ऐसे व्यवहारों के लिए पर्याप्त धन राशि रखना आवश्यक होता है तभी इसके द्वारा लाभ हो सकता है अन्यथा सिवाय हानि के लाभ होना असम्भव है।

उपर्युक्त विवेचन का सम्बन्ध "चचल" परिकल्पक के प्रारम्भिक या मूल रूप से है। आजकल इसका प्रयोग ऐसे परिकल्पक के लिए भी होता है जो शासकीय तथा औद्योगिक प्रतिभूतियों को ऋण लेकर खरीदता है तथा उन्हीं प्रतिभूतियों को अपने ऋण दाता के यहाँ बधक के रूप में रख देता है। यह कार्य वह इस आशा से करता है कि यदि इन प्रतिभूतियों का मूल्य बढ जायेगा तो वह उन्हें बेचकर तथा अपने ऋणदाता का ऋण चुकाकर शेष लाभ प्राप्त कर लेगा। इस तरह इसके कार्य भी तेजीवाले से ही मिलते जुलते हैं तथा इसे अर्द्ध-तेजी वाला (Bull in making) कह सकते हैं।

भारतीय स्कध-विनिमयों मे परिकल्पना
(Speculation on Indian Stock Exchange)

स्कंध विनिमय-बाजार में अधिकांश परिकाल्पनिक व्यवहार ही हुआ करते हैं। वहाँ पर प्रत्येक विनियोक्ता के लिए प्रतिभूति सम्बन्धी परिकल्पना का बाजार निरन्तर चालू रहता है। इस प्रकार अन्य वस्तुओं में धन विनियोग करने के साथ-साथ एक विनियोक्ता सुगमता से परिकाल्पनिक व्यवहारों में भी धन विनियोग कर सकता है। परन्तु उसके लिए एक दृढ एव स्वस्थ परिकल्पना ही लाभप्रद हो सकती है। दुर्बल परिकल्पना तो सदैव अहितकर एव दोषपूर्ण होती है, अत सुगठित स्कध विनिमयों से तो इसका बहिष्कार करना ही श्रेयस्कर है। ऐसे परिकाल्पनिक व्यवहारों के लिए बम्बई स्कध विनिमय कुख्यात है क्योंकि वहाँ बुरी तरह से परिकाल्पनिक व्यवहार होते हैं। इतना ही नहीं यह स्कध विनिमय परिकाल्पनिक व्यवहारों का प्रमुख अड्डा है और सबसे अधिक यहीं पर ये व्यवहार होते हैं। मद्रास स्कध विनिमय भी इस परिकाल्पनिक प्रवृत्ति से अछूता नहीं दिखाई देता। वहाँ पर पर्याप्त संख्या में परिकाल्पनिक व्यवहार किये जाते हैं। परिकल्पना की इस बढ़ी हुई प्रवृत्ति के कुछ कारण ६ तथा १३ जनवरी १९४५ के "इण्डियन फाइनैंस" (Indian Finance) नामक पत्र में इस प्रकार दिये हैं —

"परिकल्पना की मनोवृत्ति के बढ़न में भले ही किसी अन्य कारण का हाथ क्यों न हो, परन्तु सत्य तो यह है कि जनता के पास पर्याप्त मात्रा में ऐसा धन पड़ा रहता है जिसे हम अचल धन कह सकते हैं। अतः वह किसी भी अन्य कार्य में न

लगकर केवल परिकल्पना सम्बन्धी व्यवहार में ही काम आता है क्योंकि दूसरा और कोई भी मार्ग उसके उपयोग के लिए दिखाई नहीं देता।"

(१) स्कन्ध विनिमय बाजार में मे एक अनुभवी एव वयोवृद्ध परिकल्पक (Speculator) से एक दिन बात चीत कर रहा था। उस समय उसने कहा कि गत तीन-चार वर्षों में कलकत्ता-स्कध विनिमय की दशा में ऐसा परिवर्तन हो गया है कि उस बाजार का पता चलाना भी असभव है। पहले यदि कोई दलाल अपने ग्राहक से अश खरीदने का या बेचने का आदेश प्राप्त करता था तो वह तुरन्त स्कध-विनिमय में जाकर कितने ही उन अशों के क्रय-विक्रय करने वाले व्यापारियों या दलालों से बात-चीत करता था और जब वह अपनी इच्छित प्रतिभूति का सौदा पक्का कर लेता था तो उसे खरीद या बेच देता था। ऐसे चतुर परिकल्पक सदैव प्रतिभूतियों के बेचने एव खरीदने वालों का अच्छी प्रकार ध्यान रखते थे और आवश्यकता के समय उनसे क्रय-विक्रय करके अपना कार्य किया करते थे। परन्तु आजकल तो वहाँ की दशा अत्यन्त विचित्र है, क्योंकि वहाँ पर इतनी सख्या में परिकल्पक या उनके दलाल चिल्लाते हुए मिलेंगे कि आपको अपनी बात कहना भी दुष्कर है, साथ ही यह जानना भी कठिन है कि कौन व्यक्ति किस संस्था की प्रतिभूतियों को बेच या खरीद रहा है। वहाँ पर आजकल अत्यन्त कोलाहल रहता है जिसमें प्रतिभूति सम्बन्धी व्यवहार करना सर्वथा कठिन हो जाता है। उस बाजार में कितने ही ऐसे नये-नये व्यक्ति प्रतिभूतियों का व्यवहार करते हुए दिखाई देंगे जिनके परिवार ने गत दो-तीन वर्षों में किसी कम्पनी के अशों द्वारा पर्याप्त लाभ प्राप्त कर लिया है। अब कुछ लाभ दिखाई नहीं देता। अत: उन समस्त अशों को बेचने के सिवाय उनके पास अब चारा ही क्या है। वहाँ पर २५००० या ५०००० अशो की बातचीत होना तो एक साधारण बात है। यदि किसी परिकल्पक में खरीदने के कारण कोयले के अंशों का मूल्य बढ जाता है तो दूसरे लोग कपास के अश खरीदने में जुट जाते हैं और यदि कपास के अश भी अधिक खरीद होने के कारण अधिक मूल्य वाले हो जाते हैं तो फिर जूट के अशों की बारी आजाती है। वहाँ पर कोई भी परिकल्पक कुछ क्षण ठहर कर यह सोचने का कष्ट नहीं उठाता कि वह किस कम्पनी के अशों को खरीद रहा है तथा इस कम्पनी की आर्थिक स्थिति ठीक भी है या नहीं। वे लोग तो भूखे भेड़ियों की तरह अशों के क्रय विक्रय पर टूट पड़ते हैं और जो कुछ भी अश उनके हाथ पड़ते हैं उन्हें लेकर ही तब पीछे हटते हैं। उनकी इस जल्दबाजी का परिणाम यह होता है कि बहुत से अशों का मूल्य हठात् बढ जाता है जो सरकारी प्रतिभूतियों के मूल्य के बराबर होते हैं या कभी-कभी जो इनसे भी कम मूल्य वाले होते हैं। कब तक यह स्थिति रहेगी केवल ईश्वर जानता है। आधुनिक कलकत्ता-स्कध-विनिमय अब वैसा बाजार नहीं रहा है जहाँ पर चतुर परिकल्पक सोच-समझकर सावधानी के साथ प्रतिभूतियों का व्यवहार किया करते थे।

आज का बाजार तो केवल ऐसे व्यक्तियों के लिए उपयुक्त है जो अन्धानुसरण करते हुए बिना सोचे-समझे कार्य किया करते हैं और प्रत्येक नवीन विचार धारा को तुरन्त अपना लेते हैं। ऐसे ही पुरुष केवल वहाँ पर धन पैदा कर सकते हैं।"

उपर्युक्त विचारधारा से मैं पूर्णत. सहमत हूँ। उदाहरण के लिए आप कुछ प्रमुख एवं प्रसिद्ध अशों के बारे में देख सकते हैं। जैसे हावड़ा कोल तथा बरपुर क० के अंशों को ही लीजिए। इन अशों पर कम्पनियों ने गत मास में क्रमश ४%, ४१% २५% तथा २'५% लाभाश दिये थे। इससे कोल क० के कुछ अशों का मूल्य इतना बढ़ा कि वह भविष्य में उन पर प्राप्त होने वाले लाभ से भी अधिक होगया था जिससे भविष्य में उन पर कोई भी लाभ प्राप्त नहीं हुआ।

इसलिए अशों को खरीदने वाले प्रत्येक व्यक्ति को कुछ देर रुक कर यह विचारना चाहिए कि जिस कम्पनी के वह अश अन्धा होकर खरीद रहा है, वे भविष्य में लाभप्रद भी रहेंगे अथवा नहीं। किसी भी अश में अपना धन बिना सोचे-समझे विनियोग नहीं करना चाहिए। जल्दबाजी में सदैव धन का अपव्यय ही होता है, उसका अच्छा परिणाम नहीं निकलता। अत प्रत्येक जल्दबाज विनियोक्ता को प्रतिभूति खरीदने से पहले उसकी गत एव वर्तमान स्थिति लाभाश तथा अन्य आवश्यक बातों को अच्छी तरह देख भाल करके तब उसका व्यवहार करना चाहिए।

(२) "आज से लेकर जब तक बजट समाप्त होगा तब तक बाजार में पर्याप्त उतार-चढ़ाव हो सकता है। वैसे जब तक युद्ध आदि नहीं होता तब तक बाजार का शीघ्र चढ़ना या गिरना सभव नहीं।" इस प्रकार की आशाजनक कल्पनाएं कितने ही नवीन श्रेणी के परिकल्पकों को तबाह कर देती हैं, जिनके बारे में मै गत सप्ताह की अपनी बातचीतों में आपसे बहुत कुछ कह चुका हूँ।

एक मारवाड़ी कहावत है कि "सावन के अधे को हरा ही हरा दिखाई देता है।" उपर्युक्त श्रेणी का परिकल्पक भी ठीक ऐसा ही व्यक्ति है। इसका जन्म भी ऐसी सौभाग्यशाली स्थिति में हुआ है कि लगातार अभी तक वह धन कमाता ही रहा है कभी हानि का मुख नहीं देखा। अत. वह यह नहीं जानता कि कभी घाटा (Depreciation) भी हो सकता है और उस समय घर के बर्तन भाँड़े भी बिक सकते हैं। ऐसी भी दशा हो जाती है कि जो उद्योग आज अच्छा धन कमा रहा है कल वही उस धन को खाकर नष्ट हो सकता है। वे यह नहीं जानते कि युद्धोपरान्त सन् १९२० में जो तेजी (Boom) फैली थी उसके बाद कितने ही कम्पनियों के अशों का मूल्य अत्यधिक कम हो गया था, जिसे देख देखकर आश्चर्य होता था। उदाहरण के लिये, जैसे ई०डी० सैसून यूनाइटेड (E. D. Sasoon United) के अशों का मूल्य १७) रु० प्रति अश से घटकर केवल चार आने प्रति अंश तक हो गया था। परन्तु जो व्यक्ति

इन सभी ऊँच-नीच को देख लेता है वह बिना प्रतिभूतियों के भविष्य के बारे में जाने हुए कदापि अन्धा होकर इन्हें नहीं खरीदता।

स्कंध विनिमय में आकर मैंने देखा कि परिकल्पकों का एक समूह अत्यन्त लाभ-युक्त सौदा कर रहा है, परन्तु वह सौदा छोटे छोटे एवं मूल्यों से अनभिज्ञ परिकल्पकों के लिए सर्वथा हानिकारक था। उस समूह ने सर्वप्रथम किसी विशेष कम्पनी के अधिकांश अंशों को उचित ढंग से खरीद लिया और इसके उपरान्त उन्होंने यह अफवाह फैलाना प्रारम्भ किया कि उस विशेष कम्पनी के अंशों का खरीदना अत्यन्त लाभप्रद है। इस प्रकार इस अफवाह के फैलने तथा उस समूह के प्रयत्न द्वारा समस्त केन्द्रों पर यह भावना दौड़ गई कि इस कम्पनी के अंशों को खरीदना चाहिए। फिर क्या था, कितने ही नासमझ एवं अन्धे होकर व्यवहार करने वाले परिकल्पिक इन लोगों के कपट व्यवहार को न जानकर उन अंशों को खरीदने लगे। इस समूह ने समय देखकर उनका मूल्य भी बढा दिया। इस तरह कितने ही दलाल तथा उनके सहायक निरंतर इन कपटी लोगों द्वारा छले जाते हैं और वे अपने ग्राहकों के लिए इन लोगों से व्यवहार कर बैठते हैं। वह समूह पर्याप्त लाभ उठाकर अपनी अफवाह के बल पर उन प्रतिभूतियों को दूसरों के हाथ बेच देता है। परन्तु जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ कि किसी भी वस्तु का मूल्य अधिक समय तक बढ़ा हुआ नहीं रहता। अतः उन अन्धे होकर खरीदने वालों को शीघ्र ही पता चल जाता है कि दिनभर में जितने व्यवहार उन्होंने किए हैं उनमें जो कुछ लाभ हुआ है वह सब लाभ इस एक ही व्यवहार में गँवा बैठे हैं।

परिकल्पना निरोधक-उपाय (Measures to Check Speculation)—स्कंध विनिमयों से परिकल्पनात्मक व्यवहारों का पूर्णतः अन्त करना सर्वथा कठिन है, परन्तु युक्त संगत उपायों द्वारा इन पर नियंत्रण किया जा सकता है। वे उपाय इस प्रकार हैं।

परिकल्पना को प्रोत्साहन देने में सबसे अधिक हाथ अग्रिम व्यवहारों (Forward Trading) का रहता है। इसके अलावा व्यवहारों में बदले की पद्धति के ही कारण भी परिकल्पना को अधिक उत्तेजना मिला करती है। अतः परिकल्पना को रोकने के लिए इन अग्रिम व्यापारों को पूर्णतः बन्द कर देना चाहिए। परन्तु यह ध्यान रखने की बात है जिन स्कंध विनिमयों में अग्रिम व्यापार नहीं होता वे भी इस परिकल्पना से बचे हुए नहीं दिखाई देते। वास्तविक बात यह है कि अग्रिम व्यापार के स्थान पर नकद रोकड़ में व्यापार होना चाहिए। जिस समय नकद रोकड़ में व्यवहार नहीं होता तभी अग्रिम व्यापार का जन्म होता है और उसी से परिकल्पना या सट्टे की प्रवृत्ति जाग्रत होती है। यह अग्रिम व्यापार ही स्कंध विनिमय की जान है। अतः यदि यह बन्द कर दिया जावेगा तो स्कंध विनिमय ही नष्ट हो जावेंगे। अतः बन्द करने की अपेक्षा इन पर नियंत्रण करना अधिक न्याय संगत दिखाई देता है। भारत जैसे देश में

जहाँ अभी औद्योगिक विकास पूर्णरूप से नहीं हुआ तथा जहाँ इस विकास की पूर्ण सम्भावना है वहाँ पर उद्योगों की प्रतिभूतियों के खुलेआम क्रय विक्रय होने का बाजार अवश्यमेव होना चाहिए, नहीं तो इन उद्योगों के लिए धन कहाँ से आयेगा ? अतः इस औद्योगिक विकास के लिए प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय में अधिक से अधिक सुविधायें प्रदान करना तथा इनके बाजार का क्षेत्र विस्तीर्ण करना आज अत्यावश्यक है। यह अग्रिम व्यापार उपर्युक्त दोनों बातों की पूर्ति करता है। अतः इसका बन्द करना भारतवर्ष के लिए तो अत्यन्त अहितकर सिद्ध हो सकता है।

अतः यह उचित दिखाई देता है कि इस अग्रिम व्यापार पर सरकार की ओर से या अन्य किसी प्रकार से नियन्त्रण स्थापित करना चाहिए। यह नियन्त्रण कोई राष्ट्रीय विनियोग सभा (National Investment Board) आदि स्थापित करके किया जा सकता है। गत वर्षों में सरकार ने इस पर नियन्त्रण करने के लिए जिन उपायों का प्रयोग किया था, वे इस समस्या को सुलझाने में सर्वथा असमर्थ रहे। अतः सरकारी नियन्त्रण जैसा कोई अन्य स्थायी कार्य प्रारम्भ होना चाहिए जो स्कंध विनिमयों की कार्यवाहियों का पूरा पूरा नियन्त्रण करता हुआ विनियोक्ताओं के हितों की सुरक्षा करने में भी समर्थ हो। वैसे सरकारी कार्यकर्त्ता इतने व्यवस्थित रूप से कार्य कर सकते हैं कि उनसे कितने ही विनिमय बाजारों की कार्यवाहियों में केवल सहायता ही नहीं मिल सकती, अपितु उसमें पर्याप्त सुधार भी हो सकता है।

बम्बई-स्कंध-विनिमय में परिकाल्पनिक व्यवहारों में भ्रष्टता फैलाने वाले अन्य और कोई व्यक्ति नहीं होते वरन् विनिमय के सदस्य ही होते हैं जो वास्तविक रूप में दलाल नहीं होते। इस विनिमय के सदस्यों में से कुछ दलाल कहे जाने वाले व्यक्ति ऐसे होते हैं जो वास्तव में कृत्यकी (jobber) जैसे होते हैं और प्रतिभूतियों का व्यापार करते हुए परिकल्पना की वृद्धि करते रहते हैं इन्हें तरावनी वाले (Tarawani Walas) कहते हैं। ये लोग दलालों जैसा ही क्रय-विक्रय करते रहते हैं और प्रतिभूतियों के मूल्य में तनिक भी उतार चढ़ाव देखते हैं तो तुरन्त व्यापार कर बैठते हैं जिससे प्रतिभूतियों के मूल्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है तथा विनियोक्ताओं को हानि उठानी पड़ती है। इन तरावनी वालों की स्थिति यह है कि यदि किसी प्रकार दलाल किसी स्थिति विशेष में किसी विशेष प्रतिभूति को खरीदते हैं तो ये लोग भी उनकी देखादेखी उन प्रतिभूतियों को खरीदना आरम्भ कर देते हैं। यदि दलाल लोग बेचना प्रारम्भ कर देते हैं तो ये तरावनी वाले भी उनकी बिक्री आरम्भ कर देते हैं। इनके इन कार्यों से प्रतिभूतियों के मूल्य भी बढ़ते और गिरते रहते हैं। इस तरह इनकी क्रय-विक्रय सम्बन्धी क्रियायें निरन्तर चलती रहती हैं, जिससे मूल्यों में पर्याप्त मात्रा में उतार चढ़ाव होते रहने के कारण विनियोक्ताओं को हानि होती है। इनके कार्य जुआ के सदृश ही होते हैं। अतः इसमें सुधार होना अत्यावश्यक है। इस कार्य

को रोकने का एक ही उपाय है कि स्कंध-विनिमय के सदस्यों से प्रतिवर्ष ये वचन ले लेना चाहिए कि वे किस स्थिति में कार्य करना चाहते हैं अर्थात् वे दलाल (Broker) की स्थिति में या जॉबर (Jobber) की स्थिति में कार्य करेंगे। इस बात की स्पष्ट घोषणा उन्हें करनी चाहिए और फिर इन नियमों का स्कंध-विनिमय-बाजार में कड़ाई से पालन होना चाहिए।

स्कंध-विनिमय-बाजार में जब तक प्रत्येक व्यापार से प्रतिभूति का व्यापार करते समय अन्तर-राशि (Margins) के जमा करने की पद्धति प्रचलित नहीं होती तब तक सभी कम या सीमित धन वाले भी आकर व्यापार कर सकते हैं और व्यर्थ ही परिकल्पना को बढ़ाया करते हैं। अतः यह नियम लागू करना चाहिए कि प्रत्येक व्यापारी को कुछ निश्चित राशि व्यापार करने से पूर्व अन्तर-राशि के रूप में विनिमय के अन्तर्गत अनिवार्य रूप से जमा करनी पड़ेगी। वह राशि एक निश्चित प्रतिशत से किसी भी दशा में कम नहीं होनी चाहिए। केवल कुछ सुविधा या रियायत (Concession) उन लोगों को ही देनी चाहिए जो सुदूर प्रान्तों से आने वाले ग्राहक होते हैं।

निरंक-हस्तान्तरण (Blank Transfers) की पद्धति द्वारा भी परिकल्पना को अत्यधिक उत्तेजना प्राप्त हुई है। अतः इस पर भी अनुशासन करना अत्यावश्यक है। इस प्रथा द्वारा एक विक्रेता प्रतिभूति के सहित खरीदार को अपने हस्ताक्षरों युक्त एक निरंक-हस्तान्तरण पत्र दे देता है और वह खरीदार भी उनको खरीदकर अपने नाम रजिस्टर्ड नहीं कराता, अपितु वह किसी दूसरे व्यक्ति को बेचकर उससे लाभ कमाने की इच्छा किया करता है। इस तरह व्यवहार द्वारा लगातार परिकल्पना को प्रोत्साहन मिलता जाता है। इसलिए यह पद्धति पूर्णतया बन्द होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त एक बात और है कि मुद्रांक-कर (Stamp duty) की अधिकता के कारण भी निरंक-हस्तान्तरण को अधिक उत्तेजना मिलती है। अतः यदि हस्तान्तरण करने में मुद्रांक-कर कम कर दिया जाय तो भी यह निरंक हस्तान्तरण की प्रथा रुक सकती है।

बम्बई-स्कंध-विनिमय के नियमानुसार यद्यपि कपटपूर्ण एवं धोखेबाजी से भरे हुए वैकल्पिक व्यापारों के लिए बड़े दंड देने की व्यवस्था है, परन्तु उन नियमों का कड़ाई के साथ पालन नहीं होता, जिससे अनायास ही अहितकर परिकल्पना की वृद्धि होती रहती है। बम्बई-स्कंध-बाजार में एक अपराध-निरोधक-समिति (Defaulter's Committee) भी है परन्तु उसमें भी कुछ शक्ति नहीं दिखाई देती। इस शिथिलता के कारण विनिमय के व्यापारों में अत्यधिक अन्धेर दिखाई देता है क्योंकि वहाँ व्यापारी यदि अधि-व्यापार (Overtrade) करते हैं तो हानि की अपेक्षा उन्हें लाभ ही अधिक हुआ करता है। फिर उन्हें हानि का भुगतान पूरा-पूरा नहीं करना पड़ता तथा उसका समझौता आपस में हो जाता है। इस प्रकार के व्यक्तिगत समझौतों को कदापि नहीं होने देना चाहिये, क्योंकि ये ही परिकल्पना को बढ़ाने

वाले होते हैं तथा सरकार को भी ऐसे नियम बनाने चाहिए जिससे ये कपट-व्यवहार करने वाले एव व्यक्तिगत समझौतों द्वारा व्यापार करने वाले व्यापारियों को बाजार की दशा से अनुचित लाभ उठाने का अवसर न मिले और स्कध विनिमय में से इनका बहिष्कार हो जाय।

स्कध विनिमय के प्रचलित नियमों के अनुसार किसी भी अधिकृत लिपिक (Authorised clerk) को समवत अपने नाम से सौदा करने का अधिकार नहीं होता, परन्तु वे अपने निजी लाभ के लिए व्यापार करते रहते हैं। अत इन व्यवहारों पर निर्बन्ध लगाना चाहिए। उन्हें तो केवल सदस्य की ओर से प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय की आज्ञा होती है और जैसा सदस्य का आदेश होता है उसी के अनुसार कार्य करना आवश्यक है। यदि इसके विपरीत वे कार्य करते हैं तो उन्हें दोषी सिद्ध करके उनके विरुद्ध कार्यवाही करना चाहिए। उदाहरण के लिए, जैसे यदि किसी लिपिक को अधिकाश अशों का व्यवहार करना है तो पहले वह अपने लाभ के लिए बाजार में उन्हे खरीदता या बेचता है। यद्यपि यह यह क्रय विक्रय किसी सदस्य के नाम से ही करता है, परन्तु इससे उस सदस्य एव ग्राहक दोनों को हानि उठानी पड़ती है। अत इन अधिकृत लिपिकों को निजी लाभ के लिए व्यवहार करने से पूर्णतया रोकना चाहिए।

परिकाल्पनिक व्यवहारों का निरोध करने के लिए यह भी आवश्यक है कि प्रतिभूतियों की सूची में सभी कम्पनियों के अश आदि का समावेश करना चाहिए तथा अधिक से अधिक सख्या में विनियोक्ताओं को विनियोग करने के लिए सुविधायें प्रदान करनी चाहिए। बम्बई स्कध विनिमय में केवल उन्हीं कम्पनियों की प्रतिभूतियों में व्यवहार किया जाता है जो बम्बई में रजिस्टर्ड होती हैं। इससे परिकाल्पनिक व्यवहारों में नियन्त्रण नहीं होता। आज तो प्रतिभूतियों का क्षेत्र विस्तृत करने की आवश्यकता है। अत अधिक से अधिक कम्पनियों की प्रतिभूतियों को बम्बई स्कध विनिमय के अन्तर्गत भी स्थान मिलना चाहिए। इससे जहाँ एक ओर विनिमय-व्यापार का क्षेत्र विस्तीर्ण होगा वहाँ दूसरी ओर प्रतिभूतियों के मूल्य में जो उतार-चढ़ाव अधिक दिखाई देता है उसमें भी कमी आजायगी। इसके अतिरिक्त स्थगित अशों (Deferred Shares) द्वारा भी स्वाभाविक रूप से परिकल्पना को अधिक प्रोत्साहन मिलता है। अत इन अशों को अग्रिम व्यवहार की सूची से पूर्णतया निकाल फेंकना चाहिए।

कुछ लोगों का विचार यह भी है कि अग्रिम व्यवहारों पर बिक्री-कर (Sales Tax) लगा देने से तीव्र परिकल्पना की मनोवृत्ति में पर्याप्त सुधार हो सकता है। साथ ही विनियोक्ताओं की सुविधा के लिए कुछ ऊँचे मूल्य वाली प्रतिभूतियों का विभाजन कम मूल्य वाली प्रतिभूतियों में कर देना चाहिए, जिससे मध्यम श्रेणी के लोग भी धन

विनियोग सुगमता से कर सकें और तीव्र परिकल्पना के लिए विशेष अवकाश न रहे।

अन्त में इस परिकल्पना के रोकने के लिए एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि परिकाल्पनिक-व्यापार करने के लिए अधिकांश परिकल्पक ऋण लिया करते हैं। अब यदि परिकाल्पनिक व्यापार के लिए ऋण देने पर ही प्रतिबन्ध लगा दिया जाय तो किसी सीमा तक इस तीव्र परिकल्पना की मनोवृत्ति का निरोध हो सकता है।

प्रतिभूतियों का मूल्यों में उतार चढ़ाव
(Fluctuations in Security Prices)

स्कंध-विनिमय बाजार में प्रतिभूतियों का व्यापार करने वाले प्रत्येक मनुष्य को उनका क्रय-विक्रय करने से पूर्व यह विचार करना चाहिए कि किसी प्रतिभूति को कब खरीदा जाय तथा कब उसे बेचना उपयुक्त हो सकता है। यह कार्य तभी सम्भव हो सकता है जब वह मूल्य सम्बन्धी समस्त कारणों से पूर्णतया अवगत होता है, क्योंकि मूल्य में उतार-चढ़ाव उपस्थित करने वाले कितने ही कारण होते हैं।

"समुद्र की भाँति स्कंध-विनिमय-बाजारों में भी नाना प्रकार की हवायें चलती हैं तथा वे सभी क्रम-बद्ध नहीं होतीं। प्रायः वे हवायें आँधी के समान उत्पात पैदा करने वाली होती हैं। बाजार कहने से हमारा अभिप्राय किसी वस्तु के एक समय के उपस्थित मूल्यों के स्तर (Level) से है। ये मूल्य-स्तर अत्यन्त नाजुक तथा लचीले होते हैं और एक साधारण कारण से ही तुरन्त प्रभावित हो जाते हैं। कुछ दिनों तक तो बाजार में व्यापार बड़ी शान्ति एवं विघ्न बाधा रहित चलता रहता है, परन्तु शीघ्र ही फिर विनिमय-बाजारों में ऐसी घटा घिर आती है कि विनिमय के जो सदस्य इस प्रकोप से पूर्ण परिचित रहते हैं वे भी इसमें घिर जाते हैं। वहाँ बहुधा अमिनतात्मक गति से अच्छी और बुरी खबरें फैला करती हैं, जिससे मूल्यों में भयंकर परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। वह ऐसी दशा होती है कि उसके परिणाम से बचना भी दुष्कर होता है। सारे बाजार में बार-बार धक्के से लगते हुए दिखाई देते हैं और जो अंश तथा अन्य प्रतिभूतियाँ इनके प्रभाव से अलग होती हैं, वे भी प्रभावित हुए बिना नहीं बचतीं।"—(F E Armstrong , The Book of the Stock Exchange)

अन्य वस्तुओं की भाँति प्रतिभूतियों के मूल्य पर भी माँग एवं पूर्ति के नियम का प्रभाव पड़ता है। यदि किसी प्रतिभूति की माँग अधिक होती है और उसकी पूर्ति का अभाव होता है तो स्वभावतः उसके मूल्य में वृद्धि हो जाती है, उसी प्रकार माँग की कमी होने पर तथा अधिक पूर्ति हो जाने के कारण उन प्रतिभूतियों के मूल्य भी गिर जाते हैं। स्कंध विनिमय बाजार में प्रतिभूतियों की पूर्ति (Supply) सीमित रहती है; वह अन्य किसी वस्तु के उसके स्थान पर उपस्थित करने से अभिवृद्ध नहीं होती और न शीघ्र उत्पादन द्वारा उसे बढ़ाया जा सकता है। अतः प्रतिभूतियों के मूल्य

सम्बन्धी उतार चढाव उपस्थित करने में निम्नलिखित कारणों का विशेष हाथ रहता है, क्योंकि इन कारणों का सम्बन्ध प्रतिभूतियों की माँग एवं पूर्ति से अधिक होता है। ये कारण इस प्रकार हैं —

(१) मुद्रा की दरें (Money Rates) —मुद्रा दर से तात्पर्य यह है कि जो धन ऋण के रूप में लिया जाता है उसकी ब्याज की दर क्या है ? क्योंकि इस ब्याज दर का ही प्रतिभूतियों के मूल्य पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। यदि ब्याज दर अल्पकालीन अनुबन्ध के हिसाब से कम ली जाती है तो इसके फलस्वरूप परिकल्पकों की कार्यवाही में अधिक वृद्धि हो जाती है, क्योंकि ये लोग कम ब्याज दर पर अधिक से अधिक ऋण लेकर प्रतिभूतियाँ खरीदना प्रारम्भ कर देते हैं और उससे पर्याप्त लाभ कमाया करते हैं। इस तरह ब्याज दर के गिरते ही प्रतिभूतियों के व्यवहार में एक अभूतपूर्व परिवर्तन हो जाता है और इनके मूल्य भी बढ़ जाते हैं। परन्तु जब ऊँची ब्याज दर पर ऋण मिलता है तो प्रतिभूतियों की खरीद कम हो जाती है और इनका मूल्य भी गिर जाता है।

(२) मुद्रा स्फीति (Currency Inflation) —आजकल मुद्रा स्फीति के कारण भी प्रतिभूतियों के मूल्य में अधिक उतार चढाव होता हुआ दिखाई देता है क्योंकि इसके कारण लोग प्राय इच्छा न रखते हुए भी अत्यधिक प्रतिभूतियों को खरीदने लग जाते हैं जिससे उनके मूल्य चढ़ जाते हैं। यह तो निर्विवाद सत्य है कि जब हमारे पास अधिक धन होगा तो स्वाभाविक रूप से हमारी माँग अधिक होगी और अधिक माँग होने से मूल्य सदैव बढ़ जाया करते हैं।

(३) व्यापारिक कार्य (Trade Activity) —व्यापारिक तेजी-मन्दी का भी प्रतिभूतियों के मूल्यों पर प्रभाव पड़ा करता है। प्राय तेजी के समय प्रतिभूतियों के मूल्य बढ़ जाया करते हैं तथा मन्दी के समय ये भी कम हो जाते हैं। गत वर्षों में तेजी के कारण बढ़े हुए मूल्यों का दृश्य भारतवर्ष में सभी ने अच्छी तरह देखा होगा। अभी होने वाले महायुद्ध द्वारा यह भली प्रकार अनुभव हुआ है कि प्रतिभूतियों का मूल्य सदैव व्यापारिक परिस्थिति पर ही निर्भर रहता है। यदि व्यापार की अच्छी स्थिति होती है तो प्रतिभूतियों का मूल्य भी अच्छा बना रहता है, परन्तु व्यापार की स्थिति गिरते ही इसके मूल्यों में भी गिरावट प्रारम्भ हो जाती है। वस्तुओं के मूल्य गिरने से पर्याप्त हानि होती है, इससे जनता का विश्वास व्यापार से कम हो जाता है। प्राय ऐसा देखकर चारों ओर निराशा का वातावरण फैल जाता है जिससे प्रतिभूतियों के मूल्य भी स्वभावत गिर जाते हैं।

(४) राजनीतिक परिस्थिति (Political Situation) —युद्ध के द्वारा समस्त व्यापारिक क्षेत्र में पर्याप्त परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। फिर स्कन्ध विनिमय ही भला इससे कैसे बच सकता है। युद्ध काल में शासन का प्रभाव इतना बलवान

होता है कि मूल्यों के बारे में उसी का नियन्त्रण स्वीकार करना पड़ता है और उस समय किसी भी वस्तु के मूल्य का घटना-बढ़ना राज्याज्ञा पर भी निर्भर रहता है। इसके अलावा युद्ध का भय बाजार के ऊपर ऐसा छाया हुआ रहता है कि उस समय राजनीति ही सारे व्यापार का नियन्त्रण करती हुई दिखाई देती है। विगत महायुद्ध में प्रतिभूतियों के मूल्यों में समय समय पर जो परिवर्तन हुये हैं उससे यह बात पूर्णत सिद्ध हो जाती है। युद्ध की सारी अवधि के अन्तर्गत यह स्पष्ट दिखाई देता था कि जैसे ही मित्र राष्ट्रों की विजय होती थी प्रतिभूतियों के मूल्य बढ़ जाते थे और मित्र-राष्ट्रों की हार होते ही मूल्य गिर जाते थे।

परन्तु केवल युद्ध के कारण ही विनिमय-स्कंधों में मूल्य सम्बन्धी परिवर्तन नहीं होते, वरन् इसके अतिरिक्त कुछ राजनीतिक परिस्थितियाँ भी ऐसी होती हैं जो इनको प्रभावित किया करती हैं। जैसे गत २०-२२ वर्षों में प्रतिभूतियों के मूल्यों पर कांग्रेस आदि की क्रान्ति द्वारा भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता रहा है।

(५) शासकीय नीति (State Policy) —जैसे राजनीतिक स्थिति का प्रभाव समग्र व्यापार पर पड़ता है उसी प्रकार शासकीय नीति का भी प्रभाव सारे देश पर तथा उसके उद्योग एवं व्यापारों पर पड़ा करता है और फिर इस प्रभाव से प्रतिभूतियों के मूल्य भी अछूते नहीं रहते। शासकीय नीति सम्बन्धी कार्यों में नये-नये करों का लगाना, उद्योगों पर किसी प्रकार का नियन्त्रण करना, संरक्षण की योजना बनाना, मूल्य-सम्बन्धी नियम बनाना, उद्योगों का वैज्ञानीकरण करना, कुछ अन्य निरोधक उपायों का प्रयोग करना आदि आते हैं जिनका कि प्रभाव किसी न किसी रूप में प्रतिभूतियों के मूल्यों पर भी अवश्य पड़ता है।

६ तात्रिक स्थिति (Technical Position) —तात्रिक स्थिति भी प्रतिभूतियों के मूल्य पर प्रभाव डाला करती है। जैसे यदि बाजार की तात्रिक स्थिति दृढ होती है अर्थात जब बाजार में विक्रय अधिक होता है और अन्य किसी प्रकार का प्रतिकूल प्रभाव बाजार पर नहीं होता तो प्रतिभूतियों का मूल्य स्वभावत बढ जाता है। दूसरी ओर जब बाजार की तात्रिक स्थिति दुर्बल होता है अर्थात् उसमें खरीद अधिक मात्रा में होने लगती है तो ऐसी दशा में वस्तुओं के मूल्य गिर जाते हैं, वैसे ही प्रतिभूतियों के मूल्यों की भी दशा हो जाती है।

(७) बाजार की मनोवृत्ति (Market Psychology) —मूल्यों के उतार चढ़ाव में बाजार की मनोवृत्ति का भी अत्यधिक हाथ रहता है। जैसे, यदि कोई खरीदार किसी विशेष प्रतिभूति को लाभप्रद समझ कर खरीदने लगता है तो उसका अनुकरण करते हुए और लोग भी प्रतिभूतियों को खरीदना प्रारम्भ कर देते हैं जिससे उन विशेष प्रकार की प्रतिभूतियों का मूल्य बढ़ जाता है। वैसे ही यदि कहीं उनका बेचना प्रारम्भ हो जाता है तो उसकी देखा-देखी सभी लोग बेचने लग जाते हैं जिससे

उनके मूल्य गिर जाते हैं। इस प्रकार व्यापारी लोग बाजार में भेड़ की तरह होते हैं। वे लोग तनिक-तनिक सी अफवाह पर एक-दूसरे का अनुकरण करने के लिए तुरन्त उद्यत हो जाते हैं। इस तरह विनिमय बाजारों में प्रतिभूतियों के मूल्यों पर परिकल्पकों का सनक या तरंग का अत्यधिक प्रभाव पड़ा करता है जिसे कि दूसरे शब्दों में बाजार की मनोवृत्ति कहा जाता है।

(८) कम्पनी की आन्तरिक स्थिति (Intrinsic Position) — प्रतिभूतियों के मूल्यों का उतार चढ़ाव बहुत कुछ कम्पनी की आन्तरिक स्थिति पर भी निर्भर रहा करता है। जैसे, यदि किसी कम्पनी की व्यवस्था अच्छी होती है, उसका पूँजी कलेवर भी स्वस्थ होता है, अन्य कार्य भी सुचारु रूप से चलते रहते हैं, तथा वह लाभांश भी अच्छी राशि में देती है और हानि या घाटे के लिए भी उसकी उचित व्यवस्था रहती है तो उस कम्पनी के अंशों का मूल्य स्वभावतः बढ़ा हुआ होगा। उस कम्पनी की इन सभी बातों का पता उसके समय समय पर प्रकाशित होने वाले लेखाओं से चल जाता है।

(९) लन्दन तथा न्यूयॉर्क के विनिमयों का प्रभाव (Vagaries of London and New York) —आधुनिक युग में विश्व के समस्त बाजारों का आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित होगया है। अतः एक देश का प्रभाव आजकल अनायास ही दूसरे देश तक पहुँच जाया करता है। यदि किसी परिस्थिति के कारण लन्दन या न्यूयॉर्क के विनिमयों में प्रतिभूतियों की मूल्य सम्बन्धी कुछ हलचल उत्पन्न हो जाती है तो वह वहीं तक सीमित नहीं रहता, अपितु उसका प्रभाव भारतीय स्कंध-विनिमय के बाजारों पर भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा करता है।

(१०) समाचार पत्रों के मत (Press Opinion) —आधुनिक युग में आर्थिक-क्षेत्र के अन्तर्गत समाचार पत्रों को भी अत्यन्त महत्त्व दिया जाता है। दैनिक, साप्ताहिक तथा पाक्षिक या मासिक पत्रों में व्यापारिक समाचारों के लिए अनिवार्य रूप से स्थान रक्खा जाता है जिसमें व्यापारियों की विभिन्न खबरें छापी जाती हैं। उन खबरों को सभी व्यापारी बड़ी रुचि के साथ पढ़ते हैं तथा उन खबरों के आधार पर ही वस्तुओं के मूल्यों में भी परिवर्तन हुआ करते हैं। कुछ समाचार पत्र अपने यहाँ ऐसे चतुर एवं योग्य व्यक्तियों को नौकर रखते हैं जो स्कंध विनिमयों की दशा के बारे में अपने विचार उपस्थित किया करते हैं। इस तरह अपने विचार या मतों द्वारा ये समाचार पत्र व्यापारिक जगत में पर्याप्त हलचल मचाया करते हैं। यदि किसी समाचार पत्र को व्यापारिक-क्षेत्र में अच्छी ख्याति हो जाती है तो उसके मत एवं विचारों का प्रभाव मूल्यों के ऊपर अत्यधिक मात्रा में पड़ा करता है।

(११) कुछ मिश्रित कारण (Miscellaneous) —ऊपर जिन प्रमुख कारणों का वर्णन किया गया है, प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिवर्तन उपस्थित करने वाले

इतन ही नहीं हैं वरन् इनके अतिरिक्त और भी हो सकते हैं। बाजार में कितनी ही ऐसी परिस्थितियाँ या वस्तुये प्रभावशाली होती हैं जो मूल्यों में परिवर्तन उपस्थित किया करती हैं।

लन्दन-स्कन्ध विनिमय
(London Stock Exchange)

लगभग १५० वर्षों से भी अधिक समय स लन्दन स्कन्ध विनिमय ने आर्थिक जगत में एक महत्वपूर्ण कार्य किया है और आजकल भा वह इङ्गलैंड के अन्तर्गत औद्योगिक कार्यों में अपना अच्छा प्रभाव रखता है। इस विनिमय का महान् कार्य आजकल बेंक ऑफ इङ्गलंड (Bank of England) के भवन में जो विस्तीर्ण चौक है उसी के अन्तर्गत होता है। वहाँ पर नित्य प्रति १०,००० स ऊपर विभिन्न प्रतिभूतियों का व्यवहार नियमित रूप स होता है। इन समस्त व्यवहारों को नित्यश स्कन्ध विनिमय की सूचियों में अङ्कित किया जाता है। इन नित्य व्यवहार होन वाली प्रतिभूतियों म कुछ सरकारी प्रतिभूतियाँ भी हैं जिनका लाखों रुपयों का व्यवहार होता है तथा जिनके मूल्य भी अधिक नहीं होते।

लन्दन-स्कन्ध विनिमय के कार्य के बारे मैं कुछ गलत धारणाये भी फैली हुई हैं। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि वह कोई जुआ का केन्द्र नहीं है, परन्तु लन्दन नगर में धनी एव व्यापारी पुरुषों के क्लब क समान है। वह बाजार पूर्णत स्वतन्त्र है, जिसमें वहाँ के निर्धारित नियमों एव सिद्धान्तों के आधार पर ही व्यवहार होते हैं। ये नियम केवल विनिमय के सदस्यों की सुरक्षा करने वाले ही नहीं हैं, अपितु सर्वसाधारण जनता को भी विनिमय-सदस्यों के कपट व्यवहार स बचाने की व्यवस्था रखते हैं।

इस स्कन्ध-विनिमय-बाजार में अन्य बाजारों की ही भाँति क्रेता एव विक्रेता दोनों एकत्रित होते हैं तथा बड़ी कुशलता एव तीव्रता के साथ व्यापार करते हैं। वहाँ पर कोई भी कम या अधिक धन वाला विनियोक्ता विनिमय के सदस्य-दलाल द्वारा सुगमता से व्यापार कर सकता है।

लन्दन-स्कन्ध-विनिमय का इतिहास (History of the London Exchange)—लन्दन के अन्तर्गत लगभग १७ वीं शताब्दी में प्रतिभूतियों के व्यापार का *आरम्भ हुआ था। यह व्यापार पहले वहाँ के कॉफी हाउसों (Coffee Houses) में होता* था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी अथवा हडसन बे कम्पनी जैसी प्रख्यात कम्पनियों की प्रतिभूतियों का ही व्यापार पहले दलाल की एक साधारण सूचना पर लोगों के इकट्ठे हो जाने के समय हुआ करता था। चैंज ऐले (Change Alley) नामक स्थान ही पहले इन आर्थिक व्यवहारों का मुख्य केन्द्र था। यह स्थान आधुनिक स्कन्ध विनिमय से अधिक दूर नहीं है।

विलियम तृतीय (१६८७ १७०२) के शासन-काल में शासकीय व्ययों के लिए वहाँ के आर्थिक साधनों का केन्द्रीकरण करने की दृष्टि से एक स्थायी राष्ट्रीय ऋण (a permanent national debt) की स्थापना की गई थी। उस समय से ही स्कन्ध सम्बन्धी व्यापार प्रमुख एवं विशेषतापूर्ण व्यवसाय हो गया था। उसके उपरान्त अंग्रेजों ने विश्व के अन्य देशों में कितने ही नये बाजार स्थापित किये, परन्तु उन सभी बाजारों में विनिमय का केन्द्र लन्दन को ही बनाया था। इस तरह इच्छुक विनियोक्ताओं का धन पर्याप्त मात्रा में लन्दन नगर के अन्तर्गत आने लगा था।

सन् १८०१ ई० तक स्कन्ध-विनिमय सम्बन्धी समस्त व्यवहार नैंज ऐले में ही होते रहे, परन्तु उसके उपरान्त विनियोग बढ़ जाने के कारण एक नये भवन की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। अतः फिर यह कार्य केपिल कोर्ट (Capel Court) में होने लगा। इसमें भी स्थान का विस्तार तथा आवश्यक परिवर्तन ५० वर्ष बाद हुआ, परन्तु यह स्थान लन्दन-स्कन्ध विनिमय के लिए तभी से एक स्थायी स्थान बन गया है।

लन्दन स्कन्ध विनिमय एक असस्थापित (Unincorporated) कम्पनी है। इसका समस्त कार्य पारस्परिक समझौते द्वारा बनाये हुए एक सलेख (Deed of Settlement) द्वारा होता है। यह सलेख १८०२ ई० में बना था तथा १८७५ ई० में इसके अन्तर्गत आवश्यक संशोधन उपस्थित किया गया था। मार्च १९४५ से कुछ पहले ही इस विनिमय का प्रबन्ध तथा अर्थ व्यवस्था (Finance) प्रन्यासियों एवं प्रबन्धकों के हाथ में सौंपदी गई थी। इन प्रन्यासियों एवं प्रबन्धकों की नियुक्ति पाँच वर्ष के लिए की जाती है तथा उनका चुनाव कम्पनियों के स्वामियों द्वारा होता है। वहाँ विनिमय का व्यापार तथा सदस्यों की सारी कार्यवाहियाँ स्कन्ध-बाजार के नियमानुकूल होती हैं। इन नियमों को वहाँ की एक समिति (Committee) बनाती है, जो व्यापक कार्यों के निमित्त की हुई समिति (Committee for General Purposes) कहलाती है। इस समिति में स्कन्ध-विनिमय के सदस्यों द्वारा प्रतिवर्ष चुने हुए व्यक्ति काय करने के लिए भेजे जाते हैं।

२५ मार्च १९४५ को वर्तमान स्कंध विनिमय सभा (Council of the Stock Exchange) का निर्माण हुआ। इस सभा को प्रन्यासियों (Trustees), प्रबन्धकों तथा पहली समिति के समस्त अधिकार सौंप दिये गये हैं। पहले प्रन्यासी तथा प्रबन्धक इसके मूल्य सदस्य कहलाते हैं जिनका चुनाव पहली रीति से ही होता है तथा उस समिति के सदस्य अब इसके साधारण सदस्य कहलाते हैं, जिनमें से १/३ सदस्यों का पुनर्निर्वाचन प्रतिवर्ष किया जाता है।

सदस्यता के लिए योग्यता (Membership Qualification).— लन्दन में लन्दन-स्कन्ध विनिमय का सदस्य चुना जाना एक विशेष महत्त्वपूर्णशाली

माना जाता है। बहुत से परिवारों में तो सदस्य बनने की एक परम्परा सी चली आ रही है क्योंकि कभी पिता फिर उसका पुत्र—कोई न कोई सदस्य बना ही रहता है। स्कंध-विनिमय का सदस्य होने के लिए वहाँ कुछ व्यय भी करना पड़ता है। साधारण परिस्थिति में, सदस्य बनने के लिए आवेदन-पत्र भेजने से पूर्व, उस आवेदक को लगभग ४ वर्ष उस विनिमय में क्लर्क की भाँति कार्य करना पड़ता है। इसके उपरान्त यदि वह चुन लिया जाता है तो उसे प्रवेश शुल्क के लिए ३०० गिन्नियाँ विनिमय में जमा करनी पड़ती हैं तथा ५० गिन्नी वार्षिक शुल्क देना पड़ता है और इसके अलावा एक अंश स्कंध-विनिमय का खरीदना पड़ता है। यदि कोई आवेदन विनिमय में पहले ४ वर्ष तक क्लर्क का कार्य नहीं करता तो उसे ६०० गिन्नियाँ प्रवेश-शुल्क (Entrance Fee) में, १०० गिन्नियाँ वार्षिक शुल्क में तथा स्कंध-विनिमय के ३ अंश खरीदने पड़ते हैं। इसके साथ ही सदस्य बनने वाले व्यक्ति को पहले किसी निवृत्त सदस्य से अथवा उसके प्रतिनिधियों से अपना नाम मनोनीत (Nominated) कराना पड़ता है और इसके लिए स्कंध विनिमय से मनोनयन (Nomination) खरीदना पड़ता है। स्कंध-विनिमय के एक अंश का मूल्य १२० पौंड तथा मनोनयन का मूल्य ४०० पौंड होता है।

लन्दन-स्कंध-विनिमय का सदस्य बनने के लिए आवेदक इङ्गलैंड में जन्म लेने वाला होना चाहिए, इसके साथ ही उसकी अवस्था २१ वर्ष होना आवश्यक है तथा वह अन्य किसी व्यापार में संलग्न नहीं होना चाहिए। वैसे जो व्यक्ति एक बार विनिमय का सदस्य हो जाता है वही प्रति वर्ष फिर सदस्य चुन लिया जाता है, परन्तु सभा का यह नियम है कि उसे प्रतिवर्ष सदस्यता के लिए आवेदन-पत्र भेजना चाहिए।

दलाल तथा कृत्यकी (Brokers and Jobbers) :—स्कंध-विनिमय के समस्त सदस्यों को दो नामों द्वारा विभक्त किया जाता है। उनमें से कुछ दलाल तथा कुछ कृत्यकी कहलाते हैं। दलाल-सदस्य तो अपने ग्राहकों की ओर से अथवा जनता की ओर से प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय किया करते हैं तथा प्रत्येक व्यवहार पर जो कुछ उन्हें कमीशन या दलाली आदि मिलती है वही इनकी आय कहलाती है। प्रत्येक प्रतिभूति के व्यवहार में प्राप्त होने वाले कमीशन की दर अलग-अलग होती है तथा वह सभा (Council) द्वारा निश्चित की जाती है।

कृत्यकी (Jobbers) वे सदस्य कहलाते हैं जो वास्तव में प्रतिभूतियों को बेचते तथा खरीदते हैं। ये लोग स्कंध-बाजारों के अन्तर्गत प्रत्येक कार्य करते रहते हैं। वैसे ये लोग भी दलाल या अपने साथी कृत्यकी के बिना कार्य नहीं कर पाते। व्यापार-प्रारम्भ होते समय प्रति दिन ये लोग अपने अपने अड्डों पर खड़े रहते हैं और वहाँ पर ही दलालों के आदेश की प्रतीक्षा करते रहते हैं।

यह व्यापारी वास्तव में बाजार का प्रमुख व्यक्ति होता है तथा इसी के आधार पर स्कंध विनिमय में समस्त व्यापार हुआ करता है। प्रत्येक क्रयकर्ता अपनी अपनी विशेष प्रतिभूतियों का विशेषज्ञ होता है और विनिमय-बाजार का स्थान इन क्रयकर्ताओं के ही कारण भिन्न भिन्न बाजारों में विभक्त हो जाता है, इस तरह एक ही विनिमय में कोई सरकारी प्रतिभूतियों का बाजार हो जाता है, कोई विदेशी बन्ध (Foreign bonds) का कोई बैंक तथा बीमा कम्पनियों की प्रतिभूतियों का तथा कोई टीन, रबड़, सोने की खान आदि के अंशों का बाजार बन जाता है।

जब कोई दलाल-मध्यस्थ किसी ग्राहक के आदेश पर किसी विशेष अंश का व्यापार करने आता है तो सर्वप्रथम वह उस क्रयकर्ता (Jobbers) के पास पहुँचता है जो उस विशेष अंश का व्यवहार किया करता है और क्रयकर्ता को अंश के खरीदने या बेचने के बारे में कुछ न बतलाते बिना ही पहले उससे उस अंश का मूल्य पूछता है। क्रयकर्ता उसे उस अंश का क्रय-मूल्य तथा विक्रय-मूल्य दोनों बतला देता है और क्रय तथा विक्रय दोनों कार्य करने के लिए तैयार रहता है। बाजार की वर्तमान स्थिति के अनुसार किसी भी अंश के क्रय तथा विक्रय मूल्य में पर्याप्त अन्तर रहता है। यह अन्तर क्रयकर्ता का लाभ कहलाता है तथा इसी पर उसकी जीविका का निर्वाह होता है।

क्रयकर्ताओं में भी अत्यधिक प्रतिस्पर्द्धा चला करती है, जिसके कारण इनके अन्दर वास्तविक लाभ की राशि कभी-कभी बहुत कम हो जाती है। इसलिए क्रयकर्ता का व्यवसाय भी बड़ी योग्यता एवं कुशलता द्वारा लाभप्रद हो सकता है। इसके लिए भी पर्याप्त बुद्धि तथा प्रतिभूतियों के मूल्यों के ज्ञान की आवश्यकता होती है। इसी कारण कुछ विशेष अंशों के क्रयकर्ता सदैव उनमें विशेषज्ञ होते हैं।

लन्दन स्कंध विनिमय के व्यापार का स्वरूप (Conduct of Business) —यहाँ के स्कंध विनिमय की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ जितने व्यवहार (Transaction) होते हैं उन पर न दलाल हस्ताक्षर करता है और न क्रयकर्ता ही अपने हस्ताक्षर किया करता है दोनों व्यापारी अपनी-अपनी नोट-बुक में क्रय तथा विक्रय के बारे में केवल नोट कर लेते हैं। परन्तु उसी समय से सौदा पक्का हो जाता है तथा दोनों ही अपनी-अपनी वस्तु देने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

स्कंध-विनिमय के समझौते वाले कमरे में प्रवेश पाने वाले दलालों एवं क्रयकर्ताओं के लिपिक (Clerks) अपने अपने गत दिवस में किए हुए सौदों की परीक्षा करने के लिए एकत्रित होते हैं। ऐसा करने से यह विश्वास हो जाता है कि अंशों के हस्तान्तरण में कोई विघ्न उपस्थित नहीं होगा और जो सौदा जिसके साथ हुआ है वह ठीक है। परन्तु फिर भी कभी-कभी भूल हो जाती है।

लन्दन-स्कंध विनिमय में या तो नकद रोकड़ में व्यापार होता है, नहीं तो उनका हिसाब प्रति पन्द्रहवें दिन होता रहता है। हिसाब की इस पद्धति द्वारा बाजार का क्रय ठीक रूप से चलता रहता है तथा खरीदने या बेचने वाले ग्राहकों को भी पता रहता है कि १५ वें दिन हमें भुगतान या प्रदान का प्रबन्ध करना है। इससे भुगतान-विभाग (Settlement Department) को भी अत्यधिक सुविधा हो जाती है क्योंकि व्यवहारों का आदान-प्रदान नियत समय पर हो जाता है। दूसरे, सदस्य-दलालों के कार्यालय का काम भी कम हो जाता है और जनता को भी अपने व्यापार में कम समय तथा कम-शक्ति अपव्यय करनी पड़ती है। तीसरे, पाक्षिक हिसाब हो जाने के कारण परिकल्पकों को भी बिना धन लगाये हुए शीघ्र ही लाभ प्राप्त हो जाता है।

स्कंध-गृह (House) में केवल सदस्य तथा उनके लिपिक ही जा सकते हैं। यदि और कोई व्यक्ति उसे देखना चाहता है तो उसे पहले वहाँ के अधिकारियों से आज्ञा लेनी पड़ती है और फिर उचित रक्षकों (Escort) के साथ वह देखने जा सकता है। अन्य व्यक्तियों को रोकने के लिये वहाँ प्रत्येक द्वार पर एक-एक रक्षक नियुक्त रहता है, उसे द्वारपाल (Waitors) कहते हैं। वह किसी भी अनधिकारी व्यक्ति को स्कंध गृह में नहीं जाने देता। यदि कोई ग्राहक किसी विनिमय के सदस्य से वार्तालाप करना चाहता है तो उस सदस्य को वह द्वारपाल बाहर बुला लाता है, परन्तु वैसे उन सदस्यों एवं ग्राहकों में सदस्यों के कमरों पर ही व्यापार सम्बन्धी समस्त बातें हो जाती हैं और ये कमरे स्कंध विनिमय बाजार के अत्यन्त निकट ही होते हैं।

जब कभी यह स्कंध-गृह बंद हो जाता है, जैसे कि १ सितम्बर १९३९ में युद्ध की घोषणा के उपरान्त बन्द होगया था, तो थ्रॉगमॉर्टन स्ट्रीट (Throgmorton Street) में साधारण गति से व्यापार हुआ करता है। वह स्थान अत्यन्त संकीर्ण है और समस्त दलाल एवं सदस्यों के लिए केवल एक गली के ही समान है। वैसे लन्दन-नगर का यह एक अत्यन्त जीवनयुक्त एवं चहल-पहल वाला स्थान है जहाँ पर साधारण दलाल, कृत्यकी (Jobbers) तथा उनके ग्राहक सारे दिन घूमा करते हैं। लगभग एक शताब्दि पूर्व चेंज ऐले (Change Alley) में भी ऐसा ही वातावरण रहा करता था।

टिप्पणी —भारतीय स्कंध-विनिमयों में सदस्यों का दलाल एवं कृत्यकी के रूप में वर्गीकरण नहीं मिलता। यहाँ विनिमय के सदस्य दलाल (Brokers) या मध्यग कहलाते हैं, परन्तु वे उपर्युक्त दोनों व्यक्तियों का कार्य करने के लिए स्वतन्त्र होते हैं; अर्थात् वे दलाल का कार्य भी करते हैं और कृत्यकी की भाँति प्रतिभूतियों के विक्रेता भी होते हैं। इसका कारण यह है कि हमारे यहाँ स्कंध-विनिमय की सदस्यता इतनी विस्तीर्ण नहीं है और न कार्य ही लन्दन की भाँति इतना अधिक है जिसके कारण ऐसा विभाजन करने की आवश्यकता हो। यहाँ का यदि कोई सदस्य कृत्यकी

का कार्य करना चाहता है तो उसमें लाभ इतना कम मिलता है कि वह व्यवहार की जोखिम की अपेक्षा सर्वथा अनुपयुक्त होता है। अत सदस्यों के हित की दृष्टि से ही कृत्यकी एवं दलाल के रूप में उनका वर्गीकरण यहाँ नहीं किया गया।

यह ठीक है कि जनता की सुविधा एव लाभ की दृष्टि से स्कध विनिमय के सदस्यों का कृत्यकी एव दलाल के रूप में वर्गीकरण होना चाहिए क्योंकि ऐसा होने से दलाल केवल ग्राहकों की ओर से अपना लाभ न देखता हुआ एक अलिप्त मध्यस्थ की भाँति कार्य करता है जिससे प्रतिभूतियाँ खरीदने में ग्राहक उसकी सलाह एव दिग्दर्शन पर विश्वास कर सकता है। इस तरह एक दलाल यदि कृत्यकी का कार्य नहीं करता तो अधिक विश्वासपात्र हो जाता है। यह जानकर यह दिखाई देता है कि यहाँ पर भी ऐसा वर्गीकरण अवश्यमेव होना चाहिये, परन्तु इसका होना यहाँ सम्भव नहीं। इसके दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि यहाँ स्कध-विनिमयों में जो व्यापार होता है उसकी मात्रा सतोषजनक नहीं है, अर्थात् वह अत्यन्त अल्प है तथा दूसरा कारण यह माना जाता है कि अधिकाश व्यापार यहाँ पर स्वय सदस्यों द्वारा ही किया जाता है। इन दोनों कारणों द्वारा सदस्यों का विभाजन करना कठिन हो जाता है।

Test Questions

1 What is the utility and importance of a Stock Exchange? Explain Carrying over, Jobbers bear, contango and corner
(Bombay B. Com 1937)

2 Discuss the organisation of the Native Stock and Share Brokers Association, *Bombay, with a view to throwing light on what* you consider its weak points (Bombay B Com 1938)

3 Briefly describe the organisation and working of any stock exchange (Bombay B Com 1946)

4 Explain the service which the speculator performs as a risk bearer *Illustrate the effect of his operations by examples of the* Stock Exchange or the Commodity Markets (Bombay B Com 1935)

5 An investor living in Agra desires to purchase five deffered shares of the Tata Iron & Steel Co Ltd Write a letter to him giving *detail of the procedure to be followed* (Agra B Com 1946)

6 Explain *Put option*, Carrying over Contango *Corner* and Bears as used in the stock exchange. (Agra B Com 1942)

7. Explain and illustrate the following stock exchanges terms Cornering Stagging Bull-rigging . c d c r Quotation
(Agra B Com 1945)

8 Discuss the beneficial as well as adverse influences of the Stock and Produce Exchange upon industry and trade
(Agra B Com 1943)

9 Estimate clearly the functions and services of the broker and jobber in the London Stock Exchange Would it be advisable to adopt this bifurcation for Indian Exchanges ? (Agra B Com 1940)

10 Examine briefly the principal factors that govern the prices of stock exchange securities
(Agra B Com 1944)

11 How do the leading exchange of the world deal with the evil of speculation ? What steps have been taken to deal it in the Bombay Share Bazar ?
(Bombay B Com 1939)

12 What sources of information are available to a person desiring to invest his money in the industrial securities of a concern ? How far does this information enable him to make investment on a rational basis ?
(Bombay B Com 1941)

13 A person wishes to buy five ordinary shares of the Tata Iron & Steel Co Ltd Trace in detail the course of events that will make him the owner of these shares
(Bombay B Com 1944)

14 Is it desirable to check speculation on the stock exchange ? Is it practicable ? (Bomay B Com 1944)

15 What is the official list of a stock Exchange ? What is the purpose of listing regulations ? What is option Business ?
(Bombay B Com 1945)

16 Distinguish between speculation and gambling
(Rajputana B Com 1949)

नवाँ अध्याय

कम्पनी के कार्यवाह की कार्य-प्रणाली

(Company Secretarial Work)

कम्पनियों में व्यवसाय के अतिरिक्त कार्यालय के पत्र-व्यवहारादि सम्बन्धी कित ही ऐसे आवश्यक कार्य होते हैं, जिन्हें करने के लिए एक व्यक्ति सर्वथा पृथक् नियुक्त किय जाता है। वह व्यक्ति कार्यवाह या सैक्रेटरी (Secretary) कहलाता है। उसक विभाग भी कम्पनी में सर्वथा अलग रहता है। यह विभाग प्राय. वैधानिक कार्यवाहियं अथवा अन्य पुस्तकों को तैयार करता है, कम्पनी विधान के अनुसार कितनी ही प्रत्याय (Returns) को तैयार करके रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करता है; कम्पनी की व्यापक सभाओं तथा संचालक-सभाओं के कार्य-प्रणाली को लिखता है; अशधारियों के समी सूचनायें, वृत्तलेख (Reports) तथा परिचक्र-पत्र (Circular) भेजता है, अंशधारियं के साथ अशों के वितरण, याचना (Calls) तथा अपहृति (Forfeiture) सम्बन्ध पत्र व्यवहार करता है; अशों का हस्तान्तरण करता है; लाभाशों का भुगतान करता है तथा कम्पनी की पुनर्संगठन एवं पुनर्निर्माण सम्बन्धी योजनायें बनाता है। यदि किस कम्पनी में लेखा (Account) सम्बन्धी विभाग अलग नहीं होता तो कार्यवाह का विभाग ही लेखा-पुस्तकों (Books of accounts) को तैयार करता है, उन पुस्तकों के प्रकाशन तथा अवेक्षण के लिए प्रबन्ध करता है तथा कम्पनी के कर या शुल्क सम्बन्धी समस्त कार्यों को पूर्ण करता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि इन समस्त कार्यों की देखरेख करने वाला व्यक्ति कार्यवाह या सैक्रेटरी कहलाता है, परन्तु यह नितात आवश्यक नहीं कि वह 'कार्यवाह' भी कहलाये। कभी-कभी यह कार्य प्रबन्ध-अभिकर्ताओं द्वारा भी किये जाते हैं। भारतवर्ष में तो अधिकाश कम्पनियाँ प्रबन्ध-अभिकर्ताओं द्वारा ही व्यवस्थित होती हैं। अत. यहाँ तो कार्यवाह के समस्त कार्य ये लोग ही कर लेते हैं और किसी अन्य व्यक्ति को इस कार्य के लिए नियुक्त नहीं करते। इसी प्रकार बहुत सी अधिकोषण तथा बीमा कम्पनियों में भी सचालकों, प्रबन्ध संचालकों, प्रबन्धकों या सामान्य-प्रबन्धकों (General managers) द्वारा यह कार्य सम्पन्न हो जाता है। ससार में नाम का कोई

महत्त्व नहीं होता, महत्त्व तो सदैव कार्य का ही होता है। अतः जो व्यक्ति कार्यवाह के इन कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है वही कार्यवाह या सैक्रेटरी कहलाता है, फिर वह चाहे कुछ भी क्यों न हो। कुछ प्रबन्ध-अभिकर्त्ता तो स्वयं अभिकर्त्ता (Agent) तथा कार्यवाह या केवल कार्यवाह ही कहलाते हैं

यद्यपि कम्पनी में कार्यवाह की क्या स्थिति होती है, इसका विवेचन विधान में नहीं मिलता, परन्तु फिर भी भारतीय कम्पनी-विधान तथा भारतीय आयकर-विधान (Indian Income-Tax Act) के अनुसार उसकी कुछ कार्यवाहियों अथवा कर्त्तव्यों के विषय में जानकारी हो सकती है। प्रायः यह कम्पनी का सेवक होता है तथा उन समस्त कार्यों के लिए उत्तरदायी होता है जिनका कि उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कोई भी अन्य व्यक्ति जो इसके उत्तरदायित्व को स्वीकार कर लेता है वही कार्यवाह हो जाता है। इस प्रकार एक कार्यवाह कम्पनी का केवल कर्मचारी होता है। उसकी कोई अलग सत्ता नहीं होती। यह बहुधा संचालकों के आदेश एवं उनकी सलाह से ही कार्य करता है, परन्तु फिर भी कम्पनी की व्यवस्था में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। कम्पनी के स्वरूप एवं कार्यों के अनुसार कार्यवाह के अनेक कर्त्तव्य होते हैं। सामान्य कम्पनियों में एक कार्यवाह अपने कार्यवाहिक कार्यों के अतिरिक्त लेखा-कार्य तथा पत्र-व्यवहार आदि का कार्य भी करता है। परन्तु बड़ी कम्पनियों में यह अपने सहयोगियों के सहित केवल कार्यवाहिक-कार्य (Secretarial work) के लिए ही उत्तरदायी होता है। इस प्रकार एक कार्यवाह का कम्पनी में संचालकों के उपरान्त दूसरा स्थान होता है। कम्पनी के रजिस्टर्ड होने से पूर्व समस्त प्रारम्भिक कार्यवाहियों को तो प्रवर्त्तक (Promoters) किया करते हैं, परन्तु कार्यवाह सदैव कम्पनी के निर्माण होने के उपरान्त कार्य क्षेत्र में आता है।

साधारणतः कार्यवाह को पर्याप्त मात्रा में व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए तथा कम्पनी में यदि अंग्रेजी भाषा में कार्य होता है तो उसे अंग्रेजी का भी उत्तम ज्ञान होना चाहिए। इसके साथ ही उसको कम्पनी, आय-कर, व्यापार-लाभ-कर (Business profit tax), व्यापारिक नियम तथा अन्य वैधानिक कार्यवाहियों का पूर्ण ज्ञान रखना चाहिए। उसको विवेकी, कार्य-कुशल तथा अनुभवी होना आवश्यक है। कम्पनी के कितने ही महत्त्वपूर्ण कार्य उसे दिन-रात करने पड़ते हैं; अतः उसमें तात्रिक योग्यता एवं व्यापार-कुशलता का होना भी अनिवार्य है। बहुधा संचालक-गण या सभापति अनेक मामलों में उसकी सलाह लेते हैं, विशेषकर व्यवस्था-कार्य के लिए तो प्रत्यक्ष रूप से कार्यवाह की ही सलाह ली जाती है। कम्पनी के बहुत से निजी कार्यों, जैसे—पूँजी-विनियोग, समितियों, क्लबों या धार्मिक तथा सामाजिक संस्थाओं के लेखे तथा रिपोर्टें बनाने के लिए कार्यवाह की सम्मति एवं सलाह

लेना आवश्यक होता है, अतः उसमें अच्छी निर्णय-शक्ति, योग्यता तथा कुशलता का होना परमावश्यक माना जाता है। उसे कम्पनी की दैनिक व्यवस्था में कितने ही व्यक्तियों के सम्पर्क में आना पड़ता है, इसलिए यदि वह व्यक्ति-सम्बन्धी, अन्य व्यापारों तथा कम्पनियों के सगठन के बारे में अच्छा ज्ञान रखता हो तो निस्सदेह कंपनी में आवश्यक सुधार करके उसकी कार्य-क्षमता बढ़ा सकता है। कार्यवाह का सर्वप्रथम कार्य उसके शब्द 'सैक्रेटरी' के अनुकूल यह है कि उसमें गोपनीयता (Secrecy) का गुण होना चाहिए। क्योंकि वह कम्पनी का अत्यन्त विश्वासपात्र व्यक्ति होता है और यदि वह चाहे तो कम्पनी के कितने ही गोपनीय कार्यों को प्रकट कर सकता है। इस कारण उसकी भूल से या अनायास ही उन गोपनीय बातों के प्रकट कर देने से कम्पनी को अत्यधिक हानि हो सकती है।

यदि कम्पनी-विधान के विपरीत कोई कार्यवाही हो जाती है तो कार्यवाह भी उसके लिए दडनीय होता है। इसलिए यह भली प्रकार समझना चाहिए कि कार्यवाह किसी कम्पनी का एकमात्र वेतन प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही नहीं होता वरन् उसके महत्त्वपूर्ण कार्यों का उत्तरदायी भी होता है। इसी कारण उसे निरन्तर जागरूक, सावधान तथा अपने कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व के लिए सचेत रहना चाहिए।

एक नवीन कम्पनी के कार्यवाह का सर्वप्रथम यह कर्त्तव्य है कि वह कम्पनी के कार्यवाह-विभाग को क्रमानुसार सगठित करे। किसी भी कार्यालय के प्रधान के लिए सदैव ऐसा व्यक्ति चुनना चाहिए जो उसके बारे में पूर्ण ज्ञान रखता हो तथा अच्छा अनुभवी हो, क्योंकि उत्तरदायित्वपूर्ण स्थान पर अज्ञानी एव अकुशल व्यक्ति को नियुक्त नहीं करना चाहिये। सुसगठित व्यवसायों के लिए यह सिद्धान्त ध्यान में रखना चाहिये कि न्यूनतम व्यय में अधिकतम उत्पादन या लाभ प्राप्त हो। इसके साथ ही कर्मचारियों में न्यूनतम सघर्ष तथा अधिकतम सहयोग की भावना रहना भी किसी सुसगठित उद्योग की सफलता का परिचायक है। अतः जो व्यक्ति श्रम-विभाजन एव कार्य-विभाजन आदि के कार्य चतुरता से कर सके तथा जो अपनी योग्यता एव कुशलता से अपने उत्तरदायित्व की रक्षा करता हुआ कम्पनी की उन्नति एव व्यवस्था में पर्याप्त सुधार उत्पन्न कर सके वही व्यक्ति कार्यवाह होने की क्षमता रखता है। एक कार्यवाह को अपने चरित्र तथा योग्यता के उपयोग करने के लिए पर्याप्त क्षेत्र मिलता है, क्योंकि उसे अपने कार्यालय की पूर्ण व्यवस्था करने का अधिकार होता है। अतः उसमें विचारों की विशालता तथा नीति-कुशलता का होना भी अनिवार्य है।

यद्यपि व्यापारिक क्षेत्र में मानव-शास्त्र का विशेष महत्त्व नहीं होता, परन्तु यदि कोई कार्यवाह इस विषय का भी पर्याप्त ज्ञान रखता है अर्थात् व्यक्ति-परीक्षण (To read

character) का गुण भी यदि उसमें है तो वह अपने सहयोगी कर्मचारियों के सगठन में महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त कर सकता है। इस गुण के कारण वह प्रत्येक व्यक्ति में रुचि रखेगा तथा प्रत्येक के विचार तथा धारणायें जानने का प्रयत्न करेगा। यदि उसे किसी व्यक्ति के अन्तर्गत "स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क" (A sound mind in a sound body) दिखाई देता है तो वह उसे अपने कार्य की सफलता के लिए उचित स्थान देगा। इस तरह कार्य-विभाजन या श्रम-विभाजन में उसे अपने उपर्युक्त गुण के कारण पर्याप्त सफलता मिल सकती है। बहुधा कार्य करते हुये खेलने या मनोरंजन करने की इच्छा हुआ करती है। वैसे खेलन का भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। परन्तु यदि एक पद्धति के अनुसार कार्य किया जाता है तो उसमें न अधिक शक्ति की आवश्यकता होती है और न अधिक मनुष्य ही लगाये जाते हैं, वरन् खेल ही खेल में समस्त कार्य बड़ी सुगमता से हो जाता है। इस प्रकार कार्य करने के समान खेल कुछ नहीं होता और कार्य प्राय पद्धति (System) के अनुसार करने पर सरलता से सम्पन्न हुआ करते हैं। इसलिए एक कार्यवाह को उस पद्धति का ज्ञान रखना भी आवश्यक है जिससे कार्य-प्रणाली की नियोजना करके वह अपने थोड़े से ही व्यक्तियों द्वारा अधिक से अधिक कार्य को पूरा कराने में समर्थ हो।

एक कार्यवाह को अपने कार्यालय का सगठन करके निम्नलिखित कार्य करने पड़ते हैं —

(अ) उसे कम्पनी के नाम का फलक (Board) लिखवाकर कम्पनी के मुख्य कार्यालय पर उसके विभाग-कार्यालय पर बाहर की ओर लगाना चाहिए।

(ब) कम्पनी की सार्व-मुद्रा (Common seal) पर कम्पनी का नाम स्पष्ट अक्षरों में खुदवाना चाहिए।

(स) सूचना पत्रों, विज्ञापनों, कम्पनी के समस्त कार्यालय के प्रकाशनों (Publications), समस्त विनिमय-पत्रों (Bills of Exchange), हुण्डियों, प्रॉमिसरी नोटों, पृष्ठाङ्कनों (Endorsements), चैकों, जोकि कम्पनी की ओर से हस्ताक्षरित होते हैं तथा बिपत्रों (Bills), बीजकों (Invoices), रसीदों तथा कम्पनी के समाकलन-पत्रों (Letters of credit) पर भी कम्पनी का नाम अंकित कराना चाहिए।

(द) उसे कम्पनी के कार्यालय में एक सूचना फलक (Notice board) लगाना चाहिये जिस पर सदस्यों से सम्बन्धित समस्त प्रकाशन, तथा जनता सम्बन्धी सभी सूचनाएं आदि चिपकवानी चाहिएं। ये समस्त सूचनाएं अवधि से पूर्व ही लगानी चाहिए।

यह हम पहले ही बता चुके हैं कि कम्पनी के कार्यवाह को कितने ही कार्य करने पड़ते हैं और उन समस्त कार्यों की जानकारी रखना भी अनिवार्य होता है। अत इस जानकारी के लिए अब हम उसके विभिन्न कर्त्तव्यों का विवेचन क्रमश विस्तारपूर्वक करेंगे।

पूँजी निर्गमन (Issue of Capital)

कम्पनी की संस्थापना के उपरान्त सबसे पहले पूँजी प्राप्त करना आवश्यक होता है। यह पूँजी निजी व्यक्तियों या प्राय जनता से प्राप्त की जाती है। यदि किसी कम्पनी की अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) पाँच लाख रुपये से अधिक होती है तो वह पूँजी निर्गमन विधान १९४७ (Capital Issues Act 1947) के अनुसार केन्द्रीय सरकार की लिखित अनुमति के बिना अपने प्रथम अंशों का निर्गमन (Issue) नहीं कर सकती है। यदि वह पूँजी जनता के विनियोग द्वारा एकत्रित होती है तो उसे इस आशय के लिए एक विवरण पत्रिका प्रकाशित करनी पड़ती है तथा उसके साथ एक आवेदन पत्र भी उपस्थित करना पड़ता है। आवेदक उस आवेदन-पत्र को भरकर आवश्यक आवेदन राशि के साथ उसे कम्पनी के अधिकोषिकों (Bankers) के पास भेज देते हैं। बहुधा यही पद्धति प्रयोग में लाई जाती है। परन्तु कभी कभी कम्पनियाँ ऐसा भी करती हैं कि आवेदन-पत्र तथा आवेदन राशि को अपने कार्यालय या प्रबन्ध अभिकर्त्ता के कार्यालय में प्राप्त करती हैं।

आवेदन पत्रों की सूची (Listing of Application Forms) — जब आवेदन पत्र सीधे कम्पनी के कार्यालय में या अधिकोषिकों के द्वारा प्राप्त हो जाते हैं तो उनका परीक्षण किया जाता है जिससे यह निश्चित हो जाय कि सभी आवेदन पत्र समुचित रीति से भरे गये हैं एवं उनमें से प्रत्येक की आवेदन-राशि प्राप्त हो गई है। इस प्रकार समस्त आवेदन पत्रों का कार्यवाह द्वारा परीक्षण होने के उपरान्त उनकी सूची बनाई जाती है। जिस पत्र पर यह सूची बनाई जाती है वह 'आवेदन तथा वितरण पत्र" (Application and Allotment sheets) कहलाता है। जब निर्गमन अधिक किया जाता है तथा आवेदन पत्रों की संख्या भी अधिक हो जाती है तो इन पत्रों को अक्षरों के क्रमानुसार (Alphabetically) बनाया जाता है और प्रत्येक अक्षर के लिए पृथक् पत्र (Sheet) प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार यह कार्य कितने ही लिपिकों (Clerks) में विभक्त कर दिया जाता है। प्रत्येक पत्र के अन्त में योग लगाया जाता है और अन्त में एक संक्षिप्त-पत्र (Summary sheet) पर समस्त पत्रों (Sheets) का योग उतार कर जोड़ लिया जाता है। जब वितरण समाप्त हो जाता है तो समस्त पत्रों (Sheets) को एक पुस्तक के रूप में एकत्रित कर लेते हैं और उसे स्थायी प्रलेखों की भाँति सुरक्षित रखते हैं।

आवेदन तथा वितरण-पुस्तक (Application and Allotment Book)

बायें हाथ से लाइनें करना (Left-hand Ruling)—

आवेदन पत्र क्रम-संख्या (Application No)	वितरण क्रम-संख्या (Allotment No)	नाम (Name)	पता (Address)	व्यवसाय (Occupation)	आवेदित अंश (Shares applied for)	प्रदत्त आवेदन राशि (Paid on application)	रोकड़खाता पृष्ठ (C B Folio)	विशेष विवरण (Remarks)
						रु०		

दायें हाथ से लाइनें करना (Right-hand Ruling)—

वितरित अंश (Shares allotted)	स्पष्ट संख्या (Distinctive nos) से (form)	तक (to)	आवेदन तथा वितरण पर प्राप्त कुल राशि (Total due on application and allotment)	वितरण पर प्राप्य शेष राशि (Balance due on allotment)	भुगतान तिथि (Date of payament)	लौटायी जाने वाली राशि (Amount refunded)	रोकड़ खाता पृष्ठ (C B Folio)	सदस्य पंजी पृष्ठ (Register of members Folio)	अंश प्रमाणपत्र क्रमांक (Share Certificate no)	विशेष विवरण (Remarks)
			रु०	रु०						

वितरण (The Allotment)—जब न्यूनतम प्रार्थित धन (Minimum Subscription) प्राप्त हो जाता है तथा सूची बन जाती है तो आवेदन-पत्रों पर विचार करने के लिए सचालकों की एक सभा होती है और वे लोग वितरण करते हैं। आवेदन तथा वितरण पत्रों पर कम्पनी के सभापति (Chairman) के हस्ताक्षर होने चाहिए। वितरण-सम्बन्धी सचालकों के प्रस्ताव सचालकों की विवरण पुस्तक (Minute Book) में अंकित किए जाते हैं। यह प्रस्ताव इस प्रकार होता है :—

"यह निश्चय किया जाता है कि आवेदन तथा वितरण पत्र के "वितरण अश" (Shares Allotted) वाले शीर्षक में लिखे हुए अशों की सख्या, प्रत्येक आवेदक के नाम तथा पते के सम्मुख, वितरित अशों की कुल सख्या में प्रत्येक आवेदक को वितरित किये जायेंगे तथा वितरित अशों का विवरण और वितरण पर प्राप्य राशि का उल्लेख करके प्रत्येक आवेदक को पत्र भेजे जायेंगे। यदि किसी आवेदक को कोई अश वितरित नहीं होगा तो उसके नाम के सम्मुख भी कोई अश नहीं लिखा जाएगा और खेद प्रदर्शन-पत्र (Letter of Regret) के साथ उसकी आवेदन राशि उसे लौटा दी जायगी।"

यदि विवरण-पत्रिका के प्रकाशित होने से १८० दिनों के अन्दर ही वितरण का कार्य नहीं किया जाता तो आगामी १० दिनों में ही सभी आवेदनों का धन उन्हें लौटाना पड़ता है।

कम्पनी को विवरण-पत्रिका प्राय जनता से अशों का प्रस्ताव करने के लिए प्रकाशित की जाती है और जो आवेदन पत्र जनता कम्पनी में भेजती है वही जनता का अशों के लिए प्रस्ताव होता है। इसके साथ ही कम्पनी द्वारा अशों का जो वितरण होता है वही उन प्रस्तावों की स्वीकृति (Acceptance) कहलाती है। इसलिये प्रत्येक आवेदक अपने आवेदन-पत्र को अश वितरण-पत्र के प्राप्त होने से पूर्व वापिस मँगा सकता है। अश-वितरण-पत्र द्वारा ही कम्पनी तथा आवेदक के मध्य अनुबन्ध (Contract) स्थापित होता है और इसके उपरान्त आवेदन पत्र वापिस मगाने का अधिकार नहीं रहता। वितरण-पत्रों के भेजने का लेखा कम्पनी के कार्यालय में सुरक्षित रखा जाता है।

वितरण-पत्र (Letter of Allotment) :—संचालकगण जब अशों का वितरण कर लेते हैं तो वितरण सम्बन्धी समस्त आवेदन तथा वितरण-पत्रों (Application and Allotment Sheets) में अंकित करना चाहिए और तत्सम्बन्धी एक-एक पत्र प्रत्येक आवेदक के समीप भेजना चाहिए। वितरण-पत्र को बड़ी सावधानी के साथ आवेदन तथा वितरण-पत्रों की सहायता से तैयार करना चाहिए तथा उस पर दो आने का रसीदी टिकिट (Revenue stamp) लगाकर प्रत्येक आवेदक के समीप उनके नामों और पतों का ठीक-ठीक परीक्षण करके भेजना चाहिए। प्रत्येक आवेदक का

पता आवदन पत्र पर ही लिखा रहता है। नीचे वितरण पत्र का एक उदाहरण दिया जाता है —

स्वदेशी बीमा कम्पनी लिमिटेड

आवेदक का नाम — २५, सिविल लाइन्स,
तथा पता — आगरा, १५ मार्च १६४६

श्रीमान् श्रीमती

आपके आवेदन-पत्र दिनाङ्क के अनुसार स्वदेशी बीमा कम्पनी लिमिटेड के रु० के अश आपके नाम वितरित किए जाते हैं।

आवेदन तथा वितरण पर प्राप्य राशि रु० प्रति अश होगी।

आपका पूर्व प्रदत्त धन रुपये

आपका वितरण पर प्राप्य (due) राशि रु०

प्राप्य राशि का भुगतान आपको दिनाङ्क से तक या इससे पूर्व करना होगा।

भवदीय—

प्रबन्ध अधिकर्ता

इस प्रपत्र (Form) को के पास भेजना चाहिए। वह इस पर प्राप्ति लिखकर वापस कर देगा। इस प्राप्ति (receipt) को जब तक प्रमाण पत्र नहीं मिल जाता तब तक सँभालकर रखना चाहिए।

अधिक प्रार्थित पूँजी (Over Subscription) —यदि जनता से प्रस्तावित अशों की कम्पनी मे प्रार्थित पूँजी अधिक आजाती है और कुछ आवेदकों को प्रार्थित अशों के बराबर ही अश वितरित हो जाते हैं, कुछ लोगों को कम अश मिल पाते हैं तथा कुछ ऐसे भी शेष रह जाते हैं जिन्हें कोई अश नहीं मिल पाता तो याचित धन से अधिक धन प्रार्थित पूँजी (Subscription) के रूप में आ जाने पर वितरण के अनुकूल राशि को रखकर शेष धन आवेदकों को लौटा दिया जाता है।

खेद प्रदर्शक पत्र (Letter of regret) —यदि प्रार्थित धन अधिक सख्या में प्राप्त हो जाता है और कुछ आवेदकों को अशों का वितरण नहीं हो पाता, तो उनकी आवेदन-राशि के सहित उनके पास एक खेद प्रदर्शक पत्र भेजा जाता है। यह पत्र इस प्रकार का होता है —

स्वदेशी बीमा कम्पनी लिमिटेड

आवेदक का नाम
तथा पता

२५, सिविल लाइन्स,
आगरा, १५ मार्च १९४९

श्रीमान् /श्रीमती,

आपके आवेदन पत्र दिनाङ्क .... के अनुसार हम आपको यह सूचना देते हुए सचालकों का खेद प्रकट करते हैं कि आपके नाम पर इस कम्पनी के अंशों का वितरण करने में वे लोग असमर्थ हैं।

अत. आपकी आवेदन-राशि लौटाते हुए हम .... रु० का चैक इस पत्र के साथ भेज रहे हैं। कृपया इसकी प्राप्ति से हमें सूचित करें।

भवदीय
....
प्रबन्ध-अभिकर्ता

साथ लगे पत्र —चैक।

वितरण प्रत्याय (Return of Allotment) :—अंशों के वितरण होने पर वितरण तिथि से १ माह के अन्दर रजिस्ट्रार के पास एक वितरण-प्रत्याय प्रस्तुत करना पड़ता है। यह प्रत्याय (Return) निम्नलिखित विवरण सहित निर्धारित-प्रपत्र (Prescribed form) पर बनाया जाता है —

(अ) उसमें विभिन्न प्रकार के वितरित अंशों (Allotted Shares) की सख्या तथा उनके अंकित मूल्य (Nominal Value) का उल्लेख किया जाता है;

(ब) प्रत्येक अंश पर प्राप्य (Payable) राशि लिखी जाती है;

(स) रोकड़ (Cash) के अतिरिक्त अन्य किसी प्रतिफल (Consideration) के लिए वितरित अंशों का विवरण तथा प्रत्येक अंश पर कितनी राशि प्रदत्त (Paid) मानी गई है इसका उल्लेख करना पड़ता है; तथा

(द) आवेदकों के नाम, पते तथा विवरण (Description) आदि लिखे जाते हैं।

रोकड़ के अतिरिक्त अन्य किसी प्रतिफल के लिए वितरित अंशों वाले व्यक्ति के साथ यदि किसी प्रकार का लिखित अनुबंध (Contract) होता है तो वह भी रजिस्ट्रार के यहाँ उपर्युक्त प्रत्याय (Return) के साथ प्रस्तुत करना पड़ता है। यदि वह अनुबंध

लिखित रूप में नहीं होता तो उसका विवरण आवश्यक शुल्क के सहित रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करना चाहिए ।

सदस्य-पञ्जी या सदस्यों का रजिस्टर (Register of Members) — जब अंशों का वितरण समाप्त हो जाता है, तो उस समय सदस्य पंजी में आवश्यक विवरण लिखा जाता है । इसी रजिस्टर या पञ्जी में प्रत्येक सदस्य का पृथक् पृथक् लेखा (Account) रक्खा जाता है ।

याचना (Calls)

अंश-याचना पद्धति (How call is made) — निर्गमित होने वाले अंशों के लिए यह आवश्यक होता है कि उनका अंकित मूल्य (Nominal Value) कभी एक साथ नहीं देना पड़ता । उनके लिए प्रायः जनता को कुछ रुपया आवेदन-पत्र के साथ भेजना पड़ता है जोकि धारा १०१ के अनुसार ५ प्रतिशत से कम नहीं होता; कुछ धन उन्हें वितरण पर देना पड़ता है तथा शेष धन अंत में किसी निश्चित तिथि को देना पड़ता है या वह शेष धन अंशों में देने के लिए छोड़ दिया जाता है । कभी-कभी उस धन को कितने ही प्रभागों (Instalments) में भिन्न-भिन्न तिथियों पर माँगा जाता है । इस शेष राशि को बहुधा सचालक लोग कम्पनी की आवश्यकतानुसार एवं अन्तर्नियमों में निर्दिष्ट अनुपात पर ही मँगाया करते हैं । संचालकों द्वारा की गई यही माँग (Demand) प्रायः "याचना" (Call) कहलाती है । जब यह याचना करनी होती है उस समय सर्वप्रथम सचालक-सभा बुलाकर सभा में याचना का प्रस्ताव किया जाता है और उसकी स्वीकृति पर सदस्यों को याचना की सूचनाएं भेजी जाती हैं ।

कितनी ही कम्पनियों के अन्तर्नियमों में कितनी राशि की प्रथम याचना की जाय तथा दो याचनाओं के बीच में कितना समय की अवधि दी जाय आदि समस्त बातों का उल्लेख रहता है । इसलिये कम्पनियों के कार्यवाह (Secretaries) को अंश-याचना करते समय सावधानी के साथ कम्पनी के अन्तर्नियमों को अच्छी प्रकार देखना चाहिए और पूर्णरूप से उन नियमों के अनुसार ही कार्यवाही करनी चाहिए ।

याचना-सूची (Call list) — निम्नलिखित ढंग से सदस्यों की सूची बनाई जाती है तथा प्रत्येक सदस्य के वितरित किए हुए अंश का क्रमांक याचना पत्र पर अंकित किया जाता है ।

याचना-सूची का नमूना

साधारण अंश की २०) रु० प्रति अंश के हिसाब से प्रथम याचना दिनांक को करनी होगी।

क्रमाङ्क (No)	नाम (Name)	पता (Address)	अंश संख्या (No of Shares)	पृष्ठ (Folio)	शेष राशि (Amount due)	भुगतान तिथि (Date Paid)	प्राप्त राशि (Amount Paid)	विशेष विवरण (Remarks)
					रु०		रु०	

यह सूची सदस्यों के रजिस्टर से बनाई जाती है। सदस्यों की शेष राशि (Amount due) जो याचना सूची में लिखी जाती है, उसका जोड़ करके याचना राशि के योग से अच्छी तरह मिला लेना चाहिए ताकि किसी प्रकार की भी त्रुटि न रहे।

याचना-पत्र (Call-Letters) —जब याचना-सूची तैयार करली जाती है तथा ठीक प्रकार से जाँच ली जाती है, तब अंशधारियों को याचना-पत्र लिखे जाते हैं। ये समस्त पत्र सदस्यों को सूचना देने के लिए कम्पनी के अन्तर्नियमों से सम्बन्धित आयोजनों के आधार पर भेजे जाते हैं और इन समस्त पत्रों का लेखा (Record) भविष्य में पत्र व्यवहारादि से सम्बन्ध रखने के लिए कम्पनी में सुरक्षित रखा जाता है। अंशधारियों को सूचित करने की पद्धति आगे समझाई जायेगी। नीचे याचना पत्र का नमूना दिया जाता है —

स्वदेशी बीमा कम्पनी लिमिटेड

क्रमाङ्क———   २५, सिविल लाइन्स,

———————————   आगरा।

———————————   ———१६४६ ई०

———————————

श्रीमान्/श्रीमती

आपको यह सूचित किया जाता है कि संचालकों ने दिनाङ्क.... .... को सभा के प्रस्ताव द्वारा कम्पनी के   अंशों को पूर्ण प्रदत्त (Fully paid)

या रु० प्रति अंश तक प्रदत्त (paid) करते हुए इन अंशों पर रु० प्रति अंश की याचना की है।

आपके नाम रजिस्टर्ड हुए . . . . अंशों की शेष (Due) राशि . . रु० है जोकि इस सूचना के साथ दिनाङ्क . को या पहले कम्पनी के दलालों, . बैंक लि० आगरा में या इस बैंक की किसी भी शाखा में भेजना चाहिए। वे दलाल या शाखायें आपकी "धन प्राप्ति' लिखकर यह सूचना वापिस कर देंगी।

प्राप्ति लिखा हुआ यह याचना पत्र आपको सँभाल कर रखना चाहिए, क्योंकि अंश प्रमाणपत्र लेते समय यह आपको कम्पनी में लौटाना पड़ेगा। इससे सम्बन्धित अन्य पत्रादि आपके पास समयानुसार भेजे जायेंगे।

भवदीय—

प्रबन्ध अभिकर्ता

याचित धन प्राप्ति की रसीद (Receipt of Money in Payment of Calls) —बहुधा याचित धन कम्पनी के कार्यालय में जमा करना करना पड़ता है, परन्तु यह सुविधाजनक दिखाई देता है कि वह धन कम्पनी के अधिकोष या बैंक में जमा कर दिया जाय तथा वहाँ से रसीद ले ली जाय। इस रसीद का प्रपत्र (Form) याचना पत्र के साथ ही लगा रहता है। अत जब याचना का पूरा धन बैंक में जमा हो जाय तो उस प्राप्ति प्रपत्र या रसीद को दे देना चाहिए।

सदस्य पंजी या सदस्यों का रजिस्टर —याचना राशि की सूचना भेजते ही सदस्यों के रजिस्टर में प्रत्येक सदस्य के लेखे को शेष राशि से विकलित (Debited) कर देना चाहिए तथा जैसे ही सदस्य से याचना-राशि प्राप्त हो जाय वैसे ही उससे भिन्न (Various) लेखे को समाकलित (Credited) कर देना चाहिए।

अंश प्रमाणपत्र (Share Certificates) —अंश प्रमाणपत्र में बहुधा अंशों पर दी हुई राशि तथा अंशत देने का स्थान लिखा रहता है। इसके साथ ही आगामी भुगतान के लिए भी उसमें उल्लेख रहता है। आगामी भुगतान (Subsequent payment) वाले मामलों में प्रत्येक सदस्य से, याचना (Call) करते समय यह प्रार्थना करनी चाहिए कि वे लोग अपने प्रमाण पत्रों को अधिकोषिक (Banker) की रसीद के साथ कम्पनी के कार्यालय में भेजें जिससे वहाँ पर पृष्ठाङ्कन (Endorsement) हो जाय।

अंशों की अपहृति (Forfeiture of shares)

अंशों की अपहृति या हरण के सम्बन्ध में कम्पनी विधान १६१३ में केवल धारा ३२ को छोड़कर कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। धारा ३२ के अनुसार समस्त

हरण किये जाने वाले अंशों का विवरण वार्षिक प्रत्याय (Annual return) में सम्मिलित रहना चाहिए। इस प्रकार यदि कम्पनी के अन्तर्नियमों में अंशों की अपहृति के सम्बन्ध में कुछ नहीं होता तो अंश-अपहरण करना सर्वथा असम्भव है। यदि किसी कम्पनी के अन्तर्नियम में सारिणी 'अ' के २४ से ३० तक के नियमों का पालन न करने का स्पष्ट उल्लेख नहीं है तो अंशों के हरण करने का अधिकार सञ्चालकों को होता है। यदि अन्तर्नियमों के आधार पर किसी कम्पनी को अंश-हरण करने का अधिकार नहीं होता तो या तो कम्पनी को अपने अन्तर्नियमों में परिवर्तन करना चाहिए या इसके लिए न्यायालय से आज्ञा प्राप्त करनी चाहिए।

बहुधा ऐसे अंशों का ही हरण किया जाता है जिनका या तो याचित धन नहीं आता अथवा अन्तर्नियमों द्वारा निश्चित किए हुए प्रभाग (Instalments) प्राप्त नहीं होते। व्यापारिक ऋण के लिए अंशों का हरण नहीं होता क्योंकि यह कार्य कम्पनी को अपने ही अंश क्रय करने के समान माना जायेगा। इसके साथ ही कम्पनी के लाभ के लिये ही केवल अंशों का अपहरण हो सकता है और किसी कार्य के लिए यह सम्भव नहीं होता।

यदि किसी अंश का अपहरण व्यवहार्य होता है तो कम्पनी के अन्तर्नियमों में दी हुई अपहरण की पद्धति का ही अनुसरण करना चाहिए क्योंकि अन्तर्नियमों में दिया हुआ सदस्य का अनुबन्ध (Contract) ही अपहरण का अधिकार प्रदान करता है।

सारिणी 'अ' के अनुसार अन्तर्नियमों में दी हुई अपहरण की पद्धति निम्न प्रकार की होती है। उसकी रूपरेखायें क्रमशः इस प्रकार हैं —

(१) यदि कोई सदस्य अपने अंशों की किसी राशि का भुगतान (Payment) नियत समय पर नहीं करता तो कम्पनी उसे पहले उक्त राशि का ब्याज सहित भुगतान करने की सूचना भेजेगी कि वह सूचना की तारीख से १४ वें दिवस तक उस राशि का भुगतान करे अन्यथा उसके अंशों का हरण कर लिया जायेगा। इस सूचना के भेजने का प्रस्ताव सञ्चालक-सभा में स्वीकृत होता है तथा इसकी सूचना उस सदस्य के पास रजिस्टर्ड डाक द्वारा भेजी जाती है।

(२) यदि सदस्य इस सूचना की ओर ध्यान नहीं देता तथा अप्रदत्त-राशि को नियत तारीख तक नहीं भेजता तो सञ्चालक गण अपनी सञ्चालक सभा में ऐसे अंशों के अपहरण सम्बन्धी प्रस्ताव पास कर सकते हैं। यह प्रस्ताव पास करके एक प्रतिलिपि उस सदस्य के पास भी भेज दी जाती है। प्रस्ताव निम्न रीति से पास किया जाता है :—

"यह निश्चय किया जाता है कि दस दस रुपये वाले नं० ६५० से ७४९ तक के १०० अंश, जिनके लिये सात रुपया प्रति अंश तो दे दिया गया है परन्तु

शेष रुपया श्रीमान् ... ... निवासी ... ...ने हमारी सूचना दिनांक ... ...के प्राप्त होने पर भी नहीं दिया है। अतः तीन रुपया प्रति अंश की अन्तिम याचना दिनांक ... ... के काटने पर उस धन तथा ब्याज के भुगतान के अभाव में उनके अंशों का अपहरण किया जाता है। कम्पनी के लाभार्थ इन अंशों के बेचने का अधिकार संचालकों को होगा।"

(३) सदस्यों के रजिस्टर में दोषी सदस्यों के लेखे के अन्तर्गत संचालकों के उपयुक्त प्रस्ताव द्वारा अपहृत अंशों का विवरण लिखा जाता है। उस विवरण में प्रस्ताव का दिनांक तथा क्रमांक (Number) भी रहता है। इसके उपरान्त उसका लेखा बन्द कर दिया जाता है तथा सदस्य-रजिस्टर के "अपहृत अंशों के लेखे" (Forfeited Shares Account) में उन हरण किये हुए अंशों का हस्तान्तरण कर दिया जाता है। वहाँ वे पुनर्निर्गमन (Reissue) के लिए सुरक्षित रक्खे रहते हैं।

अपहृत अंशों का पुनर्निर्गमन (Reissue of forfeitted shares).—अपहृत अंश कम्पनी की सम्पत्ति होते हैं। इन्हें बेचने का कम्पनी को पूरा अधिकार होता है। परन्तु ये अंश किसी भी दशा में उस राशि से कम में नहीं बेचे जाते, जो राशि उसी प्रकार के अन्य अंशों से कम्पनी को प्राप्त हुई है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि इन अंशों के बेचने की केवल इतनी ही छूट होती है कि ये पहले विक्रय के समय जितने में बिके थे उससे अधिक रुपयों पर अब भी नहीं बेचे जा सकते हैं।

अपहृत अंशों का पुनर्निर्गमन (Reissue) अन्तर्नियमों की पद्धति के आधार पर ही होता है। सारिणी 'अ' के अनुसार वह पद्धति इस प्रकार है :—

(१) संचालकों को अंशों का सम्पूर्ण विवरण तथा उनके अपहरण की तिथि के साथ यह घोषणा लिखित रूप में करनी पड़ती है कि इन अंशों का अमुक तिथि को अपहरण किया गया था।

इस घोषणा का यह परिणाम होता है कि उन्हीं अंशों का नया अंशधारी सुरक्षित हो जाता है क्योंकि अपराधी (Defaulting) अंशधारी के विरुद्ध यह वैधानिक-घोषणा (Statutory declaration) समुचित प्रमाण होती है। इसके बाद संचालक अन्य प्रस्ताव से इन अंशों को पुनर्निर्गमन कर सकते हैं। ऐसे अंशों को जब कोई व्यक्ति खरीद लेता है तो उसे नया अंश-प्रमाणपत्र दिया जाता है। बहुधा ऐसे अपहृत अंशों के लिए दो प्रमाणपत्र उपस्थित रहते हैं परन्तु उनके अतिरिक्त एक नया प्रमाणपत्र ही कम्पनी निर्गमित (Issue) करती है।

(२) ऐसे हृत-अंशों के लिए नवीन-सदस्य को अधिकारी बनाने के निमित्त निम्न रीति से संचालकगण प्रस्ताव पास करते हैं :—

"यह निश्चय किया जाता है कि क्रमाक ६५० से ७४६ तक के दस दस रुपये वाले १०० अंश, जिनका ७ रु० प्रति अंश देय था, दिनाक को संचालक सभा के प्रस्ताव द्वारा अपहरण होकर श्री नगर के नाम पुनर्निर्गमित (Reissue) किये जाते हैं। अब ये अंश ६) रु० प्रति अंश की दर से पूर्ण प्रदत्त (fully paid) होंगे। ये अंश ३)० प्रति अंश अप्रदत्त अन्तिम याचना (Unpaid final call) तथा ३) रु० प्रति अंश प्रव्याजि (Premium) वाले हैं। इन अंशों का हस्तांतरण श्री के नाम कम्पनी की मुद्रा अङ्कित करके किया जायगा तथा रजिस्टेशन के लिए यह हस्तान्तरण पास किया जायगा। इसके साथ ही इन अंशों का प्रमाण पत्र श्री के नाम मुद्रांकित एवं हस्ताक्षरित किया जायेगा।"

(३) उपर्युक्त प्रस्ताव के पास होने के उपरान्त वे अंश 'अपहृत अंश लेखा" से खरीदने वाले के नाम पर सदस्यों के रजिस्टर में हस्तांतरित किये जाते हैं और उस व्यक्ति को एक अंश प्रमाणपत्र दे दिया जाता है।

अंशों का अपहरण होने के उपरान्त भूतपूर्व सदस्य उस समय तक न तो कम्पनी का अंशधारी रहता है और न वह किसी याचना (calls) के भुगतान करने के लिए बाध्य होता है जब तक कि कम्पनी के अंतर्नियमों में और कुछ परिवर्तन नहीं होता। यदि कम्पनी के अंतर्नियमों में उपयुक्त परिवर्तन हो जाता है तो जब तक उसके स्वत्व (claim) की अवधि नहीं निकलती, तब तक वह पुन कम्पनी के अप्रदत्त याचना (calls) के अंशों का ऋणी (Debtor) हो सकता है और यह स्थिति उस समय तक रहती है जब तक वह उन अंशों का भुगतान नहीं करता। परन्तु यदि कोई कम्पनी अपहरण करने के उपरान्त एक वर्ष में ही परिसमाप्त (Wound up) हो जाती है तो उस भूतपूर्व सदस्य का नाम अंशदाताओं (Contributories) की 'ब" सूची में लिखा जा सकता है। लेकिन यह भी तभी सम्भव होता है जब कि कम्पनी का धन ऋणदाताओं (Creditors) के स्वत्वों के लिए पर्याप्त नहीं होता। कम्पनी के अन्तर्नियमों में इस बात का स्पष्ट उल्लेख रहता है कि कोई भी याचित धन का भुगतान न करने वाला सदस्य कम्पनी की सभा में उपस्थित होने तथा मत देने का अधिकारी नहीं होता।

अपहृति का निराकरण (Cancellation of Forfeiture) —यदि संचालक ठीक समझता है तथा अंतर्नियमों में भी नियोजन होता है तो वह अंश-अपहृति को रद्द भी कर सकता है। इसके लिए संचालकों को एक आवश्यक प्रस्ताव पास करना पड़ता है और इसकी सूचना भूतपूर्व सदस्य को भेजनी पड़ती है कि उसे कम्पनी का सदस्य पुन बना लिया गया है तथा उसका नाम सदस्य-रजिस्टर में लिख लिया गया है।

अंश-प्रमाणपत्र (Share Certificates)

धारा २६ के अनुसार अंश प्रमाणपत्र कम्पनी की सार्वमुद्रा (Common seal) से युक्त एक प्रकार का ऐसा प्रलेख होता है जिसमें सदस्यों द्वारा लिए हुए अंशों की संख्या लिखी रहती है तथा जो कम्पनी के सदस्यों के लिए उनके लिखित अंशों की बाह्य साक्षी (Prima facie evidence) उपस्थित करता है। प्राय प्रत्येक कम्पनी अपने अंशधारियों के लिए ऐसे प्रमाण-पत्र भेजा करती है। इसमें अंशधारी का नाम, अंशों की संख्या तथा उन अंशों के लिए दिये जाने वाले धन का स्पष्ट उल्लेख रहता है। इस पर कम्पनी की सार्वमुद्रा अंकित रहती है तथा दो आने का स्टाम्प लगाया जाता है। प्रत्येक अंश प्रमाणपत्र बहुधा इस प्रकार का होता है —

कम्पनी लिमिटेड

यह प्रमाणित किया जाता है कि श्री निवासी उक्त कम्पनी में अंश क्रमांक से तक के रु० प्रति अंश के अंशों के रजिस्टर्ड स्वत्वधारी हैं, इन्हें तथा उक्त प्रत्येक अंश पर रु० का भुगतान करना पड़ेगा।

यह प्रमाण पत्र कम्पनी की सार्वमुद्रा के अन्तर्गत दिनांक दिन को दिया जाता है।

मुद्रा सचालक
कार्यवाह

धारा २६ के अनुसार यह प्रमाण पत्र कम्पनी की सार्वमुद्रा से युक्त होने के कारण अंशधारियों के लिए उनके अंशों का बाह्य साक्षी (Prima facie evidence) के रूप में होता है। अत यह केवल अंशधारी के स्वत्वों का बाह्य साक्षी या बाह्य प्रमाण है। परन्तु यह कोई अखंड प्रमाण (conclusive evidence) नहीं होता। इसीलिए कम्पनी इसे किसी भी समय अमान्य घोषित कर सकती है, जैसे यदि कोई व्यक्ति जाली हस्ताक्षरों द्वारा अंश प्रमाणपत्र ले आता है तो कम्पनी उसे स्वीकार नहीं करेगी। परन्तु यदि कोई व्यक्ति इसे सद्भावना से धन प्राप्त करने के लिए लेता है तो कम्पनी फिर उसे असिद्ध करने में असमर्थ रहती है।

धारा १०८ के अनुसार ये प्रमाण-पत्र हस्तान्तरण के रजिस्ट्रेशन से या वितरण तिथि से तीन माह के अन्दर ही प्रत्येक अंशधारी को देने के लिए तैयार हो जाने चाहिए। परन्तु यदि अंश निर्गमन की शर्तों में कुछ और अवधि का उल्लेख है तो दूसरी बात है। इस प्रकार, यदि कम्पनी यह चाहती है कि अंशों का पूरा धन आ जाने के उपरान्त ही प्रमाण पत्र भेजे जायें अथवा अंशों का समस्त याचित धन (calls) तीन मास के अन्दर नहीं आ पाता तो उसे अपनी विवरण-पत्रिका (pros

pectus) में इस प्रकार लिखना चाहिए कि समस्त याचित धन के प्राप्त होने की तिथि से तीन माह पश्चात् ही अंश-प्रमाण पत्र तैयार किये जायेंगे।

अंश प्रमाणपत्रों का तैयार करना (Preparation of Share Certificates)—अंश-प्रमाण-पत्र सदस्यों के रजिस्टर से तैयार किये जाते हैं तथा इनके निर्माण में बड़ी सावधानी रखनी चाहिये। यदि ये प्रमाणपत्र केवल अंशतः प्रदत्त अंशों (Partly paid-up shares) के लिए दिए जा रहे हों तो उसमें प्रत्येक अंश पर दिये जाने वाली धन-राशि का स्पष्ट उल्लेख रहना चाहिए। इन प्रमाण पत्रों के पीछे पर्याप्त स्थान बहुधा आगामी भुगतान को अङ्कित करने के लिये छोड़ दिया जाता है। यदि कम्पनी किसी को संचित दायित्व (Reserve liability) के लिए रखना चाहती है तो इसका स्पष्टीकरण अंश प्रमाण-पत्र के पृष्ठ-भाग पर कर देना चाहिए। जब ये पत्र तैयार हो जायें तो संचालक-सभा में इनके लिए प्रस्ताव स्वीकृत हो जाने पर उसके आधिपत्य में ही कम्पनी सार्वमुद्रा के सहित उन पर संचालकों के हस्ताक्षर होने परमावश्यक होते हैं।

अंश प्रमाण-पत्रों का मिलना या भेजना (Delivery and despatch of Share Certificates)—बहुधा ये प्रमाण पत्र, वितरण के पत्र या हस्तांतरण-रसीद आदि अस्थायी प्रलेखों के कम्पनी में लौटाने पर ही प्राप्त होते हैं। यदि कोई व्यक्ति स्वयं उन प्रलेखों को लौटाने आता है या अपने अभिकर्ता (Agent) को प्रमाण पत्र लेने के लिए भेजता है तो उन लौटाये जाने वाले प्रलेखों पर उस व्यक्ति के अंश-प्रमाण-पत्र प्राप्त करते हुए हस्ताक्षर करा लेने चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि कोई डाक द्वारा अंश प्रमाणपत्र मँगवाता है तो उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि डाक के लिए कम्पनी कोई जिम्मेवार नहीं होती और वह अंशधारी की जिम्मेवारी पर ही डाक द्वारा भेजा करती है।

खोये हुए अंश-प्रमाण-पत्र (Lost Share Certificates)—बहुधा कम्पनी के अन्तर्नियमों में इस बात का निर्देश रहता है कि यदि किसी अंशधारी का प्रमाण पत्र खो जाय तो संचालक उसे दूसरा प्रमाणपत्र दे सकते हैं। परन्तु दूसरा प्रमाणपत्र देने के लिए संचालक सभा कुछ बातें निश्चित करती है और उनकी पूर्ति होने पर ही अंशधारी को दूसरा प्रमाण-पत्र दिया जाता है। इस कार्य के लिये प्रायः निम्न पद्धति प्रयोग में लाई जाती है —

(१) प्रमाण पत्र के खो जाने पर उस अंशधारी को कम्पनी के लिए एक लिखित वैधानिक घोषणा भेजनी पड़ती है जिसमें खोये जाने की परिस्थिति एवं उसकी समस्त सत्य बातों का उल्लेख किया जाता है। साथ ही उसकी दूसरी प्रतिलिपि लेने का नियत शुल्क भी भेजना पड़ता है। कम्पनी की सुरक्षा के लिए उसके साथ एक क्षतिपूरक-पत्र (Indemnity letter) भी लगाया जाता है जिसके

कारण पुराने प्रमाण पत्र के खोने तथा नवीन पत्र के पुनर्निर्गमन से कम्पनी को जो भी हानि या क्षति होती है उसके देने के लिए सदस्य जिम्मेदार होता है। नीचे इस प्रकार के क्षतिपूरक पत्र का नमूना दिया जाता है :—

'क्रमाङ्क ३७५ से ३८४ तक १०० रु० प्रति अंश वाले १० पूर्ण प्रदत्त साधारण अंशों के मूल अंश-प्रमाण-पत्र के खो जाने पर आपने जो द्वितीय अंश प्रमाण-पत्र निर्गमित किया है उसके निमित्त होने वाली समस्त क्षति या हानि की पूर्ति के लिए मैं पूर्ण रूप से तैयार हूँ।"

(२) मूल अंश प्रमाण-पत्र के खो जाने पर दूसरा प्रमाण पत्र जब निर्गमित किया जाता है तो उसका विज्ञापन भी समाचार पत्रों में भेजा जाता है। अतः उस अंशधारी को उस विज्ञापन का व्यय भी सहना पड़ता है। यह विज्ञापन इस प्रकार का होता है :—

स्वदेशी बीमा कम्पनी लिमिटेड

"यह सूचित किया जाता है कि क्रमाङ्क २३४ से २४३ तक के १० साधारण अंशों के धारण करने वाले श्री . ने अपने मूल अंश प्रमाण-पत्र नं० ८७ के खो जाने पर कम्पनी के सचालकों से दूसरा प्रमाण पत्र प्राप्त करने के लिए आवेदन पत्र भेजा है।

यदि एक माह के अन्दर इसके लिए कोई भी आक्षेप प्राप्त नहीं होगा तो सचालक इस आवेदन-पत्र के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य होंगे।

आगरा, सचालक सभा की आज्ञा से

३ मार्च १९४९ ई० .. ..

प्रबन्ध-अभिकर्ता

(३) यदि उस खोए हुए प्रमाण पत्र की प्रतिलिपि के विषय में कोई भी आक्षेप कम्पनी के कार्यालय में प्राप्त नहीं होता तो सचालक दूसरी प्रतिलिपि भेज देते हैं। इस नवीन-प्रमाण-पत्र पर "प्रतिलिपि" (Duplicate) शब्द लिखा रहता है तथा इस विषय का उल्लेख सदस्य रजिस्टर में भी कर दिया जाता है। जब कोई अंशधारी अपने अंशों को बेच देता है तो उस समय यह देखना चाहिए कि उसने अपने प्रमाण-पत्र की प्रतिलिपि भी हस्तांतरण के समय दी है अथवा नहीं। यदि वह मूल प्रमाण-पत्र को तो उस हस्तान्तर ग्रहीता को दे देता है परन्तु उसकी प्रमाणित प्रतिलिपि अपने पास रख लेता है तो इस विषय में पूरी पूरी जाँच करनी चाहिए और हस्तान्तरण के रजिस्ट्रेशन या पञ्जीयन होने से पूर्व उसे वापिस ले लेना चाहिए।

नवीन अंश प्रमाणपत्र देन की परिस्थितियाँ (Circumstances when Share Certificates issued) —कोई भी कम्पनी निम्नलिखित परिस्थितियों में नवीन अंश प्रमाण पत्र दिया करती है —

(१) जबकि जनता से अंशों का प्रस्ताव किया जाता है तब उन अंशों की किसी रोकड़ी रसीद या वितरण पत्र के परस्पर विनिमय करने पर नवीन प्रमाण दिया जाता है।

(२) जबकि अंशों के हस्तान्तरण का पंजीयन या रजिस्ट्रेशन होता है,

(३) जब किसी अंशधारी की मृत्यु या दिवालिया हो जाने पर किसी अन्य व्यक्ति को अंश दिये जाते हैं,

(४) जब कोई प्रमाण पत्र पुराना या खराब हो जाता है,

(५) जब कोई अंश-प्रमाण पत्र खो जाता है, गायब हो जाता है, नष्ट हो जाता है या चुरा लिया जाता है, अथवा

(६) जब किसी प्रमाण पत्र का विभाजन होना आवश्यक होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपने अंशों को दो या तीन भागों में विभाजित करके उनके दो या तीन प्रमाण पत्र प्राप्त करना चाहता है, तब नए प्रमाण पत्र दिये जाते हैं।

अंश अधिपत्र (Share Warrants)

कोई भी अंश सीमित कम्पनी जोकि अपने पूर्ण प्रदत्त अंशों के बारे में अन्तर्नियमों द्वारा अधिकारिणी होती है, बहुधा अपनी सार्वमुद्रा अंकित करके एक अधिपत्र प्रकाशित करती है, यह अधिपत्र ही "अंश अधिपत्र" कहलाता है। उस अंश अधिपत्र में अंशों या स्कंधों (Stocks) का उल्लेख रहता है और उसका धारण कर्त्ता भविष्य में लाभांश व भुगतान लेने का अधिकारी होता है। इस अंश अधिपत्र के आधार पर ही इसका वाहक (Bearer) इसमें लिखे हुए अंश या स्कंध का अधिकारी होता है तथा इस पत्र के देने पर ही उसके अंशों या स्कंध का हस्तान्तरण होता है। यदि कम्पनी के अन्तर्नियमों में भी इस बात का आयोजन होता है तो अंश अधिपत्र वाहक भी कम्पनी का एक सदस्य माना जाता है, परन्तु अंश अधिपत्र में लिखे हुए अंशों के आधार पर वह सञ्चालक होने की क्षमता नहीं रखता। सारिणी 'अ' के नियम ११६ के अनुसार इन अंश अधिपत्र धारियों को भी समाचार पत्र के विज्ञापन द्वारा कम्पनी की व्यापक सभा की सूचना अनिवार्य होती है।

जिस समय किसी सदस्य को अंश अधिपत्र भेजा जाता है तो पहले उसका नाम सदस्य पंजी या सदस्य-रजिस्टर से काट दिया जाता है और अधिपत्र (Warrant) भेजने हुए सदस्य रजिस्टर में निम्नलिखित विवरण लिखने पड़ते हैं —

(अ) अधिपत्र भेजने के कारण (Fact),

(व) प्रत्येक अंश को उसके क्रमाङ्क के अनुसार पृथक् करते हुए अंश-अधिपत्र में उल्लिखित अंशों या स्कध (Stock) का विवरण; तथा

(स) अधिपत्र भेजने का तिथि।

जब तक अंश अधिपत्र नहीं दिखाया जाता उस समय तक सदस्य-रजिस्टर में लिखा हुआ तत्सम्बन्धी विवरण विधान के अनुसार यथार्थ माना जाता है।

जब कोई अंश अधिपत्र वाहक (Bearer) कम्पनी का सदस्य होना चाहता है तो उसे अन्तर्नियमों के अनुसार उस अधिपत्र को कम्पनी में रद्द (Cancel) करने के लिए जमा कर देना चाहिए तथा अपना नाम सदस्य-रजिस्टर में लिखा लेना चाहिए।

यदि कोई रजिस्टर्ड अंशधारी अपने अंशों के अंश अधिपत्र लेना चाहता है तो उसे अपने अंश-प्रमाण-पत्र तथा आवश्यक एवं निश्चत शुल्क तथा स्टाम्प-कर आदि आवेदन-पत्र के साथ कम्पनी के कार्यालय में भेजना चाहिए। आवेदन पत्र के आजाने पर सचालकों की स्वीकृति से उस अंश-अधिपत्र भेज दिया जायेगा तथा उसका नाम सदस्य-रजिस्टर से काट दिया जायेगा।

ऋण-पत्र (Debentures)

बहुधा कम्पनियाँ अपनी पूँजी की वृद्धि के लिए ऋण-पत्रों का निर्गमन किया करती हैं। इन ऋण पत्रों द्वारा उधार लेकर वे अपनी पूँजी को राशि बढ़ाती हैं। अत ऋण पत्र से साधारणत उस प्रलेख से तात्पर्य होता है जो सयुक्त स्कध कम्पनियों द्वारा अंश-पूँजी के रूप में ऋण लिए हुए धन का पुन भुगतान करने के निमित्त साक्षीरूप में लिखा जाता है और यदि यह किसी को दिया जाता है तो वह ऋण के भुगतान के लिए प्रतिभूति स्वरूप माना जाता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि ऋण की स्वीकृति या ऋण प्राप्त करने के साधन स्वरूप पत्र को ऋण-पत्र कहते हैं।

ऋण-पत्र का निर्गमन (Issue of Debentures) —धारा १०३ के अनुसार जबतक कोई कम्पनी अपना व्यवसाय प्रारम्भ करने की अधिकारिणी नहीं होवी, उस समय तक वह ऋण-पत्रों का निगमन बन्द नहीं कर सकती है। उसे उस समय तक लगातार अंशों तथा ऋण पत्रों की याचना तथा ऋण पत्रों के लिए आवेदन-पत्र पर देय धन की प्राप्ति करते रहना चाहिए। परन्तु ऋण-पत्र निगमन करने से पूर्व सचालकों को यह सोच लेना चाहिए कि वे कम्पनी के सीमा-नियम में निर्दिष्ट अधिकारों से पूर्णतया बद्ध हैं। कभी कभी ऐसा अवश्य देखा जाता है कि उन अधिकारों की सीमा कम्पनी के व्यापार की स्थिति से भी निश्चित की जाती है। परन्तु सचालकों को ऋण-पत्रों पर रुपया उधार लेते समय अन्तर्नियमों को भली प्रकार देखना चाहिए क्योंकि यदि किसी प्रकार का प्रतिबध वहाँ दिया हुआ है और वे उसका विचार न करते हुए अधिक मात्रा में ऋण ले लेते हैं तो यह वैधानिक त्रुटि मानी जाती है। ऋण-पत्रों का

निर्गमन अंशों के निर्गमन की ही भाँति प्रभावशाली होता है। प्रायः इसके लिए भी विवरण-पत्रिका प्रकाशित की जाती है; आवेदन-पत्रों, वितरण पत्रों आदि का प्रयोग किया जाता है और पूँजी निर्गमन की सी पद्धति लगभग इसमें भी अपनायी जाती है।

प्रभारों का पंजीयन (Registration of Charges):—धारा १०६ के अनुसार ऋण पत्रों का निर्गमन प्राप्त करने के लिये जिन उपायों का प्रयोग किया जाता है अथवा जो बन्धक या प्रभार (Mortgage or charges) आदि उत्पन्न किये जाते हैं तो उन समस्त बन्धकों या प्रभारों तथा साधनों का विवरण प्रभार के आरम्भ करने से २१ दिवस पूर्व रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करना चाहिये। यदि यह कार्य नहीं किया जाता तो कम्पनी की सम्पत्ति से सम्बन्धित समस्त बंधक या प्रभार अव्यवहार्य (Void) माने जाते हैं।

समस्त बधकों या प्रभारों का विवरण जोकि कम्पनी की सम्पत्ति से सम्बन्धित होता है, कम्पनी के "बन्धक एवं प्रभारों" के रजिस्टर में भी लिखा जाता है।

ऋण पत्रों पर नियन्त्रण करने वाली दशायें (Conditions governing debentures):—ऋण पत्रों का नियन्त्रण करने वाली दशाओं का उल्लेख बहुधा ऋण पत्रों के पृष्ठभाग पर छपा रहता है। कम्पनी का कार्यवाह सदैव उन्हीं के अनुसार कार्य करता है तथा वह यह भी देखता है कि कम्पनी भी उन दशाओं के अनुकूल भली प्रकार कार्य कर रही है। उन दशाओं में बहुधा अन्य बातों के साथ-साथ ऋण पत्रों के हस्तान्तरण, ब्याज देने की पद्धति, ऋण पत्रधारियों के सभा-सम्बन्धी नियम तथा मुख्य धन प्राप्त करने की परिस्थिति आदि का उल्लेख रहता है।

ऋण-पत्रधारियों का रजिस्टर (Register of Debenture holders) – ऋण-पत्र बहुधा रजिस्टर्ड ऋण पत्रों के रूप में या ब्याज सहित प्राप्त होने वाले ऋण-पत्रों के रूप में जिनमें कि रसीद (Coupon) लगी रहती है, अथवा ब्याज सहित प्राप्त होने-वाले तथा परिवर्तन का अधिकार रखने वाले रजिस्टर्ड ऋण-पत्रों के रूप में निर्गमित किए जाते हैं। जब कोई कम्पनी रजिस्टर्ड ऋण पत्रों का निर्गमन करती है तो उसे ऋण पत्रधारियों के रजिस्टर में समस्त विवरण लिखना चाहिए। ऋण-पत्र-धारियों के रजिस्टर का रखना यद्यपि विधान के अनुसार अनिवार्य नहीं होता परन्तु फिर भी कम्पनी के लिए इसका बनाना आवश्यक होता है।

ऋण पत्रों का हस्तांतरण (Transfer of Debentures):—वाहक ऋण-पत्र (Bearer debenture) प्रायः देने मात्र पर हस्तान्तरित हो सकता है और उसके लिए कम्पनी के कार्यालय में कोई भी कार्यवाही नहीं करनी पड़ती। परन्तु एक रजिस्टर्ड ऋण-पत्र या हस्तान्तरण, अंशों के हस्तान्तरण की ही भाँति हस्तान्तरण सलेख (Transfer deed) द्वारा होता है।

ऋण पत्रों का विमोचन (Redemption Debentures) बहुधा ऋण पत्र एक निश्चित तिथि पर या निश्चित अवधि की सूचना पर विमोचित (Redeemed) किए जाते हैं। जब कभी किसी ऋण पत्र का विमोचन किया जाता है तो धारा १२१ के अनुसार भुगतान की तिथि से २१ दिन के अन्दर ही रजिस्ट्रार को इसकी सूचना भेजनी चाहिए।

अंशों का हस्तान्तरण (Transfer of Shares)

धारा २८ के अनुसार कम्पनी के सदस्यों के समस्त अंश तथा उनका अन्य कोई भी हित चल सम्पत्ति समझे जाते हैं। इन सभी का हस्तान्तरण सब अन्तर्नियम में दिए हुए नियमों के अनुसार किसी भी समय हो सकता है। अधिकतर कम्पनी के अन्तर्नियमों में हस्तान्तरण सम्बन्धी कुछ प्रतिबन्ध (Restriction) भी होते हैं, परन्तु यदि इस प्रकार का कोई भी प्रतिबन्ध न हो तो सचालकों को रजिस्ट्री के लिए उपस्थित किए हुए प्रत्येक अंश के हस्तान्तरण को अनिवार्य रूप से स्वीकार करना पड़ेगा। हस्तान्तरण सम्बन्धी प्रतिबन्ध प्रायः इस प्रकार के होते हैं, जैसे सचालक किसी प्रकार का कारण दिये बिना न तो हस्तान्तरण के अधिकारी होते हैं और न कम्पनी के अधिकृत अंशों के हस्तान्तरण का रजिस्ट्रेशन करने से इन्कार कर सकते हैं तथा न वे किसी अंशतः प्रदत्त अंशों का हस्तान्तरण एक ऐसे व्यक्ति के नाम कर सकते हैं जिनका कि वे अनुमोदन नहीं करते। वैयक्तिक कम्पनियों में हस्तान्तरण सम्बन्धी अधिकारों पर प्रतिबन्ध होना वैधानिक दृष्टि से भी आवश्यक होता है।

बहुधा अंशों का हस्तान्तरण धारा ३४ का पालन करते हुए कम्पनी के अन्तर्नियमों के अनुसार निम्न पद्धति से किया जाता है —

हस्तान्तरण-सलेख (Transfer Deed) —कोई भी कम्पनी अंशों के हस्तान्तरण को उस समय तक रजिस्टर नहीं करती जब तक कि वह हस्तान्तरकर्ता एवं हस्तान्तरगृहीता द्वारा भली प्रकार लिखा जाकर समुचित रूप से मुद्रांकित न हो। उस हस्तान्तरण के साथ एक समुचित विलेख (Proper instrument) भी होता है। यदि यह विलेख किसी प्रकार खो जाय तो हस्तान्तरगृहीता (Trasferee) को मुद्रांक (Stamp duty) सहित एक आवेदन पत्र देना पड़ता है जिसके आने पर सचालक यदि ठीक समझते हैं तो आवश्यक क्षतिपूर्ति (Indemnity) के निर्बन्ध सहित अंशों का हस्तान्तरण स्वीकार कर लेते हैं। नीचे हस्तान्तरण-विलेख (Instrument of transfer) का नमूना दिया जाता है —

मैं निवासी , श्री निवासी द्वारा प्राप्त धन-राशि रुपये का उक्त हस्तान्तर-गृहीता को कं० लिमिटेड के याचित अंश क्रमांक को हस्तान्तरित करता हूँ तथा उक्त हस्तान्तरण गृहीता (Transferee), उसके शासक, नियन्त्रणकर्त्ता तथा नियोजित

व्यक्तियों (Assignees) को उन्हीं निबंधों (Conditions) से आबद्ध करता हूँ जिनमें कि अब तक मैं स्वयं बँधा हुआ था तथा मैं, उक्त हस्तान्तरण-गृहीता के उपयुक्त निबन्धों के साथ अंश (अंशों) को स्वीकार करता हूँ।

साक्षी दिवस दिनाङ्क
साक्षी

हस्तान्तर कर्त्ता
हस्तान्तर गृहीता

हस्तान्तरण विलेख समुचित रूप से हस्तान्तर कर्त्ता एवं हस्तान्तर गृहीता द्वारा उनके हस्ताक्षरों सहित तथा साक्षियों के सम्मुख भरा जाना चाहिए। साक्षी देने वाले उक्त दोनों महानुभावों के सम्बन्धी न होकर पूर्णतः स्वतन्त्र व्यक्ति होने चाहिए। इस विलेख पर आवश्यक मुद्रांक (Stamp) लगाना चाहिए। भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों की मुद्रांक दर विभिन्न रूप में होती है।

जब कोई हस्तान्तर-कर्त्ता अपने सम्पूर्ण अंशों का हस्तान्तरण करता है तो उसे हस्तान्तरण-सलेख (Transfer-deed) के साथ अंश प्रमाण पत्र भी हस्तान्तर गृहीता (Transferee) को देना पड़ता है। परन्तु जब वह केवल कुछ अंशों का हस्तान्तरण करता है तो उसे अंश प्रमाण पत्र नहीं देना पड़ता। परन्तु हस्तान्तर-गृहीता बिना प्रमाण पत्र लिए हुए सन्तुष्ट नहीं होता। अतः यह आपत्ति निम्नलिखित दो उपायों द्वारा दूर की जाती है —

(१) अंश-प्रमाण पत्र का विभाजन (Spliting of share certificates) —वह अपने अंश प्रमाण-पत्र को लिखित अंशानुसार विभाजित होने के लिए कम्पनी के कार्यालय में भेजेगा। बहुधा कितनी ही कम्पनियों में इस कार्य के लिए शुल्क देना पड़ता है। वहाँ से इस प्रकार नये अंश प्रमाण पत्र के आ जाने पर वह जितने अंश बेच रहा है उतने ही अंशों के प्रमाण पत्र हस्तान्तरण-गृहीता को दे देगा।

(२) हस्तान्तरण का प्रमाणपत्र (Certification of trasfer) — हस्तान्तर-कर्त्ता अपने हस्तान्तर सलेख (Transfer-deed) को कम्पनी द्वारा प्रमाणित करा लेता है। प्रमाणित हस्तान्तरण वही कहलाता है जिसमें यह प्रमाणित किया जाय कि हस्तान्तरण से सम्बन्धित अंश प्रमाण-पत्र कम्पनी के कार्यालय में जमा कर दिये गये हैं। यह हस्तान्तर प्रपत्र जिसमें कि हस्तान्तरण करने वाले दोनों व्यक्तियों के नाम लिखे रहते हैं समस्त अंशों के प्रमाण पत्र सहित कम्पनी कार्यालय को भेजना पड़ता है। कम्पनी अंश प्रमाण पत्र को अपने पास रख लेती है तथा उसे रद्द (cancel) कर देती है और कायदा निम्न रीति से उस हस्तान्तर को प्रमाणित कर देता है —

रु० के प्रदत्त अंश के लिए दिया हुआ अंश-प्रमाण-पत्र कम्पनी के कार्यालय में प्राप्त होगया है।

क्रमाङ्क .... कं० लि० के लिए

दिनाङ्क ....

कार्यवाह

तदुपरान्त यह प्रमाणित सलेख हस्तान्तर-कर्ता के पास उसके शेष, अंशों के लिए दिए हुए शेष अभिज्ञान पत्र (Balance Ticket) सहित लौटा दिया जाता है। फिर हस्तान्तरकर्त्ता इसे अपने हस्तान्तर-ग्रहीता को दे देता है। वह इसे भरकर कम्पनी के कार्यालय में रजिस्ट्रेशन के लिए लौटा देता है। शेष अभिज्ञान-पत्र (Balance Ticket) प्रायः अस्थायी प्रमाण पत्र होता है। इसे स्कन्ध-विनिमय (Stock Exchange) स्वीकार कर लेता है तथा इसी के आधार पर वह हस्तान्तर-कर्ता अपने शेष अंशों का अधिकारी होता है। अन्त में नियत शुल्क भेजकर उसके स्थान पर अंश प्रमाण पत्र प्राप्त कर लिया जाता है।

व्यापार की सुविधा के लिए बहुधा स्कन्ध विनिमय निकास गृह (Stock Exchange Clearing House) भी हस्तान्तर के प्रमाण पत्र प्रदान किया करते हैं और उनकी एक सूची बनाकर कम्पनी को भेज देते हैं तथा उस सूची एवं कम्पनी की सूचना के सहित हस्तान्तरण प्रमाणपत्र उनसे सम्बन्धित व्यक्तियों के समीप भेज देते हैं। कम्पनी जिस समय इन हस्तान्तरणों का रजिस्ट्रेशन या पञ्जीयन करती है तो उसे समस्त हस्तान्तरणों को उस सूची से मिलना चाहिए। यदि उनमें किसी प्रकार का अन्तर हो अर्थात् यदि हस्तान्तर-कर्ता का नाम आदि गलत हो तो स्कन्ध विनिमय के निकास गृह से इसकी पूछताछ करनी चाहिए।

हस्तान्तरण की छानबीन (Scrutiny of transfer form) —जिस समय हस्तान्तरण समाप्त हो जाता है तो तत्सम्बन्धी सलेख तथा प्रपत्र (form) कम्पनी के कार्यालय में जमा हो जाते हैं। इन प्रपत्रों के साथ अंश-प्रमाण-पत्र तथा नियत शुल्क भी कम्पनी को भेजना पड़ता है। उस हस्तान्तरण के स्वीकृत होने से पूर्व कम्पनी का कार्यवाह उसकी अच्छी प्रकार छान-बीन करता है कि वह सलेख समुचित रीति से एवं ठीक ठीक भरा गया है अथवा नहीं। उस पर ठीक मुद्रांक अंकित रहनी चाहिए तथा दिनांक, अंश-संख्या, कम्पनी का स्पष्ट नाम तथा हस्तान्तरण करने वाले दोनों व्यक्तियों के स्पष्ट एवं उनके हस्ताक्षर उचित साक्षियों (Witness) के सहित होने चाहिए। साथ ही हस्तान्तरण करने का पूर्ण विवरण भी रहना चाहिए। कार्यवाह इन समस्त बातों को देखकर हस्तान्तर-कर्ता के हस्ताक्षर उसके पहले हस्ताक्षरों से मिलायेगा। ये हस्ताक्षर कम्पनी के अंश लेते समय पहले कम्पनी में जमा रहते हैं। उन सलेखों पर किया हुआ प्रत्येक परिवर्तन हस्तान्तर-कर्ता एवं हस्तान्तर-ग्रहीता दोनों के हस्ताक्षरों सहित होना चाहिए।

हस्तान्तर प्राप्ति की रसीद (Transfer Receipt) —जिस समय उस हस्तांतर सनेख का कम्पनी का कार्यवाह अच्छी प्रकार जाँच लेता है तो वह प्रेषक (Sender) के पास उसकी प्राप्ति की रसीद (Rece pt) भेज देता है। इस रसीद पर भजन का दिनाङ्क, प्रषक का नाम, अंशों की सख्या, अंशों का स्पष्ट क्रमाङ्क, हस्तांतर-ग्रहीता का नाम, प्राप्त शुल्क तथा नये प्रमाण पत्र के तैयार करके भजने को तिथि आदि दिये रहत हैं। इसके अतिरिक्त उस पर यह उल्लेख भी स्पष्ट रूप स किया जाता है कि हस्तांतर संलेख, अश प्रमाणपत्र के सहित भजा गया था तथा वह प्रनाणित था।

हस्तान्तरण प्राप्त होने की सूचना (Notice of Lodgement) —जब कोई हस्तान्तरण ग्रहीता अशों के हस्तांतरण के लिए कम्पनी के कार्यालय में हस्तान्तरण विलेख (Tran fer instrument) भेजता है तो कम्पनी जाली हस्तांतरण को बचाने के लिए उसके हस्तांतर कर्त्ता (Transferrer) के समीप निम्न आशय की सूचना भजता है —

"यह सूचित करने के लिए आपसे निवेदन किया जाता है कि आपके हस्ताक्षरों का एक हस्तांतरण विलेख (Instrument of transfer) जिसमें आपके अश क्रमाङ्क श्री को हस्तान्तरित किये थे, इस समय पंजीयन के लिए कम्पनी के कार्यालय म आया है।

यदि आप इसके प्रत्युत्तर में किसी प्रकार का भी आक्षेप लौटती डाक द्वारा नहीं भेजेंगे तो यह हस्तांतरण योग्य माना जायगा तथा इसके पंजीयन के लिए संचालकों द्वारा उचित कार्यवाही की जायेगा।'

परन्तु यदि यह विलेख (Instrument) हस्तांतरकर्ता द्वारा कम्पनी में भेजा जाता है और हस्तांतरित होने वाले अश अशत प्रदत्त (Partly pa d) हैं तो धारा ३४ के अनुसार निम्न रीति स हस्तांतर ग्रहीता के पास कम्पनी सूचना भेजेगी —

'श्री जो कि इस कम्पनी के सदस्य हैं तथा अश क्रमाङ्क तक के रु० प्रति अश वाले प्रदत्त अश रु० प्रति अश वाले अशों के अशधारी हैं न आपके नाम उक्त अशों का हस्तांतरण विलेख कम्पनी में भेजा है।

इसके प्रत्युत्तर में आज से १४ दिवस तक यदि कोई आपका आक्षेप नहीं आया तो वह हस्तान्तरण योग्य माना जायगा तथा इस विलेख पर सचालकों द्वारा उचित कार्यवाही की जायगी।"

हस्तान्तरण पंजी (Transfer Register) —कम्पनियों के लिए प्राय हस्तांतरण-रजिस्टर रखना अनिवार्य नहीं होता परन्तु यदि किसी कम्पनी में अधिक

हस्तान्तरण होते रहते हैं तो सचालक सभा के लिए इस रजिस्टर या पञ्जी का रखना लाभदायक होता है। क्योंकि जब सचालक लोग हस्तान्तरण को स्वीकार कर लेते हैं तो सदस्यों के रजिस्टर में प्रविष्टियों (Entries) को परीक्षण करने में इससे बड़ी सहायता मिलती है। हस्तान्तरण पञ्जी प्राय निम्न रीति से बनाई जाती है —

हस्तान्तरण पञ्जी (Transfer Register)

हस्तान्तरण क्रमांक (No of Transfer)	हस्तान्तरण आने की तिथि Date Transfer Lodged	हस्तान्तरण लेखन की तिथि Date of Transfer Deed	हस्तान्तरणकर्ता सम्बन्धी				हस्तान्तरित अंश सम्बन्धी Share transferred					हस्तान्तरिती सम्बन्धी				नवीन अंश-प्रमाणपत्र का क्रमांक No of New Share Certificate	विशेष-विवरण (Remarks)
			नाम (Name)	पता (Address)	व्यवसाय (Occupation) Transferor's	सदस्य पञ्जी में हस्तान्तरणकर्ता का पृष्ठ Transferor's Folio in R of M	क्रमांक No	प्रति अंश प्रदत्त राशि Amount per share paid	प्रदत्त पूँजी Capital paid up	विशिष्ट क्रमांक Dis No		नाम (Name)	पता (Address)	व्यवसाय (Occupation) Transferee's	हस्तान्तरणग्रहीता का सदस्य पञ्जी पृष्ठ Transferee's Folio in R of M		
										से From	तक To						

सचालकों की मान्यता (Director's Approval) —यद्यपि हस्तान्तरण के बारे में पहले ही अच्छी प्रकार से छान-बीन कर लेना चाहिए, परन्तु सचालकों के सम्मुख प्रस्तुत करने से पूर्व एक बार पुन उसकी जाँच करनी चाहिये। जिस कम्पनी में प्राय हस्तान्तरण होते ही रहते हैं वहाँ इतना अधिक जाँच करना सम्भव नहीं होती क्योंकि ऐसा करने में बहुधा पञ्जीयन के लिए देर हो जाती है।

ये हस्तान्तरण या तो सचालक सभा द्वारा पास किए जाते हैं अथवा किसी निश्चित अवधि पर होने वाली सभा द्वारा भी पास होते हैं। बहुधा कम्पनियों में इस कार्य के लिए एक स्थायी हस्तान्तरण-समिति (Standing Transfer Committee of the Board) भी होती है जिसके कार्य का ब्यौरा आगामी सचालक-सभा में स्वीकृत होने के लिये उपस्थित किया जाता है।

जब हस्तान्तरण-कार्य पूर्ण होजाता है तो इसका आवश्यक उल्लेख सदस्य पंजी (Register of Members) में किया जाता है। पुराना अंश-प्रमाणपत्र रद्द कर दिया जाता है तथा उसके स्थान पर एक नवीन प्रमाणपत्र तैयार करके हस्तान्तर-ग्रहीता (Transferee) के पास भेज दिया जाता है। धारा १०८ के अनुसार हस्तान्तरण के रजिस्ट्रेशन की तिथि से तीन माह के अन्दर दूसरा प्रमाण-पत्र भेज देना चाहिए।

जिस समय सदस्य रजिस्टर बन्द रहता है उस समय कोई भी हस्तान्तरण नहीं किया जाता।

धारा ३४ के अनुसार यदि किसी कारण से कोई हस्तान्तरण स्वीकार नहीं किया जाता तो उसकी सूचना हस्तान्तरकर्त्ता एव हस्तान्तर-ग्रहीता को सलेख-प्राप्ति के दो मास के अन्तर्गत ही भेज देनी चाहिए।

हस्तान्तरण का प्रभाव (Effect of Transfe) :—कम्पनी को हस्तान्तरण-विलेख द्वारा ही अपने सदस्य-रजिस्टर में आवश्यक परिवर्तन करने का अधिकार होता है। इस प्रकार के समस्त हस्तान्तरकर्त्ता के अधिकार एव दायित्व उस तिथि से हस्तान्तर ग्रहीता को प्राप्त हो जाते हैं और वह कम्पनी का सदस्य मान लिया जाता है। परन्तु वह हस्तान्तरण की तिथि तक भिन लाभांशों का अधिकारी है उनके विषय में अपने हस्तान्तर ग्रहीता को अधिकार नहीं दे सकता और न वह किसी अप्रदत्त याचना राशि के लिए ही उसे जिम्मेवार ठहरा सकता है जिसे कि उसने अभी तक कम्पनी को नहीं चुकाया है। वह तो *अपने हस्तान्तर ग्रहीता* को केवल *आगामी भुगतानों* एव आगामी दायित्वों के लिए ही अधिकार सौंपता है।

परन्तु इन दोनों के मध्य साधारण रूप से जो क्रय-विक्रय का अनुबध (Sale Contract) होता है उस पर दोनों के अधिकार एव दायित्व निर्भर रहते हैं। लेकिन बहुधा यही देखा जाता है कि उस अनुबन्ध के खरीदने वाला कम्पनी के याचित धन का भुगतान करता है।

कम्पनी स्वय कभी किसी प्रकार का विक्रय-अनुबध नहीं करती। यहाँ तक कि उसे इस विषय का पता भी नहीं होता। इसलिये कम्पनी बहुधा उसी व्यक्ति को लाभांश दिया करती है, जो उसका अंशधारी होता है तथा जिसका नाम कम्पनी का पुस्तक में रजिस्टर्ड होता है। यदि कोई हस्तान्तर ग्रहीता किसी लाभांश का अधिकारी होता है तो उसे हस्तान्तर कर्ता को अपना स्वत्व (Claim) प्रकट करना चाहिए। यदि हस्तान्तरित होने वाले अंशों की कोई भी याचना राशि (Call) शेष रहती है तो प्राय: कम्पनी हस्तान्तरण करने तथा उसके रजिस्ट्रेशन करने से पहले ही उसे जमा करा लेती है।

निरंक हस्तान्तरण (Blank Transfer) :—निरंक हस्तान्तरण प्रायः ऐसे हस्तान्तरण (Transfer) को कहते हैं जिसमें हस्तान्तर-कर्ता (Transferrer) हस्तान्तर-

ग्रहीता (Transferee) को अपने हस्ताक्षर सहित अंश प्रमाणपत्र तथा हस्तांतरण-सनेख दे देता है परंतु उन पर हस्तांतर-ग्रहीता का नाम नहीं लिखा जाता और न उसके हस्ताक्षर होते हैं वरन् पूर्णत खाली होता है, केवल हस्तान्तरकर्त्ता के ही हस्ताक्षर रहते हैं। इस प्रकार अंशों के विक्रय या बंधक पत्र पर बहुधा अंशधारी अपने हस्ताक्षर करके तथा हस्तान्तर ग्रहीता से हस्ताक्षर न कराकर निरंक हस्तांतरण किया करते हैं। इस हस्तान्तरण से एक मात्र यही लाभ होता है कि वह क्रयकर्त्ता या हस्तांतर-ग्रहीता के कम्पनी के पास बिना गए हुए उस सलेख को पुन किसी व्यक्ति के नाम हस्तांतरित कर सकता है तथा यदि वह अपने नाम ही हस्तांतर (Transfer) कराना चाहता है तो उस खाली स्थान पर अपना नाम लिखकर एवं अपने हस्ताक्षर करके अपने नाम रजिस्टर्ड करा सकता है। इस प्रकार इसका यह लाभ भी होता है कि क्रयकर्त्ता यदि उसे किसी दूसरे को बेचता है तो उसे दो प्रपत्रों (Forms) पर हस्ताक्षर नहीं करने पड़ते क्योंकि हस्तांतर की पद्धति प्राय इस प्रकार है कि हस्तांतरकर्त्ता तथा हस्तांतर ग्रहीता दोनों को उस हस्तांतर प्रपत्र पर हस्ताक्षर करने पड़ते हैं। पुन जब उसको खरीदने वाला किसी दूसरे को हस्तांतरण करता है तो उसे फिर एक दूसरे प्रपत्र (Form) पर हस्ताक्षर करने पड़ते हैं। इस तरह दो बार हस्ताक्षर करने की आपत्ति से वह इस निरंक हस्तांतरण द्वारा बच जाता है और प्राय क्रयकर्त्ता केवल हस्तांतर-पत्र पर अपना नाम लिख कर फिर इसी प्रकार का निरंक प्रपत्र अंश प्रमाणपत्र सहित किसी दूसरे को बेच सकता है और वह दूसरा व्यक्ति भी केवल हस्तांतर ग्रहीता के स्थान पर अपना नाम लिखकर अंश प्रमाणपत्र सहित ऐसे ही खाली प्रपत्र (Form) को किसी तीसरे क्रयकर्त्ता को दे सकता है। इस तरह से निरंक हस्तांतरण कितने ही व्यक्तियों को बिना किन्हीं असुविधाओं के बेचा जा सकता है जब तक कि क्रय-कर्त्ता (Buyer) उसे स्वयं अपने नाम पर ही लेने के लिए इच्छुक न हो।

निरंक हस्तांतरण (Blank transfer) सहित अंश-प्रमाणपत्र का होना अंशों के सुरक्षित अधिकार (Good title) का परिचायक है। परन्तु भारतीय अनुबंध विधान (Indian Contract Act) तथा भारतीय वस्तु विक्रय विधान (Indian Sale of Goods Act) के अनुसार अंश भी क्रय-वस्तु (Goods) होते हैं, इसलिये यदि कोई व्यक्ति छल से या जाली कार्यवाहियों से (by fraud) किसी व्यक्ति के निरंक हस्तांतरण तथा अंश प्रमाणपत्र प्राप्त कर लेता है तो वह उन्हें हस्तान्तरण करके किसी भी ऐसे व्यक्ति को उन अंशों का सुरक्षित अधिकार (Good title) नहीं दाप सकता जोकि उन्हें मूल्य के लिए (For value) यथाविधि क्रय करता है। साराश यह है कि छल या कपट द्वारा किया हुआ अंश प्रमाणपत्र सहित निरंक हस्तान्तरण वैधानिक दृष्टि से अमान्य होता है।

जाली हस्तान्तरण (Forged Transfer) —जाली हस्तान्तरण सदैव अवैध माना जाता है। कोई भी रजिस्टर्ड अंशधारी ऐसे अवैध हस्तान्तरण के रजिस्टर्ड होने पर भी पुनः अपना नाम सदस्य-रजिस्टर में लिखवाने के लिए कम्पनी को मजबूर कर सकता है। इसके साथ ही ऐसे अवैध हस्तान्तरण के आधार पर किसी सदस्य को यदि अंश प्रमाण पत्र कम्पनी द्वारा मिल जाता है और वह उसको विश्वास पर किसी अन्य व्यक्ति को अपने अंशादि बेच देता है तो ऐसी दशा में उस हस्तान्तरण के जाली होने के कारण जो भी हानि उस सद्भावना से कार्य करने वाले व्यक्ति को उठानी पड़ती है तो कम्पनी उस समस्त हानि की देनदार होगी। इसलिए प्रत्येक कार्यवाह को हस्तान्तरण के रजिस्टर्ड करते समय पूरी तौर से छानबीन करना चाहिए तथा यह अच्छी तरह से देखना चाहिए कि हस्तान्तर-कर्ता (Transferrer) के हस्ताक्षर जाली तो नहीं हैं। किसी हस्तान्तर-कर्ता को हस्तान्तरण की सूचना देने से ही कम्पनी की सुरक्षा नहीं होती क्योंकि न्यायालय इस बात का साक्षी है कि यदि कोई सदस्य किसी ऐसी सूचना का कोई प्रत्युत्तर नहीं भेजता तो भी उसकी सदस्यता कम्पनी से समाप्त नहीं होती। इसलिए कम्पनी को अपनी सुरक्षा के लिए एवं जाली हस्तान्तरण से बचने के लिए यह परमावश्यक प्रतीत होता है कि हस्तान्तरण करने से पहले हस्तान्तर-कर्ता के हस्ताक्षर आदि को अच्छी प्रकार मिलाले फिर आगे की कार्यवाही करे। इससे उसकी सुरक्षा ही नहीं, अपितु अनावश्यक हस्तान्तरण से भी बचाव हो सकता है तथा जाली कार्यवाही के लिए अधिक अवकाश नहीं रहता।

अंशों का हस्तान्तरण (Transmission of Shares) —यह पहले ही [बताया] जा चुका है कि बिना हस्तान्तर-विलेख (Instrument of transfer) तथा अंश-प्रमाणपत्र के किसी भी हस्तान्तरण का कम्पनी में रजिस्ट्रेशन या पञ्जीयन नहीं होता। परन्तु धारा ३४ (६) यह बतलाती है कि किसी अंशधारी की मृत्यु या दिवालिया हो जाने पर उपर्युक्त वस्तुओं के बिना भी उसके अंशों का हस्तान्तरण किसी ऐसे व्यक्ति को हो सकता है जो नियमानुसार उसके अंशों का अधिकारी हो। कम्पनी ऐसे मामले में किसी प्रकार की रुकावट नहीं करता। उसी भाँति धारा २५ के अनुसार किसी भी मृत सदस्य के अंशों का हस्तान्तरण उसके वैध प्रतिनिधि को बिना उपर्युक्त सामग्री के हो सकता है। भले ही वह प्रतिनिधि कम्पनी का सदस्य न हो, परन्तु वह हस्तान्तरण उसी प्रकार वैध माना जाता है जैसे कम्पनी के किसी सदस्य के लिए हस्तान्तरण विलेख (Instrument of transfer) बनाते समय माना जाता है। इस तरह किसी सदस्य की मृत्यु हो जाने पर भी उसके रजिस्टर्ड अंशों का हस्तान्तरण-अधिकार वैधानिक रीति से उसके वैध प्रतिनिधि (Legal representative) को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार दिवालियेपन की दशा में यह अधिकार उसके नियुक्त प्रापक (Receiver) को प्राप्त हो जाता है।

प्रायः किसी मृत अथवा दिवालिया सदस्य के अंशों के हस्तान्तरण की ठीक-ठीक पद्धति कम्पनी के अन्तर्नियमों में लिखी रहती है। तालिका 'अ' के नियम २२ के अनुसार निम्न रीति से अंशों का हस्तान्तरण होता है :—

कोई भी व्यक्ति जो कम्पनी के सदस्य की मृत्यु या दिवालिया हो जाने पर तथा सचालकों के प्रमाण प्राप्त कर लेने पर उसके अंशों का अधिकारी होता है तो वह कम्पनी की रजिस्टर्ड सदस्यता तथा उन अंशों के हस्तान्तरण करने का उसी भाँति अधिकारी होता है जैसाकि मृत या दिवालिया व्यक्ति अधिकारी था। साथ ही सचालक लोग भी उसकी सदस्यता एव हस्तान्तरण के अस्वीकृत करने एव रोकने के उसी भाँति अधिकारी हैं जिस भाँति वे मृत या दिवालिया व्यक्ति के हस्तान्तरण करने पर उसके अधिकारी थे।

इस प्रकार कोई भी ऐसा व्यक्ति जो कम्पनी के सदस्य की मृत्यु या दिवालिया हो जाने पर तथा सचालकों के प्रमाण प्राप्त करके स्वीकृति देने पर उसके अंशों का अधिकारी होता है तो वह चाहे तो कम्पनी का रजिस्टर्ड सदस्य हो सकता है और यदि सदस्य न होना चाहे तो वह अपने उन अंशों का किसी अन्य व्यक्ति को हस्तान्तरण कर सकता है। सचालकों द्वारा माँगे हुए प्रमाण प्रायः परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग होते हैं और उन लोगों की इच्छा पर पूर्णतः निर्भर रहते हैं।

जब कोई ऐसा व्यक्ति, जिसके नाम अंशों का हस्तान्तरण उपर्युक्त वैधानिक नियमानुसार हो सकता है, अपना नाम मृत या दिवालिया व्यक्ति के स्थान पर कम्पनी में रजिस्टर्ड कराना चाहता है तो उसे अंश-प्रमाणपत्र तथा आवश्यक स्वत्वाधिकार सम्बन्धी प्रमाणों (Necessary evidence of his title) सहित एक आवेदन पत्र कम्पनी में भेजना चाहिए।

वैधानिक पुस्तकें तथा लेखे (Statutory Books and Accounts)

कम्पनी के कार्यवाह का यह भी एक महान् एव प्रमुख कर्त्तव्य है कि उसे कम्पनी की कार्यवाही के लिए नियमानुसार आवश्यक समस्त पुस्तकों को सँभालकर रखना चाहिए; ये पुस्तकें क्रमशः इस प्रकार की होती हैं —

(१) सदस्य-पञ्जी (Register of Members)

धारा ३१ के अनुसार प्रत्येक कम्पनी को लिए अपने सदस्यों का रजिस्टर या पञ्जी रखना अनिवार्य होता है। उस रजिस्टर में निम्नलिखित बातें रहती हैं :—

१—कम्पनी के सदस्यों का नाम, पता तथा व्यवसाय ;

२—प्रत्येक सदस्य द्वारा लिए हुए अंशों की संख्या तथा उनके स्पष्ट (Distinctive numbers),

३—प्रत्येक सदस्य के अंशों की प्रदत्त (Paid) या देने के लिए ... राशि (Amount) ;

४—प्रत्येक मनुष्य के सदस्य होने की तिथि, तथा

५—किसी भी सदस्य की सदस्यता भग होन (Ceased to be a member) की तिथि।

यदि कुछ व्यक्ति सयुक्त रूप से कम्पनी के अश खरीदते हैं तो कम्पनी को उनमें से किसी भी व्यक्ति का नाम पहले लिखने का अधिकार होता है। बहुधा जिस व्यक्ति का नाम कम्पनी के सदस्य-रजिस्टर में पहले लिखा होता है वही व्यक्ति व्यापक सभा में उपस्थित होन तथा मत देने का अधिकारी माना जाता है। धारा ३२ के अनुसार सदस्य रजिस्टर में समस्त सदस्यों की एक सूची अलग रहती है तथा पूँजी का भी सक्षिप्त ब्यौरा (Summary) रहता है। यह सक्षिप्त ब्यौरा वार्षिक व्यापक सभा (Annual General Meeting) के २१ दिन पश्चात् प्रति वर्ष तैयार किया जाता है। इस रजिस्टर के लिए कोई खास शीर्षका (Ruling) का निर्देश नहीं होता।

सदस्यों का रजिस्टर ऋणदाताओं या उत्तमर्णों (Creditors) की प्रत्याभूति या जमानत (Guarantee) होता है जिसका कि विश्वास सभी सदस्य करते हैं। अत इसका निर्माण यथा साध्य ठीक ठीक करना चाहिए। क्योंकि इसमें लिखे हुए मनुष्यों के नाम वस्तुत ऋणदाताओं के नाम होते हैं। यही सदस्यों की सदस्यता का बाह्य दृष्टि से प्रमुख प्रमाण (Prima facie evidence) होता है, परन्तु यह पूर्ण या अखंड प्रमाण (conclusive evidence) नहीं होता।

सदस्य निर्देशक (Index of members) —धारा ३१-A के अनुसार प्रत्येक कम्पनी ५० से अधिक सदस्यों का एक निर्देशक (Index) रखती है। यदि सदस्यों के नामों में कोई परिवर्तन होता है तो उस परिवर्तन के १४ दिनों के अन्दर ही उस निर्देशक में भी आवश्यक परिवर्तन कर दिये जाते हैं। ये निर्देशक साधारणतया पत्र निर्देशक (Card index) के रूप में होने चाहिए, परन्तु इनमें ऐसा सुन्दर निर्देश (Indication) रहना चाहिए जिससे किसी भी सदस्य का लेखा (Account) रजिस्टर में सुगमतापूर्वक शीघ्र ही मिल जाय।

रजिस्टर की प्रतिलिपि एव उसका निरीक्षण (Inspection and copies of the register) —धारा ३६ के अनुसार प्रत्येक कम्पनी को सदस्यों का रजिस्टर तथा निर्देशक (Index) अपने रजिस्टर्ड कार्यालय में रखने चाहिए। प्रत्येक सदस्य उस रजिस्टर तथा निर्देशक को नि शुल्क देख सकता है तथा उसमें से जो चाहे सो लिख सकता है परन्तु सदस्य के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति केवल १ रुपया शुल्क देने पर ही उसे देख सकता है। कम्पनी का सदस्य या अन्य कोई भी व्यक्ति रजिस्टर के किसी भी भाग की प्रतिलिपि भी माँग सकता है। इतना अवश्य है कि प्रति १०० शब्दों के लिये ६ आना शुल्क कम्पनी में देना पड़ता है तथा कम्पनी [illegible] दिन के अन्दर वह प्रतिलिपि भेजती है।

मू० उस दिया जाता

रजिस्टर का शुद्धीकरण (Rectification of Register) —धारा ३८ के अनुसार रजिस्टर में समय समय पर होने वाली शुद्धि की संक्षिप्त सूची (Summary) रहनी चाहिए। बहुधा निम्नलिखित दो परिस्थितियों में न्यायालय द्वारा आवेदन पत्र भेजने पर रजिस्टर में शुद्ध (Rectification) की जाती है —

(१) जब किसी व्यक्ति का नाम धोखे से या बिना पर्याप्त कारणों के सदस्य रजिस्टर में लिख लिया जाता है अथवा काट दिया जाता है, या

(२) जब कोई भूल (Default) हो जाती है या किसी सदस्य की सदस्यता समाप्त हो जाने पर भी उसका यह उल्लेख होने में अनावश्यक देरी हो जाती है।

उपर्युक्त दशा में न्यायालय या तो आवेदक के आवेदन-पत्र को अस्वीकार कर देता है या कम्पनी को अपने रजिस्टर का शुद्धि के लिये आदेश भेज देता है।

रजिस्टर में प्रन्यास को स्थान नहीं दिया जाता (No trust to be entered on Register) —धारा ३३ के अनुसार किसी भी स्पष्ट (Express) या ध्वनित (Implied) या अनिवार्य (Constructive प्रन्यास की सूचना (Notice of trust) के लिए सदस्य रजिस्टर में स्थान नहीं दिया जाता। इसका अर्थ यह है कि कम्पनी के रजिस्टर में उल्लिखित समस्त अंशधारी कम्पनी के सब प्रकार से लाभकारी स्वामी (Beneficial owner) होते हैं। अतः उस रजिस्टर में इस बात का तनिक भी उल्लेख नहीं होता और न कम्पनी ऐसा लिखना आवश्यक ही समझती है कि अमुक अंश प्रन्यास या ट्रस्ट के हैं अथवा उसके समान हित वाली किसी और हा सस्था के हैं।

ब्रिटिश रजिस्टर (British Register) —इङ्गलैंड में कम्पनियाँ जोकि अंश पूँजीवाली होती हैं, बहुधा अपने अन्तर्नियमों के आधार पर एक सदस्यों का शाखा रजिस्टर (Branch register of members) रखती हैं। यही रजिस्टर ब्रिटिश रजिस्टर कहलाता है। यह ब्रिटिश रजिस्टर प्रायः मुख्य रजिस्टर (Principal register) का ही एक भाग माना जाता है तथा यह मुख्य रजिस्टर की ही भाँति सँभाल कर रखा जाता है। ब्रिटिश-रजिस्टर की समस्त प्रविष्टियाँ (Entries) की प्रतिलिपि भारतवर्ष में कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय में भेजी जाती हैं जोकि वहाँ ब्रिटिश रजिस्टर का प्रतिलिपि (Duplicate of the British Register) में लिखी जाती हैं। यह ब्रिटिश रजिस्टर मुख्य रजिस्टर के एक भाग की ही भाँति रखा जाता है।

यहां कम्पनियाँ जिनमें ब्रिटिश अंशधारी अधिक संख्या में होते हैं ऐसे ही ब्रिटिश रजिस्टर रखती हैं जिससे इन अंशधारियों को अपने अंशों का हस्तान्तरण करने में कोई आपत्ति नहीं होती और बड़ी सुगमता से यह कार्य हो जाता है। में

रजिस्टर को बन्द रखना (Closing the Register) —धारा ... के अनुसार कोई भी कम्पनी किसी समाचार पत्र में ७ दिन पहले सूचना भेज ...

रजिस्टर को बन्द कर सकती है। बन्द रखने की अवधि एक वर्ष में अधिक से अधिक ४५ दिवस होगी तथा एक-साथ लगभग ३० दिन तक बन्द रख सकती है। साधारण तया सूचना ऐसे समाचार पत्र में भेजी जाती है जो कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय वाले प्रान्त से निकलता है और सुगमता से उसके आसपास के जिला में इस सूचना का प्रचार करता है। प्राय रजिस्टर उस समय बन्द रक्खा जाता है जब लाभांश की घोषणा होने के उपरान्त अंश अधिपत्र (Warrant) बनाये जाते हैं या जिस समय वार्षिक प्रत्याय (Annual return) तैयार किया जाता है अथवा जिस समय कम्पनी के स्थायी सदस्यों से अंशों का प्रस्ताव किया जाता है या कम्पनी की पूँजी का पुनर्निर्माण किया जाता है।

(७) वार्षिक प्रत्याय (Annual Return) —धारा ३२ के अनुसार अंश पूँजीधारी किसी भी कम्पनी को अपनी संस्थापना की तिथि से १८ मास के अन्दर तथा संस्थापना के उपरान्त प्रतिवर्ष कम से कम एक बार ऐसे समस्त व्यक्तियों की सूचना भेजनी पड़ती है जो पहिली सभा अथवा उस वर्ष की व्यापक सभा के दिन कम्पनी के सदस्य थे तथा कम्पनी की संस्थापना या गत सूची के भेजने के उपरान्त जो कम्पनी के सदस्य नहीं रहते। उस सूची में समस्त भूतपूर्व तथा वर्तमान सदस्यों के नाम, पते तथा व्यवसाय लिखे रहते हैं। इसके साथ ही उनके लिये हुए अंशों की संख्या, गत सूची एवं संस्थापना के उपरान्त हस्तान्तरित हुए अंशों का उल्लेख तथा हस्तान्तरण के रजिस्टर्ड होने की तिथि भी लिखी रहती है।

इसी प्रत्याय (Return) के साथ एक संक्षिप्त सूची (Summary) भी लगी रहती है जिसमें रोकड़ के लिए निर्गमित (Issued) किए हुए अंशों एवं अन्य किसी प्रतिफल (Consideration) के लिए निर्गमित अंशों के विवरण के साथ साथ निम्न लिखित बातें भी लिखी रहती हैं —

१—कम्पनी की अंश पूँजी तथा उसके विभाजित अंशों की संख्या,

२—कम्पनी के प्रारम्भ होने से प्रत्याय Return) की तिथि तक लिए गए अंशों की संख्या,

३—प्रत्येक अंश की याचित राशि (Amount called up),

४—याचना पर प्राप्त हुई समस्त राशि (Total amount),

५—याचना की अप्राप्त समस्त राशि (Unpaid amount),

६—अंशों या ऋणपत्रों के सम्बन्ध में दिए हुए वर्तन या कमीशन की कुलराशि,

७—अपहृत अंशों (Forfeited shares) की कुल संख्या,

८—अंशों या स्कन्धों (Stocks) की कुल राशि, जिनके लिए अभी अंश-अधिपत्र (Share warrants) नहीं दिए गए हैं,

मृ
उत
दि
जा

९—गत प्रत्याय के निकलने की तिथि से अब तक निर्गमित एवं समर्पित (Surrendered) अंश अधिपत्रों की कुल संख्या ;

१०—प्रत्येक अंश-अधिपत्र में समाविष्ट (Comprised) अंशों की संख्या तथा स्कंध (Stock) की राशि ;

११—संचालकों, प्रबन्धकों या प्रबन्ध अभिकर्ताओं के नाम तथा पते और गत प्रत्याय (Last return) से अब तक उनके व्यक्तित्व (Personal) में यदि कोई परिवर्तन हुआ हो तो उसका उल्लेख तथा परिवर्तन की तिथि ; और

१२—रजिस्ट्रार के पास रजिस्ट्री होने वाले समस्त बन्धकों (Mortgages) तथा प्रभारों (Charges) के सम्बन्ध में कम्पनी की ओर शेष रहने वाले ऋण की कुल राशि।

उपर्युक्त सदस्य-सूची एवं संक्षिप्त सूची (Summary) दोनों मिलकर "वार्षिक प्रत्याय" (Annual return) कहलाती है। इसे सदस्य-रजिस्टर में अलग रखना चाहिए तथा कम्पनी की प्रथम या वार्षिक सभा की तिथि से २१ दिन के अन्दर तैयार करके तथा इसकी एक प्रति पर संचालक या प्रबन्धक या कार्यवाह के हस्ताक्षर कराकर एवं इसकी यथार्थता का एक प्रमाण पत्र इसके साथ लगाकर रजिस्ट्रार के पास प्रस्तुत करना चाहिये। वैयक्तिक या निजी (Private) कम्पनियों को भी वार्षिक प्रत्याय भेजना पड़ता है तथा संचालक के हस्ताक्षर द्वारा एक प्रमाण-पत्र भी लगाना पड़ता है, जिसमें यह लिखा रहता है कि कम्पनी ने अपने अंशों अथवा ऋणपत्रों के खरीदने के लिए जनता से मांग नहीं की है और यदि उस कम्पनी में ५० से अधिक सदस्य होते हैं तो उस प्रमाणपत्र में यह लिखना पड़ता है कि इस कम्पनी की ५० से अधिक सदस्यता केवल ऐसे ही व्यक्तियों की है जिनका समावेश ५० की संख्या में नहीं है।

यह प्रत्याय रजिस्ट्रार के यहाँ कम्पनी के स्थिति-विवरण (Balance Sheet), लाभ हानि का लेखा (Profit and Loss Account) तथा अंकेक्षक की रिपोर्ट, इन सबकी तीन प्रतिलिपियों (copies) सहित प्रस्तुत की जाती है।

विवरण-पुस्तकें (Minute Books)

धारा ८३ के अनुसार प्रत्येक कम्पनी को अपनी समस्त व्यापक-सभाओं एवं संचालक सभाओं की कार्यवाही का विवरण लिखना आवश्यक होता है। इन समस्त विवरणों के लिए पुस्तकें रखी जाती हैं। इन विवरणों पर यदि उस सभा के अध्यक्ष (Chairman) या आगामी सभा के अध्यक्ष के हस्ताक्षर होते हैं तो ये पूर्णतः प्रमाणित माने जाते हैं। ये विवरण पुस्तकें सदैव कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय में रखनी चाहिए तथा कम्पनी के कार्य काल में प्रत्येक सदस्य के निरीक्षण के लिए निःशुल्क खुली रहनी चाहिए जिसमें वे दो घंटे प्रति दिन उनका निरीक्षण कर

सकें। यदि कोई सदस्य सभा होने के एक सप्ताह पश्चात् उस सभा का विवरण कम्पनी से लेना चाहता है तो उसे उसकी प्रतिलिपि के लिए शुल्क जमा करना पड़ता है और वह प्रतिलिपि उसके आवेदन करने की तिथि से १ सप्ताह के अन्दर कम्पनी भेजा करती है।

कम्पनी की व्यापक-सभा सचालक सभा की कार्यवाहियों के लिए सदैव पृथक् पृथक् विवरण-पुस्तकें रखी जाती हैं क्योंकि व्यापक सभा के विवरण तो सभी सदस्यों के लिए सदैव खुले रहते हैं परन्तु सचालक-सभा के विवरण खुले नहीं रहते और न उन्हें सभी सदस्य देख ही सकते हैं।

(४) सचालक आदि का रजिस्टर (Register of Directors, etc) धारा ८७ के अनुसार प्रत्येक कम्पनी को अपने रजिस्टर्ड कार्यालय में एक सचालकों, प्रबन्धकों तथा प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं का रजिस्टर रखना पड़ता है, इसम प्राय· निम्नलिखित बातें होती हैं :—

१—यदि वह मनुष्य है तो उसका वर्त्तमान पूरा नाम, पहला पूरा नाम या उपनाम, उसके रहने का स्थायी पता, उसकी जातीयता (Nationality) व्यवसाय तथा यदि वह अन्य किसी कम्पनी का भी सचालक है तो इसका भी उल्लेख रहता है।

२—यदि वह कोई सस्था (Corporation) है तो उसका नाम, उसके रजिस्टर्ड या प्रमुख कार्यालय का पता तथा उसके प्रत्येक सचालक का पूरा नाम, पता, जातीयता आदि लिखे जाते हैं।

३—यदि वह कोई फर्म (Firm) है तो उसके प्रत्येक हिस्सेदार (Partner) का नाम, पता तथा जातीयता लिखी जाती है। इसक साथ ही प्रत्येक व्यक्ति के हिस्सेदार बनने की तिथि भी लिखी रहती है।

प्रत्येक कम्पनी को अपने प्रथम सचालक की नियुक्ति से, या उनमें किसी प्रकार के परिवर्तन होने से अथवा रजिस्टर में किसी प्रकार की अदल-बदल होने से १४ दिन के अन्दर सचालक-रजिस्टर क समस्त विवरणों का एक प्रत्याय (Return) निर्दिष्ट प्रपत्र (Form) पर रजिस्ट्रार के यहाँ भेजना चाहिए।

इस रजिस्टर को कम्पनी का प्रत्येक सदस्य कम्पनी के कार्य-काल में दो घंटे प्रति दिन बिना शुल्क दिये देख सकता है, परन्तु बाहर के व्यक्ति को इसे देखने के लिए १) रु० शुल्क कम्पनी मे जमा करना होगा और तभी वह देख सकेगा। जब तक उसके देखने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता तब तक प्रत्येक व्यक्ति कम्पनी के कार्य काल में नित्य दो घण्टे उसे देख सकता है।

(५) अनुबन्ध-रजिस्टर (Register of Contracts), —धारा ९१-A के अनुसार प्रत्येक कम्पनी को उन समस्त अनुबन्धों का एक रजिस्टर रखना पड़ता है, जिनमें

सचालक लोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध या रुचि रखते हैं और यह रजिस्टर कम्पनी के कार्यालय में प्रत्येक सदस्य को देखने के लिए कम्पनी के कार्य-काल में खुला रहता है।

(६) बन्धक तथा प्रभारों का रजिस्टर (Register of Mortgages and Charges)—धारा १२३ के अनुसार प्रत्येक कम्पनी को एक बन्धकों तथा प्रभारों (Mortgages and charges) का रजिस्टर रखना चाहिए। उसमें कम्पनी की सम्पत्ति को निर्दिष्ट रूप से प्रभावित करने वाले समस्त बन्धक तथा प्रभारों एव कम्पनी के उद्यम पर या उसकी किसी सम्पत्ति पर होने वाले सभी चल-प्रभारों (Floating charges) का उल्लेख करना चाहिए। इसके साथ ही प्रत्येक दशा में बन्धक की गई (Mortgaged) या प्रभार पर ली गई (Charged) सम्पत्ति का विवरण, बन्धक या प्रभार के धन की राशि तथा वाहक (Bearer) को दी जाने योग्य प्रतिभूतियों (Securities) की दशा के अतिरिक्त बन्धक-ग्रहीताओं (Mortgagees) या उन व्यक्तियों का भी उसमें नाम लिखा जाना चाहिए जो उसके स्वत्वाधिकारी हों।

(७) ऋण पत्रधारियों का रजिस्टर (Register of Debenture-holders) —किसी कम्पनी के लिए वैधानिक दृष्टि से ऋणपत्र-धारियों का रजिस्टर रखना अनिवार्य नहीं होता। परन्तु यदि उसमें ऋण-पत्र अधिक निर्गमित किए जाते हैं और वह ऐसा रजिस्टर बना लेती है तो धारा १२५ के अनुसार उसे अश-धारियों एव ऋणधारियों के निरीक्षण के लिए खुला रखना चाहिए। परन्तु यदि उस कम्पनी के अन्तर्नियमों में उसे बन्द रखने के लिये निर्देश है तो अधिक से अधिक एक वर्ष में ३० दिन बन्द रक्खा जा सकता है।

प्रत्येक कम्पनी को धारा १०६ के अनुसार अनिवार्य रजिस्ट्रेशन के लिए आवश्यक विलेखों (Instrument) की एक-एक प्रतिलिपि (Copy) अपने रजिस्टर्ड कार्यालय में रखनी चाहिए। इसके साथ ही प्रत्येक कम्पनी को धारा ११७ के अनुसार बने हुए उपर्युक्त विलेखों (Instruments) तथा धारा १२३ के अनुसार बनाये गये बधक के रजिस्टर को प्रत्येक सदस्य या ऋणदाता (Creditor) के लिए कम्पनी के कार्य काल में खुला रखना चाहिए। कम्पनी का प्रत्येक सदस्य बिना शुल्क दिये इनका निरीक्षण कर सकता है परन्तु किसी बाहर के व्यक्ति को इन्हें देखने के लिए १ रुपया प्रति निरीक्षण के हिसाब से शुल्क देना पड़ता है।

(८) लेखा-पुस्तकें (Books of Accounts):—धारा १३० के अनुसार प्रत्येक कम्पनी को लेखा (Account) के लिए ठीक-ठीक पुस्तकें रखनी पड़ती हैं। उन पुस्तकों में प्राय निम्नलिखित विवरण रहते हैं:—

(क) कम्पनी द्वारा प्राप्त एव प्रदत्त (Received and paid) धन की कुल

राशि तथा तत्सम्बन्धी समस्त बातों का ब्यौरा लिखा जाता है,

(ख) कम्पनी द्वारा वस्तुओं के क्रय-विक्रय (Purchase and sale) का हिसाब लिखा जाता है, तथा

(ग) कम्पनी की समस्त सामग्री एव दायित्वों (Assets and Liabilities) का लेख रखा जाता है।

कम्पनी-विधान में उपर्युक्त लेखे के लिए कोई विशेष पद्धति नहीं मिलती और न इसमें किसी खास भाषा का ही उल्लेख मिलता है जिसमें कि लेखा लिखा जाना चाहिए। अत कम्पनी का हिसाब अंग्रेजी पद्धति या भारतीय बहीखाता पद्धति में से किसी एक पद्धति पर रखा जा सकता है। परन्तु इतना आवश्यक है कि वह पूर्ण एव व्यवस्थित होना चाहिए।

लेखा-पुस्तकें (Books of Account) बहुधा कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय में ही रखी जाती हैं। परन्तु यदि सचालक लोग किसी अन्य स्थान पर रखना उचित समझते हैं तो वे वहाँ भी रक्खी जा सकती हैं।

जब किसी कम्पनी की कोई शाखा (Branch) होती है तो उस शाखा की समस्त लेखा पुस्तकें जिनमें कि उस शाखा का हिसाब रहता है सदैव शाखा-कार्यालय (Branch office) म ही रहनी चाहिए। परन्तु उन लेखाओं की संक्षिप्त सूची बनाकर उनका प्रत्याय (Return) प्रति दूसरे मास कम्पनी के मुख्य कार्यालय म भेज देना चाहिए जिससे वहाँ वे कम्पनी की प्रधान-लेखा पुस्तक में लिख ली जाती हैं।

इन लेखा पुस्तकों की समुचित देखभाल का उत्तरदायित्व प्रब ध अभिकर्त्ताओं पर रहता है। परन्तु जहाँ प्रब ध अभिकर्त्ता नहीं होते वहाँ पर सचालक लोग ही उत्तरदायी होते हैं। यदि इनमें किसी प्रकार की भूल पाई जाती है तो इन लोगों पर लगभग १००० रुपये जुर्माना होता है।

इन लेखा पुस्तक को प्रत्येक सदस्य कम्पनी के कार्य काल में आकर देख सकता है तथा *सारिणी 'अ' के नियम १०५ के अनुसार (यह नियम सभी कम्पनियों पर लागू होता है)* प्रत्येक सदस्य व्यापक सभा में एक प्रस्ताव पास करके इन लेखा पुस्तकों का निरीक्षण भी कर सकता है।

(६) प्रकाशित लेखे (Published Accounts) —

धारा १३१ (१) तथा (२) एव धारा १३४ के अनुसार प्रत्येक सार्वजनिक कम्पनी के सचालक को प्रतिवर्ष एक स्थिति-विवरण (Balance Sheet) तथा लाभ हानि का लेखा (Profit and Loss Account) प्रकाशित करने पड़ते हैं। दोनों लेखे प्राय सभी सदस्यों तथा अंशधारियों या ऋण पत्रधारियों के पास भेजे जाते हैं तथा सदस्यों की व्यापक सभा में उपस्थित किए जाते हैं और सयुक्त स्कध कम्पनियों के रजिस्ट्रार के पास भी प्रस्तुत किये जाते हैं। यदि कोई कम्पनी लाभ प्राप्त न करने के

लिए व्यवसाय करती है तो उसे लाभ-हानि लेखा के स्थान पर एक आय-व्यय लेखा (Income and Expenditure Account) प्रकाशित करना पड़ता है। प्रत्येक को संस्थापन से १८ माह पश्चात् तक अपना प्रथम लेखा (First account) प्रकाशित कर देना चाहिए और आगामी प्रत्येक लेखा प्रति वर्ष प्रकाशित करते रहना चाहिए।

एक स्थिति-विवरण तथा लाभ हानि लेखा में वैधानिक दृष्टि से निम्नलिखित बातों का रहना आवश्यक होता है :—

स्थिति-विवरण (Balance sheet).—धारा १३२ (१) के अनुसार एक स्थिति-विवरण में सम्पत्ति एवं सामग्री (Property and assets) की संक्षिप्त सूची तथा कम्पनी की पूँजी एवं दायित्व (Capital and Liabilities) का विवरण रहता है। ये विवरण उन सामग्रियों एवं दायित्वों का साधारण स्वरूप तथा निश्चित सामग्रियों (Assests) का मूल्य किस प्रकार ऐसा हुआ, इन सभी बातों को प्रकट करने वाले होते हैं। उसी प्रकार धारा १३२ (२) के अनुसार एक स्थिति-विवरण भारतीय कम्पनी विधान की तृतीय सूची (Third schedule) में "F" से निर्देशित प्रपत्र की भाँति होना चाहिए या परिस्थिति के अनुसार उससे मिलता-जुलता भी बनाया जा सकता है।

यदि कोई कम्पनी धारा १०५-A के अनुसार किसी प्रकार की छूट (Discount) पर अपने अंश निर्गमित करती है तो उसके प्रत्येक स्थिति विवरण में उन अंशों की छूट का पूरा-पूरा विवरण होना चाहिए। इसके साथ ही उस छूट का भी उल्लेख होना चाहिए जो स्थिति-विवरण की तिथि तक बट्टे-खाते में (Write off) न डाली गई हो।

धारा १०५-B के अनुसार यदि कोई कम्पनी अपने विमोचनशील अधिमान अंशों (Redeemable preferance shares) का निर्गमन करती है तो अपने स्थिति-विवरण में इस आशय का उल्लेख करना चाहिए तथा कम्पनी की निर्गमित पूँजी (Issued Capital) का कौनसा भाग ऐसे अंशों से सम्बन्ध रखता है और किस तिथि को या उससे पूर्व किस दिन वे अंश विमोचित (redeemed) किये जायेंगे—इन सभी बातों का विवरण भी स्थिति विवरण (Balance sheet) में रहना अनिवार्य है।

धारा १०६ के अनुसार यदि कोई कम्पनी अपने अंशों एवं ऋण पत्रों के निर्गमन पर किसी प्रकार का कमीशन अथवा छूट (Discount) देती है तो उस छूट या कमीशन की कुल राशि यदि स्थिति-विवरण के प्रकाशन की स्थिति तक बट्टे खाते में (Write off) न डाली गई हो तो उसका उल्लेख भी स्थिति विवरण में रहना चाहिए।

धारा १३१-A के अनुसार कम्पनी के प्रत्येक स्थिति-विवरण के साथ सचालक की रिपोर्ट या वृत्तलेख होना चाहिए।

धारा १३१–A के अनुसार विनियोग कम्पनी की अपेक्षा एक सधारी कम्पनी (Holding company) के स्थिति-विवरण के साथ निम्नलिखित विवरण और भेजे जाते हैं :—

(क) विगत अंकेक्षित स्थिति-विवरण (Last audited Balance sheet), लाभ-हानि लेखा, तथा प्रत्येक सहायक या सह-सहायक कम्पनी के सचालक की रिपोर्ट भेजी जाती है।

(ख) संधारी कम्पनी (Holding company) के लेखे में सहायक कम्पनियों (Subsidiary companies) के लाभ-हानि का कुल योग (Aggregate) किस प्रकार निकाला गया है, इस बात का विवरण भेजा जाता है।

लाभ हानि का लेखा (Profit and loss Account)—लाभ-हानि की लेखे सम्बन्धी बातें सारिणी 'अ' के नियम १०७ में मिलती हैं। यह नियम सभी कम्पनियों पर लागू होता है। इसके अतिरिक्त धारा १३२ (३) में भी इससे सम्बन्ध रखने वाली बातें मिलती हैं।

सारिणी 'अ' का नियम १०७ निम्न रीति से लाभ-हानि लेखा सम्बन्धी बातें बतलाता है —

(क) लाभ हानि के लेखे में समस्त आय की राशि (Amount of gross income) सुगमतापूर्वक शीर्षकों के अन्दर लिखी हुई तथा प्राप्त होने वाले प्रत्येक स्रोत (Source) का निर्देश करती हुई लिखी रहनी चाहिए।

(ख) उसमें समस्त व्ययों (Expenditures) का शीर्षक के हिसाब से पृथक्-पृथक् उल्लेख रखना चाहिए अर्थात् स्थापना, वेतन या अन्य बातों में जो-जो खर्च हुआ हो उसका स्पष्ट उल्लेख अलग अलग शीर्षक देकर रहना चाहिए।

(ग) वार्षिक आय में से निकाली जाने वाली समस्त व्यय की राशि लेखे में लिखी रहनी चाहिए जिससे सभा के सम्मुख लाभ-हानि का ठीक ठीक विवरण उपस्थित हो सके।

(घ) यदि कोई ऐसा व्यय इस वर्ष में कम्पनी को करना पड़ा है जिसको वह कितने ही वर्षों में विभाजित करके अपने लेखे में दिखाना चाहता है तो उस समस्त व्यय की राशि का उल्लेख कम्पनी के लाभ हानि लेखे में रहना चाहिए तथा उसमें इस कारण का भी निर्देश होना चाहिए कि किसलिए उस व्यय का एक भाग ही इस वर्ष के लेखे में लिया गया है। यदि कम्पनी अपनी सभा में कुछ और निश्चय करती है तो दूसरी बात है।

धारा १३२ (३) बतलाती है कि (क) लाभ हानि-लेखा में सचालकों का पारिश्रमिक (remuneration), प्रबन्ध-अभिकर्ताओं का पारिश्रमिक तथा अवक्षयण

(depreciation) की राशि का पृथक् पृथक् उल्लेख रहना चाहिए और (ख) यदि किसी कम्पनी का सचालक किसी दूसरी कम्पनी का सचालक भी मनोनीत (nominated) किया जाता है और उस कम्पनी से भी अपने सचालक-काय का कुछ पारिश्रमिक लेता है तो इस लाभ-हानि लेखा में टिप्पणी (foot note) देकर या अन्य कोई विवरण अलग से लगाकर इस बात का स्पष्ट उल्लेख कर देना चाहिए।

सार्वमुद्रा (Common Seal)

कम्पनी का वैधानिक एकाकी अस्तित्व होता है। इसका अर्थ यह है कि उसके समस्त सदस्यों से कम्पनी का अस्तित्व पूर्णत· भिन्न होता है। यद्यपि सभी सदस्यों का सम्मिलित स्वरूप ही कम्पनी कहलाता है, परन्तु उसका अपना अस्तित्व भी है, यही वैधानिक अस्तित्व का तात्पर्य है। इस वैधानिक अस्तित्व के कारण ही कम्पनी के समस्त अनुबन्धों, पत्रों तथा अन्य प्रलेखों (Documents) पर जहाँ कि कम्पनी के हस्ताक्षर आवश्यक होते हैं वे इस प्रकार होने चाहिए जिससे कम्पनी का नाम स्पष्ट प्रतीत हो जाय और यह भी पता चल जाय कि ये अमुक कम्पनी के पत्र आदि हैं। धारा ७३ के अनुसार प्रत्येक कम्पनी अपनी एक सार्वमुद्रा (Common seal) रखती है जिस पर कम्पनी का रजिस्टर्ड नाम स्पष्ट अक्षरों में खुदा रहता है। नियमानुसार कम्पनी का नाम सार्वमुद्रा पर 'खुदा रहना' चाहिए। अत रबड की मुहर सार्वमुद्रा के स्थान पर प्रयुक्त नहीं होती।

सार्वमुद्रा प्राय कम्पनी के कार्यानयीन हस्ताक्षरों (Official Signature) का कार्य करती है। कम्पनी के अन्तर्नियमों में बहुधा इसके प्रयोग सम्बन्धी कुछ अपरिवर्तनशील नियम रहते हैं। सारिणी 'अ' के नियम ७६ के अनुसार सचालक सभा के प्रस्ताव सम्बन्धी अधिकार और कम से कम दो सचालकों तथा कार्यवाह (Secretary) या ऐसे व्यक्ति की जिसे सचालक इस काय के निमित्त नियुक्त करें, इनकी उपस्थिति के बिना कम्पनी की मुद्रा किसी भी विपत्र (Instrument) पर अकित न की जाएगी और वे दो सचालक और कार्यवाह या उपर्युक्त अन्य व्यक्ति प्रत्येक विपत्र पर, जिस पर कि उनकी उपस्थिति में कम्पनी की मुद्रा इस प्रकार अकित की गई हो, अपने हस्ताक्षर करेंगे।

प्रत्येक प्रलेख पर मुद्रा अकित करना कम्पनी के लिए आवश्यक नहीं होता। केवल ऐसे ही प्रलेखों पर कम्पनी की मुद्रा लगाना आवश्यक होता है जिन पर वैधानिक दृष्टि से अनिवार्य माना जाता है तथा कम्पनी के अन्तर्नियम जिनके लिए अनिवार्यता घोषित करते हैं। जैसे अश-प्रमाणपत्रों, अश-अधिपत्रों (Share warrants), ऋण-पत्रों तथा अन्य महत्त्वपूर्ण अनुबन्धों (Important contracts) पर मुद्रा अकित करना अनिवार्य है। अन्य विलेख (Instrument) जो कि कम्पनी की ओर से बनाये

जाते हैं उन पर केवल सचालकों के हस्ताक्षर ही पर्याप्त होते हैं, कम्पनी की मुद्रा वहाँ नहीं लगाई जाती।

मुद्रा के सुरक्षित रखने का दायित्व सचालकों पर होता है। वे लोग अपनी जिम्मेदारी पर ही किसी अन्य व्यक्ति को उसका चार्ज दे देते हैं। कम्पनी प्राय एक मुद्रा पुस्तक (Seal Book) भी रखती है जिसमें प्रत्येक प्रलेख का सक्षिप्त विवरण लिखा जाता है जिस पर कि कम्पनी का मुद्रा अंकित (Affix) की जाती है। सक्षिप्त विवरण के साथ ही उस मुद्रा पुस्तक में मुद्रा अंकित करने के लिए संचालकों द्वारा पास किए हुए प्रस्ताव की तिथि और उन प्रलेखों पर हस्ताक्षर करने वाले व्यक्तियों के नाम तथा मुद्राकित करने की साक्षी भी लिखी जाती है।

कम्पनी के प्रस्ताव (Company Resolution)

भारतीय कम्पनी विधान १९१३ के अनुसार प्राय कम्पनियाँ अपने कार्यों के लिए तीन प्रकार के प्रस्तावों का प्रयोग किया करती हैं। वे क्रमश इस प्रकार हैं —

सामान्य प्रस्ताव (Ordinary Resolution) —सामान्य प्रस्ताव प्राय ऐसे प्रस्ताव को कहते हैं जो सामान्य सभा में अधिकाश पुरुषों या जहाँ प्रति पुरुषों (Proxies) को भी अधिकार होता है तो उन अधिकाश प्रति-पुरुषों द्वारा पास किया गया हो। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि उपस्थित मताधिकारी पुरुषों के बहुमत द्वारा हस्त प्रदर्शन करके (Show of hands) या डिब्बे में मत डाल करके जो प्रस्ताव पास किया जाता है वह सामान्य प्रस्ताव कहलाता है। यद्यपि विधान में इस प्रस्ताव का कोई विशेष परिभाषा नहीं मिलती, परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से इस प्रस्ताव का सबंध "व्यापक-सभा में कम्पनी द्वारा पास किए हुए प्रस्ताव" से है। अत यह एक प्रकार का साधारण प्रस्ताव है जो कम्पनी के साधारण कार्यों के लिए व्यापक सभा में काम आता है। परन्तु कभी-कभी इसका प्रयोग किसी विशेष कार्य (Special business) के लिए भी हो सकता है। जैसे यह प्रस्ताव धारा ५० के अनुसार पूँजी के परिवर्तन के लिए उपयोग में आ सकता है। परन्तु इतना अवश्य है कि कम्पनी के विधान या अन्तर्नियम में ऐसे परिवर्तन के लिए किसी असाधारण या विशेष (Extra ordinary or Special) प्रस्ताव का आवश्यकता का बन्धन नहीं होता।

२—असामान्य या असाधारण प्रस्ताव (Extra ordinary Resolution) —धारा ८१ (१) के अनुसार यह ऐसा प्रस्ताव होता है जिसे व्यापक सभा में उपस्थित मताधिकारी सदस्यों के वैयक्तिक (In person) अथवा जहाँ प्रतिपुरुषों के लिये आज्ञा हो वहाँ प्रतिपुरुषों द्वारा दिए गए ३/४ बहुमत से पास किया जाता है। व्यापक सभा में इस प्रकार की प्रस्ताव सम्बन्धी सूचना विधिवत् सभी सदस्यों

को दी जानी चाहिए। यह असाधारण प्रस्ताव निम्नलिखित कार्यों के लिए आवश्यक होता है :—

(क) जिस संचालक की क्रमानुसार पद-विमुक्ति (Retirement in rotation) होती हो, ऐसे किसी भी संचालक के हटाने के लिए (धारा ८६-G),

(ख) दिवालियापन के आधार पर स्वेच्छा से कम्पनी की परिसमाप्ति (Winding up) के लिए (धारा २०८),

(ग) निस्तारक (Liquidator) को उत्तमर्णों या ऋणदाताओं (Creditors) से समझौते आदि के कार्य करने के अधिकार देने के लिए (धारा २८२) तथा

(घ) कम्पनी के अन्तर्नियमों के अनुसार किसी निश्चित हेतु की पूर्ति के लिये—उपर्युक्त प्रस्ताव पास किया जाता है।

३—विशेष प्रस्ताव (Special Resolution) :—धारा ८१ (२) के अनुसार विशेष प्रस्ताव भी एक ऐसा प्रस्ताव होता है जोकि असामान्य प्रस्ताव को पास करने वाले बहुमत द्वारा ही पास किया जाता है तथा जिसके पास करने वाली व्यापक-सभा की सूचना विधिवत् प्रत्येक सदस्य मताधिकारी को २१ दिन पहले देनी पड़ती है।

असाधारण प्रस्ताव तथा विशेष प्रस्ताव में केवल सूचना की लम्बी अवधि (Length of notice) का अन्तर होता है। परन्तु यदि समस्त मताधिकारी सदस्य सभा में उपस्थित हों एवं प्रस्ताव पास करने के लिए सम्मत हों तो २१ दिन की अवधि से कम में भी ऐसा विशेष प्रस्ताव पास किया जा सकता है।

विशेष प्रस्ताव निम्नलिखित कार्यों के लिए आवश्यक होता है :—

(क) कम्पनी का नाम परिवर्तन करने के लिए (धारा ११)

(ख) कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय का प्राप्त तथा उद्देश्यों में परिवर्तन करने के लिए (धारा १२)

(ग) कम्पनी के अन्तर्नियमों (Articles) में बदल करने के लिए (धारा २०)

(घ) कम्पनी की अंश-पूँजी कम करने के लिए (धारा ५५)

(ङ) संचित दायित्व (Reserve liability) का निर्माण करने के लिए (धारा ६६)

(च) कम्पनी के संघ-सीमानियम (Memorandum of Association) में, परिवर्तन करके संचालकों का दायित्व असीमित करने के लिये (धारा ७१)

(छ) किसी संचालक द्वारा पद के हस्तांकन (Assignment of office) की, अनुमति देने के लिये (धारा ८६-B)

(ज) प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को अधिक पारिश्रमिक (Additional remuneration) देने की स्वीकृति के लिये (धारा ८७-C),

(झ) कम्पनी की कार्य प्रणाली का निरीक्षण करने के हेतु निरीक्षकों की नियुक्ति करने के लिये (धारा १४२),

(ञ) न्यायालय द्वारा कम्पनी की परिसमाप्ति (Winding up) कराने के लिए (धारा १६२),

(ट) कम्पनी का स्वेच्छा से परिसमाप्ति के लिए (धारा २०५), तथा

(ठ) स्वेच्छापूर्वक परिसमाप्ति की दशा में हस्तान्तरग्रहीता कम्पनी (Transferee Comany) के साथ किसी प्रकार का समझौता करने के निमित्त निस्तारक (Liquidator) को अधिकार प्रदान करने के लिए (धारा २०८-C) उपर्युक्त प्रस्ताव का प्रयोग किया जाता है।

जिस समय कम्पनी के अन्तर्नियम रजिस्टर्ड हो जाते हैं तो समय समय पर पास हुए उपयु क्त विशेष प्रस्ताव की एक एक प्रतिलिपि प्रस्ताव के उपरान्त निर्गमित अन्तर्नियम के साथ लगी रहनी चाहिए। जब अन्तर्नियम रजिस्टर्ड नहीं होते, तो ऐसे विशेष प्रस्तावों की छपी हुई प्रतिलिपि किसी भी सदस्य के पास १ रुपया शुल्क लेकर भेजी जाती है। यह शुल्क कम्पनी चाहे तो कम भी कर सकती है।

टिप्पणी—निम्नाङ्कित बातें विशेष तथा असामान्य दोनों प्रस्तावों में समान रूप से पाई जाती हैं —

(१) दोनों में सभायें ठीक प्रकार से बुलाई जाती हैं, परन्तु यदि सभी अंशधारी उपस्थित होते हैं और स्वीकृति दे देते हैं तो किसी भी अशिष्टाचार (Informality) का परित्याग किया जा सकता है।

(२) दोनों में सभायें समुचित रूप से सगठित की जाती हैं, अध्यक्ष का विधिवत् चुनाव किया जाता है तथा गणपूरक संख्या (Quorum) की उपस्थिति देखी जाती है।

(३) दोनों में मत देने वाले व्यक्तियों का बहुमत आवश्यक माना जाता है। दोनों में अन्तर्नियमों के अनुसार यदि किसी सदस्य पर याचना (Call) का धन शेष रहता है तो वह सदस्य भाग नहीं ले सकता है।

(४) दोनों में सभापति या अध्यक्ष की यह घोषणा तब तक अन्तिम मानी जाती है कि अमुक प्रस्ताव आगे रखा जायगा या समाप्त किया जाता है (Carried or lost) जबतक कि मत गणना (Poll) की माँग नहीं की जाती।

(५) मत गणना (Poll) की माँग ऐसे ही सदस्यों द्वारा की जाती है जो धारा ७९ (१)-(C) के अनुसार मत देने के अधिकारी होते हैं।

(६) प्रत्येक विशेष एवं असामान्य प्रस्ताव की छपी हुई या टाइप राइटर द्वारा

अंकित एक एक प्रति, कम्पनी के अध्यक्ष द्वारा हस्ताक्षर कराकर, प्रस्ताव पास होने से १५ दिन के अन्दर रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करनी पड़ती है।

(४)—अन्य प्रस्ताव (Other Resolutions)—चौथे प्रकार के प्रस्ताव वे होते हैं जिनमें धारा १५३ के अनुसार विशेष बहुमत (Special majorities) की आवश्यकता होती है।

व्यापक सभाएं (General Meetings)

व्यापक-सभा उस सभा को कहते हैं जिसमें दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी पूर्व सूचना के अनुसार या पारस्परिक कथन के द्वारा किसी बात पर वाद विवाद (Discussion) तथा व्यवहार (Transaction) करने के लिए एकत्रित होते हैं। कम्पनियों के सदस्यों की सभायें प्राय व्यापक सभा या कम्पनी सभा कहलाता हैं। यद्यपि संयुक्त-स्कंध-कम्पनी की व्यवस्था संचालकों द्वारा होती है, परन्तु वास्तविक नियंत्रण तो सामूहिक रूप से सदस्यों के हाथ में ही रहता है। ये लोग ही कम्पनी के स्वामी कहलाते हैं। इस सामूहिक नियंत्रण को सम्भव बनाने के लिए ही विधान (Act) में विशेष आयोजन किया गया है। उस आयोजन में कम्पनी के सदस्यों की निश्चित अवधि पर होने वाली सभाओं के लिए नियम तथा निर्बंध दिए गए हैं तथा उन सभाओं की पद्धति एवं कार्यवाही का भी निर्देश किया गया है।

विधान के अनुसार प्राय तीन प्रकार की सभायें होती हैं —

(१) वैधानिक सभा (Statutory Meeting)

(२) सामान्य व्यापक सभा (Ordinary General Meeting)

(   ) असामान्य व्यापक सभा (Extra ordinary General Meeting)

सदस्य की परिभाषा (Who is a member)—किसी कम्पनी की व्यापक सभा प्राय सदस्यों की सभा होती है। परंतु सदस्य किसे कहते हैं? सदस्य (Member) की व्याख्या धारा ३० में बड़ी सावधानी के साथ की गई है, उस व्याख्या के अनुसार सदस्य होने वाले व्यक्ति में दो बातें होना परमावश्यक है —

(१) वह व्यक्ति कम्पनी का सदस्य बनने के लिए सम्मत हो तथा (२) उसका नाम सदस्य पंजी (Register of members) में लिखा हुआ हो।

कोई भी व्यक्ति सदस्य बनने के लिए निम्न प्रकार से सम्मति देता है — सर्वप्रथम, धारा ३० के अनुसार जो व्यक्ति कम्पनी के संघ-सीमानियम पर हस्ताक्षर करते हैं वे प्रत्येक कम्पनी के सदस्य होने के लिए सम्मत माने जायेंगे। दूसरे, अंशों के वितरण (Allotment) के लिए आवेदन पत्र भेजने वाला प्रत्येक व्यक्ति जिसका कि प्रस्ताव समाप्ति से या रद्द होने से पूर्व स्वीकृत हो जाता है, कम्पनी के सदस्य होने के लिए सम्मत माना जाता है। तीसरे, प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जो अंशों के हस्तान्तरण (Transfer) के लिए तैयार होता है, कम्पनी के सदस्य होने के लिए सम्मत माना जाता है।

उपर्युक्त अन्तिम बात प्रारम्भ के ही समान महत्त्वपूर्ण है। कोई भी सम्मत व्यक्ति उस समय तक सदस्य नहीं होता जब तक उसका नाम सदस्य रजिस्टर में नहीं लिखा जाता।

'अंशधारी' का अर्थ सदस्य की ही भाँति नहीं होता, क्योंकि जिसके पास वाहक अंश अधिपत्र (Bearer Share Warrant) होता है वह अंशधारी कहलाता है। परन्तु वह सदस्य नहीं होता क्योंकि उसका नाम सदस्य-रजिस्टर में नहीं लिखा जाता। इसके साथ ही किसी मृत या दिवालिया सदस्य का वैध प्रतिनिधि (Legal represen tative) भी उस समय तक कम्पनी का सदस्य नहीं कहा जा सकता, जब तक कि वह अपना नाम कम्पनी में सदस्यता के लिए रजिस्टर्ड नहीं कराता हालांकि वह सदस्यों के रजिस्टर में बिना लिखे हुये भी अंशधारी होता है। इस प्रकार प्रत्येक अंशधारी अनिवार्य रूप से सदस्य नहीं होता। बहुधा अंशपूँजी न रखने वाली प्रत्याभूति कम्पनियों (Guarantee companies not having share capital) में वे व्यक्ति भी सदस्य कहलाते हैं जो कम्पनी का कोई भी अंश नहीं लेते।

वैधानिक सभा (Statutory Meeting) —धारा ७७ के अनुसार प्रत्येक अंश सीमित तथा प्रत्याभूति सीमित सार्वजनिक कम्पनी जो अंशपूँजी वाली होती है, वह अपने व्यापार प्रारम्भ करने की तिथि से कम से कम १ माह तथा अधिक से अधिक ६ माह उपरान्त तक सदस्यों की एक व्यापक सभा करने के लिए बाध्य होती है। यह सभा वैधानिक सभा कहलाती है। बहुधा यह सभा कम्पनी की सर्वप्रथम सभा होती है। परन्तु कभी कभी यह भी देखा जाता है कि इस सभा के अतिरिक्त कम्पनी की वार्षिक सभा (Annual meeting) जो कि व्यापार प्रारम्भ करने से १८ माह के अन्दर तक की जा सकती है, वह इस सभा से पहले हो जाती है, हालांकि ऐसा कम होता है। प्राय पहले वैधानिक सभायें की जाती हैं, उसके उपरान्त ही वार्षिक सभायें की जाती हैं।

इस वैधानिक सभा के करने का प्रयोजन (Object) कम्पनी के अंशधारियों को उसके निर्माण एवं प्रवर्तन सम्बन्धी विवरण की जानकारी कराना होता है। इस सभा द्वारा ही वे समझ पाते हैं कि कम्पनी में निर्माण कार्य के लिए कितना व्यय हुआ है, कितनी पूँजी उसके लिए माँगी गई है तथा विभिन्न अंशों पर कितनी राशि अभी तक प्राप्त हुई है। इसके साथ ही उस प्राप्त हुई राशि का व्यय किस प्रकार किया गया है तथा कम्पनी ने कौन सी सम्पत्ति किस प्रकार खरीदी है आदि समस्त बातों की जानकारी अंशधारियों को दी जाती है। इस सभा में अंशधारी को उपर्युक्त बातों के आधार पर वाद विवाद करने का अधिकार होता है तथा विवरण पत्रिका (Prospectus) में लिखे हुए किसी भी अनुबंध की पद्धति में ये लोग परिवर्तन प्रस्तुत करने के लिए भी स्वीकृति दे सकते हैं।

सभा होते समय सदस्यों के निरीक्षण के लिए सदस्यों के नाम, पते तथा विवरण की सूची कम्पनी से प्राप्त हो सकती है। प्रत्येक सदस्य कम्पनी की सूचना सम्बन्धी एवं वैधानिक सभा की रिपोर्ट सम्बन्धी प्रत्येक बात पर स्वतन्त्रतापूर्वक वाद-विवाद कर सकता है। यदि अन्तर्नियमों के अनुसार किसी सूचना का प्रस्ताव हो जाता है तो सभा स्थगित कर दी जाती है और उस सूचना के भेजने के उपरान्त ही पुन बुलाई जाती है।

वैधानिक वृत्तलेख (Statutory Report) —सचालक लोग प्रायः वैधानिक सभा होने से २१ दिन पहले अपनी एक रिपोर्ट या वृत्त-लेख प्रत्येक सदस्य के पास भेजा करते हैं। यही रिपोर्ट वैधानिक-वृत्तलेख कहलाती है। इस रिपोर्ट में वितरित अशों सम्बन्धी विवरण, ऐसे अशों पर प्राप्त धन की सूचना, कम्पनी की प्राप्ति तथा उसके भुगतान, प्रारम्भिक व्यय (Preliminary expenses), सचालकों तथा कम्पनी के अन्य अधिकारियों के नाम, अनुवर्षों, देय राशि (Arrears), सचालकों आदि द्वारा याचना पर देय धन (Due on calls) तथा अशों पर दिए गये कमीशन या दलाली सम्बन्धी सभी बातों का पूर्ण उल्लेख रहता है। यह रिपोर्ट कम से कम दो सचालकों या यदि सचालक लोग सम्मत हों और वह अधिकारी हो तो सभा के अध्यक्ष (Chairman) द्वारा प्रमाणित होनी चाहिए और उसकी बहुत सी आवश्यक बातें कम्पनी के अकेक्षकों (Auditors) द्वारा प्रमाणित होनी चाहिए।

सचालकों को अपने सदस्यों के समीप भेजने के उपरान्त इस वैधानिक रिपोर्ट की एक प्रतिलिपि रजिस्ट्रार के यहाँ भी प्रस्तुत करनी चाहिए। नीचे इस वैधानिक रिपोर्ट का निर्दिष्ट प्रपत्र (Prescribed form) दिया जाता है :—

वैधानिक रिपोर्ट (Statutory Report)

भारतीय कम्पनी विधान, १९१३

(The Indian Companies Act, 1913)

(धारा ७७ देखिये)

प्रस्तुत करने का शुल्क ३) रु०

(Filing Fee Rs. 3)

कम्पनी का नाम (Name of Company) ....

धारा ७७ (५) के अनुसार.................कं० लिमिटेड की वैधानिक रिपोर्ट प्रमाणित करके प्रस्तुत की जाती है।

वैधानिक सभा का स्थान तथा तिथि ....

प्रस्तुत करने के लिए भेजने वालों के नाम..... ....

सञ्चालक लोग प्राय निम्न रीति से अपने सदस्यों को सूचना देते हैं —

१—वितरण अंश (Shares allotted) तक का अन्तिम दिन (७ दिन के अन्दर की ही तारीख) तथा उपर्युक्त तिथि तक प्राप्त हुए धन का विवरण इस प्रकार है —

विवरण (Particulars)	अंशों की संख्या (Number of Shares)	प्रत्येक अंश का अंकित मूल्य (Nominal Value of each share)	प्राप्त रोकड़ (Cash Received)
(क) रोकड़ में भुगतान होने वाले वितरित अंश (Allotted subject to payment therefore in cash)		अधिमान*(Preference)* सामान्य (Ordinary) स्थगित (Deferred)	
(ख) रोकड़ के अतिरिक्त पूर्णप्रदत्त (Fully paid up) या अन्य किसी प्रतिफल (Consideration) के लिए वितरित अंश —		अधिमान* सामान्य स्थगित	नहीं नहीं नहीं
(ग) रु० प्रति अंश तक अंशत दत्त (Partly paid) तथा वह प्रतिफल (Consideration) जिसके लिए ये वितरित किये गये हैं —		अधिमान* सामान्य स्थगित	
(घ) रु० प्रति अंश छूट (Discount) पर वितरित अंश		अधिमान* सामान्य स्थगित	
		कुल जोड़	

* विमोचनशील अधिमान अंशों (Redeemable Preference Shares) का उल्लेख प्रत्येक दशा में स्पष्ट रूप से करना चाहिए।

२—उपर्युक्त तिथि तक कम्पनी की प्राप्त एवं प्रदत्त राशि (Received and payment) का विवरण निम्न प्रकार है —

प्राप्त (Receipts)	रु०	प्रदत्त (Payments)	रु०
अंश —		प्रारम्भिक व्यय (Preliminary Expenses)	
अधिमान (Preference)			
सामान्य (Ordinary)		अंश-क्रय का कमीशन (Commission on sale of shares)	
स्थगित (Deferred)			

अंश निक्षेप (Share deposits)	अंशों की छूट (Discount on shares)
ऋण पत्र (Debentures)	पूँजी व्यय (Capital Expenditure)
ऋण (Loans)	भूमि (Land)
निक्षेप (Deposits)	मकान (Buildings)
अन्य स्रोत (Other sources)	आयोजना (Plant)
(अंकित होना है)	यंत्र (Machinery)
	अव्यवहार्य स्कंध (Dead Stock)
	अन्य रकमें (Other Items)
	(अंकित होनी हैं)
	शेष (Balances)—
	जो रकम अपने पास है (In hand)
	जो रकम बैंक में है (At Bank)
	कुल जोड़
कुल जोड़	

३—प्रारम्भिक व्यय राशि   रु०, जो विवरण पत्रिका* या उसके स्थान पर किसी अन्य विवरण (Statement) में अनुमान की गई है —

उपर्युक्त तिथि तक होने वाले समस्त प्रारम्भिक व्यय (Preliminary Expenses incurred upto the aforesaid date) —

वैधानिक प्रभार	(Law Charges)
छपाई	(Printing)
पंजीयन	(Registration)
अंशों के विक्रय पर कमीशन	(Commission on sale of shares)
अंशों पर छूट	(Discount on shares)
अन्य प्रारम्भिक व्यय	(Other initial expenses)
	कुल जोड़

*जो बातें सम्बन्ध नहीं रखतीं उन्हें निकाल देना चाहिये ।

४—संचालकों, अंकेक्षकों (यदि कोई हों), प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं, प्रबन्धकों (यदि कोई हों) तथा कम्पनी के कार्यवाह (Secretary) के नाम, पते तथा विवरण और यदि कम्पनी की संस्थापना तिथि से अब तक कोई परिवर्तन हुआ हो तो वह भी लिखा जाता है ।

सचालक (Directors)

नाम (Name)	पता (Address)	विवरण (Description)	यदि कोई परिवर्तन*हुआ हो तो उसका विवरण (Particulars of changes, if any)*

अकेक्षक (Auditors)

नाम (Name)	पता (Address)	विवरण (Description)	यदि कोई परिवर्तन*हुआ हो तो उसका विवरण (Particulars of changes, if any)*

*इन विवरणों के लिखते समय परिवर्तन की तिथि भी देनी चाहिए।

प्रबन्ध अभिकर्त्ता तथा प्रबन्धक (Managing agents and Managers)

नाम (Name)	पता (Address)	विवरण (Description)	यदि कोई परिवर्तन*हुआ हो तो उसका विवरण (Particulars of changes, if any)

कार्यवाह (Secretary)

नाम (Name)	पता (Address)	विवरण (Description)	यदि कोई परिवर्तन हुआ हो तो उसका विवरण (Particulars of changes, if any)*

* इन विवरणों के लिखत समय परिवर्तन की तिथि भी देनी चाहिए।

५—ऐसे किसी अनुबन्ध का विवरण जिसमें कोई संशोधन किया गया हो अथवा यदि उसकी स्वीकृति सभा में प्राप्त करना हो तो ऐसे समस्त संशोधनों या प्रस्तावित संशोधनों का विवरण।

६—यदि अभिगोपन (Under writing) सम्बन्धी किसी प्रकार के अनुबंध (Contracts) किए गये हों तो उन सभी की मर्यादा या सीमा का उल्लेख।

७—यदि प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं, प्रबन्धकों (Managers) या सचालकों पर याचना (Calls) की कोई राशि देय हो तो उसके शेष (Arrears) का उल्लेख।

८—यदि अंशों के निर्गमन (Issue) या क्रय (Sale) पर किसी सचालक, प्रबन्धक अभिकर्त्ता या प्रबन्धक को कुछ कमीशन या दलाली दी गई हो या दी जाने वाली हो, तो उसका

पूर्ण विवरण, और यदि कोई फर्म या सार्थ ही प्रबन्ध अभिकर्त्ता हो तो उसके साझीदार को तथा यदि कोई वैयक्तिक कम्पनी (Private Company) प्रबन्ध अभिकर्ता हो तो उसके प्रत्येक सचालक का उपर्युक्त विषय में दिये जाने वाले कमीशन या दलाली का विवरण।

दिन दिनाङ्क सन् दो या अधिक सचालक

हम इस वृत्तलेख (Report) को प्रमाणित करते हैं (क्रमानुसार) सचालक-अध्यक्ष (Chairman of Directors)

मैं इस वृत्तलेख को प्रमाणित करता हूँ। (यदि संचालक सभा द्वारा अधिकारी हो)

हम प्रमाणित करते हैं कि कम्पनी के वितरित (Allotted) अंशों तथा उन अंशों के बारे में प्राप्त राशि और कम्पनी की प्राप्ति (Receipts) एवं भुगतान या प्रदत्त (Payments) राशि सम्बन्धी यह वृत्तलेख (Report) बिल्कुल ठीक है।

दिन दिनाङ्क सन्

अकेक्षक
(Auditors)

टिप्पणी —(१) विधान की धारा ७७ (३) (C) के अनुसार वैधानिक रिपोर्ट के पैरा (Para) २ में दी हुई प्राप्ति एवं प्रदत्त (Receipt and payments) का लेखा, रिपोर्ट की तिथि से ७ दिन के अन्दर पूरी तौर से तैयार कर लेना चाहिए और जिस दिन तक की रिपोर्ट तैयार की जा रही है, उसी दिन तक की समस्त रकमों के अंक तथा विवरण (Figure and particulars) भरे जाने चाहिए।

(२) इस प्रपत्र (Form) पर सचालकों या अध्यक्ष (Chairman) तथा अकेक्षक के वास्तविक हस्ताक्षर होने चाहिएँ।

* यह कम से कम दो सचालकों द्वारा प्रमाणित होना चाहिए या यदि किसी कम्पनी में दो से कम सचालक हैं तो एकाकी सचालक (Sole Director) द्वारा भी प्रमाणित किया जा सकता है तथा वैधानिक-सभा होने के कम से कम २१ दिन पूर्व कम्पनी के प्रत्येक सदस्य तथा ऋण-पत्रधारी के पास यह वृत्तलेख पहुँच जाना चाहिए। इसके साथ ही सदस्यों के पास भेजने के बाद तत्काल ही इसकी एक प्रति रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करनी चाहिए। (धारा ७७ (२), (३) तथा (५) और धारा १४६)।

कार्यवाह के कर्त्तव्य (Secretary's Duties):—वैधानिक सभा (Statutory meeting) के विषय में कार्यवाह के निम्न कर्तव्य होते हैं:—

(१) जब सचालक लोग वैधानिक-सभा की तिथि निश्चित कर देते हैं तो कार्यवाह निर्दिष्ट प्रपत्र पर वैधानिक रिपोर्ट तैयार करता है, उसे कम्पनी के अंकेक्षकों से अकेक्षण करता है तथा उसकी पर्याप्त प्रतिलिपियाँ छपवाता है।

(२) सभा होने की तिथि से २१ दिन पूर्व वैधानिक रिपोर्ट की प्रतिलिपियाँ सञ्चालकों तथा अंकेक्षकों से प्रमाणित कराकर सभा की सूचना के सहित प्रत्येक सदस्य के पास भेजता है। उस सूचना में सभा की कार्यवाही का स्वरूप भी स्पष्ट रहता है।

(३) सदस्यों के पास रिपोर्ट भेजते ही वह तुरन्त एक प्रतिलिपि रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करता है।

(४) वह कम्पनी के सदस्यों के नाम, पते तथा विवरण सहित एक सूची तैयार करता है तथा उसमें प्रत्येक सदस्य द्वारा लिये हुए अंशों का पृथक्-पृथक् उल्लेख करता है। यह सूची (List) सभा होते समय प्रत्येक सदस्य के निरीक्षण के लिए खुली रहती है।

(५) सभा में वह सभा बुलाने वाली (Convening) सूचना को पढता है तथा सदस्यों की सूची को निरीक्षण के लिए उपस्थित करता है।

(६) सभा होते समय वह समस्त कार्यवाहियों की संक्षिप्त टिप्पणी (Notes) लिखता रहता है क्योंकि उसी से अन्त में वह कार्यवाहियों का विवरण (Minutes) तैयार करता है।

(७) सभा समाप्त होने के उपरान्त वह सभा का विवरण तैयार करता है तथा स्वीकृत प्रस्तावों को कार्यान्वित करता है।

सामान्य व्यापक-सभा (Ordinary General Meeting)

धारा ७६ के अनुसार ही प्राय समस्त कम्पनियों की सामान्य-व्यापक-सभायें होती हैं। यह सभा विधान के अनुसार कम्पनी की संस्थापना से १८ मास के अन्दर होनी चाहिए और उसके उपरान्त १ जनवरी से ३१ दिसम्बर तक प्रति पञ्चाग वर्ष में एक बार हो सकती है। इस प्रकार दो वार्षिक सभाओं के बीच में १५ मास से अधिक अवधि का अन्तर नहीं होना चाहिए। ये सभायें प्रायः सामान्य-व्यापक-सभायें या वार्षिक व्यापक सभायें (Annual General Meeting) कहलाती हैं। भारतवर्ष की कितनी ही कम्पनियों में बहुधा छ माही सामान्य-व्यापक सभायें होती हैं।

इन सभाओं में या तो केवल साधारण कार्य किये जाते हैं या साधारण तथा विशेष (Ordinary and Special) दोनों ही कार्य होते हैं। साधारण कार्यों का सम्बन्ध कम्पनी के अकेक्षित लेखाओं (Audited accounts), लाभांश की घोषणा,

संचालकों का निर्वाचन (Election) तथा अंकेक्षकों की नियुक्ति से होता है। इनके अतिरिक्त अन्य समस्त कार्य विशेष कार्य (Special business) कहलाते हैं। सामान्य व्यापक सभा प्रायः सामान्य या साधारण कार्यों के लिये ही होती है। परन्तु यदि अन्तर्नियमों में आयोजन हो तो इस सभा में विशेष कार्य भी किए जाते हैं। वैसे तो सभी विशेष कार्यों के लिए असामान्य या असाधारण व्यापक सभायें (Extra ordinary General Meetings) की जाती हैं।

वार्षिक लेखे (Annual Accounts) —विधान की धारा १३१ (१) के अनुसार व्यापक सभा में संचालकों को अंकेक्षकों की रिपोर्ट सहित कम्पनी का लाभ-हानि-लेखा (Profit and Loss Account) उपस्थित करना पड़ता है। कम्पनी का प्रथम लेखा (First account) संस्थापना से कम से कम १८ माह के अन्दर किसी भी तिथि को उपस्थित कर देना चाहिए और पुनः आगामी लेखे प्रतिवर्ष उपस्थित करने चाहिए। भारत में बहुत सी कम्पनियाँ अपने लेखे प्रति छः मास में तैयार करती हैं और इसीलिए वे छः माही व्यापक सभायें भी करती हैं।

धारा १३१ (२) के अनुसार वैयक्तिक कम्पनी के अलावा प्रत्येक कम्पनी को अंकेक्षित लेखाओं की प्रतिलिपि अपने सदस्यों के समीप व्यापक सभा की तिथि से १४ दिन पहले रजिस्टर्ड पते पर भेजना अनिवार्य होता है। इस १४ दिन की अवधि का यही उद्देश्य होता है कि सदस्य, सभा में आने से पूर्व उस लेखे पर अच्छी तरह से विचार कर सकें।

संचालकों की रिपोर्ट (Director's Report) —धारा १३१—A के अनुसार कम्पनी के प्रत्येक स्थिति विवरण (Balance-sheet) के साथ संचालकों की रिपोर्ट लगी रहनी चाहिए। उस रिपोर्ट में निम्नलिखित बातें होती हैं —

(१) कम्पनी के व्यवसाय की दशा (State of Company's affairs), तथा

(२) कम्पनी के लाभ का विभाजन क्रम, अर्थात् (क) लाभांश के लिए संचालकों द्वारा प्रस्तावित राशि, (ख) संचिति कोष (Reserves) के लिए संचालकों द्वारा प्रस्तावित राशि, इसका उल्लेख उसी स्थिति-विवरण में होना चाहिए और यदि सम्भव हो तो अलग भी किया जा सकता है।

संचालक-रिपोर्ट पर उन सभी संचालकों के हस्ताक्षर होते हैं जोकि स्थिति-विवरण (Balance-sheet) पर हस्ताक्षर करते हैं, परन्तु यदि संचालक लोक सभा के अध्यक्ष को अधिकार दे देते हैं तो केवल उस अध्यक्ष के ही हस्ताक्षर पर्याप्त होते हैं। इस प्रकार यह रिपोर्ट भी वैधानिक रिपोर्ट के ही समान होती है।

इस संचालकीय रिपोर्ट का आशय कम्पनी की उन्नति एवं प्रगति तथा लाभ के विभाजन आदि का ज्ञान अपने सदस्यों को कराना होता है। परन्तु यदि इस

रिपोर्ट में केवल वैधानिक आवश्यकताओं की ही पूर्ति न करते हुए कम्पनी के लेखाओं (Accounts) का सावधानी के साथ विवेचन किया जाय तथा उनके गुणों पर भी दृष्टि डाली जाय तो यह अधिक उपयोगी हो सकती है। बहुधा ये रिपोर्ट कम्पनी के कार्यवाहों द्वारा तैयार की जाती हैं। परन्तु इनमें जिन-जिन बातों का विवेचन किया जाता है उसके बारे में संचालकों से पूर्ण सम्मति ली जाती है। नीचे सचालकीय रिपोर्ट का एक नमूना दिया जाता है :—

(१) दी स्टैण्डर्ड कोल कम्पनी, लिमिटेड

(The Standard Coal Company Limited)

संचालकों की रिपोर्ट (Director's Report)

सेवा में :—

अंशधारीगण।

श्रीमान्

हम कम्पनी के छः माह अर्थात् ३१ दिसम्बर १६४० तक अंकेक्षित (Audited) लेखे (Accounts) को आप लोगों की सेवा में उपस्थित करते हैं।

निकालना तथा भेजना (Raising and Despatches).—इन छः महीनों में कम्पनी ने ६६,०१६ टन कोयला निकालने तथा १००, ३७४ टन कोयला भेजने का कार्य किया। इससे पूर्व छः माहों में ११२,५६४ टन निकालने तथा १०७,७६३ टन भेजने का कार्य हुआ था।

इन छः महीनों में सारा कोयला इंडियन आइरन एण्ड स्टील कम्पनी लिमिटेड को भेजा गया।

बालू भरकर लाने का काम (Sand-Stowing) :—दामोदर नदी (Damodar River) से कोयले की खान (Colliery) तक बालू ढोकर लाने के लिए रोप वे (Rope way) के निर्माण का कार्य चल रहा है तथा यह आशा की जाती है कि दिसम्बर १६४० तक यह कार्य पूर्ण हो जायगा, परन्तु युद्धकालीन परिस्थिति के फलस्वरूप असमावित देरी हो जाने के कारण ऐसा दिखाई देता है है कि यह रोप वे (Rope way) १६४१ के अंत से पहले काम मे नहीं आ सकता।

इसके साथ ही यह भी दिखाई देता है कि बालू भरकर लाने के कार्य में उन्नति करने के लिए अत्यधिक ठोस कार्य करना पड़ेगा। अतः उत्पादन (output) में जो कमी आज दिखाई दे रही है वह १६४१ तक और चलेगी और हो सकता है कि कुछ महीने आगे तक और भी चले। इसके अतिरिक्त खान (Mine) सम्बन्धी अन्य असुविधायें जो इस स्थान पर प्राप्त हो रही हैं, उनसे भी उत्पादन-कार्य में कमी (Reduction) होने की आशा है।

बाजार (Market) —पूरे छः माह तक बाजार में कोई भी उतार-चढ़ाव नहीं रहा अर्थात् बाजार बिल्कुल शान्त रहा है तथा अन्तिम दिनों में कीमतें भी गिर गई हैं। इसके साथ ही उत्पादन कार्य की अधिकता तथा माल के लदने की कमी (Shortage of freight) होने के कारण कोयले का उद्योग अत्यन्त अनिश्चित सा हो रहा है।

खान (Colliary) —खानें तथा मशीनरी ठीक दशा में रक्खी गई हैं।

लेखे (Accounts) —आयकर (Income Tax) में वृद्धि हो जाने के कारण यह आवश्यक दिखाई देता है कि गत छः माहों के लाभ पर दिया जाने वाला कर (Taxation) इस साल के लेखे में दिखाया जाय।

लाभ हानि के लेख (The Profit and loss account) में करों की व्यवस्था करके, रु० २३,१८७-०-६ अवक्षयण (Depreciation) के लिए देकर रु० २,५०० अनुमान से बट्टेखाते में डालकर तथा छः माह के हिसाब से रु० ७,३६२-१४-३ जोड़कर, कुल रु० ४४,६०५-१०-१ आय हुई है जिसे निम्न रीति से विभाजित करने का निश्चय किया है।

	रु०	आ०	पा०
आयकर रहित, १० प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से लाभांश देने में (In paying a Dividend at the rate of 10 per cent per annum, free of Income Tax)	४०,०००	०	०
आगे लाने म (In carrying forward)	४,६०५	१०	१
कुल रु०	४४,६०५	१०	१

सचालक-सम्बन्धी (Directorate) —श्री डी० एच विल्मर (Mr D H Wilmer) इस समय पद-त्याग कर चुके हैं। परन्तु योग्य होने के कारण उन्होंने पुनर्निर्वाचन (Re-Election) के लिए अपना नाम दे दिया है।

अकेक्षक (Auditor) —मैसर्स प्राइस वाटर हाउस पीट एण्ड कम्पनी, चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट्स, जो कि कम्पनी के अकेक्षक थे अब अपना पद त्याग चुके हैं, परन्तु आगामी वर्ष के लिए भी अपनी सेवायें प्रस्तुत करने के लिए तैयार हैं।

भवदीय

एo पीo बैन्याल
सीo एच० होप
एo सी० बनर्जी
डीo एच० विल्मर
} सचालक

कलकत्ता
६ अप्रैल १६४१

(२) दी ईस्टर्न मैन्यूफैक्चरिंग कम्पनी लिमिटेड
(The Eastern Manufacturing Co , Ltd)

मैकलॉड हाउस,
२८, डलहौजी स्क्वेयर,
कलकत्ता, १५ जुलाई १६४७,

सेवा में —

अंशधारी महोदय,

दी ईस्टर्न मैन्यूफैक्चरिंग क० लि० ।

श्रीमान्,

हम इस वर्ष ३१ दिसम्बर १६४६ तक का अपना वृत्तलेख तथा लेखे का अकेक्षित विवरण (Report and audited statement of Accounts) आप लोगों की सेवा में उपस्थित कर रहे है ।

लाभ हानि का लेखा (Profit and Loss Accounts)—इसमें गत वर्ष की शेष राशि (Balance) भी सम्मिलित है तथा यह ब्याज (Interest), कमीशन (Commission) आदि निकाल कर, रु० ३२,२८७ अवक्षयण (Depreciation) के लिए बट्टेखाते में डालकर तथा कर (Taxation) के लिए उचित आयोजन करके कुल समाकलित राशि (Credit Balance) रु० १,४२,४६१–३–७ प्रकट करता है। इस राशि का विभाजन निम्न रीति से करने का निश्चय किया गया है —

	रु० आ० पा०
३१ दिसम्बर १६४६ तक रु० २,००,०००६ प्रतिशत सचयी अधिमान अंशों (Cumulative Preference Shares) पर लाभांश (Dividend) देने के लिए	१२,००० – ० – ०
३१ दिसम्बर १६४६ तक रु० ८,५०,००० के सामान्य अंशों (Ordinary shares) पर १० प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से या १० रु० प्रति अंश के हिसाब से लाभांश देने के लिए	८५,००० – ० – ०
सचित लेखे में हस्तान्तरित राशि (Transfer to Reserve account)	२५,००० – ० – ०
लाभ हानि लेखे में लाई गई राशि (Carried forward to Profit and Loss account)	२०,४६१ – ३ – ७
	कुल रु० १,४२,४६१ – ३ – ७

जूट स्कन्ध (Jute stocks) क्रय-मूल्य (Cost price) पर ही दिखाये गये हैं। बिकी हुई (Sold) तथा बिना बिकी जाली और सूत की डोरी (Webbing and Sashcord) की कीमत बाजार भाव पर या उससे कम लगाई गई है। अधूरा बना हुआ माल (Unfinished goods) क्रय-मूल्य (Cost price) पर लगाया गया है।

मकान (Buildings), आयोजना शक्ति (Power plant), तथा मशीनरी (Machinery) की पूरी तौर से मरम्मत कराइ गई है।

सारे कारखाने (Factory) में पूरे साल तक दो पारी (Double shift) में काय हुआ है। केवल सूत डोरी विभाग (Sashcord Department) न एक पारी में कार्य किया है। कारखाना (सशोधन) विधान १६४६ (Factories Amendment Act 1946) के अनुसार एक सप्ताह का कार्य काल (Working hours) ४८ घंटे कर दिया गया है। अत हमारी दोनों पारियों (Double shifts) मे केवल ६६ घटे प्रति सप्ताह कार्य होता है। कर्मचारियों को ४८ घंटों का उतना ही वेतन दिया जाता है जितना उन्हें पहले ५४ घंटों के लिए दिया जाता था।

जाली बनान का कार्य (Webbing) पर्याप्त माँग होने के कारण बराबर चल रहा है। विशेषकर इसकी माँग इङ्गलैंड तथा अमेरिका के बाजारों में अधिक है। कालीनों (Carpets) के काम में आन के लिए जूट को अच्छे पक्के रग से रँगने का प्रयत्न एव प्रयोग (Experiments) बराबर किये जा रहे हैं। ये प्रयोग सतोषजनक भी प्रतीत होते हैं।

सचालक-सभा (Board of Directors) —श्री एच० एन० टामस ने सचालक सभा छोड़ दी थी, अत उनके स्थान पर सभा (Board) न श्री डब्ल्यू० आर० इलियट को नियुक्त कर लिया था। परन्तु अब श्री इलियट के पद परित्याग कर देने पर सभा न श्री जी० एस० जोहन्स्टन को नियुक्त कर लिया है।

मैसर्स छोगेलाल कोनारिया तथा जी० एस० जोहन्स्टन के क्रमानुसार पद-परित्याग (Retire by rotation) कर दिया है और इन्होंने योग्य होने के कारण पुन अपने नाम स्वय पुनर्निर्वाचन के लिए प्रस्तुत किए हैं।

अंकेक्षक (Auditors)—मैसर्स लवलॉक एण्ड ल्यूज पद छोड़ चुके हैं परन्तु पुन नियुक्त होने के इच्छुक हैं।

भवदीय

____
____________________ } सचालक
____
____

अध्यक्ष का भाषण (Chairman's speech) '—प्राय' सामान्य व्यापक
सभाओं में अध्यक्ष अंकेक्षित लेखाओं (Audited accounts) तथा सचालकीय रिपोर्ट
को सदस्यों के सम्मुख उनके विचार-विमर्श तथा स्वीकृति के लिए उपस्थित करते हुए
अपना भाषण देते हैं। यद्यपि यह कोई वैधानिक अनिवार्य नियम नहीं है, परन्तु
प्राय सभी सभाओं में ऐसा ही होता है। जो लोग कम्पनी में रुचि रखते हैं उनकी
सूचना के लिए अध्यक्ष के भाषण की छपी हुई प्रतिलिपि मिल सकती है। आजकल
बहुत सी कम्पनियों में बहुधा यह देखा जाता है कि वे अपने वार्षिक लेखाओं
(Annual returns) के साथ अध्यक्ष के भाषण या सिंहावलोकन (Review) को
भी छपवा लेता हैं।

• अध्यक्ष या सभापति (Chairman) के भाषण का विशेष महत्त्व होता है,
क्योंकि यह कम्पनी के उस उद्योग (Industry) का स्पष्ट चित्र होता है जिसमें कि
वह कार्यशील रहती है। इसके साथ ही वह एक ऐसे व्यक्ति द्वारा अंकित किया
जाता है जो दिन रात उसी उद्योग में व्यस्त रहता है। जिस समय कोई अध्यक्ष
वार्षिक सभा में अपना भाषण देता है तो वह केवल अंशधारियों को ही सम्बोधन
(Address) नहीं करता, अपितु समस्त देश से उसका सम्बन्ध रहता है। इसीलिए
वह भाषण चारों ओर प्रचार एव प्रसार होने की क्षमता रखता है। यही कारण है
कि कितने ही अध्यक्षों के भाषण समय समय पर अर्थ-सम्बन्धी समाचार-पत्रों
• (Financial journals) में प्रकाशित होत रहते हैं।

कम्पनी के वर्तमान एव भविष्य में होने वाले समस्त सदस्य अध्यक्ष के
भाषण में यह आशा करत हैं कि वह कम्पनी की प्रगति, उसके उद्देश्य, उसकी
आशायें तथा उसकी समस्त समस्याओं के बारे में पूरी पूरी सूचना दे। साधारणत
सभी विनियोक्ता (Investors) उससे यही चाहते रहते हैं कि अध्यक्ष अपने भाषण
में कम्पनी के किसी भी सत्य के उद्घाटन में कमी न करे जिससे वे अपन धन तथा
कम्पनी के परिणाम के विषय में पहले से ही अनुमान लगा सकें तथा भविष्य में होने
वाले फल से पूर्व परिचित रहें। अध्यक्ष का कोई भी भाषण जोकि अच्छा कहा जा
सकता है, वह विस्तृत एव महान् वार्षिक लेखाओं के लिए कभी सन्तोषप्रद नहीं होवा।
भाषण का तो अन्तिम प्रयोजन यही होता है कि वह उन लेखाओं (Accounts) के
वार्षिक अक उपस्थित करके उनकी व्याख्या सदस्यों के सामने उपस्थित करे। इस
तरह अध्यक्ष अपने भाषण में वर्तमान आर्थिक परिस्थिति के अनुसार कम्पनी ने किस
प्रकार की उन्नति की है, उसकी उन्नति में कौन-कौन सी बाधायें उपस्थित हुई तथा
उनको दूर करते हुए किस प्रकार उसने अपनी नई-नई शाखायें भी खोलीं आदि बातों
पर प्रकाश डालता है। प्राय. वह भाषण अच्छा माना जाता है जिसमें कम्पनी के
उद्योग की पृष्ठभूमि रहती है। कभी-कभी अध्यक्ष द्वारा प्रदर्शित बातों में ऐसी कितनी

ही बातें रहती हैं जिनको लेकर अनेक लोग विरुद्ध प्रचार किया करते हैं। परन्तु यह बात तो विनियोक्ताओं एवं अंशधारियों पर निर्भर रहती है कि वे उसका उचित अर्थ लेकर विरुद्ध प्रचार के शिकार न बनें और वास्तविकता के जानने का प्रयत्न करें। सारांश यह है कि कम्पनी के प्रत्येक सदस्य के लिये यह आवश्यक है कि वह केवल अध्यक्ष द्वारा बताए गए तथ्यों पर ही विश्वास न करके स्वयं सत्यान्वेषण करने की चेष्टा करें क्योंकि अध्यक्ष लोग तो प्रायः कम्पनी के उज्ज्वल भविष्य की ही आशा बँधाया करते हैं और कभी-कभी थोड़ी सी बातों को भी खूब बढ़ाकर बतलाया करते हैं।

बहुत सी कम्पनियों में प्रायः कम्पनी का कार्यवाह (Secretary) ही अध्यक्ष का भाषण या सिंहावलोकन तैयार करता है। इतना अवश्य है कि उसमें लिखी जाने वाली सभी बातों के लिए वह अध्यक्ष या सभापति से भी सलाह लेता है। नीचे एक अध्यक्ष का वास्तविक भाषण दिया जाता है—

दी अहमदाबाद एडवान्स मिल्स, लिमिटेड
(The Ahmedabad Advance Mills Limited)

मंगलवार, २८ अक्टूबर १९४७ को कम्पनी के अंशधारियों की वार्षिक व्यापक सभा में श्री सर सोहराब सकलतवाला ने अध्यक्ष-पद से यह भाषण दिया था।

सभा सम्बन्धी बातों के विवेचन करने से पूर्व इस वर्ष की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना की ओर आप लोगों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ, वह है भारतवर्ष की स्वतन्त्रता की प्राप्ति। विश्व भर के इतिहास में यह एक अद्‌भुत घटना हुई है कि भारत ने बिना रक्त बहाये अपनी स्वतन्त्रता को प्राप्त किया है तथा विदेशी शासन के भार से अपने को सदैव के लिए मुक्त कर लिया है। इस कार्य के लिए हमें अपने राष्ट्रीय नेताओं के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करनी चाहिए क्योंकि उन लोगों ने गत कितने ही वर्षों से धैर्य एवं शान्तिपूर्वक भारत की स्वतन्त्रता के लिए अथक् परिश्रम किया है। फिर भी देश की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए अभी कितना ही कार्य शेष है। साथ ही दुर्भाग्यवश भारत के विभिन्न भागों में होने वाले उपद्रवों ने भारत की कम्पनियों के व्यवसाय में असंगठन की भावना निर्माण करदी है। गत वर्ष में होने वाली कर्मचारियों की हड़ताल ने अधिक मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों के मार्ग में अत्यन्त रुकावटें डाली हैं। यह भी शोक का विषय है कि ये समस्त बातें उस समय हुईं जबकि देश में खाना, कपड़ा, कच्चा माल तथा सभी जीवनोपयोगी वस्तुओं का अत्यन्त अभाव दिखाई देता था और जबकि अधिक से अधिक मात्रा में उत्पादन कार्य करने की अत्यन्त आवश्यकता प्रतीत हो रही थी।

जहाँ तक इस मिल का सम्बन्ध है तो इस विषय में भी आप अभी संचालकों की रिपोर्ट द्वारा जान चुके हैं कि सम्पूर्ण वर्ष में किस प्रकार उत्पादन में कमी रही और

जिन कारणों से उत्पादन नहीं बढ़ा। मिल का कार्य-काल ५४ घंटे से ४८ घंटे प्रति सप्ताह हो जाने के कारण स्वभावत उत्पादन में अभाव उपस्थित रहा, परन्तु जुलाई १९४६ की क्रान्ति के कारण मिल के बन्द रहने से तथा कितने ही माह तक उसका प्रभाव रहने के कारण पुन कम्पनी के लिए एक बड़ी असफलता का सामना करना पड़ा। जनवरी १९४७ में जाकर बड़ी कठिनाई से दो पारियाँ (Two shifts) चलीं। इस प्रकार उत्पादन के अभाव का असर स्पष्ट रूप से लेखे में भी दिखाई दे रहा है।

सचालकों की रिपोर्ट में भी कम्पनी के लिए अधिक शक्ति के स्रोतों में परिवर्तन करने का सुझाव उपस्थित किया गया है। मुझे यह सूचित करते हुए बड़ी प्रसन्नता होती है कि इस माह की ६ तारीख से समस्त मिल (Mill) के लिए दी अहमदाबाद इलैक्ट्रिसिटी क० लि० ने विद्युत शक्ति की पूर्ति करने का आश्वासन दे दिया है।

अब मैं सक्षेप में लेखाओं (Accounts) में से कुछ महत्त्वपूर्ण रकमों की व्याख्या करूँगा।

स्थिति-विवरण (Balance sheet) के पृष्ठ ६ पर आप देखेंगे कि १३,८०५ रु० सचित कोष (Reserve Fund) में जमा (Credited) किए गये हैं। यह रुपया नवसारी में चावल बेचने पर उसके क्रय मूल्य से अधिक प्राप्त हुआ था। इस चावल (Chawal) को सन् १९२६ में कार्यशील अचल सम्पत्ति (Working-class tenement) बनाया गया था। इस चावल तथा इससे सम्बन्धित भूमि के लिए ४२,०५१ रु० का प्रस्ताव (Offer) प्राप्त हुआ था। चावल का स्थिर रखना तथा भूमि से प्राप्त हुआ किराया किसी प्रकार भी लाभदायक नहीं दिखाई देता था। अतः आपके सचालकों ने उसे बेचना ही उचित समझा। चावल तथा भूमि की कीमत खरीद २४,२४६ रु० मालमत्ते (assets) के विपरीत बट्टेखाते (Written off) में डाल दी है और और १३,८०५ रु० जो अधिक लाभ के हैं सचित कोष (Reserve Fund) में जमा (Credited) कर दिये गये हैं।

"करों के आयोजन" (Provision for Taxes) के सम्बन्ध में पृष्ठ ८ पर आप देखेंगे कि इस वर्ष के लिए ७,५०,००० रु० करों के लिए निकाले गये हैं। इसमें ४,२०००० रु. आयकर के लिए; १,७०,००० रु अधिक-कर (Super-Tax) के लिए तथा १,६०,००० रु० व्यवसाय के लाभ-कर (Business Profits Tax) के लिए निकाले गये हैं।

कम्पनी के अधिक लाभ-कर (Excess Profit Tax) का जो भाग गवर्नमेंट के खजाने में जमा था तथा जो युद्धोपरान्त मिलने वाला था, वह कुल ११,९७,८९५ रुपये था जिसमें से गत अप्रैल में २३,१०,००२ रु० प्राप्त हो गये हैं, तथा ६,६६,८९३ रुपये शेष रह गये हैं जो स्थिति-विवरण के पृष्ठ ११ पर दिखाये गये हैं। इस रकम

के साथ ही, ४,५५,००० रुपये जो अधिक-लाभ-कर का १/१० वाँ भाग है पुनः भविष्य में वापिस मिल जायेंगे। ये रुपये आय-कर तथा अधिक-कर (Super-tax) के काम आजायेंगे।

पृष्ठ ११ पर अंकित हमारे "विनियोग (Investments), टाटा-मिल के अधिमान अंशों (Preference shares) के पुनर्भुगतान (Repayment) की सीमा तक घट गये हैं जिसका कि संकेत संचालकीय रिपोर्ट में भी किया गया है।

लाभ हानि के लेखे की ओर यदि देखें तो पता चलेगा कि जमा तथा नाम (Credit and debit) की अधिकाश रकमें गत-वर्ष की अपेक्षा पर्याप्त कम हो गई हैं। इसका कारण यही है कि उत्पादन अत्यधिक कम हुआ है जिसके कारणों का पहले में ही उल्लेख कर चुका हूँ।

कम्पनी द्वारा दिए गये भविष्य-सञ्चित-कोष (Provident Fund) में पर्याप्त वृद्धि हुई है। इस कोष से लाभ उठाते हुए अधिकाश मजदूर इसके सदस्य हो गये हैं। गत वर्ष तक इस कोष में विनियोग करने वाले लोगों की संख्या ५३६ थी परन्तु अब ११७४ होगई है।

महानुभावो ! अन्त में मैं निवेदन करता हूँ कि सचालकीय रिपोर्ट (Director's Report) तथा अंकेक्षित लेखाओं के विवरण (Audited statement of Accounts) जो कि ३० जून १६४७ तक तैयार किए गये हैं तथा प्रत्येक अंशधारी के पास भी भेजे जा चुके हैं, अब स्वीकृत होने चाहिए।

कार्यवाह के कर्त्तव्य (Secretary's Duties) :—बहुधा कम्पनी की व्यापाक सभाये प्रति वर्ष होती हैं। अत कार्यवाह को इन सभाओं सम्बन्धी अनेक कार्य करन पड़ते हैं। प्राय उसके निम्नलिखित कर्त्तव्य होते हैं :—

(१) जब कम्पनी के लेखे अंकेक्षित (Audited) हो जाते हैं तथा अंकेक्षक (Auditor) की रिपोर्ट प्राप्त हो जाती है तो सचालक लोग पुनः यह निश्चय करते हैं कि कौन व्यक्ति लाभ की यथार्थता के विषय म अपना मत देगा। तदुपरान्त कार्यवाह सचालकीय रिपोर्ट बनाता है तथा उसे मान्यता दिलाकर उनके हस्ताक्षर कराता है। इसी समय सचालक लोग सभा की तिथि निश्चित करत हैं तथा यह भी निश्चय करते हैं कि कितनी अवधि के लिए अंश पुस्तकें (Share-books) बन्द रक्खी जायेंगी।

(२) कार्यवाह ही अंकेक्षित लेखाओं, अंकेक्षित रिपोर्टों, संचालकीय रिपोर्टों तथा सभा की सूचना को छपवाता है। साधारणत: इनकी छपाई एक पुस्तिका के रूप में ही होती है।

(३) सभा की सूचना तथा वार्षिक लेखे आदि को कार्यवाह कम्पनी के प्रत्येक सदस्य तथा धारा १४६ के अनुसार अन्य अधिकारी व्यक्तियो के पास भी सभा की तिथि से १४ दिन पहले भेजता है। ये अन्य व्यक्ति प्रायः ऋण पत्रधारी तथा ऋणपत्र-प्रन्यासी (Debenture-trustees) होते हैं। सभा की तिथि से १४ दिन पूर्व ऐसे लेखाओं की

प्रतिलिपि कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय में भी भेज दी जाती है जहाँ कोई भी सदस्य एवं अंशधारी उसका परीक्षण कर सकता है। वह अपने विदेशी अंशधारियों के लिए सभा सम्बन्धी सूचना को समाचार-पत्रों (Newspapers) में प्रकाशित करा देता है तथा उस सूचना की एक प्रतिलिपि कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय में सूचना-फलक (Notice Board) पर लगा देता है।

(४) कम्पनी की अंश हस्तान्तरण सम्बन्धी पुस्तकें (Share Transfer Books) बहुधा सदस्य-रजिस्टर को सतुलित (Balancing) करने के लिए, अंश-सूचियों तथा अंश-अधिपत्र (Share warrants) तैयार करने के लिए, तथा वार्षिक प्रत्याय (Annual Return) बनाने के लिये सभा से १४ दिन पूर्व बन्द करदी जाती हैं। इन पुस्तकों के बन्द रखने का अभिप्राय यह है कि उस समय तक कम्पनी के जो सदस्य हैं उनके नाम आदि वार्षिक प्रत्याय में लिखे जा सकें तथा जो लाभांश के अधिकारी हैं उनके नाम पर ही लाभांश अधिपत्र (Share-warrants) बनाये जायें, क्योंकि अंश हस्तान्तरण-पुस्तक के बन्द करने के उपरान्त अंशों का हस्तान्तरण नहीं किया जाता। साधारणत इस पुस्तक के बन्द होने वाले प्रथम दिवस को ही यदि कोई अंश हस्तान्तरण के लिए शेष रहा है तो कार्यवाह उसे रजिस्टर्ड कर लेता है, साथ ही पूरे दिन तक किसी भी अंश के हस्तान्तरण की प्रतीक्षा भी करता है। उसके उपरान्त वह बन्द कर दिया जाता है और लाभांशधारी सदस्यों के नाम निश्चित करके कार्यवाह उन्हें वार्षिक-प्रत्याय में लिख देता है।

(५) यदि कम्पनी के अन्तर्नियमों (Articles) के अनुसार 'प्रति पुरुष' (Proxies) के प्रयोग करने की अनुमति होती है तो कार्यवाह सूचना के साथ प्रत्येक सदस्य को प्रति-पुरुष प्रपत्र (Form of Proxies) भेज देता है तथा प्रति पुरुष सम्बन्धी व्यवहारों के लिए आवश्यक व्यवस्था करता है और उनकी पर्याप्त छानबीन (Scrutinies) भी करता है।

(६) यदि कार्यवाह को यह पहले से ही आशंका होती है कि सभा में मत-गणना (Poll) की माँग की जायगी तो वह मत गणना सम्बन्धी व्यवस्था भी करता है।

(७) उसे सभा से पूर्व ही सभा का विस्तृत कार्यक्रम (Detailed Agenda) बना लेना चाहिए। इसमें प्रस्ताव किए जाने वाले सुझाव (Motion to be proposed) तथा प्रस्तावक एवं समर्थक व्यक्तियों के नाम लिखे रहने चाहिए।

(८) यदि सभा बुलाने की सूचना पहले नहीं पढ़ी जाती तो कार्यवाह सर्व-प्रथम सभा होते ही वह सूचना पढ़ता है तथा सभा होते समय उसकी कार्यवाही सम्बन्धी आवश्यक टिप्पणियाँ (Notes) तैयार करता है और सभी पास हुए प्रस्तावों के संक्षिप्त विवरण लिखता रहता है, उनसे ही सभा के बाद वह पूर्ण विवरण (Minutes) तैयार करता है।

(६) जब सभा समाप्त हो जाती है तो वह अपनी टिप्पणियों के आधार पर सभा की कार्यवाही का विवरण लिखता है तथा सभा के स्वीकृत प्रस्तावों को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक कार्यवाही करता है अर्थात् लाभांश का भुगतान, तथा सचालक या अकेंक्षक के पद पर नियुक्त हुए व्यक्तियों की सूचना भेजता है।

(१०) सभा में जो वार्षिक लेखे रखे जाते हैं, उनकी तीन प्रतियाँ अपने हस्ताक्षर करके कम्पनी के रजिस्ट्रार के पास भेजता है। यदि वे लेखे सभा में स्वीकृत नहीं होते तो उसका कारण तथा वास्तविक तथ्य (Fact) उन लेखाओं के साथ लगा देता है।

(११) कार्यवाह को अपना वार्षिक प्रत्याय (Annual Return) सभा की तिथि से २१ दिन के अन्दर तैयार कर लेना चाहिए तथा अपने हस्ताक्षर करके रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत कर देना चाहिए।

असामान्य व्यापक-सभा (Extra ordinary General Meeting)

वैधानिक सभा (Statutory Meeting) तथा सामान्य व्यापक-सभाओं (Ordinary General Meeting) के अतिरिक्त सभी व्यापक सभायें असामान्य व्यापक सभायें कहलाती हैं। इनका आयोजन प्राय किसी असाधारण कार्य के लिए होता है और इसका संकेत पहले ही सूचना में दे दिया जाता है। इन सभाओं की आवश्यकता उसी समय पड़ती है जब अन्तर्नियमों क अनुसार कोई कार्य इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि वह सामान्य व्यापक-सभा तक स्थगित नहीं किया जा सके तो इन सभाओं को बुलाना पड़ता है। कभी कभी कम्पनियों में असामान्य व्यापक-सभा तथा सामान्य-व्यापक सभा दोनों एक ही तिथि पर, एक के बाद दूसरी की जाती हैं। ऐसे समय पर एक ही सूचना से काम चल जाता है। प्राय असामान्य-व्यापक सभायें निम्नलिखित तीन कारणों स बुलाई जाती हैं —

(१) जब कभी अन्तर्नियमों के अनुसार सचालक लोग आवश्यक समझते हैं उसी समय ऐसी सभा कर सकते हैं।

(२) जब कभी कम्पनी की अंश-पूँजी का १ १० भाग धारण करने वाले अंशधारी, जिन्होंने अपने अंशों की कुल याचित राशि अथवा अन्य अदत्त राशि का भुगतान कर दिया हो और वे सचालकों से ऐसी सभा कराने की माँग करते हैं तो सदस्यों द्वारा यह सभा की जा सकती है। उन सदस्यों की माँग प्राप्त होते ही संचालक लोगों को २१ दिन के अन्दर असामान्य-व्यापक सभा करने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

(३) यदि सदस्यों द्वारा की गई माँग पर भी २१ दिन के अन्दर सचालक लोग ऐसी सभा नहीं बुलाते तो माँग करने की तिथि से ३ महीने उपरान्त तक सदस्य लोग स्वय व्यय करके सभा बुला सकते हैं और उसका सारा खर्चा कम्पनी से

वसूल कर सकते हैं तथा कम्पनी उसे उन दोषी संचालकों (Defaulting directors) से वसूल कर सकती है।

कम्पनी की इस सभा में होने वाले प्रत्येक विशेष एवं असाधारण कार्यों के लिए असाधारण या विशेष प्रस्ताव किये जाते हैं। इसलिए ऐसे समस्त प्रस्तावों के लिए वैधानिक आवश्यकताओं (Legal requirements) की पूर्ति करना अनिवार्य होता है।

विशेष सूचनायें (Special Circulars) —असामान्य व्यापक-सभाओं में प्राय. विशेष कार्य ही किये जाते हैं। अतः उसे बुलाने से पूर्व उन समस्त विशेष कार्यों का विवरण तैयार करके प्रत्येक सदस्य के पास सूचना के साथ ही सभा से पूर्व भेज दिया जाता है ताकि उन सभी बातों को प्रत्येक सदस्य जान जाय तथा सभा में आना आवश्यक है अथवा नहीं यह भी निश्चय कर सकें। इस सूचना के कार्य विवरण का तैयार करना भी कार्यवाह का प्रमुख कर्त्तव्य होता है। इतना अवश्य है कि उस विवरण के लिए उसे संचालकों से भी सलाह लेनी पड़ती है। नीचे उस विवरण का एक नमूना दिया जाता है :—

(१)

श्री सदस्य महोदय,

क० लि०

श्रीमान्/श्रीमती,

यह सूचित किया जाता है कि कम्पनी के संचालकों ने कम्पनी की पूँजी को उसकी उत्पादन-शक्ति के बराबर करने का विचार किया है। कम्पनी की वर्त्तमान अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) २४,००,००० रु० है जोकि १०० रु० के २४००० पूर्ण प्रदत्त (Fully paid) अंशों में विभाजित की गई है। कम्पनी के अवक्षयण (Depreciation) को निकाल कर कम्पनी का स्थिर-लेखा (Block-account) ३०,००,००० रु० तक बढ़ गया है। संचित-कोष (Reserve Fund) में भी १०,००,००० रु० से ऊपर है। अत: उपर्युक्त धन में से ६,००,००० रु० को भी पूँजी में बदलने का निश्चय किया गया है। इसके लिए प्रत्येक अंशधारी को प्रति चार अंश पर एक पूर्ण प्रदत्त साधारण अंश (Fully paid ordinary share) और लेना होगा। इस तरह लगभग ४,०० ००० रुपये से अधिक राशि संचित कोष (Reserve Fund) में आजायगी।

संचालक लोग इस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने तथा कम्पनी की अधिकृत पूँजी को ३०,०० ००० रु० तक बढ़ाने के लिए समस्त अंशधारियों की स्वीकृति चाहते हैं। कम्पनी की असामान्य-व्यापक-सभा होने की सूचना भी इसी के साथ

लगी हुई है जिसमें कि इस विषय का प्रस्ताव मान्यता एव स्वीकृति के लिए उपस्थित किया जायगा।

एक प्रति-पुरुष प्रपत्र (Form of Proxy) भी भेजा जाता है। यदि आप सभा में उपस्थित होने में असमर्थ रह तो शीघ्र ही इसे भरकर तथा अपने हस्ताक्षर करके लौटाने की कृपा करें।

भवदीय—

....

प्रबन्ध-अभिकर्त्ता

(२)

दी बड़ाकूर काल कम्पनी लिमिटेड
(The Barrakur Coal Company Ltd)

सेवा में :—

श्री अशधारी महोदय,

दी बड़ाकूर कोल कम्पनी लिमिटेड,

श्रीमान् / श्रीमती,

सचालकों ने जो रिपोर्ट आप लोगों के पास अभी हाल में ही भेजी है उसमें कम्पनी की कोयला-खानों के लिए बालू की पूर्ति करने के निमित्त मार्ग या रोप वे (Rope way) बनाने में व्यय करने का सकेत किया है। इस समय पर्याप्त मात्रा में लगातार बालू की पूर्ति होना कोयले की खानों की सुरक्षा एव स्थिरता के लिए परमावश्यक है। इस योजना की पूर्ति में लगभग ५० लाख रुपए व्यय होंगे, परन्तु यह सोचा गया है कि कितनी ही बार में यह पूर्ण किया जायगा। यद्यपि विशेष अवक्षयण एलाउन्सों (Special depreciation allowances) की सहायता से कम्पनी के सुरक्षित सचित कोष (Reserves) से बिना कुछ लिए ही उसके खर्चे की पूर्ति हो जायेगी, परन्तु यह अनुमान किया गया है कि इसके लिए भी नवीन पूँजी एकत्रित करना आवश्यक होगा।

इस योजना को कार्य रूप में लाने के लिए आपके सचालकों ने कम्पनी की पूँजी के वर्तमान स्वरूप पर बड़े ध्यानपूर्वक विचार किया है। कम्पनी की अधिकृत पूँजी १,००,००,००० रु० है जोकि दस-दस रुपये के ५,००,००० साधारण अशों में तथा सौ-सौ रुपये के ७ प्रतिशत ५०,००० अधिमान अशों (Preference shares) में विभक्त है। ७ प्रतिशत अधिमान अशों में से २२६६८ अश निर्गमित होने वाले हैं वे रद्द कर दिये जायँ और उनके स्थान पर दस-दस रुपये के ६ प्रतिशत कर योग्य द्वितीय संचयी अधिमान अश (Taxable Second Cumulative Preference Shares) लगभग २,५०,००० की सख्या में निर्गमित किए जायँ। इस योजना के लिए निवेदन करते हुए सचालक-लोग आपका ध्यान सुगमता से प्राप्त हो जाने वाले

धन की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। जिसका उदाहरण यह है कि भारत सरकार ने अभी हाल में ही यह निश्चय किया है कि ३½ प्रतिशत चुकाये जाने वाले समस्त अविनाशी ऋणों (Non terminable loans) का भुगतान ऋणधारियों की इच्छा से ३ प्रतिशत तथा २¾ प्रतिशत में बदलकर करना चाहिए।

सचालकों के उक्त प्रस्ताव द्वारा कम्पनी को पर्याप्त धन बच जायगा और ६ प्रतिशत द्वितीय सचयी अधिमान अंशों के निर्गमन से कम्पनी की पूँजी में ही वृद्धि नहीं होगी, अपितु विनियोक्ताओं को भी लाभ होगा। कम्पनी में इन नवीन प्रस्तावित अंशों का श्रेणी-विभाजन (Rank) लाभाश सम्बन्धी उपस्थित अधिमान अंशों (Preference shares) के पश्चात् तथा साधारण अंशों (Ordinary shares) से पूर्व ही हो जायगा। इससे प्रत्येक ऐसे अशधारी का दायित्व निश्चित हो जायगा अर्थात् कम्पनी की परिसमाप्ति (Winding up) के समय जहाँ तक लाभांशों के देय सम्बन्धी भुगतान का प्रश्न है वह भी अंशों के श्रेणी-विभाजन द्वारा निश्चित हो जायगा, उस समय तक चाहे लाभांशों आदि की घोषणा कम्पनी ने की हो अथवा नहीं, परन्तु इसके अतिरिक्त कम्पनी के लाभ या मालमत (Assets) में से भाग लेने का कोई अधिकार न होगा और न किसी प्रकार के मतदान सम्बन्धी अधिकार ही प्राप्त होंगे।

यदि उपर्युक्त प्रस्ताव से आप लोग सहमत होंगे तो सचालकों ने सोचा है कि पहले इनमें से ४५,००० अंशों को १ रुपया प्रव्याजि (Premium) प्रतिअंश की दर से अपने अंशधारियों में निर्गमित किया जाय। उसके लिए प्रति दस अंशधारण-कर्त्ता को पहले पहले एक नवीन द्वितीय सचयी अधिमान अंश दिया जायगा। दस अंशों में अधिमान (Preference) या साधारण (Ordinary) किसी प्रकार के भी अंश हो सकते हैं। यदि गणना में ½ शेष रहेगा तो कुछ नहीं माना जायगा, परन्तु यदि ½ से कुछ अधिक रहेगा तो पूरा १ माना जायगा। उपर्युक्त अनुपात द्वारा अधिक संख्या में अंश धारण करने वाले सदस्यों के लिए यह उचित जान पड़ता है कि वे अपने अनुपात से कम अंश लेने की ही कृपा करें जिससे थोड़ी संख्या में अंश-धारण करने वाले व्यक्तियों को भी इन अंशों को लेना सुगम हो जाय।

यह निश्चय किया गया है कि नवीन निर्गमित अंश वितरण (Allotment) तिथि से ही लाभांश के अधिकारी होंगे। इसके साथ ही जो अंशधारी अनुपातत अपने हिस्से में आने वाले अंशों को नहीं लेंगे, उनके उन अंशों का निर्गमन उसी प्रव्याजि (Premium) पर सचालक लोग अपने निश्चयानुसार जनता को या अन्य किसी व्यक्ति को कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त सघ-अन्तर्नियमों के अनुसार सचालक लोग अपनी सख्या ५ से अब ७ करने का विचार कर रहे हैं। वैसे अगर किसी एक सचालक की वृद्धि,

वे लोग चाहें, तो बिना असामान्य व्यापक सभा बुलाये कर सकते हैं। साथ ही वर्तमान सघ अन्तर्नियमों के अनुसार केवल प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं को ही यह अधिकार है कि वे सचालक का पद स्थानीय (Ex-officio) नियुक्त कर सकते हैं। आपके सचालक अब यह चाहते हैं कि प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को यह भी अधिकार होना चाहिए कि वे पद-स्थानीय (Ex officio) सचालकों को उस वैधानिक अवधि (Statutory Limit) तक नियुक्त कर सकें जिसका कि उल्लेख भारतीय कम्पनी विधान म किया गया है। अत यह सोचा गया है कि कम्पनी के सघ-अन्तर्नियमों में भी ऐसा सशोधन किया जाय जिससे प्रबन्ध अभिकर्ताओं को उन संचालकों के नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त हो जाय। इतना अवश्य है कि समस्त सचालकों क ⅓ भाग को ही वे नियुक्त कर सकेंगे।

दिनाङ्क २३ अगस्त १९४९ को होने वाली असामान्य-व्यापक-सभा की मुद्रित सूचना इसके साथ ही भेजी जाती है। इसी सभा म उपर्युक्त योजना सम्बन्धी आवश्यक प्रस्ताव पास किए जायेंगे।

कम्पनी का अश हस्तान्तरण-रजिस्टर (Share Transfer Register) शनिवार १७ अगस्त १९४९ से २३ अगस्त १९४९ (दोनों दिन सम्मिलित) तक बद रहेगा।

भवदीय :—

जे० पी० कस्व
एच० रोवन हौज
पी० सी० मुकर्जी
नील ब्रोड
डी० एच० मैक्फर्सन
} सचालक

चार्टर्ड बैंक बिल्डिंग्स
कलकत्ता, ५ जुलाई, १९४९ ई०

कार्यवाह के कर्त्तव्य (Secretary's Duties)—साधारणत असामान्य व्यापक सभाओं म कार्यवाह को वही कार्य करने पड़ते हैं, जो बहुधा वह सामान्य-व्यापक सभाओं (Ordinary General Meeting) में करता है। इतना अवश्य है कि इस सभा में कुछ कार्य और बढ जाते हैं और ये कार्य प्राय वही होते हैं जिनके लिए कि असामान्य व्यापक सभा बुलाई जाती है। इस तरह निम्नलिखित बातों की ओर उसे सामान्य व्यापक सभा की अपेक्षा और ध्यान देना पड़ता है —

(१) वह सभा की सूचना देने के लिए एक सूचना पत्र (Circular) तैयार करता है और सदस्यों के समीप भेजने से पूर्व उस पर सभा के अध्यक्ष (Chairman) से मान्यता प्राप्त करता है।

(२) उस सूचना-पत्र में होने वाली सभा की विशेष कार्यवाही (Special business) का उल्लेख रहता है और यदि कोई विशेष या असामान्य प्रस्ताव पास होने वाला हो तो उस प्रस्तावित सुझाव के निर्बन्धों (Terms) का उल्लेख भी उस

सूचना पत्र में कर देता है, साथ ही यह भी स्पष्टतया निर्देश कर देता है कि कोई सुझाव असामान्य या विशेष प्रस्ताव के रूप में प्रस्तावित किया जाने वाला है।

(३) यदि उसे यह आशका होती है कि असामान्य-व्यापक-सभा में मत-गणना की आवश्यकता होगी तो वह इसके लिए भी आवश्यक प्रबन्ध कर लेता है ताकि सभा होते समय किसी प्रकार की असुविधा न हो।

(४) यदि अन्तर्नियमों के अनुसार प्रति पुरुष (Proxy) भी सभा में उपस्थित हो सकते हैं या मत दे सकते हैं तो प्रति पुरुषों (Proxies) के रजिस्ट्रेशन का भी आवश्यक प्रबन्ध करता है।

(५) यदि उस सभा में कोई विशेष या असामान्य प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता है तो उसकी एक प्रतिलिपि (Copy) १५ दिन के अन्दर ही रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करता है।

कम्पनी की सभाओं की कार्य प्रणाली
(Company Meeting Procedure)

कम्पनी की सभाओं की कार्य-पद्धति प्राय अन्तर्नियमों द्वारा निश्चित की जाती है। फिर भी सयुक्त स्कध कम्पनियों की सभा सम्बन्धी अनेक बुराइयों को रोकने के लिए कम्पनी विधान में कुछ अनिवार्य आयोजन (Compulsory provisions) स्थिर किए गये हैं जो सभी कम्पनियों पर समान रूप से लागू होते हैं। वे सभी धारा ७६ (१) तथा सारिणी 'अ' के नियम ५६-६६ तथा १०२-११६ में दिए गये हैं।

धारा ७६ (१) के अनुसार विशेष प्रस्तावों के अतिरिक्त कम्पनी की समस्त सभाओं की सूचना सदस्यों के समीप सभा से १४ दिन पहले पहुँचना चाहिए। यह धारा उन वैयक्तिक कम्पनियों पर लागू नहीं होती जो किसी सार्वजनिक कम्पनी की सहायक नहीं होतीं। इस धारा के अनुसार स्वय अथवा प्रति पुरुष (Proxy) द्वारा उपस्थित कोई भी पाँच सदस्य या सभा या अध्यक्ष या निर्गमित अश पूँजी के १।१० भाग को धारण करने वाले व्यक्ति मत-गणना (Poll) की माग कर सकते हैं। परन्तु निर्गमित अश-पूँजी को धारण करने वाले मताधिकारी होने चाहिए। साथ ही कोई भी अशधारी जिसका कि नाम कपनी के सदस्य रजिस्टर में है, वह अपने स्वत्व एव दायित्व का वैसा ही अधिकारी होगा जैसा कि उसी श्रेणी अथवा वर्ग के अन्य अशधारी होते हैं। इसके अतिरिक्त, अन्तर्नियमों एव सारिणी 'अ' के नियम ११२-११३ के अनुसार सभा में होने वाली समस्त कार्यवाही की सूचना प्रत्येक सदस्य के पास भेजनी अनिवार्य होती है। यदि सारिणी 'अ' के नियम ६७ के अनुसार प्रति-पुरुष का प्रपत्र (Form) कपनी को प्राप्त हो चुका हो तो कपनी ऐसे प्रति-पुरुष के विषय में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं करती।

सारिणी 'अ' के नियम ५६ के निर्माण होने का वैधानिक उद्देश्य यह है कि सभाओं में मत दान समुचित पद्धति से किया जाय। जबकि नियम ६६ यह बतलाता है कि प्रति पुरुष सम्बन्धी सभी प्रपत्र (Form) कम्पनी-कार्यालय में सभा से ७२ घण्टे पूर्व जमा हो जाने चाहिए। उसी प्रकार नियम ११२-११६ इसलिए बनाए गये हैं कि कम्पनी की सभा सम्बन्धी सूचना सभी सदस्यों पर समुचित रूप से पहुँच जानी चाहिए।

सूचनायें (Notices)

एक व्यवहार्य (Valid) सभा बुलाने के लिए यह परमावश्यक होता है कि उसकी सूचना कम्पनी के प्रत्येक सदस्य को समुचित रूप से दी जाय, जिससे प्रत्येक सदस्य को उपस्थित होने का सुअवसर भी प्राप्त हो। उस सूचना में सभा की कार्यवाही, स्थान, दिन तथा समय ठीक प्रकार से लिखे रहने चाहिए और सूचना की अवधि विधान के अनुसार होनी चाहिए।

सभा की सूचानाए तैयार करना तथा उनको उचित समय पर सदस्यों के पास भेजने का उत्तरदायित्व कार्यवाह का होता है। सारिणी 'अ' के नियम ११२ तथा ११३ के अनुसार कम्पनी के प्रत्येक सदस्य को उसके रजिस्टर्ड पते पर, और यदि रजिस्टर्ड पता न दिया हो तो किसी भी ऐसे पते पर जो उसने कम्पनी में दिया हो, सभा की समस्त सूचनाएं व्यक्तिश (Personally) अथवा डाक द्वारा भेजनी चाहिए। परन्तु यदि किसी सदस्य ने न तो भारत का रजिस्टर्ड पता ही कम्पनी में दिया हो और न उसने और कोई अपना वर्तमान पता ही दिया हो तो सभा की सूचना किसी ऐसे समाचार-पत्र में प्रकाशित करा देना चाहिए जो कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय के आसपास के क्षेत्रों में वितरित होता हो। इस प्रकार निकाली हुई सूचना सदस्य को उस तिथि को दी हुई सूचना मानी जायगी जिस तिथि को समाचार पत्र में वह प्रकाशित होती है।

सारिणी 'अ' के नियम ११६ के अनुसार साधारण या सामान्य सभाओं (General meetings) की सूचना सदस्यों के अतिरिक्त ऐसे सभी व्यक्तियों को देनी चाहिए। जो कम्पनी के वाहक अंश अधिपत्रधारी (Bearer share warrants holders) हों। केवल इन लोगों में से उनको ही सूचना नहीं देनी चाहिये जो अपना भारत का रजिस्टर्ड या और कोई पता कम्पनी के कार्यालय में न भेज सके हों। सूचना *उन व्यक्तियों के पास भी भेजनी* चाहिए जो मृत या दिवालिया सदस्य के वैधानिक प्रतिनिधि (Legal representative) हों। इस प्रकार सभा की सूचना केवल सभी सदस्यों को नहीं दी जाती, अपितु कुछ ऐसे व्यक्तियों को भी दी जाती है जो कम्पनी के सदस्य नहीं होते, जैसे—उपर्युक्त वाहक अंश अधिपत्रधारी तथा मृत एवं दिवालिया सदस्यों के वैधानिक प्रतिनिधि।

यद्यपि समस्त सदस्यों एव कुछ अ सदस्यों को कम्पनी की व्यापक सभा सम्बन्धी सूचना प्राप्त करने का अधिकार होता है, परन्तु इन सभी को सभा में उपस्थित होने, भाषण देन तथा मत देने का अधिकार नहीं होता। सम्भवत अ सदस्यों (Non members) को तो ये अधिकार होते ही नहीं, यहाँ तक कि बहुत सी कम्पनियों के अन्तनियमों में प्रत्येक सदस्य के उपस्थित होने, भाषण देने तथा मत देने पर भी प्रतिबन्ध होते हैं। जैसे यदि किसी कम्पनी के अशों की याचित राशि किसी सदस्य पर शेष रह जाती है तो वह न सभा में उपस्थित हो सकता है न किसी प्रश्न पर अपना मत दे सकता है और न अपना प्रति पुरुष (Proxy) ही वहाँ भेजने का अधिकारी होता है।

कार्यक्रम (Agenda)

कार्यक्रम (Agenda) से अभिप्राय कार्य के ऐसे विवरण (Statement) से होता है जिस पर सभा में वाद विवाद (Discussion) होता है तथा जिसके आधार पर सभा की समस्त कार्यवाही चलती है। किसी भी सभा को सफल बनाने के लिए यह परमावश्यक होता है कि उसके कार्यक्रम को प्रारम्भ में समुचित रूप से लिख लिया जाय और यह कार्य प्राय कार्यवाह द्वारा अध्यक्ष (Chairman) की सम्मति से होता है।

प्रति पुरुष (Proxies)

प्रति पुरुष ऐसे व्यक्ति को कहते हैं जो किसी अन्य व्यक्ति की ओर से कम्पनी की सभा में उपस्थित होने तथा मत देने का अधिकारी होता है। प्राय यह शब्द एक ऐसे प्रलेख (Document) के लिए व्यवहार में लाया जाता है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति प्रति पुरुष का कार्य करने के लिए अधिकारी होता है। साधारणत प्रति पुरुष को किसी प्रकार का मत देने का अधिकार नहीं होता, परन्तु बहुत सी कम्पनियाँ अपने अन्तनियमों में इस प्रकार का आयोजन कर लेती हैं जिसके द्वारा एक प्रति पुरुष भी सदस्यों की ही भाँति मत दे सकता है। परन्तु अन्तनियमों के आयोजनों (Provisions) को ठीक ठीक प्रयोग में लाना चाहिए। प्राय प्रत्येक नियोजित (Appointed) प्रति पुरुष को कम्पनी का सदस्य होना चाहिए।

प्रति पुरुष प्रपत्र (*Proxy form*) लिखित रूप में होना चाहिए तथा अशधारी के हस्ताक्षरों सहित कम्पनी की मुद्रा भी अकित रहनी चाहिए। यद्यपि इसके लिए कोई श्रेणी विभाजन नहीं किया जाता, परन्तु वास्तविक रूप से यह केवल किसी अन्य व्यक्ति की ओर से प्रतिनिधित्व करने का केवल अधिकार दिलाता है। यह प्रपत्र कम्पनी के अन्तनियमों में दिया हुआ रहना चाहिए। परन्तु यदि यह प्रपत्र सारिणी 'अ' के नियम ६७ में दिए हुए स्वरूप के अनुसार ही बनाया जाता है तो कम्पनी किसी प्रकार की आपत्ति नहीं करती, फिर चाहे उसके अन्तनियमों में इसका स्वरूप भिन्न ही क्यों न हो। नीचे इस प्रपत्र (Form) का नमूना दिया जाता है —

कम्पनी लिमिटेड ।

जिले के का मैं

कम्पनी लिमिटेड का सदस्य होने से के को इसके द्वारा कम्पनी का व्यापक सभा (साधारण या असाधारण जैसी भी हो) में जो के दिन को होने वाली है या उसके स्थगित होने में अपनी ओर से मत देने के लिए अपना प्रतिनिधि नियुक्त करता हूँ।

आज के दिन को हस्ताक्षर किये गये।

विधान की धारा ८० के अनुसार किसी भी कम्पनी का कोई सदस्य सचालकों के प्रस्ताव से अपने किसी भी अधिकारी व्यक्ति को अथवा अपने कार्यकर्त्ता या अन्य किसी भी व्यक्ति को कम्पनी की किसी भी सभा में अपना प्रतिनिधि त करने के लिए नियुक्त कर सकता है तथा इस व्यक्ति के अधिकार कम्पनी के अन्य सदस्यों के समान ही माने जाते हैं।

सारिणी 'अ' के नियम ६६ के अनुसार प्रत्येक कम्पनी के लिए यह आवश्यक है कि उसके रजिस्टर्ड कार्यालय में 'प्रतिपुरुष' का प्रपत्र (Form) सभा होने के समय से ७२ घंटे पूर्व जमा हो जाना चाहिए। यदि उस समय तक वह नहीं पहुंचता तो प्रतिपुरुष का प्रपत्र स्वीकार नहीं किया जाता है।

कार्यवाह को कम्पनी के कार्यालय में आए हुये समस्त प्रति पुरुष प्रपत्रों को अच्छी तरह जॉच करना चाहिए। उसे यह देखना चाहिए कि क्या वह सभा स ७२ घंटे पूर्व ही प्राप्त हुआ है। समुचित प्रपत्र भरकर मुद्रा अंकित की गई है, ठीक ठीक हस्ताक्षर किए गये हैं तथा हस्ताक्षरकत्ता सदस्य का नाम सदस्य रजिस्टर से भी मिलता है और क्या प्रति पुरुष नियुक्त किया हुआ व्यक्ति कम्पनी का ही सदस्य है। कम्पनी का सदस्य होना उसी दशा में आवश्यक है जबकि अ तनियमों में इस बात का उल्लेख हो। इसके साथ ही यह अंतिम नियम किसी कम्पनी के प्रतिनिधि पर लागू नहीं होता क्योंकि प्रतिनिधि के लिए उस कम्पनी का सदस्य होना अनिवाय नहीं होता।

किसी भी प्रति पुरुष प्रपत्र (Form of Proxy) के स्वाकार या अस्वीकार करने का अधिकार सभा के अध्यक्ष (Chairman) को होता है। कायवाह तो केवल अध्यक्ष को निरीक्षण करके यह बतला देता है कि अमुक प्रपत्र अस्वीकृत होने योग्य है। अध्यक्ष की सुविधा के लिए कार्यवाह प्रतिपुरुषों के नियुक्त करने वाले सदस्यों के नाम उनके अधिकृत मतों को सख्या तथा प्रतिपुरुषों के नाम रहते हैं।

टिप्पणी —यदि सचालक कम्पनी के हित को दृष्टि में रखकर कम्पनी के लाभ के लिये ही प्रति पुरुष इकट्ठा करना चाहते हैं तो वे प्रति पुरुष प्रपत्र छपवाने, मुद्रा अंकित करने आदि में कम्पनी का रुपया खर्च कर सकते हैं। जब किसी कार्य के लिए सदस्यों के मत आवश्यक हों और असाधारण सभा में उपस्थित न होना चाहते

हों तो सचालकों को प्राय प्रति पुरुष प्रपत्रों के लिए अपाल करनी चाहिए। इसीलिए कार्यवाह के लिए कभी-कभी यह आवश्यक होता है कि उसे सभा का सूचना के साथ साथ एक मुद्रांकित प्रति पुरुष प्रपत्र भी प्र येक अशधारी के पास भेजना चाहिए तथा उन्हें अपनी ओर से मत देन के लिए किसी एक सचालक की नियुक्ति क विषय में भी निमत्रण देना चाहिए।

मत-गणना (Poll)

साधारणत कम्पनी की सभाओं में मतदान अन्य सार्वजनिक सभाओं की ही भाँति होता है अर्थात् "एक पुरुष एक मत" के सिद्धा त पर हस्त-प्रदर्शन (Show hands) द्वारा किया जाता है। परतु कभी कभी यह आवश्यक होता है कि कम्पनी के सदस्य अपने अपने हितों के अनुपात में ही अपन मताधिकार का प्रयोग करें, अत इसके लिए मत गणना (Poll) की पद्धति का प्रयोग किया जाता है। मत गणना द्वारा प्राप्त हुये मत का यह अर्थ होता है कि जिस प्रकार एक व्यक्ति के हस्त प्रदशन द्वारा एक मत गिना जाता है उसी प्रकार इसम दिए हुए समस्त मतों की वास्तविक सख्या गिनली जाती है। हस्त प्रदर्शन में तो केवल एक मत ही गिना जाता है चाहे वह व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के प्रति पुरुष होन के नात और भी मत देने का भले ही अधिकारी क्यों न हो। परन्तु मत-गणना में सदस्य सख्या के अनुसार मत गिने जात हैं, फिर उनमें कुछ अनुपस्थित रहन वाले सदस्यों के प्रति पुरुष भी होते हैं। इसके साथ ही मतों की गणना सदस्यों द्वारा लिए गये अशों द्वारा भी होती है। इस मत गणना पद्धति का प्रयोग उसी समय किया जाता है जब सभा में कोइ महत्त्वपूर्ण कार्य सम्बन्धी निणय लिया जाने वाला होता है, अथात् महत्त्वशाला कार्यों क लिए ही इस पद्धति का अवलम्बन आवश्यक होता है।

मत-गणना की माँग के अधिकारी (Who can demand a poll) – साधारणत सभा में किसी भी प्रस्ताव के लिए सदस्य लोग मत-गणना का माँग (Demand) कर सकते हैं, पर तु इसके लिए अन्तर्नियमा क आदर्शों का पालन करना पड़ता है। धारा ७९२ (१) के अनुसार स्वय या प्रति पुरुष (Proxy) क रूप में उपस्थित हुए कम्पनी के ५ सदस्य या सभा का अध्यक्ष (Chairman) या कोई भी निर्गमित अंश पूँजी क १/१० भाग को धारण करन वाला व्यक्ति जिस कि मत देन का अधिकार होता है, मत गणना की माँग कर सकता है। किसी निजी या वैयक्तिक कम्पनी में यदि ७ सदस्य उपस्थित हों तो एक सदस्य और यदि ७ स अधिक सदस्य उपस्थित हों ता दो सदस्य मत गणना को माँग कर सकते हैं।

मत गणना पद्धति (How to take a poll) —जब इस मत-गणना की माँग की जाती है तो अध्यक्ष को इसे स्वीकार करके इसके लिए समय तथा स्थान निश्चित करना चाहिए, क्योंकि जब मत-गणना की माग हो जाती है तो हस्त प्रदर्शन

निरुपयोगी सिद्ध होता है। यदि कम्पनी के अन्तर्नियमों के अनुसार सभापति के निर्देश पर मत गणना होने वाली होती है तो अध्यक्ष उसी समय उसी सभा में मत-गणना कर सकता है। प्रत्येक मतदाता पृथक्-पृथक् मत पत्र ले लेते हैं तथा उसके ऊपर अपने हस्ताक्षर करके जैसी उनकी राय होती है उसी भाँति लिखकर अर्थात् प्रस्ताव के पक्ष या विपक्ष में अपना मत प्रकट करके दे देते हैं। अन्त में अध्यक्ष मतों को जोड़कर फल की घोषणा कर देता है। ऐसी सभाओं में सभा अथवा अध्यक्ष (Meeting or Chairman) उन मतों की छानबीन करने के लिए कुछ परीक्षकों को नियुक्त करते हैं जो उन मतों को गिनकर उसके फल की सूचना अध्यक्ष को देते हैं।

ऐसी मत गणना की माँग के लिए यह आवश्यक है कि यदि उसके लिए आवश्यक व्यवस्था सभा में न की जायगी तो वह सभा इसी कारण से स्थगित करनी पड़ेगी। उस सभा में प्रत्येक सदस्य को एक एक मत पत्र दिया जाता है जिस पर वह अपना नाम तथा लिए हुए अंशों की श्रेणी (Class) लिखता है। यदि मतदाता कोई प्रति पुरुष (Proxy) होता है तो वह अपने स्थानीय सदस्य का नाम लिखता है और अपने हस्ताक्षर करके कार्यवाह को लौटा देता है। तदुपरान्त वे समस्त मत-पत्र (Voting paper) अक्षर क्रमानुसार (Alphabatically) ठीक-ठीक रखे जाते हैं और प्रति पुरुषों की प्राप्त सूची, सदस्य रजिस्टर तथा लिये हुये अंशों के आधार पर मताधिकार (Voting value) से अच्छी तरह मिलाये जाते हैं। जितने अव्यवहार्य मत (Invalid vote) होते हैं वे रद्द कर दिये जाते हैं तथा पक्ष और विपक्ष वाले मतों की संख्या अध्यक्ष को सूचित कर दी जाती है जो उस प्रस्ताव का परिणाम (Result) घोषित कर देता है।

मतदान (Voting)

मतदान सम्बन्धी समस्त पद्धति कम्पनी के अन्तर्नियमों में दी जाती है। तथा मत सम्बन्धी निर्देशित नियमों का ठीक-ठीक पालन करना आवश्यक होता है। बहुधा मत हस्त प्रदर्शन (Show of hand) द्वारा ही लिये जाते हैं। प्रत्येक उपस्थित मताधिकारी सदस्य एक मत दे सकता है। चाहे वह किसी अनुपस्थित सदस्य का प्रति पुरुष ही क्यों न हो, उसे भी केवल अपने एक मत देने का ही अधिकार होता है। सारिणी 'अ' के नियम ५६ के अनुसार यदि मत-गणना की माँग न की जाय तो हस्त प्रदर्शन द्वारा लिया गया अध्यक्ष का निर्णय प्रत्येक प्रस्ताव की स्वीकृति के लिए अन्तिम प्रमाण (Conclusive evidence) माना जाता है।

सदस्यों के निर्णय प्रायः मत सम्बन्धी प्रश्न उपस्थित करने पर ही प्राप्त होते हैं और अध्यक्ष अन्त में उस परिणाम को घोषित कर देता है। यदि कोई प्रस्ताव

सर्व-सम्मति (Unanimously) से पास हो जाता है तो इसका अभिप्राय यही माना जाता है कि सभी उपस्थित सदस्यों ने उसके लिए मत दिया था, यदि कोई प्रस्ताव अविरोध रूप से पास हो जाता है तो इसका अर्थ भी यही होता है कि कोई भी सदस्य उसके विरुद्ध नहीं है, फिर चाहे उसे सभा में कोई मत न देने वाला व्यक्ति भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त अध्यक्ष किसी भी प्रस्ताव को अगली सभा में उपस्थित करने तथा रद्द करने की भी घोषणा करता है।

विवरण (Minutes) —धारा ८३ के अनुसार प्रत्येक कम्पनी को सभी व्यापक-सभाओं तथा सचालक सभाओं की कार्यवाही का विवरण लिखना अनिवार्य होता है। इस कार्य के लिए कार्यवाह की विशेष रूप से नियुक्ति होती है और वही इस कार्य के लिए उपयुक्त व्यक्ति होता है। इसके लिए उसे प्रत्येक सभा में उपस्थित रहना पड़ता है और वहाँ वह प्रत्येक कार्यवाही की संक्षिप्त टिप्पणी लिखता रहता है। इस कार्य को समुचित रूप देने के लिए यह अधिक लाभप्रद दिखाई देता है कि प्रत्येक कार्यवाह को सभा के समाप्त होते ही तुरन्त अपनी संक्षिप्त टिप्पणी के आधार पर सभा का विवरण तैयार कर लेना चाहिए जिससे सभा-विवरण भी शीघ्र तैयार हो जाता है और त्रुटियों अथवा भूलों के लिए स्थान नहीं रहता। नहीं तो अधिक दिन बाद लिखने में कार्यवाह कुछ बातें भूल भी सकता है और ठीक तथा उपयुक्त विवरण तैयार नहीं कर सकता।

सभाओं के ये विवरण बड़े महत्त्वपूर्ण होते हैं। अत इन्हे साफ साफ लिखना चाहिये और प्रत्येक पृष्ठ पर क्रम-सख्या देना चाहिए। उसमें से कोई भी पृष्ठ फाड़ना नहीं चाहिये और न किसी भी पृष्ठ को गदा करना चाहिए। यदि किसी भी प्रकार के परिवर्तन की उसमें आवश्यकता है तो त्रुटिपूर्ण शब्दों या पक्तियों को केवल काटकर उस पर स्पष्ट रूप से साफ-साफ शब्दों में ठीक बात बढ़ा देनी चाहिए। ऐसा करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि पहली बात भी पूर्णतः नष्ट न हो जाय। प्रत्येक व्यक्ति उस काटी हुई तथा परिवर्तित की हुई दोनों बातों को अच्छी प्रकार समझ सके ऐसा कार्य करना चाहिए। प्रत्येक काटी हुई या परिवर्तन की हुई बात पर सभा के अध्यक्ष के हस्ताक्षर कराना चाहिए। ये हस्ताक्षर प्रायः इस बात के प्रमाण होते हैं कि उस सभा की कार्यवाही का विवरण ठीक तौर से लिखा गया है और सही है। जिस समय पूरे विवरण पर अध्यक्ष से हस्ताक्षर कराये जायँ, उसी समय उससे काटे हुए स्थानों पर भी हस्ताक्षर करा लेना चाहिये, उसके उपरान्त फिर किसी प्रकार का भी परिवर्तन करना अपेक्षित प्रतीत नहीं होता। कभी-कभी ऐसा अवसर भी उपस्थित हो जाता है कि ये विवरण न्यायालय में प्रस्तुत करने पड़ते हैं। अत प्रत्येक कार्यवाह के लिए यह परमावश्यक है कि उसे इन विवरणों को साफ-साफ और सही-सही तैयार करना चाहिए।

धारा ८३ के अनुसार व्यापक-सभाओं (General meetings) के विवरण प्रायः प्रत्येक सदस्य के परीक्षण के लिए खुले रहते हैं, परन्तु संचालक-सभा के विवरण सभी सदस्य देख नहीं सकते। अतः यह आवश्यक प्रतीत होता है कि व्यापक सभाओं और संचालक-सभाओं के विवरण पृथक्-पृथक् पुस्तकों में रखे जाने चाहिए और प्रत्येक विवरण पुस्तक पर एक-एक निर्देशक (Index) लगा रहना चाहिए।

विवरण ही सभा की कार्यवाहियों का लिखित लेखा होता है। अतः यह किस प्रकार लिखा जाय यह जानना भी आवश्यक है। प्राय. विवरण लिखने की भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ पाई जाती हैं। कुछ लोग कार्यवाही की केवल रूप-रेखा (Outline) देना पसन्द करते हैं तथा कुछ अनेक अनावश्यक बातों के बोझ से विवरण को लादना अच्छा समझते हैं। परन्तु दोनों के मध्यम मार्ग का अनुसरण करना श्रेष्ठ है। जहाँ तक कार्यवाही के निर्देश करने का प्रश्न है वहाँ तक तो सभा की रिपोर्ट भी विवरण के ही समान होती है। परन्तु रिपोर्ट तो शब्द प्रति शब्द (Verbatim) अथवा संक्षिप्त हो सकती है, लेकिन विवरण में प्रत्येक कार्यवाही का संक्षिप्त लेखा ही होता है और जो-जो प्रस्ताव पास होते हैं उनके शब्द प्रति शब्द लिखे रहते हैं। रिपोर्टों में भाषण और वाद विवाद का भी उल्लेख रहता है, परन्तु विवरणों में प्राय. कार्यों के निर्णय का लेखा रहता है।

बहुधा विवरण इस प्रकार प्रारम्भ किया जाता है :—

"स्वदेशी बीमा कम्पनी के सदस्यों की दसवीं वार्षिक असामान्य व्यापक-सभा का विवरण:—यह सभा कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय २५, सिविल लाइन्स, आगरा में शुक्रवार ६ मार्च १९४५ ई० को साय ३-३० बजे हुई थी।"

इसके उपरान्त सभा में उपस्थित सभी उन लोगों के नाम देने चाहिए जिनका उल्लेख आगे विवरण का नमूना देते समय किया गया है प्रत्येक विवरण के आरम्भ में क्रम-संख्या लिखना चाहिए तथा एक निर्देशक लगाकर इसी क्रम-संख्या को वहाँ पर भी लिख देना चाहिए। विवरण का क्रम वही रखना चाहिए जिस क्रम में सभा की कार्यवाही हुई हो तथा प्रत्येक पास हुए प्रस्ताव को पूरा पूरा लिखना चाहिए। उसका "प्रस्ताव किया गया" (Resolved) शब्द से प्रारम्भ करना चाहिए जिससे प्रत्येक प्रस्ताव अलग पढ़ा जा सके। जब सभा का अध्यक्ष (Chairman) किसी प्रस्ताव के विरुद्ध या उसके समर्थन में मतदाताओं की संख्या घोषित करता है तो उस संख्या का निर्देश विवरण में भी रहना चाहिए।

व्यापक सभाओं का कार्य संचालन

(Conduct of Business at General Meetings)

गणपूरक (Quorum) —किसी भी सभा की कार्यवाही को वैधानिक रूप से चलाने के लिए कुछ उपस्थित सदस्यों की न्यूनतम संख्या का होना आवश्यक होता

है। यह न्यूनतम-संख्या ही गणपूरक संख्या (Quorum) कहलाती है। यह संख्या सदैव अन्तर्नियमों द्वारा निश्चित की जाती है और सभा की समाप्ति तक उस न्यूनतम संख्या का उपस्थित रहना आवश्यक होता है। यदि अन्तर्नियमों में इसका निर्देश नहीं होता तो केवल दो सदस्यों की उपस्थिति ही गणपूरक संख्या की पूर्ति कर देती है। प्रति पुरुषों (Proxies) को इस संख्या में नहीं गिना जाता, परन्तु कम्पनी के अंशधारियों के प्रतिनिधि गिने जाते हैं।

अध्यक्ष (Chairman) —बहुधा अन्तर्नियमों के अनुसार संचालक सभा के अध्यक्ष का चुनाव कर लिया जाता है। भारत में तो प्रायः संचालकों में से ही अध्यक्ष चुन लिया जाता है और ये संचालक प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। अन्तर्नियमों में यह भी लिखा रहता है कि जो संचालक-सभा (Board of Directors) का अध्यक्ष होता है वही कम्पनी का अध्यक्ष भी कहलाता है। परन्तु किसी कम्पनी के अन्तर्नियमों में यदि ऐसा उल्लेख नहीं होता या अध्यक्ष अनुपस्थित होता है तो सभा के सदस्य लोग अध्यक्ष का चुनाव कर लेते हैं, परन्तु वह निर्वाचन भी अन्तर्नियमों के अनुसार होना चाहिए। यदि अन्तर्नियमों के अनुसार न होगा तो वह चुनाव अव्यवहार्य (Void) माना जायगा, फिर चाहे सारे उपस्थित सदस्य ही उसके निर्वाचन से सहमत क्यों न हों।

जब किसी व्यक्ति को अध्यक्ष के लिये चुना जाता है और उसे उस पद पर सुशोभित किया जाता है तो उसे समस्त सदस्यों के संचालन का भार भी सौंपा जाता है। यदि अन्तर्नियमों में सभा के कार्य-संचालन की पद्धति का उल्लेख रहता है तो उसे उसी के अनुसार कार्य करना चाहिए; परन्तु यदि किसी प्रकार का आयोजन वहाँ नहीं है तो अध्यक्ष को शुद्ध बुद्धि से तथा न्यायसंगत होकर कार्य करना चाहिए। सभा के अध्यक्ष के लिये निम्नलिखित कर्त्तव्य होते हैं —

(१) सर्वप्रथम उसे देखना चाहिए कि उसकी नियुक्ति समुचित रीति से ही हुई है,

(२) सभा का आयोजन ठीक प्रकार से किया गया है,

(३) सभा का कार्य कार्यक्रम के ही अनुसार चल रहा है, यदि उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन किया गया है तो उसके लिए सभा की अनुमति ली गई है,

(४) प्रत्येक उपस्थित सदस्य को अपने विचार प्रकट करने के लिए समुचित एवं पर्याप्त अवसर दिया जाता है,

(५) परस्पर झगड़े के समय कौन पहले अपने विचार प्रकट करे, इस झगड़े को वही शान्त करता है तथा अल्प सदस्यों के अधिकारों की वही रक्षा करता है,

(६) सभा के सभी कार्य उसके कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत ही हो रहे हैं, यह देखना है

(७) उस सभा में शान्ति रखनी चाहिए तथा शान्ति-व्यवस्था सम्बन्धी किसी बात का भी निर्णय देना चाहिए,

(८) शान्ति भग करने वालों को निकाल देना चाहिए या सभा स्थगित (Adjourned) कर देनी चाहिए, तथा

(९) सभा के सभी निर्णयों (decisions) को निर्दिष्ट ढग से प्राप्त करना चाहिए।

निर्णयात्मक मत (Casting Vote) :—प्राय अन्तर्नियमों में अपने निजी मत के अतिरिक्त अध्यक्ष को एक निर्णयात्मक या निर्णय-सूचक मत (Casting vote) देने का भी अधिकार होता है। परन्तु यदि अन्तर्नियमों में ऐसे मत का उल्लेख नहीं होता तो वह अपना निर्णयात्मक मत में नहीं देता है। वैसे साधारणत अध्यक्ष का यह अधिकार नहीं होता। यदि अध्यक्ष अपना निर्णयात्मक मत नहीं देता अथवा यदि उसे इसका अधिकार नहीं होता और पक्ष तथा विपक्ष वाले मत बराबर होते हैं तो वह सुझाव अस्वीकृत समझा जाता है।

बहुमत की प्रधानता (Supremacy of the Majority) :—यदि कम्पनी के अन्तर्नियमों में किसी प्रकार का विरुद्ध उल्लेख नहीं होता तो बहुमत ही प्रायः समस्त सदस्यों को मान्य होता है। कम्पनी के नियमों के अनुसार भी बहुमत की राय सदैव सभी सदस्यों की राय मानी जाती है। यह सिद्धान्त प्रायः दो बातों पर आधारित होता है—एक तो प्रत्येक असामान्य या विशेष (Extraordinary or special) प्रस्ताव उपस्थित सदस्यों के ३/४ बहुमत द्वारा पास होता है; दूसरे सभी सदस्य कम्पनी के नियम एवं अन्तर्नियमों के आधार पर ही कार्य करते हैं। यद्यपि बहुमत की प्रधानता ही सर्वमान्य एवं अटल होती है और उसकी शक्ति का प्रयोग सदैव कम्पनी के लाभार्थ ही होना चाहिए, उसे व्यक्तिगत प्रयोग में लाना किसी प्रकार भी उचित नहीं होता। बहुमत कभी भी छल कपट या अल्प संख्यकों पर अनाचार के कार्यों में अपनी शक्ति का उपयोग नहीं कर पाता और न वह किसी अवैधानिक या अपनी शक्ति से परे (Ultra Vires) का कार्य ही करने में समर्थ होता है।

सुझाव (Motions) :—'सुझाव' से अभिप्राय एक ऐसे विचार से होता है जो बहुधा सभाओं में चर्चा करने तथा निर्णय लेने के लिए रखा जाता है; परन्तु 'प्रस्ताव' एक प्रकार की नियमित घोषणा होती है जोकि सभा में सदस्यों की राय लेकर की जाती है। जब सुझाव में किसी प्रकार का संशोधन नहीं किया जाता, सुझाव के शब्द ही प्रस्ताव के शब्द हो जाते हैं। वास्तव में तो 'सुझाव' एक 'प्रस्तावित प्रस्ताव'

(Proposed resolution) ही होता है। 'सुझाव' को कभी-कभी "सभा में विचारार्थ दिया हुआ प्रश्न" भी कहते हैं।

सभाओं में 'सुझाव' रखने की विधि का उल्लेख सदैव अन्तर्नियमों में कर दिया जाता है और सदैव उन नियमों का पालन करना आवश्यक होता है। सभी सुझाव सूचना के अनुसार ही बनाये जाने चाहिए। इसके साथ ही वे ऐसी भाषा में लिखे हुए होने चाहिए जिससे उन पर सुगमता से निर्णय लिया जा सके। वे लिखित होने चाहिए तथा उस पर प्रस्तावक व्यक्ति के हस्ताक्षर कराकर अध्यक्ष (Chairman) को देना चाहिए। साधारणतया सुझावों का समर्थन किया जाता है, परन्तु यदि अन्तर्नियमों में इस समर्थन का आदेश नहीं है तो इसकी आवश्यकता नहीं होती।

प्रायः मूल प्रस्तावों में संशोधन हुआ करते हैं, परन्तु वे संशोधन सदैव सभा की सीमा (Scope) के अन्तर्गत ही होने चाहिए। संशोधन का पुनः संशोधन मान्य नहीं होता इससे उलझन एवं आपत्ति खड़ी हो जाती है। अध्यक्ष यदि यह देखता है कि सुझाव का विभाजन कर देने से सभा की कार्यवाही में सुगमता हो जायगी, तो वह उसे दो भागों में बाँट देता है। जब किसी सुझाव में संशोधन होना है, तो वह संशोधित मूल सुझाव, वास्तविक कहलाता है और उस पर पुनः चर्चा की जाती है तथा संशोधन प्रस्तुत किया जाता है। कोई भी सुझाव सभा की समाप्ति से पहले वापिस नहीं लिया जाता।

संशोधन (Amendments) —मूल सुझाव में जब किसी प्रकार का परिवर्तन किया जाता है तो वह "संशोधन" कहलाता है। यह संशोधन प्रायः तीन प्रकार से होता है—या तो कुछ शब्द और जोड़ दिये जाते हैं या कुछ शब्द निकाल देते हैं या दोनों प्रकार के कार्य किये जाते हैं। यद्यपि यह आवश्यक होता है कि प्रत्येक संशोधन लिखित रूप में, हस्ताक्षर करके पुनः अध्यक्ष को दिया जाना चाहिए, परन्तु यदि ऐसा कोई आयोजन नहीं होता तो वे बिना किसी प्रकार की सूचना दिए हुए मौखिक रूप से भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

संशोधन सदैव मूल सुझाव (Original motion) के समान ही होना चाहिए। वह मुख्य प्रश्न के उपस्थित होने के पूर्व ही प्रस्तुत किया जाना चाहिए। वह केवल नकारात्मक (Negative) ही न होकर सूचना की सीमा के अन्तर्गत होना चाहिए। कोई भी संशोधन सभा की अनुमति के बिना वापिस नहीं लिया जाता। यदि कभी अनेक संशोधन उपस्थित हो जाते हैं तो उन पर किस क्रम से विचार किया जायगा, यह अध्यक्ष निश्चित करता है।

प्रत्येक संशोधन पर यथोचित वाद विवाद करने का अवसर सभा में अध्यक्ष को देना चाहिए। यदि संशोधन स्वीकृत हो जाता है तो मूल सुझाव को संशोधित

करके तथा उस वास्तविक सुझाव को पुन चर्चा एवं संशोधन के लिए प्रस्तुत करना चाहिए। वह संशोधित सुझाव ही "पृथक् या स्वतन्त्र सुझाव" कहलाता है जिसमें कि पुन संशोधन हो सकता है।

वक्ता (Speakers) किसी भी सुझाव के संशोधन पर प्रत्येक उपस्थित सदस्य को बोलने का अधिकार होता है, परन्तु वह केवल एक बार ही अपने विचार प्रकट कर सकता है। इसके साथ ही संशोधन-प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति को प्रत्येक के उत्तर देने का अधिकार होता है। प्रत्येक वक्ता को सभा में बोलते समय अध्यक्ष को ही सम्बोधन करना चाहिए। सभा में शान्ति व्यवस्था सम्बन्धी सभी अध्यक्ष के आदेश मान्य होते हैं। एक वक्ता को भाषण देने से पूर्व खड़े होकर प्रत्येक बात अध्यक्ष को सम्बोधित करके ही कहनी चाहिए। उसे अपना भाषण सभा में उपस्थित-विषय तक ही पूर्णत सीमित रखना चाहिए तथा भाषण समाप्त होते ही अथवा अध्यक्ष का जब आदेश हो या वह स्वयं भाषण के लिए जब खड़ा हो तो वक्ता को स्थान ग्रहण कर लेना चाहिए। भाषण देते समय उसकी भाषा अत्यन्त विनम्र तथा वैयक्तिक आक्षेपों से रहित एवं टीका टिप्पणी से परे होनी चाहिए।

चर्चा में अविरोध (Interruption of a Debate)—जब किसी विषय पर चर्चा या वाद विवाद प्रारम्भ होता है तो उस समय निम्न रीति से उसमें रुकावट डाली जाती है —

(क) संशोधन (Amendments) —जब किसी सुझाव पर चर्चा होने लगती है तो उसका संशोधन उपस्थित करके चर्चा में बाधा उत्पन्न की जाती है और जब तक वह संशोधन सभा द्वारा स्वीकृत नहीं होता तब तक और चर्चा नहीं चलती। यदि वह संशोधन बहुमत से स्वीकृत नहीं होता तो मूल सुझाव (Original motion) पर चर्चा पुन प्रारम्भ हो जाती है और यदि वह स्वीकृत हो जाता है तो वह संशोधित सुझाव पृथक् सुझाव" (*Substantive motion*) हो जाता है और उस पर पुन चर्चा आरम्भ हो जाती है।

(ख) पूर्व-प्रश्न (Previous Question) —इस सुझाव के रखने का यह प्रयोजन होता है कि जो चर्चा अभी तक मूल सुझाव पर चल रही है उसे व्यर्थ कर दिया जाय। अत जब कोई सदस्य यह सोचता है कि जिस प्रश्न पर चर्चा चल रही है वह सर्वसाधारण के हितों से सर्वथा विरुद्ध है अथवा इस चर्चा का कोई अच्छा परिणाम नहीं निकलेगा, तब वह यह 'पूर्व प्रश्न' का सुझाव रखता है। इस सुझाव का प्रस्ताव उसी समय होता है जबकि सभा के सामने मूल प्रस्ताव उपस्थित हो जाता है, परन्तु यदि मूल प्रस्ताव के संशोधन पर चर्चा हो रही हो तो उस समय यह सुझाव नहीं रखा जाता।

प्राय इस सुझाव की भाषा यह होती है कि "यह प्रश्न अभी न रखा जाय" (The question be not now put)। जिस समय पूर्व प्रश्न का समर्थन हो जाता है तो यह सभा के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। इसके लिए बहस की आवश्यकता नहीं होती। अन्य कार्यों की अपेक्षा इसे ही प्रमुखता दी जाती है। यदि यह स्वीकृत हो जाता है तो मूल सुझाव की चर्चा भी समाप्त होजाती है और वह पुन सभा में उपस्थित नहीं किया जाता अर्थात् वह सदैव के लिए उठाकर रख दिया जाता है। यदि यह स्वीकृत नहीं होता तो बिना किसी बहस के पुन मूल सुझाव सभा क सम्मुख उपस्थित किया जाता है और उस पर चर्चा आरम्भ होती है।

(ग) द्वितीय कार्य (Next Business) —इस सुझाव का मूल उद्देश्य मुख्य प्रश्न पर वाद विवाद न होन देना है। यह सुझाव पूर्व प्रश्न की अपेक्षा किसी भ समय किया जा सकता है अर्थात् जब मूल-सुझाव के संशोधन पर बहस चल रही हो, उस समय भी यह सुझाव किया जा सकता है। इस सुझाव के शब्द प्राय इस प्रकार होते हैं—'यह सभा अन्य कार्यों पर विचार करे" (That the meeting pass on to the next business)।" यह सुझाव प्रस्तावित होकर तथा समर्थित होकर बिना किसी प्रकार का बहस हुए सभा के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। यदि यह स्वीकृत हो जाता है तो मूल सुझाव की आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु अस्वीकृत होने पर चर्चा पुन प्रारम्भ हो जाती है।

(घ) समाप्ति (Closure) —कभी कभी जब सभा में अधिक देर तक चर्चा चलता रहती है और कोइ सदस्य जब यह देख लेता है कि इस प्रश्न पर काफी बहस हो चुकी है तो सभा के मत से ही वह 'समाप्ति' का सुझाव रख सकता है। इस सुझाव के रखने का मन्तव्य यही होता है कि समय की बर्बादी रोकी जाय तथा प्रश्न पर निश्चित मत लिये जायें। इस सुझाव की भाषा प्राय यह होती है—'अब प्रश्न पर मत लिए जायें (That the question be now put)" इसका समर्थन होते ही अध्यक्ष इस सुझाव पर मत लेता है, परन्तु किसी प्रकार की बहस नहीं की जाती। यदि यह सुझाव स्वीकृत हो जाता है तो मुख्य प्रश्न सभा के सम्मुख रखा जाता है, और यदि स्वीकृत नहीं होता तो चर्चा पुन चालू हो जाती है। इस सुझाव का मूल उद्देश्य मुख्य प्रश्न को समाप्त करना नहीं होता, अपितु उस पर शीघ्र निर्णय प्राप्त करना होता है अर्थात् मुख्य प्रश्न पर शीघ्र निर्णय प्राप्त हो जाय यही इस सुझाव का प्रयोजन है।

(ङ) विलम्बन (Postponement) —यह विलम्बन का सुझाव प्राय स्थगन (Adjournment) स सर्वथा पृथक् होता है। यह बहुधा उस समय रखा जाता है जबकि चर्चा में मत विभिन्नता पर्याप्त मात्रा में हो जाती है और जब कोई सदस्य

किसी विषय की अधिक जानकारी प्राप्त करना चाहता है। इसकी भाषा प्राय इस प्रकार होती है—'इस सुझाव की चर्चा दिनाङ्क तक स्थगित की जाय" (That further consideration of the motion be postponed until)" इस सुझाव के प्रस्तावक को उत्तर देने का अधिकार होता है, इसके उपरान्त ही इस पर मत लिए जाते हैं। यदि यह स्वीकृत होजाता है तो एक निश्चित तिथि तक चर्चा स्थगित होजाती है और यदि यह स्वीकृत नहीं होता तो चर्चा चलती रहती है।

(च) स्थगन (Adjournment) —मूल प्रश्न का प्रस्तावक ही इस सुझाव के बारे में उत्तर दे सकता है। इस सुझाव के द्वारा सभा को स्थगित किया जाता है। अत इसमें सभा अथवा चर्चा की अवधि के स्थगित करने का स्पष्ट उल्लेख रहना चाहिए, साथ ही आगामी तिथि भी स्पष्ट लिखनी चाहिए। केवल सभा का अध्यक्ष सभा की राय से इस सुझाव द्वारा सभा स्थगित कर सकता है। इस सुझाव के शब्द प्राय यह होते हैं कि 'सभा अब स्थगित की जाय।" अध्यक्ष को सभा की सम्मति से इस सुझाव द्वारा सभा को स्वयं स्थगित करने का अधिकार होता है।

(छ) अव्यवस्था (Disorder) —कभी कभी सदस्यों के अनुचित व्यवहार द्वारा भी सभा की चर्चा में बाधा उत्पन्न कर दी जाती है। इस तरह जब सभा में अत्यधिक अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है, तो पारस्परिक मनोमालिन्य को दूर करने एवं शांति स्थापन करने के लिए सभा कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दी जाती है।

टिप्पणी —कम्पनी की सभाओं में जहाँ पर लेखाओं की स्वीकृति या अस्वीकृति के लिए सभा बुलाई जाती है, वहाँ पूर्व प्रश्न (Previous question) तथा द्वितीय कार्य (Next Business) वाले सुझाव महत्त्वपूर्ण नहीं होते, क्योंकि इन सुझावों द्वारा सभा की वह कार्यवाही ही रुक जाती है जिसके लिए वह बुलाई गई है।

व्यापक सभाओं की सूचनायें (Notices of General Meetings)

सूचनाओं का तैयार करना कम्पनी के कार्यवाह का महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य होता है। जहाँ पर कि प्रबन्ध अभिकर्त्ता ही कार्यवाह (Secretary) का काम करता है वहाँ बहुधा सूचनाओं पर अनेक प्रकार से हस्ताक्षर किये जाते हैं। नीचे उनके कुछ नमूने दिये जाते हैं —

(क) सचालक-सभा की आज्ञा से—	(ख) सचालक सभा की आज्ञा से–
क० लि०	एण्ड कं० लि०
प्रबन्ध अभिकर्ता।	प्रबन्ध-अभिकर्ता।

(ख) संचालक-सभा की आज्ञा से—
....क लि०
रामलाल
प्रबन्ध-संचालक।
प्रबन्ध-अभिकर्त्ता।

(ग) सचालक-सभा की आज्ञा से—
.................क० लि०
प्रबन्ध-अभिकर्त्ता।
रामलाल
प्रबन्ध-सचालक।

(ङ) संचालक-सभा की आज्ञा से—
रामलाल
प्रबन्ध संचालक।

(च) सचालक-सभा की आज्ञा से—
रामलाल
कार्यवाह या प्रबन्धक।

वैधानिक सभा की सूचना (Notices of Statutory Meeting) :—

दी स्वदेशी कम्पनी लिमिटेड

यह सूचित किया जाता है कि कम्पनी-विधान १६१३ की धारा ७७ के अनुसार उपर्युक्त कम्पनी की वैधानिक सभा (Statutory meeting) कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय; २५—सिविल लाइन्स, आगरा में सोमवार दिनाक १२ मार्च १६४५ को सायंकाल ३-३० बजे निम्नलिखित कार्य के लिए होगी :—

(१) वैधानिक वृत्तलेख (Report) का विचार।
(२) कम्पनी तथा सम्पत्ति-विक्रेता मैसर्स .... के बीच हुए अनुबन्ध (Contract) के सशोधन की मान्यता।
(३) कम्पनी के निर्माण तथा वैधानिक वृत्तलेख सम्बन्धी बातों की चर्चा।

आगरा, १५ फरवरी १६४५ ई० संचालक-सभा की आज्ञा से,

या

यह सूचित किया जाता है कि कम्पनी विधान १६१३ की धारा ७७ के अनुसार कम्पनी की वैधानिक सभा, कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय; २५—सिविल लाइन्स, आगरा में सोमवार दिनाक १२ मार्च १६४५ को सायंकाल ३-३० बजे होगी। उसमें वैधानिक वृत्त-लेख तथा उक्त विधान की धारा से सम्बन्धित अन्य बातों पर विचार किया जायगा।

सचालक-सभा की आज्ञा से

आगरा, १६ फरवरी १६४५ ई०

साधारण कार्य के लिये होने वाली वार्षिक व्यापक-सभा की सूचना
(Notice of Annual Meeting for doing only ordinary business)

स्वदेशी कम्पनी लिमिटेड

यह सूचित किया जाता है कि कम्पनी की चतुर्थ वार्षिक व्यापक सभा का

अधिवेशन कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय, २५—सिविल लाइन्स, आगरा में सोमवार १२ मार्च १६४२ ई० को सायकाल ३-३० बजे निम्नलिखित कार्यों के लिये होगा —

(१) सचालकीय वृत्त लेख (Report) प्राप्त करना तथा १६४४ के अकेक्षित वार्षिक लेखाओं को मान्यता देना।
(२) लाभांश की घोषणा करना,
(३) सचालकों का निर्वाचन करना,
(४) अकेक्षकों की नियुक्ति एव उनका पारिश्रमिक निश्चित कर विचार करना,
(५) सभा के सामने उपस्थित होने वाली अन्य कार्यवाही पर विचार करना।

कम्पनी की अश हस्तातरण पुस्तिका २६ फरवरी १६४५ स १२ मार्च १६४५ तक (दोनों दिन सम्मिलित) बन्द रहेगी।

सचालक सभा की आज्ञा से—

आगरा १५ फरवरी १६४५ ई०

टिप्पणी—स्वीकृत होते ही लाभांश २० मार्च १६४५ या उसके उपरान्त उन समस्त अशधारियों को बैंक लिमिटेड से मिलेंगे जिनके नाम १२ मार्च १६४५ तक कम्पनी के रजिस्टर में होंगे तथा जिनको लाभांश अधिपत्र (*Dividend warrants*) भेजे जायेंगे। अशधारियों से विनम्र निवेदन है कि अपने पते का कोई भी परिवर्तन तुरन्त ही अपने लेखा पृष्ठ अंकित करते हुए कम्पनी को सूचित करें।

साधारण एव विशेष दोनों कार्यों के निमित्त होने वाली वार्षिक व्यापक सभा की सूचना (Notice of Annual General Meeting for doing both ordinary and special business) —

स्वदेशी बीमा कम्पनी लिमिटेड

सूचित किया जाता है कि कम्पनी की चतुर्थ वार्षिक व्यापक सभा कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय, २५—सिविल लाइन्स, आगरा में सोमवार दिनाङ्क १२ मार्च १६४५ को सायकाल ३ ३० बजे निम्नलिखित कार्यों के लिए होगी—

साधारण कार्य —

(१) सन् १६४४ के वार्षिक लेखे की प्राप्ति एव उस पर विचार,
(२) लाभांश की घोषणा,
(३) सचालकों का निर्वाचन
(४) अकेक्षकों (Auditors) की नियुक्ति एव उनके पारिश्रमिक का निश्चय।

विशेष कार्य के लिए निम्नलिखित विशेष प्रस्ताव (Special Resolution) बिना परिवर्तन किए हुए या परिवर्तन के साथ मान्यता देने के लिए विचारार्थ रक्खा जायगा और यदि उचित होगा तो स्वीकार कराया जायगा :—

"कम्पनी के सङ्घ-अन्तर्नियमों के नियम १३४ (११) (d) की प्रथम पंक्ति में "प्रथम" तथा "बंधक" (Mortgage) शब्द के बीच में "द्वितीय या आगामी" (Second or subsequent) शब्द बढ़ाये जायेंगे तथा उपर्युक्त "प्रथम" शब्द के उपरान्त अर्द्ध-विराम (Comma) लगाकर "ऋण-पत्रों" (Debentures) और 'का' (of) के मध्य में "चाहे रुपया या विलायती मुद्रा-चलन में निर्गमित" (Whether issued in rupee or sterling currency) शब्द बढ़ाये जायेंगे। उसी प्रकार तीसरी अन्तिम पंक्ति में "शीघ्र आने वाली प्रति" तथा "वर्ष के मध्य में" जो "१०" का अंक है उसके स्थान पर "५" का अंक किया जायगा।"

कम्पनी की अंश-हस्तान्तरण-पुस्तकें दिनाङ्क २६ फरवरी १९४५ से १२ मार्च १९४५ (दोनों दिन सम्मिलित) तक बन्द रहेंगी।

सभा की आज्ञा से—

आगरा, दिनाक ८ फरवरी १९४५ ई०

साधारण सभा के उपरान्त शीघ्र होने वाली असामान्य व्यापक-सभा की सूचना (Notice of Extraordinary General meeting held immediately after ordinary meeting):—

स्वदेशी बीमा कम्पनी लिमिटेड

यहाँ पर सूचित किया जाता है कि उक्त कम्पनी की असामान्य व्यापक-सभा (Extraordinary General Meeting) कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय; २५ सिविल लाइन्स, आगरा में सोमवार दिनाक १२ मार्च १९४५ ई० ई० को सायकाल ४-३० बजे चतुर्थ साधारण व्यापक-सभा के पश्चात् शीघ्र ही उसी दिन होगी जिसमें अंत में जुड़ा हुआ (Subjoined) प्रस्ताव विशेष-प्रस्ताव (Special Resolution) के रूप में रक्खा जायगा।

प्रस्ताव के शब्द उपर्युक्त नं० ३ में दिये हुए प्रस्ताव की ही भाँति होंगे।

सभा की आज्ञा से—

आगरा, ८ फरवरी १९४५ ई०

टिप्पणी—उपर्युक्त सूचना में दिये हुए "चतुर्थ साधारण व्यापक सभा के पश्चात् शीघ्र ही उसी दिन" शब्दों की असामान्य व्यापक-सभा की सूचना में उस समय बिल्कुल आवश्यकता नहीं होती, जिस समय यदि असामान्य व्यापक सभा उसी दिन नहीं होती जिस दिन कि साधारण व्यापक सभा होने वाली है।

के रजिस्टर्ड में होने वाली कम्पनी की चतुर्थ वार्षिक व्यापार सभा का विवरण ।

उपस्थित — 　　अध्यक्ष (Chairman)

} सचालक (Director)

तथा १५ अन्य सदस्य

कम्पनी अकेक्षक

२५—सभा की सूचना (Notice of Meeting)— 　दिनाक ८ फरवरी १६४५ को होने वाली सभा की सूचना दी गई ।

२६—लेखाओं की स्वीकृति (Adoption of Accounts) 　अध्यक्ष के यह प्रस्ताव करने पर कि सन् १८४४ वाले कम्पनी के अकक्षित लेखे स्वीकार किए जायँ, श्री 　ने इसका समर्थन किया ।

२७—लाभाश की घोषणा (Declaration of Dividend)— 　श्री 　के सुझाव का श्री 　द्वारा समर्थन होने के उपरात यह प्रस्ताव किया गया कि सचालकों की सिफारिश के अनुसार १६४४ वर्ष के लिए कम्पनी के २००० अशों पर ५) रु० प्रति अश की दर स लाभाश की घोषणा की जाय और यह लाभाश उन अंश-धारियों को दिया जाय जिनके नाम १२ मार्च १६४५ तक कम्पनी के सदस्य रजिस्टर में अकित हो चुके हों ।

२८—सचालकों का निर्वाचन (Election of Directors) 　श्री 　के सुझाव का श्री 　द्वारा अनुमोदन होने के उपरान्त यह प्रस्ताव किया गया कि श्री 　को सचालकों के लिए पुन निर्वाचित किया जाय तथा श्री 　को कम्पनी का संचालक चुना जाय ।

२९—अंकेक्षकों की नियुक्ति (Appointment of Auditors) श्री............ के सुझाव का श्री............ द्वारा समर्थन होने के उपरान्त यह निश्चय किया गया कि मैसर्स............ को ...... रु० पारिश्रमिक पर इस चालू वर्ष के लिए अंकेक्षक नियुक्त किया जाय।

३०—अन्तर्नियमों में परिवर्तन (Alteration of Articles) अध्यक्ष के सुझाव का श्री ...... द्वारा समर्थन होने के उपरान्त निम्न-लिखित विशेष प्रस्ताव स्वीकार किया गया —

" (पूर्व की ही भाँति)

सचालक-सभाएं (Meeting of Directors)

कम्पनियों का प्रबन्ध प्रायः संचालकों के ही हाथ में रहता है और जब वे इस प्रबन्ध-कार्य के लिए सामूहिक रूप से एकत्रित होकर विचार-विमर्ष करते हैं, वही सचालक-सभा कहलाती है। विभिन्न कम्पनियों की भिन्न-भिन्न कार्य-प्रणाली होने के कारण इन सचालक-सभाओं में भी अनेक प्रकार के कार्य होते हैं। प्राय. यह देखा जाता है कि एक कम्पनी में जो कार्य संचालकों के उपर होता है, वही दूसरी कम्पनी में प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के सिर पर मढ दिया जाता है या उन्हें प्रबन्ध-सचालक किया करते हैं। इस सचालक-सभा की कार्यवाही का यथार्थ रूप कम्पनी के सघ-अन्तर्नियमों पर निर्भर रहता है। प्रायः इस सभा के यही कार्य होते हैं—जैसे अंशों का वितरण, अंशों का याचना, *अंशों की अपहृति, कम्पनी की मुद्रा (Seal) का स्थापन, ऋण पत्रों का निर्गमन,* लाभ का विभाजन इत्यादि।

सचालकों की सभा में विचारार्थ उपस्थित होने वाले कार्य सदैव बहुमत द्वारा स्वीकृत होते हैं, परन्तु कुछ मामलों में नियमानुसार सचालकों का वैधानिक बहुमत होना ही पर्याप्त होता है। जैसे प्रबन्ध-अभिकर्त्ता, तथा कम्पनी के मध्य में किसी प्रकार का अनुबन्ध (Contract) उपस्थित एवं मताधिकारी सचालकों के १ ४ बहुमत से ही स्वीकृत किया जा सकता है। इसी तरह किसी कम्पनी का प्रबन्ध-अभिकर्त्ता उस समय तक अपने अधीनस्थ कम्पनी के धन का व्यय दूसरी कम्पनी के ऋण-पत्र या अंश खरीदने में नहीं कर सकता जब तक कि क्रेता-कम्पनी के समस्त सचालकों की अनुमति उसे प्राप्त न हो। उपर्युक्त इन मामलों में इसी कारण सचालकों का केवल बहुमत पर्याप्त नहीं होता।

सचालक सभायें निश्चित अवधि पर होती हैं। प्रायः इन सभाओं की कार्य-पद्धति के लिए अन्तर्नियमों (Articles) में आयोजन रहता है और संचालक लोग

सभाओं द्वारा या पत्र-व्यवहार द्वारा उन्हीं आयोजित कार्यों को करने के अधिकारी होते हैं। इन सभाओं की कार्यपद्धति सामान्य स्वरूप की होती है और कम्पनी के अन्तर्नियमों पर ही आधारित रहती है तथा कभी-कभी संचालकों के अपने निजी प्रस्ताव द्वारा भी निश्चित कर ली जाती है।

इन संचालक-सभाओं का कार्यक्रम प्रायः कम्पनी के कार्यवाह (Secretary) अध्यक्ष से परामर्श करके तैयार करते हैं। इसको तैयारी करते समय कार्यवाह को अपने मस्तिष्क में कम्पनी के अन्तर्नियमों में नियोजित समस्त अधिकारों का ध्यान रखना चाहिए, ताकि संचालकों द्वारा कोई ऐसा कार्य न हो जाय जो उनकी शक्ति से सर्वथा परे हो और जिसका उल्लेख कम्पनी के अन्तर्नियमों में न हो। सभा-सम्बन्धी सूचना तथा कार्यक्रम के तैयार करने में इसी कारण कार्यवाह को पर्याप्त समय लगाना पड़ता है। बहुधा संचालक-सभा के लिए कभी-कभी कम्पनी के कार्यों का संक्षिप्त विवरण तैयार करना पड़ता है, आवश्यक प्रलेख इकट्ठे करने पड़ते हैं तथा सभा के लिए आवश्यक सूचनायें एकत्रित करनी पड़ती हैं। इस प्रकार कम्पनी के कार्यवाह को सभा-सम्बन्धी कितनी ही सूचनाओं से अवगत होकर अपना कर्तव्य करना पड़ता है।

अतः सभा से पूर्व, सभा होते समय तथा उसके उपरान्त एक कार्यवाह के निम्नलिखित कर्तव्य होते हैं —

(१) सर्वप्रथम वह सभा का कार्यक्रम तैयार करता है तथा संचालकों के पास सभा की सूचना भेजता है।

(२) कम्पनी के अन्य अधिकारियों—जैसे अंकेक्षकों, वैधानिक सलाहकारों इत्यादि तथा अन्य पुरुषों जिनसे कि संचालक लोग सलाह लेना चाहते हैं—की उपस्थिति के लिए प्रबन्ध करता है।

(३) सभा होते समय उसके लिए आवश्यक पर्चों तथा अन्य प्रलेखों जैसे हस्ताक्षर के लिए चैक, हस्तान्तरण के लिए हस्तान्तरण-पत्र, हस्ताक्षर होने तथा मुद्रा अंकित होने के लिए अंश-प्रमाणपत्र तथा हस्ताक्षर होने के लिए अन्य कोई अनुबन्ध आदि तैयार रखता है।

(४) सभा-स्थान की समुचित व्यवस्था को देखता है तथा संचालकों के लिए आवश्यक लेखन-सामग्री का प्रबन्ध करता है।

(५) संचालक-उपस्थिति-पुस्तक में सभी उपस्थित संचालकों के हस्ताक्षर कराता है। धारा ८६-१ के अनुसार यह अति आवश्यक है क्योंकि इसी के द्वारा यह पता चलता है कि कौन संचालक अनुपस्थित रहा, और यदि कोई संचालक सभा से क्रमानुगत ३ सभाओं में अथवा तीन-तीन मास के लिए बिना आज्ञा के अनुपस्थित रहता है तो उसका स्थान एवं पद रिक्त माना जाता है।

(६) वह गत-सभा का विवरण पढ़ता है तथा उन पर किस प्रकार की कार्यवाही की गई है इसकी भी व्याख्या करता है।

(७) वह सचालकों के निरीक्षण, हस्ताक्षर, मुद्राकन आदि के लिये आवश्यक प्रलेखों (Documents) को उपस्थित करता है।

(८) सभा में उपस्थित रहकर वह सभा की समस्त कार्यवाही पर समुचित टिप्पणियाँ लिखता रहता है।

(९) वह सभा समाप्त होते ही सभा की कार्यवाही का विवरण तैयार करता है तथा सभा की आज्ञानुसार कार्य करता है।

सूचना (Notice) —कम्पनी के प्रत्येक सचालक के समीप सभा होने के आशय का समुचित सूचना भेजनी चाहिए। उस सूचना में दिनाक, समय, स्थान तथा सभा में होने वाले कार्यों का स्वरूप लिखा हुआ रहना चाहिए। यदि ये सभायें निश्चित तिथि पर ही होती रहती हैं जैसे प्रत्येक मास की पहली या १६ वीं तारीख को होती हैं तो ऐसी दशा में सूचनाओं के भेजने की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु कार्यवाह केवल एक एक स्मरण-पत्र (Reminder) प्रत्येक सचालक के समीप भेज देता है।

सचालक-सभाओं में प्रयोग की जाने वाली बातें (Material for use of Board Meetings) —सचालक-सभा की कार्यवाही को सुगम बनाने के लिए यह आवश्यक होता है कि कार्यवाह निम्नलिखित पुस्तकों एवं प्रलेखों को सभा के लिए पहले से ही तैयार रखे जिससे सचालकों को सभा होते समय कोई आपत्ति न उठानी पड़े।

कम्पनी के सीमा नियम तथा अन्तर्नियमों की निर्देशक युक्त (Indexed) एक प्रतिलिपि, कम्पनी की मुद्रा तथा मुद्रा पुस्तक, सचालकों की उपस्थिति पुस्तक (Attendance Book), सचालकों की विवरण पुस्तक (Minute Book), अधिकोष बचत पुस्तक (Bank Pass Book), हस्तान्तरण पुस्तक, हस्तान्तरण पत्र तथा नवीन अंश प्रमाणपत्र, इसके अतिरिक्त सभा के समय काम में आने वाले आवश्यक पत्र या प्रलेख आदि।

उपर्युक्त सामग्री द्वारा ही यह पता चल जाता है कि सचालक सभा में किन किन वस्तुओं की आवश्यकता होती है। किसी विशेष परिस्थिति में यदि अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता होती है तो कार्यवाह उसकी भी व्यवस्था करता है। कार्यवाह जिस समय सभा का कार्यक्रम तैयार करता है तो उस उसी समय सभा में अपेक्षित समस्त आवश्यक वस्तुओं की सूची तैयार कर लेना चाहिये तथा उनके एकत्रित करने का भी प्रबन्ध कर लेना चाहिए क्योंकि यदि वह सावधानी के साथ समस्त सामग्री एकत्रित कर लेता है तो पुनः सभा में कोई भी आपत्ति उपस्थित नहीं हो सकती और न किसी प्रकार की देरी ही हो सकती है।

विवरण (Minutes) —सचालक सभाओं का विवरण सदैव व्यापक सभाओं के विवरण की ही भाँति लिखना चाहिए। यदि सचालक-लोग किसी कार्य का निर्णय पत्र व्यवहार द्वारा कार्यवाह के समीप भेजते हैं तो उसका स्पष्ट उल्लेख सचालकीय विवरण पुस्तक (Director's Minute Book) में इस प्रकार करना चाहिए कि यह *निर्णय पत्र व्यवहार द्वारा प्राप्त हुआ है तथा यह सभा में प्राप्त नहीं हुआ।*

सचालक-सभाओं का कार्य क्रम तथा विवरण

(Agenda and Minutes of Director's Meetings)

सचालकों की प्रथम सभा (First Meeting of Directors)

कार्य क्रम (Agenda)

१—निर्माण का प्रमाण पत्र।
२—प्रबन्ध अभिकर्त्ता की नियुक्ति।
३—अधिकोषिकों (Bankers) की नियुक्ति।
४—अकेक्षकों की नियुक्ति।
५—कम्पनी की सार्व मुद्रा (Common Seal)।
६—विक्रेताओं (Vendors) के साथ अनुबन्ध।
७—अंशों का अभिगोपन (Underwriting)
८—विवरण-पत्रिका (Prospectus) का निर्माण।

विवरण (Minutes)

स्वदेशी कम्पनी लिमिटेड

सोमवार दिनाङ्क १२ मार्च १९४५ के दोपहर के १२ बजे कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय में होने वाली सचालकों की प्रथम सभा का विवरण।

उपस्थित   अध्यक्ष (Chairman)

} सचालक (Directors)

१—सस्थापन का प्रमाण पत्र (Certificate of Incorporation)	कम्पनी के वैधानिक सलाहकार श्री ने सचालकों के निरीक्षण के निमित्त कम्पनी का सस्थापन प्रमाणपत्र न० ६७८४५ दिनाङ्क उपस्थित किया।
२—प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की नियुक्ति	प्रस्तावित हुआ कि मैसर्स प्रेम एण्ड कम्पनी

(Appointment of Managing Agents)

दिनाङ्क ······ से अन्तर्नियमों में निर्दिष्ट निबन्धों तथा कम्पनी और श्री रामलाल, श्री श्यामलाल तथा श्री मोहनलाल जो प्रेम एण्ड क० के नाम से कार्य करते हैं —के बीच में हुए निबन्ध (Agreement) के अनुसार कम्पनी के प्रबन्ध-अभिकर्त्ता नियुक्त किए जायें। इसके साथ ही उक्त निबन्ध को मान्यता दी जाय तथा कम्पनी की ओर से श्री तथा श्री (जोकि सचालक हैं) के हस्ताक्षर कराये जायँ।

३—अधिकोषिकों की नियुक्ति (Appointment of Bankers)

प्रस्तावित हुआ कि बैंक लिमिटेड कम्पनी का अधिकोषिक (Bankers) नियुक्त किया गया। इसके साथ ही उक्त बैंक को कम्पनी के प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं द्वारा कम्पनी की ओर से हस्ताक्षर किये हुए कम्पनी के लेखे सम्बन्धी समस्त चैकों के विकलन (Debit) करने का अधिकार है तथा समस्त चैकों और अन्य विलेखों (Instruments) जिन पर पृष्ठांकित नहीं हुआ है, उन पर कम्पनी की ओर से प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को पृष्ठांकित (Endorsement) करने का अधिकार है।

४—अंकेक्षकों की नियुक्ति (Appointment of Auditors)

प्रस्तावित हुआ कि मैसर्स रजिस्टर्ड लेखापाल (Registered Accountants) को इस वर्ष के लिए ······ रु० पारिश्रमिक पर कम्पनी का अंकेक्षक नियुक्त किया जाय।

५—सार्व-मुद्रा (Common Seal)

प्रस्तावित हुआ कि यह मुद्रा (जिसका कि चिह्न इस विवरण पर भी अंकित है)

	कम्पनी की सार्वमुद्रा के रूप में अपनाई जाय। सुरक्षा के लिए इसकी चाबी न० १ अध्यक्ष के पास रहे तथा चाबी नं० २ प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के पास रक्खी जाय और इसकी प्रति-चाबियाँ (Duplicate Keys) कम्पनी की बैंक में रखी जायँ।
६—विक्रताओं के साथ निर्बन्ध (Agreement with Vendors)	प्रस्तावित हुआ कि श्री तथा श्री एवं कम्पनी के मध्य जो निर्बन्ध (Agreement) दिनाक को मैसर्स के व्यवसाय को दिनाक से चालू व्यवसाय के रूप में कम्पनी को बेचन के निमित्त हुआ था उसे मान्यता दी जाय तथा उस पर श्री तथा श्री (जोकि कम्पनी के सचालक हैं) के हस्ताक्षर कराये जायें।
७—अंशों का अभिगोपन (Underwriting of shares)	प्रस्तावित हुआ कि श्री ने कम्पनी के २,००० अंशों के अभिगोपन के निमित्त जो निर्बन्ध किया था उसे मान्यता दी जाय तथा कम्पनी की स्वीकृति की सूचना उन्हें भेजी जाय।
८—विवरण-पत्रिका का निर्माण (Draft Prospectus)	प्रस्तावित हुआ कि बनी हुई विवरण पत्रिका को मान्यता दी जाय तथा तिथि को उसका निर्गमन किया जाय और समस्त सचालकों के हस्ताक्षर कराये जायँ तथा इसकी एक प्रतिलिपि सचालकों के हस्ताक्षरों सहित सयुक्त स्कन्ध कम्पनियों के रजिस्ट्रार के पास प्रस्तुत की जाय।

सचालको की आगामी सभा (Subsquent meeting of Directors)

कार्यक्रम (Agenda)

१—गत सभा का विवरण।

२—श्री डब्ल्यू, सचालक का त्याग-पत्र ।
३—रिक्त पद की पूर्ति के लिए सचालक का नियुक्ति
४—हस्तान्तरण समिति का वृत्त-लेख ।
५—अधिक यन्त्र का क्रय ।
६—सचिति-कोष का विनियोग ।
७—आन्तरिक लाभाश की घोषणा ।
८—सभा-समिति की नियुक्ति

विवरण (Minutes)
स्वदेशी कम्पनी लिमिटेड

शुक्रवार दिनाङ्क २२ अगस्त १९४७ को दोपहर के १२ बजे कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय में होने वाली सचालकों की सभा का विवरण ।

उपस्थित———————————— अध्यक्ष ।

————————
————————
———————— } सचालक
————————

———————— वैधानिक सलाहकार
(Legal Adviser)

८१—गत सभा का विवरण (Minutes of Previous Meeting) — गत सचालक-सभा दिनाङ्क " का विवरण पढ़ा गया तथा उसका दृढ़ीकरण किया गया।

८२—श्री डब्ल्यू का त्याग पत्र (Resignation of Mr W) — यह प्रस्तावित हुआ कि श्री डब्ल्यू, सचालक का दिनाङ्क का त्याग-पत्र खेद सहित स्वीकार किया जाय तथा आज की तिथि से कार्य रूप में परिणत किया जाय। सचालक-सभा उनके द्वारा की गई कंपनी की अमूल्य सेवाओं की प्रशसा करती है।

८३—रिक्त स्थान की पूर्ति (Filling of Casual Vacancy) — प्रस्तावित हुआ कि श्री ऐक्स को श्री डब्ल्यू सचालक के स्थान पर सचालक नियुक्त किया जाय (जिन्होंने कि त्याग पत्र दे दिया है)। यह नियुक्ति श्री डब्ल्यू के कार्यकाल की शेष अवधि के लिए अर्थात्

जब तक कि सन् १९४६ में वार्षिक व्यापक सभा हो तब तक के लिए की जाती है।

८४—हस्तान्तरण-समिति का वृत्त-लेख (Report of Transfer Committee)

सभा की निश्चित हस्तान्तरण समिति के वृत्त लेख (Report) पर विचार किया गया। उसमें १५ अंशधारियों के २५० अंशों के हस्तान्तरण का उल्लेख था जिनमें से श्री आर० को छोड़कर समस्त हस्तान्तरण स्वीकार किये गये तथा उन्हें कार्यान्वित भी किया गया। यह भी प्रस्तावित हुआ कि उक्त वृत्त लेख (Report) भी स्वीकार किया जाय।

८५—अधिक यन्त्र का क्रय (Purchase of Additional Machinery)

यह प्रस्तावित हुआ कि यन्त्र के रु० अनुमानित कीमत पर खरीदने के लिए प्रबन्ध अभिकर्त्ता का सुझाव स्वीकार किया जाय तथा उन्हें यन्त्र खरीदने के लिए आदेश भेजने का अधिकार भी दिया जाय।

८६—सञ्चित-कोष का विनियोग (Investment of Reserve Fund)

प्रस्तावित हुआ कि कम्पनी के सञ्चित कोष की राशि १,०० ००० रु० में से ३ प्रतिशत विजय बंध १९५७ (Victory Bond 1957) में विनियोग किया जाय, तथा उससे प्राप्त होने वाले व्याज को संचित कोष में जमा किया जाय।

८७—आन्तरिक लाभांश की घोषणा (Declaration of Interim Dividend)

प्रस्तावित किया गया कि कम्पनी के २,००० अंशों पर १९४७ इ० के लिये आयकर (Income tax) रहित ३ रु० प्रति अंश की दर से आन्तरिक लाभांश घोषित किया जाय तथा कम्पनी के सदस्य रजिस्टर में २२ अगस्त १९४७ तक उपस्थित रहने वाले अंशधारियों को ही इसका भुगतान किया जाय।

८८—समिति की नियुक्ति (Appointment of a Committee)

प्रस्तावित हुआ कि सभा की एक समिति नियुक्त की जाय, जिसमें मैसर्स

..................तथा श्री ....
को सभा-सम्वाहक (Convener) के रूप में सम्मिलित किया जाय तथा पूर्वी पजाब में कम्पनी की एक खेरीज शाखा (Retail Branch) खोलने के सुझाव का पूर्णतया परीक्षण करने और आगामी दिसम्बर के अत से पूर्व सभा को रिपोर्ट देने का अधिकार इस समिति को दिया जाय।

लाभांश (Dividends)

लाभाश प्राय कम्पनी का ऐसा लाभ होता है जो उसके अशधारियों में प्रतिशत के आधार पर या कम्पनी के निर्गमित अशों पर प्रति अश की दर से कुछ निश्चित रकम के रूप में बाँटा जाता है। यदि कुछ अश पूर्ण-प्रदत्त (Fully paid) नहीं होते तो बहुधा उन अशों की प्रदत्त-राशि पर ही लाभाश दिया जाता है, उनके अङ्कित मूल्य (Nominal value) पर यह नहीं दिया जाता। परन्तु यह तभी सभव होता है जबकि कम्पनी के अन्तर्नियमों में इसके विपरीत कुछ उल्लेख नहीं होता।

कभी-कभी कुछ अश विशेष श्रेणी के होते हैं जिन्हें लाभाश प्राप्त करने के भी कुछ विशेष अधिकार होते हैं, तो उन अशों के अधिकारों का उल्लेख प्रायः कम्पनी के सघ-सीमा-नियम (Memorandum) में कर दिया जाता है, परन्तु इन समस्त बातों का स्पष्ट उल्लेख सदैव अन्तर्नियमों में ही रहता है और कार्यवाह को लाभाश वितरण करने से पूर्व इन अन्तर्नियमों का अच्छी तरह से अध्ययन करना चाहिए। प्राय लाभाश की स्वीकृति होने पर संचालकों को ही इसकी घोषणा करने का अधिकार होता है तथा वे ही आन्तरिक लाभाशों (Interim dividends) का भुगतान भी करते हैं, परन्तु अन्तिम लाभाश (Final dividend) के भुगतान करने से पूर्व उन्हें कम्पनी की व्यापक सभा में स्वीकृति लेना अनिवार्य होता है। सारिणी 'अ' का नियम ९५ इस दृष्टि से सभी कम्पनियों पर लागू होता है, इसके अनुसार सचालकों द्वारा सिफारिश की गई राशि से लाभाश कभी भी अधिक नहीं होता।

पुन सारिणी 'अ' का नियम ९७, जोकि सभी कम्पनियों के लिए अनिवार्य नहीं बतलाता है कि वर्ष में होने वाले लाभ या अन्य किसी अतिरिक्त लाभ के बिना लाभाश का भुगतान नहीं किया जायगा अर्थात् लाभाश किसी भी दशा में केवल लाभ में से ही दिया जा सकता है, पूँजी में से नहीं। केवल धारा १०७ के अनुसार कुछ विशेष परिस्थितियाँ अवश्य ऐसी होती हैं जिनमें पूँजी से भी लाभाश दे दिया जाता है। वे निम्न प्रकार हैं :—

जब कोई कम्पनी किसी कार्य के निर्माण के लिए अपनी पूँजी बढाने के निमित्त अपने अंश निर्गमित करती है और दीर्घकाल तक उसे कोई लाभ नहीं होता तो उस कम्पनी को बढाई हुई पूँजी पर लाभ न होने पर ब्याज देना पड़ता है, परन्तु इसके लिए निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक होता है —

(क) यदि वह भुगतान कम्पनी के अन्तर्नियमों द्वारा स्वीकृत हो जाता है,

(ख) यदि उसके लिए प्रान्तीय सरकार की आज्ञा प्राप्त हो जाती है,

(ग) यदि वह भुगतान उसी अवधि का होता है जिसे कि प्रान्तीय सरकार निश्चित कर देती है, परन्तु वह अवधि—जिन छ महीनों के अन्तर्गत कार्य पूर्ण हुआ है, उससे दूसरे छ माह को अवधि से अधिक नहीं होगी;

(घ) यदि उसकी दर ४ प्रतिशत प्रति वर्ष से अधिक नहीं होती;

(ङ) यदि कम्पनी के लेखाओं (Accounts) में ऐसी अंश-पूँजी दिखाई जाती है जिस पर तथा वह दर जिस पर कि ब्याज चुकाया जाता है।

उपर्युक्त आयोजन का यह आशय है कि कम्पनी को लाभ प्राप्त होने वाली दशा में पहुँचने से पूर्व ही अंशधारियों को कुछ आर्थिक सहायता (Compensation) दे दी जाय।

उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट हो ही गया होगा कि लाभांश सम्बन्धी घोषणा के लिए कार्यवाह को अधिक कार्य नहीं करना पड़ता। उसका कार्य तो उस समय प्रारम्भ होता है जब वास्तविक रूप से लाभांश की घोषणा हो जाती है। तब वह निम्न प्रकार से कार्य करता है —

लाभांश का प्रकाशन (Publication of Dividend) —जब किसी कम्पनी के अत्यधिक अंशों का वितरण जनता में हो जाता है तो उस समय घोषित लाभांश की सूचना समाचार पत्रों में प्रकाशित कराना आवश्यक होता है। नीचे आन्तरिक लाभांश सम्बन्धी सूचना का एक उदाहरण दिया जाता है —

दी सिम्पलैक्स मिल्स कम्पनी लिमिटेड

यह सूचित किया जाता है कि आज उपर्युक्त कम्पनी के संचालकों की एक सभा हुई जिसमें ३० सितम्बर १६४४ को समाप्त होने वाले छ महीनों के लिए ५० रु० के प्रत्येक पूर्ण प्रदत्त अंश पर ४ रु० की दर से आयकर रहित आन्तरिक लाभांश की घोषणा की गई।

यह लाभांश १५ जनवरी १६४५ को तथा उसके उपरान्त केवल उन अंशधारियों को ही चार्टर्ड बैंक ऑफ इण्डिया, आस्ट्रेलिया तथा चीन, बम्बई से प्राप्त होगा, जो ५० रु० पूर्ण प्रदत्त (Fully paid) अंशों के धारण करने वाले हैं तथा जिनके नाम १५ दिसम्बर १६४६ तक सदस्य-रजिस्टर में लिखे जा चुके हैं और उन अंश धारियों को ही लाभांश अधिपत्र भेजे जायेंगे।

अंशधारियों से विनम्र प्रार्थना है कि वे अपने पते का परिवर्तन शीघ्र ही निम्नांकित हस्ताक्षरकर्त्ता को सूचित करें।

कम्पनी की हस्तान्तरण-पुस्तक शुक्रवार दिनाङ्क १५ दिसम्बर १९४४ से शुक्रवार २९ दिसम्बर १९४४, दोनों दिन सम्मिलित, तक बन्द रहेगी।

सभा की आज्ञा से,

फोर्बस बिल्डिंग, फोर्बस, कम्बैल एण्ड कं० लि०

होम स्ट्रीट फोर्ट, अभिकर्त्ता।

बम्बई, २८ नवम्बर १९४४ ई०

जब किसी लाभांश की घोषणा व्यापक-सभा में की जाती है तो उसकी धन-राशि तथा दर का उल्लेख सचालकीय रिपोर्ट में करना पड़ता है और वह रिपोर्ट अंशधारियों में वितरित की जाती है। परन्तु उसके भुगतान करने की पद्धति-सम्बन्धी सूचना सदैव सभाओं की सूचनाओं में सम्मिलित रहती है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं जो समाचार-पत्रों में सामान्य व्यापक-सभा की सूचना के लिए प्रकाशित हुए थे :—

१—चूँकि लाभांश अधिपत्र (Dividend Warrants) केवल रजिस्टर्ड अंशधारियों या उनके आदेशित व्यक्तियों (Mandates) को ही भेजे जा चुके हैं, अतः अंश-हस्तान्तरण-पुस्तक के बन्द होने से पूर्व निरङ्क हस्तान्तरणों (Blank transfers) को हस्तान्तरण-उलेख (Transfer-deed) को पूर्णतया भरकर उसके सहित रजिस्ट्रेशन या पञीयन के लिए उपस्थित करना चाहिए।

२—३१ दिसम्बर १९४३ को समाप्त होने वाले छः माहों के लिए अंश-अधिपत्र अंशधारियों को उनके रजिस्टर्ड पते ३० मार्च १९४४ को या उसके बाद भेजे जायँगे। पतों में यदि किसी प्रकार का परिवर्तन हो गया हो तो उसकी सूचना कम्पनी में शीघ्र ही भेजनी चाहिए।

३—घोषित होने के उपरान्त लाभांश तथा अधिलाभांश (Bonus) कम्पनी के रजिस्टर्ड या पञीकृत कार्यालय से मङ्गलवार, दिनांक २२ अप्रैल १९४४ को या उसके उपरान्त शनिवार को छोड़कर सप्ताह के शेष दिनों में दोपहर १२ बजे से सायकाल ३ बजे तक तथा शनिवार को दोपहर १२ बजे से १–३० बजे तक उन अंशधारियों को प्राप्त हो सकेंगे जिनके कि नाम १ अप्रैल १९४३ तक सदस्य-रजिस्टर में होंगे।

४—स्वीकृत होने के उपरान्त लाभांश तथा अधिलाभांश (Bonus) सैण्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया लिमिटेड बम्बई से ८ जनवरी १९४५ को या उसके उपरान्त उन अंशधारियों को प्राप्त हो सकेंगे जिनके नाम ३० नवम्बर १९४४ तक कम्पनी के सदस्य-

रजिस्टर में होंगे और उनको ही लाभाश-अधिपत्र भेजे जायँगे। अशधारियों से निवेदन है कि वे अपना लेखा पृष्ठ देते हुए अपने पत के परिवर्तन से सूचित करें।

लाभाश का आदेश (Dividend Mandates) —बहुत से अशधारी यह चाहते हैं कि उनका लाभाश उस बैंक में जमा करा दिया जाय जिसमें कि उनका हिसाब होता है। ऐसी दशा में बहुधा निम्नलिखित आदेश (Mandate) लाभाश के लिए कम्पनी को भेजना पड़ता है --

पता (Address)————————

सचालक महोदय, दिनाङ्क (Date)————————

———————— क० लि०

श्रीमान्,

निवेदन है कि आप, दूसरी सूचना तक, समय समय पर स्वीकृत होने वाले लाभाशों या जो लाभाश मेरे नाम पर इस समय घोषित हुआ हो उसे मेरे नाम से को देने की कृपा करें। उसकी रसीद ही आपको भार-मुक्त करने में पर्याप्त सहायक होगी।

भवदीय—

हस्तान्तरण पुस्तकों का बन्द करना (Closing of Transfer Books) —जब किसी कम्पनी के सदस्य अधिक होते हैं तो लाभाश के वितरण में पर्याप्त सावधानी के साथ कार्य करना पड़ता है। बहुधा उन सभी अशधारियों को लाभाश दिये जाते हैं जिनके कि नाम घोषणा के समय तक सदस्यों के रजिस्टर में अकित होते हैं और लगभग १४ दिनों के लिये सदस्य-रजिस्टर बन्द रहता है अर्थात् उसमें किसी नये सदस्य का नाम नहीं बढाया जाता क्योंकि ऐसा करने से लाभाश वितरण सुगमता से हो जाता है और सदस्यों के पास लाभाश भेजने में कोई आपत्ति नहीं होती। कार्यवाह का यह कर्त्तव्य होता है कि रजिस्टर बन्द होने की अवधि तक जितने हस्तान्तरण होने के लिए अशों के आवेदन पत्र प्राप्त हो चुके हों उन सभी को सचालकों से मान्यता दिला कर सदस्यों के रजिस्टर को ठीक करे। रजिस्टर के ठीक एव पूर्ण रहने से लाभाशों के भेजने में किसी प्रकार की गड़बड़ी उपस्थित नहीं हो सकती।

लाभाश सूची (Dividend Lists) —निम्न रीति से लाभाश की सूचियाँ सदस्यों के रजिस्टर से बनाई जाती हैं और बड़ी सावधानी के साथ उनका निरीक्षण किया जाता है —

लाभांश-सूची (Dividend List)

साधारण लाभांश रु० प्रति अंश की दर से वर्ष के लिए।

लेजर पृष्ठ (Ledger Folio)	अधिपत्र नम्बर Warrant No	अंशधारी का (Shareholder's) नाम (Name)	पता (Address)	किसको लाभांश का भुगतान किया जाय (To Whom Dividend payable)	अंश पूंजी (Share Capital)	सकल लाभांश (Gross Dividend)	आय कर (Income Tax)	शुद्ध लाभांश (Net Dividend)	विशेष विवरण (Remarks)
					रु०	रु०	रु०	रु०	

यदि अन्य किसी श्रेणी के अंशों पर भी उसी समय लाभांश दिया जाता है तो प्रत्येक श्रेणी के लिये पृथक् पृथक् सूची बनानी चाहिए।

लाभांश अधिपत्रों का तैयार करना (Preparation of Dividend Warrants)—लाभांश अधिपत्र एक प्रकार का ऐसा प्रलेख (Document) होता है जिसके आधार पर अंशधारी अपने अधिकृत लाभांशों का भुगतान प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं। इङ्गलैंड में लाभांश अधिपत्र अपरिवर्तनशील होते हैं तथा कम्पनी के अधिकोषिकों (Bankers) द्वारा भुगतान किए जाते हैं, कारण यह है कि वे चैक की ही भांति होते हैं और उसकी तरह ही भुगतान का आदेश रखते हैं। परन्तु भारतवर्ष में ऐसा नहीं है। यहाँ पर इनका भुगतान सीधे कम्पनी की बैंक से ही होता है तथा ये चैक की ही भाँति आदेश वाले होते हैं अथवा इस भुगतान के लिए कम्पनी चैक भी निर्गमित कर देती है या अन्य किसी भी प्रकार से कम्पनी के कार्यालय में अंश-अधिपत्र के दिखाने पर उसका भुगतान कर दिया जाता है। प्रत्येक अंश अधिपत्र के साथ आयकर का प्रमाणपत्र भी होता है क्योंकि यह आय कर विधान

के अनुसार अनिवार्य होता है। नीचे दो प्रकार के अंश-अधिपत्रों के उदाहरण दिये जाते हैं:—

(१) सीधे बैंक द्वारा भुगतान किए जाने वाला अंश अधिपत्र
(Dividend Warrant directly payable by Bank)
दी स्वदेशी कम्पनी लिमिटेड

२५, सिविल लाइन्स
क्रमांक—२३७ आगरा, १० मार्च १९४५ ई०

२५ रु० (पच्चीस रुपये) के लिए लाभांश अधिपत्र जोकि १९४४ वर्ष के लिए ५ रु० प्रति अंश की दर से लाभांश प्राप्त होने के लिए, आय-कर सहित कम्पनी में श्री ....के नाम स्थित ५ साधारण अंशों पर स्वीकृत हुआ है, कम्पनी की बैंक से प्राप्त होगा। यह लाभांश शुक्रवार दिनांक २ मार्च १९४५ को होने वाली कम्पनी की दसवीं साधारण व्यापक-सभा में घोषित किया गया था।

हम यह प्रमाणित करते हैं कि कम्पनी के समस्त लाभ तथा प्राप्ति पर दिये जाने वाले आयकर को—जिस लाभ का कि यह लाभांश भी एक भाग है—हम यथा विधि भारत सरकार को देंगे।

दी स्वदेशी कम्पनी लिमिटेड,

____

प्रबन्ध-अभिकर्त्ता

(अधिकारी (Claimant) द्वारा हस्ताक्षर होने के लिए)

लाभांश-अधिपत्र क्रमांक २३७

मैं यह प्रमाणित करता हूँ कि उपर्युक्त लाभांश मेरे उन अंशों से सम्बन्ध रखता है जोकि लाभांश-घोषणा के समय मेरी सम्पत्ति थे तथा मेरे निजी अधिकार में थे।

दिनांक ....

अधिकारी के हस्ताक्षर
(Signature of Claimant)

चेतावनी (Caution)—उपर्युक्त प्रमाण-पत्र सावधानी के साथ सँभाल कर रखना चाहिए क्योंकि जिस समय आप अपने लाभांश पर से आय-कर वापिस लेने के लिए स्वत्व प्रदर्शित करेंगे तो आयकर-अधिकारी (Income Tax Officer) को यह प्रमाण-पत्र दिखलाना पड़ेगा।

यहाँ से करिये

दी स्वदेशी कम्पनी लिमिटेड

लाभाश अधिपत्र क्रमाक २३७ आगरा

सेवा में — १० मार्च १९४५ इ०

दी वैंक लिमिटेड,

आगरा।

श्री या आदेशित व्यक्ति को २५ रु० पच्चीस रुपये क' ाशि चुकाइ जाय।

प्रबंध अभिकर्ता

पाने वाले के हस्ताक्षर ——————

(Payee's signature)

टिप्पणी इस पत्र पर पाने वाले के हस्ताक्षर होन चाहिए तथा यह भुगतान के लिए २ माह के अन्दर ही प्रस्तुत करना चाहिए।

(२) कम्पनी के कार्यालय से भुगतान किया जाने वाला अश अधिपत्र
(Dividend Warrant payable at the Company's Office)
दी स्वदेशी कम्पनी लिमिटेड

२५, सिविल लाइन्स,

क्रमाक—२३७ आगरा, १० मार्च १९४५ इ०

२५ रु० (पचीस रुपया) के लिए लाभाश अधिपत्र, जोकि १९४४ वर्ष के लिए ५ रु० प्रति अंश की दर से लाभाश प्राप्त होने के लिए, आय-कर सहित, कम्पनी में श्री के नाम स्थित ५ साधारण अशों पर स्वीकृत हुआ है, कम्पनी के रजिस्टर्ड या पजीकृत कार्यालय आगरा से प्राप्त होगा। यह लाभाश शुक्रवार दिनाक २ मार्च १९४५ को होने वाली दसवीं सामान्य व्यापक-सभा में घोषित हुआ था।

हम यह प्रमाणित करते हैं कि कम्पनी के समस्त लाभ तथा प्राप्ति पर दिये जाने वाले आय-कर (Income Tax) को—जिस लाभ में लाभाश भी सम्मिलित है—हम यथाविधि भारत सरकार को दगे।

दी स्वदेशी कम्पनी लि०

प्रबन्ध अभिकर्ता

(अधिकारी (Claimant) द्वारा हस्ताक्षर होने के लिए)

लाभांश-अधिपत्र क्रमांक—२३७

मैं यह प्रमाणित करता हूँ कि उपर्युक्त लाभांश मेरे उन अंशों से सम्बन्ध रखता है कि लाभांश घोषणा के समय मेरी सम्पत्ति थे तथा मेरे निजी अधिकार में थे।

अधिकारी के हस्ताक्षर

दिनांक (Signature of Claimant)

चेतावनी (Caution) —उपर्युक्त प्रमाण पत्र सावधानी के साथ सम्भालकर रखना चाहिए क्योंकि जिस समय आप अपने लाभांश पर से आय कर वापिस लेने के लिए स्वत्व प्रदर्शित करेंगे तो आयकर अधिकारी को यह प्रमाण पत्र दिखलाना पड़ेगा।

यहाँ से काटिये

दी स्वदेशी कम्पनी लिमिटेड

लाभांश अधिपत्र क्रमांक २३७

१९५४ वर्ष के लिए लाभांश अधिपत्र क्रमांक २३७ में उल्लिखित अंशों पर घोषित लाभांश के २५ रु० (केवल पच्चीस रुपये) उपर्युक्त कम्पनी से प्राप्त हुए।

अंशधारी के हस्ताक्षर

दिनांक————————

साक्षी ————————

यह साधारण रसीद भुगतान के लिए हस्ताक्षर करके यथाविधि लौटाई जाती है। कृपया मेरी ओर से चैक द्वारा, नकद, मनीआर्डर या पोस्टल आर्डर द्वारा यह राशि भुगतान कर दी जाय।

अंशधारी के हस्ताक्षर

दिनांक————————

यदि कोई अंशधारी विभिन्न श्रेणी के अंश लेता है तो उसके लिए प्रायः पृथक लाभांश अधिपत्र बनाया जाता है। परन्तु युद्ध काल में कागज की बचत करने के लिए एक विशेष अंशधारी के लिए एक ही लाभांश अधिपत्र (Dividend Warrant) सभी लाभांशों के लिए बना दिया जाता था। यदि कितने ही अंशधारियों का आदेश किसी एक बैंक में ही अपने लाभांश का रुपया जमा करने के लिए होता है तो कम्पनी उन सभी अंशधारियों का एक ही लाभांश अधिपत्र बनाकर उस बैंक में भेज देती है परन्तु प्रत्येक अंशधारी के लिए पृथक् पृथक् आयकर प्रमाणपत्र देना पड़ता है।

लाभांश अधिपत्रों का भेजना (Despatch of Dividend Warrants) :—जब किसी कम्पनी के लाभांश-अधिपत्र सीधे कम्पनी की बैंक द्वारा भुगतान होने वाले होते हैं तो प्रायः वे अंशधारियों के आवेदन-पत्र भेजने या न भेजने पर भी उनके पास भेज दिये जाते हैं। परन्तु जो लाभांश अधिपत्र कम्पनी के कार्यालय से भुगतान होने वाले होते हैं वे बिना माँगे ही अंशधारियों के पास भेज दिए जाते हैं। यदि कम्पनी के अन्तर्नियमों में इस बात का आयोजन होता है कि ये अंशधारियों के पास डाक द्वारा भेज दिये जायें तो बिना आवेदन पत्र आये हुए ही समस्त अंशधारियों के पास लाभांश-अधिपत्र डाक द्वारा भी भेज दिये जाते हैं।

लाभांश अधिपत्रों का भुगतान (Payment of Dividend Warrants) —यदि लाभांशों का भुगतान किसी बैंक से किया जाता है तो प्रत्येक लाभांश के लिये बैंक में पृथक्-पृथक् लेखा खोलना चाहिए तथा लाभांश का क्रमांक उसकी जानकारी के लिए प्रयोग में लाना चाहिए, जैसे—"लाभांश क्रमांक ३४ लेखा (Dividend No. 34 Account)। लाभांश-अधिपत्रों के भेजने से पूर्व उतनी ही राशि का एक चैक बनाकर कम्पनी के व्यापक-लेखा (General Account) में से रुपया निकाल कर लाभांश-लेखे (Dividend Account) में जमा कर देना चाहिए तथा उसी समय लाभांश की एक निरस्त सूची (Cancelled specimen) कम्पनी में भेज देनी चाहिए। लाभांश-अधिपत्रों पर होने वाले हस्ताक्षर सम्बन्धी सूचना भी भेज देनी चाहिए। लाभांश बचत पुस्तक (Dividend Pass Book) भी निश्चित अवधि पर निरीक्षण के लिए मँगा लेनी चाहिए। प्रदत्त अधिपत्रों के लिए तथा लाभांश सूची में चिह्न लगा देना चाहिए तथा समस्त अस्वत्वधारी लाभांशों (Unclaimed dividends) की सूची तैयार कर लेनी चाहिए।

जब कोई लाभांश अधिपत्र कम्पनी के कार्यालय द्वारा चुकाया जाता है या चैक द्वारा भुगतान किया जाता है तो इस बात का उल्लेख लाभांश सूची में स्पष्ट रूप से कर देना चाहिए।

आयकर-अधिकारी के समीप प्रत्याय प्रस्तुत करना (Filing of Return with I. T. O.) :—भारतीय आयकर विधान १६२२ (Indian Income Tax Act 1922) की धारा १६-A के अनुसार कम्पनी के कार्यवाह (Secretary) को आयकर अधिकारी के पास एक प्रत्याय (Return) भेजनी चाहिए जिसमें एक रुपये से अधिक लाभांश प्राप्त करने वाले कम्पनी के अंशधारियों के नाम तथा पते रहते हैं तथा ५००० रु० से अधिक लाभांश प्राप्त करने वाले अंशधारियों के नाम तथा पते भी दिये जाते हैं। निवासी (Resident) तथा अनिवासी (Non-resident) अंशधारियों के लिए पृथक्-पृथक् प्रपत्रों (Forms) का प्रयोग करना चाहिए।

अश-पूँजी की अभिवृद्धि
(Increase of Share Capital)

साधारणत· कम्पनी की अश-पूँजी में दो प्रकार से वृद्धि की जाती है :—(क) संचालकों द्वारा अनिर्गमित अशों के निर्गमन द्वारा तथा (ख) कम्पनी द्वारा अधिकृत पूँजी की वृद्धि और निर्गमन के लिए नये अश उत्पन्न करन के द्वारा।

(क) सचालकों द्वारा वृद्धि (Increase by Directors) :—धारा १०५C के अनुसार जब कम्पनी के सचालक कम्पनी की पूँजी में वृद्धि करना चाहते हैं तो वे और अश निर्गमित करने का निश्चय करते हैं। इन अशों के लिए पहले अशधारियों से अनुपातत· अंश लेने के लिये प्रस्ताव किया जाता है। इसके लिए उन्हें एक सूचना भेजी जाती है जिसमें उनके लिये हुए अंशा तथा अनुपात (Proportion) से और लिए जाने वाले अशों का उल्लेख रहता है। इसके साथ ही उन अंशों के लेने के लिए एक अवधि निश्चित कर दी जाती है। यदि उस अवधि तक वे लोग अपने अधिकृत अशों को नहीं लेते तो उनका प्रस्ताव अस्वीकृत माना जाता है और सदस्य की अस्वीकृति या अश लेने की कोई भी सूचना के न मिलन पर सचालक-लोग कम्पनी के हित की दृष्टि से फिर जैसा उचित समझते हैं वैसा हो उन अशों के बारे में कार्य करते हैं। इसका अर्थ यह है कि यदि अनिर्गमित (Unissued) अशों का सचालक निर्गमन करना चाहते हैं तो सर्वप्रथम उन अशों के लिए कम्पनी के पहले नामाङ्कित सदस्यों से प्रस्ताव किया जाता है। यही अशधारियों का प्रथम-क्रय करने का अधिकार (Right of pre-emption) ा है।

इसके लिए निम्नलिखित पद्धति अपनायी जाती है —

(१) पूँजी निर्गमन (सतत् नियत्रण) विधान १९४७ (Capital Issues (Continuance of Control) Act, 1947) के अनुसार उपस्थित अनिर्गमित अशों के लिए केन्द्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होता है।

(२) पूर्व नामाङ्कित सदस्यों से अशों का प्रस्ताव करन के लिए सचालक-सभा में एक प्रस्ताव पास किया जाता है तथा अश-निर्गमन के निमित्त सदस्यों के समीप एक सूचना भेजी जाती है, जिसमें अशधारियों क अधिकृत अशा का उल्लेख किया जाता है तथा यह भी सूचित किया जाता है कि अमुक तिथि से पूर्व तक आपका प्रस्ताव स्वीकार किया जा सकता है।

(३) जनता को सूचित करते हुए कम्पनी की अश पुस्तक बन्द कर दी जाती है ताकि सदस्यों के लिए सूचनायें सुगमता स तैयार की जा सकें।

(४) जब किसी सदस्य से धन सहित अशों के लेने की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है तो अनुबन्ध (Contract) पूर्ण माना जाता है। ऐसी दशा में औपचारिक वितरण

(Formal allotment) वैधानिक दृष्टि से आवश्यक नहीं होता, परन्तु सचालक-लोग प्राय ऐसा विवरण कर दिया करते हैं।

(५) कोई भी अश जोकि अंशधारियों द्वारा नहीं लिये जात, उन्हें सचालक-लोग अच्छा मूल्य मिलते ही बेच देते हैं।

(६) वितरण का एक प्रत्याय (A Return of Allotment) रजिस्ट्रार या पजीयक के यहाँ प्रस्तुत करना चाहिए।

(७) इन अंशों से सम्बन्धित अश-प्रमाणपत्रों (Share Certificates) को तैयार करके अशधारिया के पास भेज देना चाहिए तथा सदस्यों के रजिस्टर में इसका आवश्यक उल्लेख कर देना चाहिए।

(ग) अशधारियो द्वारा वृद्धि (Increase by Shareholders) :—धारा ५० क अनुसार नवीन अशों द्वारा जब कम्पनी की पूँजी में वृद्धि की जाती है तो नामांकित सदस्यों के क्रमानुसार (Pro-rata) प्रस्ताव करना वैधानिक दृष्टि से आवश्यक नहीं होता, जब तक कि कम्पनी के अन्तर्नियम इस कार्य के लिए आदेश न दें या कम्पनी की व्यापक सभा में इस विषय की स्वीकृति न हो जाय। इसका अर्थ यह है कि कम्पनी के अन्तर्नियमों की आयोजना तथा व्यापक-सभा के प्रस्ताव के बिना कोई भी नामाकित सदस्य अधिकृत पूँजी की वृद्धि के लिए निर्गमित अशों के खरीदने का अधिकारी नहीं होता। इसके लिए निम्न पद्धति अपनाई जाता है —

(१) सर्वप्रथम, कम्पनी की अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) में वृद्धि करने के लिए सचालक-लोग अपनी सभा में निश्चय करते हैं।

(२) यदि आवश्यक हो तो पूँजी निर्गमन (सतत् नियन्त्रण) विधान १६४७ के अनुसार अधिकृत पूँजी की वृद्धि के लिए केन्द्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त करनी चाहिए।

(३) पूँजी वृद्धि के विषय का निर्देश करते हुए कम्पनी के प्रत्येक सदस्य के समीप असामान्य व्यापक-सभा बुलाने की सूचना भेजनी चाहिए।

(४) अश-पूँजी की वृद्धि के लिए व्यापक सभा में आवश्यक प्रस्ताव पास करना चाहिए। धारा ५० के अनुसार इस कार्य क लिए केवल साधारण प्रस्ताव ही पर्याप्त होता है, परन्तु अन्तर्नियमा (Articles) में असाधारण या विशेष प्रस्ताव (Extra-ordinary or special resolution) का उल्लेख रहता है। उस प्रस्ताव में अधिकृत पूँजी की बढ़ी हुई राशि का भी उल्लेख रहना चाहिए। इसके साथ ही चाहे वे निर्गमित होने वाले नवीन अश साधारण (Ordinary) हों, या अधिमान (Preference) हों अथवा स्थगित (Deferred) हों और चाहे वे कम्पनी के स्थित सदस्यों से पहले पहल हा प्रस्तावित (Offered) किए गये हों, परन्तु उनका उल्लेख सदस्यों के बाच होने वाले निर्बन्ध (Terms) के सहित स्पष्ट रूप से प्रस्ताव में होना

चाहिए। नीचे कम्पनी की पूँजी-वृद्धि करने के लिए किए गये प्रस्ताव का उदाहरण दिया जाता है .—

"प्रस्तावित किया जाता है कि लाभांश के लिए श्रेणी विभाजन किए गए १० रु० के प्रत्येक ६०,००० नवीन साधारण अंशों द्वारा कम्पनी की पूँजी में ३०,०० ००० रु० की वृद्धि की जाय, तथा इन अंशों को कम्पनी के स्थित साधारण अंशों के समान ही अन्य मामलों में माना जाय। इतना अवश्य है कि ३१ दिसम्बर १६४४ तक के लाभ पर घोषित होने वाले ३० जून १६४५ से पूर्व किसी भी लाभांश में इनका हिस्सा नहीं माना जायगा, परन्तु इसके उपरान्त घोषित होने वाले प्रत्येक लाभांश में इन्हें सम्मिलित किया जायगा।

"प्रस्तावित हुआ कि उक्त ६०,००० नवीन साधारण अंशों को सर्वप्रथम १५ रु० प्रति अंश प्रव्याजि (Premium) के हिसाब से कम्पन के साधारण अंशधारियों को उनके लिए हुए अंशों के अनुपात में पृथक्-पृथक् दिया जाय और इस प्रस्ताव के लिए अंशधारियों को सूचना भेजी जाय जिसमें उनके लिए हुए अंशों की संख्या के अनुपात में अधिकृत अंशों (Entitled shares) की संख्या का निर्देश करते हुए एक निश्चित अवधि का भी उल्लेख किया जाय। उस अवधि तक यदि वे लोग अपने अंशों को स्वीकार न करें तो उनका प्रस्ताव अस्वीकृत माना जाय तथा संचालकों को यह अधिकार रहे कि वे उन न लिए हुए अस्वीकृत अंशों को किसी भी अन्य मनुष्य को कम्पनी के हित को ध्यान में रखते हुए किसी भी दर पर जिसे कि वे उचित समझें, बेच सकें।

टिप्पणी—इस प्रस्ताव में अन्य अंशधारियों की अपेक्षा केवल साधारण अंशधारियों को नवीन अंश खरीदने का अधिकार दिया गया है। यदि कम्पनी के अन्तर्नियमों अथवा कम्पनी के प्रस्ताव में इस प्रकार स्थित अंशधारियों के प्रथम क्रय करने का अधिकार नहीं दिया होता तो प्रस्ताव में निम्नलिखित वाक्य दिया जाता है —

"संचालकों को यह अधिकार दिया जाए कि वे कम्पनी के स्थित सदस्यों से उन अंशों का प्रस्ताव करने के लिए बाध्य न होकर किसी भी ऐसे मनुष्य से उन अंशों का प्रस्ताव कर सकें जो उन अंशों के भुगतान या तो प्रभागों (Instalments) में करे या जैसे संचालक लोग उचित समझें वैसे करे।'

(५) प्रस्ताव पास होने के १५ दिनों के अन्दर ही पूँजी-वृद्धि की सूचना रजिस्ट्रार या पंजीयक के पास भेज देनी चाहिए तथा आवश्यक पूँजी शुल्क (Capital duty) भी जमा कर देना चाहिए।

(३) कम्पनी की अंश पुस्तकें (Share Books) जनता को सूचना देते हुए कुछ दिनों के लिए बन्द कर देना चाहिये ताकि सदस्यों के लिए सूचनाओं को तैयार करने में सुगमता हो जाय।

(७) संचालकों को सचालक-सभा में कम्पनी के स्थित सदस्यों से नवीन अशों के क्रय करने का निवेदन करने तथा सदस्यों के समीप आवश्यक सूचनायें भेजने का अधिकार प्राप्त करने के लिए एक प्रस्ताव (Resolution) पास करना चाहिये। सदस्यों के समीप भेजी जाने वाली सूचना में सदस्यों के अनुपातत अधिकृत अशों की सख्या का उल्लेख तथा उस तिथि का निर्देश रहना चाहिए जब तक कि वह निवेदन स्वीकृत हो सके।

(८) जब किसी सदस्य से धन सहित अशों के लेन की स्वीकृति प्राप्त हो जाती है तो अनुबन्ध (Contract) पूर्ण माना जाता है। ऐसी दशा में औपचारिक वितरण (Formal allotment) वैधानिक दृष्टि से आवश्यक नहीं होता, परन्तु सचालक लोग प्रायः ऐसा वितरण कर दिया करते हैं।

(९) कोई भी अश जो सदस्यों द्वारा नहीं लिए जाते, उन्हें सचालक लोग अच्छा मूल्य मिलते ही बेच देते हैं।

(१०) वितरण का एक प्रत्याय (A Return of Allotment) रजिस्टार के यहा प्रस्तुत करना चाहिए।

(११) इन अशों से सम्बन्धित अश प्रमाणपत्रों को तैयार करके अधिकारियों के समीप भेज देना चाहिए तथा सदस्यों के रजिस्टर में इसका आवश्यक उल्लेख कर देना चाहिए।

अधिलाभाश अशो का निर्गमन
(Issue of Bonus Shares)

अधिलाभाश अश (Bonus shares) ऐसे अश होते हैं कि कम्पनी के द्वारा नक्द लाभाश या अधिलाभाश के स्थान पर एकत्रित लाभ (Accumulated profits) में से पूर्ण प्रदत्त या अशत प्रदत्त-अशों के रूप में सदस्यों के लिए निर्गमित किये जाते हैं। दूसरे शब्दों में ऐसा कह सकते हैं कि लाभ को नक्द रुपयों में न देकर अशों के रूप में व्यवसाय में लगे हुए धन को पूँजी का रूप प्रदान कर दिया जाता है अथवा अशधारियों को नक्द रुपया न देकर उसके स्थान पर अशो के विभाजन द्वारा ऐसे कुछ और अशों से उन्हें लाभान्वित कर दिया जाता है। अधिलाभाश अशों के निर्गमन करने के निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं —

(क) जब कम्पनी की निर्गमित पूँजी उसकी उत्पादन शक्ति के बराबर नहीं होती तो इस प्रकार के अशों द्वारा उस पूँजी को उत्पादन-शक्ति के बराबर किया जाता है।

(ख) जब कम्पनी का व्यवसाय तथा उसका लाभ स्थिर गति से बढता हुआ दृष्टिगोचर होता है तो कम्पनी के आगामी लाभाशों (Future dividends) को समुचित सीमा में स्थिर करने के लिए ऐसे अशों को निर्गमित किया जाता है।

पद्धति (Procedure) —जब कोई कम्पनी अपने लाभों को पूँजी का रूप देने के लिए अधिलाभाश अशों का निर्गमन करना चाहती है तो उसे निम्नलिखित पद्धति अपनानी पड़ती है —

(१) अधिलाभाश अशा (Bonus Shares) के निर्गमन के लिए पूँजी निर्गमन (सतत् नियत्रण) विधान १६४७ के अनुसार केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति प्राप्त करना चाहिए।

(२) किसी सीमित कम्पनी को अपने लाभों को पूँजी का रूप देने के लिए कोई वैधानिक अधिकार नहीं होता और प्रत्येक अशधारी अपने लाभाश को नकद रुपया में लेने का अधिकारी होता है। इसीलिए कम्पनी के अन्तर्नियमों म लाभांश के भुगतान करने का कम्पनी को अधिकार दिया रहता है कि वह किसी प्रकार भी अर्थात् कम्पनी के पूर्ण प्रदत्त (Fully paid) या अंशत प्रदत्त (Partly paid) अशा के वितरण के रूप में उन अशों का भुगतान कर सकती है। यदि अ तर्नियमों में इस प्रकार का कोई भी अधिकार नहीं होता तो कम्पनी को उक्त अधिकार प्राप्त करने के लिए एक विशेष प्रस्ताव (Special Resolution) पास करना चाहिए।

(३) सचालकों द्वारा सिफारिश होने पर कम्पनी अपनी व्यापक सभा म एक साधारण प्रस्ताव पास करता है जिसमें अधिलाभाश अशों (Bonus shares) के वितरण द्वारा सतुष्ट न हुए अधिलाभाश (Bonus) की घोषणा की जाती है। उस प्रस्ताव में ऐसे शब्द होने चाहिए जिनके द्वारा निम्नलिखित बातों का स्पष्टीकरण हो जाय —

(क) सचित राशि को पूँजी का रूप देने का उल्लेख हो,
(ख) यह निर्देश हो कि यह विभाजन पूँजी के अधिलाभाश का है,
(ग) किस प्रकार के अंशधारियों को यह लाभ दिया जायेगा तथा किस तिथि तक वे रजिस्टर्ड होंगे इसका उल्लेख होना चाहिए,
(घ) यह लिखा हुआ रहे कि वे निर्गमित अश पूर्ण प्रदत्त या अशत प्रदत्त हैं।
(ङ) उस तिथि का उल्लेख रहे जिसको कि ये अंश लाभाश की श्रेणी में परिणत किये जायेंगे,
(च) विभाजन की दर लिखी रहनी चाहिए,
(छ) शेष भाग (Fraction) के लिए प्रयोग की जाने वाली पद्धति का निर्देश रहना चाहिए, तथा
(ज) यह भी लिखा रहना चाहिए कि सचालकों को कार्यान्वित करने का अधिकार है तथा विधान के अनुसार उन्हें एक निर्बन्ध (Agreement) भी प्रस्तुत करना चाहिए।

नीचे एक प्रस्ताव का उदाहरण दिया जाता है जिसम उपर्युक्त सभी बातों का समादेश किया गया है —

प्रस्ताव किया जाता है कि ७,५०,००० रु० की राशि जोकि कम्पनी के अविभाजित लाभ का भाग है, उसे पूँजी के रूप में परिणत किया जाय तथा उपर्युक्त राशि को पूँजी का रूप देकर इस पूँजी अधिलाभाश (Capital Bonus) के रूप में प्रयोग किया जाय। इस अधिलाभाश का ऐसे मनुष्यों के लिए उपयोग होना चाहिए जो २० दिसम्बर १६४४ को सौ-सौ रुपये के कम्पनी के १५,००० निर्गमित साधारण अशों के धारणकर्त्ता हों तथा जो सौ-सौ रुपये के ७,५०० अधिक साधारण अशों (Additional Ordinary Shares) का पूर्णत भुगतान करन वाले हों। साथ ही यह भी प्रस्तावित हुआ कि ७,५०० अधिक साधारण अश जोकि पूर्ण प्रदत्त हैं, वे ३० सितम्बर १६४४ तक समाप्त होने वाले कम्पनी के छ माही के लिए घोषित लाभाश के अधिकारी नहीं होंगे, परन्तु उसके उपरान्त लाभाश की श्रेणी में आजायेंगे तथा कम्पनी के अन्य निर्गमित साधारण अंशों के समान ही अन्य मामलों में अधिकारी मान जायेंगे। ये अश प्राय ऐसे मनुष्यों को पृथक् पृथक् अनुपात में वितरित किए जायेंगे अर्थात् जो व्यक्ति ७,५०० अधिक साधारण अशों का धारणकर्ता होगा उसे एक तथा जो १५,००० का धारणकर्त्ता होगा उसे दो अश दिए जायेंगे, परन्तु ये अश उक्त मनुष्यों द्वारा २० दिसम्बर १६४४ के दिन तक ग्रहण कर लेना चाहिए। साथ ही यह भी प्रस्तावित हुआ कि ऐसे अधिक साधारण अश जोकि अशधारियों द्वारा लिये गये हैं, प्रत्यक दशा में कम्पनी की पूँजी सम्बन्धी अकित राशि (Nominal amount) की वृद्धि के रूप में मान जायेंगे तथा ये कम्पनी की आय का रूप प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

"उपर्युक्त प्रस्ताव का अनुसरण करते हुए तथा उक्त विशेष पूँजी अधिलाभाश (Special Capital Bonus) के सतोष की दृष्टि से सचालकों को उक्त ७,५०० पूर्ण प्रदत्त अधिक साधारण अशों को ऐसे मनुष्यों में वितरण तथा विभाजन करने के लिए प्रेरित किया जाता है जो २० दिसम्बर १६४४ तक कम्पना के निर्गमित साधारण अशों के धारण कर्त्ता हैं तथा ये अश पृथक् पृथक् अनुपात में उनके लिए हुए अशों के आधार पर विभाजित किये जायेंगे। इस सम्बन्ध में सचालकों को आशिक प्रमाण पत्रों (Fractional Certificates) के निर्गमन द्वारा इस प्रकार के आयोजन करन का पूर्ण अधिकार होगा या अश सम्बन्धी मामलों में जैसा वे उचित समझें वैसा कर सकते हैं।

"यह भी प्रस्तावित हुआ कि इस वितरण सम्बन्धी निर्णय का मसौदा (draft) जोकि उपर्युक्त अधिक अशों तथा उक्त पूँजी अधिलाभाश के सतोष का दृष्टि से तैयार किया गया है, वह सभा में उपस्थित किया जाय तथा हाशिये (margin)

मान्यता दिलाने की दृष्टि से अध्यक्ष (Chairman) द्वारा हस्ताक्षर कराकर स्वीकार किया जाय। साथ ही प्रस्तावित हुआ कि उस निर्बन्ध की द्वितीय प्रतिलिपि (Duplicate engrossment) पर कम्पनी की मुद्रा अंकित करने का अधिकार उनके सञ्चालकों को दिया जाय, जिससे कि उस निर्बन्ध पर २० दिसम्बर १६५४ को कम्पनी के साधारण अंशों के धारणकर्त्ताओं की ओर से कोई भी ऐसा व्यक्ति हस्ताक्षर कर सके जिसको कि सचालक लोग उनकी ओर से नियुक्त करें।''

(४) सचालक लोग समस्त अशधारियों की ओर से किसी अशधारी को विश्वासपात्र या प्रन्यासी (Trustee) के रूप में मनोनीत करेंगे तथा अधिलाभाश अंशों (Bonus Shares) के लिए अशधारियों के अधिकारों की रक्षा करते हुए उनके प्रन्यासी (Trustee) तथा कम्पनी के बीच में एक निर्बंध (Agreement) स्थापित करेंगे।

(५) सचालक-लोग पुन आशिक अशों (Fractional Shares) के भाग का समुचित उपयोग करते हुए अंशों का वितरण (Allotment) करेंगे तथा वितरण पत्रों के निर्गमन का अधिकार प्रदान करते हुए अश प्रमाण पत्रों के भेजन की व्यवस्था करेंगे। आशिक अंशों के सम्बन्ध में बहुधा आशिक प्रमाण पत्र (या अश रसीद) भेजी जाती हैं। यह प्रमाण पत्र या रसीद पूर्ण अश के रूप में परिवर्तित होने के दिन या उससे पूर्व किसी भी तिथि को कम्पनी में उपस्थित करना चाहिए।

(६) अधिलाभाश अंशों के धारणकर्त्ताओं के पद को प्रदर्शित करने वाले अनुबन्ध की एक प्रतिलिपि के साथ वितरण प्रत्याय (A return of Allotment) रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करनी चाहिए तथा कम्पनी की पुस्तकों में इसका आवश्यक उल्लेख करना चाहिए।

(७) यदि कोई कम्पनी समस्त अधिकृत पूँजी को निर्गमित कर देती है तो उसे अपने अधिलाभाश अंशों के निर्गमन करने से पूव धारा ५० के अनुसार ही अपनी अधिकृत पूँजी (Authorised capital) को बढ़ाना चाहिए।

पुनर्सङ्गठन (Reorganisation)

कभी कभी लाभ प्राप्त करने वाली कम्पनियाँ भी अपनी अशपूँजी पर लाभाश देने तथा ऋणदाताओं से की गई प्रतिज्ञा की पूर्ति करने में अपनी पूँजी के ढाँचे को परिवर्तित किये बिना सर्वथा असमर्थ रहती हैं। यह काय बहुधा कितने ही प्रकार से किया जाता है। कभी कम्पनी अपने अशों को अत्यधिक पूँजी के रूप में बदल डालती है और ऐसा करने में उसके ऊपर अत्यधिक ऋण हो जाता है जिस पर कि उसे ब्याज देना पड़ता है, फिर चाहे उससे कम्पनी को लाभ हो या नहीं यह दूसरी बात है। इसके उपरान्त वह कम्पनी अपने ऋणदाताओं को ब्याज चुकाने से बचने के लिए कभी कभी अपनी पूँजी के स्रोतों को समाप्त कर डालती है जिससे

उसका व्यवसाय तक रुक जाता है और अपने व्यवसाय को चलाने के लिए उसे पुनः ऋण लेना पड़ता है। इस तरह बहुत सी कम्पनियाँ अपने भविष्य-निर्माण की आशा में अत्यधिक आर्थिक संकटों में लिप्त हो जाती हैं और उनकी ये परिस्थितियाँ उसी समय दूर होती हैं जब कोई रुचि रखने वाली संस्था या अन्य ऋणपत्र-धारी अपना धन देकर उसको पुनर्जीवन प्रदान करते हैं।

दूसरे एक कम्पनी अपने ऋण-पत्रों या अन्य ऋणों (Loans) पर ब्याज तो चुका सकती है और कुछ लाभ भी बचा सकती है, परन्तु वह लाभांश का वितरण करने में समर्थ नहीं होती। इसका कारण यह होता है कि उसके मालमता या सामग्री (Assets) के अवक्षयण (Depreciation) के कारण उसकी अंशपूँजी व्यवस्थित रूप में नहीं रहती। अत उसे अपनी व्यवस्था ठीक करने के लिए लाभ का विभाजन न करके अपने संचित-कोष में कुछ धन जमा करना पड़ता है, जिससे कि आवश्यकता के समय काम आ सके और कम्पनी को दुर्व्यवस्था का मुख न देखना पड़े।

उपर्युक्त अव्यवस्थित दशाओं में बहुधा पुनर्सङ्गठन का मार्ग ही अपनाया जाता है। इस मार्ग के लिए योजना सम्बन्धी केवल यही सिद्धान्त विशेष लाभप्रद होता है कि कुछ अंशधारियों तथा ऋणदाताओं (Creditors) को कम्पनी की दशा सुधारने के लिए अपना धन कम्पनी के लिये न्यौछावर करना चाहिए। यदि प्रत्येक प्रकार का अंशधारी अपने अधिकारों पर ही स्थित रहेगा तो सभी प्रकार के सदस्यों को हानि उठाना पड़ेगी। अत पुनर्सङ्गठन की योजना को कार्यान्वित करना कोई आसान काम नहीं होता। इसके लिए पर्याप्त उथल-पुथल करनी पड़ती है। कभी-कभी तो कितने ही प्रकार के ऋणदाताओं तथा अंशधारियों के अधिकारों में कम्पनी को अपनी व्यवस्था ठीक करने के लिए पर्याप्त परिवर्तन करना पड़ता है।

कभी कभी ऋणपत्र-धारियों के हितों पर अत्यधिक कुठाराघात किया जाता है। ऐसी दशा में जब वे अपने हितों को सुरक्षित नहीं देखते हैं तो उन्हें अपनी ओर से कम्पनी में एक प्रापक (Receiver) नियुक्त करने का अधिकार होता है। वह प्रापक कम्पनी की व्यवस्था को अपने हाथों में लेकर समस्त व्यवसाय का सचालन करता है। उसको कम्पनी का निस्तारण (Liquidating) किए बिना ही मालमते (Assets) के बेचने का पूरा अधिकार होता है। यह देखकर ऋणपत्र-धारियों को पुन इस प्रकार फुसलाया जा सकता है कि प्रापक (Receiver) नियुक्त करने से कम्पनी को कोई लाभ नहीं हो सकता, अपितु इससे कम्पनी की प्रतिष्ठा गिर जाती है तथा ऋणपत्रधारियों के स्वत्वों (Claims) की अपेक्षा उसके द्वारा बहुत कम सामग्री का उत्पादन होता है। इसके साथ ही यह भी बतलाया जाता है कि पुनर्सङ्गठन की योजना, यद्यपि अभी अस्थायी है और इसके लिए कुछ बलिदान भी करना पड़ेगा, परन्तु इससे व्यवसाय लगातार चालू रहेगा तथा कम्पनी और ऋणपत्र-धारियों को पर्याप्त लाभ प्राप्त हो सकता है।

जिन अधिमान अंशधारियों (Preference Shareholders) को कितने ही वर्षों के पश्चात् लाभाश प्राप्त होता है तथा यदि उनका लाभाश संचयी (Cumulative) होता है तो गत लाभाश के लेने के भी जो अधिकारी होते हैं ऐसे अंशधारी कम्पनी के निस्तारण (Liquidation) करने का सुझाव उपस्थित कर सकते हैं। जिस सुझाव के कारण उनके मध्य हुए निर्गमन के निर्बन्ध (Terms of issue) के अनुसार कम्पनी से उन्हें लाभाश का समस्त शेष धन समान रूप से प्राप्त करने का अधिकार होता है जबकि बिचारे साधारण अंशधारियों को उस समय कुछ भी धन प्राप्त नहीं होता। यहाँ तक कि उन्हें यह बतला दिया जाता है कि निस्तारण के कारण बलपूर्वक सामग्री के बेचने से ऋणपत्रों तथा ऋणदाताओं के धन को चुकाकर उनके लिए कुछ भी शेष नहीं रहा। इस कारण प्राय. उन्हें पुनर्संगठन (Re-organisation) के लिए भी मजबूर किया जाता है, जिसमें संभवत: उनके शेष धन (Arrears) के निरस्तीकरण (Cancellation) या जमा करने के लिए ही केवल सलाह नहीं दी जाती, वरन् अपनी पूँजी की कटौती करने के लिए भी विवश किया जाता है। ऐसी योजना के लिए यही उचित दिखाई देता है कि ऐसे अंशधारियों को अधिकारों में भाग देते हुए या साधारण अंशों के स्वतन्त्र वितरण (Free allotment) करते हुए उन्हें भविष्य में लाभ प्राप्त करने के लिए और अंश दिए जाने चाहिए।

साधारणतया पुनर्सङ्गठन की योजना नवीन रोकड़-पूँजी (New cash Capital) प्राप्त करने के लिए बनाई जाती है। यदि इस योजना से पूर्व किसी प्रकार के ऋणपत्र स्थित रहते हैं तो उन पूर्व ऋणपत्रों के धारणकर्त्ताओं से नवीन निर्बन्ध किए जाते हैं। इससे कम्पनी के मालमता सम्बन्धी उनके पुराने निर्बन्धों का कोई प्रभाव नहीं रहता। इस प्रकार पुनर्संगठन की योजना पूँजी के समस्त प्राचीन कलेवर का ध्वंस कर डालती है तथा समस्त नवीन सामग्री को अत्यन्त पुष्ट एव दृढ रूप में प्रयोग करती है। वास्तविक रूप में यह योजना अंशधारियों एव ऋणपत्र-धारियों को बलपूर्वक धन बलिदान करने तथा उन्हें विवश करने के लिए बाध्य नहीं करती, परन्तु यह कम्पनी के दायित्व (Liability) की पुनर्व्यवस्था होती है। यदि इस योजना को आदर्श रूप में अपनाया जाय तो यह पुनर्संगठन की योजना पुरानी दोषपूर्ण आर्थिक योजना का सुधार करके नवीन आर्थिक योजना उपस्थित करने वाली कहलाती है।

पुनर्संगठन की प्रत्येक योजना में लगभग निम्नलिखित उद्देश्यों का समावेश रहता है :—(क) अधिक पूँजी-वृद्धि की दृष्टि से पूँजी कलेवर को सुगम बनाना ; (ख) निश्चित प्रभारों (Fixed charges) को कम करना ; (ग) विगत हानियों (Past losses) से छुटकारा पाना ; (घ) आवश्यक प्रतिज्ञाओं (Pressing obligations) का भुगतान करना या जमा करना तथा (ङ) सञ्चित लाभांशों (Accumulated preference dividends) की देखभाल करना।

किसी कम्पनी को पुनर्संगठन की योजना उसी समय अपनानी चाहिए जब वह आर्थिक संकटों से दूर हो जाय अर्थात् जब वह लाभ प्राप्त करना प्रारम्भ कर दे तथा उसकी प्रभावशाली हानियाँ समाप्त हो जायें तभी उसे पुनर्संगठन की योजना कार्य रूप में परिणत करनी चाहिए।

वैधानिक पद्धति (Legal Procedure) :—कम्पनी, उसके सदस्य तथा उसके ऋणदाताओं की व्यवस्था सम्बन्धी पुनर्संगठन की योजना सदैव धारा १५३ के अनुसार प्रयोग में लाई जा सकती है। इस योजना में प्रायः कम्पनी की पूँजी-व्यवस्था का पुनर्संगठन तथा ऋणदाताओं के साथ समझौता उपस्थित किया जाता है। उक्त धारा के अनुसार बहुधा इस योजना की निम्नलिखित रूप-रेखा होती है —

(१) किसी कम्पनी, सदस्य ऋणदाता या निस्तारक (Liquidator) के आवेदन-पत्र भेजने पर न्यायालय श्रेणी या वर्ग-सभा करने की आज्ञा देता है क्योंकि कम्पनी में विभिन्न वर्ग के अंशधारी तथा ऋणदाता (Creditors) होते हैं जो कि उक्त आवेदन पत्र से सम्बन्ध रखते हैं। उस सभा का कार्यक्रम भी न्यायालय के आदेश में लिखा रहता है। यदि ऐसा नहीं होता तो अन्तर्नियमों के अनुसार सभा की कार्यवाही सम्पन्न की जाती है।

(२) यदि उस पृथक् वर्ग-सभा में स्वयं या प्रतिपुरुष (Proxy) के रूप में मताधिकारी सदस्यों या ऋणदाताओं की ३/४ उपस्थित संख्या द्वारा वह योजना बहुमत से मान्य हो जाती है, तो न्यायालय द्वारा स्वीकृत होने पर वह योजना सभी सदस्यों तथा ऋणदाताओं (Creditors) को माननी पड़ती है तथा न्यायालय के आदेश की एक प्रतिलिपि पञ्जीयक या रजिस्ट्रार के यहाँ प्रस्तुत करनी पड़ती है।

(३) न्यायालय के आदेश के विरुद्ध अपील भी की जाती है।

यदि पुनर्संगठन-योजना के द्वारा धारा ५५ के अनुसार पूँजी में कमी (Reduction) की जाती है या धारा ५० के अनुसार पूँजी में परिवर्तन किया जाता है, जैसा कि प्राय. बहुत सी कम्पनियाँ किया करती हैं, तो न्यायालय द्वारा स्वीकृति प्राप्त करने से पूर्व उक्त धाराओं की आयोजना को भली भाँति देखना आवश्यक होता है।

धारा ५५ के अनुसार पूँजी में कमी (Reduction) करना तभी आवश्यक होता है, (क) जब विनष्ट पूँजी (Lost Capital) को, मालमत्ते के अर्को को ठीक करने के लिये, तथा लाभांश की पुनः प्राप्ति एवं यदि आवश्यक हो तो नवीन पूँजी की वृद्धि की दृष्टि से कम्पनी की उत्पादन-शक्ति के अनुपात में उसके मूल्यों के बराबर लाने के लिए बट्टेखाते में डाला जाता है; तथा (ख) जब अनावश्यक पूँजी (Superfluous Capital) अंशधारियों को वापिस कर दी जाती है। यदि किसी कम्पनी के अन्तर्नियमों में पूँजी को कम करने का आदेश होता है तो सर्वप्रथम वह एक विशेष प्रस्ताव पास करती है तथा इसके बाद उस कमी की पुष्टि के लिए

न्यायालय में आवेदन-पत्र भेजती है। जब न्यायालय अपने आदेश द्वारा उस प्रार्थना-पत्र को स्वीकार कर लेता है तो उस आदेश का विज्ञापन करा दिया जाता है तथा यदि ऐसा करने के लिए कोई विशेष कारण होता है तो न्यायालय कम्पनी के नाम के साथ "और कम की गई" (And Reduced) शब्द जोड़ने का आदेश दे सकता है।

धारा ५० के अनुसार कोई कम्पनी अपनी अंश पूँजी में—वृद्धि के द्वारा, अंशों के एकत्रीकरण (Consolidation) तथा अधिक धन के अंशों में विभाजन के द्वारा, उनके अंशों को स्कंध (Stock) में या स्कंध को अंशों में परिवर्तन करने के द्वारा, अनिर्गमित अंशों के निरस्तीकरण (Cancellation) द्वारा या उसके अंशों के उप-विभाजन (Sub-division) द्वारा—परिवर्तन कर सकती है। उपर्युक्त कोई भी बात कम्पनी के एक साधारण प्रस्ताव द्वारा की जा सकती है, केवल प्रतिबंध इतना ही है कि कम्पनी के अन्तर्नियमों में इसके लिए आवश्यक अधिकार दिए रहने चाहिए। अन्तर्नियमों में प्राय साधारण प्रस्ताव के स्थान पर असामान्य या विशेष प्रस्ताव पास करने का भी निर्देश रहता है। जब कम्पनी की अंश-पूँजी में परिवर्तन किया जाता है तो उसकी आवश्यक सूचना पञ्जीयक (Registrar) के यहाँ भी प्रस्तुत करनी चाहिए और यदि पूँजी में वृद्धि की जाती है तो आवश्यक शुल्क भी जमा कर देना चाहिए।

टिप्पणी—कम्पनी के सघ सीमानियम (Memorandum) या अन्तर्नियमों (Articles) में उन अधिकारों के परिवर्तन (Variation) करने का अधिकार दिया होता है जो कम्पनी के अंशों की किसी श्रेणी से सम्बन्ध होते हैं तथा उस श्रेणी के निर्गमित अंशों के धारणकर्त्ताओं का निर्दिष्ट अनुपात उससे सहमत होता है या जो उन अंशों के धारणकर्त्ताओं की किसी पृथक् सभा में पास किए गए प्रस्ताव की स्वीकृति से सम्बन्धित होते हैं। ऐसा अधिकारों का परिवर्तन पुनर्संङ्गठन की योजना का कोई आवश्यक भाग नहीं होता। सम्भवतः यह उदाहरण के लिए, एक असुविधाजनक आयोजन से बचने का प्रयत्न हो सकता है जो कि प्राय कम्पनी की पूँजी-वृद्धि करने के मार्ग में अड़चन डाला करता है। चाहे कुछ भी हो, भले ही कम्पनी के सीमानियम या अन्तर्नियमों के अनुसार किसी प्रकार की भी आवश्यक स्वीकृति प्रदान की जाय परन्तु फिर भी धारा ६६–A के अनुसार जो अंशधारी इस परिवर्तन (Variation) से सहमत नहीं होते वे अपील करने के विशेष अधिकार रखते हैं। निर्गमित अंशों के कम से कम दस प्रतिशत को धारण करने वाले ऐसे असहमत सदस्य १४ दिनों के अन्दर ही परिवर्तन को निरस्त (Cancell) कराने के लिए न्यायालय में आवेदन-पत्र भेज सकते हैं। इस मामले की सुनवाई होने के उपरान्त न्यायालय या तो उस परिवर्तन को अस्वीकार कर देता है या उसकी पुष्टि कर दी जाती है।

पुनर्निर्माण (Reconstruction)

कम्पनियों के 'पुनर्निर्माण' से प्राय यह तात्पर्य होता है कि एक स्थित कम्पनी का व्यवसाय किसी पूर्व स्थित दूसरी कम्पनी को बेचा जाय या ऐसी कम्पनी को बेचा जाय जो इसी कार्य के लिए संस्थापित हुई हो। विक्रेता कम्पनी (Vendor company) या तो स्वय निस्तारण (Liquidation) की दशा में उपस्थित होती है या न्यायालय की आज्ञा द्वारा उसे विलीन होना पड़ता है। ऐसी दशा में 'पुनर्निर्माण' प्राय निम्नलिखित परिस्थितियों में प्रयोग किया जाता है —

(क) जब कोई कम्पनी अपनी विनष्ट पूँजी (Lost capital) को बट्टे खाते में डालने तथा पूर्णप्रदत्त अंशों को अंशत: प्रदत्त अंशों में परिवर्तित करते हुए अधिक पूँजी की वृद्धि करने में असफल रहती है, तथा

(ख) नवीन अधिकार प्राप्त करने के लिए या कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय को बदलने के लिए अथवा सम्मिश्रण (Amalgamation) करने के अभिप्राय से भी 'पुनर्निर्माण' का उपयोग किया जाता है। यह पुनर्निर्माण बहुधा निम्नलिखित ढगों से किया जाता है —

(१) सीमानियम के अनुसार (Under the Memorandum) — यदि कम्पनी के सीमानियमों में इस प्रकार का निर्देश होता है तो सचालक लोग कम्पनी के व्यवसाय तथा उद्यम को बेच सकते हैं, परन्तु धारा ८६-H के अनुसार यदि वह कम्पनी सार्वजनिक कम्पनी होती है या सार्वजनिक कम्पनी की सहायक कम्पनी होती है तो व्यापक सभा में कम्पनी की राय लेकर ही वे ऐसा कर सकते हैं। व्यवसाय आदि के बेचे जाने पर भी वह कम्पनी सधारी कम्पनी (Holding Company) के रूप में, जिसके कि अंश हस्तान्तरणग्रहीता (Transferee) कम्पनी में मुख्य मालमत्ते (Principal Assets) के रूप में रहते हैं, अपनी पृथक् सत्ता बनाये रखती है या यदि उसका व्यवसाय नकद रुपयों में बिक जाता है तो उस प्राप्त धन को नवीन सामग्री या मालमत में लगाकर वह अपना अस्तित्व बनाये रखती है। यदि उस प्राप्त धन को अंशधारियों में विभाजित करना पड़ता है अथवा कम्पनी की परिसमाप्ति (Wind up) हो जाती है तो धारा २०८-C के अनुसार पुनर्निर्माण (Reconstruction) करना चाहिए।

यदि कोई कम्पनी अपने उद्यम (Undertaking) या व्यवसाय को बेचने की कोई योजना बनाती है तो ऐसा करने का अधिकार सदैव सीमानियम में लिखा हुआ रहना चाहिए। यदि वह अपने असहमत अंशधारियों (Dissentient shareholders) के अधिकारों के लिए सीमानियम में कोई आयोजन (Provision) नहीं करती तो उसके सदस्यों में होने वाला अंश का विभाजन या क्रीत कम्पनी (Purchasing-

company) से प्राप्त हुआ अन्य प्रतिफल (Consideration) अव्यवहार्य (Void) माना जाता है।

(२) धारा २०८ C के अनुसार (Under Section 208-C) — जब किसी कम्पनी को अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है तो उसे उक्त धारा के अनुसार अपने व्यवसाय का बेचना आवश्यक हो जाता है। वह कम्पनी अपने स्थित अंशधारियों पर कुछ दबाव डाले बिना धन प्राप्त भी नहीं कर सकती। अत ऐसा करने के लिए नवीन कम्पनी का निर्माण किया जाता है और प्राचीन कम्पना अपने निस्तारक (Liquidator) के द्वारा अपने उद्यम को नवीन कम्पनी के हाथों इस प्रकार बेच देती है जिससे प्राचीन कम्पनी का प्रत्येक अंशधारी नवीन कम्पनी में एक या अधिक अंशों का अधिकारी हो जाता है। परन्तु यहाँ प्राचीन कम्पनी में जो अंश पूर्ण प्रदत्त होते हैं, वे नवीन कम्पनी में केवल अंशत प्रदत्त (Partly paid) हो जाते हैं, जिससे प्रत्येक अंशधारी या तो नवीन दायित्व धारण करने के लिए तैयार हो जाता है या उसे अपने अंश छोड़ने पड़ते हैं। इस धारा के अनुसार उन अंशधारियों के अधिकारों की पर्याप्त रक्षा हो जाती है, जो इस योजना से सहमत नहीं होते। केवल इतना अवश्य है कि उन्हें अपना मतभेद (Dissent) ठीक प्रकार से सूचित करना चाहिए।

टिप्पणी—इस धारा के अनुसार निस्तारण द्वारा एक कम्पनी का उद्योग दूसरी स्थित कम्पनी को बेचा जा सकता है, परन्तु उससे प्राप्त प्रतिफल (Consideration) पूर्ण प्रदत्त अंशों से सहमत होना चाहिए। यह दशा वहीं होगी जब कोई कम्पनी सम्मिश्रण (Amalgamation) के उद्देश्य से पुनर्निमित की जाती है।

इस धारा के अनुसार निम्नलिखित वैधानिक पद्धति (Legal procedure) प्रयोग में लाइ जाती है —

यदि कोई कम्पनी स्वय परिसमाप्त होने का सुझाव रखती है या होती है तथा उसकी सम्पत्ति को किसी नवीन स्थापित या अन्य किसी स्थित कम्पनी के हाथों बेचने या हस्तान्तरण (Transfer) करने के लिए सुझाव रक्खा जाता है, तो प्रथम कम्पनी का निस्तारक (Liquidator) एक विशेष प्रस्ताव की स्वीकृति के द्वारा, प्रथम कम्पनी के सदस्यों में विभाजित करने के लिए दूसरी कम्पनी से सहायक अंश आदि (Compensation Shares etc) प्राप्त करता है। इस आयोजन में प्रथम कम्पनी के सभी सदस्य बद्ध रहते हैं। परन्तु यदि कोई सदस्य जोकि विशेष प्रस्ताव के लिए अपना मत न देकर, निस्तारक को सम्बोधित करते हुए लिखित रूप में अपना मत भेद प्रकट करता है तथा प्रस्ताव पास होने से ७ दिनों के अन्दर ही कम्पनी के रजिस्टर्ड कार्यालय में उसे भेज देता है तो वह निस्तारक द्वारा प्रस्ताव के प्रभाव से वंचित हो सकता है तथा निर्बन्ध (Agreement) द्वारा निश्चित की हुई या निर्बन्ध के अभाव में

पंचायत (Arbitration) द्वारा निश्चित की हुई कीमत पर अपने हित को खरीद सकता है।

धारा २०६-F के अनुसार उपर्युक्त पद्धति ऋणदाताओं द्वारा स्व-प्रेरणा से परिसमाप्ति करने पर भी लागू होती है। केवल अन्दर इतना ही रहता है कि कम्पनी के विशेष-प्रस्ताव पास करने के स्थान पर यहाँ यह योजना न्यायालय या निरीक्षक-समिति (Committee of Inspection) द्वारा ही स्वीकृति होनी चाहिए।

(२) धारा १५३ तथा १५३-A के अनुसार (Under Section 153 and 153-A) :—यह पुनर्निर्माण या सम्मिश्रण (Reconstruction or amalgamation) धारा १५३ के अनुसार नवीन व्यवस्था की योजना द्वारा भी उपयोग में लाया जाता है, परन्तु ऐसी दशा में न्यायालय धारा २०८C के अनुसार असहमत अंशधारियों के अधिकारों की समुचित सुरक्षा का प्रबन्ध कर सकता है। जब धारा १५३ के अनुसार पुनर्निर्माण या सम्मिश्रण किया जाता है तो धारा १५३ A के अनुसार न्यायालय विक्रेता-कम्पनी (Vendor Company) की सम्पत्ति का क्रेता कम्पनी (Purchasing Company) को अधिकारी बनाने का आदेश दे सकता है। उस आदेश में विक्रेता कम्पनी के सदस्यों के अंश आदि क्रेता कम्पनी में समुचित व्यवस्था तथा बिना परिसमाप्ति (Winding up) के विक्रेता कम्पनी के विलीन होने का आयोजन होता है।

टिप्पणी—'पुनर्निर्माण' बहुधा पुनर्संङ्गठन (Reorganisation) की योजना के लिए भी प्रयुक्त होता है। इस बात की व्याख्या पहले ही की जा चुकी है।

सम्मिश्रण (Amalgamation)

सम्मिश्रण तथा दो या अधिक कम्पनियों के हितों पर नियन्त्रण की प्राप्ति प्रायः विनाशकारी प्रतिस्पर्द्धा (Destructive Competition) को रोकने तथा उत्पादन में मितव्ययता लाने एवं कम्पनी के कार्य-क्षेत्र को विस्तीर्ण करने के उद्देश्य से काम में लाई जाती हैं। सम्मिश्रण प्रायः निम्न रीति से उपयोग किया जाता है :—

(१) धारा १५३, १५३ A तथा २०८-C के अनुसार जैसा कि पहले कहा जा चुका है, एक कम्पनी का व्यवसाय दूसरी कम्पनी को हस्तान्तरित किया जाता है और विक्रेता कम्पनी परिसमाप्ति या न्यायालय की आज्ञा द्वारा विलीन हो जाती है।

(२) एक कम्पनी दूसरी कम्पनी के हितों पर नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए उसके अंशों को खुले बाजार में पर्याप्त संख्या में खरीद सकती है। परन्तु यह पद्धति बहुधा कार्यशील नहीं दिखाई देती, क्योंकि उनको रोकने के लिए प्रायः अंशों की कीमत बढ़ जाती है।

(३) धारा १५३ B के अनुसार भी कम्पनियों का सम्मिश्रण (Amalgamation) हो सकता है। इस धारा के अनुसार इस योजना के लिए सभा में किसी प्रस्ताव के पास करने की आवश्यकता नहीं होती और यह असहमत अंश-

धारियों को भी बद्ध करने वाली होती है। इस प्रकार यदि 'अ' कम्पनी 'ब' कम्पनी के सचालकों से सलाह करने के उपरान्त 'ब' कम्पनी के किसी भी श्रेणी के अ शधारियों से अपने अ शों को नकद या अ शों के रूप में खरीदने का प्रस्ताव करती है और उस कम्पनी क अ शों के ६/१० भाग के धारण करने वाले यदि उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेते हैं तो निर्दिष्ट चार महीनों की समाप्ति के उपरान्त दो महीने के अन्दर 'अ' कम्पनी 'ब' कम्पना क किसी असहमत अशधारियों को सूचना दे सकती है कि वह कम्पनी उनके अ शा को मूल प्रस्ताव के रूप में ही प्राप्त करना चाहती है।

जब न्यायालय असहमत अ शधारियों के आवेदन को उचित समझता है तो दूसरी बात है, नहीं तो 'अ' कम्पनी अ शों के प्राप्त करने की अधिकारिणी हो जाती है। इस मामने का फैसला 'ब' कम्पनी के द्वारा होता है। इसका यह अर्थ है कि 'अ' कम्पनी समस्त प्रतिफल को 'ब' कम्पनी के लिए सौंप देती है और 'ब' कम्पनी 'अ' कपनी को अ शधारी के रूप में अपने यहाँ रजिस्टर कर लेती है। इस तरह 'ब' कम्पनी को ही प्राप्त हुए प्रतिफल (Consideration) के लिए असहमत अ शधारियों से हिसाब करना पड़ता है।

Test Questions

1 What qualifications should the secretary of Joint Stock Company possess in order to perform his duties efficiently ? (Agra M Com 1948)

2. What are generally the duties of the secretary of a Joint Stock Public Company ? (Agra B Com 1942)

3 Describe in detail the law and practice regarding the forfeiture of shares and the reissue of forfeited shares (Agra, M Com 1948)

4 Define a Share Certificate When must such certificates be issued to allottees and transferees and what is the remedy of a share holder whose certificate has been lost or destroyed ? (Agra B Com 1948)

5 What precautions should a company secretary take before issuing a duplicate share certificate in place of the one lost by a share-holder ? (Agra M Com 1947)

6 In what ways can a Joint Stock Company borrow money ? What security can it offer ? (Bombay B Com 1940)

7 Describe briefly the secretarial practice relating to the transfer of a company s shares and draft the notices that have to be issued to transferors and/or transferees (Agra M Com 1945)

8 Distinguish between transfer and transmission of shares What procedure is followed in each case ? (Agra M Com 1947)

9. What statutory books and records are required to be kept by a company under the Indian Companies Act? (Agra, M Com 1947)

10. Summarise briefly the provisions of the Indian Companies Act relating to a company's Register of Members (Agra, M. Com 1945)

11. What is an annual return? What are its contents? (Agra M Com 1948)

12. What are the rights of the shareholders of a public limited company regarding the inspection of and the obtaining of copies of (a) the account books of the company (b) the minute book of general meeting, and (c) the minute books of directors meetings? Does the right to inspect also entitle shareholders to take copies themselves or through their agents? (Agra B Com 1948)

13. What do you understand by a special resolution? How is such a resolution passed by a company? Draw up one supplying imaginary details (Agra M. Com 1947)

14. Within what time is a statutory meeting required to be held? Is there any difference in regard to this meeting for a private or a public company? Draw up an agenda for a statutory meeting (Agra B Com 1946)

15. What business is usually transacted at the statutory meeting of a public company? Draft specimen minutes of such a meeting (Agra B Com 1946)

16. What is the legal provision for the holding of the ordinary general meeting of a company? What business is transacted at such meetings? What are the duties of the secretary in this connection? (Agra M Com 1948)

17. Draft a short Director's Report of a limited company as required by section 131 A of the Indian Companies Act of 1913 (Agra B Com 1945)

18. Mention the nature of business that can be validly transacted at the statutory ordinary and extraordinary general meetings of a limited company and draft a notice (for insertion in a newspaper) calling a general meeting of a company which has a number of foreign share holders some of whom have no registered address in British India and have not supplied to the company an address within British India for the giving of notices to them (Agra B Com 1944)

19. Draft notices for the following company meetings, giving the number of clear day s notice required in each case —(a) Statut-ry Meeting (b) Meeting to alter the articles of association and (c) Meeting to reduce the share capital (Agra B Com 1948)

20 What is the procedure to be followed at an annual general meeting of a joint stock company ? Describe the duties of the secretary in connection with the meeting (Bombay, B Com 1942)

21 Draft imaginary minutes of the annual general meeting of a limited company (Alld B Com 1940)

22 Distinguish between statutory meeting annual general meeting and extraordinary meeting of the shareholders of a company
(Alld. B Com 1937)

23 Write (a) a notice calling an extraordinary general meeting of a company for the purpose of altering its articles of association if the meeting is to be held immediately after the ordinary general meeting convened on the same date and (b) a circular to shareholders explaining the reason for such alteration (Agra M Com 1945)

24. Outline the general rules of procedure at company meetings in relation to resolutions amendments and voting
(Agra M Com 1945)

25 Draft in proper form the minutes of an annual general meeting of a limited company at which, in addition to the ordinary business some special business has also been transacted
(Agra B Com 1945)

26 What is meant by the closure and the previous question?
(Agra B Com 1943)

27 Draft an agenda of a meeting of the Board of Directors of a publ c company of about five items and then proceed to write minutes on the same in proper form (Agra B Com 1947)

28 What are the duties of a company secretary in connection with the meetings of its direct rs ? (Agra M Com 1946)

29. Draw up the agenda and write out the minutes of the meeting of directors of a sugar mill company convened to consider and pass the annual accounts of the company (Agra M Com 1947)

30 Draw up imaginary minutes in regard to the following four items considered and decided by the Board of Directors of a public limited company —

to raise a further capital of Rs 10 lakhs for financing a projected extension scheme Its present authorised and issued capital consists of 20 000 shares of Rs 100 each fully paid all shares being of the same class and it has not issued any debentures.

Examine briefly the various methods available for raising the additional finance and state with reasons which method in your opinion would be the best in circumstances mentioned above

(Agra B Com 1944)

18 Distinguish between the several legal forms under which working capital is obtained for joint stock undertakings

19 What is the role played by Indian banks in financing business concerns ? What improvements would you suggest ?

(Rajputana B Com 1949)

20 What do you understand by the working capital of a company? How would you estimate the amount of working capital a company should have ? What is meant by gearing a company s capital ?

(Rajputana, B Com 1951)

21 Is the supply of business finance adequate in Ind a ? Give reasons in support of your arguments (Bombay, B Com 1951)

बारहवाँ अध्याय

बीमा (Insurance)

प्रत्येक मनुष्य तथा वस्तु का जीवन अनिश्चित होता है। किसी के भविष्य के बारे में कोई निश्चितता नहीं होती। भविष्य में क्या होगा? कल क्या होने वाला है? इसके बारे में सभी व्यक्ति अज्ञात रहते हैं। भविष्य की इसी अनिश्चितता तथा जीवन की अस्थिरता के कारण ही बीमा (Insurance) की पद्धति का जन्म हुआ। भारतवर्ष में भी आज अधिकांश लोग इस पद्धति का प्रयोग करते हैं और इससे समुचित लाभ उठाते हुए अपना जीवन को सुन्दर एवं सुखद बनाने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि इस पद्धति का प्रयोग यहाँ भविष्य की अनिश्चितता के कारण अधिक नहीं दिखाई देता, परन्तु जीवन की आगामी हानियों से बचने के लिए इसका उपयोग अधिक होता है। सर मिर्जा इस्माइल के शब्दों में "बीमा के अन्तर्गत दया के समान गुण होते हैं। इसके प्राप्त कर्त्ता तथा प्रदायक दोनों सौभाग्य के अधिकारी होते हैं। यह बीमा जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त आपकी रक्षा करता है।"

बीमा, खतरे से बचने के लिए एवं अपने हितों की सुरक्षा के लिये किया हुआ एक अनुबन्ध (Contract) होता है, जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को हानि होने की दशा में उसकी क्षति-पूर्ति करने का भार अपने सिर पर लेता है। बीमा का प्रमुख उद्देश्य यह है कि मानव को खतरे से बचाने के लिये उसका उत्तरदायित्व समस्त समाज में विभाजित कर दिया जाय और फिर सामूहिक रूप से आर्थिक सहायता पहुँचाते हुए समाज के प्रत्येक व्यक्ति की आपत्तियों से रक्षा की जाय। इस कार्य में सहयोग प्रदान करने के लिए बीमा-कम्पनियाँ खोली जाती हैं। इस प्रकार बीमा एक पारस्परिक सहयोग का साधन है। इसके द्वारा भय ग्रस्त अधिकांश लोग सामूहिक रूप से अपनी सुरक्षा के निमित्त आकर एकत्रित हो जाते हैं और अपने थोड़े-थोड़े धन का संग्रह करके पारस्परिक संकट में सहायक होते हैं। इस तरह जो खतरा या भय एक व्यक्ति के सिर पर ही मँडराता है, वह अधिक से अधिक लोगों में विभाजित हो जाता है।

जो व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की हानि की दशा में क्षति पूर्ति करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है वह "बीमा-कर्त्ता" या "आगोपक" (Insurer or Assurer) कहलाता है, तथा जिस व्यक्ति की क्षति-पूर्ति की जाती है वह व्यक्ति या धन "आगोपित" (Insured or assured) कहलाता है। इस अनुबन्ध के लिए निश्चित अवधि पर कुछ शुल्क भेजा जाता है, उसे "प्रयाजि" (Premium) कहते हैं। जिस प्रलेख पर बीमा

सम्बन्धी शर्तें लिखी जाती हैं वह "बीमा प्रलेख" (Policy) कहलाता है, इस पर सरकारी मुद्राक लगाया जाता है। आजकल बीमा के कितने ही स्वरूप (Forms) प्रचलित हैं और इस आधुनिक साधन द्वारा खतरों से बचाने का पर्याप्त प्रयत्न किया जाता है। वैसे बीमा को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है —जीवन-बीमा (Life Insurance) तथा सामान्य-बीमा (Non-life Insurance)। इस दूसरे भाग को व्यापक बीमा (General Insurance) भी कहते हैं, इसके अन्तगत अग्नि बीमा (Fire Insurance), सामुद्रिक बीमा (Marine Insurance) मोटर कार बीमा, तृतीय पक्षीय बीमा (Third Party Insurance), कर्मचारियों की क्षति-पूरक बीमा (Workmen's Compensation Insurance), क्रान्ति एवं सामाजिक हलचल सम्बन्धी बीमा (Insurance against Riot and Civil Commotion) आदि आते हैं।

बीमा के लिए अंग्रेजी भाषा में दो शब्दों का प्रयोग किया जाता है। एक "एश्योरेंस" (Assurance) तथा दूसरा "इंश्योरेंस" (Insurance)। पहले शब्द का प्रयोग जीवन-बीमा के लिये होता है तथा दूसरा शब्द अग्नि बीमा, सामुद्रिक बीमा आदि के लिए प्रयोग में लाया जाता है। इस तरह "इंश्योरेंस" का सबंध तो उन घटनाओं से होता है जो कभी घटित होती हैं और कभी नहीं होतीं, परन्तु 'ऐश्योरेंस' सदैव जीवन पर निर्भर रहता है।

बीमा के अनुबन्ध की विशेषतायें (Essentials of Insurance Contracts) —अन्य अनुबन्धों की भाँति बीमा अनुबंध भी भारतीय अनुबंध विधान (Indian Contract Act) के अनुसार किया जाता है। इसकी व्यवहार्यता के लिए अन्य अनुबंधों के समान इसमें भी आवश्यक बातें रहनी चाहिए, अर्थात् प्रत्येक बीमा अनुबंध में (१) प्रस्ताव एवं स्वीकृति (Offer and acceptance), (२) दोनों पक्षों में अनुबंध करने की योग्यता (Competent parties), (३) महान् उद्देश्य (Genuine object) तथा (४) प्रतिफल (Consideration) का होना आवश्यक होता है। जो अग्नि या सामुद्रिक घटना आदि पर बीमा किये जाते हैं, उनके अनुबंधों द्वारा एक बीमा कराने वाले व्यक्ति को केवल उतनी ही राशि दी जाती है जितनी उसकी वास्तविक हानि होती है। इस तरह ये अनुबंध क्षतिपूरक अनुबंध (Contracts of Indemnity) कहलाते हैं। परन्तु जीवन-बीमा सम्बन्धी अनुबंध क्षति पूरक अनुबंध नहीं होते। इसके अनुसार बीमा कराने वाले व्यक्ति को अथवा उसके उत्तराधिकारी को निश्चित अवधि के उपरान्त निश्चित राशि मिल जाती है, चाहे उस बीमा कराने वाले की मृत्यु हो अथवा नहीं।

क्षति पूरक अनुबंध में दो विशेषताएं और होती हैं। पहली यह कि जिन वस्तुओं का हम बीमा करना चाहते हैं उनके विषय में हमारा बीमा-योग्य हित (Insurable Interest) होना चाहिए। इस हित का अर्थ यह है कि उस वस्तु

की सुरक्षा से हमें लाभ तथा नष्ट हो जाने से अत्यधिक आर्थिक हानि होनी चाहिए। इसकी विशद व्याख्या आगे की जायेगी, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि जीवन-बीमा में बीमा कराने वाले व्यक्ति के अन्दर बीमा विषयक हित (Interest) उस समय रहना अनिवार्य होता है जिस समय उसका बीमा प्रलेख तैयार किया जाता है; सामुद्रिक बीमा में हानि के समय इस हित का होना आवश्यक होता है तथा अग्नि का बीमा कराने में यह हित बीमा कराते समय तथा आग लगने के समय दोनों स्थितियों में होना अनिवार्य होता है। यदि बीमा-योग्य हित के अभाव में ही कोई बीमा कराया जाता है, तो यह एक जुआ का सा अनुबंध माना जाता है जोकि विधान के अनुसार सर्वथा त्याज्य है।

इन क्षति पूरक बीमा-अनुबंध की दूसरी विशेषता यह है कि ये पूर्ण विश्वास-युक्त (Uberrimae fidei) अनुबंध होते हैं, अर्थात् इन अनुबंधों में बीमा की जाने वाली वस्तु के बारे में समस्त महत्त्वपूर्ण बातों का स्पष्टीकरण तथा चरम-विश्वास का उल्लेख अनिवार्य रूप से किया जाता है। यदि इनमें से कोई भी पक्ष किसी महत्त्वपूर्ण बात को छिपाने का प्रयत्न करता है तो ऐसा अनुबंध अव्यवहार्य (Void) माना जाता है, क्योंकि नियमानुसार किसी भी बात का छिपाना या मिथ्या प्रदर्शन करना त्याज्य है। बीमा सम्बन्धी अनुबंधों (Contract) में मिथ्या-प्रदर्शन (Misrepresentation) की अपेक्षा विश्वासपूर्ण बातों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। बीमा कराने वाले को अपनी जानकारी में किसी प्रकार की भी महत्त्वपूर्ण बात नहीं छिपानी चाहिए, उसे बीमा करने वाले के सामने सभी बातें ठीक-ठीक रूप में उपस्थित करना ही उचित माना जाता है क्योंकि किसी भी महत्त्वपूर्ण बात को छिपाने से बीमा-कर्त्ता के निर्णय में गड़बड़ी उत्पन्न हो सकती है। किसी भी बीमा-प्रलेख (Policy) के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बातों को जानते हुए भी कोई बीमा करने वाला उन्हें छिपाता है तो वह अनुबंध अव्यवहार्य या व्यर्थ हो जाता है। यही कारण है कि विधान ने बीमा-सम्बन्धी प्रत्येक महत्त्वपूर्ण बात को बीमा करने वाले के सामने प्रकट करना अनिवार्य कर दिया है, क्योंकि उसे अन्य किसी प्रकार भी ऐसी बातें मालूम नहीं होतीं जो कि बीमा-कराने वाला जानता है।

स्वत्वाधिकार के हस्तान्तरण-सम्बन्धी सिद्धान्त (Doctrine of Subrogation) —यह सिद्धान्त क्षति-पूर्ति वाले आग या सामुद्रिक बीमा-सम्बन्धी अनुबंधों पर लागू होता है। इसमें बीमा करने वाले को जिस वस्तु की क्षति-पूर्ति के लिये कुछ धन दिया जाता है वह उस वस्तु-सम्बन्धी समस्त अधिकारों एवं स्वत्वों का अधिकारी हो जाता है। यहाँ स्वत्वों का हस्तान्तरण करना स्वत्वाधिकार का हस्तान्तरण-सम्बन्धी सिद्धान्त (Doctrine of Subrogation) कहलाता है। नीचे इसके दो उदाहरण दिये जाते हैं :—

(क) 'अ' अपने घर का बीमा 'ब' से कराता है। उसके घर को 'स' नाम का पड़ौसी आग लगाकर नष्ट कर देता है। ऐसी दशा में 'अ' अपने घर की समस्त क्षति-पूर्ति 'ब' से करा लेता है। यहाँ पर 'ब' को घर में आग लगाने के सम्बन्ध में 'स' के विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही करने का अधिकार है।

(ख) एक बीमा कराया हुआ जहाज गायब हो जाता है और जहाज का स्वामी बीमा करने वाले से उसकी लागत वसूल कर लेता है। यदि किसी प्रकार वह जहाज फिर मिल जाता है तो उसका अधिकारी वह बीमा करने वाला ही माना जायेगा।

इस प्रकार बीमा की हुई वस्तु की क्षति-पूर्ति करने के उपरान्त ही बीमा-कर्त्ता उस वस्तु का स्वत्वाधिकारी माना जाता है। इसके अतिरिक्त बीमा-कर्त्ता के वे ही अधिकारी होते हैं जो उस वस्तु पर बीमा कराने वाले के रहते हैं और वह उस वस्तु के बारे में अभियोग चलाने का पूर्ण अधिकारी होता है।

दुहरा बीमा करना (Double Insurance) :—जब एक ही वस्तु या व्यक्ति का बीमा एक से अधिक बीमा-कम्पनियों में कराया जाता है उसे "दुहरा बीमा" कराना कहते हैं। जीवन-बीमा कराने में एक से अधिक बीमा-प्रलेख (Policies) एक ही जीवन पर प्राप्त किये जा सकते हैं, और उन समस्त बीमा-प्रलेखों का धन वैधानिक रूप से उन बीमा-कम्पनियों से प्राप्त हो सकता है। परन्तु आग-बीमा या सामुद्रिक-बीमा में यह सम्भव नहीं होता, क्योंकि ये बीमा केवल आग लगने या समुद्र में डूबने की क्षति पर ही निर्भर रहते हैं। ऐसे क्षतिपूरक बीमा कराने में सभी कम्पनियाँ जीवन-बीमा की भाँति धन नहीं देतीं। यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु का क्षति पूरक बीमा दो कम्पनियों में करा लेता है तो क्षति या हानि होने पर नियमानुसार वह क्षति से अधिक रुपया दोनों कम्पनियों से नहीं ले सकता। वह दोनों कम्पनियों से मिलाकर अपनी क्षति के समान रुपया लेने का ही अधिकारी होता है। यदि वह किसी प्रकार दोनों कम्पनियों से अलग-अलग रुपया लेने में अधिक धन ले लेता है तो बीमा-कम्पनियों के नियमानुसार उसे अधिक धन एक प्रन्यास (Trust) में जमा करना पड़ता है। फिर प्रत्येक क्षति-पूर्ति का बीमा-कम्पनी को अपनी बीमा की हुई वस्तु की क्षति-पूर्ति अनुपात में करनी पड़ती है, यदि कोई बीमा-कम्पनी को अपने अनुपात से अधिक धन दे देती है तो दूसरी कम्पनियों को उस धन की पूर्ति करनी पड़ती है।

उदाहरण के लिए कल्पना करो कि एक १२,००० रु० की जायदाद का आग-बीमा (Fire-insurance) तीन कम्पनियों में होता है; पहली कम्पनी ४,००० रु० में बीमा करती है, दूसरी ५,००० रु० में तथा तीसरी सारी जायदाद का ६,००० रु० में बीमा करती है। यदि वह जायदाद आग लगने के कारण पूर्णतः नष्ट हो जाती है तो बीमा कराने वाला केवल १२,००० रु० पाने का ही अधिकारी होता है; वह १५,००० रु०

तीनों कम्पनियों से नहीं ले सकता, क्योंकि आग-बीमा-प्रलेख में उसे केवल अपनी जायदाद की वास्तविक कीमत लेने का ही अधिकार होता है। वैसे १२,००० रु० की इस क्षति की पूर्ति वह किसी भी बीमा कम्पनी से कराने का अधिकारी होता है और प्रत्येक कम्पनी से अपनी बीमा की हुई राशि के लिए वह स्वतन्त्र प्रकार कर सकता है। वह ४,००० रु० के लिए पहली कम्पनी से, ५,००० के लिए दूसरी कम्पनी से तथा ६,००० रु० के लिए तीसरी कम्पनी से माँग कर सकता है, परन्तु प्रत्येक कम्पनी उस अपने अनुपात के अनुसार ४ १५, ५ १५, ६ १५ राशि ही अलग-अलग देगी और यदि कोई कम्पनी अपने अनुपात से कुछ अधिक राशि उसे दे देती है तो वह उस अधिक राशि को कम देने वाली कम्पनी से वसूल कर सकती है, परन्तु बीमा वाले को तो प्रत्येक दशा में १२,००० रु० ही दिये जायेंगे।

६ **पुनर्बीमा कराना (Reinsurance)** —जब कोई बीमा कराने वाला यह देखता है कि यह बीमा उसकी शक्ति से अधिक है और इतनी जोखिम वह नहीं उठा सकेगा, तो वह उसी बीमा की हुई वस्तु का बीमा पूर्ण भाग में या अंश में किसी अन्य बीमा करने वाले से करा लेता है। यही पुनर्बीमा कराना कहलाता है और इस पर भी मूल-बीमा के समान ही नियम लागू होते हैं। पुनर्बीमा प्रलेख (Reinsurance Policy) में इस बात की स्पष्ट घोषणा रहती है कि यह पुनर्बीमा सम्बन्धी अनुबंध है। बीमा चाहे जीवन सम्बन्धी हो, आग सम्बन्धी या समुद्र-सम्बन्धी हो—सभी का पुनर्बीमा हो सकता है। यह दुहरे बीमा से पूर्णतया भिन्न होता है। पुनर्बीमा के अन्तर्गत एक बीमा कम्पनी उसी बीमा की जोखिम उठाने को तैयार होती है जिसे कोई बीमा कम्पनी पहले कर लेती है। इस प्रकार पुनर्बीमा का अनुबंध प्राय दो बीमा कम्पनियों के बीच में ही होता है तथा बीमा कराने वाले व्यक्ति को इससे कोई मतलब नहीं रहता।

जीवन बीमा एक इस प्रकार का बीमा होता है जिसमें बीमा करने वाले को निश्चित सामयिक प्रव्याजि (Premium) के रूप में कुछ धन अनुबंध के अनुसार बीमा कराने वाला व्यक्ति देता है तथा उसकी मृत्यु होजाने पर या निश्चित आयु प्राप्त कर लेने पर वह बीमा करने वाला व्यक्ति एक निश्चित राशि उसे देने की जिम्मेदारी स्वीकार करता है।

आधुनिक सामाजिक सगठन की दुर्बलता एवं संकटपूर्ण परिस्थिति के कारण जीवन बीमा कराने की प्रवृत्ति अधिक प्रचलित दिखाई देती है। अनेक जीवन-बीमा कम्पनी भी स्थापित होती जा रही हैं तथा ये कम्पनियाँ प्रतिस्पर्द्धा में विजय प्राप्त करने के लिए अनेक अभिकर्त्ताओं (Agents) को नियुक्त करने लगी हैं। जीवन बीमा के लाभों को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता, इतना अवश्य है कि जो व्यक्ति ईश्वर में विश्वास नहीं करते तथा अधिक आत्मज्ञानी बनने का प्रयत्न करते हैं वे अवश्य इस

पद्धति का तिरस्कार करते हैं। परन्तु एक संसारी पुरुष को तो अपनी वृद्धावस्था के लिये अथवा अपने आश्रित व्यक्तियों की सुरक्षा के लिए इस जीवन बीमा का करना अत्यावश्यक होता है। कितने ही ऐसे परिवार आज देखने में आते हैं जिनमें यदि जीविका कमाने वाले व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो उन्हें अत्यन्त कष्टपूर्ण परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। यद्यपि संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली के कारण बीमा के लाभ अधिक नहीं दिखाई देते, परन्तु आजकल अधिक से अधिक लोग एकाकी जीवन बिताते हैं, अतः उनकी तथा उनके आश्रितों की सुरक्षा के लिए जीवन-बीमा के अतिरिक्त अन्य कोई सुगम साधन नहीं दिखाई देता।

जीवन-बीमा में दो तत्व होते हैं, जिनमें पहला तत्व सुरक्षा तथा दूसरा तत्व विनियोग कहलाता है। पहला तत्व सभी प्रकार के—अर्थात् आग, समुद्र, दुर्घटना (Accident) आदि सम्बन्धी बीमाओं में निहित रहता है, परन्तु दूसरा तत्व केवल जीवन बीमा में ही पाया जाता है। विनियोग-तत्व के कारण ही प्रायः लोग जीवन-बीमा कराते समय अधिक से अधिक प्रव्याजि (Premium) देने को उद्यत होजाते हैं और इस जीवन-बीमा में दोनों तत्वों अर्थात् सुरक्षा एवं विनियोग का सुन्दर सामञ्जस्य होने के कारण ही उन्हें बीमा कराने में आपत्ति नहीं दिखाई देती। आजकल लोग जीवन-बीमा अधिक इसी कारण कराने लगे हैं क्योंकि यदि वे डाकखाने में अपना रुपया जमा करते हैं तो जमा करने वाले की मृत्यु हो जाने पर जितना रुपया जमा है उस पर थोड़ी सी ब्याज लगाने के अतिरिक्त एक पाई भी अधिक डाकखाना नहीं देता, परन्तु यदि जीवन-बीमा कराया जाता है और अकस्मात् किसी प्रकार थोड़े से वर्षों में ही बीमा कराने वाले की मृत्यु हो जाती है तो जितनी राशि का बीमा होगा उतनी राशि आपके परिवार को कुछ ही अवधि में प्राप्त हो जायगी। इस प्रकार विनियोग में आपको सुरक्षा भी इस जीवन बीमा में निहित रहती है। उधर डाकखाने वाले धन में विनियोग तो रहता है, परन्तु सुरक्षा नहीं रहती। इसी प्रकार आग-बीमा में सुरक्षा का तत्व तो रहता है परन्तु विनियोग-तत्व नहीं पाया जाता। यदि कोई व्यक्ति अपने किसी भवन का आग बीमा एक वर्ष के लिए कराता है और उस वर्ष के अंत तक उसमें कोई आग वगैरह नहीं लगती तो बीमा कम्पनी उसके द्वारा दी हुई प्रव्याजि के लिए कुछ भी नहीं देती। बीमा कम्पनी केवल आग लगने पर ही निश्चित धन देने का अधिकार रखती है और यही वह अपने अनुबंध में पहले लिखवा लेती है कि केवल हमारे होने पर ही वह क्षति-पूर्ति करेगी, परन्तु हानि के न होने पर बीमा कराने वाले को कुछ भी माँगने का अधिकार नहीं होता। यही कारण है कि ऐसे बीमाओं में सुरक्षा तत्व तो रहता है परन्तु विनियोग (Investment) तत्व का सर्वथा अभाव पाया जाता है। परन्तु जीवन-बीमा में दोनों तत्व रहते हैं।

जीवन-बीमा की आवश्यकता (Need for Life Assurance) :— आजकल अधिकांश लोग जीवन बीमा की आवश्यकता को समझने लगे हैं और प्रति दिन संसार में अधिक से अधिक लोग बीमा के बारे में विचार करते रहते हैं। सन् १९२९ के वाल-स्ट्रीट (Wall Sreet) वाले झगड़े के समय तथा उसके कारण होने वाली मंदी के कारण विश्व के हजारों लोगों का धन नष्ट हो गया था, अत उसी समय से साधारण तथा अच्छी आय वाले दोनों प्रकार के लोगों को अपने स्थायित्व एवं सुरक्षा के लिए जीवन बीमा का महत्त्व दिखाई दिया था। उस सकट-काल में, वह विनियोग जिसका कि मूल्य घटता हुआ नहीं दिखाई देता था तथा जिसका भुगतान कठोर निर्बन्धों के कारण रुपये में सोलह आने हो सकता था उसका सम्बंध जीवन बीमा से ही था अर्थात् जीवन-बीमा कराने में लगाया हुआ धन उस संकट के समय से सब तरह से सुरक्षा प्रदान कर सकता था।

परन्तु मानव की अभिलाषा सदैव शीघ्र ही धनवान बनने की होती है। हम सदैव कठिन से कठिन परिश्रम द्वारा कमाये हुए धन को इस आशा में खतरे के अन्दर डालने को तैयार हो जाते हैं कि यह धन अत्यधिक मात्रा में बढ़कर वापिस आ जायेगा। जब कभी अंश-बाजार चढ़ता हुआ दिखाई देता है और हम कुछ धन कमा लेते हैं तो हम बड़े आनन्दित रहते हैं, उस समय हम यह पता लगाने का कष्ट नहीं करते कि बाजार क्यों इतना चढ़ा है; परन्तु जैसे ही बाजार गिरता है और हमें कुछ हानि होती दिखाई देती है तब हम आश्चर्य किया करते हैं। धन कभी जादू के जोर से नहीं कमाया जाता। सतोषपूर्वक धीरे-धीरे नियमित ढँग से एकत्रित करने पर धन का सग्रह अवश्य हो जाता है। यही धन सग्रह का निश्चित उपाय है। विवरणों से पता चलता है कि १०० में से ९५ व्यक्ति ६५ वर्ष की अवस्था प्राप्त करने के उपरान्त भी एक पाई नहीं जोड़ पाते। उन ९५ पुरुषों में से केवल १२ व्यक्ति ऐसे स्वस्थ एवं योग्य होते हैं कि उस अवस्था पर भी कुछ कार्य करके जीविका चला सकते है, परन्तु शेष व्यक्ति तो केवल दूसरों पर आश्रित रहकर ही जीवन बिता सकते हैं।

जहाँ तक दिखाई देता है जीवन-बीमा का सम्बन्ध वैयक्तिक जीवन से है। यह केवल किसी व्यक्ति के धन सम्बन्धी भविष्य के प्रश्नों का हल नहीं करता, वरन् उसकी मितव्ययता का भी ध्यान रखता है। उदाहरण के लिए, मानलो एक व्यक्ति २७ वर्ष का है तथा उसकी पत्नी २५ वर्ष की है और एक उनका बच्चा है जिसकी अवस्था वर्ष है। वह कोई धनवान व्यक्ति नहीं है, अत उसे अपनी आय में से अन्य व्ययों के लिये काफी सोचना समझना पड़ता है। दस वर्ष के उपरान्त उसे अपने लड़के की शिक्षा का प्रबन्ध करना पड़ता है, परन्तु उस समय उसकी कुछ अधिक आय होती रहती है जिससे उसे कुछ आपत्ति नहीं दिखाई देती। बीस साल उपरान्त वह अत्यन्त प्रसन्न दिखाई देता है और नित्य-प्रति सिगार आदि में अत्यधिक व्यय करता रहता है, अत

इन बातों के कारण यह दिखाई देता है कि उसकी आय इस समय भी अच्छी है।
परन्तु उस समय उसका स्वास्थ्य बुरी तरह गिर जाता है, वह अत्यन्त दुर्बल, क्षीण एवं
शक्तिहीन हो जाता है। अब यदि वह आगामी जीवन के लिए बचाने का कुछ यत्न
करना चाहता है तो उसे बड़ी कठिनाई होती है, क्योंकि अभी तक तो वह बराबर
कमाकर व्यय करता रहा है, अब उसे भविष्य की चिन्ता होती है। इसीलिए जीवन में
भविष्य की चिन्ता पहले करना आवश्यक होता है और पहले से ही मितव्ययी होकर
जीवन बिताने से भविष्य की चिन्ता भी अधिक नहीं सताती।

एक साधारण स्थिति के उस नवयुवक को सदैव अपनी आय के अनुसार
परिवार की सुरक्षा का विचार करना पड़ता है। यदि वह यह विचार करता है कि
थोड़ा सा बीमा इस समय करालूँ और थोड़ा कुछ दिनों बाद करा लूँगा, तो उस वह
बाद वाला रुपया नहीं मिल पाता क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने भविष्य के स्वास्थ्य की
गारन्टी (Guarantee) नहीं कर सकता। बीमा की हुई राशि का लगभग ४ प्रतिशत
धन बचाने वाला एक वार्षिक प्रव्याजि (Premium) के लिए, एक साधारण जीवन-
बीमा-प्रलेख (Policy) ही उसे पर्याप्त सुरक्षा प्रदान कर सकता है। दूसरे, यदि उस
व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है और उस परिवार की मासिक आय ही नहीं वरन् सदैव
की आय बन्द हो जाती है तो उसकी पत्नी ही परिवार का कार्य चला सकती है, क्योंकि
यह देखने में आता है कि ऐसे परिवारों को सभी जीवन-बीमा-कम्पनियाँ तिमाही,
छःमाही या वार्षिक प्रभागों में बीमा-प्रलेख का धन चुकाया करती हैं। अतः वह स्त्री
अपना तथा अपने पुत्र का व्यय सुगमता से चला सकती है।

अपनी पत्नी की सुरक्षा-सम्बन्धी मुख्य एवं आवश्यक समस्या का प्रबन्ध करने
के उपरान्त बच्चों की शिक्षा के निमित्त धन संग्रह करने का प्रश्न आता है। चाहे वह,
बीमा कराये या नहीं; परन्तु बच्चों को शिक्षा अवश्य दिलानी पड़ेगी। अतः यदि वह
कुछ धन बचा सकता है तो शिक्षा-सम्बन्धी एक अल्पकालीन बीमा करा देना
चाहिए, परन्तु यह बीमा कराना उसकी आय पर यदि भारस्वरूप दिखाई देता है तो
उसे एक साधारण जीवन-बीमा ही और करा देना चाहिए जो उसकी मृत्यु के उपरान
शिक्षा के काम आ सकता है और उसके लिए थोड़ा-थोड़ा धन वह बचा भी सकता
है। इस तरह वह व्यक्ति अपने बच्चों की शिक्षा का भी प्रबन्ध कर सकता है। यदि
वह पर्याप्त स्वस्थ दिखाई देता है तो वह उस साधारण-बीमा को एक ऐसे बन्दोबस्ती
बीमा (Endowment) में बदल सकता है जोकि नौकरी से अलग होने पर लाभ
प्रदान करता है।

इस समय वह सम्भवतः ४० वर्ष का हो जायगा, अतः फिर उसे अपने परिवार
की सुरक्षा का ध्यान प्रायः नहीं पहुँचा सकता। इस समय उसकी आयु १५ वर्ष पहले
की अपेक्षा निश्चित रूप से कुछ अधिक हो ही जायगी। और इस समय युवावस्था

की अपेक्षा वह अपने भविष्य के बारे में पूर्णतः निश्चिन्त तथा सन्तुष्ट दिखाई देगा। अब हम उसकी नौकरी से हटने के बाद की योजना पर भी दृष्टि डाल सकते हैं। यदि वह अपना जीवन-बीमा-पॉलिसियों को बन्दोबस्ती-पॉलिसियों (Endowment Policies) में बदलने में असमर्थ रहता है, तो उन्हें पूर्ववत् चलने देगा। नौकरी से हटने के समय उनकी बन्दोबस्ती-पॉलिसियों का तत्कालीन मूल्य तथा लाभांश (Surrender Values and bonuses) वार्षिक वृत्ति (Annuity) के परिवर्तन में सहायक होंगे तथा उसकी वार्षिक प्रव्याजि से अधिक आय प्रदान करेंगे क्योंकि जितनी ही देर में कोई व्यक्ति नौकरी से अलग होगा उतना ही अधिक उसकी वार्षिक वृत्ति (annuity) होगी। इस तरह नौकरी से हटने के पूर्व जो कुछ भी वह भविष्य के लिए बचा सकता है, उसके लिए उसे बन्दोबस्ती-जीवन बीमाओं (Endowments Assurances) में ही धन-विनियोग करना चाहिए।

जीवन-बीमा अत्यावश्यक वस्तु है। एक जहाज का डूबना निश्चित नहीं, एक भवन का जलना भी निश्चित नहीं, परन्तु प्रत्येक मनुष्य का मरना निश्चित है। जीवन-बीमा की यह विशेषता है कि मृत्यु के उपरान्त प्रत्येक बातें अनिश्चित सी हो जाती हैं, परन्तु यह अपना चरम-महत्त्व को प्रकट करता है। जो मनुष्य जीवन-बीमा के समय को टालता रहता है और शीघ्र नहीं कराता वह पीछे पछताता है क्योंकि बाद में जब कोई बीमा-अभिकर्त्ता उसका बीमा करता है उस समय उसका स्वास्थ्य गिर सकता है। यदि कोई व्यक्ति धन-संग्रह नहीं कर सकता, उसके लिये संग्रह करने का एक ही मार्ग है कि उसे जीवन-बीमा कराना चाहिए। क्या किसी व्यक्ति की आय मृत्यु-पर्यन्त भी रह सकती है? हाँ, यदि वह बीमा करा लेता है तो मृत्यु-पर्यन्त भी उसकी आय रह सकती है। इस जीवन-बीमा के साधन द्वारा एक व्यक्ति अपनी आय अपनी नौकरी से विमुक्त होने पर भी रख सकता है और मृत्यु के उपरान्त भी अपने आश्रितों (Dependants) की रक्षा कर सकता है। मृत्यु के उपरान्त, बैंकें तो उतना ही धन देती हैं जितना कि एक व्यक्ति उनमें जमा करता है, परन्तु बीमा कम्पनियाँ उतना देती हैं जितना एक व्यक्ति बचाने की आशा करता है।

जीवन बीमा के विरुद्ध आरोप (Objections against Life Assurance)—प्राय जीवन-बीमा कराने में जो लोग इन्कार किया करते हैं और इस पर आरोप लगाने की चेष्टा करते हैं, वे निस्सन्देह भूल करते हैं क्योंकि पहले तो अवश्य इसकी इतनी आवश्यकता न थी, परन्तु आजकल की परिस्थिति को देखकर यह निश्चित रूप से दिखाई देता है कि जीवन-बीमा कराना अत्यावश्यक है। फिर भी, कुछ बीमा-अभिकर्त्ता (Insurance Agents) ऐसे चिड़चिड़े दिमाग के होते हैं कि वे जब किसी व्यक्ति के पास बीमा के लिए जाते हैं और किसी कारण से वह बीमा में विश्वास नहीं करता तथा अभिकर्त्ता के सभी तर्कों को काटने का प्रयत्न करता है या

सुनना ही नहीं चाहता तो वे नाराज़ हो जाते हैं। परन्तु बीमा का कार्य करने वालों को सदैव उन आरोपों तथा संकुचित-विचारों का ध्यान रखना चाहिए और नाराज न होकर उन्हें दूर करने का ही प्रयत्न करना चाहिए।

एक समय था जब लोग धार्मिक भावनाओं की बहुलता के कारण जीवन-बीमा को वक्रदृष्टि से देखा करते थे। आजकल भी बहुत से पुराने विचार वाले लोग बीमा-कम्पनियों को 'सूद खाने' वाली संस्थायें समझ कर अच्छी तरह देखना पसंद नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि सभी बीमा कम्पनियाँ प्रायः प्रव्याजि पर चलती हैं और सूद खाती हैं। 'सूद खाना' (Usuary) उनकी दृष्टि से पाप है। अतः वे इस कार्य के प्रति सहानुभूति नहीं रखते। इसी भावना का सामना प्रायः सभी बीमा-अभिकर्त्ताओं को करना पड़ता है, क्योंकि वे तो इसी कार्य के लिए कम्पनियों से पारिश्रमिक पाते हैं और कुरानपंथी मुसलमानों तथा पुराणपंथी हिन्दुओं दोनों में एवं 'सूद खाना' बुरा समझने वाले लोगों में भी अपने व्यापार के निमित्त जाया करते हैं। परन्तु सभी धार्मिक हिन्दू तथा ईसाई जोकि 'सूद खाने' वाली भावना से मुक्त हैं वे भली प्रकार जानते हैं कि जीवन में निश्चितता एवं विश्वास स्थापित करने के लिए तथा बाल-बच्चों की सुरक्षा के लिए जीवन बीमा कितना महत्त्वपूर्ण है, नहीं तो अभिभावक की मृत्यु होते ही समस्त परिवार ईश्वर की दया पर छोड़ दिया जाता है। ईश्वर की कृपा भी बिना मानवीय सहायता के परिपूर्ण नहीं होती, उसके लिए भी मानव को मध्यस्थ बनाया जाता है जो जाकर किसी दीन-हीन की रक्षा करता है। अतः बीमा-कम्पनी भी पूर्णतया इसी सिद्धान्त पर आश्रित है कि जिनकी अनायास मृत्यु हो जाती है उनके आश्रितों की सुरक्षा का भार उन लोगों पर डाल देती है जो अधिक दिवस तक जीवित रहते हैं और अपनी प्रव्याजि कम्पनी को देकर उन निराश्रित लोगों की रक्षा कर सकते हैं। बीमा-संस्था इसी सिद्धान्त पर चली है कि "प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक का भार सहन करना चाहिए।" इस बीमा-संस्था द्वारा यह कार्य एक व्यापारिक पद्धति के आधार पर सम्पन्न होता है। एक व्यक्ति जो इस पद्धति से लाभ उठाना नहीं चाहता और जीवन-बीमा नहीं कराता अथवा अपने परिवार की सुरक्षा का ध्यान नहीं रखता वह निश्चित रूप से विश्वास के स्थान पर अविश्वास का मार्ग अपनाता हुआ दिखाई देता है।

कुछ लोग बीमा-कम्पनियों पर यह आरोप भी लगाते हैं कि ये कम्पनियाँ प्रव्याजि के द्वारा अधिक से अधिक धन संग्रह कर लेती हैं जो सर्वथा अनावश्यक होता है तथा बीमा कराने वालों को वास्तविक आवश्यकता से भी अधिक धन कम्पनियों को देना पड़ता है, क्योंकि जिसकी शीघ्र मृत्यु हो जाती है। उसकी अपेक्षा प्रायः सभी बीमा कराने वाले व्यक्तियों को बीमा के लिए अधिक धन ही देना पड़ता है। परन्तु मृत्यु का शीघ्र होना ये आरोपक आकस्मिक बात मानते हैं। सारांश यह है कि जनता को ऐसे

आरोपों के लिये उत्तेजित किया जाता है। वैसे यदि उदाहरणों का सग्रह करके देखा जाय तो ऐसे उदाहरण कम ही मिलेंगे जिन्हें प्रव्याजि से कम धन कम्पनी से प्राप्त हुआ होगा। बीमा कम्पनियों में कदापि इतना धन सग्रह नहीं होता, जितना कि बैंकों में प्रति वर्ष जमा होता रहता है और उसकी आलोचना नहीं होती। बैंकों से वे लोग अपना रुपया निकाल लेते हैं, उसी प्रकार बीमा प्रलेख धारणकर्त्ता (Policy holders) भी या तो मर जाते हैं या उनके प्रलेखों (Polices) का प्रदाय धन व्यापक कोष से चुका दिया जाता है। जितनी अधिक प्रलेखधारियों (Policy holders) की सख्या होगी, उतना ही अधिक व्यापक कोष भी कम्पनियों में हो जाता है। प्रत्येक बीमा-कम्पनी के सामयिक विवरणों में यह उल्लेख करना पड़ता है कि कम्पनी के पास कितना हस्तगत धन (Amount in hand) है तथा कितना धन उसने अन्य व्यापारों में इस दृष्टि से लगा रखा है कि उसके लाभ से भविष्य में चुकाये जाने वाली पॉलिसियाँ या प्रलेखों का भुगतान सुगमता से किया जायगा। यदि अपने भविष्य के दायित्व की पूर्ति से भी कुछ अधिक राशि उनके पास शेष रहती है तो उसका वितरण प्रलेखधारियों में ही उनके प्रलेखों के लाभाश के रूप में कर दिया जाता है।

इसके अलावा कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जो अपने धन का उपयोग स्वय ही अच्छी प्रकार करना जानते हैं। यदि उनमें से कोई उसका सदुपयोग कर सकता है तो ठीक है, परन्तु ऐसे लोग कुछ विशेष सौभाग्य वाले ही होते हैं, सभी लोगों के लिए ऐसा अवसर नहीं मिलता। यदि वह सौभाग्यशाली व्यक्ति अपना धन प्रव्याजि (Premium) में भी लगाता है तो इससे उसे कुछ थोड़ा लाभ ही दिखाई देता है, क्योंकि अधिक समय तक जीवित रहने पर निश्चित रूप से उसे अधिक रुपया बीमा द्वारा नहीं मिलता। परन्तु कुछ भी सही, वह अपने आश्रितों के लिए तो अवश्य भयंकर स्थिति उत्पन्न करता है। कुछ लोग यह अनुमान लगा सकते हैं कि अधिकाश लोगों को इस बीमा-पद्धति द्वारा अपने आश्रितों के लिए आयोजन करने में कुछ लाभ नहीं होता, परन्तु यथार्थ दृष्टि से देखा जाय तो बीमा ही उनके आश्रय का एक मात्र साधन है। बीमा द्वारा उन निराश्रितों को एक ऐसी धन-राशि प्राप्त हो जाती है जिसके घटन की कोई आशका नहीं होती और अगर कोई सुदृढ बीमा कम्पनी इस कार्य के लिए निश्चित की जाती है तो विनियोग का यह कार्य समस्त कार्यों की अपेक्षा अत्यन्त लाभप्रद एव सुरक्षित होता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि समस्त यशस्वी व्यापारी ही इस जीवन बीमा के लाभों की सर्व-प्रथम प्रशसा करते हुए दिखाई देते हैं और कोई भी आरोप नहीं लगाते।

इसके अतिरिक्त जीवन बीमा सम्बन्धी कुछ और भी आरोप किये जाते हैं जिनको हम उत्तर सहित नीचे देते हैं। आप कह सकते हैं, "मैं बीमा में रुचि नहीं

दलाल द्वारा वह पॉलिसी बीमा कराने वाले व्यक्ति को दे दी जाती है। इस समस्त कार्य के लिए दलाल अपना कमीशन अभिगोपकों से लेता है।

सामुद्रिक बीमा-प्रलेखों के प्रकार (Kinds of Policies) —सामुद्रिक बीमा-प्रलेख अनेक प्रकार के होते हैं। उनमें से प्रमुख प्रलेख इस प्रकार हैं —

(१) जलयात्रा बीमा-प्रलेख (Voyage Policy) —यह ऐसा प्रलेख होता है जिसमें एक निश्चित जल-यात्रा सम्बन्धी क्षति की पूर्ति करने का बीमा किया जाता है। जैसे, यदि हमें बम्बई से लिवरपूल माल भेजना है तो हम उस माल का केवल इसी निश्चित यात्रा के लिए बीमा करायेंगे। इस जलयात्रा की पालिसी में बीमा करने वाले के दायित्व का आरम्भ होने तथा अन्त होने का निश्चित समय लिखा जाता है। इस प्रकार का बीमा केवल माल (Cargo) के लिए ही अच्छा होता है, जलयान के लिये अच्छा नहीं होता।

(२) अवधि-बीमा-प्रलेख (Time Policy) —इस प्रकार का बीमा केवल निश्चित अवधि के लिए ही कराया जाता है। यह निश्चित जलयात्रा से सम्बन्धित नहीं होता। परन्तु वह निश्चित अवधि १ वर्ष से अधिक नहीं होती।

(३) मिश्रित बीमा-प्रलेख (Mixed Policy) —इस बीमा-प्रलेख द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए एक निश्चित स्थान तक का बीमा किया जाता है। अतः यह बीमा-प्रलेख जलयात्रा तथा अवधि दोनों से सम्बन्धित रहता है।

(४) निश्चित मूल्य वाला बीमा-प्रलेख (Valued Policy) —इस बीमा-प्रलेख द्वारा बीमा की हुई सम्पत्ति का निश्चित मूल्य घोषित कर दिया जाता है तथा क्षति या हानि के अवसर पर बीमा कम्पनी केवल उसी घोषित एवं निर्दिष्ट राशि के देने की ही जिम्मेवार होती है। यदि उस घोषित राशि से कुछ कम हानि होती है तो इसी के आधार पर उसका निपटारा किया जाता है। इस प्रकार के बीमा में निश्चित मूल्य के अन्तर्गत माल की कीमत, भाड़ा तथा जलयान का अन्य व्यय एवं १०% से १५% तक सम्भाव्य लाभ (Anticipated Profit) जोड़ा जाता है। प्रायः अधिकांश सामुद्रिक बीमा इसी पॉलिसी के द्वारा किये जाते हैं।

(५) अनिश्चित मूल्य वाला बीमा-प्रलेख (Unvalued Policy) —इस प्रकार के बीमा प्रलेख में बीमा वाली वस्तु का निश्चित मूल्य नहीं लिखा जाता। इसी कारण जब उस वस्तु की क्षति हो जाती है तब उसका अनुमान लगाया जाता है, परन्तु इस क्षति की अधिकतम राशि का उल्लेख बीमा-प्रलेख में रहता है। इस प्रकार की बीमा की हुई वस्तुओं का मूल्य सम्बन्धी प्रमाण देते समय वस्तु का वास्तविक कीमत के साथ नौवहन शुल्क (Shipping Charges) भी जोड़ा जाता है। इस प्रलेख में निश्चित मूल्य वाले प्रलेख की भाँति सम्भाव्य लाभ नहीं जोड़ा जाता।

(६) चल बीमा प्रलेख (Floating Policy) —इस प्रलेख को प्रकट बीमा प्रलेख (Open Policy) भी कहते हैं। यह प्रलेख उन व्यापारियों के लिए अधिक लाभप्रद होता है जो नित्यप्रति जलयानों द्वारा माल भेजा करते हैं। यह भी एक प्रकार का अनिश्चित मूल्य वाला प्रलेख होता है और हानि की एक अधिकतम राशि का बीमा कर दिया जाता है। इस बीमा प्रलेख का सबसे बड़ा लाभ यह है कि व्यापारी को प्रत्येक बार माल भेजते समय बार-बार बीमा नहीं कराना पड़ता तथा बीमा प्रव्याजि भी कम देना पड़ता है।

(७) सट्टे सम्बन्धी बीमा प्रलेख (Wager Policy) —यह ऐसा प्रलेख होता है जिसमें बीमा कराने वाले को कोई बीमा सम्बन्धी हित नहीं होता। इस पालिसी द्वारा कोई भी व्यक्ति वैधानिक दृष्टि से हानि की पूर्ति कराने का अधिकारी नहीं माना जाता परन्तु बीमा कम्पनियाँ अपनी प्रतिष्ठा एवं ख्याति को स्थिर रखने के लिए हानि की पूर्ति करती रहती है। इसी कारण यह प्रलेख हित के प्रमाण (Policy Proof of Interes) भी कहलाता है क्योंकि हानि होने पर एक बीमा कम्पनी बीमा सम्बन्धी हित के न रहते हुए भी तथा अन्य प्रमाण के प्रस्तुत न करने पर भी इस बीमा प्रलेख को हानि पूर्ति के लिए प्रमाण मान लेती है।

सामुद्रिक बीमा-प्रलेख (The Policy) —यह एक ऐसा प्रलेख होता है जिसमें समुद्र सम्बन्धी बीमा का अनुबन्ध क्षति-पूर्ति के लिए किया जाता है तथा देश के विधान के अनुसार मुद्राक (Stamp) लगाना अनिवार्य माना जाता है। यह प्रलेख (Document) अत्यन्त जटिल होता है इसका समझना आसान नहीं होता। इसमें निम्नलिखित प्रमुख वाक्य रहते हैं —

(१) बीमा कराने वाले का नाम (Name of the Insured) —यह वाक्य, बीमा कराने वाले व्यक्ति के नाम सहित बीमा-प्रलेख के हस्तांकन की व्यवस्था करता है जिससे जो व्यक्ति इस हस्तांकन (Assignment) को ग्रहण करता है वह भी पालिसी द्वारा प्राप्त सुरक्षा का उपभोग कर सकता है और उसका भी बीमा-सम्बन्धी हित उत्पन्न हो जाता है।

(२) नाश हो अथवा न हो (Lost or not lost) —कभी कभी जब माल जलयान में लादकर रवाना कर दिया जाता है, इसके उपरान्त उसका बीमा किया जाता है। उस समय न तो बीमा कराने वाले को यह जानकारी रहती है कि मेरा माल सुरक्षित अवस्था में पहुँच जायगा और न बीमा करने वाला ही यह जानता है कि इसे कोई हानि नहीं पहुँचेगी। ऐसी दशा में इस वाक्य का अच्छा प्रभाव दिखाई देता है क्योंकि इसी के आधार पर एक बीमा करने वाले को सम्पत्ति के नष्ट न होने पर क्षति पूर्ति करनी पड़ती है। यदि वह हानि बीमा कराने से पहले

हो चुकी है और उसका ज्ञान बीमा कराने वाले को नहीं है तो इस वाक्य के आधार पर बीमा करने वाले को क्षति-पूर्ति करनी पड़ेगी। इसके विपरीत यदि बीमाकर्त्ता बीमा-पॉलिसी देते समय यह जानता है कि बीमा किया हुआ माल यथा स्थान पर सुरक्षित पहुँच गया है तो उसे बीमा-प्रव्याजि लेने का कोई अधिकार नहीं रहता। यदि वह कोई प्रव्याजि ले लेता है तो बीमा कराने वाले व्यक्ति को लौटानी पड़ती है।

(३) जलयात्रा का विवरण—"कहाँ से कहाँ तक" (Description of the Voyage "At and from").—इस वाक्य के अनुसार साधारणतः जलयात्रा सम्बन्धी बीमा दो प्रकार से होते हैं; एक तो जिस बन्दरगाह से जलयान चलता है वहाँ से बीमा होता है जो "बन्दरगाह से यात्रा करने का बीमा" (Insurance from a Port) कहलाता है तथा दूसरा जब जलयान किसी बन्दरगाह पर पहुँच जाता है और वहाँ से फिर छूटता है तब बीमा होता है जिसे "बन्दरगाह पर पहुँच कर फिर यात्रा करने का बीमा" (Insurance at and from a Port) कहते हैं। बन्दरगाह से यात्रा करने के बीमा से तात्पर्य यह है जिस समय कोई जलयान बन्दरगाह से रवाना होता है उसी क्षेत्र से बीमा सम्बन्धी जोखम प्रारम्भ हो जाती है। दूसरे, बन्दरगाह पर पहुँच कर फिर यात्रा करने के बीमा का अर्थ यह होता है कि बीमा सम्बन्धी जोखम तब प्रारम्भ होती है जब कोई जलयान बन्दरगाह पर पहुँच जाता है तथा फिर वहाँ से रवाना होता है। ये शर्तें जलयात्रा-बीमा-प्रलेख में प्रयोग की जाती हैं। परन्तु अवधि-बीमा-प्रलेखों (Time Policies) में जोखम के आरम्भ तथा समाप्ति के ठीक-ठीक घंटे एवं दिन लिखे जाते हैं।

(४) जलयान का नाम (Name of the Vessel).—इस वाक्य के आधार पर जिस जलयान में बीमा वाला माल लाद कर भेजा जाता है उसका नाम भी बीमा-पॉलिसी में दिया जाता है। यदि किसी प्रकार की दुर्घटना के कारण जलयान का परिवर्तन किया गया है तब तो दूसरी बात है अन्यथा जलयान का परिवर्तन करने के लिए बीमा करने वाले से अनुमति लेनी पड़ती है।

(५) जोखम का प्रारम्भ एवं अन्त (Commencement and termination of risk).—इस वाक्य में जोखम का प्रारम्भ एवं अन्त कब तथा किस परिस्थिति में होगा, साथ ही किस परिस्थिति में होने वाली हानि की पूर्ति एक बीमा करने वाला किस प्रकार करेगा, इन सभी बातों का स्पष्ट विवरण दिया जाता है। जब किसी माल का बीमा लदने के उपरान्त का (From the loading thereof) होता है तो जोखम का आरम्भ उस समय से नहीं माना जाता जिस समय वह माल जलयान में लदा पड़ा रहता है, वह जोखम तो जलयान के चलने पर ही आरम्भ होती है। इसी तरह जब किसी माल का बीमा "सुरक्षित अवस्था में यथा-

स्थान पहुँचने तक" (Safely landed) का होता है तो बीमा सम्बन्धी जोखम उस समय तक चलती रहती है जब तक वह माल निश्चित समय में निश्चित स्थान पर नहीं पहुँचाता।

(छ) जलयान का ठहरना या मार्ग-परिवर्तन करना :—(Touch and Stay) —सामुद्रिक बीमा करते समय प्रत्येक बीमा पॉलिसी पर जलयान के साधारण मार्ग का निर्देश अनिवार्य रूप से कर देना चाहिए, क्योंकि साधारणतः सभी जलयान एक निश्चित मार्ग से ही जल यात्रा किया करते हैं। इस वाक्य के आधार पर प्रत्येक जलयान मार्ग में पड़ने वाले बन्दरगाहों पर ठहर सकता है, परन्तु उसे निश्चित मार्ग के बन्दरगाहों पर ही ठहरना चाहिए। यदि कोई जलयान निश्चित बन्दरगाहों के अतिरिक्त बिना किसी वैधानिक कारणों के अन्य स्थानों पर होता हुआ जाता है अर्थात् मार्ग-परिवर्तन कर लेता है तो उस समय बीमा करने वाला अपनी जिम्मेवारी तथा जोखम से मुक्त रहता है। परन्तु निम्न परिस्थितियों में मार्ग परिवर्तन करना वैधानिक दृष्टि से उचित समझा जाता है :—

(क) यदि ऐसा करने के लिए बीमा-पॉलिसी से अधिकार प्राप्त हो तो मार्ग बदल सकता है।

(ख) यदि तूफान आदि के कारण जलयान का सँभालना कठिन हो जाय और जलयान-प्रमुख तथा अन्य कर्मचारी भी उस पर नियन्त्रण न कर सके, तो उसका मार्ग-परिवर्तन न्याय्य माना जाता है।

(ग) यदि जलयान की दुरुस्ती, कोयला, पानी आदि लेने के लिए मार्ग-परिवर्तन करना पड़े तो वह प्रत्यक्ष एवं ध्वनित (Express and Implied) अधिकारों के कारण मार्ग बदल सकता है।

(घ) जलयान अथवा माल की सुरक्षा के लिये मार्ग-परिवर्तन किया जा सकता है।

(ङ) मनुष्यों की जान बचाने के लिये अथवा औषधि आदि की सहायता प्राप्त करने के लिये मार्ग बदला जा सकता है।

(च) यदि जहाज का प्रमुख या उसके कर्मचारी किसी प्रकार की दुष्टता करते हैं और वह दुष्टता बीमा सम्बन्धी वस्तु के प्रति भी होती है तो जलयान का मार्ग परिवर्तन किया जा सकता है।

इस प्रकार जब जलयान के मार्ग का परिवर्तन होना उचित एवं न्याय-सङ्गत मान लिया जाता है तो वस्तुओं का बीमा-सम्बन्धी दायित्व पूर्ववत् बना रहता है और कोई भी बीमा करने वाला उस दायित्व से रहित नहीं माना जाता।

(७) मूल्यांकन (Valuation) —इस वाक्य में यह निर्देश रहता है कि, यदि किसी जलयान वाले माल की बीमा पॉलिसी निश्चित मूल्य वाली होती है तो बीमा कर

वाले व्यक्ति द्वारा स्वीकृत मूल्य बीमा-पॉलिसी में लिखा रहना चाहिए। एक अनिश्चित मूल्य वाली पॉलिसी में कोई मूल्य नहीं लिखा जाता, उसमें तो हानि हो जाने पर वस्तुओं का मूल्यांकन किया जाता है।

(८) सुरक्षित खतरे (Perils insured against) :—इस वाक्य में बीमा करने वाला किस प्रकार के खतरों से होने वाली हानि की क्षति-पूर्ति करेगा इसका विवरण दिया जाता है। इन खतरों में प्राय: (क) सामुद्रिक भय; जैसे—जल, तूफान, टक्कर आदि के द्वारा होने वाली क्षति; (ख) आग का भय; (ग) समुद्री डाकू, लुटेरों का भय; (घ) चोरी का भय; (ङ) माल के उतारने चढ़ाने में टूटने का भय; (च) बंदी होने तथा सब प्रकार की रुकावटों एवं प्रतिबंधों का भय; (छ) जलयान के प्रमुख एवं कर्मचारियों की दुष्टता आदि के भय सम्मिलित रहते हैं।

युद्ध के समय यदि कोई बीमा कराने वाला शत्रु द्वारा जलयान के पकड़े जाने और अधिकार में कर लेने का जोखम को नहीं उठाना चाहता तो एक विशेष वाक्य बीमा-पॉलिसी में और जोड़ दिया जाता है जो "बंदी होने अथवा पकड़े जाने के खतरे से मुक्त" (Free of Capture and Seizure or F. C. S) वाक्य कहलाता है। इस वाक्य के कारण जलयान यदि शत्रु द्वारा पकड़ा जाता है अथवा बंदी बना लिया जाता है तो बीमा करने वाला अपने दायित्व से सर्वथा मुक्त रहता है।

(९) वैधानिक कार्यवाही या दावा (Sue and Labour) :—इस वाक्य द्वारा एक बीमा कराने वाले को यह अधिकार होता है कि वह बीमा की हुई वस्तु की सुरक्षा के लिए अथवा उस जोखम से बचाने के लिए या पुन: प्राप्त करने के लिए वह वैधानिक कार्यवाही या बीमा करने वाले के विरुद्ध दावा कर सकता है। इस कार्य के लिए जो भी व्यय होगा वह बीमा करने वाले से वसूल किया जाता है तथा इस व्यय का बीमा की राशि से कोई सम्बंध नहीं होता।

(१०) खण्डन (Waiver) :—इस वाक्य में इस बात का निर्देश किया जाता है कि यदि दुर्घटना होने पर बीमा करने वाला या बीमा कराने वाला अपने माल की सुरक्षा अथवा हानि से बचने के लिए किसी प्रकार की वैधानिक कार्यवाही करते हैं या उसके लिए व्यय करते हैं, तो ऐसी दशा में भी उनके अधिकार एवं दायित्व पहले ही भाँति रहेंगे, उनमें किसी प्रकार का भी परिवर्तन नहीं हो सकेगा।

(११) प्रतिफल (Consideration) —इस वाक्य के आधार पर एक बीमा करने वाला खतरे से होने वाली क्षति-पूर्ति करने के लिए जो भी प्रव्याजि या प्रतिफल प्राप्त करता है उसकी रसीद बीमा कराने वाले के पास भेजनी पड़ती है।

(१२) स्मरण-पत्र (The Memorandum) :—लॉयड्स पॉलिसी (Lloyd's Policy) में नीचे की ओर जो टिप्पणी लिखी रहती है उसे "स्मरण-पत्र" (Memorandum) कहते हैं। बहुधा बीमा की हुई वस्तुओं में ऐसी अनेक

वस्तुयें रहती हैं जो अधिक काल तक नहीं ठहर सकतीं, इसके साथ ही कुछ ऐसी वस्तुयें होती हैं जो शीघ्र नष्ट होने वाली होती हैं। अतः ऐसी वस्तुओं का बीमा करना बड़ा कठिन होता है। अतः इस आपत्ति से बचने के लिए ही एक बीमा करने वाला व्यक्ति इस वाक्य का आश्रय लेता है। इस वाक्य के आधार पर एक तो कुछ ऐसी वस्तुयें होती हैं जिनकी आंशिक हानि (Partial loss) होने पर बीमा करने वाला कोई भी उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लेता। इनमें अनाज, फल, नमक, मछली आदि आता है। दूसरी कुछ ऐसी वस्तुयें होती हैं जो कम नष्ट होती हैं, जिनमें से तम्बाकू, चीनी, चमड़ा आदि हैं। इन वस्तुओं की आंशिक हानि का उत्तरदायित्व ५ प्रतिशत न्यूनतम हानि की दशा में एक बीमा करने वाला अपने ऊपर लेता है, परन्तु इससे कम आंशिक हानि होने की दशा में वह क्षति-पूर्ति नहीं करता। यदि अन्य वस्तुओं की हानि ३% से भी कम होती है तो भी बीमा करने वाला उसकी क्षति-पूर्ति नहीं करता। परन्तु, ऐसी आंशिक हानि यदि व्यापक औसत (General Average) के रूप में होती है अर्थात् यदि जलयान (Ship) समुद्रतट में धुस जाता है अथवा जल जाता है या डूब जाता है तो उस आंशिक हानि की पूर्ति बीमा करने वाले को करनी पड़ती है। व्यापक औसत हानि (General Average Loss) एक अभूतपूर्व हानि होती है जिसकी पूर्ति सार्वजनिक कल्याण के लिये की जाती है। इस स्मरण-वाक्य के रखने का तात्पर्य यह है कि पहली श्रेणी की वस्तुओं की आंशिक हानि होने पर उनकी पूर्ति बीमा करने वाले को किंचित् मात्रा में भी न करनी पड़े तथा दूसरी श्रेणी की वस्तुओं की हानि पूर्ति केवल आंशिक रूप में ही करनी पड़े। इसी वाक्य के आधार पर बीमा वाली वस्तुओं की जोखम का हिसाब सुगमता से लगाया जा सकता है तथा प्रव्याजि की कम से कम दर भी लिखी जा सकती है।

उपर्युक्त वाक्यों के अतिरिक्त कुछ और भी वाक्य (Clause) बहुत सी पालिसियों में पाये जाते हैं। उनमें से मुख्य मुख्य वाक्य ये हैं —

(क) विशिष्ट औसत मुक्त वाक्य (Free of Particular Average or F P A) —इसका अर्थ यह है कि बीमा करने वाला विशिष्ट आंशिक हानि का उत्तरदायी नहीं होता, परन्तु ऐसी आंशिक हानि के लिए वह उसी समय उत्तरदायी होता है जब वह हानि व्यापक औसत के रूप में होती है।

(ख) बन्दी होने अथवा पकड़े जाने के खतरे मुक्त वाक्य (Free of Capture and Seizure or F C S) —युद्ध के समय यदि कोई जलयान शत्रु द्वारा बन्दी बना लिया जाता है अथवा पकड़ा जाता है तो इस वाक्य के आधार पर एक बीमा करने वाला उस हानि की पूर्ति नहीं करता, परन्तु इसके लिये यदि अधिक प्रव्याजि (Additional premium) कोई बीमा कराने वाला व्यक्ति कम्पनी में भेजता है तो फिर इस वाक्य को नहीं जोड़ा जाता।

(ग) विशिष्ट औसत-युक्त वाक्य (With Particular Average) :— इस वाक्य का अर्थ यह है कि बीमा करने वाले को आंशिक हानि की पूर्ति भी करनी पड़ती है।

(घ) समस्त खतरों के सहित वाक्य (Against all Risks A. A. R.) :—इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि बीमा करने वाला समुद्री बीमा सम्बन्धी समस्त खतरों से होने वाली हानि की पूर्ति करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता है।

(ङ) समस्त औसत-रहित वाक्य (Free of All Average or F. A. A) :—इस वाक्य का अर्थ यह है कि बीमा करने वाला न तो व्यापक औसत में होने वाली हानि का उत्तरदायी होता है और न विशिष्ट औसत में होने वाली हानि का जिम्मेदार होता है, परन्तु केवल कुल हानि (Total Loss) की पूर्ति करने का ही उत्तरदायी होता है।

(च) विदेशी व्यापक औसत-वाक्य (Foreign General Average or F G. A) :—इस वाक्य द्वारा विदेशी पॉलिसी पर होने वाली हानि की पूर्ति का निर्णय किया जाता है। कारण यह है कि सामान्य हानियों के पूर्ति-सम्बन्धी नियम सदैव अपने-अपने देश के नियमों के अनुसार बनाये जाते हैं, जो विदेशों में लागू नहीं होते। अतः इस वाक्य के रखने का यह अभिप्राय रहता है कि यदि किसी व्यापक औसत वाली हानि होने पर कोई बीमा कराने वाला उसकी पूर्ति के लिए स्वत्व प्रकट करता है तथा उसकी बीमा-पॉलिसी उस देश की नहीं है तो उसका निर्णय उस देश के नियमों के अनुसार होगा जहाँ पर कि वह स्वत्व प्रकट कर रहा है।

(छ) जलयानों के टकराने सम्बन्धी वाक्य (Running Down Clause or R. D A.) :—प्राय यह देखा जाता है कि बीमा करने वाले जलयानों के टकरा जाने से होने वाली क्षति की पूर्ति का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं लेते। अत: यह वाक्य जलयान-सम्बन्धी बीमा पर लागू होता है। इस वाक्य का अर्थ यह है कि यदि कोई बीमा किया हुआ जलयान किसी दूसरे जलयान से टकरा जाता है और न्यायालय द्वारा वही दोषी ठहराया जाता है तो बीमा करने वाले को उससे होने वाली आंशिक क्षति की पूर्ति करनी पड़ेगी, क्योंकि उस क्षति-पूर्ति की राशि जलयान के स्वामी को माल वालों के लिए देनी पड़ती है।

(ज) चालू वाक्य (Continuation Clause) :—यह सम्भव है कि एक अवधि-प्रलेख (Time Policy) की जोखम जलयान के निश्चित स्थान पर पहुँचने से पहले ही समाप्त हो सकती है। अतः ऐसी दशा में हानि की सुरक्षा के लिए यह वाक्य जोड़ दिया जाता है जिससे यदि बीमा-पॉलिसी की अवधि समाप्त होने की सूचना बीमा करने वाले को दे दी जाती है तो यह बीमा पॉलिसी चालू समझी

जाती है। इस प्रकार की पॉलिसी को चालू रखने के लिए बीमा कराने वाले को अतिरिक्त अवधि के लिए उसी दर से कुछ अधिक ब्याज और देनो पड़ती है।

(झ) पुनर्बीमा-वाक्य (Re insurance Clause)—जब कोई बीमा करने वाला किसी बीमा को अधिक जोखम वाला समझता है और उसकी हानि-पूर्ति की सामर्थ्य अपने अन्दर नहीं पाता, तो वह उस समस्त बीमा का या उसके कुछ भाग का किसी दूसरे बीमा करने वाले से पुन बीमा करा लेता है और उस पॉलिसी में यह वाक्य जोड़ा जाता है कि यह पुनर्बीमा भी उन्हीं शर्तों पर या उन्हीं निर्बन्धों के आधार पर किया गया है जो शर्तें मूल बीमा पॉलिसी में दी हुई हैं।

वचन-बद्धता (Warranties)—किसी बीमा-अनुबंध के विषय में जब कोई दूसरा पक्ष किसी विशेष बात के करने या न करने के सम्बन्ध में जो वचन देता है उसे "वचन बद्धता" कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसी को 'वायदा करना' भी कहा जाता है। यदि समुद्री बीमा में कोइ बीमा कराने वाला अपने वचनो का पालन नहीं करता तो वह बीमा अनुबंध व्यर्थ हो जाता है और उसी दिन से बीमा करने वाला अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि अन्य अनुबन्धों में वचनों का कोई पक्ष-पालन नहीं करता तो वहाँ अनुबंध व्यर्थ नहीं माना जाता, अपितु वचनों के पालन न करने के कारण जो हानि होती है दूसरा व्यक्ति उसकी पूर्ति के लिए उन पर दावा कर सकता है। समुद्री बीमा में यह वचन-बद्धता दो प्रकार की पाई जाती है—(१) स्पष्ट (Express) तथा (२) ध्वनिक (Implied)।

(१) स्पष्ट वचन बद्धता (Express Warranty)—उसे कहते हैं जिसका उल्लेख बीमा-पॉलिसी में भी होता है। नीचे इसके उदाहरण दिये जाते हैं, जैसे—

(क) जलयान को एक निश्चित तिथि तक या उससे पहले एक निश्चित स्थान पर लाने के लिए वचन देना,

(ख) जलयान को कुछ निश्चित सीमाओं में न ले जाने का वचन देना; तथा

(ग) जलयान तथा माल की निष्पक्षता के लिए वचन देना।

इनके अतिरिक्त बन्दी होने अथवा पकड़े जाने के खतरे से मुक्त वाक्य (F C S. Clause) तथा स्मरण-पत्र (Memorandum) ये दो वचन-बद्धता के और अच्छे उदाहरण हैं जिनका विवेचन पहले ही किया जा चुका है।

(२) ध्वनित वचन-बद्धता (Implied warranty):—इसका उल्लेख बीमा-पॉलिसी में नहीं किया जाता, परन्तु प्रत्येक समुद्री बीमा पॉलिसी में निम्नलिखित तीन वचन-बद्धताओं का होना अनिवार्य माना गया है:—

(क) जलयान का जल-यात्रा योग्य होना (Sea-worthiness)—जिस समय एक जलयान की सब टूट-फूट ठीक करदी जाती है, उसमें कोयला, पानी तथा

कर्मचारियों आदि का समुचित प्रबन्ध कर दिया जाता है तो वह जलयान यात्रा योग्य माना जाता है और जलयात्रा के साधारण खतरों का सुगमता से सामना कर सकता है। एक जलयान को केवल अपने प्रारम्भिक बन्दरगाह पर ही यात्रा योग्य नहीं होना चाहिए, वरन् मार्ग में पड़ने वाले सभी बन्दरगाहों पर इस योग्यता को अनिवार्य रूप से धारण करना चाहिये। अर्थात् प्रत्येक बन्दरगाह पर कोयला, पानी या टूट फूट की दुरुस्ती आदि का प्रबन्ध करना आवश्यक होता है।

(ख) मार्ग-परिवर्तन न करना (Non deviation) —इसका उल्लेख पहले हा किया जा चुका है।

(ग) जलयात्रा का वैधानिक होना (Legality of the Venture) — इसका भी उल्लेख पहले हो चुका है।

समुद्री बीमा-प्रलेख का हस्तांकन (Assignment of the policy)— जब तक किसी समुद्र बीमा-प्रलेख पर हस्ताकन के लिए प्रतिबंध नहीं होता, तब तक उस प्रलेख या पॉलिसी का हस्ताकन किसी भी दूसरे व्यक्ति को किया जा सकता है। इस हस्ताकन के लिये पॉलिसी को पहले पृष्ठांकित (Endorsed) किया जाता है। एक समुद्री बीमा पालिसी का हस्ताकन उस व्यक्ति के नाम किया जाता है जिसे माल बेचा जाता है अथवा एक उस एजेंन्ट के नाम भी होता है जिसके लिए जलयान द्वारा माल भेजा जाता है। हस्ताकन होने के उपरान्त हस्ताकन-ग्रहीता (Assignee) को उस पॉलिसी के आधार पर माल के लिए दावा करने या अभियोग चलाने का अधिकार होता है। बीमा करने वाले को हस्ताकन-सम्बन्धी सूचना देना अनिवार्य नहीं होता।

भारतवर्ष में समुद्री बीमा पॉलिसियों का हस्ताकन प्राय सम्पत्ति हस्तान्तरण विधान (Transfer of Policy Act) की धारा १३५ के अनुसार किया जाता है। इस धारा मे उपर्युक्त ढँग की हस्ताकन-सम्बन्धी आयोजना दी गई है।

सामुद्रिक हानियाँ (Marine Losses)

निकटतम कारण (Causa Proxima) —यदि कोई बीमा कराने वाला व्यक्ति अपनी असावधानी या अपने दुराचार एवं दुष्टता के कारण किसी प्रकार की हानि कर लेता है तो बीमा करने वाला ऐसी किसी भी हानि की पूर्ति नहीं करता; परन्तु एक बीमा कराने वाला यदि हानि के निकटतम कारणों का बीमा करा लेता है और हानि फिर भी उस जलयान के प्रमुख अथवा कर्मचारियों की असावधानी द्वारा होती है तो बीमा करने वाले को उस हानि की पूर्ति करनी पड़ती है। समुद्री बीमा के लिए यह एक महत्वपूर्ण विषय है कि यदि कोई व्यक्ति अपनी बीमा करायी हुई वस्तु की बीमा करने वाले से हानि-पूर्ति कराना चाहता है तो उसे खतरे से होने वाली हानि के निकटतम कारणों का बीमा करा देना चाहिए। यह नियम है कि प्रत्येक बीमा

कम्पनी हानि की दशा में 'निकटतम कारण' के खोजने की चेष्टा करती है और यदि उसका बीमा कराया हुआ होता है तो वह अनिवार्य रूप से उस हानि की पूर्ति करती है। इसीलिये समुद्री बीमा के लिये **निकटतम कारण** अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि कोई हानि किसी ऐसी दुर्घटना के कारण होती है जिसके एक ही नहीं अनेक कारण होते हैं और सभी कारण एक दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं जिनमें से कुछ कारणों का तो बीमा किया हुआ होता है, परन्तु शेष सभी न तो निकटतम कारण होते हैं और न ऐसे ही कारण होते हैं जिन पर बीमा के लिए विचार किया जा सके, परन्तु यह ऐसी दुर्घटना होती है जिसका बीमा कराया हुआ होता है तो बीमा करने वाले को उस हानि की पूर्ति करनी पड़ती है। इसके विपरीत अवस्था में वह हानि पूर्ति नहीं करता। जैसे अगर कुछ माल का बीमा समुद्री खतरे के लिए होता है परन्तु एक जलयान में चूहों के कारण हानि होती है, तो बीमा करने वाला उस हानि की पूर्ति नहीं करेगा। परन्तु वे चूहे यदि जहाज के तले में छेद कर देते हैं और वहाँ से समुद्र का जल अन्दर आकर जलयान के माल को खराब कर देता है, तो इस हानि के लिए समुद्र का जल 'निकटतम कारण' (nearest cause) होता है, अतः उस हानि की पूर्ति उस बीमा करने वाले को करनी पड़ेगी। इसके विपरीत, मानलो आमों का बीमा जलयान के जमीन पे लगने के कारण होनेवाली क्षति की सुरक्षा के लिए कराया जाता है और जहाज जमीन से लग जाता है, इसके साथ ही वे आम इस जलयान से दूसरे जलयान में लदे जाते हैं मगर इस पुनः लादने तथा उतारने के कारण आमों की हानि हो जाती है, तो आमों की हानि का निकटतम कारण उनका उतारना तथा पुनः लादना होगा जिसका कि बीमा कराया नहीं गया, अतः बीमा करने वाला इस क्षति या हानि की पूर्ति नहीं करेगा, क्योंकि उसने तो केवल जलयान के जमीन से लगने के कारण होने वाली हानि का बीमा किया है न कि उतारने या पुनः लादने का, यद्यपि ये दोनों कार्य पहले कारण के होने पर ही हुए हैं, परन्तु फिर भी इन निकटतम कारणों का बीमा न कराने के कारण इसकी हानि पूर्ति नहीं होती।

समुद्री हानियाँ दो प्रकार की होती हैं, जिनमें से एक **सम्पूर्ण हानि** (Total loss) तथा दूसरी **औसत हानि** (Average Loss) कहलाती है।

सम्पूर्ण हानि (Total Loss) —सम्पूर्ण हानि भी दो प्रकार की होती है, जिसमें से पहले **वास्तविक** (Actual) तथा दूसरी, **अनिवार्य** (Constructive) हानि कहलाती है।

(१) वास्तविक सम्पूर्ण हानि (Total Actual Loss) —यह हानि प्रायः तीन कारणों से होती है :—

(क) जब जहाज डूब जाता है या माल में आग लग जाती है तो बीमा

कराये हुए माल के पूर्णतः नष्ट हो जाने पर वास्तविक सम्पूर्ण हानि होती है।

(ख) जब वस्तु का अस्तित्व तो बना रहता है, परन्तु उसके स्वरूप में पूर्णतः परिवर्तन हो जाता है, तब यह हानि होती है। जैसे, चीनी का समुद्र के जल में घुल जाना।

(ग) जब जलयान समुद्री डाकुओं या लुटेरों द्वारा लूट लिया जाता है और बीमा कराने वाले को अपना कुछ माल भी नहीं मिल पाता, तब यह वास्तविक सम्पूर्ण हानि (Total Actual Loss) होती है।

(२) अनिवार्य सम्पूर्ण हानि (Constructive Total Loss)—यह अनिवार्य सम्पूर्ण हानि उस समय होती है जब किसी बीमा की हुई वस्तु की हानि होने पर उसे बिक्री-योग्य बनाने में उसके वास्तविक मूल्य से अधिक या उतनी ही राशि और खर्च करनी पड़ती है। तब यह भी एक प्रकार की सम्पूर्ण हानि ही होती है, इसी कारण इसे **अनिवार्य सम्पूर्ण हानि** कहा जाता है। इस हानि की पूर्ति भी बीमा करने वाले को वास्तविक सम्पूर्ण हानि की भाँति करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए, मानलो एक जलयान चट्टान से टकरा जाता है और बुरी तरह से टूट-फूट जाता है, यदि उसकी दुरुस्ती कराने में तथा किनारे तक लाने में इतना खर्च हो जाता है कि वह उस जलयान के वास्तविक मूल्य से भी अधिक बैठता है, तो यह क्षति या हानि अनिवार्य सम्पूर्ण हानि (Constructive Total Loss) कहलायेगी।

परित्याग की सूचना (Notice of abandonment) :—जब अनिवार्य सम्पूर्ण हानि हो जाती है, तो सर्वप्रथम बीमा कराने वाले को अपनी उस हानि होने वाली वस्तु पर जो अधिकार होते हैं उनका परित्याग (Abandonment) करना पड़ता है तथा इसकी सूचना बीमा करने वाले को देनी पड़ती है। उस सूचना के मिलते ही बीमा कराने वाला उन समस्त नष्ट प्राय वस्तुओं को अपने अधिकार में ले लेता है तथा अपनी इच्छानुसार उनकी कार्यवाही करता है। यह परित्याग की सूचना बीमा कराने वाले व्यक्ति को उसी समय तुरन्त भेजना अनिवार्य है, जब उसे वस्तु-विनाश की सूचना मिले, क्योंकि तुरन्त सूचना भेजने पर ही वह सम्पूर्ण हानि की पूर्ति कराने का अधिकारी होता है। यदि सूचना कुछ देर से पहुँचती है तो बीमा कराने वाले की केवल आंशिक-हानि की पूर्ति की जाती है। यदि कोई बीमा करने वाला उस विनष्ट-हुई वस्तु के बीमा का पहले ही पुनर्बीमा करा देता है तो उसे उस दूसरे बीमा करने वाले को यह सूचना भेजना आवश्यक नहीं होता। परन्तु एक बीमा करने वाला ऐसी परित्याग-सूचना को स्वीकार करने के लिये बाध्य नहीं होता। अतः यदि वह सूचना को स्वीकार न करे तो बीमा कराने वाले व्यक्ति को न्यायालय द्वारा उचित कार्यवाही करनी चाहिए।

चाहे कोई बीमा-पॉलिसी निश्चित मूल्य वाली हो अथवा निश्चित मूल्य वाली न हो, परन्तु सम्पूर्ण हानि की समस्त राशि बीमा कम्पनी को चुकानी पड़ती है। एक निश्चित मूल्य वाली पॉलिसी में तो बीमा की हुई वस्तु का निश्चित मूल्य लिखा रहता है, अतः उस पर लिखी हुई राशि **"बीमा किया हुआ मूल्य"** (Insured Value) कहलाती है। परन्तु अनिश्चित मूल्य वाली पॉलिसी किसी सम्पत्ति के **"बीमा योग्य मूल्य"** (Insurable Value) वाली होती है। अतः इसमें वस्तुओं का प्रारम्भिक मूल्य तथा खर्च दोनों सम्मिलित रहते हैं।

"औसत" (Average) :—समुद्री बीमा-पत्र में इस **"औसत"** शब्द का प्रयोग गणित की भाँति नहीं होता। यहाँ इसका अभिप्राय समुद्र द्वारा होने वाला क्षति एवं हानि से होता है। यह औसत हानि दो प्रकार की होती है, पहली विशिष्ट औसत हानि (Particular Average Loss) तथा दूसरी व्यापक औसत हानि (General Average Loss) कहलाती है।

विशिष्ट औसत-हानि (Particular Average Loss) :—विशिष्ट औसत हानि एक ऐसा आंशिक हानि होती है जो किसी दुर्घटना के द्वारा होती है तथा जिसके लिए पहले से ही बीमा कराया जाता है। यह हानि प्रायः प्राकृतिक संकटों के कारण होती है अर्थात् समुद्र में तूफान आ जाने पर, जलयान में आग लग जाने पर, किसी दूसरे जलयान से टक्कर हो जाने पर, बन्दरगाह से टकरा जाने पर या जलयान की तली में सुराख हो जाने पर हानि हुआ करती है। ऐसी हानियों को बीमा करने वाले तथा बीमा कराने वाले दोनों सहन किया करते हैं। इस हानि के बारे में स्मरण-पत्र (Memorandum) तथा विशिष्ट औसत-हानि-मुक्त वाक्य (F. P. A. Clause) के प्रभाव का अच्छी प्रकार अध्ययन करना चाहिए। स्मरण-पत्र के आधार पर कुछ विशेष वस्तुओं की हानि हो जाने पर एक बीमा करने वाला आंशिक हानि-पूर्ति करने का भी अधिकारी नहीं होता तथा दूसरी वस्तुओं के लिए वह एक निश्चित प्रतिशत से कम आंशिक हानि की पूर्ति करता है। ऐसे ही विशिष्ट औसत हानि-मुक्त वाक्य के अनुसार एक बीमा करने वाला आंशिक हानि की पूर्ति करने से पूर्णतः मुक्त हो जाता है। ऐसी दशाओं में समस्त हानि माल के स्वामी को ही उठानी पड़ती है। अतः उक्त वाक्यों को समझ कर बीमा के लिए प्रस्ताव प्रकट करना चाहिए।

विशिष्ट औसत हानि की गणना एवं उसका विवरण (Measure of Indemnity and Statement of Particular Average).—किसी हानि हो जाने वाले माल की औसत-हानि का पता लगाने के लिये पहले यह देखते हैं कि यदि वह माल सुरक्षित अवस्था में अपने निश्चित स्थान पर पहुँच जाता तो कितना मूल्य मिल सकता; दोनों मूल्यों का अन्तर ही विशिष्ट औसत-हानि कहलाता है। यदि उस हानि वाली वस्तु के लिए अनिश्चित मूल्य वाली बीमा-पॉलिसी ली गई है,

तो हानि हो जाने पर बीमा-राशि की सीमा के अनुसार उपर्युक्त अन्तर वाली राशि, बीमा कम्पनी से वसूल कर ली जाती है। परन्तु निश्चित मूल्य वाली पॉलिसी की तो उतनी ही राशि मिलती है जितनी उस पॉलिसी पर अंकित रहती है। इतना अवश्य है, कि उपर्युक्त राशि के साथ साथ एक बीमा कराने वाला अपनी विनिष्ट वस्तुओं के आ जाने पर उनकी जाँच-पड़ताल का प्रशुल्क, बिक्री का शुल्क आदि बीमा कम्पनी से और वसूल कर सकता है।

जिस समय विनिष्ट वस्तुयें जलयान द्वारा बन्दरगाह पर आ जाती हैं तो एक कुशल निरीक्षक (Surveyor) उन सब की पूर्णत. जाँच करता है। फिर उसके नष्ट होने का कारण जहाँ तक उसे पता चलता है वहाँ तक समझ कर एक प्रमाण-पत्र पर लिखता हुआ उन नष्ट हुई वस्तुओं को प्रमाणित करता है।

जलयान की विशिष्ट औसत-हानि (Particular Average on Ship) :—यदि किसी बीमा किए हुए जलयान की ऐसी विशिष्ट औसत हानि हो जाती है तो जलयान का स्वामी बीमा कम्पनी से उसकी दुरुस्ती का व्यय वसूल कर सकता है, परन्तु वह व्यय किसी भी दशा में बीमा की हुई राशि से अधिक नहीं होगा। बीमा कराने वाला जब अपने व्यय के लिए स्वत्व प्रकट करता है, उस समय बीमा-राशि का और कोई महत्त्व नहीं होता, केवल एक सीमा निर्धारण करने के कारण इस राशि को भी देखा जाता है। क्योंकि इस राशि से अधिक व्यय का स्वत्व प्रकट करने पर बीमा कम्पनी उसके स्वत्व की अधिक राशि स्वीकार नहीं करती।

भाड़े की विशिष्ट औसत-हानि (Particular Average on Freight) :—भाड़े को किसी भी दशा में ऐसी क्षति या हानि नहीं पहुँचती जैसी कि जलयान या माल को पहुँचा करती है। इसका मूल्यांकन होना भी कठिन है। अतः यह हानि भाड़े की आंशिक हानि होती है। कभी-कभी जब यह भाड़ा पहले ही मिल जाता है तो फिर इसके लिए कोई जोखम नहीं रहती, इसलिए इसका बीमा भी उस समय नहीं कराया जाता, परन्तु एक जलयान के स्वामी को जोखम बराबर बनी रहती है। यदि भाड़े का बीमा कराया जाता है तो बीमा करने वाले को हानि की दशा में भाड़े की वास्तविक हानि पूरी करनी पड़ती है। जैसे, एक जलयान पर नमक के बोरे लादे गये और उनके भाड़े के लिए यह निश्चय हुआ कि माल जब अपने उचित स्थान पर सुरक्षित अवस्था में पहुँच जायगा तब समस्त भाड़ा चुकाया जायेगा। परन्तु मार्ग में समुद्री दुर्घटना के कारण नमक के आधे बोरे पानी में गल जाते हैं। इस घटना के कारण उसे आधा-किराया मिलता है। अब यदि उस भाड़े का बीमा जलयान वाले ने पहले ही करा लिया है तो आधा किराया वह बीमा-कम्पनी से ले सकता है।

व्यापक औसत-हानि (General Average) :—व्यापक औसत-हानि का सम्बन्ध व्यापक औसत-कार्यों से होता है, अर्थात् जब कोई जलयान का स्वामी यह

देखता है कि किसी प्रकार की थोड़ी सी वस्तुओं की हानि हो जाने पर अधिक से अधिक लोगों की रक्षा हो सकती है तो दुर्घटना या संकट के समय वह उन वस्तुओं को नष्ट होने से नहीं रोक सकता, वरन् उन्हें स्वयं नष्ट करना भी आवश्यक समझता है। अतः इस हानि का रूप व्यापक होता है और बलिदान तथा सेवा-भाव दोनों से सबद्ध रहता है, क्योंकि इस हानि के द्वारा संकट के समय दूसरों की रक्षा की जाती है। जब इस प्रकार की व्यापक औसत-हानि (General Average Loss) हो जाती है तो हानि करने वाले पक्ष की सहायता अन्य पक्ष वाले भी किया करते हैं। इस प्रकार की आर्थिक सहायता को व्यापक औसत आर्थिक सहायता (General Average Contribution) कहते हैं।

यह व्यापक आर्थिक सहायता प्रायः निम्न परिस्थितियों में की जाती है·—

(१) जब सार्वजनिक संकट उपस्थित हो गया हो;

(२) जब कुछ वस्तुओं का नष्ट करना अनिवार्य हो गया हो;

(३) जब वह हानि दूसरों की सुरक्षा के लिए स्वयं सोचकर की गई हो और प्राकृतिक घटना के कारण न हो;

(४) जब वह हानि या क्षति उचित एवं न्याय-संगत हो तथा बुद्धिमत्ता के साथ की गई हो;

(५) जब वह हानि असाधारण हो तथा जलयान या माल को सामान्य सुरक्षा की दृष्टि से की गई हो;

(६) जब उस हानि द्वारा जलयान या माल के किसी अंश की सुरक्षा हुई हो;

(७) जब यह हानि किसी ऐसे व्यक्ति के दोष द्वारा न हुई हो, जिसका इस हानि द्वारा हित नष्ट हुआ हो।

प्रायः निम्नलिखित दो प्रकार की हानियों के होने पर व्यापक आर्थिक सहायता दी जाती है —

(क) जब किसी जलयान में पानी भरने लगता है तो उसका बोझ हल्का करने के लिए माल के फेंकने से, जलयान की सुरक्षा के लिए उसके किसी भाग को नष्ट कर देने से, जहाज पर आग लग गई हो तो उसे बुझाने के लिए पानी डालने से या विस्फोटक पदार्थों को समुद्र में फेंक देने से, अथवा इंजिन का कोयला खतम हो जाने पर उसे चालू रखने के लिए किसी माल को जला देने से जो हानि स्वयं की जाती है वह प्रथम प्रकार की हानि कहलाती है।

(ख) दूसरे प्रकार की हानि वह कहलाती है जब भयकर तूफान या दुर्घटना के समय सार्वजनिक सुरक्षा का प्रश्न खड़ा होता है और उसके लिए हर प्रकार का व्यय किया जाता है।

व्यापक औसत-हानि की पूर्ति (Contributing Interest) — बहुधा जिन व्यक्तियों के हित की दृष्टि से यह व्यापक हानि होती है वे जलयान के स्वामी, माल के स्वामी तथा भाड़ा लेने वाले—ये तीन व्यक्ति होते हैं। अत इन तीन व्यक्तियों से ही उस व्यापक हानि की पूर्ति कराई जाती है। ये तीनों अपने-अपने अनुपात से उसकी पूर्ति करने का प्रयत्न करते हैं। एक जलयान का स्वामी अपने जलयान के वास्तविक मूल्य के आधार पर हानि के लिए कुछ अंश देने को उसी समय तैयार होता है जब उसका जलयान सुरक्षित अवस्था में निश्चित स्थान पर आ जाता है। एक भाड़ा लेने वाला अपने अनुपात से उस हानि की पूर्ति केवल उस भाड़े म से करता है जो उसे हानि होने के उपरान्त बचे हुए माल का मिलता है। ऐसे ही एक माल वाला अपने बचे हुए माल को जो मूल्य सभी व्यय आदि निकालने पर बचता है उसमें से अपने अनुपात में हानि-पूर्ति के लिए धन देता है। इस प्रकार औसत-हानि की पूर्ति के लिए अपने अपने अनुपात से मूल्य में से ये तीनों व्यक्ति अंशदान (Contribution) करते हैं; परन्तु इनका अंशदान करते समय वस्तुओं का जो मूल्य रहता है वह सदैव बीमा-मूल्य के बराबर नहीं होता। इस प्रकार एक जलयान के माल का बीमा-मूल्य १००० पाउंड है, परन्तु अपने निश्चित स्थान पर पहुँच कर इस माल का बाजारी मूल्य २००० पाउंड हो सकता है, परन्तु इस अन्तिम मूल्य में से ही एक माल के व्यापारी को व्यापक हानि-पूर्ति के लिये अंशदान देना पड़ेगा।

औसत-हानि की समायोजना (Average Adjustment) :—जब एक जलयान बन्दरगाह पर आ जाता है, तब व्यापक औसत हानि के लिए जलयान का स्वामी योग्य समायोजकों (Adjustors) को नियुक्त करता है। ये समायोजक उपर्युक्त तीनों अंशदायियों के बीच हानि का विभाजन करने के लिये पहले एक औसत-विवरण तैयार करते हैं। यह विवरण व्यापक औसत-हानि का विवरण (General Average statement) कहलाता है। जलयान का प्रमुख अपनी सुरक्षा के लिए अपने समस्त न्याय्य कार्यों का विवेचन करता है। उसके इस विवेचन की घोषणा को प्रतिवाद (Protest) कहते हैं। इस प्रतिवाद को वह सर्वप्रथम विपत्रों को प्रमाणित करने वाले अधिकारी (Notary Public) के यहाँ प्रस्तुत करता है तथा उसके समस्त विवरणों को जलयान पुस्तिका (Log Book) में लिखा जाता है।

यदि यह व्यापक औसत-हानि (G/A Loss) एक ऐसी दुर्घटना के कारण होती है जिसका कि बीमा करा लिया जाता है तो जलयान स्वामी तथा व्यापारी लोग जो कुछ राशि उस हानि के लिए अंशदान के रूप में देते हैं, उस समस्त राशि को वे अपने बीमा करने वालों से वसूल कर सकते हैं।

नाश-रक्षण (Salvage) :—नाश-रक्षण एक प्रकार का शुल्क या पारितोषिक होता है जो समुद्री यात्रा के समय जान-माल की रक्षा करने के लिए या

उस रक्षा के लिए सहायता पहुँचाने के लिये किसी नाश-रक्षक को दिया जाता है। इस शब्द का प्रयोग सम्पत्ति की रक्षा के लिए भी होता है। एक विनाश-रक्षक (Salvor) अपने द्वारा बचायी हुई या रक्षा की हुई सम्पत्ति को अपने अधिकार में उस समय तक प्रतिभूति के रूप में रख सकता है जब तक उसे शुल्क न दिया जाय। यदि उसके प्रयत्न द्वारा किसी सम्पत्ति की रक्षा नहीं होती तो वह रक्षा करने पर भी वैधानिक रीति से नाश रक्षण का पारितोषिक या शुल्क नहीं ले सकता।

समुद्री बंध (Bottomry Bonds) —प्राचीन काल में जब यातायात के साधन सन्तोषजनक नहीं थे तो जलयानों के स्वामियों को परिस्थिति की विवशता के कारण अपने जलयान के ऊपर या जलयान, माल तथा भाड़े के ऊपर ऋण लेना पड़ता था। उस कारण के लिए जो अनुबंध किए जाते थे वे समुद्री-बंध (Bottomry bonds) कहलाते थे। इन समुद्री-बंधों की मुख्य विशेषताएं ये थीं, कि —

(१) यह राशि जल-यात्रा के लिए अत्यन्त आवश्यक है;

(२) इस राशि का संग्रह समुद्री-बंध के अतिरिक्त अन्य किसी रीति से नहीं हो सकता, तथा

(३) यह ऋण के रूप में ली हुई राशि जलयान की दुरुस्ती तथा जलयात्रा के व्यय-हेतु न्यूनतम आवश्यक राशि है।

इस अनुबंध के लिए जलयान स्वामी व्यक्तिगत रूप में जिम्मेदार होता था, क्योंकि इस ऋण को वह अपनी व्यक्तिगत साख पर लेता था। साधारण प्रतिभूति द्वारा ऋण लेने में तथा इस प्रकार के ऋण लेने में अन्तर रहता है। इस बंध में कुछ-कुछ बीमा के से तत्व मिलते हैं क्योंकि इस अनुबंध के आधार पर यह निश्चित होता था कि यदि जलयान सुरक्षित अवस्था में अपने यथास्थान पर नहीं पहुँचता तो ऋण देने वाला उस जलयान-स्वामी से ऋण माँगने का अधिकारी नहीं रहता था। परन्तु वह हानि एक सम्पूर्ण हानि मानी जाती थी। आंशिक हानि होने पर तो उसे ऋण लौटाना पड़ता था। इसके भुगतान के लिए भी यह नियम था कि यदि कोई जलयान स्वामी बम्बई से लन्दन जाना चाहता है और मार्ग में परिस्थिति-वश वह समुद्री-बंध (Bottomry bond) द्वारा पहले अदन के बन्दरगाह पर ऋण लेता है, फिर माल्टा पर, इसके बाद जिब्राल्टर पर लेता है, तो जिब्राल्टर वाला ऋणदाता अपने ऋण के लिए पहले दावा (Claim) कर सकता था, अदन वाले को सबसे अन्त में दावा करने का अधिकार था। यह ऋण लेने का कार्य आवश्यकता के सिद्धान्त पर आधारित था, क्योंकि यदि अन्तिम ऋण-दाता अर्थात् जिब्राल्टर वाला व्यक्ति उसे ऋण न देता तो वह जलयान अपने निश्चित स्थान पर नहीं पहुँच सकता था।

उत्तरदायी बंध (Respondentia Bond) —पहले जब कोई ऋण-राशि केवल जलयान के माल की प्रतिभूति (Security) पर ली जाती तो उसके लिए उत्तरदायी बंध (Respondentia Bond) लिखना पड़ता था। परन्तु जब तक एक जलयान के स्वामी को अपने जलयान की प्रतिभूति पर ऋण मिल सकता था तब तक वह माल की प्रतिभूति पर ऋण नहीं ले सकता था, इसके लिए पहले उसे माल के स्वामी से भी अनुमति लेनी पड़ती थी। यदि जलयान स्वामी का ऋण दाता किसी प्रकार उत्तरदायी बंध के आधार पर जलयान का माल रोक लेता था या अपने अधिकार में कर लेता था तो जो हानि उस समय माल वाले को उठानी पड़ती थी उसकी पूर्ति जलयान-स्वामी को करनी पड़ती थी। आजकल ऐसे अनुबंध पूर्णतः समाप्त हो गये हैं।

एक व्यापक बीमा कम्पनी की स्थिति के मूल्यांकन की पद्धति (How to assess the Standing of a general insurance Company)

एक व्यापक बीमा कम्पनी की व्यवस्था तथा स्थिति का पता चलाने के लिए *निम्नलिखित प्रमुख बातों का जानना अत्यावश्यक होता है —*

(१) व्यय (Cost) —इस व्यय के अन्तर्गत प्रव्याजि के कमीशन का प्रतिशत तथा उसकी व्यवस्था में होने वाले खर्च आते हैं। जैसे जैसे प्रव्याजि की आय बढ़ती है यह व्यय स्वभावतः कम होता जाता है और अच्छी सुव्यवस्थित कम्पनियों में यह आय इस व्यय की अपेक्षा अधिक रहती है। कारण यह है कि पहले व्यय अधिक होता है, परन्तु उसके स्थिर हो जाने पर फिर व्यय की अपेक्षा आय अधिक हुआ करती है। इस व्यय तथा आय के अनुपात द्वारा प्रत्येक बीमा कम्पनी की वास्तविक स्थिति का भली प्रकार परिचय हो जाता है।

(२) स्वत्वों का अनुपात (Claims Ratio) —इसके अन्तर्गत प्रव्याजि की आय में से चुकाये जाने वाले तथा शेष रहने वाले स्वत्वों का प्रतिशत आता है। यह अनुपात भिन्न भिन्न वर्षों में सदैव भिन्न भिन्न रहता है। परन्तु कम्पनी के गत ५ वर्षों के औसत द्वारा इसका पता अच्छी तरह लग जाता है। नहीं तो बीमा करने वाला से भी यह अनुपात मिल सकता है। यह प्रत्येक बीमा कम्पनी की स्थिति को बतलाने वाला प्रमुख साधन माना जाता है।

ब्रिटिश कम्पनियों के अग्नि बीमा विभाग में स्वत्वों का अनुपात ४०% होता है, जब कि अभिगोपकों के १०% लाभ को छोड़कर प्रव्याजि की आय में से कमीशन तथा अन्य खर्चों का अनुपात ४३% से अधिक नहीं जाता। इस प्रकार स्वत्वों तथा अन्य व्ययों में से जो भी बचत होती है उससे लाभ की राशि स्वतः बढ़ जाती है।

भारतवर्ष में लाभ प्राप्त करने की अपेक्षा उसमें व्यय अधिक हो जाता है, परन्तु स्वत्वों का अनुपात साधारणतः कम रहता है। यदि व्यय का अनुपात ५०% रहे तथा हानि का अनुपात ४० रहे तो भी अच्छा माना जाता है। साधारणतः हानि

का अनुपात ४०% से कम ही रहता है, परन्तु उसकी पूर्ति व्यय के अनुपात को घटाकर नहीं की जाती। इसलिये जानकारी करने के लिए बीमा कम्पनी के व्यय सम्बन्धी अनुपात को अच्छी तरह देखना चाहिए।

(३) प्रव्याजि की राशि का संचयन एवं लाभांश-सम्बन्धी नीति (Premium Reserve and Dividend Policy) :—प्रायः किसी भी बीमा-कम्पनी की सुव्यवस्थित अवस्था के लिए यह आवश्यक होता है कि प्रव्याजि की राशि का ४०% भाग संचित-कोष में जमा रखना चाहिए जिससे आगामी आपत्ति के समय या भुगतान करते समय किसी प्रकार का संकट उपस्थित न हो सके। वैसे बड़ी-बड़ी सुस्थिर कम्पनियाँ अपना-अपना संचित-कोष स्वतन्त्र रूप से रखती हैं और उस कोष में प्रतिवर्ष होने वाले लाभ में से आवश्यक राशि जमा करती रहती हैं।

भारतवर्ष में अब बीमा कम्पनियों को अपने प्रव्याजि संचित-कोष को पर्याप्त मात्रा में रखने की अनुमति प्राप्त हो गई है। अब वे अपने अग्नि एवं दुर्घटना के लिए ५०% तक का समुद्री बीमा विभाग के लिए १००% तक संचित-कोष में प्रव्याजि-राशि बिना कर आदि के रख सकती हैं। जो बीमा कम्पनी अब बिना संचित-कोष स्थापित किए हुए अपने अंशधारियों को लाभांश का भुगतान करती है वह आलोचना का विषय बन जाती है। आश्चर्य की बात तो यह है कि आजकल सभी बीमा कम्पनियों के अंशधारी लाभांश लेने की अपेक्षा प्रव्याजि के संचित-कोष को अच्छा समझते हैं। उनके हितों की सुरक्षा लाभांश की अपेक्षा संचित-कोष से अधिक हो सकता है। लाभांश का वितरण करने से तो कम्पनी की आर्थिक स्थिति दुर्बल हो जाती है।

(४) विनियोग (Investment) :—भारतीय बीमा विधान १९३८ बीमा कम्पनियों के, विशेषकर जीवन बीमा कम्पनियों के विनियोगों (Investment) पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाता। इतना अवश्य है कि यह विनियोग (क) पूर्णतः सुरक्षित (ख) शीघ्र विक्रय योग्य, तथा (ग) अच्छी ब्याज प्राप्त कराने वाला होना चाहिए। साधारणतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बीमा कम्पनी को अपने विनियोग का ५०% भाग सरकारी प्रतिभूतियों तथा शेष राशि अच्छी व्यवस्थित कम्पनियों के ऋण-पत्र तथा अधिमान-अंशों (Preference Shares) के खरीदने में व्यय करना चाहिए।

(५) प्रबंध (Management) :—जिस कम्पनी का प्रबन्ध जितना अच्छा होता है वह कम्पनी उतनी ही अच्छी तरह चलती है। साधारणतः परस्पर बीमा कम्पनियों में तथा बीमा कम्पनियों एवं जनता के बीच विश्वास स्थापित करने के लिए किसी कम्पनी की आर्थिक दृढ़ता इतनी सहायक नहीं होती जितनी कि उसके प्रबंधकों की सच्चरित्रता तथा प्रतिष्ठा सहायक होती है।

अत. जो लोग किसी बीमा कम्पनी की स्थिति का पता चलाना चाहते हैं उन्हें उस कम्पनी की व्यवस्था एव प्रबन्ध का अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिए। यह निर्विवाद सत्य है कि कुछ कम्पनियाँ प्रयत्न करने के उपरान्त भी अपनी व्यवस्था या प्रबंध को सुदृढ नहीं बना पातीं, क्योंकि उनके पास चरित्रवान एव प्रतिष्ठावान प्रबंधकों का अभाव रहता है

Test Questions

1. What is Insurance? Describe briefly the different kinds of insurance commonly effected by business houses (Bombay, B Com 1936).

2 Do you prefer life assurance to other forms of investments? If so, why? How would you select a life insurance company if you wished to insure your life? (Agra, B Com 1944)

3 Explain the principal types of life assurance policies ordinarily issued and state briefly the advantages and disadvantages of each (Agra, B Com 1940)

4 Explain the nature and characteristics of insurable interest in relation of life assurance. To what extent, if any do you consider insurable interest exists in the following cases?

(a) A creditor on the life of his debtor
(b) A father on the life of his child
(c) An employee on the life of his employer
(d) A husband on the life of his wife (Agra, B Com. 1947)

5 State the essentials of a valid contract Explain how and to what extent a contract of life assurance satisfies the above essentials? In what ways can a contract of life assurance be terminated? (Agra, B Com. 1947)

6 Describe the types of assurance that you would suggest as *most suitable to meet the following requirements stating how they met* in each case —

(a) To provide for the education of a child
(b) To protect dependents in the event of an early death and meet the needs of the life assured in later years
(c) To make provision for payment of estate duties
(d) To replace capital which has to be withdrawn from a business in the event of the death of a partner

(*e*) To provide a capital sum at a specified date

(Agra B Com 1947)

7 Write short notes on (*a*) nomination on the face of a policy of life assurance and (*b*) conditional and unconditional assignment

(Agra B Com 1948)

8 How far can you judge the position of a life insurance company from the magnitude of its life insurance fund ? If it is not a sufficient criterion what means are adopted for the purpose ? (Agra M Com 1948)

9 Enumerate the various documents usually called in by a life office for establihing a claim by death of the life assured and discuss the importance of each of these documents (Agra B Com 1949)

10 Explain the term 'General Insurance How do you account for the formation of a number of general insurance companies in India in recent years ? What different risks should a prudent businessman cover by insurance ? (Agra B Com 945)

11 Explain the principal types of fire insurance policies and state the relative merits of each of them (Agra B Com 1948)

12 What are the principal implied warranties in the case of a marine insurance contract ? Explain them clearly

(Agra B Com 1947)

13 Explain clearly the following extract taken from the Director s Report of a leading Bombay cotton mill company for the year ended 31st December 1943 —

> The Company s property including buildings and stock has been insured for Rs 1 26 00 350 and the profit and standing charges of the Company have been insured for Rs 55 000 000 to cover a maximum stoppage of 24 months The Company s mill buildings machinery and stock have been insured against war risk in accordance with the Ordinance of the Government of India

(Agra B Com 1 45)

14 Discuss the role of insurance in modern commerce

(Rajputana B Com 1949)

———

अध्याय १३

विवेकीकरण और वैज्ञानिक प्रबन्ध

(Rationalisation and Scientific Management)

अब कुछ वर्षों से, विवेकीकरण आर्थिक विकास का एक प्रमुख सिद्धान्त समझा जाने लगा है। फैक्टरियों और उद्योग की समस्त शाखाओं का विवेकीकरण होने लगा है। पदार्थों (Goods) के विभाजन में, कृषि में, जनता में और निजी शासन-प्रबन्ध में, सारे देशों की अर्थ-व्यवस्था में और समस्त संसार में इसके प्रसार करने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। साथ ही साथ गृह-व्यवस्था के संकुचित क्षेत्र में भी इसके प्रचलन करने के तरीके ढूँढे जा रहे हैं।

विवेकी (Rational) होने का अर्थ है युक्ति (Reason) के अनुसार काम करना। इसलिए उद्योग के आरम्भ होने से ही विवेकीकरण अस्तित्व में रहा होगा। इस प्रकार अधिकांश तरीके, जो विवेकीकरण शब्द में शामिल किये जाते हैं, नये नहीं हैं। कम से कम सिद्धान्त के रूप में तो उनका प्रचार बहुत पहले से था। जो चीज नई है—वह है उनका यथा-क्रम (Systematic) उपयोग, उनके प्रचलन में वृद्धि और कुछ तरीके भी। इन तरीकों की ओर जो ध्यान दिया गया है, यह बात इतनी सामान्य है, और जो सफलता प्राप्त की गई है वह इतनी कौतुकमय (Spectacular) है कि इसे एक बिल्कुल नया सिद्धान्त समझा जाने लगा, जोकि पहले विश्व-युद्ध के अन्त में शुरू हुआ था जबकि वास्तव में यह आन्दोलन युद्ध से उत्पन्न हुई कुछ विशेष अवस्थाओं में बड़ा शीघ्रता से चलने लगा था।

इनमें से पहली अवस्था थी चीजों की कमी, जिसे युद्ध के समय और युद्ध के उपरान्त लोगों ने बुरी तरह महसूस किया था। इसका परिणाम यह हुआ कि अधिकांश प्राप्य साधनों को काम में लाने के प्रयत्न किये गये। जर्मनी में विशेष रूप से, अर्थ-व्यवस्था की नीति बड़ी कठोरता से लागू की गई। श्रम की कमी के लिए ऐसी युक्तियाँ निकाली गई जिनसे कोई नया प्रबन्ध किया जा सके। इस प्रकार एक नवीन तन्त्र (Technique) का शीघ्रता से विकास किया गया। कुछ शक्तिशाली श्रम-संगठनों ने कार्य के घंटों की कमी और भृतियों के बढ़ाने की जो माँगें की थीं, उनमें कुछ नई व्यवस्थाएं करने का भी निर्देश किया गया था। इसके अतिरिक्त

लड़ाई के बाद जो मन्दी हुई, उनसे इस आन्दोलन को उतना ही नया प्रोत्साहन मिला, जितना कि उत्पादन के खर्च को कम करने और सामग्री (Equipment) और तन्त्र की पुन व्यवस्था करने के प्रयत्न किये गए थे। अन्त में मुद्रा सम्बन्धी विघ्नों को भी अपना भाग अदा करना था।

इस प्रकार निर्माण के अनेक नये क्षेत्रों में, हस्त कार्य (Manual work) के स्थान पर यान्त्रिक-साधनों (Machanical Processes) से काम लिया गया और बिजली तथा यान्त्रिक और रासायनिक उद्योगों म उन्नति होने से औद्योगिक-तन्त्र में पूरे रूप से क्रांतिकारी परिवर्तन किए गये। उनके प्रकारों (Types) और नमूनों (Patterns) को सरल कर दिया गया और उनके भेदों को कम कर दिया गया। इस प्रकार की प्रवृत्ति पैदा हो गई थी कि कुछ निश्चित स्तरों के आधार पर अनेक वस्तुओं के कद, रूप और गुण में एकरूपता (Uniformity) रक्खी जाय। दूसरे शब्दों में विभिन्न मदों का सरल करन, पदार्थों और उत्पादनों का स्तरीकरण, हाथ के काम की अपेक्षा उन्नतिशील मशीनों का प्रयोग करन, अनार्थिक सार्थों के बन्द करन, बहुत बढ़ी हुई लागतों (Costs) में कमी करन और बेचने में किफायतशारी के विषय म इस आन्दोलन न बहुत उन्नति की। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उन्नति जो विवेकीकरण क विषय में की गई, वह थी नया उत्साह और औद्योगिक अनुसन्धानों म रुचि। औद्योगिक अनुसन्धानों के क्षेत्र में समय, गति (Motion) और परिश्रम (Fatigue) का अध्ययन किया गया और उन विभिन्न समस्याओं को सुलझाने के लिये जो इस सम्बन्ध में उत्पन्न हुई समुचित तरीकों का विकास किया गया। इस सारी परिपाटी के समयानुकूल व्यक्तिगत कार्य का विश्लेषण किया गया और श्रम विभाजन के सिद्धान्त को लागू करने के लिये एक नई उन्नति की गई। उद्योग में युक्ति (Reason) का प्रयोग करके लागत में कमी करने की योजना एक वैज्ञानिक योजना है और यही विवेकीकरण है।

तब विवेकीकरण के आन्दोलन में जो कि वर्तमान युग की एक विशेषता है, क्या-क्या बातें सम्मिलित होती हैं? विभिन्न आर्थिक क्रियाओं में लगाये गये, श्रम और पदार्थ आदि साधनों से अधिक से अधिक प्राप्त करने का क्रमानुसार प्रयत्न करना विवेकीकरण का प्रमुख लक्षण है। विवेकीकरण का अर्थ है कि परम्परागत परिपाटियों, स्थापित नित्य कर्म (Routine), प्रयोग सिद्ध (Empirical) नियमों और अचिन्तित रचना (Improvisation) के बजाय उन तरीकों का प्रयोग किया जाता है जो गम्भीर वैज्ञानिक अध्ययन के फलरूप हैं और जिसका उद्देश्य साध्यों (Ends) को प्राप्त करने के लिये साधनों (Means) का उचित ढँग से यथाक्रम लगाना होता है। इस प्रकार, उस हर प्रयत्न के करने से अधिकतम उपयोगी फल प्राप्त होते हैं। सन् १९२७ के विश्व आर्थिक सम्मेलन (World Economic Conference) के शब्दों

में, इसका सम्बन्ध "प्रयत्न (Efforts) या पदार्थ (Material) के कम से कम विनाश (waste) के दृष्टिकोण से किये जाने वाले तन्त्र (Technique) और संगठन के तरीक से है —

"It refers to method of technique and of organisation designed to secure minimum of waste either of efforts or of material"

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन (International Labour Organisation) ने निम्नलिखित परिभाषाओं को स्वीकार किया था —

(a) सामान्यतः विवेकीकरण वह सुधार है जो यथाक्रम युक्तियों पर आधारित साधनों या तरीकों से, स्वाभाविक व अप्रचलित अभ्यासों (Practices) को प्रयोग में लाता है।

(i) Rationalization in general is any reform tending to replace habitual antiquated practices by means or methods based on systematic reasonings

(b) सबसे अधिक संकुचित अर्थ में विवेकीकरण वह सुधार है जो किसी कार्य, शासन या अन्य जन सेवा या व्यक्तिगत-सेवा से सम्बन्धित है और जो यथाक्रम युक्तियों पर आधारित साधनों या तरीकों से स्वाभाविक व अप्रचलि अभ्यासों को प्रयोग में लाता है।

(ii) Rationalization in the narrowest sense is any reform of an undertaking administration or either service public or private, tending to replace habitual antiquated practices by means or methods based on systematic reasonings

(c) विस्तृत अर्थ में विवेकीकरण वह सुधार है जो व्यापारिक कार्यों के किसी समूह को एक इकाई के रूप में लेता है और उस विनाश व हानि को यथाक्रम युक्ति पर आधारित संयुक्त कार्यवाही से कम करने का प्रयत्न करता है, जो अशासित स्पर्द्धा के कारण होती है।

(iii) Rationalization in wider sense is a reform which takes a group of business undertakings as a unit and tends to reduce waste and loss due to unbriddled competition by concerted action based on systematic reason

(d) सबसे अधिक विस्तृत अर्थ में विवेकीकरण वह सुधार है जो उन साधनों और तरीकों को लागू करने का प्रयत्न करता है जो बड़े-बड़े आर्थिक और सामाजिक समूहों की सामूहिक कार्यवाहियों के लिये यथाक्रम-युक्तियों पर आधारित होते हैं।

(iv) Rationalization in the widest sense is a reform tending to apply means and methods based on systematic reasoning to the collective activities of the large economic and social groups

इसका उद्देश्य यह होता है कि उत्पादन की लागत में से विनाश को हटाया जाय, स्पर्द्धा को दूर किया जाय, उत्पादकों में सहकारिता पैदा की जाय और बिना उन बुराइयों को उत्पन्न किये हुए जो किसी वस्तु के क्रय विक्रय के एकाधिकार (Monopoly) से होती हैं, अत्यन्त व्यक्तिवाद (Extreme Individualism) के दोषों को दूर किया जाय। यह एक ऐसा तन्त्र है जो दोषपूर्ण व्यापारिक सगठन, अनुचित असन्तोषजनक तात्रिक सामग्री (Technical Equipment) जोकि कार्यकर्ता (Personnel) और कलों (Machinery) से सम्बन्धित हैं अप्रचलित विपणन के तरीकों, अति पूँजीकरण (Over Capitalization) और अत्यधिक प्रभारों (Excessive charges), आलस्य और अधिकार के परिणामों, गलतियों और त्रुटिपूर्ण गणनाओं की बुराइयों को दूर करता है।

किसी उद्योगी का उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना होता है। उसकी सफलता इन बातों पर निर्भर होती है (१) कम से कम लागत पर अधिक से अधिक उत्पादन करना, (२) मनुष्यों की कार्यक्षमता जोकि भिन्न भिन्न परिपाटियों पर काम करते हैं और एक दिये हुए प्रकार के उत्पादनों को बड़ी से बड़ी मात्रा से तैयार करते हैं (स्तरीकरण), और (३) विनाश और अनावश्यक व्यय को रोकने में व्यवस्थापन (Management) की क्षमता। विवेकीकरण विभिन्न तरीकों से, उपर्युक्त ध्येयों को प्राप्त करना चाहता है।

अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये विवेकीकरण के तरीकों को दो प्रमुख समूहों में बाँट दिया गया है —

(i) वैज्ञानिक प्रबन्ध, और

(ii) विवेकीकरण के उपाय जो श्रम से सीधे सम्बन्धित नहीं हैं।

वैज्ञानिक प्रबन्ध
(Scientific Management)

वैज्ञानिक प्रबन्ध का आरम्भ डाक्टर एफ० डब्ल्यू० टेलर से होता है। यह एक अमरीकन इञ्जीनियर था। इसने सन् १९११ में अपने वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्त प्रकाशित किये थे। यह उत्पादन के क्रमानुसार सङ्गठन का वर्णन करता है। तरीका यह है कि किन्हीं विशेष रोजगारों को करने के सब श्रेष्ठ तरीकों को निर्धारित किया जाय, सब अनावश्यक प्रयत्नों को दूर किया जाय और श्रमिक के परिश्रम को कम से कम किया जाय।

टेलर का कार्य तीन प्रधान सिद्धान्तों पर आधारित है —(१) समय का अध्ययन (Time study), (२) गति का अध्ययन (Motion study) और (३) परिश्रम का अध्ययन (Fatigue study)। समय, गति और परिश्रम के विश्लेषण से, हर निर्माण कार्य कई मूल भागों (Elemental Parts) में बाँटा जा सकता है।

आन्दोलनों (Movement) को संख्या कम की जाती है, सम्बन्धित गतियों (Motions) की सावधानी से व्याख्या की जाती है, सबसे अधिक कार्य क्षम गतियों और विशेषीकरण (Specialization) के लाभों के चार्ट तैयार किये जाते हैं और श्रम के विभाजन की पूर्ण रूप से उन्नति की जाती है, जिससे श्रमिक अधिक से अधिक कार्य, क्षमता और फल पा सके, जब कि उसे कम से कम प्रयत्न करना पड़े, अधिक से अधिक आराम और फालतू समय मिले और अधिक से अधिक भृति मिले।

वैज्ञानिक प्रबन्ध में वे तरीके सम्मिलित होते हैं जो हर मनुष्य और हर मशीन से, प्रयत्न या पदार्थ या समय का कम से कम विनाश करते हुए, अधिक से अधिक उत्पादन करते हैं। लेकिन किसी मनुष्य की उत्पादकता उस समय तक अधिक से अधिक नहीं बढ़ाई जा सकती जब तक कि उस मनुष्य को ऐसा रोजगार न दिया जाय जिसके लिए वह अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार सबसे अधिक उपयुक्त हो। काम करने का सबसे अच्छा स्तरीय तरीका और इसे पूरा करने का कम से कम या स्तरीय समय पहले ही निकाल लिया जाता है, कार्य करने के लिये आवश्यक प्रशिक्षण (Training) का प्रबन्ध कर दिया जाता है और सबसे अधिक जो लोग दिया हुआ काम निश्चित समय के अन्दर पूरा कर लेते हैं, उन्हें अधिलाभांश और अतिरिक्त भृतिया के रूप में प्रेरणा दी जाती है।

कई वैज्ञानिक औजार प्रयोग में लाये जाते हैं और श्रमिक के मनोविज्ञान कार्य करने के वातावरण और कार्य में लगाई हुई गतियों का अध्ययन करने के लिये, कई गहन (Complicated) और ललित (Delicate) लेखे रक्खे जाते हैं, क्योंकि कार्य, कार्य-क्षमता और फल का निर्णय करने में, ये सब साधन मौलिक माने गये हैं। इस प्रकार का अध्ययन करने का फल यह होता है, कि सारे कार्य की योजना विस्तारपूर्वक पहले ही बना ली जाती है। हर कार्य का वैज्ञानिक ढंग से पथ-प्रदर्शन किया जाता है। वैज्ञानिक प्रबन्ध में एक विशेष बात यह होती है कि सब विभागों में एक काम एक प्रधान-कर्मचारी (Foreman) को सौंप दिया जाता है जो उस कार्य को विशेषज्ञ होता है जब कि दूसरा काम किसी दूसरे प्रधान-कर्मचारी की देख-रेख में डाल दिया जाता है और इसी प्रकार अन्य सब काम भिन्न-भिन्न कर्मचारियों को सौंप दिये जाते हैं। इसमें मूल सिद्धान्त यह है कि एक या यथा सम्भव कुल कार्यों के लिये एक आदमी को उत्तरदायी बना दिया जाता है। इसलिये श्रमिक को भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से आदेश प्राप्त करने पड़ते हैं। यह संगठन 'क्रियात्मक प्रबन्ध' (Functional management) कहलाता है जोकि पुराने 'रैखिक' (Line) संगठन के प्रतिकूल है।

रैखिक-पद्धति एक राजकीय-पद्धति है जिसमें संस्था का कार्य विभागों में बाँट दिया जाता है और कार्यों का विभाजन सैन्य-सिद्धान्त पर किया जाता है।

उसमें कई स्वतन्त्र विभाग होते हैं, जिनमें हरएक का एक उप प्रबन्धक होता है जो प्रधान प्रबन्धक (General Manager) के प्रति उत्तरदायी होता है। हर उपप्रबन्धक के नीचे और कर्मचारी हो सकते हैं जो यथाक्रम ऊपर वाले कर्मचारी से कम अधिकार रखते हैं। इससे साधारणतः कार्यक्षमता गति और कार्य की सुनिश्चितता की कोई निश्चित राशि प्राप्त होती है, लेकिन इससे कुछ हानियाँ भी हैं। (1) सबसे पहले तो, यह पद्धति किसी एक व्यक्ति की योग्यता पर निर्भर होती है। (2) दूसरे, इसका सरलता से विस्तार नहीं किया जा सकता; और तीसरे, किसी एक विभाग का कार्य-सगठन किसी दूसरे विभाग के कार्य-सगठन से बिलकुल भिन्न हो सकता है और विभिन्न विभागों में एकीकरण का यह अभाव विनाश और अक्षमता पैदा कर सकता है। अन्त में, रैखिक-पद्धति अनुशासन पर अपेक्षाकृत अधिक जोर देती है, और इतना जोर उत्पादक-क्षमता पर नहीं देती।

तो भी, सम्मिलित रैखिक और कर्मचारी (Staff) पद्धति एक वह प्रयत्न है जो क्रियात्मक पद्धति और रैखिक-पद्धति के बीच में संतुलन करने का प्रयत्न करता है। रैखिक-पद्धति के आधार पर अनुशासन रक्खा जाता है और सलाहकार-कर्मचारियों के रखने से कार्य क्षमता में वृद्धि की जाती है। ये कर्मचारी तान्त्रिक क्षमता की सभी समस्याओं पर प्रबन्धकों को सलाह देते हैं। इस स्टाफ का प्रयोजन कार्यवाहक-अधिकारियों को सूचना, सलाह और क्रियात्मक सुविधाएं देना होता है। उदाहरण के रूप में, एक विशेष स्टाफ-प्रधान-प्रबन्धक को सलाह दे सकता है, दूसरा विक्रय प्रबन्धक को; और तीसरा सूचना इकट्ठी कर सकता है और विपणि-अनुसन्धान पर सलाह दे सकता है।

इस प्रकार, वैज्ञानिक प्रबन्ध का एक विशेष लक्षण यह है कि व्यापार करने के अनुमानित कार्य (Guess work) और परम्परागत तरीकों के स्थान पर यथा-क्रम ज्ञान और अनुसन्धान पर आधारित तरीकों को काम में लाया जाता है। किसी श्रमिक के गलती करने पर, उस पर अभियोग लगाकर, उसे पदच्युत करने और उसके स्थान पर दूसरा आदमी लगाने के बजाय, जाँच-पड़ताल के द्वारा उसके सबसे अधिक सफल-कार्य का निश्चय किया जाता है। बजाय इसके कि किसी श्रमिक को अपना कार्य करने के लिये अच्छे से अच्छे तरीके ढूँढने की आज्ञा दी जाय। उपर्युक्त तरीकों से जिनका पहले ही अनुसन्धान कर लिया जाता है, बड़ी सावधानी से दीक्षा दी जाती है। परम्परागत रूप, भार और गुण वाले औजारों का प्रयोग करने के बजाय, उसे वे औजार दिये जाते हैं जिन्हें अनुसन्धान ने, उसके कार्य की परिस्थितियों के लिये सबसे अधिक उपयुक्त सिद्ध कर दिया है। श्रमिक को किसी परम्परागत आधार पर भुगतान करने के बजाय, कोई ऐसी योजना निकालने के प्रयत्न किये गये हैं जो उत्पादन के लिये एक प्रेरणा का कार्य करें। बजाय इसके कि प्रधान प्रबन्धक से प्रधान-कर्मचारी

एक व्यवस्थापन के हर सदस्य पर, एक बड़ी संख्या में विविध कार्यों को करने का भार डाला जाय, उसे अपेक्षाकृत कम संख्या में व्यवस्थापन के कर्त्तव्यों में विशेषज्ञ बनाया जाता है।

इसी प्रकार कलों की उचित मरम्मत की जाती है और औजार भी सर्वश्रेष्ठ रूप, कद और नमूने के होते हैं। सर्वश्रेष्ठ प्राप्य कलों और औजारों की व्यवस्था करना, उत्पादन के पदार्थों का अध्ययन करना और कलों की सबसे अधिक प्रभावजनक गति (Speed) का निर्णय करना, निरन्तर सरल रैखिक-उत्पादन (Straight Line production) करने के लिये पदार्थों को जुटाने की पुनर्व्यवस्था करना, और सावधानी से समय, गति और परिश्रम का अध्ययन करना, वैज्ञानिक प्रबन्ध के कुछ अन्य लक्षण हैं।

इसलिये वैज्ञानिक प्रबन्ध श्रेष्ठतर तान्त्रिकता को उद्योग में लागू करके व्यवस्थापन में विशेषीकरण की वृद्धि करके, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का उचित प्रयोग करके और भृति-भुगतान के श्रेष्ठतर तर्कों के द्वारा उत्पादन की लागतों में कमी करता है। उपर्युक्त उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये, एक अलग योजना-विभाग (Planning Dept), जिसमें एक योग्य और अनुभवी प्रबन्धक और अन्य कुशल व्यक्ति होते हैं, और एक अलग उत्पादन-विभाग जिसमें कई नायकों (Bosses) के नियन्त्रण में विभिन्न वर्ग (Sections) होते हैं, बड़े सहायक होते हैं।

वैज्ञानिक प्रबन्ध विवेकीकरण का एक अंग है। वैज्ञानिक प्रबन्ध एक इकाई के रूप में किसी संस्था के सर्वश्रेष्ठ संगठन का द्योतक है। यह विनाश में कमी करने की एक योजना भी है और उद्योग के तान्त्रिक पक्ष की ओर अधिक ध्यान देता है, जहाँ कि विवेकीकरण में, व्यापार के आर्थिक पक्ष की ओर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया जाता है। इससे भी अधिक वैज्ञानिक प्रबन्ध साधारणतः बड़े व्यापार की ओर नहीं ले जा सकता, अपितु सम्मिलन का कोई रूप विवेकीकरण की किसी योजना का साधारण रूप हो सकता है।

श्रम से असम्बन्धित विवेकीकरण के उपाय

(Measures of Rationalization not connected with labour)

इनमें उन उपायों को ग्रहण किया जाता है जिनकी किसी उद्योग द्वारा अपने तन्त्र, प्रबन्ध और अर्थ-व्यवस्था की उन्नति के हेतु यथाक्रम लागू करने की सिफारिश की जा सकती है।

पुनर्संङ्गठन (Reorganisation) वह उपाय है जिससे तान्त्रिक क्षमता में उन्नति की जा सकती है, उत्पादन की लागत में कमी की जा सकती है, विनाश को रोका जा सकता है और ऊपरी लागतों (Over-head costs) को कम किया जा सकता है। पुनर्संङ्गठन की समस्या तीन शीर्षकों में प्रस्तावित की जाती है:—समावेशन (Merger), आधुनिकीकरण (Modernisation) और प्रबन्ध (Management)।

विवेकीकरण, वास्तव में, बड़े पैमान पर किये जान वाले व्यापार से सम्बन्धित है। इसलिये विनाश को रोकने के उद्देश्य से, इसमें सम्मिश्रण (Amalgamation), सयोग (Integration) और आधुनिकीकरण (Modernisation) सम्मिलित होते हैं। उत्पादन कई आधुनिकीकृत (Modernised) उपकरणों में केन्द्रित होता है, प्रयत्नों के विनाशपूर्ण दुहराव (Duplication) को दूर कर दिया जाता है, और अनार्थिक (Uneconomic) व अप्रचलित इकाइयों को बन्द कर दिया जाता है। यह उत्पादन (Out put) के नियमन का भी उद्देश्य रखता है जिससे माँग और पूर्ति की उचित रूप से व्यवस्था की जा सके और मूल्यों को स्थायी रक्खा जाता है। उद्योग के सामूहिक नियन्त्रण की नींव डाली जाती है। इसलिये यह एकान्त, अन एकीकृत (Uncoordinated), स्वनियन्त्रित (Self controlled) और स्वरक्षित (Self-contained) इकाइयों को, पूर्णरूप से उद्योग म, उद्योग के हितों के लिये ही सहकारिता के मार्ग में लाता है। औद्योगिकों से यह आशा की जाती है कि वे एक नई भावना, नये दृष्टिकोण की उत्पत्ति करेंगे, जिससे उत्तरदायित्व और जन-सेवा की नई भावना उदय हो। सामूहिक रूप से कार्य करने की लोगों म सामान्य इच्छा होती है जोकि मितव्ययता, कार्य क्षमता और स्थायित्व (Stability) के हित में होती है और जिससे सामान्यत उपभोगा (Consuming) जनता को भी लाभ होता है, जिससे मूल्य रक्षा (Price Maintenance) की नीति के स्थान पर मूल्य की गरंटी आ जाती है।

विस्तार से कहने पर विवेकीकरण वह साधन है जिससे किसी पूरे उद्योग को निपुण-संचालन (Intelligent Direction) और शासन में लाया जाता है। यह औद्योगिक सगठन और नियन्त्रण के भाव की ओर सकेत करता है जोकि मौलिक रूप से गत शताब्दी की विचार धारा से भिन्न हैं। यह उद्योग को एक अवयवी (Organic) शरीर मानता है जिसमें प्रत्येक भिन्न सस्था पूरे शरीर का एक अंग है, व्यय शक्ति परस्पर नाश करने वाले सघष में नहीं लगती अपितु एक सम्मिलित नीति और कार्यक्रम (Programme) के अनुसार मिलकर काम किया जाता है जिसे सचालकगण बनाते हैं जिन्हें उद्योग के ऊपर सम्पूर्ण अधिकार दे दिये गये होते हैं। उत्तेजनापूर्वक विचार करने पर, इसका मतलब उस उद्योग से निकलता है जो श्रमिकों, माल के सवाहकों (Carriers) और उपभोक्ताओं को एक सयुक्त मोर्चा प्रदान करता है। रचनात्मक रूप से विचार करने पर, इसका अर्थ उद्योग के उस सगठन से निकलता है जोकि पूर्णरूप से इस तरीके से सस्थापित होता है जिससे सघर्ष व विनाश और दोषों को रोका जाय और सब सस्थाओं के तन्त्र और तन्त्रों को सर्वश्रेष्ठ स्तर पर लाया जाय और सबसे अधिक, पूर्ण उद्योग की समाई (Capacity), उत्पादन (out put), विक्रय क्रियाओं और मूल्यों को बाजार की वर्तमान और भावी आवश्यकताओं के अनुसार सयमित किया जाय।

लाभ (Advantages) इससे (a) समाज को अधिकतर स्थायित्व और उच्चतर जीवन का स्तर मिल सकता है, (b) उपभोक्ता को न्यूनतर मूल्य और श्रेष्ठतर वस्तुएं मिल सकती हैं, और (c) उत्पादकों को उच्चतर और अधिक नियमित प्रतिफल (Remuneration) मिल सकता है जोकि उनमें उचित रीति से बाँट दिया जाय। इससे अधिकतम श्रम क्षमता प्राप्त होती है। कच्चे माल और मानवीय प्रयत्न के विनाश को रोका जाता है। पदार्थों के विभाजन की प्रक्रिया को सरल कर दिया जाता है, अनावश्यक उलट भाड़ों (Freights), भार-युक्त आर्थिक प्रभारों (Charges) और मध्यम-पुरुषों (Middlemen) के व्यर्थ व्यवधान (Interposition) को समाप्त कर दिया जाता है। इससे श्रेष्ठतर अनुसन्धान सुविधाएं मिलती हैं और वैज्ञानिक तान्त्रिक और व्यापारिक ज्ञान इकट्ठा होता है जिससे निर्माणकर्त्ता को केवल अधिकतर लाभ की राशि ही प्राप्त नहीं होती अपितु समाज में अपेक्षाकृत अधिक स्वास्थ्यमय व्यापारिक वातावरण मिलता है। यह उन बड़ी व्यापारिक इकाइयों की ओर ले जाता है जोकि इस अवस्था में होती हैं कि कम दर पर पूँजी एकत्र कर सकें। बड़े आर्थिक-साधनों से हर उद्योग के लिये यह बात सम्भव हो जाती है कि वह अनुसन्धान और आधुनिक यन्त्रों पर अधिक खर्च कर सके और श्रेष्ठतर दिमाग वाले मनुष्यों को काम पर लगा सके।

विवेकीकरण के उपाय अपनी सफलता के लिये बारीक योजनाओं और यान्त्रिक सिद्धान्तों के दैनिक प्रयोग की अपेक्षा, नियोक्ताओं और श्रमिकों की पारस्परिक सद्भावनाओं और सहकारिता पर निर्भर होते हैं। बम्बई बुनकर श्रम जाँच-समिति (Bombay Textile Labour Enquiry Committee) ने विवेकीकरण के विषय में जो सिफारिशें की थीं उनमें से मुख्य मुख्य ये हैं —

(१) विवेकीकरण से तीनों पक्षों को लाभ होना चाहिये, अर्थात् विनियोक्ताओं, श्रमिकों और राज्य को जोकि उपभोक्ताओं का प्रतिनिधित्व करती है। इन्हें सुविधानुसार कार्य-सञ्चालन के लिये परस्पर सहकारिता से काम करना चाहिये।

(२) सबसे अधिक इस बात को समझना चाहिये कि विनियोक्ताओं और श्रमिकों का सहयोग विवेकीकरण की सफलता के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

(३) यदि उद्योग को यशस्वी बनाना है, तो श्रमिकों का विश्वास करना चाहिये; उन्हें विश्वास पात्र बनाना चाहिये और उनके उचित भय को दूर करने के लिये बड़े से बड़े प्रयत्न करने चाहियें।

(४) किसी भी क्षमता (Efficiency)—योजना की सफलता का मूल यह है कि यह उन लोगों के सहयोग से शुरू होनी चाहिये जिन्हें इसे पूरा करना है। जहाँ तक सम्भव हो सके, पारस्परिक विचार विमर्श और सर्वश्रेष्ठ तान्त्रिक सलाह प्राप्त करने के बाद, इसे करना चाहिये।

खतरे (Dangers)—सबसे पहला खतरा है विवेकीकरण उद्योग को मूल्य सम्बन्धी नीति। इस दावे के बजाय कि विवेकीकरण का अर्थ कम मूल्य (Lower prices) है, वहाँ सदैव एक खतरा रहता है कि औद्योगिकों द्वारा एकाधिकारी मूल्य (Monopoly prices) लिये जा सकते हैं। वे इस असामाजिक-नीति का अनुसरण कर सकते हैं और पूर्ति और माँग के सम्मिलित प्रभावों को किसी वस्तु की पूर्ति पर रोक लगाकर, कम कर सकते हैं। इस समस्या को सुलझाने का एक मात्र इलाज यही है कि एसे उद्योगों का नियमन करने के लिये जन-विधान (Public Legislation) बनाया जाय। इससे भी अधिक, उद्योग के उपयुक्त नेताओं और कमानों की पूर्ति भी विवेकीकृत (Rationalized) उद्योगों की एक गम्भीर समस्या बनती जा रही है।

विवेकीकरण का दूसरा गम्भीर खतरा यह है कि इससे बेकारी फैलेगी। विवेकीकरण का उद्देश्य यह होता है कि शीघ्रता से तान्त्रिक उन्नति करके प्रति श्रमिक उत्पादकता को बढ़ाया जाय। लेकिन इस तान्त्रिक उन्नति ने बेकारी को बढ़ाया है जैसा कि जर्मनी में हुआ। और भी, उद्योगों को संयोग (Integration) और उत्पादनों के स्तरीकरण से रोजगार पर बुरे प्रभाव पड़े हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि विवेकीकरण से सदैव बेकारी पैदा होगी। विनियोग (Investment) की बढ़ती हुई आदत और शिक्षा के अधिक विस्तार और श्रम की गतिशीलता (Mobility) के साथ-साथ समय आने पर, सिवाय कुछ अस्थायी कुप्रबन्ध (Maladjustment) के, कोई बेकारी नहीं रहेगी।

विवेकीकरण का राष्ट्रीयकरण (Rationalization) से इस प्रश्न पर अन्तर है कि नियन्त्रण में कौन रहेगा। विवेकीकरण बिना किसी तान्त्रिक परिवर्तन (Radical change) के, पूँजीवादी व्यवस्था को बनाये रखने या धारण करने की पूर्व कल्पना करता है। उद्योग का अन्तिम स्वामित्व, नियन्त्रण और प्रबन्ध, उद्योग में लगे हुए व्यक्तियों के निर्वाचित प्रतिनिधियों या शासन-विभाग (Govt Dept) के अधिकार में नहीं होता अपितु संयुक्त इकाइयों के अंशधारियों और अन्य अर्थ-व्यवस्थापकों (Financiers) के हाथ में होता है। आन्तरिक प्रबन्ध के साथ-साथ श्रम के बढ़ते हुए विभाजन की योजनाएं और कार्य समितियों द्वारा व्यापार में लाभ प्राप्त करने की योजनाएं, श्रमिकों के प्रतिनिधियों और लाभ-विभाजन की योजनाएं और सहभागिता—ये सब इस तथ्य को बदल नहीं सकते। यह एक स्वीकृत तथ्य है कि विवेकीकरण कभी भी राष्ट्रीयकरण का स्थानापन्न सिद्ध नहीं हो सकता। लेकिन व्यक्तिगत-स्वामित्व (Private ownership) के काम में इस का स्वागत होना चाहिए जब तक कि यह उद्योग की क्षमता में उन्नति करने और लोगों के रहन-सहन के स्तर के बढ़ाने में सहायक हो।

भारत में विवेकीकरण (Rationalization in India)

भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण किसी बड़े पैमाने तक प्रयोग में नहीं लाया गया है। इस विषय में जो कार्य किये गये हैं, वे बहुत असंतोषजनक हैं। कुछ छिन्न भिन्न और व्यक्तिगत अनुयोगों (Cases) के सिवाय, उत्पादन का विवेकीकरण करने के लिये कोई क्रमानुसार प्रयत्न नहीं किये गये हैं। अधिकांश अनुयोगों में हमारी फैक्टरियों के श्रमिकों का चुनाव और भरती, अभी तक कार्य दायकों (Jobbers) के हाथ में है। यह एक ऐसी पद्धति है, जो अपनी बुराइयों और दुर्व्यवहारों के लिये प्रसिद्ध है। हम श्रमिकों के उचित प्रशिक्षण के लिये, किन्हीं भी सगन्ति प्रयत्नों पर गर्व नहीं कर सकते और भारतीय फैक्टरियों के अधिकांश श्रमिक अब भी ताजे ग्रामीण हैं जो पूर्ण रूप से अकुशल और अशिक्षित हैं। इसका परिणाम होता है श्रमिकों की बहुत अदल बदल और अनुपस्थिति। श्रमिक-क्षेत्रा, प्रकाश और वायु सचार का प्रबन्ध हमें अपनी पिछड़ी हुई दशाओं की याद दिलाता है। यन्त्र और कलें प्रायः अनद्यतन (out of date) और अप्रचलित होती हैं, उत्पादक इकाइयाँ अक्सर बहुत छोटी और अक्षम होती हैं। पदार्थों और सामग्री का विनाश होता है, इसकी अनुपस्थिति से, गौण-उत्पादनों (By products) और औद्योगिक अनुसंधान का कोई उचित उपयोग दिखाई नहीं पड़ता। विवेकीकरण की दिशा में भारतीय उद्योगों में, जो कुछ भी प्रयत्न किये गये है, नीचे देखे जा सकते हैं —

सीमेंट उद्योग (Cement Industry)—भारत में यह उद्योग नया विकसित हुआ है। इसके प्रारम्भ होने के बाद तुरत ही आन्तरिक स्पर्द्धा (Internal competition) से इस उद्योग पर चोट पहुँची, यहाँ तक इसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ गया। सन १९३० में भारत के सीमेंट विपणन प्रमण्डल (The Cement Marketing Company of India) का जन्म हुआ और इस कम्पनी को, सदस्यों के द्वारा उत्पन्न की हुई कुल वस्तुओं को, सस्ते मूल्य पर बेचने का अधिकार दिया गया यह पहला प्रयत्न था। हर सदस्य फैक्टरी को तरीय वस्तु उत्पादन के लिये एक निश्चित मात्रा (Quota) दी गई। भिन्न भिन्न रेल्वेज पर भाड़ों (Freight) की व्यवस्था की गई। तेज भाड़ा का जहाँ तक सम्भव हो सका, रोका गया और बाजार में भिन्न भिन्न नमूना के सीमेंटों के दर लग गये। इस प्रकार यह कम्पनी आन्तरिक स्पर्द्धा को दूर करने, यातायात प्रभारों को कम करने, अति-उत्पादन को रोकने, माँग बढ़ाने, और उपभोक्ता की श्रेष्ठतर सेवा करने और कीमत कम करने में समर्थ हो सकी। सन् १९३६ में एक दूसरा कदम उठाया गया, जिससे सभी फैक्टरियों का एक में सम्मिश्रण (Amalgamation) कर दिया गया और एसोसिएटेड सीमेंट कम्पनीज लिमिटेड (Associated Cement Companies, Ltd)

के नाम से उनका रजिस्ट्रेशन कराया गया। सन् १९४१ में एक दूसरा कदम उठाया गया और A c.c और डालमिया कम्पनियों के समूह में एक समझौता हुआ, जिससे आन्तरिक स्पर्द्धा पर और भी अधिक नियन्त्रण लगा दिया गया।

शक्कर उद्योग (Sugar Industry)—गत १५ वर्षों में, इस उद्योग की उन्नति बहुत शीघ्रता से हुई है, लेकिन इस शीघ्र विकास से इसकी उन्नति में कुछ कमजोरियाँ रह गई। स्पर्द्धा को रोकने के लिये शक्कर विपणन बोर्ड (Sugar Marketing Board) का निर्माण किया गया। लेकिन व्यक्तिगत फैक्टरियों की उदासीनता और उपेक्षा के कारण, यह सगठन अपने उद्देश्यों में असफल रहा। सुगर सिण्डीकेट (Sugar Syndicate) जो अब कार्यरत है, उसकी स्थापना की गई और उत्पादन और वितरण पर सरकार का अपेक्षाकृत अधिक कड़ा नियन्त्रण है।

जूट-उद्योग (Jute Industry) —जूट-उद्योग में विवेकीकरण ने उत्पादन (out put) के नियन्त्रण का रूप ले लिया है। गिरते हुए मूल्यों और माँग का सामना करने के लिये सन् १९२९ में मिलें ५४ घण्टे काम करने के लिए राजी हो गईं। इसके बाद सन् १९३० में तीन सप्ताह तक कार्य की पूर्ण रोक रही। फलस्वरूप सन् १९३२ में, जूट मिल्स एसोसियेशन के सदस्यों के लिये ४० घण्टे प्रति सप्ताह कार्य व १५% करघों को सील बन्द कर देने का समझौता हुआ। यह योजना अधिक समय तक नहीं चल सकी और सन् १९३६ में समझौते का अन्त हो गया। सन् १९४० में एक जूट-सम्मेलन (Jute Conference) बुलाया गया और यह समझौता हुआ कि सरकार की सहायता से अनिवार्य रूप से जूट-क्षेत्रों पर नियन्त्रण लगाया जाय।

सूत उद्योग (Cotton Industry)—सूत उद्योग भारत का वह सबसे बड़ा व्यवसाय है जिस पर भारतीय स्वामित्व है और जो भारतीयों के ही प्रबन्ध में है। युद्ध से पहले यह उद्योग उन्नतिशील अवस्था में नहीं था। बहुत बड़े भण्डार इकट्ठे कर लिये गये थे और अनेक मिलें घाटे में चल रही थीं। आन्तरिक स्पर्द्धा बहुत गंभीर हो गई थी। सन् १९३६ में इस उद्योग के विवेकीकरण का प्रयत्न किया गया और समामेलन (Merger) की एक योजना सामने लाई गई। कुछ प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं और तत्सम्बन्धित व्यक्तियों के विरोध से इस योजना को नष्ट कर दिया गया। सन् १९४१ में बम्बई-बुनकर-श्रम जाँच-समिति (Bombay Textile Labour Enquiry Committee) ने फिर इस उद्योग के लिये विवेकीकरण की सिफारिश की, तो भी कोई फल नहीं निकला। युद्ध ने इस उद्योग को एक प्रोत्साहन दिया और नष्टप्राय सस्थाएं भी ऊँचे अधिलाभांश देने लगीं। उस समय कपड़ा का अकाल था। सन् १९४५ में सरकार ने बुनकर उद्योग में विवेकीकरण का बलपूर्वक प्रयोग किया। बुनकर उद्योग (उत्पादन का विवेकीकरण) आदेश उपयोगी वस्त्र के उत्पादन में वृद्धि करने के दृष्टिकोण से जारी किया गया। विभिन्नताओं (Varieties) की संख्या

सीमित कर दी गई। मिलों के सामने उपयोगी कपड़े के उत्पादन के लिये अधिक से अधिक माँग रक्खी गई और उत्पादन के गुण (Quality) की एकरूपता (Uniformity) की भी माँग की गई।

यन्त्र उद्योग (Engineering industry)—इस उद्योग में, विवेकीकरण ने कार्यक्षमता के उन नये उपायों का रूप धारण किया है जिनके साथ-साथ श्रमिकों की संख्या में भी कमी होती है। जमशेदपुर के लोहा और इस्पात कार्यों (The Iron and steel Works) में, प्रति इकाई उत्पादन में वृद्धि हुई है। इसका कारण है—श्रम बचाने की युक्तियाँ (Labour Saving Devices), भृतियों में वृद्धि, अतिरिक्त अधिलाभांश, और आवश्यक विश्राम अवकाश (Rest pauses)। एग्रिको (Agrico) में, भागिक-भृति-पद्धति (Piece Wage System) को लागू करने के कारण उत्पादन में काफ़ी वृद्धि हुई है। भागिक-कार्य पद्धति में, मशीनों पर प्रति घंटा काम का तल इतना ऊँचा होता है कि बहुत काफ़ी अधिलाभांश प्राप्त करना इतना साधारण हो जाता है। इसी कारण, इण्डियन-टिन-प्लेट कम्पनी में भी इसी प्रकार, उत्पादन में एकरूपता से वृद्धि हुई है। तो भी केबिल-उद्योग (Cable Industry) में यह वृद्धि बहुत कम है। जबकि उत्पादन २५० प्रतिशत तक बढ़ा है, शिल्पकारों (Operatives) की आधी संख्या तक कमी कर दी गई है। लेकिन इन संस्थाओं के बहुमत में, श्रम में बहुत वृद्धि हुई है, जिसका भृतियों में उचित वृद्धि की दरों के द्वारा, श्रमिकों को कोई लाभ नहीं पहुँचा है, जबकि आवश्यक विश्राम अवकाश श्रम-बल (Labour force) के छोटे वर्गों तक ही सीमित कर दिये गये हैं।

भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण के इन भिन्न भिन्न प्रयत्नों से तुरन्त ही पता चल जाता है कि वे वर्तमान समय में एक सन्दिग्ध आधार-शिला पर स्थित हैं। यह केवल सीमेण्ट उद्योग ही है जो विवेकीकरण का एक मौलिक रूप उपस्थित करता है। हमारे कुछ बड़े-बड़े उद्योग अस्त-व्यस्त अवस्था में हैं। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि हम संसार के अन्य महत्त्वपूर्ण देशों के साथ कदम बढ़ाने में असफल रहे हैं। हमारे उद्योग अभी तक व्यक्तिगत आधारों पर संगठित हैं। भारतीय साहस (Enterprise) में अभी तक तत्पर-युक्ति (Ingenuity) और दूरदर्शिता का अभाव है। वर्तमान समय में, हमारे औद्योगिकों के दिमाग, केवल निर्माण की लागतों, तैयार वस्तुओं के बाजारी मूल्यों और अधिकतम लाभों की ओर लगे हुए हैं; जो लाभ कि उन्हें वर्तमान असाधारण माँग पर, अपनी वस्तुओं की बिक्री से मिल सकते हैं। बेशक, हम जब तक कि वर्तमान माँग रहती है, बिना खतरे के निर्वाह कर सकते हैं। लेकिन जैसे ही समुद्र, रेल, सड़कों और वायु-यातायात की सुविधाएँ सरल हो जाती हैं, इन उद्योगों को विदेशों से एक सुव्यवस्थित स्पर्द्धा का सामना करना पड़ेगा जिसके विषय में पहले कोई विचार भी नहीं किया होगा।

इसलिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि हमारे उद्योगों का विवेकीकरण होना चाहिये। हमारे औद्योगिका को जानना चाहिये कि उनका वर्तमान भाग्य हमेशा उनका साथ नहीं देगा। आयिक-विनाश से अपने को बचाने के लिये, जो अन्यथा हमारे ऊपर हावी हो जायगा, हमें अपने उद्योगों को पुन संगठित करना चाहिये। हमारे औद्योगिक संगठन की पूरी तरह सफाई करने की आवश्यकता है। विवेकीकरण के उपायों को लागू करना चाहिये ऊपरी खर्चों को कम करना चाहिये, व्यक्तिगत स्पर्द्धा को समाप्त करना चाहिये, और उत्पादन के वितरण को अद्यावत (up to date) कर देना चाहिये। उत्पत्ति की अक्षम (Inefficient) इकाइयों को अलग व बन्द कर देना चाहिये। मानवीय पक्ष की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये, जिससे अतिश्रम परिवर्तन (High Labour Turn over) और अनुपस्थितिवाद (Absenteeism) दूर हो सकें, स्थायी फैक्टरी अवस्थाएँ उत्पन्न हो सकें और पूँजी और श्रम में अनुरूप (Harmonious) सम्बन्ध स्थापित हो सकें।

Test Questions

1 What is Rationalization ? Discuss the problem of its application to Indian industries (Bombay B Com 1947)

2 What do you understand by Scientific Management ? Is it different from Rationalisation ? Explain clearly

3 Discuss the principles underlying Scientific Management (Bombay B Com 1947)

4. Explain in detail the 'line type of organisation In what way is the line and staff an improvement ? (Bombay B Com 1947)

5 Scientific management involves in its essence a complete mental revolution on the part of the workmen and an equally complete revolution on the part of the management side Discuss

(Agra B Com 1942)

6 Write a critical note on Rationalization with special reference to Indian industries (Agra B Com 1943)

7 Of two large scale organisations one follows the line principle and the other is organised on the line and staff principle Discuss the r relative effeciency giving reasons for your answers

(Bombay B Com 1941)

8 What is functional organisation ? What general principles must be observed in building up this type of organisation ?

(Bombay B Com 1944)

9 The most obvious advantage of scientific management is the additional out put that follows a more intensive and better directed division of labour and a fuller utilization of plant and capital resources Comment upon this statement (Agra B Com 1951)

अध्याय १४

औद्योगिक श्रम

(Industrial Labour)

भारत में भृति कमाने वाले (Wage Earning) लोगों की संख्या में धीरे-धीरे वृद्धि हुई है। इसके कारण स्पष्ट हैं। आधुनिक औद्योगिक-युग के आने से पहले, लोग अपेक्षाकृत बड़े अनुपात में गाँवों में रहते थे, जहाँ भूमि पर लोगों का सामूहिक या व्यक्तिगत स्वामित्व होता है। किसान आर्थिक रूप में स्वतन्त्र था। जब कभी भी किसी अतिरिक्त श्रम (Extra Labour) की आवश्यकता होती थी, तो पड़ोस वाले लोग इसकी पूर्ति कर देते थे, जिनकी मजदूरी किसी रीतिरिवाज के अनुसार चुकाई जाती थी जैसे दावत खिलाकर मजदूरी लेना जिसे गाँव में लोग 'हाथिया करना' कहते हैं। उद्योग छोटे पैमाने पर चलाये जाते थे। औद्योगिक-समूहों में सहकारिता का खूब रिवाज था। कस्बों में प्रवीण-दस्तकारों (Master-Craftsmen) द्वारा उद्योग चलाये जाते थे। ये लोग काम सीखने वालों (Apprentices) की सहायता से अपने काम चलाते थे। ये अप्रैन्टिस भी कुछ समय में प्रवीण दस्तकार बन जाया करते थे। इसलिये भृति कमाने वाले लोगों की आवश्यकता नहीं थी। आधुनिक उद्योग-वाद (Industrialism) के उत्थान के साथ, तीन ऐसी बातें थीं, जिनसे भृति कमाने वाले लोगों के बढ़न में सहायता मिली। खेती में भी लाभ नहीं रहा। दूसरे कलाकार (Artisans) विदेशी मशीनों के बने माल की स्पर्धा (Competition) में स्थिर नहीं रह सके। फलस्वरूप वे लोग अपनी जीविका-उपार्जन के लिये भृति या मजदूरी करने लगे। तीसरे नीच वृत्ति करने वाले (Menials) भी रोजी की खोज में कस्बों में जाने लगे, क्योंकि उनके लिये स्थानीय-आवश्यकताएँ बढ़ गई थीं और उन्हें रहन के तौर पर अपने मालिकों से जो मिलता था वह उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये काफी नहीं होता था।

एक जाति या वर्ग (Class) के रूप में मजदूर सबसे पहले खेतों में काम करने वाले मजदूर थे, जो आंशिक समय (Part Time) के लिये काम पर लगते थे। गत शताब्दी के पूर्वार्द्ध काल से, संगठित उद्योगों में, विशेष रूप से पब्लिक-वर्क्स-

डिपार्टमेन्ट में, श्रम या मजदूरी का प्रचलन हुआ। कुछ समय बाद खानों का विकास होने लगा और गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध (Second half) काल में, प्लान्टेशन्स (Plantations) और फैक्टरियों (Factories) की स्थापना हुई, इससे देश के भिन्न भिन्न भागों से औद्योगिक मजदूर आकर्षित हुए। प्रथम विश्व युद्ध से, उद्योगीकरण (Industrialisation) शीघ्रता से बढ़ने लगा, और इसके साथ ही साथ औद्योगिक-श्रमिकों की संख्या बढ़ने लगी और श्रम-समस्याएँ भी बहुत बढ़ीं।

भारतीय श्रम की विशेषतायें (Characteristics of Indian Labour)—भारतीय श्रम की सबसे अधिक महत्वपूर्ण विशेषता, इसकी प्रवासी-वृत्ति (Migratory character) है। आज भी, भारत में फैक्टरियों के कर्मचारी, दूसरे देशों की भाँति एक अलग भृति-उपजीवी (Wage Earning) श्रेणी के लोग नहीं हैं। भारत में वे साधारणत गाँवों से आते हैं और उनमें ग्रामीण जीवन के प्रति प्रेम स्थायी रहता है।

घनी जनसंख्या होते हुए भी वास्तविक बात तो यह है कि प्राय भारतीय फैक्टरियों में लोगों की कमी पड़ जाती है, विशेषकर कुशल व्यक्तियों की। कुछ अंशों तक यह बात मानी जा सकती है कि गाँव वाले फैक्टरियों में केवल तभी आते हैं, जब उन्हें गाँवों में कोई धन्धा या रोजगार नहीं मिलता, और जब गाँवों की दशा सम्हल जाती है, वे शहर को छोड़ देते हैं और इस दशा में फैक्टरियों में लोगों की कमी पड़ जाती है।

भारत में मजदूर दूर-दूर के स्थानों और क्षेत्रों से आते हैं। ऐसा बहुत कम होता है कि किसी उद्योगी शहर में मजदूर केवल शहरी क्षेत्र के ही हों। इसका मतलब यह है कि कलकत्ता और बम्बई के समान बड़े बड़े शहरों में, भिन्न भिन्न धर्मों के मानने वाले, भिन्न भिन्न भाषाएँ बोलने वाले और भिन्न-भिन्न रीति रिवाजों को मानने वाले, बेमेल के लोग इकट्ठे होते हैं। इससे हमारे देश की औद्योगिक जनता में एकता और सगठन की कमी होती है।

भारतीय श्रम की दूसरी विशेषता है, इसकी अक्षमता (Inefficiency)। भारतीय फैक्टरी का कर्मचारी आमतौर से अक्षम (Inefficient) होता है और दूसरे उद्योगी देशों के कर्मचारियों की तुलना में बहुत नीचा ठहरता है। दूसरे देशों और भारत के कर्मचारियों के काम की, ठीक ठीक हिसाब लगाकर, तुलना करके, भारतीय कर्मचारियों की इस अक्षमता की व्याख्या करने के प्रयत्न किये गये हैं। लेकिन यह सही रास्ता नहीं है, क्योंकि भारतीय श्रमिक को, दूसरे देशों की अपेक्षा, बिल्कुल भिन्न और निश्चय रूप से हीन दशाओं (Inferior conditions) में काम करना पड़ता है।

अक्षमता के कारण (Causes of Inefficiency)

भारतीय श्रमिकों की हीनता (Inferiority) के कई कारण हैं। उनमें कुछ तो स्वाभाविक और मौलिक हैं और कुछ अनित्य और क्षणभंगुर है। भारत की, क्षीणता उत्पन्न करने वाली जलवायु से कर्मचारी की कार्यक्षमता पर बड़ा बुरा असर पड़ता है। भारत की सूत की फैक्टरियों में हवा में नमी लाने के लिये बनावटी साधनों का उपयोग किया जाता है। इससे श्रमिकों के स्वास्थ्य पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है क्योंकि इस बनावटी नमी का नियमन (Regulation) उचित ढंग से नहीं किया जाता। दूसरी ओर, औद्योगिक क्षमता, भिन्न भिन्न बातों पर निर्भर होती है जैसे पौरुष और जीवनी शक्ति (Vigour and Vitality) शिक्षा और प्रशिक्षण (Education and Training), नियमित और निरन्तर उपस्थिति, अच्छी कार्य करने की दशाएँ और कार्य क्षम प्रबन्ध (Efficient management)। इन बातों का हमारे देश में बहुत कमी है।

अक्षमता का सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारण प्रवासी-वृत्ति (Migratory Character) है। इस निरन्तर प्रवास के मुख्य परिणाम हैं तान्त्रिक क्षमता का नीचा स्तर (A low standard of technical effeciency), उत्तरदायित्व का अभाव जो कि फैक्टरी के असन्तोषजनक कार्य व्यवहार से पैदा होता है, परन्तु यह फैक्टरी के कार्य संचालन के लिये आवश्यक भी होता है। गाँवों से श्रमिक लोग साधारणतः थोड़े समय के लिये, अपनी अस्थायी कठिनाइयों को दूर करने के लिये आते हैं। जैसे ही वे कुछ रुपया कमा लेते हैं या गाँव की दशाएँ सम्भल जाती हैं, वे वापिस लौट जाते हैं, और फैक्टरियों को नई भरती (Fresh Recruits) की दया पर छोड़ जाते हैं। इस प्रकार कई भारतीय फैक्टरियों में गाँव के नये श्रमिकों द्वारा उत्पादन का कार्य किया जाता है। जब कई महीनों के प्रशिक्षण (Training) के बाद वह फैक्टरी के काम के योग्य होता है वह काम छोड़कर जाने की सोचने लगता है। दूसरी ओर यह मान लेना ठीक नहीं होगा कि भारतीय श्रमिक स्वयं एक खेतिहर होता है या उसका इसमें कोई प्रत्यक्ष हित होता है, यद्यपि वह गाँव को अपना मातृभूमि या वास्तविक घर समझता है। इसमें कोई शक नहीं कि वह दिल से ग्रामीण होता है जो ग्रामीण रीति रिवाजों और रहन सहन का अनुसरण करता है और प्रायः वह इस सम्पर्क को बनाये रखने का प्रयत्न करता है। यह सम्पर्क घनिष्ट और निश्चल हो सकता है यह क्षीण और सकुचित हो सकता है, या यह वास्तविकता की अपेक्षा केवल प्रथा का कार्य कर सकता है।

प्रवासी वृत्ति की व्याख्या इस बात से की जाती है कि श्रमिक को शहर में कोई आकर्षण नहीं होता। वह यहाँ आता है क्योंकि वह ऐसा करने के लिये बाध्य

होता है, जैसा कि श्रम के शाही आयोग (Royal Commission on Labour) ने बतलाया था, "वह शहर की ओर धकेला जाता है, शहर से आकर्षित नहीं होता।"* भूमि पर बढ़ती हुई जन संख्या का भार (The growing pressure of population on land), अनार्थिक खेतीबारी (Uneconomic Holdings), गाँवों में बेकारी, सामाजिक-अयोग्यताएं (Social disabilities), महाजनों से जान छुड़ाना, खाली मौसम को व्यतीत करना—ये सब कारण हैं जो श्रमिक को जीविका की खोज में, किसी शहर में जाने के लिये बाध्य करते हैं। चाहे जो कुछ भी कारण हो, वह अपने गाँव के सम्बन्ध को बनाये रखता है और यथा शीघ्र सम्भव अवसर पाने पर वापिस लौटने की आशा रखता है।

गाव से सम्बन्ध बनाये रखने के ये कारण वैसे ही हैं, जैसे कि श्रमिक सम्मिलित परिवार का सदस्य हो। उसका गाँव से सदैव कुछ न कुछ हित लगा रहता है। इससे भी अधिक, वह अपने परिवार को गाँव में ही छोड़ता है क्योंकि शहर में रहने के लिये काफी स्थान नहीं मिलता और स्त्रियों के लिये उचित रोजगार भी सम्भव नहीं होता। गाँवों में स्त्रियाँ और बच्चे कोई काम पा सकते हैं और इस प्रकार परिवार की आमदनी बढ़ा सकते हैं। श्रमिक शहर के बनावटी जीवन से ठीक ठीक परिचित नहीं होता और वहाँ का अनोखा वातावरण और परिस्थितियाँ उसे अपनी ओर झुकाती हैं और वह बीमारी का शिकार बन जाता है। उसका थका हुआ शरीर और अधिक उत्तेजित दिमाग शराब और जुए में छुटकारा पाता है, जोकि उसके लिये खतरनाक सिद्ध होता है।

रॉयल कमीशन ने बतलाया था कि ग्रामीण जीवन के इस सम्बन्ध से कुछ लाभ भी हैं और यह उसकी एक भिन्न सम्पत्ति भी है। किसी सुधार का सामान्य उद्देश्य, इसको समाप्त कर देना नहीं, अपितु इसको उत्साहित और नियमित करना होना चाहिये। थोड़ी सी प्रेरणा से भी उद्योगी-श्रमिकों ने अपने गाँव के सम्बन्धों को बनाये रक्खा है। इससे यह बात प्रकट होती है कि यह पद्धति बहुत गहरी जड़ें पकड़े हुए है और सरलता से यह नष्ट नहीं की जा सकती। इस वर्तमान पद्धति में कुछ दोष अवश्य हैं, लेकिन नियोक्ताओं (Employers) के शक्तिशाली और अन्य प्रयत्नों से इन दोषों का निराकरण किया जा सकता है। जो श्रमिक गाँवों से आते हैं, उनका स्वास्थ्य शहरी क्षेत्रों से आने वाले मजदूरों की अपेक्षा अधिक अच्छा होता है। दूसरे ग्रामीण और शहरी जीवन के संयोग से एक विस्तृत दृष्टिकोण पैदा होता है, जिसका विशुद्ध ग्रामीण या शहरी जीवन में सर्वथा अभाव होता है। इसके अलावा हड़तालों, ताले बन्दियां (Lock outs) और बेकारी (Unemployment) के समय में,

* He is pushed, not pulled, to the city

श्रमिक हमेशा अपना कोई आधार या आश्रय चाहता है जो उसे अपने गाँव म ही मिलता है। इन सबके भी अतिरिक्त कुछ महत्त्वपूर्ण शिक्षा सम्बन्धी प्रभाव भी हैं, जिनके क्रियात्मक प्रभाव को हम भूल नहीं सकते।

कम मजदूरी (Low Wages) —भारतीय जनता के अधिकांश वर्ग में ताकत और जीवनीशक्ति का अभाव होता है। ज्यादातर लोगों का स्वास्थ्य, मलेरिया या अन्य बीमारियों के कारण, बिगड़ा रहता है। ये बीमारियाँ उनकी जीवनी शक्ति का ह्रास करती रहती हैं। वर्त्तमान समय में उन्हें जो स्वास्थ्य सम्बन्धी सहायता मिलती है वह बहुत ही अपर्याप्त होती है। श्रमिक अपनी कम मजदूरी और दयनीय गरीबी के कारण अपनी चिकित्सा आदि का आवश्यक उचित प्रबन्ध नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त उसकी मजदूरी का बहुत कुछ भाग शराब पीने या अन्य हानिकारक नशीली चीजों का सेवन करने में खर्च हो जाता है, जिससे मजदूर को अपने दिन के काम की थकान से कुछ छुटकारा मिल जाता है। इससे उसे महाजन के पास जाना पड़ता है और उसकी मजदूरी का एक भाग या तो ब्याज के रूप में चला जाता है या मूलधन (Principal) को वापिस करने में लग जाता है। इसलिये श्रमिक अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति अपनी उस थोड़ी सी भृति (Wage) से नहीं कर सकता, जो इसके पास इन भुगतानों (payments) के बाद बचती है। फलस्वरूप उसकी कार्यक्षमता में ह्रास होती है।

शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाओं की कमी (Lack of Education Facilities) —हमारे देश में सामान्य (General) और तान्त्रिक (Technical) शिक्षा की कमी है, और ये ही भारतीय फैक्टरियों में श्रमिकों की अनियमित उपस्थिति के लिए उत्तरदायी है। श्रमिक ज्यादातर बिना पढ़े लिखे होते हैं। उनकी यह शिक्षा की कमी उन्हें उन्नत अवस्था में जाने से रोकती है और वर्त्तमान समय में वह सबसे बड़ी स्थिति जो पा सकता है एक कार्यदायक (Jobber) की है। जब वह एक बार एक कार्यदायक बन जाता है, तब फिर उसके लिए आगे उन्नति करने का कोई स्थान नहीं रह जाता, फलस्वरूप उसकी कार्यक्षमता क्षीण होने लगती है और अक्षमता पैदा हो जाती है।

प्रयत्नशील अवस्थायें (Trying Conditions), भारतीय श्रमिकों की मजदूरी बहुत कम होती है उन्हें बहुत लम्बे समय तक रोज काम करना पड़ता है, वे स्थायी नहीं रहते, अपितु बदलते रहते हैं, अत शुरू में कार्य सीखने को प्रयत्नशील अवस्था में होते हैं और उनके रहने के स्थान बड़े अनुचित (Improper) होते हैं, ये सब बातें उनकी कार्यक्षमता पर बड़ा बुरा प्रभाव डालती हैं। फैक्टरी के अन्दर या उसके पास उनके लिये कोई उचित रहने का स्थान नहीं होता, और श्रमिकों को प्राय दूर-दूर से आना पड़ता है। लम्बे आवागमन के साधनों की कमी और दैनिक

कार्य के लम्बे समय के कारण प्राय अधिकांश लोग देर में आते हैं। भारतीय श्रमिक गाँवों से आता है और वह फैक्ट्री अनुशासन की कठोरता से परिचित नहीं होता। कई बातों के कारण उसमें आवारा घूमने की आदत पड़ जाती है जैसे वह काम करने की शर्तों को पूरा नहीं कर पाता अर्थात रोशनी का अभाव, बहुत ऊँचे तापक्रम, कार्य करने का लम्बा समय आदि। अन्त में इन कारणों से वह अनुपस्थित रहने की आदत को अपना लेता है जिसे कि वह फैक्ट्री की इन बुराइयों से छुटकारा पाने का एकमात्र साधन समझता है और इसी में उसे अपनी बुद्धिमानी प्रतीत होता है। इस अनुपस्थिति से स्थायी श्रमिकों की कमी होती है और उनकी जगह पर एवज लोगों को रखना पड़ता है जो कार्य से अनभिज्ञ होते या उसका बहुत कम ज्ञान रखते हैं और इसलिये निम्न कोटि का कार्य होता है।

दोषपूर्ण भरती (Defective Recruitment) साधारणतः श्रमिकों की भरती किसी कार्य दायक (Jobber) के हाथ में होती है, और हर एक भरती होने वाले व्यक्ति को भरती होने से पहले कार्य दायक (Jobber) को दस्तूरी चुकानी पड़ती है। वहाँ छुट्टी लेने के लिये तो कोई गुंजायश नहीं होती और किसी प्रकार के छुट्टी के नियमों का भी सर्वथा अभाव होता है और वहाँ स्वेच्छानुसार लोगों को नियुक्त और निवृत्ति या बरखास्त किया जाता है। बिना कारण के बड़े बड़े जुर्माने कर दिये जाते हैं। भृतियों के भुगतान में देर की जाती है। फलस्वरूप श्रमिक को कार्य करने में रुचि नहीं रहती। श्रमिक अपनी नियुक्ति तबादला (Transfer) और उन्नति (Promotion) के लिए कार्य दायक पर निर्भर रहता है, कार्य दायक की आमदनी नई नियुक्तियों (Appointments) पर निर्भर होती है और उसका हित लोगों को बरखास्त करने और नई भरती करने में रहता है। जब कभी आदमी छुट्टी से लौटकर आते हैं, तो उन्हें काम पर लगाने से इन्कार कर दिया जाता है और इसलिये हमारे देश में अच्छा श्रम नहीं पाया जाता। उत्पत्ति का खर्चा बढ़ जाता है और श्रमिक की कार्यक्षमता घट जाती है।

श्रमिक अपने कुटुम्ब और घरेलू परिस्थितियों से अलग होता है वह गन्दे घास फूस के घर में रहता है, बिना अवकाश पाये हुए कोलाहल युक्त धुआँधार वातावरण में, अंधेरी गन्दी फैक्ट्री में रहता है और फिर भी अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये काफी पैसा नहीं कमा पाता। उस पर महाजनों और कार्य दायक के हर प्रकार के लेने देने के विषय में अत्याचार होते रहते हैं चाहे वे लेन देन उचित हों या अनुचित। वास्तव में इन असहाय भारतीय श्रमिकों को, यदि वे अपने कार्य में क्रियात्मक दिलचस्पी नहीं लेते या दूसरे देशों के श्रमिकों की अपेक्षा उनमें कार्यक्षमता की कमी पाई जाती है दोष नहीं दिया जा सकता।

अक्षम-प्रबन्ध (Inefficient Management) भारतीय फैक्टरियों में श्रम का संगठन बहुत दोष-पूर्ण है और बहुत सी चीजों की आवश्यकता है। दोष-पूर्ण भरती के अलावा श्रमिक के प्रशिक्षण या काम सिखाने का कोई प्रबन्ध नहीं है। नियोक्ता और उसके आदमियों में कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता और Espirit de corps की भावना का साधारणत अभाव होता है। कार्य को कोई उचित देख-भाल (Supervision) नहीं होती, आम तोर से श्रमिक को पुरानी मशीनरी, दोष-पूर्ण औजारों और निम्नकोटि के कच्चे माल से काम करना पड़ता है। वहाँ कार्यों का कोई उचित प्रचार और भिन्न-भिन्न विभागों का एकीकरण (Co-ordination) नहीं होता।

उद्योगी जनता का आवास
(Housing of Industrial Population)

हमारे देश में आधुनिक आर्थिक विकास की एक महत्वपूर्ण विशेषता घिरे हुए और घने बसे हुए उद्योगी शहरों का बढ़ना है। यद्यपि यहाँ नगर विकास की ओर कम उन्नति हुई है, फिर भी घरा की समस्या अन्य किसी भी देश की अपेक्षा बहुत अधिक है और इस देश मे गन्दी से गन्दा गलियाँ अधिकता स पाई जाता हैं। मुश्किल से किसी भी उद्योगी देश में कस्बा की वृद्धि इतनी तेजी से हुई होगी; श्रम के निर्धारित करने का नियोजन (Provision) इतना अनुचित होगा और औद्योगिक कार्य के विषय में राज्य की नीति इतनी कठोर होगी, जितनी कि हमारे देश में है। यहाँ की भयानक आवास-परिस्थितियाँ (Housing conditions) हा श्रमिकों के अस्थायित्व (Instability) और अक्षमता के लिये विशेषरूप से उत्तरदायी हैं। भारतीय उद्योग का सारा भविष्य यहाँ के बड़े उद्योगा केन्द्रा की स्वास्थ्य सम्बन्धी परिस्थितियों के सुधार से सम्बद्ध है।

औद्योगिक गृहों की समस्या वहाँ सरल है जहाँ फैक्टरियाँ ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित हैं या उनसे कुछ दूरी पर, और जहाँ भूमि सरलता से मिल सकता है। यहाँ श्रमिकों के आवास (Housing) या तो पास वाले क्षेत्रों में होने हैं या नियोक्ता के द्वारा स्वय बनवाये हुए आवासों मे उनकी व्यवस्था की जाती है। तो भी बम्बई, कलकत्ता, और कानपुर के समान बड़े-बड़े शहरों में आवास-समस्या सबसे अधिक कठिन है। भूमि बहुत कम है और शहर बहुत घने बसे हुए हैं। अपर्याप्त रहने के स्थान, घरों के अँधेरे और दम घुटने वाले अन्दर के भाग और उनके गन्दे बाहरी भाग, ये मजदूरों की बस्ती के मुख्य लक्षण हैं। हर औद्योगिक केन्द्र में क्रियात्मक रूप से अति घनी आबादी को बुराई मौजूद है और उसको दशा बड़ी विनाशजनक है। औद्योगिक जनता के बहुत से मकान केवल मकानों के बहाने मात्र हैं, वे बहुत हो नम और प्रकाशहीन हैं, उनमें एकान्त की कोई जगह नहीं है और सफाई भी नहीं है। कुछ

झोंपड़ियाँ तो केवल पत्तियों के शरण-स्थान हैं और कुछ झोंपड़ियाँ और मकान इतने नीचे हैं कि उनमें से मनुष्य बाहर और बाहर से अन्दर रेंग सकते हैं; सीधे आ-जा नहीं सकते।

बम्बई में औद्योगिक-श्रमिकों के आवास का प्रबन्ध एक कमरे वाले क्वार्टरों में किया गया है जिन्हें चौल (Chawls) कहते हैं। "यहाँ की दशा बहुत भयावह है। पत्तियों के इन स्मारकों का व्यक्तिगत निरीक्षण, सरलता से नहीं भुलाया जा सकता। छप्पर में घुसकर और एक अँधेरे और इतने तंग रास्ते में गुजरते हुए कि दो व्यक्ति बड़ी कठिनाई से आमने सामने से गुजर सकें, किसी आदमी को कमरों के किवाड़ों को टटोलना पड़ता है; यह निश्चय करना असम्भव होता है कि उनमें कोई रहता है या नहीं। खूब धूप वाले दिन में दोपहर के समय भी, उनमें प्रकाश की एक भी किरण नहीं जाती। एक दियासलाई जलाने पर ही यह ज्ञात हुआ कि उनमें कुछ लोग रहते हैं।"

—हर्स्ट

'ये चौल दिखावट, निर्माण और कद में एक-दूसरे से काफी भिन्न होते हैं; परन्तु इन सबका एक अपना उद्देश्य होता है कि श्रमिकों आवास का प्रबन्ध जितना सस्ता सम्भव हो सके, किया जाय; इनको अक्सर गोदाम (Warehousing) कहलवाया जाता है। सबसे नीचे के जमीन वाले कमरे बिल्कुल अँधेरे, धुँधले और अस्वास्थ्यकर होते हैं और उनमें अनिष्टकारी दुर्गन्ध आती है।" बहुत से चौल इतनी बुरी अवस्था में होते हैं कि उनकी मरम्मत की नितान्त आवश्यकता होती है और वे रहने वालों के लिये निरन्तर खतरे का कारण होते हैं। मकानों को शिकमी किरायेदारों को उठाना एक आम रिवाज है और इससे वे बहुत घने बस जाते हैं। शुद्धि गृह (Lavatory) का प्रबन्ध बहुत ही खराब और अनुचित है।

कानपुर में भी ऐसी ही दशा है। श्रमिक एक कमरे वाले स्थानों में रक्खे जाते हैं जिन्हें 'अहाते' कहते हैं। आवास (Housing) की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिये हर बचे हुए इंच भर स्थान को भी नया मकान बनाने के काम में ले लिया गया है। किराये बहुत अधिक हैं। यहाँ के मकान को मकान कहना उचित नहीं है, इसे एक माँद या खोह या साहित्यक रूप में एक झोंपड़ी कहा जा सकता है। इनमें से अधिकांश बहुत ही अस्वास्थ्यकर और घने बसे हुए होते हैं। उनकी दशा बहुत ही दर्दनाक होती है और श्रमिकों की लगभग ६४% जनसंख्या इन अँधेरे, मैले और रोगोत्पादक झोंपड़ों में रहती है; जिनमें श्रमिकों का न तो ठंडी हवा से ही बचाव होता है और न गर्म जलाने वाली लू से ही। बरसात में इनमे पानी भर जाता है और झोंपड़ा एक तालाब बन जाती है और गर्मी में यह एक भट्टी बन जाती है। कानपुर की श्रम-जाँच समिति (The Kanpur Labour Enquiry Committee) ने बताया था कि "इन क्षेत्रों में किसी अजनबी आदमी के लिये रात में किसी से

मिलने आना, खतरनाक काम होता है। टाँग में चोट या पैर में मोच आ जाना तो एक मामूली बात है, जबकि एक काफी बड़े खराब पड़े हुए कुएँ में, ठोकर खाकर गिरकर गर्दन टूट जाना भी असम्भव बात नहीं है। यहाँ किसी प्रकार की भी सफाई नहीं होती, कोई सुरक्षा या हिफ़ाज़त नहीं होती, पानी का उचित प्रबन्ध नहीं होता, सड़कें भी ठीक नहीं होतीं।

दूसरे केन्द्रों में भी आवास की अवस्थाएं इनसे भिन्न नहीं हैं; कुछ बातों में तो वे अपेक्षाकृत और भी बुरी हैं; जैसे हावड़ा में। कलकत्ता और हावड़ा में यह बुराई अधिक गम्भीर है; क्योंकि प्रान्त के ८०% मजदूर इन दो नगरों में रहते हैं। अभी हाल में इनकी दशा में सुधार करने के लिये कुछ प्रयत्न किये गये हैं। नियोक्ताओं (Employers) ने कलकत्ता, बम्बई और कानपुर में काफी अच्छे रहने के मकान बनवाये हैं। सन् १८६८ में इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्ट ने यह कार्य अपने हाथ में लिया था। यद्यपि ट्रस्ट ने वास्तव में लाभदायक कार्य किया है; लेकिन वह अधिक तादाद में काम नहीं कर सकी, सहकारिता की कमी के कारण नहीं; अपितु ट्रस्ट और म्युनिसिपल-कॉरपोरेशन के आपसी विरोध, अधिकारों के सीमित होने, आर्थिक कठिनाइयों और भूस्वामियों के विरोध के कारण, ट्रस्ट को केवल गन्दी गलियों की मरम्मत के लिये विवश होना पड़ा। बम्बई में लगभग २०%, अहमदाबाद में १५% और शोलापुर में १६% श्रमिक क्वार्टरों में रहते हैं, जिनका प्रबन्ध नियोक्ता लोग करते हैं। साधारणतः आवास की अवस्थाएं बहुत ही असन्तोषजनक हैं।

इसमें कोई शक नहीं कि कुछ उद्योगों में ये अवस्थाएं अपेक्षाकृत अधिक अच्छी हैं। जमशेदपुर में जो ताता का और नागपुर में एम्प्रेस-मिल्स का आवास-प्रबन्ध प्रशंसनीय है। दोनों ही जगह श्रमिकों (Empolyees) को, अच्छी शर्तों पर रुपया उधार देकर मकान बनाने के लिये उत्साहित किया जाता है। इससे आगे गन्दी गलियों की सफाई के प्रोग्राम कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और कानपुर की म्युनिसिपैलिटियों और इम्प्रूवमेन्ट-ट्रस्ट और पोर्ट-ट्रस्टों ने लिये हैं। परन्तु इस समस्या की विशालता को ध्यान में रखते हुए, जो कुछ भी किया गया है, वह अपर्याप्त है। दिल्ली में इम्प्रूवमेन्ट ट्रस्ट ने सन् १९४० में यह प्रकट किया था कि ८८००० मनुष्य ऐसी घनी जन-संख्या में रहते हैं जो स्वास्थ्य के लिये बहुत ही हानिकर है।

भारत सरकार की औद्योगिक आवास-योजना (The Industrial Housing Scheme of the Government of India):—भारत सरकार की नई औद्योगिक योजना अबतक की निर्माण की सबसे बड़ी योजना है, जो भारत में कभी भी बनाई गई हो और अपने प्रकार की दुनिया की सबसे बड़ी योजनाओं में से है।

इस योजना के अनुसार अगले दस वर्षों में भारतीय श्रमिकों के लिये दस लाख मकान बनवाये जायँगे और विभिन्न उद्योगों में वे इस प्रकार से विभाजित कर

दिये जायँगे , फैक्टरियों को सवा सात लाख , प्लान्टशना (Plantations) के दो लाख से कुछ कम और डोक (Docks) इत्यादि को ½ लाख । यह विभाजन हर प्रकार के श्रमिकों की सख्या के अनुसार किया गया है, जिनके लिये उचित आवास की व्यवस्था नहीं का गई है ।

इस योजना की पूर्ति क लिये, लगभग २०० करोड़ रुपये के खर्चे का अन्दाज लगाया गया है । केन्द्रीय सरकार कुल राशि का दो तिहाई भाग तक रुपया बिना ब्याज के ऋण के रूप में देगी, जबकि एक तिहाई पूँजी प्रान्तीय सरकारों द्वारा लगाई जायगी । इस बात का नियोजन किया जायगा कि एक शोषण प्रणोवि (Sinking Fund) का निर्माण किया जाय जिसम से ७५ वर्ष क लिये ऋण दिया जाय । इस प्रयोजना (Project) का वार्षिक आवर्तक यय (Recurring cost) जिसम शोषक-प्रणोवि मरम्मत आदि का दायित्व भो सम्मिलित है, बाईस करोड तक हो सकता है ।

इस योजना के क्रियमाण करन का दायित्व प्रान्तीय सरकारों पर होगा, जिनका केन्द्रीय सरकार निरीक्षण करती रहेगी । इसके लिये केन्द्रीय सरकार अपने खर्चे पर कुछ कर्मचारी रक्खेगी । नियोक्ताओं (Employers) का अशदाय (Contribution), श्रमिकों के लिये आवंटित या नियुक्त (Allo) किये गये क्वार्टरों के किराये के रूप में होगा , और जो किराया इस प्रकार लिया जायगा कुल लागत (Cost) के ३% से अधिक नहीं होगा । श्रमिक भी जिन क्वार्टरों में रहते हैं उनके किराये के रूप में रुपया अदा करेंगे ।

इन नये मकानों में दो कमरे एक रसोई जिसमें खाना का सामान और ईंधन रखने के लिये भी स्थान हो, एक अलग स्नान घर, एक शुद्धि गृह (Lavatory), सामने और पीछे दोनों ओर बरामदे और एक खन का मकान होन पर एक आँगन या खुली जगह का नियोजन करन का सुझाव रखा गया है । जहाँ तक सम्भव हो सकेगा बिजली की रोशनी का भी प्रबन्ध किया जायगा । हर सामूहिक क्षेत्र में श्रमिक के उपयोग के लिये स्कूलों, दूकानों, पार्कों और खेलने की जगहों, दवाखानों, सार्वजनिक रेडियो के सेट, पुस्तकालयों और वाचनालयों का भी नियोजन किया जायगा ।

यह वर्तमान योजना हमारी राष्ट्रीय सरकार का एक फुर्ती का कदम है । यह प्रान्तीय सरकारों और नियोक्ताओं के साथ जिन पर एक भारी उत्तरदायित्व है, ठीक दिशा में चाने की शुरूआत है । श्रमिकों के लिये इससे, केवल आराम और सुविधाओं की सुरक्षा ही सम्भव नहीं होगी , जिनको पाने का उसे अधिकार भी है , अपितु वह एक मर्यादा-पूर्ण स्थान भी पा सकेगा जोकि उसे अभी तक नहीं मिला है ।

पूर्व निर्मित (Prefabricated) आवास योजना एक पहला ठोस कदम है जो भारत-सरकार ने इस दिशा में उठाया है । इस योजना के अनुसार दिल्ली के

पास एक आवास-निर्माणी (Housing Factory) की स्थापना की गई है। इससे इस वर्ष में १००० मकान बनाने की आशा की जाती है। इंजीनियरों का दावा है कि पक्की ईंटों और चूने से ठीक तुलना की जाय, तो पूर्व-निर्माण (prefabrication) के व्यय की आजकल के प्रथम श्रेणी के मकान के व्यय से अच्छी तरह समानता की जा सकती है। (prefabricated) मकानचल (Mobile) होते हैं, वे तैयार किए हुए मिल सकते हैं, ऐसी आशा की जाती है कि उनका सामान्य जीवन या टिकाऊपन ६० वर्ष से कम नहीं हो सकता। हर इकाई के उत्पादन की कीमत लगभग ४५००) रु० होगी और वह (१५००) रु० की आर्थिक सहायता (Subsidy) के साथ, ३००० में बेचा जा सकता है। यह प्रयोजना (Project) आवास समस्या का एक फलदायक हल समझी गई है।

बुरे आवास के प्रभाव (Effects of Bad Housing) 'अच्छे मकानों का मतलब होता है गृह जीवन, खुशी और स्वास्थ्य की सम्भावना। बुरे मकान गन्दगी, नशा, बीमारी, मृत्यु और कुकर्म फैलाते हैं और अन्त में अस्पतालों कारावासों और पागलखानों की माँग पैदा करते हैं, जिनमें हम समाज के दोषों को छिपाने का प्रयत्न करते हैं, और जो कि अधिकांश हमारी समाज की उपेक्षा के फल होते हैं।' सस्ते दर पर उचित रहने के मकानों से बहुत सी वर्तमान बुराइयाँ दूर हो जायगी। यह इन घने बसे क्षेत्रों में ही होता है कि यहाँ बच्चों की मृत्यु सबसे अधिक होती है। यह अति घनी बस्ती तपेदिक के समान अनेक बीमारियों का मुख्य कारण होती है। आवास का पारिवारिक जीवन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है और इसीलिये श्रम के परिवर्तन (Turnover), गृह-व्यवस्था और अति आवश्यक आंकड़ों पर भी प्रभाव पड़ता है। घने बसाव का श्रमिकों के स्वास्थ्य और कार्यक्षमता पर भी प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। उनकी वृद्धि रुक जाती है, मस्तिष्क विकसित नहीं हो पाते और शरीर की जीवनी-शक्ति भी क्षीण हो जाती है क्योंकि वे अक्सर बीमार रहते हैं।

यदि श्रमिकों की कार्यक्षमता को बढ़ाना है; और सन्तोषजनक शुभ व्यवस्था करनी है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि एक बड़ी आवास योजना को लेकर कार्य करना चाहिए। आवास की बुराइयाँ समाज पर एक कलौंच या धब्बे के समान हैं और इनका बुद्धि, दिमाग और समाज के चरित्र पर बड़ा असर पड़ता है। इसके विषय में कुछ सुझाव नीचे दिये जाते हैं —

(१) उद्योगों का विकेन्द्रीकरण (Descentralization of industries) फैक्टरियों को, जहा तक सम्भव हो सके दूर-दूर के क्षेत्रों में फैला देना चाहिये और इनका कुछ ही कस्बों व शहरों में केन्द्रीकरण नहीं होना चाहिये। बड़े शहरों में नई फैक्टरियों के निर्माण की इजाजत नहीं देनी चाहिये; अपितु उनको ग्रामीण क्षेत्रों में

ले जाने के लिये उत्साहित करना चाहिये जहाँ जमीन सस्ती है और आसानी से मिल सकती है।

(२) शहरों में कठोर म्युनिसिपल-उप-नियमों के द्वारा आवास निर्माण (House-Construction) को नियमित करना चाहिए, जिससे नए मकान बनाने की इजाजत दी जा सके जो कुछ विशेष नमूनों के अनुसार बनाये जायें।

(३) इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट बनानी चाहिए जिनको अपने निर्णयों को लागू करने के लिए काफी अधिकार दिए जायँ; और म्युनिसिपल बोर्डों और इम्प्रूवमेंट ट्रस्टों को परस्पर सहकारिता से काम करना चाहिए।

(४) भूमि-प्राप्ति-विधान (Land Acquisition Act) बनाना चाहिए जिससे अधिकारीगण आवास निर्माण के लिए भूमि प्राप्त कर सकें, जहाँ कहीं भी मिल सकती हो और शहरों में खाली जगहों पर नए मकान बनाने की इजाजत नहीं देनी चाहिए जिससे आबादी और अधिक घनी न होने पावे।

(५) नई फैक्टरियों की दशा में श्रमिकों के आवास का उत्तरदायित्व नियोक्ताओं पर डालना चाहिए।

(६) आवास की सहकारी योजनाएँ भी काम में लाई जा सकती हैं; श्रमिकों को आवास निर्माण के लिए अन्य सुविधाओं के साथ सस्ते दर पर ऋण दिए जा सकते हैं।

(७) सस्ते और कार्यक्षम आवागमन के साधन प्राप्य (Available) होने चाहिये, जिससे वे श्रमिक जो शहर से बाहर कुछ दूर के फासलों पर रहते हैं, फैक्टरियों और कारखानों को सरलता से आ सकें।

(८) सरकार को इस उत्तरदायित्व और गृह-निर्माण के कार्य को महत्वपूर्ण विषयों में समझना चाहिये। इम्प्रूवमेंट ट्रस्टों को काफी सहायता मिलनी चाहिये और उनको आमदनी के भी कुछ साधन दिये जाने चाहिये।

औद्योगिक झगड़े
(Industrial Disputes)

इस बात का पता नहीं कि किसी भारतीय फैक्टरी में सबसे पहला पूर्ण श्रम-हड़ताल कब हुई; लेकिन शुरू से ही लोग कुछ संगठित रूप में कार्य करने से इन्कार अवश्य कर दिया करते थे। सन् १८७७ में नागपुर के एम्प्रेस मिल्स के जुलाहों ने, भृति की दरों की गलतफहमी पर संगठित रूप से हड़ताल की थी। उस समय से अक्सर मजदूरों और मिलमालिकों में, अनबन होती रही है। इनमें से बहुत सी अनबनें बुरे स्वभाव और दुर्व्यवहार के कारण हुई हैं, जैसे किसी जुलाहे की माँग पर विचार करने के बजाय उसकी ढरकी (Shuttle) को खिड़की में से फेंक दिया गया है।

सम्मिलित कार्यवाही का विचार लोगों में बाद में आया। सन् १८६० में एक आदमी ने लिखा था "श्रमिक अभी तक संगठित नहीं हैं; झगड़ों का कोई विवरण नहीं रक्खा गया है; जबकि उनकी घटनाएँ इतनी आकस्मिक हैं और जो कुछ ही घण्टों के दरम्यान में हो जाया करती हैं।" एक दूसरी रिपोर्ट में कहा गया है कि जब कभी ये घटनाएँ जिन्हें छोटी हड़तालें भी कह सकते हैं, होती हैं, इनका अभिन कारण होता है—नियोक्ताओं द्वारा कर्मचारियों (Employees) पर बुरे काम पर जुर्माना करना या भृतियां के घटाने का प्रयत्न करना। लेकिन ऐसे झगड़े सदैव राजी-बाजी से तै कर दिये जाते हैं। सन् १८९५ के लगभग श्रमिकों में कुछ चेतावनी बढ़ी और इन अनेक हड़तालों ने उन्हें सिखाया कि संगठित-कार्य में कितनी शक्ति होती है ? सन् १९०५ में फैक्टरियों में बिजली की रोशनी का प्रचलन हुआ, काम करने के घण्टे बढ़ गये; और बहुत सी अस्त-व्यस्त हड़तालें भी हुईं। सन् १९०७ से १९११ तक श्रम सम्बन्धी प्रश्नों पर अधिकाधिक विचार-विमर्श हुआ। तो भी सन १९०८ तक श्रमिकों के कार्य अनियमित और अस्त-व्यस्त रहे, जबकि कभी कभी अवसर पर सम्मिलित प्रयत्न भी किया गया। लेकिन यह किसी मिल के समूह का कार्य होता था जोकि किसी विशेष, अस्थायी, बिल्कुल स्थानीय और प्रायः व्यक्तिगत आपत्ति पर होता था; यह किसी ट्रेड यूनियन के कार्य जैसा प्रयत्न नहीं होता था।

लड़ाई के समय में कुछ असन्तोष और बेचैनी थी और बिल्कुल बदली हुई परिस्थितियों के कारण अनेक अस्त-व्यस्त हड़तालें हुईं। लड़ाई ने पुराने सब सीमा-चिन्हों (Landmarks) को ढक दिया जो कि अस्तित्व में थे और नई शक्तियों और परिस्थितियों को जन्म दिया जिन्होंने भूतकाल की परम्परागत, नीति से भिन्न, स्वतन्त्र रूप से कार्य करने के लिये बाध्य किया। औद्योगिक कार्यक्रम में हड़ताल एक साधारण हथियार समझी जाने लगी। कीमतें चढ़ गई थीं और भृतियाँ अपेक्षाकृत कम थीं और असन्तोष बढ़ रहा था। सभी लोग युद्ध की नई प्रवृत्तियों से इतने उत्तेजित हो चुके थे और आर्थिक जीवन इतना डाँवाडोल हो चुका था कि छोटे छोटे मामलों और गलत कारणों पर भी अक्सर हड़तालें हो जाया करती थीं। सन् १९१९ से हड़तालें खास तौर से भृतियाँ बढ़ाने, १० घण्टे प्रतिदिन काम का समय नियत कराने के लिये होती थीं। एक बड़ी संख्या में श्रमिकों के सम्मिलित कार्य अधिक होने लगे और कभी कभी ये बहुत नियमित रूप से होते थे जोकि अपेक्षाकृत अधिक सफल भी होते थे; अपितु वे मिलों के समूह और बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों के किसी विशेष उद्योग के सभी मिलों तक को प्रभावित करते थे। नियोक्ता बड़े-बड़े लाभ पैदा कर रहे थे; और इसीलिये हड़तालें थोड़े समय तक चलती थीं और अक्सर इनसे भृतियाँ बढ़ जाया करती थीं। ऐसी घटना हड़ताल जिसने सूत के सारे व्यापार पर प्रभाव डाला, बम्बई में सन् १९१८ में हुई था। जनवरी सन् १९१९ तक,

क्रियात्मक रूप से सभी सूती मिलों के १,५०००० लोग हड़ताल में शामिल होगये। सन् १९१६-२१ के समय में हड़ताल की परिस्थिति बहुत गम्भीर हो गई। यह परिस्थिति क्रमश सामान्य अवस्थाओं के आजाने पर शात भी हो गई। इस अवधि में प्राप्त की हुई बढी हुई भृतियाँ चलती रहीं, लेकिन बाद में जब भृतियाँ कम्ने लगीं, तब नये भगड़ शुरू हुए। सन् १९२६ और सन् १९२८ के वर्ष अपेक्षाकृत शान्ति के वर्ष थे।

सन् १९२८ के वर्ष में जो औद्योगिक कार्यक्रम हुआ, वैसा पहले कभी नहीं हुआ था और औद्योगिक बेचैनी सारे देश म फैल गई। सबसे बड़ी हड़ताल बम्बई की सूती मिलों में हुई जिसने सारे उद्योग पर प्रभाव डाला दूसरी हड़तालें कलकत्ते के जूट मिलों, जमशेदपुर, कानपुर, शोलापुर और ईस्ट इण्डियन और साउथ इण्डियन रेलवेज में हुई। एक कोर्ट आफ इन्कायरी की स्थापना की गई और बम्बई में इससे छुटकारे के कुछ प्रयत्न सगठित किये गये। फाकेट कमेटी (The Fawcett Committee) ने श्रमिकों की माँगों को उचित और युक्ति सगत बताया। सन् १९२८ की हड़तालों में, कम्यूनिस्टों का प्रभाव, हिंसात्मक और भयानक कार्यों के लिये उत्तरदायी था।

सन् १९२९ में झगड़ों की सख्या काफी कम हो गई, जिनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण हड़ताल बम्बई काटन मिल्स की थी। सन् १९२९ के ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट के नियोजनों (Provisons) का पहली बार उपयोग किया गया और एक कोर्ट आफ इन्कायरी की स्थापना की गई। इस कोर्ट आफ इन्कायरी ने, श्रमिकों के विप्लववादी (Extremeist) वर्ग, गिरनी कामगर यूनियन (Girni Kamgar Union) को दोषी ठहराया, यह सस्था कम्युनिस्टों से प्रभावित थी।

सन् १९३० में बड़ी भारी मदी (Depression) हुई और श्रमिकों में गम्भीर दलबन्दियाँ उठ खड़ी हुईं, जिससे उनकी शक्तियाँ अपना सगठन करने की ओर लग गईं। इससे भी अधिक रौयल कमीशन आफ लेबर की नियुक्ति से उनकी सुधार की आशाएँ बढ गईं। इससे झगड़ों में काफी कमी की गुंजाइश होगई। श्रमिकों के सगठन को कुछ पीछे हटना पड़ा और चूँकि मदी बढती गई, भृतियों में और अधिक कटौतियाँ होती गईं, जिनको श्रमिक सहन नहीं कर सके। सन् १९३२ में हड़तालों की सख्या केवल ११८ थी—जोकि रिकार्ड में सबसे छोटी सख्या थी। सन् १९३३ में मदी सबसे अधिक हुई और श्रमिकों पर भृतियों में कमी और अधिक बेकारी द्वारा बहुत कठोर प्रहार हुए। श्रमिकों ने हड़तालों का सगठन किया, लकिन असफल रहे। रेलवेज में कर्मचारियों की बहुत कमी की गई। सन् १९३४ में बम्बई और शोलापुर की टेक्सटाइल मिल्स में एक बहुत बड़ी हड़ताल हुई, जोकि अन्त में असफल हुई।

इससे बम्बई की सरकार को सन १९३४ में टैड डिस्प्यूट्स कन्सीलियेशन ऐक्ट पास करना पड़ा। इस प्रकार सन् १९३० और १९३६ के दरम्यान में हड़तालों की संख्या १५० प्रति-वर्ष के लगभग रही जिसमें १९३४ का वर्ष एक अपवाद के स्वरूप में लिया जा सकता है।

तो भी, हड़तालों और उनमें भाग लेने वाले श्रमिकों की सख्या का निर्णय कर लेने पर, सन् १९३७ से बेचैनी और असन्तोष बहुत अधिक बढ गये हैं। सन् १९३७ और १९३८ में कार्य करने की रोकों (Stoppages) की सख्या क्रमश ३७९ और ३९९ है, जिनमें ६४,८०० और ४०,००० श्रमिक शामिल थे और जिनमें नौ लाख प्रति वर्ष तक कार्य के दिनों की हानि हुई। प्रान्तीय स्वायत्त (Provincial Autonomy) और कांग्रेस सरकारों के आगमन से श्रमिकों की आशाएं पुनर्जीवित हुई और औद्योगिक यशस्विता के बढने से सफल हड़तालों के अवसर और भी बढ गये।

औद्योगिक सम्बन्धों पर लडाई के प्रभाव अनिर्णायक (Inconclusive) हैं। कार्य की रोकों (Stoppages) की सख्या से निर्णय करने पर यह नहीं कहा जा सकता कि उद्योग का, पहलो की अपेक्षा, यह अधिक शान्तिमय समय था। सन् १९३९ से हड़तालों की संख्या उतनी ही अधिक रही जितनी की पहले वर्षों में थी। वास्तव में सन् १९४२ झगड़ों का एक ऊँचा सीमा-चिह्न था, इस वर्ष में हड़तालों की सख्या ६५४ तक पहुँच गई थी। इस बेचैनी (Unrest) की तीव्रता और परिमाण से किसी अन्य समय की तुलना नहीं की जा सकती। तो भी यह वर्ष एक अपवाद स्वरूप था और इनमें से बहुत सी हड़तालें राजनैतिक बेचैनी के कारण हुई थीं। चूँकि सरकार और नियोक्ता लड़ाई की वस्तुओं के उत्पादन को रोकने वाली, किसी भी आपत्ति को रोकने के लिये उत्सुक थे, अत हड़तालों और कार्य की रोकों को कम करने के लिये कार्यवाही की गई; सरकार ने हड़तालों और तालेबन्दियों को रोकने का अधिकार अपने हाथ में लिया और इन्हें दण्डनीय जुर्म (Penal offence) करार दिया, यदि कोई हड़ताल या कार्य की रोक बिना उचित सूचना दिये हुए जब तक कोर्ट ऑफ इंक्वायरी या बोर्ड ऑफ कन्सीलियेशन, यदि कोई नियुक्त किया गया हो, तो उसकी नियुक्ति से दो माह व्यतीत होने से पूर्व जब तक कि वह मामले की जानकारी न करले, की जाय। भृतियाँ बढा दी गई और मँहगाई के भत्ते तत्परता से स्वीकार कर दिये गये।

लड़ाई के समय में, लड़ाई को जीतने की सामूहिक आवश्यकता ने इस बात की माँग की, कि पूँजीपतियों के लाभ क उद्देश्यों और श्रमिकों के हड़ताल के अधिकार कुछ समय तक के लिये इस आवश्यक्ता के अधीन कर दिये जायें। युद्ध का अन्त होन के बाद तुरन्त ही, यह अनुभव करते हुए कि कोई हड़ताल की भावना इस समय नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है कि श्रम ने एक लड़ाकू (Belligerent) प्रवृत्ति धारण कर ली है। फलस्वरूप कुछ उद्योग शक्तिहीन हो गये हैं, जबकि अन्य उद्योगों में

औज़ार डालने के धमकाबे के प्रस्ताव भी खूब दिखाई पड़ रहे हैं।

औद्योगिक सम्बन्धों के इतिहास में १६४५ और ४६ के वर्ष सीमा चिह्न हैं। १६४६ का वर्ष हड़तालों की संख्या के सम्बन्ध में एक चोटी का वर्ष है। हड़तालों की लहर जो भारत में सन् १६४६ में प्रवाहित हुई थी अपनी श्रेणी में कोई समानता नहीं रखती थी। मेहतर से लेकर स्कूल के अध्यापक तक, किसी भी प्रकार के श्रमिकों को हड़ताल के इस बुखार ने अछूता नहीं छोड़ा था। इसने केवल फैक्टरियों पर ही नहीं, अपितु स्कूलों, बैंकों, बीमा कम्पनियों, रेलवेज, सरकारी अफसरों, ट्राम और बस कम्पनियों, पुलिस जल सेना और वायु सेनाओं पर भी आक्रमण किया। आर्थिक व्यवस्था के सब क्षेत्रों पर आक्रमण करती हुई हड़तालों की यह लहर औद्योगिक सम्बन्धों के परम्परागत विचारों के लिये एक चुनौती थी। इससे पता चलता है कि पुरानी आर्थिक व्यवस्था शनैः शनैः टूटती जाती है और पुराने जरिये और तरीके प्रभावहीन हो गये हैं और नये तथा ताजे तरीकों की पुकार करते हैं। संक्षेप में, मौलिक प्रकृति की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ बढ़ रही हैं और हमारा सामाजिक ढाँचा लम्बी-लम्बी साँसें भर रहा है और किसी तूफान में बिना पतवार की नाव के समान इधर-उधर टकरा रहा है।

अन्तर्कालीन सरकार के अविरत प्रयत्नों, श्रम सम्बन्धी सारे विधान, बिल और सम्मेलनों (Conference) के बजाय श्रमिकों में असन्तोष बढ़ रहा है

झगड़ों के कारण (Causes of Disputes) —झगड़ों के कारणों के विषय में जो आँकड़े प्रकाशित हुए हैं, इनसे उनके विषय का सामान्य परिचय मिलता है। वे ये हैं—भृतियाँ काम के घण्टे, कार्यवाहक (*Personnel*), कार्य का प्रबन्ध, व्यापारिक संघ और अन्य संस्थाएं।

सन् १६२१ से १६४१ तक के ४६२२ झगड़ों में से २६४४ या ठीक ५७ प्रतिशत से भी अधिक भृतियों और अधिलाभांश-सम्बन्धी कारण थे। यह अनिवार्य था, क्योंकि भारत में भृति (Wage) ही अधिक या कम रूप में रहन-सहन के स्तर की मूल निर्णायक (Arbiter) है और इसका श्रमिक के लिये उसकी कार्य करने की परिस्थितियों की अपेक्षा अधिक महत्त्व है। भारत में किसी भी व्यापार में भृतियाँ नियत नहीं होतीं अतः श्रमिकों और मालिकों के इस सम्बन्ध में सौदा करने के कारण झगड़ों की बुनियाद बढ़ गई।

आजकल के वर्षों में हड़तालों का एकमात्र महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि भृतियों और जीवन निर्वाह की वस्तुओं के मूल्य में बहुत अन्तर हो गया है जिससे सब उद्योगों में भृतियाँ बढ़ाने के लिए बेचैनी फैली हुई है।

श्रमिकों और प्रबन्धकों या कुछ श्रमिकों और दूसरे श्रमिक के आपसी सम्बन्ध विषयक प्रश्न जिन्हें संक्षेप में भृतियों के बाद दूसरे नम्बर के महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी कह

सकते हैं। निर्दिष्ट-शोषण व्यापार-संघों से क्रियात्मक रूप से सम्बन्धित श्रमिकों को पदच्युत (Dismiss) कर देना, संघों (Unions) की अमान्यता ((Non-recognition), कार्य-दायकों (Jobbers) और अन्य मध्यस्थों, की बदनियत और भ्रष्टाचार और कुछ पदच्युत व्यक्तियों को पुन स्थान देना (Reinstatement) आदि ऐसी बातें कार्यवाहक कारणों में शामिल की जाती हैं। ये हर पाँच में से एक झगड़े का कारण होती हैं। ऐसे झगड़े भारत में बहुत सामान्य हैं और वे संसार में अपनी तुलना नहीं रखते।

हमारे देश में काम करने के घण्टे झगड़ों की एक बहुत छोटी प्रतिशत संख्या के लिए उत्तरदायी हैं। जब काम के घण्टे बहुत लम्बे होते हैं, तब श्रमिक उनका विरोध करने का प्रयत्न करते हैं।

कार्य करने की दशाएं; जैसे—अस्वास्थ्यकर दशाएं (Insanitary Conditions), बुरे आवास (Bad-housing), दोषपूर्ण मशीनरी आदि कुछ प्रतिशत झगड़ा का कारण होती हैं और कुछ ऐसे झगड़े भी होते हैं जिनका कोई निश्चित कारण नहीं होता।

कुछ समय से व्यापारिक-संघ झगड़ा के लिए उत्तरदायी रहे हैं और नियोक्ताओं की ओर से व्यापार-संघों को मान्य करने से असमर्थता और अस्वीकृति हड़तालों के फलदायक जरिए बन रहे हैं। व्यापारिक-संघ आन्दोलन शक्ति पा रहा है और स्थायी हो रहा है। नियोक्ता, जो इस देश में श्रम-संगठन के अभ्यासी नहीं हुए हैं, इस नए आन्दोलन में अपने अधिकार के विरुद्ध एक चुनौती पाते हैं।

कुछ ऐसे कारण भी हैं जिनका कोई आधार नहीं। उनका न तो आर्थिक समस्याओं का ही और न फैक्टरियों के कार्य की दशाओं का ही कोई आधार है। किसी व्यापारिक केन्द्र पर किसी राजनैतिक नेता, किसी बड़े देशभक्त की स्मृति में कोई वार्षिक जलसा या उत्सव, किसी निषेध (Boycott) या हड़ताल की घोषणा—ये सब मौके-मौके पर छुट्टी मनाने के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं और साधारणतः एक कार्य करने के दिन (Working day) की हानि की अपेक्षा और कोई अधिक प्रभाव नहीं पड़ता, जब तक कि कोई मूर्ख नियोक्ता अनुशासन की कार्यवाही न करे। इससे तुरन्त ही कटुता बढ़ जाती है और हड़ताल की भी नौबत आ सकती है।

भर्ती की वर्तमान पद्धति में कार्यदायकों का अपने नीचे काम करने वाले लोगों पर प्रायः बहुत बड़ा प्रभाव होता है और यदि ये पदच्युत कर दिये जाते हैं तो ये लोग कभी-कभी, सहानुभूति के कारण नहीं अपितु डर के कारण, काम करने से हड़ताल कर देते हैं और काम पर वापिस आने से इंकार कर देते हैं; जब तक कि उनका कार्यदायक पुन काम पर नहीं लगा लिया जाता।

छुट्टी लेने या साधारण छुट्टियों, बिना सूचना के अपनी इच्छानुसार पदच्युत कर देने या बिना श्रमिकों की अनुमति के उनके कार्य की दशाओं में परिवर्तन कर देने, स्वेच्छानुसार श्रमिकों पर जुर्माने कर देने या उनकी भृतियों में अनधिकार

चेष्टा करके अनुचित कटौती करने के विषय में कोई निश्चित नियमों की संहिता (Code) नहीं है। इन कारणों से अक्सर श्रमिकों में कटुता फैल जाती है। वे हड़ताल की शरण लेते हैं और इसे जारी रखते हैं जब तक कि उनके दुःखों को दूर नहीं कर दिया जाता।

ऐसा कोई संगत और उचित संगठन या मशीनरी नहीं है जो श्रमिकों और नियोक्ताओं के बीच में सौदा या व्यवहार कर सके। कभी कभी छोटी छोटी मतभेद की बातों को अनुचित महत्त्व दिया जाता है, जो उचित पहुँच के द्वारा सरलता से तय किये जा सकते हैं। कई बार ऐसा पाया गया है कि हड़ताल के समय श्रमिकों को स्वयं अपनी अनुमति या विचार का भी पता नहीं होता। हड़तालों की घोषणा कर दी जाती है और बाद में हड़ताल की माँगों की खानापूरी की जाती है। यदि मजबूत व्यापार संघ हों, तो ऐसी अनुत्तरदायी कार्यवाहियाँ समाप्त हो जायँ। पहले श्रमिकों में आपस में उनकी आपत्तियों या तकलीफों और माँगों के विषय में विचार विनिमय होना चाहिये और माँगों को नियोक्ता के सामने रखना चाहिए। नियोक्ता के उन्हें सुनने या उनकी तकलीफों को दूर करने से इन्कार कर देने पर हड़ताल की शरण लेनी चाहिये।

अधिकांश भारतीय श्रमिक अशिक्षित और अज्ञान होते हैं और वे अपने नेतृत्व के लिये बाहरी व्यक्तियों पर निर्भर होते हैं। बहुत से चालाक लोग उनके इस अज्ञान का फायदा उठाते हैं और वैमनस्य और कटुता पैदा करने का प्रयत्न करते हैं। "ये थोड़े में सन्तुष्ट न होने वाले बैरिस्टर, जो एक बुरी थोपी हुई शिक्षा पद्धति की उपज हैं, बहुत अक्सर अपनी धृष्टता और समयानुसार सामाजिक और राजनैतिक उत्थान के लिये अवसर पाते हैं।"

यह अन्तिम एक ऐसा कारण है जोकि छोटा नहीं है, जिससे भारत एक उफान की अवस्था में है और प्रायः श्रमिकों को राजनैतिक विरोधों में खदेड़ लिया जाता है और कोई भी तकलीफ औजार छोड़ने और नियोक्ता से संघर्ष छेड़ने के लिये काफी होती है।

औद्योगिक शान्ति की मशीनरी (Machinery for Industrial Peace) औद्योगिक शान्ति प्राप्त करने के लिये कोई भी मशीनरी दो दृष्टिकोणों से बनाई जा सकती है, एक तो हड़तालों और तालेबन्दियों की घटनाओं को रोकने के लिये और मतभेदों को बिना प्रत्यक्ष संघर्ष के राजीबाजी से तय करने के लिये और दूसरी उन झगड़ों को तय करने के लिये और उनमें शान्ति स्थापित करने के लिये जबकि झगड़े वास्तविक रूप में शुरू हो चुके हों। यह एक बड़ी कहावत है कि इलाज से बचाव अच्छा है। (Prevention is better than cure)। औद्योगिक संघर्ष एक सामाजिक दृष्टिकोण है, जो हमारी वर्तमान स्थिति का एक स्थायी भाग

बन गया है। इस संघर्ष से उत्पन्न हुई व्यथा, दुर्व्यवस्था और खतरे इतने अधिक बढ गये हैं कि कोई आदमी उनसे अनभिज्ञ नहीं रह सकता।

औद्योगिक झगड़ों के कारण आर्थिक और मनोवैज्ञानिक हैं और सबसे अच्छी बात तो यही होगी कि इन कारणों को दूर किया जाय। इस प्रयोजन के लिए दो शर्तें आवश्यक हैं (१) प्रत्येक फैक्ट्री में सुधार-कार्य, जिसके लिए एक कार्य-समिति (Works Committee) का निर्माण करना होगा, जैसा कि रॉयल कमीशन ऑन लेबर ने भी स्वीकार किया है। यहाँ श्रमिकों की परिस्थिति पर प्रभाव डालने वाली समस्याओं की जाँच की जायगी और उनका निश्चय हो सकेगा और (२) व्यापार संघों (Trade unions) का ठोस आधार पर विकास, जिससे श्रमिकों में उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न होगा। ये समितियाँ मानसिक कठिनाइयों का सामना करने के लिये सर्वोत्तम होंगी। इन समितियों में श्रमिकों और नियोक्ताओं के प्रतिनिधि होने चाहियें और इनके कार्य के क्षेत्र काफी विस्तृत होने चाहिए। श्रमिकों से सम्बन्धित सभी बातों में उनकी सलाह और सहयोग से श्रमिकों के हितों की रक्षा करनी चाहिये। श्रमिकों से सलाह करके कार्य करने की दशाओं और नियमों का निर्णय करना चाहिये, क्योंकि इन नियमों से जो खूब विचार करके बड़ी अच्छी तरह बनाये गए हैं, श्रमिक और नियोक्ता सभी भलीभाँति काम कर सकेंगे। इससे श्रमिकों के दुःखों और मतभेदों को दूर करने के लिए गोलमेज सभाओं के निर्णयों की अपेक्षा अधिक सुविधाएं मिलेंगी। दूसरी ओर मजबूत व्यापारिक संघ ऐसी आकस्मिक हड़तालों को रोक सकेंगे जो बिना सूचना या पारस्परिक समझौते के प्रयत्न किये बिना करदी जाती हैं। आगे जहाँ भृतियाँ कम हैं जहाँ श्रमिक सगठित हैं और सगठित उद्योगों में नियुक्त हैं, वहाँ सभी व्यापारों में न्यूनतम भृतियाँ बड़ी मुश्किल से असन्तोष को दूर कर सकेंगी।

एक शान्ति-स्थापन व्यवस्था (Conciliatory Machinery) का विकास करने के लिये अगला कदम यह होगा कि भिन्न-भिन्न केन्द्रों में वर्क्स कमेटी के साथ-साथ ट्रेड बोर्डों की स्थापना की जाय जो इङ्गलैण्ड में इतनी सफलता से स्थापित किये जा चुके हैं। भारत एक बड़ा देश है और यहाँ की आर्थिक दशाएं एक प्रदेश (Region) से दूसरे प्रदेश और एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में भिन्न-भिन्न होती हैं। सारे देश में एक ही सिद्धान्त और एक सी ही दशाएं थोपने से यहाँ के औद्योगिक विकास में बड़ा असर पड़ेगा। उनमें नियोक्ता और श्रमिकों के प्रतिनिधि एक समान संख्या में होंगे और उनमें कुछ स्वतन्त्र सदस्य भी होंगे, जिनमें से एक सभापति होगा। वे सभी पक्षों के विश्वास पात्र होंगे और उनके निर्णय बड़े सुन्दर और उचित समझे जायँगे और इसीलिये कोई भी पक्ष इस निर्णय को चुनौती नहीं दे सकता। यह पद्धति एक अच्छे आधार पर भृतियाँ तय करने के लिये कोई रास्ता निकाल लेगी

और इससे वह निर्णय या अच्छी भृतियाँ और दूसरी दशाएं देश के भिन्न प्रदेशों के के अनुकूल हो सकेंगी। बोर्ड स्तरीकृत-भृतियाँ (Standardised wages) की पद्धति भी रख सकेगा जो सारे प्रदेश में श्रमिकों के अनुकूल हो। इससे भी अधिक इससे नियोक्ताओं और श्रमिकों में सहकार्यता (Collaboration) पैदा करेगा, और नियोक्ताओं और श्रमिकों के बीच की वर्तमान खाई को पाटने में सहायता देगा और हरएक दूसरे के दृष्टिकोण और स्थिति को अपेनाकृत अधिक अच्छी तरह समझ सकेगा और यथानुसार सराहना भी कर सकेगा। कुछ संस्थाओं के स्थानीय झगड़े बोर्ड के सामने रक्खे जा सकते हैं और आपस में समझौते से तय किये जा सकते हैं।

जब झगड़े शुरू हो जाते हैं, तब उनको सुलझाने के लिये उचित मशीनरी का विकास करना चाहिये। ऐसा आर्बिट्रेशन बोर्ड और कमेटियाँ स्थापित करने से ही हो सकता। नियोक्ताओं और श्रमिकों के लिए आर्बिट्रेशन कितना लाभदायक और उपयोगी होगा। अहमदाबाद के औद्योगिक इतिहास से यह बात देखी जा सकती है, जहाँ सूती उद्योग में एक स्थायी आर्बिट्रेशन बोर्ड की स्थापना की गई है। शान्ति रखने के लिये यह आवश्यक है कि आपसी शिकायतों को फौरन दूर करने के लिये एक मशीनरी होनी चाहिए। पक्षों पर प्रभाव डालने वाले सभी प्रश्न बोर्ड के सामने रक्खे जाने चाहियें और समझौता न होने की दशा में एक निष्पक्ष पंच या मध्यस्थ (Umpire) के द्वारा तय किये जा सकते हैं। इस विषय में अहमदाबाद की सफलता देश के अन्य औद्योगिक केन्द्रों के सामने एक उदाहरण के रूप में आता है। वहाँ झगड़े और काम रोकना या तालेबन्दियाँ अपेक्षाकृत कम हो गई हैं जोकि नियोक्ता और श्रमिकों दोनों के हितों के लिये ठीक है। वहाँ नियोक्ताओं का यश मिलता है और श्रमिकों को अपेक्षाकृत ऊँची भृतियाँ मिलती हैं।

राज्य और औद्योगिक शान्ति (State and Industrial Peace) आजकल लगातार होने वाले झगड़ों और उनसे होने वाले नुकसानों की ओर अब अधिक लापरवाही या उपेक्षा नहीं की जा सकती। राज्य को अब अपना कदम उठाना पड़ेगा। राज्य अब अधिक चुप नहीं रह सकता, वह निष्पक्ष दर्शक की भाँति नहीं खड़ा रह सकता, जबकि झगड़ा करने वाले अपने मतभेदों के लिये आपस में लड़ रहे हों। यह दृष्टिकोण सन्तोषजनक नहीं समझा जा सकता, जबकि हम रुपये और माल की बहुत बड़ी क्षति, श्रमिकों की कठिनाइयाँ और व्यथाएं देखते हैं।

प्रारम्भिक काम जो सरकार को करना चाहिये वह है इस विषय के आँकड़ों (Statistics) को इकट्ठा करना और उन्हें प्रकाशित करना; जैसे—मूल्य, भृतियाँ, औद्योगिक उत्पादन आदि से सम्बन्धित आँकड़े। इससे भृतियों के ठीक करने में बड़ी सहायता मिलेगी। इन आँकड़ों की अनुपस्थिति परेशानी का सबसे महत्वपूर्ण कारण है। किसी उद्योग या किसी वर्ग (Class) के लिये भृतियाँ उचित हैं या नहीं, या

भृतियाँ बढ़ाने या घटाने की माँग ठीक है या नहीं—ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका ठीक हल आँकड़ों पर निर्भर है।

यदि आवश्यक हो तो सरकार झगड़ा करने वाले पक्षों की इच्छा के अनुसार शान्ति, मध्यस्थता या पंचायत (Arbitration) के लिए विधान (Legislation) की सहायता भी ले सकती है।

जहाँ तक पहली बात का सम्बन्ध है, भारत सरकार कामगरों और भृतियों से सम्बन्धित कुछ सूचीपत्र प्रकाशित कर रही है। कई राज्यों ने भी इस कार्य को लिया है और यद्यपि यह पूर्णरूप से सन्तोषजनक नहीं है, इस समस्या पर नियमित निदिष्ट-सिद्धान्त मिल सकता है।

भारत में सन् १९२९ तक श्रम-सम्बन्धी झगड़ों को शमन या तय करने के हेतु किसी मशीनरी का निर्माण करने के लिए कोई वैधानिक नियोजन नहीं था। सन् १९२९ में पहली बार ट्रेड डिस्प्यूट्स ऐक्ट पास हुआ था। इससे सरकार को किसी श्रम-सम्बन्धी झगड़े को किसी बोर्ड ऑफ कन्सीलियेशन या कोर्ट ऑफ इन्क्वायरी को देने का अधिकार मिल गया। सरकार को मिली हुई इस शक्ति का स्वतन्त्रता से प्रयोग नहीं किया गया और कुछ ही अनुयोगों (Cases) में औद्योगिक झगड़े बोर्ड ऑफ कन्सीलियेशन या कोर्ट ऑफ इन्क्वायरी के सामने रक्खे गये। इन बोर्डों और कोर्टों के फैसले और शिफारिशें लागू नहीं की जा सकीं और उन पर पक्षों को बाध्य नहीं किया जा सका; क्योंकि इस विधान में कोई नियोजन (Provision) नहीं था। जनता की भलाई के लिये किसी हड़ताल या तालेबन्दी के पहले १४ दिन की सूचना देना अनिवार्य कर दिया गया और बिना सूचना के हड़ताल या तालेबन्दी अवैधानिक और दण्डनीय हो गई, जबकि हड़ताल करने के अधिकार को नियन्त्रित कर दिया गया; जो श्रमिकों का एकमात्र प्रभावपूर्ण हथियार था। न तो किसी शान्ति स्थापक-व्यवस्था (Conciliation Machinery) का विधान किया गया और न यह सरकार के लिये कर्त्तव्य ही बनाया गया कि वह औद्योगिक झगड़ों को किसी बोर्ड ऑफ कन्सीलियेशन या कोर्ट ऑफ इन्क्वायरी के सामने रक्खे। इस हद तक, यह विधान रुकने वाला और एक पक्षीय (One sided) था।

सन् १९३८ में व्यापार कलह विधान (Trade Disputes Act) में संशोधन किया गया। सरकार को कन्सीलियेशन ऑफिसर नियुक्त करने का अधिकार दिया गया, जिनका कर्त्तव्य व्यापारिक झगड़ों में मध्यस्थता का काम करने या उन्हें तय करना था। फिर भी ऐसी कन्सीलियेशन-मशीनरी स्थापित करने का अधिकार स्टैच्यूट बुक तक ही सीमित रहा। तो भी बम्बई राज्य में सरकार ने सन् १९३४ के बम्बई ट्रेड डिस्प्यूट्स कन्सीलियेशन ऐक्ट और सन् १९३८ के बम्बई इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स ऐक्ट के अनुसार एक स्थायी कन्सीलियेशन-मशीनरी की स्थापना की। सन् १९३८

के विधान को सन् १९४८ के बम्बई इण्डस्ट्रियल रिलेशन्स ऐक्ट के रूप में बदल दिया गया है।

युद्ध के समय में साधारणतः औद्योगिक झगड़ों से सम्बन्धित अनिवार्य न्याय की शरण लेनी पड़ती थी। भारत-सुरक्षा-नियमों (Defence of India Rules) के ८१ A नियम के अनुसार केन्द्रीय सरकार को किसी भी व्यापारिक झगड़े के सम्बन्ध में हड़तालों या ताले-बन्दियों को रोकने के लिये किसी झगड़े को कन्सीलियेशन या एडजुडिकेशन को सौंपने और उनके निर्णय को लागू करने के लिये नियम बनाने का अधिकार दिया गया था। सन् १९२९ के ट्रेड डिस्प्यूट्स ऐक्ट की अपेक्षा, केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों द्वारा इस अधिकार का अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता से प्रयोग किया गया।

सन् १९२९ के ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट और भारत सुरक्षा कानून (D I R) के ८१ A नियम के क्रियात्मक अनुभव के बाद, सन् १९४७ के नये इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स ऐक्ट के द्वारा औद्योगिक झगड़ों को रोकने और तय करने के लिये पुरानी मशीनरी को साफ कर दिया गया है।

औद्योगिक-संघर्ष-विधान (Industrial Disputes Legislation)

सन् १९४७ के औद्योगिक-संघर्ष-विधान (Industrial Disputes Act) के द्वारा जन-उपयोगी सेवाओं (Public Utility Services) के लिये हड़तालों और तालेबन्दियों से पहले सूचना देना और झगड़ों की जाँच करने और उन्हें तय करने का नियोजन किया गया है। यह विधान जो १ अप्रैल सन् १९४७ को लागू हुआ, जम्मू और काश्मीर राज्य को छोड़कर सारे भारत में लागू होता है। औद्योगिक झगड़ों; जैसे—केन्द्रीय सरकार या किसी रेलवे द्वारा चलाये जाने वाले सार्व उद्योगों (Concern Industries) या खानों तेल के क्षेत्रों और बड़े बड़े बन्दरगाहों के विषय में इस विधान के अनुसार उचित-सरकार (Appropriate Government) का तात्पर्य केन्द्रीय सरकार से है और अन्य उद्योगों के विषय में राज्य सरकार से है। ३० अप्रैल सन् १९४९ में बनाये गये एक आर्डिनेंस द्वारा केन्द्रीय सरकार का न्याय-क्षेत्र बैंकों और बीमा कम्पनियों, जिनकी एक से अधिक राज्यों में शाखाएं हैं के औद्योगिक झगड़ों पर भी कर दिया गया है। नियोक्ताओं और श्रमिकों में अनुरूप (Harmonius) सम्बन्ध बनाये रखने के लिये और झगड़ों को शान्त करने व तय करने के लिये यह विधान निम्नलिखित अधिकारियों और विधियों (Procedures) का निर्देश करता है —

(१) कार्य-समितियाँ (Works Committees) —केन्द्रीय या राज्य सरकार की आज्ञा द्वारा, सौ या इससे अधिक श्रमिकों से काम लेने वाली किसी औद्योगिक संस्था में, नियोक्ता और श्रमिकों की इन संयुक्त-समितियों (Joint Committees) की स्थापना की गई है, जिनमें दोनों पक्षों का प्रतिनिधित्व बराबर

होता है। इन समितियों का कर्त्तव्य नियोक्ताओं और श्रमिकों में एकता और अच्छे सम्बन्ध बनाने और उन्हें बनाये रखने के लिये प्रयत्न करना है। इस उद्देश्य से वे शामिल-हित (Common-Interest) के मामलों पर विचार करेंगी और किसी भी मतभेद को दूर करने का प्रयत्न करेंगी।

(२) शान्ति-अधिकारी (Conciliation Officers) :—ये अधिकारी औद्योगिक झगड़ों पर विचार करने और उनको तय कराने के लिये नियुक्त किये गये हैं।

(३) बाेर्ड ऑफ कन्सीलियेशन –इन बोर्डों का विशेष रूप से वही कर्त्तव्य है जोकि शान्ति-अधिकारियों का है; जैसे—औद्योगिक झगड़ों को तय कराने का प्रयत्न करना। परन्तु केन्द्रीय सरकार द्वारा, अवसर पैदा होने या समझौता होने में शान्ति-अधिकारियों के असफल हो जाने पर, इनकी स्थापना की जाती है।

(४) जाँच-न्यायालय (Courts of Inquiry) —अवसर पैदा होने पर किसी औद्योगिक झगड़े या उससे सम्बन्धित किसी मामले की जाँच करने के लिये जाँच-न्यायालयों को नियुक्त किया जाता है। इनमें केवल एक ही स्वतन्त्र व्यक्ति या एक सभापति और कुछ स्वतन्त्र व्यक्ति हो सकते हैं।

(५) औद्योगिक-न्यायाधिकरण (Industrial Tribunal) :—उचित सरकार द्वारा, औद्योगिक झगड़ों को तय करने के लिये इनका निर्माण किया जाता है और इसमें सदस्य उतनी संख्या तक होते हैं जितनी कि सरकार उचित समझती है। न्यायाधिकरण में हर सदस्य स्वतन्त्र स्थिति का मनुष्य होना चाहिये या उच्च न्यायालय का न्यायाधीश या जिला-न्यायाधीश की योग्यता वाला व्यक्ति होना चाहिये। एक एपालेट इन्डस्ट्रियल ट्रिब्युनल की भी स्थापना की गई है जिसका न्याय-क्षेत्र सारे देश में है। यह व्यक्तिगत न्यायाधिकरणों (Individual Tribunals) के निर्णयों पर पुन: विचार और समाधान कर सकेगा। अपीलेट जुरिस्डिक्शन के सदस्य उच्च न्यायालय के वर्त्तमान या निवृत्त न्यायाधीशों में से चुने जायँगे।

यदि कोई औद्योगिक झगड़ा वर्त्तमान रहता है या उसके होने की आशंका की जाती है, तो उचित-सरकार उस झगड़े को निर्णय के लिये बोर्ड को या किसी मामले की खोजबीन के लिये जाँच-न्यायालय को, या न्याय के लिये किसी न्यायाधिकरण को सौंप सकती है। दो अनुयोगों में सरकार झगड़े को इस प्रकार सौंपेगी, (i) यदि झगड़ा जन-उपयोगी सेवा से सम्बन्धित है और हड़ताल की सूचना दी जा चुकी है, जब कि यदि सूचना अनर्थक (Frivolous) या क्लेश-मय (Vexatious) न हो, और (ii) जहाँ किसी औद्योगिक झगड़े से सम्बन्धित पक्ष झगड़े को किसी बोर्ड को सौंपने की प्रार्थना करें, तो सरकार ऐसे झगड़े से सम्बन्धित किसी हड़ताल या तालेबन्दी को जो प्रार्थना की तिथि पर अस्तित्व में हो, तोड़ने की आज्ञा दे सकती है।

औद्योगिक झगड़े में कोई समझौता जो शान्ति-वार्ता या विधि (Procedure) के दरम्यान में हुआ हो, सब पक्षों के लिए बाध्य होगा, इसी प्रकार किसी न्यायाधिकरण का निर्णय भी सरकार द्वारा लागू करने पर बाध्य होगा।

जन उपयोगी-सेवाओं से सम्बन्धित हड़ताल और तालेबन्दियाँ इस विधान के अनुसार अवैधानिक होंगी, यदि उनमें ये बातें होती हैं ; (a) हड़ताल या तालेबन्दी के पूर्व ६ सप्ताह के अन्दर दूसरे पक्ष को सूचना न दी गई हो (b) ऐसी सूचना देने के १४ दिन के अन्दर, या (c) जब कोई शान्ति-वार्ता किसी कन्सोलियेशन ऑफिसर के समक्ष हो और ऐसी वार्ता के निर्णय के बाद ७ दिन तक सब हड़तालें और तालेबन्दियाँ चाहे वे जन-उपयोगी, सेवा सम्बन्धी हों या नहीं, अवैधानिक हैं। यदि शान्ति-वार्ता के काल में किसी बोर्ड या ट्रिब्यूनल ने ऐसा घोषित कर दिया हो और वार्ता के निर्णय के बाद और निर्णय वार्ता के चलते रहने के समय में भी क्रमश एक सप्ताह या दो माह के लिये वे अवैधानिक होंगी। अवैधानिक हड़तालें और तालेबन्दियाँ जुर्माने या कैद से दण्डनीय हैं।

सन् १९४७ के औद्योगिक कलह-विधान से ३ वर्ष के अन्दर, सरकार ने लेबर-रिलेशन्स-बिल प्रकाशित किया है जिसका स्पष्ट प्रयोजन सन् १९४७ के औद्योगिक-कलह-विधान और ऐसे ही भिन्न-भिन्न राज्यों के दूसरे विधानों के विरोध (Anomalies) को केवल एक विधान द्वारा दूर करने के लिए निदश करना है। माननीय श्रम मन्त्री श्री जगजीवन राम ने अपने विश्वास को इस प्रकार दुहराया था कि यह बिल श्रमिक और नियोक्ताओं को समान रूप से अपेक्षाकृत अधिक बड़े अधिकार देने का विश्वास दिलाता है और उन पर अपेक्षाकृत अधिक उत्तरदायित्व भी डालता है। इस बिल का मुख्य उद्देश्य केवल औद्योगिक झगड़ा को समाप्त करना ही नहीं है ; अपितु श्रमिकों के सगठनों में काफी बाहरी दखल डालकर एक दृढ व्यापार सघ-आन्दोलन के विकास को प्रोत्साहन देना है।

कुछ ऐसे प्रधान लक्षण हैं जो वर्त्तमान स्थिति में एक निश्चित विकास की योजना करते हैं। वे ये हैं —

१—जहाँ बैंकों, बीमा कम्पनियों, यातायात सेवाओं (Transport Services) इत्यादि की एक से अधिक राज्यों में शाखाएं होती हैं और वे वहाँ कार्य करती हैं ; तब यह ठीक ही माना गया है कि इस दशा में क्रियात्मक कठिनाइयाँ पैदा होती हैं और उन कार्यों में सघ (Union) की ओर से श्रम के नियमन (Regulation) की आवश्यकता होती है।

२—पब्लिक यूटिलिटी-कम्पनियों की अवस्था में, झगड़ों को न्यायाधिकरण या मध्यस्थ को सौंप देना अनिवार्य हो जाता है।

३—श्रम-न्यायालयों के निर्णयों से साधारण न्यायाधिकरणों में अपील करने का अधिकार होता है। तो भी मौलिक अधिकारों से पैदा होने वाले प्रश्नों पर जो झगड़े होंगे, वे सीधे साधारण न्यायाधिकरणों (Tribunals) में न्याय के लिये प्रस्तुत किये जा सकेंगे और वहाँ से केन्द्रीय अपील अधिकरण (Central Appellate Authority) में अपील करने का अधिकार दिया गया है। यह अधिकरण कानून के सारपूर्ण प्रश्नों (Substantial questions) पर, साधारण न्यायाधिकरणों के निर्णयों से आने वाली अपीलें सुना करेगा। इससे एक सुरक्षा और होती है कि सरकार अपील न्यायाधिकरण (Appellate Tribunal) के निर्णयों को अलग रख सकेगी, यदि वे जनता के हितों के अनुचित पाये जावेंगे। यह सुरक्षा अधिकार एक ऐसा दो धार वाला हथियार है जो दोनों ओर काम कर सकता है।

४—शान्त-वार्ता के लिये जो विधि काम में लाई गई है, वह यद्यपि पूर्ण रूप से सन्तोषजनक नहीं है, वह व्यापार संघों और नियोक्ताओं के बीच में पारस्परिक सम्बन्धों को दृढ़ बनाने का प्रयत्न करती है और इससे अपरोक्ष रूप में राज्य के ओर से दखल देने और अनिवार्य न्यायाधिकरण में प्रस्तुत करने का बहिष्कार करती है। अन्त में इस दखल का आश्रय तभी लेना पड़ता है जब प्रत्यक्ष वार्तायें (Direct Negotiations) असम्भव हो जाती हैं।

नियोक्ताओं और कर्मचारियों दोनों के ही द्वारा इस बिल की समान रूप से आलोचना की गई है। श्रम प्रतिनिधियों (Spokesmen of Labour) ने इस बिल की बहुत कटु आलोचना की है। वास्तव में, श्रमिकों के हित कुछ हद तक तो यहाँ तक कहा दिये गये हैं कि वे भारत के संविधान (Constitution) में दिये हुए मौलिक अधिकारों और संयुक्त-राष्ट्र संघ (U. N. O.) के द्वारा निर्दिष्ट किये मानवीय-अधिकार-घोषणा (Declaration of Human Rights) के विरुद्ध प्रतीत होते हैं। श्रमिकों के कुछ संगठन कहते हैं कि अपने वर्तमान रूप में यह बिल उन बड़े-बड़े अधिकारों को भी छीन लेता है जो श्रमिकों ने खून और पसीना बहाकर बड़े संघर्षों के बाद लिये हैं। हड़ताल करने का अधिकार, जिसे यह बिल छीनना चाहता है, एक मौलिक अधिकार है जो सब प्रजातान्त्रिक देशों में माना जाता है।

नियोक्ता लोग स्थायी आज्ञाओं (Standing Orders) से सम्बन्धित नियोजन की भी आलोचना करते हैं। नियोक्ताओं की सम्मति में, वह नियोजन, जो अवैधानिक तालेबन्दी की दशा में श्रमिकों की भृतियों को दुगनी करने की अनुमति देता है सिद्धान्त रूप में गलत है और न्याय्य भी नहीं है। इस बिल के प्रति दूसरा एतराज इस विषय में है कि एक नियोक्ता के ऊपर नियन्त्रण करने का अधिकार सरकार को दिया गया है। फिर तीसरा एतराज इस उपवाक्य (Clause) के विषय में है जो श्रमिकों को अपनी भृतियों का ½ भाग उस समय के लिये भत्ते (Allowance) के

रूप में पाने का अधिकार देता है, जबकि हड़ताल अवैधानिक घोषित नहीं की गई है।

यह बिल एक निर्वाचित समिति (Select Committee) को सौंप दिया गया है।

विधान के पथ-प्रदर्शक सिद्धांत ये होने चाहियें कि दोनों पक्षों में स्वेच्छा से शांति-वार्ता करने की भावना बढ़े और जन-उपयोगिता (Public utility) और राष्ट्रीय महत्त्व के उद्योगों में, आकस्मिक हड़ताल करने के अधिकार पर कानून के द्वारा नियन्त्रण होना चाहिये, जिससे कि अकस्मात कार्य के रोकने से बचाव हो सके; क्योंकि यह आकस्मिक रोक कभी-कभी समाज की भलाई में खतरा बन जाती है।

व्यापार-संघ

Trade Unions

अकेला श्रमिक प्रायः सदैव अपने नियोक्ता से अपनी नौकरी के विषय में तय करने में, नुकसान में रहता है। नियोक्ता में केवल अपेक्षाकृत अच्छी सौदा करने की शक्ति (Bargaining Power) ही नहीं होती अपितु सौदा करने की कला में उसको शिक्षा और प्रशिक्षण (Training) उसे एक अकेले श्रमिक की अपेक्षा एक उच्चतर अवस्था में ले जाते हैं। श्रमिकों के हितों की रक्षा करने के दृष्टिकोण से व्यापार-संघों का विकास हुआ है; जिससे व्यक्तिगत श्रमिक सामूहिक रूप से सौदा करके अपनी सौदा करने की अक्षमता के नुकसान से बच सकता है।

व्यापार-संघ—'भृति कमाने वालों का वह अविरत समुदाय है जो उनकी नौकरी की दशाओं में सुधार या उन्हें बनाये रखने के प्रयोजन से बनाया जाता है।' इस प्रकार व्यापार संघों के दुहरे उद्देश्य होते हैं, जो कुछ प्राप्त कर लिया गया है, उसे बनाये रखना और पुष्ट करना और श्रमिकों की दशाओं में और अधिक विकास करने का प्रयत्न करना। साधारणतः व्यापार-संघ से हड़तालों और तालेबन्दियों की भावना समझी जाती है और इसीलिये कुछ लोग इसे खास तौर से एक ऐसी झगड़ालू संस्था समझते हैं जो औद्योगिक झगड़ों के लिये हमेशा तैयार रहती है। लेकिन जैसा कि परिभाषा से स्पष्ट होता है और जैसा इसके विधान (Constitution) से भी देखा जा सकता है, कि हड़तालें केवल साधन (Means) हैं—साध्य (End) नहीं, जिनका उस समय आश्रय लेना पड़ता है, जब दूसरे प्रयत्न असफल हो जाते हैं, जिससे श्रमिकों की दशाओं में सुधार किया जा सके। आजकल व्यापार-संघ एक सबसे पहला अभिकरण (Agency) समझा जाता है, जो शान्ति स्थापित कर सकता है, श्रमिकों और नियोक्ताओं में अपेक्षाकृत अच्छे सम्बन्ध पैदा कर सकता है और जो श्रमिकों की रहन-सहन की दशाओं में बहुपक्षीय-सुधार (Many sided improvement) कर सकता है।

इसके मुख्य उद्देश्य और कार्य ये हैं ; (a) श्रमिकों में मित्रता की भावना पैदा करना और भाई चारे और सहकारिता की भावना भरना और उनका सगठन करना ; (b) उनके कार्य और भृतियों से सम्बन्धित उनकी अनग्न असमथताओं या अयोग्यताओं (Disabilities) पर विचार करना और हर प्रकार के कानूनी साधना से उनको दूर करन का प्रयत्न करना , (c) श्रमिकों और उनके अधिकारियों में मित्रता और अनुरूपता का सम्बन्ध स्थापित करना ; (d) बीमारी और तकलीफ की अवस्था में सदस्यों की सहायता के लिये फण्ड रखना , (e) लाभकारी योजनाए लेना, जैसे—बीमारी का बीमा प्रॉविडण्ट फण्ड, सहकारी-साख, औषधीय सहायता इत्यादि, (f) हडतालों की घोषणा, सगठन और सचालन करना, नियोक्ताओं से वार्ता चलाना और गचो-बाजी से झगड़ों को तय करना ; (g) आवश्यकता के समय कानूनी-सहायता का नियोजन करना और (h) ऐसे अन्य कदम उठाना जो श्रमकों और उनके आधारितों (Dependents) की सामाजिक, शिक्षा-सम्बन्धी और आर्थिक दशाओं के सुधार के लिये आवश्यक हों ।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि किसी संघ का प्राथमिक उद्देश्य अपन सदस्यों की सामाजिक और आर्थिक उन्नति करना है और इसके सब कार्य इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किये जाते हैं । यह ऐसे काम भी कर सकता है , जैसे—जन मत पर प्रकाश डालन के लिए और उनकी सहानुभूति और सहायता प्राप्त करन के लिये प्रचार-कार्य (Porpaganda Work) , श्रमिकों की दशाओं का ठाक अनुमान लगान क लिये आँकड़ों को एकत्र करना , सघों के अधिकारों की रक्षा , श्रम-सम्बन्धी प्रश्नों का अध्ययन , भिन्न-भिन्न सघों के प्रयत्नों का एकीकरण और संयम तथा ऐसे हा अन्य आन्दोलनों से श्रमिकों के नैतिक स्तर (Moral Status) को ऊँचा बढ़ाना ।

दूसरी महत्त्वपूर्ण सेवा, जो व्यापार सघों के द्वारा की जाती है, यह है कि वे श्रमिकों पर एक बडा शिक्षणीय प्रभाव रखते हैं, उनको सगठन और अनुशासन सिखाते हैं और शासन विधान (Govt Ligislation) का रास्ता बनाते हैं ।

व्यापार-सघ नियम, १६२६ (Trade Union Act 1926) यह विधान व्यापार-सघों को कानूनी मान्यता देता है और उनकी कानूनी स्थिति का ठीक शब्दों में व्याख्या करता है । इस विधान के अनुसार सघ का पञीयन (Registration) वैकल्पिक है लेकिन रजिस्टर्ड सस्थाओं को कुछ कत्तव्य और सहूलयतें दी गइ हैं जो अपञीयित (Unregistered) सस्थाओं को नहीं मिलतीं । पञीयत सघ का कोइ नाम होना चाहिये और उन्हें उन उद्देश्यों की परिभाषा देनी चाहिय, जिनक लिये उनका निर्माण हुआ है । उन्हे अकेक्षित (Audited) लेखा रखना चाहिये और इसके कम से कम आधे सदस्य वास्तविक श्रमिक होन चाहिये । जहाँ तक सहूलियतों का सम्बन्ध है, यह विधान संघ के उचित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये किये गये सब के

कर्मचारियों की कार्यों के दण्डनीय दायित्व (Criminal Liability) से मुक्त करता है, और न वे षड्यन्त्र (Conspiracy) के लिये ही दायी होते हैं। यह कानून इन बातों का भी नियोजन करता है कि (a) किसी सिविल कोर्ट में ऐसा कोई अभियोग नहीं चलाया जायगा जो किसी पञ्जीयित संघ के किसी अधिकारी या सदस्य के विरुद्ध हो, जिसने कोई कार्य संघ के उचित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये किया हो ऐसा कोई अभियोग इस आधार पर, कि उसके ऐसे कार्य ने किन्हीं अन्य व्यक्तियों को नियोक्ताओं के किसी अनुबन्ध को तोड़ने के लिए भड़काया है, नहीं चलाया जा सकेगा, (b) संघ की ओर से कार्य करने वाले किसी व्यक्ति के द्वारा किये गये कार्य के लिये किसी पञ्जीयित संघ के विरुद्ध कोई अभियोग किसी सिविल कोर्ट में नहीं चलाया जा सकेगा, यदि ऐसे कार्यों का संघ ने अधिकार दे दिया हो, और (c) कोई पञ्जीयित संघ अपने सदस्यों से उनके किन्हीं नागरिक या राजनैतिक हितों के लिये, उनकी स्वेच्छानुसार पृथक् फण्ड इकट्ठे कर सकता है।

कुछ परिस्थितियों में सन् १९४७ का व्यापार संघ संशोधन विधान इस बात का निर्देश करता है कि वे संघ अनिवार्यतः नियोक्ताओं द्वारा मान्य होने चाहियें। यह मान्य व्यापार संघों की ओर से किये गये कुछ कार्यों को अनुचित समझता है और दूसरी ओर नियोक्ताओं की ओर से भी किये गये कुछ अन्य कार्यों को अनुचित समझता है। यह इस बात का भी निर्बन्ध करता है कि एक व्यापार संघ उस समय तक मान्यता (Recongition) प्राप्त करने के योग्य नहीं समझा जायगा जब तक कि यह एक प्रतिनिधि व्यापार संघ न हो, इसके नियम जातिगत या धार्मिक आधारों पर सदस्यों के बहिष्कार का विधान नहीं करते और हड़तालों की घोषणा की विधि का निर्देश करते हैं।

लेकिन, सन् १९४७ का यह संशोधन विधान कभी लागू नहीं हुआ। भारतीय संसद में एक नया बिल, व्यापार संघ-विधेयक, १९५०, रक्खा गया है। इस बिल का मंशा भारतीय व्यापार संघों पर लागू वर्तमान विधानों को ठीक व शुद्ध करना है। यह प्राथमिक रूप से एक ठोस कार्य समझा गया है जिसमें अपवाद स्वरूप कुछ नये नियोजन (Provisions) भी हैं। इस बिल के मुख्य-मुख्य लक्षण ये हैं —

(१) वे दशाएं बढ़ा दी गई हैं, जो एक व्यापार संघ को पञ्जीयन का अधिकार देती हैं।

(२) अब से आगे किसी व्यापार संघ के नियमों में इन बातों का निर्देश होना चाहिए। (a) सदस्यों द्वारा दिये जाने वाले चन्दे की दर, (b) वे परिस्थितियाँ जिनमें चन्दा अदा न करने का दोष भी शामिल है, जिनके अनुसार किसी सदस्य का नाम काट दिया जायगा, (c) सदस्यों की सूची, (d) उन सदस्यों के विरुद्ध जो कार्य कारिणी और अन्य अफसरों की आज्ञा के बिना, हड़ताल या तालेबन्दी कर रहे हों

उन पर विधान के नियोजनों या व्यापार-सघ के नियमों को तोड़ने के लिये अनुशासन की कार्यवाही करने की विधि।

(३) इस बिल में इस बात का भी सुझाव रक्खा गया है कि व्यापार-सघ के, जिसका निर्माण पूर्ण रूप से या आशिक रूप से नागरिक-सेवकों (Civil Servants) से हुआ है, नियम अपने सदस्यों को इस बात से रोकेंगे कि वे किसी भी कार्यवाही में भाग ले और ऐसा अपराध करने वाले सदस्यों के निष्कासन का नियोजन करेंगे।

(४) किसी व्यापार-सघ का पञ्जीयन रद्द किया जा सकता है यदि इसने इच्छानुसार या रजिस्ट्रार की सूचना पाने के बाद, विधान के किसी नियोजन या व्यापार-सघ के नियमों को तोड़ा हो, या किसी बाध्य करने वाले निर्णय (Award), आज्ञा या समझौते के अनुसार कार्य करने में असफल रहा हो।

(५) सरकारी कर्मचारी, चाहे वे नागरिक सेवक हैं या नहीं राजनैतिक फण्डों में चन्दा देने से, रोके जायेंगे, यद्यपि यह प्रतिबंध उन सदस्यों पर नहीं होगा जो सरकारी कर्मचारी नहीं हैं।

(६) उस व्यापार-सघ के अधिकारी बनने से बाहरी सदस्यों को अयोग्य ठहराने का सुझाव रक्खा गया है जिसमें सब या कुछ नागरिक-सेवक हैं। अन्य व्यापार सघों में उनका अनुपात चार या कार्यकारिणी की कुल संख्या का ⅓ तक कर दिया गया है, जो संख्या कि छोटी हो। जहाँ एक व्यापार-सघ कोई अनुचित कार्य करता है जैसी कि बिल ने व्याख्या की है, पदाधिकारी जो बाहरी लोग हैं, किसी व्यापार-सघ में तीन वर्ष तक के लिये कोई पद ग्रहण करने के अयोग्य ठहराये जायेंगे।

(७) नागरिक-सेवकों के व्यापार सघ को उचित-सरकार की अनिवार्य मान्यता प्राप्त करने का अधिकार नहीं होगा, यदि इसमें सब नागरिक सेवक नहीं हैं या यदि यह किसी फेडरेशन से सम्बन्धित है, जिसमें उन व्यक्तियों का व्यापार-संघ सम्बन्धित है, जो नागरिक सेवक नहीं है।

(८) किसी श्रम न्यायालय की आज्ञा से, अस्पतालों या शिक्षा-सस्थाओं के कर्मचारियों का व्यापार सघ अनिवार्य मान्यता का अधिकारी नहीं होगा, यदि इसमें सब अस्पतालों या शिक्षा सस्थाओं के सदस्य न हों।

(९) जहाँ दो या अधिक व्यापार सघ मान्यता के योग्य होते हैं, वहाँ बड़ी सख्या को मान्यता दी जायगी।

I N T U C के सिवाय अन्य सब श्रमिक-वर्गों ने इस बिल की बड़ी बुरी तरह आलोचना की है कुछ श्रम-सगठन तो यहाँ तक कहते हैं कि यह बिल भारतीय श्रमिकों के लिये दासता की एक शृंखला है और भारतीय व्यापार-आन्दोलन के लिये मृत्यु का सन्देश है।

इतिहास (History) -भारत में संयुक्त रूप में श्रमिकों के हितों की रक्षा का प्रयत्न वर्त्तमान काल में किया गया है। सामूहिक प्रतिनिधित्व का पहला अनुयोग सन् १८८४ में हुआ था, जब फैक्टरी कमीशन को एक स्मृति-पत्र बनाने के उद्देश्य से श्रमिकों का एक सम्मेलन बुलाया गया था। लेकिन पूर्णरूप से संयुक्त-कार्यवाही का विचार श्रमिकों के दिमाग में बाद में आया। श्रम को सगठित करने के लिये सबसे पहला महत्त्वपूर्ण कदम श्री लौखैन्दे (Mr Lokhanday) के द्वारा सन् १८९० में उठाया गया था। बम्बई मिल हैन्ड्स एसोसियेशन नाम के एक सघ का सगठन फैक्टरी ऐक्ट के सशोधन करने के सम्बन्ध में सरकार को एक स्मृति-पत्र देने के लिये किया गया था। यह इतना दृढ़ सगठन नहीं था जितना कि कोई समामेलित (Corporate) संस्था होती है। इसका न तो कोई निश्चित सविधान था और न कोई निश्चित चन्दा अदा करने वाली सदस्यता ही। सन् १८९७ में 'दी अमैल्गमेटेड सोसाइटी ऑफ रलवे मैन ऑफ इण्डिया एण्ड बर्मा' का निर्माण हुआ और यह आज तक जीवित है। इसके कार्य सैन्य (Militant) प्रकृति के होने की अपेक्षा भाईचारे के अधिक थे। अन्य सघ, जो वर्त्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में शुरू हुए—वे थे —कलकत्ता की सी मैन्स यूनियन (Sea men's Union) और बम्बई का पोस्टल यूनियन। सन् १९०७—८ में जब मौरिसन कमेटी (Morrison Committee) अपनी जाँच-पड़ताल कर रही थी, बगाल में कुछ सघ पाये गये। एक था मुहम्मदन-एसोसियेशन और दूसरा इण्डियन लेबर यूनियन। दूसरे का जिक्र कमेटी की रिपोर्ट के एक फुटनोट में केवल एक बार किया गया है और मुहम्मदन-एसोसियेशन भी मुश्किल से एक व्यापार सघ कहलाने के योग्य था। सन् १९१० में श्रमिकों के एक सगठन का निर्माण किया गया, जिसका नाम कामगर हित-वर्धक-सभा था और यह सन् १९२२ तक काम करती रही, लेकिन कभी बहुत चुस्त नहीं रही।

सन् १९१८ तक, वास्तव में व्यापार सघ आन्दोलन भारत में शुरू नहीं हुआ था। यह उस समय आरम्भ हुआ, जब महायुद्ध के शुरू के वर्षों में श्रम-सम्बन्धी आर्थिक कठिनाइयाँ पैदा हुई, जोकि चीजों की कीमतें बढ़ने और राजनैतिक खींचातानी पैदा होने से हुई थीं। इससे ससार भर में श्रमिकों में खलबली मच गई और उनके दिमागों में अपने हितों की रक्षा करने के लिये सहयोग व सगठन की आवश्यकता हुई। जब कि सामाजिक मस्तिष्क युद्ध की भावना, राजनैतिक-हलचल (Political Agitation) और क्रान्तिकारी आदर्श से ओतप्रोत था तब श्रमिकों की श्रेणियाँ (Classes) भी सामाजिक बुराइयों और नई आर्थिक असमर्थताओं (Disabilities) की अवस्था में, अधिक समय तक शान्त और सहनशील नहीं रह सकीं। इस काल में व्यापार-सघों का बड़ी शीघ्रता से विकास हुआ। पहले सघ का निर्माण मद्रास में

हुआ और अन्य स्थानों में भी इसी प्रकार के संघ बनाये गये। इस प्रकार पहले विश्व-युद्ध से अब तक के वर्ष बेचैनी और हलचल के वर्ष थे जिनमें व्यापार-संघों के अनेक प्रयोग हुए। विशेषतः शुरू के वर्षों में कई संघ केवल हड़ताल कमेटियाँ थीं, वे कुछ ही घंटों में समाप्त हो जाते थे, जब कि संघर्ष में सफलता मिल जाती या हार जाते। वे एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न-भिन्न रूप थे, उनमें कोई ठोसपन नहीं था। इस समय एकीकरण (Co-ordination) की आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसकी कि कोई आशा नहीं थी। केन्द्रीय और प्रतिनिधि-श्रम-संगठनों से प्रतिनिधि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में भेजन थे और इसीलिये एकीकरण की प्रेरणा पैदा हुई। स्थानीय संघों का प्रसंघीकरण (Federalisation) किया गया और तब प्रान्तीय प्रसंघों का निर्माण हुआ। ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस नाम के, सब संघों के एक राष्ट्रीय प्रसंघ का सन् १६२० में निर्माण हुआ। सन् १६२२ में सेण्ट्रल-लेबर-बोर्ड का निर्माण हुआ और उसी वर्ष ऑल इण्डिया-रेलवे मैन्स फैडरेशन की भी स्थापना हुई, जिसके बाद पोस्टल और टेलीग्राफ यूनियन भी बनी। इस काल की मुख्य कठिनाई यह था कि श्रमिकों में से नेता लोग प्राप्त नहीं थे और इसलिये ये संघ बाहरी लोगों के हाथों में चले जाते थे जो ऐसे अवसरों की प्रतीक्षा में रहते थे।

विनियोक्ता लोग इन संघों को मान्यता देने से इन्कार कर देते थे। श्रमिकों का शोषण किया जाता था, मान्यता की मना कर दी जाती थी और दण्ड-विधि-संहिता (Criminal Procedure Code) में संशोधन कर दिया गया था और व्यापार संघ की कार्यवाहियाँ अवैधानिक करादी गई थीं। सन् १६०० में बर्किंघम-मिल के अनुयोग (Case) में मद्रास-यूनियन के विरुद्ध एक अधिकृत-आज्ञा (Injunction Order) दी गई थी और श्रमिकों के नेताओं को यह मालूम हुआ कि उन पर यूनियन की कार्यवाहियों के लिये दोषारोपण किया जा सकता था। एन० एम० जोशी ने सरकार को श्रमिकों की रक्षा के लिये फुसलाने का प्रयत्न किया लेकिन उनके प्रयत्नों का ५ वर्ष में फल प्राप्त हुआ और सन् १६२६ में व्यापार संघ-विधान पास किया गया। इससे संघों की संख्या में बड़ी शीघ्रता से वृद्धि हुई।

सन् १६२८-२६ में यह आन्दोलन अपनी ऊँचाई तक पहुँच गया, जबकि कम्यूनिस्टों का प्रभाव प्रतीत होने लगा और उन्होंने अधिकांश संघों पर अपना आधिपत्य जमा लिया। उनसे प्रभावित सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण संघ गिर्नी कामगार संघ (Girni Kamgar Union) था जिसमें ५०,००० से अधिक सदस्य थे। उनके अन्य संघों में भी सदस्यों की संख्या काफी बढ़ी हुई थी। उन्होंने सन् १६२८ में एक आम हड़ताल संगठित की और इसमें सफलता पाई। लेकिन कम्यूनिस्ट-सदस्यों की कार्यवाहियों से शहर में परेशानियाँ और उपद्रव पैदा होने लगे और कुछ महत्त्वपूर्ण नेताओं को गिरफ्तार किया गया और उन पर अपराध लगाये गये। सन् १६२६ में

उन्होंने फिर एक आम हड़ताल कराई जो काफी लम्बे समय तक रही। एक जाँच न्यायालय (Court of Enquiry) की स्थापना की गई और इसकी जाँच कामगार-यूनियन के विरुद्ध निकली जिस पर कि जाँच न्यायालय के अनुसार हड़ताल का सारा उत्तरदायित्व स्थिर था। श्रमिकों के एक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण संघ के विरुद्ध इस प्रतिकूल रिपोर्ट ने व्यापार-संघों के हितों में बड़ी हानि पहुँचाई और इस आन्दोलन को एक बड़ा भारी धक्का लगा।

सन् १६२६ में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के दसवें वर्ष में, कम्यूनिस्टों ने कांग्रेस की कार्यकारिणी पर अधिकार कर लिया और तब क्रांतिकारी कार्यवाहियों में लगन का निश्चय किया, जैसे—कम्यूनिस्ट इण्टरनेशनल (Communist International) से सम्बन्धित होना। इस पर, श्री एन० एम० जोशी कांग्रेस से अलग होगये और इण्डियन-ट्रेड-यूनियन फेडरेशन का निर्माण किया। रेलवे मैन्स फैडरेशन ने भी उस संस्था से अपने सम्बन्ध रक्खे। सन् १६३१ में एक और घटना हुई जब विप्लववादियों (Extremists) ने अपनी निजी ऑल इण्डिया-रैड-ट्रेड-यूनियन कांग्रेस की स्थापना की। सन् १६२१ के बाद इण्डियन-ट्रेड-यूनियन-फैडरेशन से अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम सम्मेलन के लिये प्रतिनिधि भेजे गये। श्रमिकों के संगठनों में अनेक वर्गों ने आन्दोलन को नष्ट करने का प्रयत्न किया और एकता स्थापित करने के लिये प्रयत्न किये गये। सन् १६३५ में कांग्रेस के दोनों वर्गों को मिला दिया गया तो भी सन् १६३८ में एकता के लिये अन्तिम रूप से आधार तैयार किये जा सके और एक निर्बन्धात्मक (Provisional) समझौते पर हस्ताक्षर किये गये जो सन् १६४६ में संशोधित किया गया।

यह दृढ़ता अधिक समय तक नहीं रह सकी। सन् १६४० में यह टूटा। युद्ध सम्बन्धी प्रयत्न के प्रश्न पर ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने निष्पक्ष रहने का एक प्रस्ताव पास किया। सीमेन्स यूनियन के सभापति डॉक्टर आफताबअली ने अभिन्नता की इस प्रवृत्ति को नहीं माना और इसलिये उनकी यूनियन अकेली अलग रह गई। जमनादास मेहता की अध्यक्षता में श्री एम० एन० रॉय द्वारा एक दूसरे संगठन का निर्माण किया गया। यह संगठन युद्ध-प्रयत्नों के लिये सब प्रकार की सहायता देने को तैयार था। वर्तमान काल में इण्डियन-नेशनल-ट्रेड-यूनियन कॉंग्रेस देश की सबसे अधिक प्रतिनिधि-व्यापार संगठन मानी गई है। आज ८०० व्यापार-संघ इससे सम्बन्धित हैं जो १० लाख श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इससे आगे ऑल—इण्डिया-ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस आती है। एक समय या जब ऑल इण्डिया ट्रेड-यूनियन कॉंग्रेस श्रमिकों की प्रतिनिधि संस्था थी, परन्तु कम्यूनिस्टों के इसमें मिलने के साथ-साथ जब कि I N T U C इससे अलग होगई थी, इसकी सदस्यता निरन्तर कम होती जा रही थी। इसके अतिरिक्त एक हिन्द-मजदूर-सभा है जिसका

सचालन समाजवादी दल के द्वारा किया गया है और सन् १९४६ के पहले सप्ताह में यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस का निर्माण किया गया है जिसके सभापति श्री के० टी० शाह और मत्री श्री एम० के० बोस हैं।

भारत में व्यापार सघों की सफलताए (Achievements of Trade Unions in India) —भारत में व्यापार-सघ-आन्दोलन ने वर्तमान काल में काफी उन्नति की है। यह आन्दोलन खूब फैला है और गहरी जडें पकड गया है। वे अब केवल हडताल कराने वाली कमेटियाँ ही नहीं हैं अब वे अपेक्षाकृत अच्छी तरह सगठित किये गये हैं। उनके अपने कार्यालय हैं और अब वे स्थायी सगठन हैं जिनका काफी लोग अनुसरण करते हैं। प्रान्तीय स्वायत्त (Provincial Autonomy) मिलने से इस आन्दोलन को उत्साह मिला है क्योंकि अब व्यापार सघ भी प्रान्तीय विधान सभाओं में अपने प्रतिनिधि भेजते हैं। सन् १९४१ के अन्त में ७५० सघ थे जिनके ६,५०,००० सदस्य थे। इन सघों ने जो प्रभाव डाला उसको छोड़ा नहीं जा सकता।

इस आन्दोलन का इतिहास सक्षिप्त है, इसलिये भारत में व्यापार-सघों की सफलताओं या कार्य का अनुमान लगाना कठिन है। तब भी यह बात बेशक कही जा सकती है कि उन्हें अपनी साख पर काफी सख्या में सफलताए मिली हैं और स्वय अपनी सहायता करने में काफी समर्थ रहे हैं। उनके निर्माण के शुरू के वर्षों में वे अपनी भृतियों को काफी मात्रा में बढाने में समर्थ थे, उन्होंने काम के घण्टों में भी कमी कराई और सन् १९२६ में भृतियों की कटौती रोकने में सफल हुए। व्यापार-सघों का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि उन्होंने श्रम के प्रति नियोक्ताओं की प्रवृत्ति को बदल दिया है। भेद भाव और वैमनस्य के स्थान पर अब उनमें सहानुभूति की भावनाए आगई हैं। रेलवे मैन्स फैडरेशन ने सन् १९२५ में B. N R हडताल में और सन् १९२७ में खरगपुर वर्क शॉप की तालेबन्दी में बडी सफलता से मध्यस्थता (Intervene) की थी।

वर्तमान काल की उन्नति के बजाय, इस बात को बडे दुःख से मानना पडता है कि आज भी हमारे देश में श्रमिकों का सगठित समुदाय विकास की उस सीढी से बहुत नीचे है, जिस पर कि अन्य देशों में यह पहुँच चुका है। मुश्किल से हमारे ५ प्रतिशत औद्योगिक श्रमिक सघों में सम्मिलित हुए हैं। दुर्भाग्य से हमारे अधिकाश सघ केवल खोखले ढाँचे हैं और बाहरी लोगों के उत्साह से जीवित रह सके हैं जबकि इनके फण्ड अपर्याप्त हैं और सदस्य काल्पनिक हैं। कुछ सघ अवश्य बेकारी, बीमारी और बुढापे के समय आर्थिक सहायता की भावना लिये हुए क्रियात्मक रूप में बिल्कुल अविकसित है और वे अपने को केवल सघर्षमय कार्यवाहियों में ही लगाये हुए हैं तो भी इसमें एक अपवाद है और वह है—अहमदाबाद का टैक्सटाइल-लेबर ऐसोसियेशन। यह

अस्पतालों, शिक्षा-संस्थाओं, सहकारी सस्ते अनाज की सुविधाओं और श्रमिकों के मनोरञ्जन और आमोद-प्रमोद के रूप में काफी सुधार योजनाएं रखता है। यह एक साप्ताहिक पत्र निकालता है और इससे सदस्य इस पत्र के लिये दिये हुए शुल्क की अपेक्षा अधिक प्राप्त करते हैं।

कुछ भी हो, भविष्य उज्ज्वल है। यह सम्भव है कि शिक्षा फैलाने के साथ, भारतीय उद्योग अपेक्षाकृत अधिक शिक्षित श्रमिकों को अपनी ओर आकर्षित करेंगे। उस अवस्था में वे संघ अपने अन्दर से ही अच्छे श्रम-नेता निकाल सकेंगे। उस समय अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ और मजबूत ढाँचा बन सकता है। श्रम नेताओं पर बड़ा भारी उत्तरदायित्व निभर है। विप्लववादियों (Extremists) के हाथ में भविष्य बड़ा अनिश्चित और आशाहीन है। बहुत से वर्त्तमान संघों के मार्ग में अन्दरूनी कमजोरियाँ और बाहरी विरोध के द्वारा विघ्न डाले जाते हैं। यह दोष अवास्तविक सहायता, अपर्याप्त धन, नतृत्व (Leadership) में भेद-भाव और अव्यापारिक तरीकों से पैदा होता है। यह आशा की जाती है कि आने वाले वर्षों में यह आन्दोलन अधिक गतिमान होगा और भारत भी पश्चिम के देशों के समान श्रमिकों के अच्छे संगठनों पर गर्व कर सकेगा।

भारत में व्यापार-संघों की कठिनाइयाँ (Difficulties of Trade Unions in India).—भारत में व्यापार-संघ-आन्दोलन की कम उन्नति के कई कारण हैं—उनकी अनेक कठिनाइयाँ जिनका कि अन्दोलन को वर्त्तमान समय में सामना करना पड़ता है। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ये हैं :—

१—रेलवेज के अतिरिक्त अन्य उद्योगों में अधिकांश श्रमिक अशिक्षित हैं या उन्हें काफी सामान्य शिक्षा नहीं मिली है। उनमें अनुशासन नहीं है और वे चतुराई और कुशलता से संघ का पथ-प्रदर्शन करने के अयोग्य हैं।

२—भारतीय श्रम-प्रवासी (Migratory) और बेमेल (Heterogeneous) है। श्रमिक दूर-दूर के स्थानों से आते हैं। उनकी भाषाएं, सामाजिक रीति-रिवाज और आदतें भिन्न-भिन्न होती हैं। अधिकांश श्रमिक अक्सर औद्योगिक केन्द्र को छोड़कर चले जाते हैं या अक्सर अपने एक नियोक्ता को छोड़कर दूसरे नियोक्ता के यहाँ काम करने लगते हैं। इसलिये वे एक ही औद्योगिक संगठन में लगकर निरन्तर दिलचस्पी नहीं लेते।

३—बहुत से श्रमिक बिल्कुल निरक्षर, अज्ञान और प्रजातान्त्रिक भावना से रहित होते हैं। उनमें एकता या संघात्मकता (Unionism) का सिद्धान्त पैदा करना बहुत कठिन होता है। फल यह होता है कि श्रमिक चन्दा देने में आनाकानी करते हैं और श्रमिक को इस बात के लिये कायल करना कठिन होता है कि चन्दा देना उचित

और लाभदायक है। वह इस बात का तभी अनुभव करता है जब झगड़ा अवश्यम्भावी हो जाता है या शुरू हो जाता है।

४—भारत में श्रमिकों को अक्सर कम मजदूरी मिलती है और अधिक काम लिया जाता है। जिनको भृति इतनी काफी मिलती है जिससे वे कार्य करते रह सकें, वे भी कभी किसी सघ में सम्मिलित होने की बात सोचते तक नहीं। भृतियाँ अपर्याप्त होती हैं और अधिकाश श्रमिक कोई चन्दा अदा नहीं कर सकते। यदि वे अदा भी कर सकते हैं तो उनके चन्दे बहुत कम होते हैं, जिनसे सघ अच्छी आर्थिक दशा में नहीं होने पाता और इसलिये वे इतने उपयोगी नहीं होते जितनी कि उनसे आशा की जाती है। और भी—श्रमिक उन लाभों के लिये जिनके विषय मे उसे सन्देह रहता है, सदैव चन्दा देने मे सकोच करता है। वह अपने चन्दों को सब खतरों के विरुद्ध बामा समझता है या बदले में अपनी मजदूरी में वृद्धि की आशा करता है, और वह भी उचित समय के अन्दर।

५—चन्दा इकट्ठा करने की कठिनाई भी महत्वपूर्ण है। कभी-कभी तो इकट्ठा किया हुआ रुपया छल कपट से अपहरण कर लिया जाता है या तुरन्त ही कोषाध्यक्ष के पास नहीं पहुँचता। मिलों में नियोक्ता चन्दा इकट्ठा करने से हतोत्साहित करते हैं, जहाँ कि इसे वसूल करना सभव हो सकता है।

६—नियोक्ता और कार्यदायकों (Jobbers) का परस्पर विरोध एक दूसरा रोड़ा है। यह मान्य है कि जो श्रमिक सघों से कोई सहानुभूति दिखाते हैं उनका शोषण किया जाता है और उन्हें कुचला जाता है, धमकाया जाता है और पदच्युत (Dismiss) कर दिया जाता है। मान्यता (Recognition) प्राप्त करने में भी बड़ी कठिनाइयाँ होती हैं और प्राय नियोक्ता सघों की कार्यकारिणी के निर्माण और उनके नेताओं पर प्रतिबन्ध लगा देते हैं। नेता लोग इस दशा मे सघ को नाममात्र के लिये छोड़ देते हैं और इस दशा में सघ कोई ठोस काम नहीं कर सकता। कभी-कभी श्रमिकों के यथार्थ सगठनों के विरुद्ध नियोक्ता कृत्रिम प्रतिकूल सगठन (Bogus Counter Organisations) बनाते हैं और उनको शीघ्र ही मान्यता भी मिल जाती है और सच्चे सगठनों के प्रभाव को मिटाकर अपना प्रभाव जमाने के लिये बड़ी फुर्ती से उन्हें आर्थिक सहायता दी जाती है। दूसरे, ऐसे साधन भी अपनाए जाते हैं जो सघ को कमजोर बनाते हैं; जैसे—श्रमिकों को भरती करने मे अत्याचार और नेताओं द्वारा घूँस लेना। इससे सघ की शक्ति टूट जाती है और हड़ताल भी छिन्न-भिन्न हो जाती है।

७—हमारे देश में ठोस और मजबूत व्यापार-संघ बनाने में एक दूसरी कठिनाई यह है कि श्रमिक एक बहुत विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए हैं और कुछ दशाओं में तो श्रमिक के पास पहुँचा भी नहीं जा सकता; जैसे—आसाम प्लान्टेशन्स में। उनके

विषय में सूचनाएं दबाली जाती हैं और बाहरी लोगों को उनके सम्पर्क में आने से रोका जाता है।

८—एक सबसे बडी बाधा अच्छे नेताओं का अभाव है। यह भी बाहर के नेतृत्व पर बहुत अधिक निर्भर है। यह कमजोरी का एक बहुत बड़ा साधन है। इन बाहरी नेताओं में से बहुत से वकील होते हैं और कुछ दूसरे व्यवसायी आदमी। उसमें उद्योगों के तान्त्रिक (Technical) ज्ञान का अभाव होता है और उतना ही उनमें पूर्ण सहानुभूति का अभाव होता है। कई नेता एक ही समय में कई मिलों से सम्बन्धित होते हैं और इसलिये किसी एक मिल की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाते। प्रायः वे असफल बैरिस्टरों को (Briefless Barristers), जोकि एक दोषमय शिक्षा पद्धति की उपज हैं यहाँ शरारत करने का एक अवसर देते हैं और कभी-कभी अपनी सामाजिक और राजनैतिक उन्नति का भी। यह बात ठीक ही कही गई है कि श्रमिकों के चन्दे छल से गबन या अपहरण कर लिये जाते हैं। कुछ नेता तो कर्त्तव्यनिष्ठ थे, जबकि दूसरे केवल प्रोपेगण्डा करने वाले और दुर्घटनाएं पैदा करने वाले, जो अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिये श्रमिकों की अज्ञानता से लाभ उठाते हैं। रॉयल कमीशन ने कहा था कि सच्ची ताकत अन्दर से ही पैदा हो सकती है और भारतीय संघों को आत्म-निर्भर होने की आवश्यकता है और इस बात की भी आवश्यकता है कि श्रमिकों को शिक्षा देकर और उनमें सदस्यों के पारस्परिक मेलजोल को बढ़ाकर, सामूहिक इच्छा शक्ति पैदा की जाय। इस बात की सिफारिश की गई थी कि संघों को अपने कार्य-क्षेत्र को बढ़ाना चाहिये।

भृतियों का भुगतान (Wage Payments)

हर चतुर प्रबन्धक का यह उद्देश्य रहता है कि श्रम की कीमतें कम से कम रक्खी जायँ। दूसरे शब्दों में भृतियों की राशि (Amounts) और उनके भुगतान का तरीका इस प्रकार का होना चाहिये जिससे कम से कम कीमत पर अधिक से अधिक उत्पादन हो सके और श्रम भी सन्तोषजनक हो। इस प्रकार भृतियों की समस्या के दो महत्त्वपूर्ण पहलू हैं। श्रमिकों की शारीरिक और नैतिक उन्नति के दृष्टिकोण से इसका एक सामाजिक पहलू है और औद्योगिक कीमतों के दृष्टिकोण से दूसरा इसका आर्थिक पहलू है। कम भृतियाँ वास्तव में समाज के स्वास्थ्य और समृद्धि के लिये घातक है और इसका बडा बुरा आर्थिक प्रभाव पड़ता है। उनसे खरीदने की शक्ति कम होती है और आर्थिक माँग भी कम रह जाती है। औद्योगिक अक्षमता ही रहन सहन के दर्जे का नीचा होने का कारण है, इस अक्षमता का ही यह फल है कि श्रमिकों के रहन सहन का दर्जा गिरा हुआ है। यदि भृतियाँ उचित होती हैं और भृतियों के भुगतान का तरीका सन्तोषजनक होता है, तो पारस्परिक औद्योगिक सम्बन्धों के बढ़ने में काफी उन्नति होती है और कार्यक्षम उत्पादन के लिये भी प्रोत्साहन मिलता

है। सन्तोषजनक भृति पद्धति के अभाव में, चाहे नियोक्ता लोग पिता के समान भी मज़दूरों के शुभ-चिन्तक क्यों न हों, उनके कोई भी अच्छे काम श्रमिकों को कार्यक्षम और सन्तुष्ट नहीं कर सकते।

इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को समझकर, एक सन्तोषजनक भृति पद्धति की मुख्य-मुख्य आवश्यकताएं, जिनको अधिकारीगण प्राय स्वीकार करते हैं निम्नलिखित कही जा सकती हैं —

सन्तोषजनक भृति पद्धति का सबसे पहला सिद्धान्त यह है कि यह नियोक्ता और श्रमिक दोनों के लिये लाभदायक होना चाहिये अर्थात् इससे दरें (Rates) कम होनी चाहियें और साथ ही साथ उन कम दरों के रहते हुए भी कार्यपटु श्रमिकों की आमदनी में वृद्धि होनी चाहिये। दूसरे शब्दों में, एक सन्तोषजनक भृति पद्धति, श्रम की उत्पादकता और उद्योग का भुगतान करने की सामर्थ्य से तय होनी चाहिये। श्रम की उत्पादकता बढ़ने से जबकि दूसरी दशाएं वही रहें, इकाई कीमतें या दरें कम हो जाती हैं और इस प्रकार यथार्थ भृतियों में वृद्धि होने का मुख्य आधार हो जाती हैं। इसी प्रकार कोई उद्योग भृतियों की दरों को जितना कि उसकी आर्थिक दशाएं इजाज़त देती हैं, उससे ऊँची नहीं बढ़ा सकता। उद्योगों पर इतनी ऊँची भृतियाँ, जितनी कि व्यापार सहन नहीं कर सकता, लादने में कई खतरे हैं। ये किसी समय बहुत बढ़ जाते हैं।

दूसरे, इसे उस न्यूनतम-भृति की गारण्टी लेना चाहिये, जिससे श्रमिकों की सामाजिक आवश्यकताएं पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो सकें। यह भावना बहुत बढ़ रही है कि—'उद्योग का निर्माण मनुष्यों के लिये हुआ था, मनुष्यों का उद्योग के लिये नहीं', और इसलिये उद्योग ही ऐसा प्रयत्न कर सकता है और करना चाहिये कि श्रमिक रहन सहन की अच्छी दशाएं प्राप्त कर सकें। इस तथ्य को बहुत पहले ही मान लिया गया है, लेकिन हेनरी फोर्ड उन पहले लोगों में से था जिन्होंने इस बात का क्रियात्मक प्रयोग किया। इस विषय की सबसे अधिक मनोरंजक बात है वह आधुनिक विधान जो 'जीवित भृति' (Living wage) या 'न्यूनतम-भृति' (Minimum wage) के नाम पर बनाया जाता है।

तीसरे, सन्तोषजनक भृति पद्धति से श्रमिकों को उचित प्रेरणा मिलनी चाहिये। इससे श्रमिक को इतना उत्साह मिलना चाहिये कि वह अधिक काम कर सके। ऐसी प्रेरणा देने के लिये जो पुरस्कार दिये जायें वे श्रमिक के प्रयत्नों से साथ सम्बन्धित होने चाहियें, वे दूरस्थ और सामान्य अवस्थाओं या उसके साथियों के काम पर निर्भर नहीं होना चाहिये। एक श्रमिक को उसके व्यक्तिगत चरित्र, कार्य शक्ति, कार्य कुशलता और विश्वास-पात्रता के अनुसार मिलना चाहिये—उस स्थिति के अनुसार नहीं जिस पर कि वह काम करता है। भृति-पद्धति के तय करने में कार्य का गुण

और मात्रा दोनों का ही विचार करना चाहिये। अधिलाभांश पुरस्कार (Bonus Reward) के सिद्धान्त का उदारता के साथ प्रयोग होना चाहिये। बोनस के लिये मात्रा और गुण दोनों, सेवा-काल की लम्बाई, काम पर ठीक उपस्थिति और आकस्मिक कमी (Reduction) पर विचार करना चाहिये जिससे उत्पादन और कार्यक्षमता के बढ़ने को प्रेरणा मिले।

चौथे यदि सम्भव हो तो अच्छी भृति-पद्धति का आधार नियत होना चाहिये, जो स्थायी रूप से निरन्तर कायम रह सके। और कोई बात श्रमिकों में इतनी उलझन एवं पद्धति के प्रति अविश्वास पैदा नहीं करती जैसा कि आधारिक दरों और सिद्धान्तों के परिवर्तन से होता है। इसका मतलब यह है कि ऐसी पद्धति चलाने से पहले बड़ी सावधानी से समय और गति का अध्ययन करना चाहिये और एक स्तर नियत कर देना चाहिये। जो दरें केवल कल्पना और अनुमान पर ही आधारित होती हैं अधिक समय तक सफल नहीं रहतीं।

पाँचवें, पद्धति साधारण होनी चाहिये या समझ में आ जाय। यह इतनी सरल होनी चाहिये कि सरलता से लागू की जा सके और श्रमिक भी सरलता से समझ सकें कि किस प्रकार उन्हें आमदनी का ठीक-ठीक हिसाब लगा सकें। फिर श्रमिक आसानी से न समझ सकें ऐसी पेचीली पद्धतियों के विषय में सन्देह रहता है। पद्धति ऐसी होनी चाहिये, जिसे सरलता से समझा जा सके और जिसमें कम हिसाब किताब रखना पड़े।

छठे पद्धति ऐसी होनी चाहिये जिसमें औद्योगिक शान्ति मिल सके। इससे नियोक्ता और श्रमिक में आनन्दमय, स्वास्थ्यकर और हार्दिक सम्बन्ध स्थापित हो सकें। इससे मन प्रकार पूर्व की विचारधारा को छोड़ना चाहिये और संघर्ष और औद्योगिक झगड़ों के स्थान पर, एक-दूसरे का ध्यान रखने और सहकारिता और समझौते की भावना पैदा होनी चाहिये।

अन्त में, इसका उद्देश्य यह होना चाहिये कि प्रबन्ध में श्रम का विभाजन अच्छे प्रकार हो। यह बात भलीभाँति ज्ञात है कि जब तक श्रमिकों को किसी उद्योग के प्रबन्ध या नियन्त्रण में भाग नहीं मिलता, तब तक वे कभी इसके कार्यों में दिलचस्पी नहीं लेंगे। लेकिन ऐसी बात रखने से, श्रमिकों के दिमाग में स्वामित्व और उत्तरदायित्व की एक नई भावना पैदा हो सकती है और उससे कार्य एवं उत्पादन हो सकता है, और श्रम और कच्चे माल का विनाश भी रुक सकता है, और नियन्त्रण और देखभाल में जो खर्च करना पड़ता है वह भी कम या बन्द हो सकता है।

भृति भुगतान की भिन्न भिन्न पद्धतियाँ जो आधुनिक औद्योगिक संस्थाओं में प्रचलित हैं, निम्नलिखित हैं —

(१) सामयिक या दैनिक-भृति (Time or Day Wage) —यह वह प्रथा है जिससे श्रमिक को उसके कार्य के समय के अनुसार; जैसे—प्रति घंटा, प्रतिदिन या प्रति सप्ताह या प्रति माह या प्रति वर्ष के हिसाब से, मजदूरी मिलती है। इस तरीके के लाभ और बुराइयाँ निम्नलिखित है —

लाभ (Advantages) —भृति-भुगतान का यह तरीका वहाँ लागू होता है जहाँ लोग कार्य की माप में कठिनाई अनुभव करते हैं, इस अवस्था में यह तरीका बड़ा ठीक मालूम पड़ता है।

चूँकि श्रमिक को कोई जल्दी नहीं होती, कार्य श्रमिक का काम करने की गति के आधार पर हीन नहीं समझा जाता और वह अपने काम में अपनी दस्तकारी का आदर्श भी रख सकता है जो उसके सावधानी से बनाए हुए पदार्थों में मिल सकता है

श्रमिक स्तरीय-भृति (Standard Wage) को पसन्द करते हैं और इस भृति वाले समूह में परस्पर-अधीनता (Solidarity) की भावना विकसित हो जाती है।

गणनाए (Calculations) सरल होती हैं और उन्हें श्रमिक आसानी से समझ सकते हैं, और इसीलिये भारत में उन श्रमिकों के लिये बड़े आकर्षक होते हैं जो अधिकांश अज्ञान और अशिक्षित होते हैं।

बुराइयाँ (Drawbacks) —इसमें मनुष्यों की योग्यता में कोई अन्तर नहीं समझा जाता। यद्यपि कुछ अवस्थाओं में अपेक्षाकृत ऊँचा काम करने वालों को कठिन काम दिया जा सकता है और अधिक ऊँची भृतियाँ दी जा सकती हैं, फिर भी साधारणतः इसका कोई ठीक हिसाब नहीं किया जा सकता।

अधिक कठिन काम के लिये कोई प्रलोभन नहीं होता। श्रमिक जानता है कि जब तक वह कोई बिना किसी टीका-टिप्पणी या अपने कार्य से हटाये जाने की सम्भावना के कम से कम काम कर सकता है, वह अधिक काम करने की आवश्यकता नहीं समझता; क्योंकि अधिक कठिन परिश्रम से भी उसे कोई बड़ा पुरस्कार नहीं मिलता।

श्रमिक से काफी काम लेने के लिये, अधिक मात्रा में कड़े नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। इससे नियन्त्रण करने वाले लोगों का खर्च बढ़ जाता है। "सबसे अच्छे प्रकार नियन्त्रित काम में भी यही दोष होता है कि उसमें कोई ऐसी बात या प्रेरणा नहीं होती जिससे श्रमिक आत्म निर्भर होकर अच्छा काम कर सके। जब एक बार लोग शीघ्रता से काम कर रहे होते हैं, तो प्रबन्धकों की निरन्तर, अविरत चौकसाई और शक्ति के अतिरिक्त और कोई चीज नहीं होती, जो उन्हें उसी गति में रख सके।"

विशेष रूप से कार्य-कुशल, महत्त्वाकाँक्षी और अच्छी तरह सीखे हुए श्रमिकों के लिये कोई प्रेरणा करने की चीज नहीं होती, यदि होती है तो बहुत थोड़ी मात्रा में, जिससे वह स्वार्थ के लाभ के लिये अपनी शक्तियों को पूर्ण रूप से जुटा सके। एफ० डब्लू० टेलर ने इस तरीके की इस प्रकार आलोचना की थी—"मनुष्यों को उस स्थिति के अनुसार दिया जाता है जिस पर वे आसीन होते हैं, उनके व्यक्तिगत चरित्र, शक्ति, कुशलता और विश्वासपात्रता के अनुसार नहीं। इस पद्धति का प्रभाव स्पष्ट रूप से नैतिक पतन और सबको एक समान बनाना होता है, यहाँ तक कि महत्त्वाकाँक्षी मनुष्य भी शीघ्र ही यह परिणाम निकाल लेते हैं कि कठिन परिश्रम करने से उनको लाभ नहीं, उनके लिये सबसे अच्छी बात यह है कि वे इतना कम काम करें जितना वे कर सकते हैं और फिर भी अपनी स्थिति को बनाये रक्खें। इन दशाओं में यह अधिक प्रवृत्ति उन सबको माध्यमिक स्तर से भी नीचे घसीट लाती है।

(२) भागिक भृति-पद्धति (Piece Wage System) —यह फल के अनुसार भुगतान करने की पद्धति है। इस तरीके के अनुसार, भुगतान की दर, किये हुए काम की मात्रा से सम्बन्धित होती है, अर्थात् हर श्रमिक को उसके लिये निश्चित किये हुए काम के अनुसार मिलता है, इसमें उस कार्य के लिये लगाए गए समय का कोई ध्यान नहीं रक्खा जाता।

लाभ (Advantages) —यह अपेक्षाकृत अधिक न्याययुक्त तरीका है, क्योंकि यह श्रमिकों की भिन्न कार्य क्षमताओं का ध्यान रखता है। किये हुए काम की मात्रा से, श्रमिक की तुलनात्मक योग्यता का बड़ी जल्दी अनुमान लगाया जा सकता है। हरएक आदमी को उसके गुण और काम के अनुसार पुरस्कार मिलता है।

श्रमिक अपनी सारी शक्तियों को लगाने के लिये उत्साहित होता है, क्योंकि उसकी भृति का बिल पूर्ण रूप से उसके काम की मात्रा पर निर्भर होता है जिसे वह कर सकता है। इससे कार्य अधिक होता है और देख भाल की भी कोई आवश्यकता नहीं होती और उपस्थिति का मूल्य भी कम से कम रह जाता है।

देख भाल करने वाले लोगों का खर्च कम हो जाता है और निर्माण कर्त्ता (Manufacturing) को लाभ पहुँचता है, मूल्य अपेक्षाकृत कम हो जाता है और उपभोक्ता को भी लाभ पहुँचता है।

बुराइयाँ (Drawbacks) —इस तरीके की बड़ी कठिनाई यह है कि प्रबन्धकों और श्रमिकों में भुगतान करने की दर के विषय में आपस में अनबन पैदा हो जाती है।

श्रमिकों में यह प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है कि अधिक से अधिक रुपया भृति के रूप में कमाया जा सके जितना कि सम्भव हो और इतनी ही प्रबन्धकों की भी यह इच्छा होती है कि उत्पादन की प्रति इकाई पर कम से कम खर्च हो। पहली

अवस्था में श्रमिक इतनी अधिक मात्रा में कार्य करने का प्रयत्न करते हैं जितना कि सम्भव हो सकता है; इसलिये कार्य करने में शीघ्रता की जाती है और उसका गुण (Quality) गिर जाता है। दूसरी अवस्था में, जब प्रबन्धक यह सोचते हैं कि श्रमिक अधिक कमा रहे हैं तो यह खतरा होता है कि उनकी दरें कम न कर दी जायें।

श्रमिक अधिक भृतियाँ कमाने की प्रेरणा से अधिक काम में जुटे रहते हैं, अपनी शक्तियों को खत्म कर देते हैं और अपेक्षाकृत आगे होने वाली बड़ी क्षति के मूल्य पर एक छोटा सा लाभ प्राप्त करते हैं। 'पसीने' के उद्योगों ('Sweated' Industries) में, जहाँ दरें कम होती हैं, और जहाँ जीवित-भृति (Living Wage) अधिक काम करने के सिवाय नहीं कमाई जा सकती, तब श्रमिक को अतिरिक्त काम (Over Work) करने के लिये बाध्य होना पड़ता है और फलस्वरूप उसे अपनी बहुत खींचातानी करनी पड़ती है।

यह तरीका कुछ प्रकार के कामों में प्रयोग नहीं लाया जा सकता, विशेष रूप से किसी उत्तरदायित्व के काम में। सामान्यत: यह दो प्रकार के श्रमों में अव्यवहार्य है, सबसे अधिक कुशलता के काम में और सबसे कम अकुशलता के काम में; उदाहरण के रूप में साहसी (Enterpreneur) का काम और एक साधारण मजदूर का काम।

(३) उन्नतिशील भृति या प्रव्याजि-अधिलाभांश-पद्धति (Progressive Wage or Premium Bonus-System) :—प्रबन्ध-पटु व्यक्तियों ने ऊपर के दोनों भृति-भुगतान के तरीकों पर विचार किया और उन्हें अपूर्ण पाया। उन्होंने इन तरीकों की आलोचना की और भृति-भुगतान के नये तरीके निकालने के प्रयत्न किये गये जिनमें ये दोष न हों। ये नये तरीके तान्त्रिक रूप में उन्नतिशील भृति-पद्धति या प्रव्याजि-अधिलाभांश-पद्धति कहलाते हैं। उनका आधार सामयिक-भृति (Time Wage) और भागिक-भृति (Piece Wage) दोनों ही होते हैं और श्रमिक को निश्चित कम से कम भृति के अतिरिक्त और भी कुछ दिया जाता है जिसे अधिलाभांश या प्रव्याजि कहते हैं, यदि उसका काम किसी नियत स्तर से ऊँचा या अधिक हो। इन तरीकों से निम्नलिखित लाभ बतलाये जाते हैं :—

१ औसत-भृतियों की अपेक्षा अधिक कमाने के लिये श्रमिकों को उत्साहित करके उत्पादन बढ़ाना।

२ श्रमिकों को अधिलाभांश मिलता है और नियोक्ता को भृतियों में बचत होती है। इससे दरों में कटौती करने की प्रवृत्ति दूर हो जाती है।

३ प्रति इकाई भृति और उत्पादन के खर्च को कम करके, आर्थिक-उत्पादन में सहायता मिलती है।

४ नियोक्ता और श्रमिकों के विरोधी हितों को मिलाना, जिससे कार्य-क्षमता बढ़े और कार्य सुचारु रूप से चलता रहे।

इन तरीकों में काफी भिन्नता है ; इनमें मुख्य अन्तर उस तरीके में पड़ता है जहाँ अधिलाभाश या प्रव्याजि जो श्रमिक को दी जाती है, गिनी जाती है। उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं .—

(a) हैजले पद्धति (Hasely System) इस पद्धति के अनुसार, एक स्तरीय कार्य-मात्रा (Standard Output) दे दी जाती है और प्रत्येक श्रमिक को जो दिये हुए समय में इस कार्य को कर लेता है, उसकी साधारण दैनिक भृति के अतिरिक्त, बचाये हुए समय की भृतियों का एक भाग दिया जाता है। इस प्रकार मान लीजिये कि किसी काम के लिये स्तरीय समय जो नियत है १० घंटे हैं, और श्रमिक इसे ६ घण्टे में समाप्त कर लेता है, तो श्रमिक को उसकी साधारण सामयिक भृति मिलेगी ; अर्थात् साधारण दर पर ६ घंटे की भृति और इसके अतिरिक्त एक नियत प्रतिशत और भी भाग मिलेगा जैसे बचाये हुए समय का ५० प्रतिशत। इस प्रकार श्रमिक को कुल नियत भृति ५० प्रतिशत बचाये हुए समय का भाग अधिलाभाश के रूप में मिलेगा ; अर्थात साधारण भृति से २ घंटे की भृति अधिक मिलेगी।

(b) रौवन पद्धति (Rowan System) .—इस पद्धति के अनुसार श्रमिक को उस समय की जिसमें कि उसने काम किया है, साधारण दरों पर भृति मिलती है। इसके बाद श्रमिक को अधिलाभाश के रूप में दिया जाता है। यदि वह अपना काम नियत समय के अन्दर पूरा कर लेता है, तो बचाये हुये समय के आधार पर उसे कुछ राशि और मिल जाती है। अधिलाभाश वास्तव में उस समय का अनुपात है जो कार्य को करने के लिये दिया गया है, जिसके लिये बचा हुआ समय कार्य करने के हेतु स्तरीय समय के लिये लगता है। इस प्रकार यदि एक श्रमिक को १) रु० प्रति घंटा की दर से १० घंटे में काम करने के लिये कार्य दिया जाता है और यदि काम ८ घंटे में समाप्त कर दिया जाता है, तो उसका प्रतिफल (Remunaration) इस तरीके के अनुसार इस प्रकार लगाया जाता है —

८ घंटे के समय के लिये भृति ८ रु० है।

बचा हुआ समय—२ घंटे = दिया हुआ समय का २०%

अधिलाभाश लिये हुए समय का २०% होगा $= \frac{१/६/७}{६/६/७}$

रॉवन पद्धति श्रमिकों के लिये उतनी अनुकूल नहीं है जितनी कि हैजले-पद्धति : हैजले-पद्धति में अपेक्षाकृत ऊँची भृतियाँ कमाना सम्भव है, क्योंकि श्रमिक को बढ़ते हुए धन का एक नियत प्रतिशत मिलता है, जब कि रॉवन-पद्धति में घटने वाले धन के बढ़ने वाले अनुपात में अधिलाभाश मिलता है। तो भी यह जानना अच्छा होगा कि जहाँ बचाया हुआ समय अधिक नहीं होता, वहाँ रॉवन पद्धति अधिक अनुकूल होगी।

(c) भेदकर-पद्धति या टेलर-पद्धति (Differential System or Taylor System) :—इस पद्धति के अनुसार यदि कोई श्रमिक किसी स्तरीय समय (Standard time) के अन्दर कोई स्तरीय-कार्य करता है, तो उसे स्तरीय-भृति और इसके अलावा कुछ और मिलता है, जबकि यदि कोई ऐसा करने में असफल रहता है, तो उसे कम काम के लिये सिर्फ कम नहीं मिलता, लेकिन उसे मजदूरी अपेक्षाकृत नीची दर पर दी जाती है।

(d) सामूहिक भृति-पद्धति (Collective Wage System) — उपर्युक्त विभिन्न पद्धतियाँ व्यक्तिगत श्रमिक के लिये ही लागू हो सकती हैं। यह तरीका वहाँ लागू होता है जहाँ श्रमिकों के एक समूह की आवश्यकता होती है कि वे उपर्युक्त तरीकों पर, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के बजाय सामूहिक रूप से काम करें। ये तरीके कई प्रकार लागू हो सकते हैं, जैसे—(१) सामूहिक-कार्य भृति (Collective-Task-Wage), (२) सामूहिक-भागिक-भृति (Collective Piece Wage) और (३) सामूहिक उन्नतिशील भृति (Collective Progressive Wage)। इनमें से मुख्य आउट-पुट-बोनस सिस्टम या प्रीस्मैन सिस्टम है। इस पद्धति के अनुसार प्रबन्धक और श्रमिक साप्ताहिक काम का एक स्तर नियत कर लेते हैं जो या तो व्यक्तियों की संख्या या प्रति सप्ताह घंटों पर आधारित होता है। श्रमिकों की संख्या या कार्य के घटे बढ़ने या घटने पर स्तरीय कार्य की मात्रा उसी वृद्धि या घटौती के अनुसार ठीक कर ली जायगी, हर सप्ताह के अन्त में कार्य की मात्रा का निश्चित इकाइयों में माप लगा लिया जाता है और स्तरीय-कार्य की मात्रा में वृद्धि होने पर हर श्रमिक को अधिलाभांश दिया जाता है। यह अधिलाभांश नियत स्तर के अनुसार बढ़ी हुई कार्य मात्रा के प्रतिशत के हिसाब से लगाया जाता है।

इस बात को बताने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त तरीकों के अलावा कई अधिलाभांश और प्रव्याजि के तरीके हैं जो उपर्युक्त तरीकों में से एक या दूसरे के सुधारे हुए हैं और वे केवल कुछ विशेष बातों में ही एक दूसरे से भिन्न हैं। इन सब तरीकों का मुख्य उद्देश्य उत्पादन में शीघ्रता करना है; संक्षेप में वे साधारण दैनिक भृति और भागिक-भृति का मिश्रण करते हैं।

(४) लाभ बँटाना (Profit Sharing) —लाभ बँटाने की वह पद्धति है जिसके अनुसार नियोक्ताओं और श्रमिकों द्वारा स्वतन्त्र रूप से कोई समझौता किया जाता है, जिसके अनुसार श्रमिकों को लाभों का नियत भाग पेशगी मिल जाता है। यह एक ऐसा प्रबन्ध है जिसके द्वारा नियोक्ता श्रमिकों को उनकी साधारण भृतियों के अतिरिक्त लाभ में से भी एक निश्चित भाग देता है, जोकि उनके श्रम का एक विशेष प्रतिफल (Remuneration) होता है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं होता कि यह एक द्विपक्षीय समझौता (Bilateral Agreement) हो, अपितु यह

केवल नियोक्ता का ऐसा बयान (Statement) ही हो सकता है कि कुछ निश्चित् अवस्थाओं के अभाव में अपने नौकरों को लाभों का कोई निश्चित् भाग देगा। यह योजना अधिकांश श्रमिकों के लिये लागू होनी चाहिये और केवल प्रबन्धकों, फोरमैन (Foreman), क्लर्कों और कार्यवाहकों तक ही सीमित नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार लाभ-बँटाने की प्रथा के मुख्य-मुख्य निम्नलिखित लक्षण हैं :—

(a) कार्य के नेट लाभ या अंशधारियों को दी गई अधिलाभांश की राशि पर वितरित की जाने वाली राशि निर्भर होती है और उसी के अनुसार इसमें कमी वेशी होती है।

(b) वितरण के लिये लाभों का अनुपात निश्चय रूप से पहले ही तय कर लिया जाता है।

(c) इस योजना के लाभ साधारण श्रमिकों तक पहुँचते हैं ; ये कार्यकारिणी या क्लैरीकल स्टाफ तक सीमित नहीं रहने चाहियें।

(d) व्यक्ति-अंशों को निर्धारित करने का तरीका साधारणतः भाग लेने वाले श्रमिकों को ज्ञात होता है।

इस प्रकार यह एक ऐसा भुगतान है जो पहले बनाई हुई योजना के अनुसार किया जाता है। यह नियोक्ता की रुचि के अनुकूल हर वर्ष बदला नहीं करता। यह किसी व्यापार के लाभ का कोई निश्चित् अंश होता है जो साधारण कर्मचारियों को उनकी भृतियों के अतिरिक्त दिया जाता है। यदि उपर्युक्त दशाओं में से कोई एक पूरी नहीं की जाती तो यह योजना का लाभ बँटाना नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार यह उत्पादन-बँटाने से लाभ-विभाजन (Gain Sharing) या यश-विभाजन (Prosperity Sharing) से भिन्न होता है।

(1) लाभ (Advantages) —इससे कार्य की मात्रा और गुण में वृद्धि होती है, नियोक्ता को ऐसे उत्सुक श्रमिक मिल जाते हैं जो नियमित रूप से काम करें। (2) श्रमिक अधिक काम करता है और अपने कार्यों में दिलचस्पी लेता है। वह अपने औजारों और पदार्थों की बड़ी सावधानी रखता है। इसका फल यह होता है कि देखभाल और नियन्त्रण का खर्चा बच जाता है और नेट लाभ बढ़ जाता है।

नियोक्ता को अधिक लाभ होता है और नुकसान कुछ नहीं होता, क्योंकि यह समझता है कि श्रमिक कम से कम इतना काम करके अवश्य देगा जितना कि उसे इस योजना के अनुसार लाभ के रूप में दिया जाता है।

श्रमिक इस बात में रुचि लेते हैं कि उनके काम का यश बढ़े और नेट लाभ की राशि भी बढ़े। इसीलिये पदार्थ, ईंधन विद्युत् शक्ति आदि की बरबादी बहुत कम रह जाती है।

श्रम और पूँजी के हित एकसाथ जुड़े हुए होते हैं, Esprit de Corps की भावना बढ़ जाती है और संघर्ष और लड़ाई-झगड़ों के स्थान पर पारस्परिक मेल-जोल और सहकारिता पैदा होती है।

दोष या बुराइयाँ (Drawbacks) :—श्रम-नेता इस पद्धति को पसन्द नहीं करते। वे इससे असन्तुष्ट रहते हैं। लाभ बँटाने की सारी भावना इस बात में है कि दो हित मिलकर एक हो जायँगे और इस अवस्था में यह कठिन है कि उनके अधिकारों को भी मिलाकर रक्खा जाय और साथ ही एक-दूसरे के विरुद्ध उन्हें सुरक्षित भी रक्खा जाय।

प्रयत्न करने के बाद तुरन्त ही पुरस्कार नहीं मिल जाता। लाभ वर्ष में केवल एक ही बार दिया जा सकता है और वार्षिक हिसाब किताब के परिणाम पर निर्भर होता है। लाभ की अनिश्चितता और पुरस्कार के दूर रहने से श्रमिक का उत्साह टूट जाता है।

यह ठीक है कि जब लाभ होते हैं, तब उनको प्रबन्धक और श्रमिक दोनों बाँट लेते हैं। परन्तु यदि हानि होती है तो श्रमिकों से यह आशा नहीं की जाती कि वे उसमें भी हिस्सा बँटायें। उनको पूर्ण रूप से स्वामित्वधारी ही सहन करते हैं। यह एक ऐसा प्रबन्ध है जहाँ हानि तो केवल एक पक्ष द्वारा सहन की जाती है, परन्तु लाभ दोनों पक्षों में बाँट दिये जाते हैं।

अधिकांश व्यापारों में अपने चढ़ाव और उतार होते हैं। अच्छे वर्षों में सभी पक्षों के लिये जो चीज अच्छी हो सकती है, बुरे वर्षों में वह खलबली का कारण बन सकती है। "नियोक्ताओं को साधारणतः एक बुरा वर्ष कसक जाता है, और जब ऐसा होता है तो लाभ-बँटाने का प्रश्न खलबली का कारण बन जाता है। व्यापारी के लिये अपने श्रमिकों को इस बात का विश्लेषण करना बड़ा कठिन होता है कि उसे कोई लाभ नहीं हुआ है। ऐसे अवसर भी आते हैं जब ऐसे बयानों से उनकी साख पर कोई हानिकारक प्रभाव पड़े और यह खतरनाक भी हो सकता है। ऐसे उदाहरण पैदा हुए हैं जब नियोक्ताओं ने अपनी हानि स्वीकार करने के बजाय लाभ बाँटे हैं, जिनका कि कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है।"

बड़े व्यापार में जिसमें बड़ी संख्या में श्रमिक लगाये जाते हैं, वहाँ श्रमिक के लिये लाभ का अंश बड़ा नहीं होता और श्रमिक भी कोई बड़ी दिलचस्पी नहीं लेते, जहाँ पुरस्कार बहुत थोड़ा और छोटा होता है और वह भी कभी-कभी गायब हो सकता है।

सफलता पाने के लिये, लाभ बँटाने की योजना के पीछे धार्मिक भावना का होना आवश्यक है,—अर्थात् उन्हें निःस्वार्थ उद्देश्यों से काम करना चाहिये। नियोक्ताओं की ओर से एक दान-संस्था (Charitable Institution) या मानव-प्रेम की भावना का

श्रमिक विरोध करते हैं, क्योंकि नियोक्ताओं के लिये, चूँकि वे केवल मानव हैं, स्वार्थ रहित होना या कोई अन्य प्रवृत्ति रखना कठिन हो जाता है।

दूसरी बड़ी बुराई यह है कि श्रमिकों को नुकसान पहुँचाने के लिये लेखों (Accounts) को चालाकी से बदला जा सकता है। चाहे उन्होंने बहुत कठिन परिश्रम किया हो, फिर भी वर्ष के अन्त में हो सकता है कि उन्हें हताश होना पड़े, कि व्यापार में लाभ नहीं हुआ। श्रमिक प्रत्यक्ष रूप से लाभों की राशि के लिये उत्तरदायी नहीं होते। यद्यपि उनका कार्य बड़ा मूल्यवान् और आवश्यक होता है, फिर भी इसको प्राथमिक महत्त्व नहीं दिया जाता। "चाहे कोई कर्मचारी अधिक से अधिक परिश्रम करे, तो भी व्यापारिक मन्दी (Trade Depression) क्रय-विक्रय के अपव्यय और हानिकर तरीकों और आन्तरिक शासन के दोषपूर्ण प्रबन्ध के कारण लाभों के बजाय हानि हो सकती है।

ऊपर बतलाई हुई बुराइयों और कठिनाइयों की दृष्टि से कई मात्रा में लाभ बँटाने की योजनाएं असफल हुई हैं, यद्यपि कुछ व्यापारों में, जहाँ इस योजना पर अच्छी तरह विचार किया गया था और इसे उचित रीति से लागू किया गया था, लोगों को नियोक्ता और कर्मचारियों के पारस्परिक लाभ में अत्यन्त सफलता मिली है।

५.—सह-भागिता (Co-partnership) —सहभागिता में लाभ बँटाने की पद्धति से भिन्न, दो तत्त्व होते हैं। पहला लाभ बँटाने का और दूसरा नियन्त्रण में भाग लेने का। इसमें श्रमिकों का भी पूँजी के एक भाग पर आधिपत्य होता है। सहभागिता के मुख्य लक्षण ये हैं —

(a) श्रमिक को स्तरीय-भृति के अलावा व्यापार के अन्तिम लाभ में भी कुछ भाग मिलेगा।

(b) श्रमिक अपने लाभों के पूरे भाग को या उनके कुछ भाग को व्यापार की पूँजी में लगा देगा।

(c) वह व्यापार में कुछ नियन्त्रण रखने का अधिकार दो तरीकों से पा सकेगा।

(1) अंश-पूँजी लगाकर और इस प्रकार अंशधारी बनकर, और

(2) सहभागिता-समिति (Co-partnership Committee) बनाकर, आन्तरिक प्रबन्ध में भाग लेकर।

लाभ (Advantages) —सहभागिता में भी प्रायः वे सभी लाभ होते हैं जो लाभ बँटाने की पद्धति में होते हैं। उनके अलावा, निम्नलिखित और भी लाभ होते हैं —

इसका बड़ा प्रसार और स्वामित्व होता है, जिससे 'औद्योगिक-प्रजातन्त्र' बढ़ता है; इससे श्रमिकों में कार्य में सफलता पाने के लिये स्वामित्व की वास्तविक भावना, व्यक्तिगत रुचि और उत्तरदायित्व की भावना पैदा होती है।

श्रमिकों को बदलने में श्रम की जो हानि होती है वह कम हो जाती है श्रमिकों को रुपया बचाने के लिये प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार मितव्ययता और विनियोग (Investment) बढ़ जाते हैं।

श्रमिक सह-स्वामित्वधारी (Co-proprietors) होते हैं और इसलिये श्रम और पूँजी के निकट सम्बन्ध बढ़ जाते हैं। श्रमिकों को नियन्त्रण और प्रबन्ध में एक भाग मिलता है और कभी कभी उन्हें अपनी भृतियाँ बढ़ाने के लिये भी कार्य दबाव मिल जाता है।

श्रमिक तिहरा (Triple) भाग लेता है, वह कर्मचारी की हैसियत से भृतियाँ लेता है, पूँजी के एक भाग का स्वामी होने के नाते अधिलाभांश लेता है और अंशधारी के रूप में संचालन कार्य में भी उसकी आवाज होती है।

दोष (Drawbacks) लाभ बँटाने की पद्धति के कई दोषों के अलावा, जो सह-भागिता में भी लागू हो सकते हैं, अन्य मुख्य दोष यह है—यह केवल संयुक्त-स्कंध-प्रमण्डल (Joint Stock Companies) में ही लागू हो सकता है, स्वामित्वधारी सार्थों में नहीं।

प्रस्तावित लाभ-विभाजन योजना (The Proposed Profit Sharing Scheme) यह प्रश्न कि श्रमिक उद्योग के लाभों में भाग लें, सन् १६४७ में सामने आया जोकि औद्योगिक सम्मेलन में (*Industrial Conference*) में औद्योगिक-शान्ति-प्रस्ताव (Industrial Truce Resolution) के रूप में रक्खा गया था। इस प्रस्ताव में इस बात का वर्णन था कि पूँजीपति और श्रमिक दोनों अपने सम्मिलित प्रयत्नों से की हुई उत्पत्ति को आपस में बाँट लेंगे; परन्तु यह उस अवस्था में होगा जब श्रमिकों को अच्छी भृतियाँ दे दी जायेंगी, उद्योग में लगी हुई पूँजी का भी एक अच्छा प्रत्याय (Return) पूँजीपतियों को दे दिया जायगा और उद्योग को स्थिर रखने और बढ़ाने के लिये भी उचित स्थायी धन रख लिया जायगा। इसके बाद जो बचेगा उसे पूँजीपति और श्रमिक दोनों बाँट लेंगे। इसके बाद भारत-सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति के एक बयान में इस बात को स्पष्ट कर दिया, जिसमें किसी शक-सन्देह की भी कोई गुंजायश न रही कि लाभों में श्रमिकों का भाग, सामान्यतः उत्पत्ति के अनुसार एक चल-माप (Sliding Scale) पर होना चाहिये। फलस्वरूप भारत सरकार ने २५ मई सन् १६४८ को, लाभ विभाजन के लिये एक कुशल-समिति (Expert Committee) नियुक्त कर दी, जो लाभ-विभाजन के प्रश्न का पूर्ण रूप से अध्ययन करे और लाभ-विभाजन की योजना के लिये एक ऐसा नियम निकाले जो क्रियात्मक हो सके। इस समिति ने १ सितम्बर सन् १६४८ को अपनी रिपोर्ट दे दी।

प्रारम्भ मे ही समिति ने बयान दिया है कि बड़ी सावधानी से विचार करने के बाद हमारा निश्चित रूप से यह मत है कि एक क्रियात्मक सुझाव के रूप में यह असम्भव है कि ऐसा चल माप बनाया जाय और फिर उसे लागू किया जाय। इसमें मुख्य कठिनाइयाँ ये है कि उद्योग से प्राप्त हुए लाभ, श्रम के अतिरिक्त अन्य कई बातों पर निर्भर होते हैं, और यह सम्भव हो सकता है कि किसी उद्योग में श्रमिकों के पूरी तरह मन लगाकर काम करने के बजाय भी कोई लाभ न हो, या श्रमिकों की असावधानी और उपेक्षा करने पर भी अन्य कारणों से बड़े-बड़े लाभ हो जाय। इससे भी अधिक एक साधारण इकाई के रूप में कुल उत्पत्ति की माप तोल करना बहुत कठिन काम है और वार्षिक उत्पत्ति का एक स्तर नियत करना और भी कठिन है। इन सब बातों के दृष्टिकोण से, समिति इस नतीजे पर आई कि अतिरिक्त (Surplus) लाभों में श्रमिकों के भाग का निर्णय किसी मध्यस्थता या पंचायती तरीके से हो सकता है।

इस समिति ने पाँच उद्योगों की सिफारिश की है जिनमें पहली बार ५ वर्ष के समय के लिये लाभ विभाजन की योजना पर प्रयोग किया जा सकता है। वे ये हैं —सूती उद्योग, जूट, स्टील (मुख्य उत्पादक), सीमेंट, टायरों का निर्माण और सिगरेटों का निर्माण।

समिति ने इस प्रयोजन के लिये पूँजी की भुगतान की हुई (Paid-up Capital) स्थायी पूँजी (Reserves) जिसमें भविष्य के स्थायी धनों के सब बँटवारे (Allocations) सम्मिलित हैं, जो व्यापार के उद्देश्य से रक्खे गये हैं। समिति ने इन सब बातों को ध्यान में रखकर इस बात की सिफारिश की है कि वर्तमान परिस्थितियों में व्यापार के प्रयोजन के लिये भुगतान की हुई पूँजी + सब स्थायी पूँजी पर छः प्रतिशत की दर उचित होगी। पूँजी पर इस प्रत्याय को देने के अलावा पूरी कमाई (Gross Earning) पर कोई निश्चित राशि कमी या छूट (Depreciation) के लिये रक्खी जायगा। वास्तव में समिति बिल्कुल स्पष्ट बयान करता है कि पूर्ण लाभों (Gross profits) पर छूट (Depreciation) पहला प्रभार (Charge) होना चाहिये और नेट लाभों पर स्थायी धन (Reserves) पहला प्रभार होना चाहिए, अर्थात् पूर्ण लाभ—छूट (Depreciation), प्रबन्ध-अभिकरण आयोग (Managing Agency Commission) और कर (Taxation)। जबकि समिति इस बात पर विचार करता है कि साधारणतः २० प्रतिशत स्थायी धन रखने का उद्देश्य होना चाहिए, पहले प्रभार के रूप में नेट लाभ का १० प्रतिशत अनिवार्य रूप से स्थायी धन के लिये अलग रख देना चाहिये। छूट, स्थायी धन, पूँजी पर प्रत्याय और अच्छा भृतियों के लिए इन सब नियोजनों को बनाने के बाद, अतिरिक्त धन (Surplus) जो कम्पनी की आमदनी में रहेगा, वह लाभ समझा जायगा जिसका पूँजीपतियों और श्रमिकों में

विभाजन होना चाहिए। श्रमिकों का भाग अतिरिक्त लाभों का ५० प्रतिशत होगा। व्यक्तिगत रूप से हर श्रमिक के लाभ का भाग उस आमदनी के अनुपात में होगा जो उसके द्वारा प्राप्त मँहगाई के भत्ते और अन्य अभिलाभाशों को काटकर पिछले १२ माह की आमदनी में से बचा होगी।

समिति ने इस प्रश्न की भी बड़ी सावधानी से जाँच की है कि श्रमिकों का भाग हर सार्थ या उद्योग या हर क्षेत्र के पूरे उद्योग या देश के सब उद्योगों के लाभ के अनुसार बाँटना चाहिये। समिति की सिफारिश सामान्यतः इकाई के आधार पर लाभों के विभाजन के लिये है। लेकिन तो भी सूता उद्योग के विषय में यह अपवाद रक्खा गया है कि बम्बई, अहमदाबाद और शोलापुर में लाभ विभाजन उद्योग पर स्थानीय क्षेत्र के आधार पर होना चाहिये।

इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि लाभ-विभाजन पर जो वार्तालाप हो उनके तीन दृष्टिकोण होने चाहियें—(१) उत्पादन के लिये प्रेरणा के रूप में लाभ विभाजन, (२) औद्योगिक शान्ति प्राप्त करने के तरीके के रूप में लाभ विभाजन, और (३) प्रबन्ध में भाग लेने के लिए एक कदम के रूप में लाभ विभाजन। जबकि श्रम संगठनों का अन्तिम दृष्टिकोण से, सबसे अधिक महत्त्व माना गया है, समिति इस बात को आर्थिक समस्या की अपेक्षा एक राजनैतिक समस्या अधिक समझती है। दूसरे दृष्टिकोण से समिति यह विचार प्रकट करती है कि उद्योग के लाभ में भाग देने से, जोकि भृतियों से अलग होगी, ऐसी (Psychological) दशायें पैदा होंगी, जो औद्योगिक शान्ति रखने के लिये अनुकूल होंगी। दूसरी ओर यह एक महत्त्वपूर्ण अप्रत्यक्ष तरीका होगा जो उत्पादन बढ़ाने में सुविधाजनक होगा। पहले दृष्टिकोण से समिति का विचार यह है कि व्यक्तिगत रूप से श्रमिकों का भाग उन्हें उत्पादन बढ़ाने के लिये प्रेरणा देगा।

न्यूनतम-भृति (Minimum wage) सामूहिक-सौदा-वृत्ति (Bargaining) के अलावा, काफी समय से एक ऐसा आन्दोलन उठ रहा है जिसमें श्रमिक सभी जगह एक 'नियत न्यूनतम-भृति' की माग करते हैं। अब इस बात को अच्छी तरह स्वीकार कर लिया गया है कि सामाजिक न्याय के हित में श्रमिकों की भृतियाँ काफी होनी चाहिये जिससे श्रमिक स्वास्थ्य और साधारण खुशहाली के दृष्टिकोण से उचित और अच्छे रहन सहन के दर्जे से अपना निर्वाह कर सकें। श्रम का पम ना बढ़ाना अब अनुचित समझा जाता है और सामाजिक बुराइयों का रोकन के लिये अब जनता की भी आवाजें उठ रही हैं। सारे यूरुप में पोप का न्यूनतम भृति के विषय में यह ध्यान फैल रहा है जिसमें उसने कहा था कि आत्म-रक्षण (Self preservation) वास्तव में किसी एक का क्या सभी का कर्तव्य है और उसे पूरा न करना एक जुर्म है। इसस उन सब चीजों को पाने का अधिकार पैदा होता है जिनसे जीवन की रक्षा की जा सकती

है और गरीब लोग उन्हें इसके अतिरिक्त और किसी तरीके से प्राप्त नहीं कर सकते कि वे अपने काम के एवज में भृतियाँ प्राप्त करें। यह बात मान लेनी चाहिये कि श्रमिक और उसका मालिक स्वतन्त्र रूप से आपस में समझौता कर सकते हैं, विशेषत भृतियों की राशि के विषय में। इसके नीचे प्राकृतिक-न्याय (Natural Justice) का सिद्धान्त भी छिपा हुआ है। यह सिद्धान्त अनुबन्ध करने वाले दोनों पक्षों की अन्य किसी भी इच्छा से अधिक बड़ा और महत्त्वपूर्ण है कि एक हृष्ट-पुष्ट श्रमिक के निर्वाह के लिये भृति काफी होनी चाहिये। क्योंकि यदि श्रमिक को उसकी आवश्यकताएं बाध्य कर देती हैं और इस दशा में वह इस परिस्थिति से अपेक्षाकृत अधिक बुरी परिस्थितियों की सम्भावना से प्रभावित होता है, तो वह अपेक्षाकृत कठिन शर्तों पर भी राजी हो जाता है। उसे इन शर्तों को इच्छा न होते हुए भी मानना पड़ता है, क्योंकि अनुबन्धकर्त्ता या मालिक ऐसा करने के लिये अड़ जाते हैं और वह अन्याय का शिकार बन जाता है जिसकी कि न्याय निन्दा करता है।" (Leo XIII—Page 1891)

पोप के उपर्युक्त बयान से प्रभाव अवश्य पड़ा होगा और सन १९२८ में अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम सम्मेलन (International Labour Conference) ने इस सम्बन्ध में एक रीति को अंगीकार किया था। हमारे देश में इस प्रश्न की कई आयोगों (*Commissions*) और समितियों ने जाँच की होगी, यद्यपि अब तक कोई स्पष्ट चीज सामने नहीं आई। श्रम के शाही कमीशन (Royal Commission On Labour) ने इस प्रस्ताव की जाँच की थी और यह सुझाव रक्खा था कि इस बात की खोज-बीन की जाय कि कुछ उद्योगों में विधान की शरण लेने से पहले न्यूनतम भृति *नियत करना कहाँ तक क्रियात्मक (Feasible) हो सकेगा। सन् १९३७ में बम्बई* टैक्स्टाइल लेबर इन्क्वायरी कमेटी ने जीवित भृति के प्रश्न का अध्ययन किया था और यह सिफारिश की थी कि भृतियों में शीघ्र ही चल माप (Sliding Scale) पर १३॥) रु० की भृति पर रुपये में ३ आने से वृद्धि की जाय और ७५) रु की भृति *पर एक आना प्रति रुपया वृद्धि की जाय। कानपुर लेबर इन्क्वायरी कमेटी ने १५ रु* प्रति माह की न्यूनतम भृति की सिफारिश की थी।

भारत के श्रम-विधान के इतिहास में सन् १९४८ का न्यूनतम-भृति विधान एक सीमा-चिह्न है। सन् १९३६ के भृति के भुगतान से अधिक आगे बढ़ने के लिये *भारत सरकार ने कोई कार्यवाही नहीं की है।*

इस विधान के मुख्य नियोजन कम या ज्यादा वे ही हैं जो उस मौलिक बिल में मिलते हैं, जो सन् १९४६ में विभिन्न व्यापार-संघों और नियोक्ताओं के समुदायों (Associations) को इस दृष्टिकोण से भेजा गया था कि उनके दृष्टिकोणों को भी समझा जा सके। उस मौलिक बिल में केन्द्रीय और राज्य-सरकारों को यह

अधिकार दिया गया है कि वे भृतियों की कम से कम दर नियत कर सकें या कुछ परिगणित (Scheduled) कर्मचारियों की भृतियों पर पुनः विचार कर सकें अर्थात् उनके भृति-माप (Pay-scale) को दोहरा सकें। इस समय परिगणित कर्मचारियों से मतलब उन लोगों से लगाया जायगा जो निम्न उद्योगों में काम करते होंगे—ऊनी वस्त्र या दरी बनाना या शाल बुनने वाले उद्योग, चावल की मिलें, सड़कों और घरों का निर्माण, चमड़ा कमाना और चमड़े का निर्माण, जन-मोटर-यातायात (Public Motor Transport), लाख और अभ्रक (Mica) के कारखाने खेतों पर काम करने वाले मज्दूर, डेरी और पौल्टरियों (Poultries) में काम करने वाले मजदूर। लेकिन यह सूची केवल उदाहरण के रूप में है। यह पूरी सूची नहीं है और इसमें राज्य-सरकारें अन्य उद्योगों को भी जोड़ सकती हैं।

भृतियाँ नियत करने का ढंग विस्तृत और सुग्राह्य (Comprehensive) न्यूनतम भृतियाँ तय करने के लिये, राज्य-सरकारें सलाहकार-समितियाँ और उप-समितियाँ नियुक्त करेगा। केन्द्रीय सरकारें भी साधारणत भृति नियत करने के मामलों में और एकीकरण (Co-ordination) के लिये प्रांतीय-सलाहकार-बोर्डों को सलाह देने के लिये, केन्द्रीय-सलाहकार बोर्ड (Central Advisory Board) नियुक्त करेगी। यह विधान इस प्रकार के कुछ दण्डनीय (Penal) नियोजन भी रक्खेगा जो नियत न्यूनतम भृति देने वालों को ऐसा करने से रोकेंगे।

इस विधान का मुख्य उद्देश्य यह है कि श्रमिक सन्तुष्ट हों और उनकी श्रम-शक्ति बढ़े जोकि सबसे पहली आवश्यक वस्तु है, जिससे कि देश का धन बढ़े। उत्पादन में मानवीय-तत्व (Human Element) सबसे अधिक महत्वपूर्ण है; इस बात की आवश्यकता श्रमिकों की शारीरिक उन्नति के लिये होती है। श्रम-मन्त्री ने ठीक ही कहा था कि समाज के लिये एक उद्योग आवश्यक है; परन्तु यह न्यूनतम भृतियाँ भी अदा नहीं कर सकता, तो यह सरकार का कर्त्तव्य हो जाता है कि इसे ठीक करें; और किसी भी दशा में किसी उद्योग को श्रमिक-श्रेणी (Working Class) के शोषण की इजाजत नहीं देनी चाहिये।

इस बात में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि भारत के समान एक देश में, जिसमें भृतियों का स्तर एक सा ही है जोकि श्रमिकों के शारीरिक अस्तित्व के लिये उचित नहीं समझा जा सकता और जहाँ श्रम-सगठन अभी बाल्यावस्था में ही है, न्यूनतम भृतियों के विषय में कोई विधान श्रमिकों की दशाओं को सुधारने का एक अच्छा तरीका होगा जो चीजों के बदलते हुए मूल्य के अनुसार भृतियों को भी ठीक करता रहेगा। न्यूनतम भृति का सबसे बड़ा खतरा यह है कि यह न्यूनतम भृति स्थान-स्थान पर रहन-सहन की खर्चे और अन्य प्रभाव डालने वाले साधनों की आवश्यकता के अनुसार बदलती रहेगी।

न्यूनतम भृति के विधान को खेतों पर काम करने वाले मजदूरों के विषय में लागू करना और भी कठिन होगा। अधिकतर नियोक्ता लोग छोटी छोटी सम्पत्तियों, खेत आदि के स्वामी होते हैं जोकि सारे देश में इधर-उधर फैले हुए हैं। श्रमिक लोग इससे अधिक इधर उधर बिखरे हुए हैं और असंगठित हैं जिससे किसी भी निरीक्षक अधिकारी (Inspecting Authority) के द्वारा उनकी ठीक ठाक गिनती नहीं हो सकती। खेती की पैदावार की राशि भी इतनी भिन्न-भिन्न होती है और उसके भुगतान भी इतने भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं कि एक दर नियत करना बहुत ही कठिन हो जायगा। इसके अतिरिक्त, जब तक भृतियाँ जमीदारों को चुकाये जाने वाले लगानों के अनुकूल ठीक नहीं की जातीं और खेती की पैदावार की उचित कीमत दर का विश्वास नहीं दिलाया जाता, तब तक यह तरीका छोटे-छोटे नियोक्ताओं की एक बहुत बड़ी संख्या के लिये अनुचित होगा। इसलिये यह आवश्यक है कि भृतियाँ नियत करने और उन्हीं के अनुसार दरें नियत करने के दृष्टिकोण से हर प्रान्त को भिन्न भिन्न क्षेत्रों में बाँट दिया जाय।

न्यूनतम भृतियों के लिये कोई आधार निश्चित करना एक दूसरी महत्वपूर्ण समस्या है। न्यूनतम भृतियाँ तीन मुख्य सिद्धान्तों से निश्चित की जा सकती हैं, 'जीवित भृति' का यह सिद्धान्त, 'अच्छी भृति' का सिद्धान्त और भृति का यह सिद्धान्त कि व्यापार क्या सहन कर सकता है।' यह बात नोट की जा सकती है कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, कनाडा, न्यूजीलैण्ड और आस्ट्रेलिया में भृतियों के नियम और उनके लागू करने की क्रिया ज्यादातर 'जीवित भृति' के सिद्धान्त पर आधारित है जिसे अभी कांग्रेस के आर्थिक प्रोग्राम और नीति विषयक नेहरू कमेटी ड्राफ्ट रिपोर्ट ने भी निर्दिष्ट किया है। ये सब सिद्धान्त अच्छी न्यूनतम भृति के निर्णय करने में सहायक होने चाहियें जोकि वास्तविक हों—केवल नाम मात्र के नहीं और जो भविष्य में भारतीय भृतियों के ढाँचे के आधार सिद्ध हों।

अच्छी भृतियाँ (Fair wages) फेअर वेजेज बिल जो पार्लियामेण्ट में रक्खा गया है, उसमें औद्योगिक श्रम के लिये अच्छी भृतियाँ सम्बन्धी सिद्धान्त हैं, जो उस फेअर वेजेज कमेटी की रिपोर्ट में रक्खे गये थे, जो त्रिदलीय श्रम सम्मेलन (Tripartite Conference of Labour), नियोक्ताओं और सरकार के द्वारा नियुक्त किया गया था। उस ड्राफ्ट बिल के अनुसार अच्छी भृति की परिभाषा इस प्रकार दी गई है, यह "न्यूनतम भृति से कुछ अधिक होती है लेकिन जीवित-भृति से कम होती है।"[1] इसका मतलब यह लगाया जाता है कि एक अच्छी-भृति वह होगी जो श्रमिकों की आवश्यकताओं को बनायेगी, जैसे—भोजन, घर और शिक्षा की आवश्यकता,

---

१—'Something more than the minimum, but less than a living wage'

जबकि उसे उचित रूप से आराम (Comfort) भी देगी। दूसरी ओर एक जीवित भृति, उस रहन-सहन के स्तर का प्रतिनिधित्व करता है, जो केवल शारीरिक पोषण के लिये ही नियोजन नहीं करती, अपितु स्वास्थ्य और सुशालना, औषधि आदि सम्बन्धी सुविधाएं और बड़ी दुर्घटनाओं से बचाव का विश्वास; इन सबके लिये भी नियोजन करती है। जबकि न्यूनतम-भृति से यह आशा की जाती है कि यह जीवन की आवश्यकताओं के अतिरिक्त श्रमिकों की कार्यक्षमता स्थिर रखने के लिये भी नियोजन करेगी, जिसके अनुसार समुचित शिक्षा, शारीरिक-आवश्यकताएं (Medical requirements) और सामान्य निर्वाह (General Maintenance) के लिये भी काफी सुविधाएं होंगी। जबकि कमेटी के अनुसार अच्छी भृति की नीची सीमा, स्पष्ट रूप से न्यूनतम भृति है, यदि उपरी सीमा, स्पष्ट रूप से, उद्योग की भुगतान करने की सामर्थ्य हो।

अच्छी भृतियों का नियत करना इन बातों पर निर्भर होता है —(a) श्रम की उत्पादकता, (b) भृतियों की वर्तमान दरें (c) राष्ट्रीय आय का तल (Level) और (d) देश की अर्थ-व्यवस्था में उद्योग का स्थान। इसको निर्माण करने का अधिकारी वह बोर्ड होगा, जोकि इस बिल के अनुसार बनाया जायगा। किसी नियत की हुई भृतियों की अच्छी दर में ये बातें हो सकती हैं भृतियों की आधारिक दर (Basic rate) और ऐसे समय में और ऐसे तरीके से, जिसे सरकार निर्दिष्ट करे, रहन-सहन के खर्चे की दर। पूर्ण-समय-कार्य (Time work), आंशिक-कार्य (Piece work) और अतिरिक्त-समय कार्य (Over-time work) के लिये और संस्थाओं की विभिन्न श्रेणियों के लिए, एक ही संस्था में कर्मचारियों की विभिन्न श्रेणियों के लिये, विभिन्न स्थानीय क्षेत्रों के लिये और विभिन्न काल अवधियों (Periods) के लिये भिन्न-भिन्न दर नियत की जा सकती हैं। कर्मचारियों की भृतियों की दरें नियत करने में बोर्ड निम्नलिखित बातों पर विचार कर सकता है —

१ कार्य करने के लिये आवश्यक कुशलता की मात्रा।
२. कार्य में लगाई गई शक्ति और परिश्रम।
३ कार्य करने के लिये आवश्यक प्रशिक्षण (Training) और अनुभव,
४. उत्तरदायित्व जो लिया जायगा,
५. कार्य करने के लिये मानसिक और शारीरिक आवश्यकताएं,
६. कार्य करने की असमर्थताएं या अन्य कठिनाइयाँ; और
७. कार्य का बड़ा अनुचर (Hazard attendant)।

सामाजिक बीमा (Social Insurance) सामाजिक-बीमा या सामाजिक-सुरक्षा से मतलब, सदैव में उस दशा से है जो अपने सब नागरिकों के रहन-सहन के न्यूनतम स्तर के लिये उत्तरदायी हो और यह स्तर इस आधार पर हो कि

यह जन्म से मृत्यु पर्यन्त, किसी व्यक्ति के जीवन की सब मुख्य घटनाओं (Contingencies) से अच्छी प्रकार सम्बन्धित हो। इसमें उस समय की सुरक्षा (Security) या प्रतिभूति भी शामिल होती है जबकि एक आदमी काम पर लगा हो या बेकार हो या विस्थापित हो।

१९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, विशेष रूप से जर्मनी में, राज्य के बढ़े हुए कार्यों के विषय में एक ध्यान देने योग्य शिक्षा मिली। गत शताब्दी में जर्मनी में सामाजिक बीमे का जन्म हुआ, जिसके अनुसार बीमारी दुर्घटनाओं बुढ़ापे और दुर्बलता का अनिवार्य बीमा होने लगा। डनमार्क और ब्रिटेन ने भी इसका अनुकरण किया। इङ्गलैंड में सन् १९०९ में वृद्धावस्था वृत्ति विधान (Old Age Pensions Act) पास हुआ जिसके बाद स्वास्थ्य-बीमा विधान १९११ २४ (Health-Insurance Act 1911 24), बेकारी-बीमा-विधान १९२०-३४ (Unemployment Insurance Act 1920 34) विधवा, अनाथ, वृद्धावस्था और वृत्ति विधान १९२५-३२ (Widows', Orphans, Old Age and Pensions Act 1925 32) बनाये गये जोकि स्वास्थ्य हानि के विरुद्ध बीमों के लिए थे। इस प्रकार वृद्धावस्था वृत्तियों स्वास्थ्य और बेकारी के बीमा शिक्षा, अस्पताल, प्रसूतिका सम्बन्धी सुविधाएं और बच्चों की समृद्धि (Welfare) के रूप में, वृत्तियों के साथ जो आर्थिक सहायता दी जाती है, उसमें राज्य की कार्यवाही और Laissez faire के सिद्धान्त के अपयश के उदाहरण देखे जा सकते हैं।

इङ्गलैंड में इस पद्धति के विकास के लिए एक नया कदम उठाया गया है—वह है बीवरिज योजना (Beveridge Plan) को शुरू करना। यह सामाजिक बीमे का एक पूर्ण योजना है। इसमें प्रसूति सुविधाओं से लेकर शव सत्कार की सहायता तक का, सारी जनता के लिए नियोजन है। यह नई योजना पहले असन्तोषजनक गन्दे काम के स्थान पर एक आगे बढ़ने वाला कदम है। यह सामाजिक न्यूनतम (Social Minimum) के आधार पर सभी बड़ी बड़ी सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध उचित नियोजन करती है। बीवरिज योजना, समाज के हर मनुष्य स्त्री और बच्चे के लिए, आमदनी की सुरक्षा के लिए एक योजना है राज्य की देखभाल में केवल एक ही पूर्ण अंश दाय प्रथा (System of Contribution) से जीवन की सभी घटनाओं और बचपन, जन्म, शादी, बुढ़ापा मृत्यु, बेकारी, दुर्घटना और बीमारी सम्बन्धित हैं। इस योजना के अनुसार हर एक अदा करता है और हर एक प्राप्त करता है। संक्षेप में एक मनुष्य और उसके परिवार का उन सब घटनाओं (Eventualities) के विषय में बीमा होता है जिनसे या तो कमाई में कोई बाधा पड़ती है या जिनसे खर्चे में कोई अपवाद जनक वृद्धि होती है। एक उन्नतिशील सरकार सामाजिक सुरक्षा का नियोजन करने के लिए क्या कर सकती है—एक उदाहरण के रूप में इस पूर्ण योजना का अध्ययन किया जा रहा है।

भारत में सामाजिक बीमा
Social Insurance in India

भारत में सामाजिक-बीमा या सामाजिक-सुरक्षा की कोई पूर्ण प्रथा नहीं है। लेकिन दो धाराओं में—औद्योगिक दुर्घटनाओं और प्रसूति में—औद्योगिक श्रमिकों को सुविधा देने के लिए सन् १६२३ और १६२६ में क्रमश: ये वैधानिक नियोजन किये गये थे। दूसरा नियोजन शुरू में केवल बम्बई प्रान्त में किया गया था और अगले वर्षों में विभिन्न प्रान्तों में इसका क्षेत्र काफी बढ़ा। अभी सन् १६४८ में भारत-सरकार ने एक राज्य-बीमा-योजना (State-Insurance-Scheme) प्रारम्भ की है; जोकि सामाजिक सुरक्षा प्राप्त करने के लिये पहला कदम है। कर्मचारी-राजकीय-बीमा-विधान १६४८ (जो इस योजना पर अधिकार रखता है) कर्मचारियों को इन अवस्थाओं में कुछ सुविधायें देने का नियोजन करता है। ये अवस्थायें हैं—बीमा किए हुए व्यक्तियों की बीमारी और प्रसूति की दशा, नौकरी का काम करते समय चोट लग जाना और उनकी चिकित्सा-सम्बन्धी सहायता व देखभाल।

यह विधान भारत के सब राज्यों पर लागू होता है; यह सबसे पहले उन कर्मचारियों पर लागू होता है, जो चाहे दस्तकार हों या नहीं, जो (मौसमी फैक्टरियों के अलावा) किसी भी ऐसी फैक्टरी में ४००) रु० से अधिक न पाते हों जिसमें २० या अधिक आदमी लगे हों और जहाँ साधारणत: निर्माण-कार्य बिजली की सहायता से होता है। यह विधान जलसेना, थलसेना या वायुसेना के किसी कर्मचारी या किसी ऐसी खान के कर्मचारी पर लागू नहीं होता, जिसपर भारतीय-खान-विधान १६२३ (Indian Mines Act 1923) लागू होता हो।

यह बीमा-योजना कर्मचारी-राजकीय-बीमा समामेलन (Employees' State Insurance Corporation) द्वारा लागू की जाती है। यह समामेलन इस विधान के अनुसार स्थापित की हुई एक संस्था है, जिसका मुख्य उद्देश्य उन सब जोखिमों को लेना है जो किसी श्रमिक की रोजी पर आघात करते हैं; जैसे—रोजी से सम्बन्धित किसी दुर्घटना या बीमारी से हुई कोई व्यक्तिगत हानि। इसके अतिरिक्त समामेलन को यह अधिकार दिया गया है कि वह, जिन लोगों का बीमा किया गया है उनके स्वास्थ्य की, उन्नति और सुख-समृद्धि के लिए कार्य करे और जिन लोगों को चोट पहुँची है या जिनको किसी प्रकार की हानि पहुँची है उनको पुनः बसाने और नियुक्त करने के लिए भी कार्य करने का अधिकार है। समामेलन में ३१ व्यक्ति होते हैं जिनमें केन्द्रीय सरकार, नियोक्ताओं, कर्मचारियों, चिकित्सकों और संसद के प्रतिनिधि भी होते हैं। समामेलन के सभापति और उप-सभापति क्रमशः सरकार के श्रम-मन्त्री और स्वास्थ्य-मन्त्री होते हैं। समामेलन के साधारण निरीक्षण, नियन्त्रण और शासन-प्रबन्ध के लिए एक तत्पर-समिति (Standing Committee) होती है,

जिसमें १३ सदस्य होते हैं जोकि चुने हुए और नामजद होते हैं। ये सदस्य समामेलन के सदस्या में से ही होते हैं। इसमें सभापति भी शामिल होता है जिसे केन्द्रीय सरकार नामजद करती है। एक मैडीकल बेनीफिट काउन्सिल भी होती है, जिसके २१ सदस्य होते हैं, जिसमें स्वास्थ्य सेवाओं का सामान्य सचालक (Director General of Health Services) सभापति होता है जो समामेलन को स्वास्थ्य लाभ और तत्सम्बन्धित मामलों में सलाह देता है।

बीमारी दुर्घटना इत्यादि की जोखिमों के विरुद्ध इसके दो साधारण पहलू होते हैं जोकि लाभों का आदान प्रदान करते हैं। कर्मचारी और नियोक्ताओं के सब अशदायों (Contributions) का एक फण्ड में भुगतान किया जाता है, जिसे कर्मचारी राजकीय-बीमा-फण्ड (Employees State Insurance Fund) कहते हैं, जिसे समामेलन रखता है और उसका प्रबन्ध करता है। जबकि इस योजना का आर्थिक उत्तरदायित्व मुख्य रूप से नियोक्ताओं और कर्मचारियों पर पड़ता है, तब राज्य खर्चे के एक भाग का इस प्रकार अशदाय करता है—पहले पाँच वर्षों के लिए प्रबन्ध के खर्चे का ⅔ भाग केन्द्रीय सरकार सहायता के रूप में देगी और राज्य सरकारें, बीमा किये हुए व्यक्तियों का शारीरिक सहायता (Medical Aid) के लिए किये गए खर्चे का एक भाग देंगी।

इस विधान के अनुसार नियोक्ताओं का भाग जो फण्ड में देंगे इस प्रकार ` । । कमचारी की औसत दैनिक भृति के अनुसार ७ आने से २॥) रु० तक प्रति कर्मचारी प्रति सप्ताह। इस प्रयोजन के लिये कमचारी अपनी औसत दैनिक भृतियों के आधार पर आठ समूहों में बाँट दिये जाते हैं। प्रधान नियोक्ता को नियोक्ता का अशदाय और कर्मचारियों का अशदाय दोनों देने पड़ते हैं जिनमें दूसरा कर्मचारियों की भृतियों में से कटौती करके दिया जाता है। सबसे कम भृतियाँ पाने वाले कर्मचारियों का समूह कोई अशदाय अदा नहीं करता, जबकि सबसे अधिक भृतियाँ पाने वाला कर्मचारियों का समूह १) रु० प्रति सप्ताह प्रति कर्मचारी के हिसाब से अदा करता है।

बीमा किये हुए व्यक्तियों और या उनके आधारितों (Dependents) के लिये विभिन्न लाभ, जो इस विधान के अनुसार मिलते हैं, सक्षेप में ये हैं —(१) बीमार का लाभ, (२) प्रसूतिका लाभ, (३) अयोग्यता लाभ (Disablement benefit), (४) आधारितों का लाभ और (५) शारीरिक लाभ। बीमारी का लाभ, अयोग्यता लाभ और आधारितों के लाभ की गणना करने के लिये (जोकि फण्ड के लिये अशदायों की गणना के प्रयोजन से किया जाता है), कर्मचारियों को आठ भृति समूहों में बाँट दिया जाता है। अशदायों के समान लाभों का माप कर्मचारियों की भृतियों से सम्बन्धित होता है जो विधान के अन्त में दी हुई तालिका १ व २ में विस्तार से दिया हुआ है। किसी बीमा लिये हुए व्यक्ति को एक ही अवधि के

लिये बीमारी का लाभ और प्रसूतिका-लाभ दोनों या बीमारी का लाभ और अस्थायी अयोग्यता लाभ दोनों या प्रसूतिका लाभ और अस्थायी अयोग्यता लाभ दोनों पाने का अधिकार नहीं है।

विधान के अनुसार कर्मचारी-बीमा-न्यायालयों (Employees' Insurance courts) की स्थापना की गई है जो ऐसे मामलों से सम्बन्धित प्रश्नों और झगड़ों का निबटारा करते हैं, जैसे—अंशदाय की दर, अंशदाय को अदा करने का दायित्व, लाभ प्राप्त करने का अधिकार, लाभ की राशि और अवधि-काल आदि, और दावों (Claims) का भी निर्णय। उनमें कानूनी प्रशिक्षण पाये हुए न्यायाधीश और व्यक्ति होंगे, जिन्हें राज्य-सरकारें नियुक्त करेंगी और ये निश्चित क्षेत्रों के लिये स्थापित किये जायगे, सिवाय उस दशा के जबकि किसी कानून के यथार्थ प्रश्न का उल्लंघन किया गया हो, किसी कर्मचारी-बीमा-न्यायालय की किसी आज्ञा के विरुद्ध या पद में कोई अपील नहीं की जा सकेगी।

भारत में श्रम विधान
(Labour legislation in India)

भारत में श्रम-विधान विशेष रूप से बीसवीं शताब्दी की उपज है। इसके पहले भी कई श्रम-विधान (Labour Acts) अस्तित्व में थे। १६ वीं शताब्दी में बनाये गये कानूनों के मुख्य लक्षण ये थे कि वे श्रमिकों की रक्षा के लिये नहीं थे, अपितु विदेशी या भारतीय नियोक्ताओं के हितों के लिये थे। पहले के आसाम-श्रम-विधान (Asam Labour Acts), कर्मचारियों का अनुबन्ध-भङ्ग-विधान १८५६ (Workmen's Breach of Contract Act 1859), नियोक्ताओं और कर्मचारियों का कलह विधान १८६०, ये सब नियोक्ताओं के हितों को विचार कर बनाये गये थे, इनके बनाने में ऐसी श्रम शक्ति (Labour force) की पूर्ति करने का दृष्टिकोण था जो नियोक्ताओं के अधीन हो। बम्बई के सूती उद्योग में जो शीघ्रता से विकास हुआ, उससे लंकाशायर चौकने लगा और भारतीय फैक्टरियों में बच्चों और स्त्रियों के श्रम के सम्बन्ध में जो दुरुपयोग किये जाते थे, वही आधार बनाये गये जिन पर भारत में लंकाशायर के हितों को बनाये रखने के लिये श्रम कानून बनाये गये। ये श्रमिकों के हितों के इरादे से नहीं बनाये गये थे अपितु भारतीय उद्योग के लाभों को रोकने के लिये बनाये गये थे और यही अन्तिम रूप में सन् १८८१ और १८९१ के फैक्टरी विधानों के रूप में उच्चतम शिखर पर पहुँच गये थे।

फैक्टरी-विधान (Factory Legislation) सन् १८८१ का विधान उन फैक्टरियों पर लागू हुआ जो बिजली की शक्ति का उपयोग करती थीं और जिनमें १०० से अधिक व्यक्ति काम करते थे। इसके अनुसार फैक्टरी में काम करने वाले बच्चों की आयु कम से कम ७ वर्ष होनी चाहिये। ७ से १२ साल तक के बच्चों के काम

के ६ घंटे नियत कर दिये गये जिसमें रोज १ घंटे का आराम का समय भी हो और माह में ४ छुट्टियाँ हों। सन् १८६१ का विधान उन फैक्टरियों तक भी लागू हो गया जिनमे ५० आदमी या इससे अधिक काम करते थे। काम करने वाले बच्चों की आयु ६ वर्ष से १४ वर्ष तक बढ़ा दी गई और उनके काम करने का समय ६ से ७ घंटे प्रतिदिन कर दिया गया। इससे स्त्रियों और बच्चों को रात में काम करने से रोक दिया गया और स्त्रियों के लिये अधिक से अधिक काम करने के ११ घंटे नियत कर दिये गये।

श्रम-आयोग (Labour-Commission) की सिफारिशों के आधार पर सन् १६११ में एक विधान पास किया गया। इससे बुनने की फैक्टरियों (Textile Factories) में मनुष्यों के दिन में काम करने के घण्टे १२ तक और बच्चों के दिन में काम करने के घंटे ६ तक सीमित कर दिए गए। कुछ विशेष दशाओं के सिवाय रात में काम की आज्ञा नहीं थी और मौसमी-फैक्टरियों पर नियन्त्रण लगा दिया गया।

सन् १६१४-१८ के महायुद्ध के सकट-काल में उत्पादन बढ़ाना और फैक्टरियों पर रोकें (Restrictions) बढ़ाना आवश्यक हो गया। विधानों को अस्थायी रूप से युद्ध के समय में हटा दिया गया। सन् १६२२ में एक दूसरा फैक्टरी-विधान पास किया गया। यह उन सब फैक्टरियों पर लागू होता था जो शक्ति का प्रयोग करती हैं और जिनमें कर्मचारियों की संख्या २० से कम न हो। सब वयस्क श्रमिकों के लिये काम के घण्टे प्रतिदिन ११ तक और एक सप्ताह में ६० तक कर दिये गये। काम करने वाले बच्चों की कम से कम आयु १२ से १५ वर्ष तक नियत कर दी गई। श्रमिकों के स्वास्थ्य और सुरक्षा, अपेक्षाकृत अच्छी सफाई और प्रभावपूर्ण निरीक्षण के लिये भी नियोजन कर दिया गया।

सन् १६३४ में इस विधान में फिर संशोधन किया गया। वयस्कों के काम के घण्टे ५४ प्रति सप्ताह या १० प्रति दिन तक सीमित कर दिये गये। यह विधान एक साप्ताहिक छुट्टी के दिन, आराम के घण्टे और १२ से १७ वर्ष तक के व्यक्तियों के लिये योग्यता (Fitness) के प्रमाण-पत्र का नियोजन करता है। यह इस बात का भी विधान करता है कि १२ से १५ वर्ष तक का कोई बालक ५ घण्टे प्रतिदिन से अधिक काम नहीं करेगा। प्रसार (Spread over) का सिद्धान्त पहली बार लागू किया गया। कृत्रिम-आर्द्रता (Artificial Humidification) के काम बढ़ाये गये और श्रमिकों की सुख समृद्धि और अतिरिक्त समय के कार्य (Overtime work) के विषय में नियोजन रक्खे गये।

भारत में श्रम-विधान के इतिहास का सीमा-चिह्न सन् १६३४ के फैक्टरी विधान का संशोधन था, जिसमें बारहमासी फैक्टरियों (Perennial Factories) के

लिए अधिक से अधिक साप्ताहिक काम के घण्टे ५४ से ४८ तक कर दिये गये और मौसमी फैक्टरियों में ६० से ५० तक कर दिए गए। प्रसार (Spread over), बारह-मासी-फैक्टरियों की दशा में १३ से १० घण्टे तक कम कर दिया गया और मौसमी फैक्टरियों की दशा में ११ घण्टे कर दिया गया। साथ ही साथ, इस संशोधन से सरकार को किसी भी उद्योग को इस नियोजन से मुक्त करने का अधिकार मिल गया। इस विधान का एक ध्यान देने योग्य लक्षण यह है कि यह बारहमासी और मौसमी दोनों प्रकार की फैक्टरियों में, अतिरिक्त-समय के कार्य के लिये भुगतान का नियोजन करता है और श्रमिकों की भृति को दूनी तक बढ़ा देता है, जिससे फैक्टरियों में अतिरिक्त समय के कार्य को प्रोत्साहन न मिले। यह विधान १ अगस्त, १९४६ से लागू हुआ। वास्तव में काम के घण्टे कम करने से उत्पादन-क्षमता (Productive Effeciency) अपेक्षाकृत अधिक बढ़ेगी।

सन् १९४८ का फैक्टरी-विधान, सन् १९३४ के फैक्टरी-विधान का स्थान ले लेता है और १ अप्रैल सन् १९४९ को लागू हुआ। यह नया विधान भारत के सब राज्यों पर लागू होता है। यह विधान किसी भी अर्थ में कोई क्रान्तिकारी कार्य (Revolutionary Measure) नहीं है, अपितु इसमें काफी महत्त्वपूर्ण संशोधन और नये नियोजन (Provisions) हैं, जिनसे इसका विशेष महत्त्व हो जाता है।

इस नये विधान से फैक्टरी नियमन (Factory Regulation) का चत्र काफी विस्तृत हो गया है। वर्त्तमान कानून केवल उन औद्योगिक संस्थाओं पर ही लागू होता था, जहाँ निर्माण-कार्य शक्ति (Power) की सहायता से चलता हो और जहाँ २० या इससे अधिक आदमी काम कर रहे हों। नया विधान उन सब फैक्टरियों पर लागू होता है जिनमें १० या अधिक श्रमिक कार्य करते हों, जहाँ शक्ति का प्रयोग होता हो और यह उन फैक्टरियों पर भी लागू होता है जिनमें २० या अधिक श्रमिक काम करते हैं, परन्तु शक्ति का उपयोग नहीं किया जाता। नए विधान ने उस भेद को भी मिटा दिया है जो पुराने विधान में बारहमासी और मौसमी फैक्टरी के बीच बना दिया गया था। सन्तोषजनक तरीके से फैक्टरियों के योजना और प्रसार-कार्य के लिए एक नियोजन बनाया गया है जिससे सम्बन्धित प्रान्तीय या राज्य-अधिकारियों द्वारा फैक्टरियों का पञ्जीयन कराना और अनुज्ञा-पत्र (Licence) प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया गया है और किसी फैक्टरी के निर्माण या विस्तार के लिए पूर्व आज्ञा (Prior Sanction) प्राप्त करना भी आवश्यक कर दिया गया है।

जहाँ तक काम के घण्टों से सम्बन्ध है, किसी वयस्क श्रमिक को किसी फैक्टरी में ४८ घंटे प्रति सप्ताह से अधिक काम करने की आज्ञा नहीं दी जायगी।

किसी भी विशेष दिन, किसी भी वयस्क श्रमिक से ६ घण्टे से अधिक काम नहीं लिया जायगा। कोई श्रमिक मध्य अवकाश (Interval) से पहले ५ घण्टे से अधिक काम नहीं करेगा। यह मध्य अवकाश आधा घण्टे से कम नहीं होगा। मध्य अवकाशों को जोड़कर किसी श्रमिक का काम करने का समय १०॥ घण्टे से अधिक नहीं होगा। अतिरिक्त समय के काम के लिए श्रमिक का उसकी साधारण भृत्ति की दर से दूनी दर पर मजदूरी मिलेगी। हर सप्ताह में एक पूरे दिन का दिन भी श्रमिकों को दिया जायगा। स्त्री श्रमिकों के विषय में विधान में यह निर्देश किया गया है कि सुबह ६ बजे से शाम के ७ बजे तक के समय के अतिरिक्त अन्य किसी समय के लिए किसी स्त्री को काम पर नहीं लगाया जायगा।

पहले के विधान ने बहुत से नियम बनाने के अधिकार राज्य सरकारों के लिए छोड़ दिये थे, परन्तु नया विधान श्रमिकों के स्वास्थ्य रक्षा और सामान्य सुख-समृद्धि के विषय में कम से कम आवश्यकताएं छोड़ता है और इस प्रकार राज्य सरकारों के अधिकारों को सीमित कर देता है। केवल कुछ ऐसी विधि (Procedure) सम्बन्धी मामलों के विषय में नियम बना सकती है जोकि अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होते। यह विधान निर्माण-संस्था (Manufacturing Establishment) के मालिक पर विधान के नियोजनों की पूर्ति का उत्तरदायित्व छोड़ता है—निरीक्षकों पर नहीं, जैसा कि पहले वर्त्तमान विधान में नियोजन किया गया था।

अन्य नियोजनों में ये बातें शामिल हैं—(१) अतिरिक्त समय (Over time) की दैनिक और चतुर्थांश (Quarterly) सीमाओं का नियत करना, एक वर्ष में १० दिन की भृत्ति सहित छुट्टियाँ, वयस्क के लिये हर २० दिन में १ दिन की छुट्टी और बच्चों के लिए हर १५ दिन में १ दिन की छुट्टी लेने का अधिकार, (२) फैक्टरियों में काम करने वाले बच्चों की कम से कम उम्र १२ से १३ साल नियत करना और उनके काम के घण्टे ५ से ४॥ करना, इसमें कड़े कार्यों (Hazardous undertakings) में अधिक ऊँची सीमा बाँध देना।

इस विधान ने यह भी नियोजन किया है कि ऐसी हरएक फैक्टरी में, जहाँ साधारणतः ५०० या अधिक कर्मचारी लगाये जाते हैं, वहाँ नियोक्ता फैक्टरी में उतने समृद्धि अधिकारी (Welfare Officers) भी नियुक्त करेगा, जितने निर्दिष्ट किये गये हों।

खान विधान (Mining Legislation) पहला खान-विधान (Mining Act) सन् १६०१ में पास किया गया था और इसमें निरीक्षकों (Inspectors) की नियुक्ति का नियोजन किया गया था। इस विधान में सन् १६२३ में संशोधन किया गया और एक साप्ताहिक आराम छुट्टी का नियोजन किया गया। जमीन के ऊपर काम करने वाले श्रमिकों के काम के घण्टे ६० प्रति सप्ताह और जमीन के नीचे काम करने

वालों के ५४ घण्टे प्रति सप्ताह नियत किये गये और १३ वर्ष से कम आयु के व्यक्तियों को काम करने की इजाज़त न देने का नियोजन किया गया। सन् १९२९ में परिस्थितियों के अनुसार, जमीन के नीचे काम करने से रोकने के नियम भी बनाये गये। फिर यह विधान सन् १९३५ में संशोधित किया गया। १५ वर्ष से कम आयु के बालकों को काम करने से रोक दिया गया। काम करने के घण्टे ५४ प्रति सप्ताह नियत कर दिये गये जमीन के ऊपर काम करने के घण्टे १० प्रति दिन और जमीन से नीचे काम करने वालों के कार्य के घण्टे ९ प्रति दिन नियत कर दिये गये। स्त्रियों का जमीन के नीचे काम न करने के विषय में जो नियोजन था वह इस दूसरे महायुद्ध के समय के लिये स्थगित कर दिया गया, लेकिन अब काफ़ी विरोध के बाद फिर लागू कर दिया गया है।

भारतीय-खान संशोधन विधान (Indian Mines Amendment Act) जो सन् १९४६ में पास किया गया। उसने केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार दिया कि वह कोयले की खानों के मालिकों से ताले-बन्द कमरों और स्नान-गृहों का निर्माण कराये, जिनमें खानों में काम करने वाले आदमियों और स्त्रियों के लिए अलग अलग स्नान करने के लिए फुहारों (Shower baths) का भी प्रबन्ध हो और उनको निर्धारित नियमों और स्तर के अनुसार रक्खा जाय। तब से भारत सरकार के द्वारा कोल-माइन्स पिट्हैड-बाथ-रूल्स का निर्माण किया गया है और उन्हें प्रकाशित किया गया है।

कोल माइन्स-प्राविडण्ट-फण्ड एण्ड बोनस स्कीम्स ऐक्ट, १९४८ ने सरकार को यह अधिकार दिया है कि वह एक प्रयोग के रूप में कोयले की खानों में पहली बार उदाहरण के रूप में इन योजनाओं को तैयार करे और फिर लागू करे। तब समय आने पर उचित संशोधनों के बाद अन्य उद्योगों में भी इनको लागू किया जाय। जब कि प्रॉविडेण्ट फण्ड की योजना अभी तक तैयारी में है, सरकार अधिलाभांश योजना में बहुत आगे बढ़ गई है। आज कोयले की खानों में ६० प्रतिशत श्रमिक आकस्मिक-श्रमिक (Casual-Labourers) हैं। इसलिये प्रॉविडन्ट-पद्धति को एकदम लागू करना कठिन है। लेकिन सरकार ने इसे लागू करने का निश्चय कर लिया है और यह सुझाव रक्खा गया था कि नियोक्ताओं को एक आना प्रति रुपया देना चाहिये जो श्रमिकों की आधारिक आमदनी के अनुसार हो और श्रमिकों को भी इसी हिसाब से उतनी ही राशि देनी चाहिये।

यातायात-विधान (Transport Legislation) रेलवे वर्कशॉप सन् १९२२ के भारतीय फैक्टरी-विधान के अधीन था; परन्तु अन्य रेलवे कर्मचारियों को किसी विधान से रक्षा नहीं होती थी। भारत सरकार ने पहले ही इस विषय में आई० एल० ओ० कन्वेंशन (I L O Convention) में संशोधन किया। सन् १९३० में

रेलवे-सशोधन विधान (Railway Amendment Act) पास किया गया जिसके अनुसार पारी के अनुसार कार्य करने के घन्टे प्रति सप्ताह ८४ तक और इसके विपरीत-कार्य के घन्टे प्रति सप्ताह ६० तक सीमित कर दिये गये और इसमें आराम और निरीक्षण के लिये भी नियोजन किये गये।

जहाँ तक समुद्रीय (Maritime) श्रम से सम्बन्ध है, इण्डियन मर्चेन्ट-शिपिंग (अमेण्डमेन्ट) ऐक्ट १९३१ में इन बातों का विधान किया है कि समुद्री सेवा में प्रवेश करने के लिये बच्चों की एक कम से कम आयु नियत है और नौजवान व्यक्तियों के लिये भी न्यूनतम आयु नियत है, जो ट्रिमर (Trimmers) और स्टाकर (Stockers) की जगहों पर काम करने के लिये भरती होंगे। यह जहाज के नष्ट हो जाने या डूब जाने की दशा में बेकारी से सुरक्षा (Unemployment Indemnity) का भी नियोजन करता है और बच्चों और नौजवान व्यक्तियों के लिये शारीरिक-योग्यता की मेडीकल परीक्षा और प्रमाण-पत्र की भी आवश्यकता होती है। समुद्री-व्यक्तियों (Sea-men) के अधिकारों की रक्षा, माल चढ़ाने और उतारने के समय होने वाली दुर्घटनाओं को रोकने के लिये डाकरों (Dockers) की सुरक्षा के विषय में भी नियोजन किये गये हैं। बच्चों के श्रम का भी नियमन किया गया है। बालक (श्रम-सुरक्षा) विधान, १९३३ (Children Pledging of Labour Act of 1933) भी बालकों की दासता के इस विशेष रूप को दूर करने के लिये पास किया गया है।

अन्य-विधान (Other Legislation) :— श्रमिकों के सामाजिक अधिकारों पर भी विचार किया गया है और वर्कमैन्स कम्पेन्सेशन ऐक्ट (Workmen's Compensation Act) सन् १९२३ में पहली बार पास किया गया था। तब से इसमें बदलती हुई दशाओं के अनुसार सशोधन होते रहे हैं। हर्जाने (Compensation) के लिये नियोजन किया गया है, जबकि किसी श्रमिक को दुर्घटना का सामना करना पड़े या उसे कोई ऐसी बीमारी हो जाय जो उसे उसके पेशे से हुई हो। केन्द्रीय-सरकार द्वारा प्रसूतिका लाभ-विधान भी पास किये गये हैं, जिससे स्त्री श्रमिकों की आवश्यक-आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। ऐसे विधान कुछ राज्य-सरकारों ने भी बनाये हैं जिनमें बम्बई और यू० पी० अग्रगण्य हैं। भृति भुगतान विधान १९३६ (Payment of Wages Act, 1936) सामाजिक-विधान का शायद सबसे अधिक कड़ा विधान है, जोकि वर्तमान वर्षों में पास किये गये हैं। यह बहुत ही स्पष्ट और विस्तृत नियमन (Regulations) रखता है। वे नियमन ये हैं—श्रमिकों पर जुर्माना करने के विषय में भृतियों में से भिन्न भिन्न प्रकार की कटौतियों के विषय में, भृतियों के भुगतान और भुगतान के समय और प्रकार के विषय में। इण्डस्ट्रियल-एम्प्लायमैण्ट (स्टैण्डिंग आर्डर्स) ऐक्ट सन् १९४६ में पास किया गया था। यह उन सब भारतीय औद्योगिक संस्थाओं पर लागू होता है, जिनमें १०० या अधिक कर्मचारी काम करते

हैं। ऐसी संस्थाओं के नियोक्ताओं के लिये, इस विधान के अनुसार, यह अनिवार्य हो जाता है कि सेवाओं (services) की उन दशाओं का विश्लेषण करें, जैसे—भृतियों की दरें, अवकाश और आम-छुट्टी की दशाएं, नौकरी से अलग करना, मुअत्तिल (suspend) करना या बरखास्त (dismiss) करना, परन्तु ऐसा बुरे आचरण आदि पर ही सम्भव हो सकेगा और आवश्यकतानुसार उनको इस प्रयोजन के लिये केन्द्रीय या राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किये हुए अधिकारी के द्वारा प्रमाणित भी कराना। इस विधान का उद्देश्य यह है कि औद्योगिक-संस्थाओं में सेवा के संदिग्ध और कुपरिभाषित (Illdefined) शब्दों (Terms) को दूर किया जाय। औद्योगिक झगड़ों के निर्णय और मध्यस्थता में इस विधान के अनुसार प्रमाणित तत्पर आज्ञाएं (Standing orders) न्याय अधिकारियों (Judicial officers) के लिये बड़ी उपयोगी होंगी।

दूकानों, भोजनालयों (Hotels) और आराम गृहों (Restaurants) इत्यादि में काम करने वाले श्रमिकों के बचाव के लिए भी विधान किया गया है। सरकारों द्वारा दूकान और व्यापारिक-संस्था-विधान (Shops and Commercial Establishment Acts). ऐसे श्रमिकों को छुटकारा दिलाने के लिए पास किये गये हैं। घण्टों के सीमित करने, आराम, आम-छुट्टियाँ इत्यादि के विषय में भी नियोजन किये गये हैं।

यहाँ उन अन्य वैधानिक कार्यों के विषय मे बतलाना आवश्यक नहीं मालूम होता; जैसे—व्यापार कला-विधान (Trade-Disputes Act), व्यापार-संघ विधान (Trade Unions Act) और प्लान्टेशन-विधान (Plantation Legislation), जिनका वर्णन और विश्लेषण उचित स्थानों पर किया जा चुका है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि वर्तमान वर्षों में श्रम-विधान की एक फसल सी पैदा हुई है। लेकिन इससे किसी को यह नहीं मान लेना चाहिए कि अब भविष्य में कुछ करने के लिये बाकी ही नहीं रहा। अब कुछ ऐसी समस्याएं शेष हैं, जिनको अब तक न तो किसी ने छुआ ही है और न हल की गई हैं। छोटी संस्थाओं (Small-Establishments) में कार्य करने की दशाएं बहुत ही असन्तोषजनक हैं और प्राय अपेक्षाकृत बड़ी संस्थाएं भी, कानून से बचने के लिए छोटी छोटी संस्थाओं के रूप में फैल जाती हैं। अभी विधान के निरीक्षण और शासन में काफी कमी है जिसके कारण गत वर्षों में बने हुए विधानों का पूर्ण लाभ नहीं उठाया जा सकता।

औद्योगिक-समृद्धि (Industrial Welfare)

औद्योगिक समृद्धि के कार्य की परिभाषा इस प्रकार दी गई थी कि यह कर्मचारियों के बौद्धिक या सामाजिक, आराम और विकास के लिये किया गया काम है, जो कि अदा की हुई भृतियों के अतिरिक्त होता है और जो किसी उद्योग की

आवश्यकता नहीं है और न कानून के अनुसार ही इसकी आवश्यकता है।''* इसके अध्ययन का सूत्र इस प्रकार बताया गया था कि यह "नौकरी (Employment) के अन्य रूपों से बिल्कुल अलग और भिन्न है। चाहे भृतियाँ कम हों, घण्टे लम्बे हों, कार्य करने की दशायें बुरी हों और नौकरी (Employment) का पट्टा (Tenure) सुरक्षित न हो, लेकिन यदि संस्था इन बुराइयों को दूर करने से पहले एक अच्छे भोजनगृह (Lunch Room), स्नान गृहों और अन्य सुविधाजनक वस्तुओं का प्रबन्ध कर देती है, तो इन सब बातों को समृद्धि के कार्यों में ही गिना जायगा।" आजकल यह दृष्टिकोण नहीं है और आज समृद्धि के कार्य में सुहावनी वस्तुओं का नियोजन और श्रमिकों के लिए फैक्टरी के भीतर और बाहर दोनों जगह सुविधायें शामिल की जाती हैं। केवल यही नहीं, वर्तमान समय में समृद्धि कार्य का मतलब श्रमिकों के स्वास्थ्य सुधारने, सुरक्षा, साधारण खुशहाली और औद्योगिक-क्षमता, फैक्टरी विधान के द्वारा निर्दिष्ट किये हुए न्यूनतम स्तर से ऊँची बढ़ान या किसी श्रम-संगठन की माँग से भी अधिक ऊँचा स्तर बढ़ाना आदि कामों से है। इस प्रकार इस पारिभाषिक शब्द की व्याख्या की जा सकती है कि यह नियोक्ताओं की वे ऐच्छिक (Voluntary) कियाएं हैं, जिनसे वे अपने आदमियों के लिये फैक्टरी के अन्दर अच्छी दशाएं पैदा करते हैं और फैक्टरी के बाहर भी मनोरंजन और जीवन की अन्य सुख-सामग्रियाँ देने की सुविधाएं देते हैं जिनसे उनकी खुशहाली या अमन-चैन बढ़ता है।" ऐच्छिक क्रियाओं पर अधिक जोर दिया गया है, विधान को तो केवल परिनियत-समृद्धि (Statutory Welfare) मिलती है।

यह बात माननी पड़ेगी कि परिनियत (Statutory) और ऐच्छिक (Voluntary) समृद्धि में घनिष्ठ सम्बन्ध है। पहली का सूत्र तो आवश्यक रूप से सीमित है और कुछ विशेष आवश्यकताओं से ही सम्बन्धित है जोकि पेशे की प्रकृति के अनुसार आवश्यक है जबकि दूसरी श्रमिकों की सामान्य समृद्धि से सम्बन्धित है। कानून केवल न्यूनतम स्तर (Minimum standards) बना सकता है, लेकिन भलीभाँति विचार कर बनाया हुआ विधान ऐच्छिक कार्य को प्रोत्साहन देता है और अच्छे नियोक्ताओं द्वारा बनाये गये एक ऊँचे स्तर से भावी विधान में उनको शामिल करने की सम्भावना हो जाती है।

समृद्धि-कार्य एक आधुनिक विचार धारा है, जो पहले विश्व युद्ध के बाद गहरी जड़ पकड़ गया है। औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) ने पूर्ण रूप से श्रमिक और स्वामी के सम्बन्ध को बदल दिया है। उनके बीच में इस अनुबन्ध

* "It is any thing for the comfort and improvement intellectual or social, of the employees over and above wages paid, which is not a necessity of industry nor required by law."

के सिवाय और कोई अनुबन्ध (Contract) शेष नहीं रहा कि "नगे स्वार्थ का सम्बन्ध और कठोर नकद भुगतान" (The nexus of naked self interest and collous cash payment) जैसे-जैसे व्यापार का विस्तार बढ़ता गया, नियोक्ता और श्रमिकों का परस्पर व्यक्तिगत सम्पर्क धीमे धीमे कम होता गया। इस स्थायी प्रभाव के न रहने पर नियोक्ता और श्रमिकों के सम्बन्धों में कटुता हो गई, क्योंकि श्रमिकों की शिकायतें सुनी नहीं गई, उनकी व्यथायें दूर नहीं की गई और अन्त में प्रत्यक्ष-कार्य (Direct Action) की शरण लेनी पड़ी। श्रम और पूँजी के बीच बढ़ती हुई खेंचातानी और संघर्ष जनमति का दबाव, सामाजिक न्याय की भावना, ने सन प्रतिक्रिया करने के लिए बाध्य करते हैं। युद्ध के समय तक तो, इसके कारण, श्रमिकों की अज्ञानता और उदासीनता, नियोक्ताओं की अदूरदर्शिता, राज्य की ओर से उपेक्षा और जनता की ओर से अभिन्नता समझे जाते थे। युद्ध ने अपनी सब प्रतिक्रियात्मक परिस्थितियों के साथ-साथ श्रमिकों का इन समस्याओं को एक नया दृष्टिकोण दिया। हर एक के लिए यह स्पष्ट हो गया कि वह औद्योगिक जीवन के विषय में गम्भीरता से सोचे कि श्रमिकों के स्वास्थ्य और उनकी जीवनी शक्तियों को बनाए रखने के लिए, उनकी मानसिक चेतना को सुधारने के लिए, उनके व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए और उनमें ठोस नागरिकता की सामर्थ्य बढ़ाने के लिए प्रयत्न किए जाने चाहिए। इन समस्याओं के सुलझाने के दृष्टिकोण से और उद्योग में मानवता का सम्पर्क स्थिर रखने के लिए, समृद्धि-कार्य (Welfare work) आवश्यक है।

भारत में समृद्धि-कार्य की आवश्यकता अपेक्षाकृत अधिक है। भारतीय-श्रम प्रवासी (Migratory) है और बहुत अक्षम (Ineffecient) एक स्थायी और सन्तोषजनक श्रम शक्ति प्राप्त करने के लिए श्रम-परिवर्तन (Turnover) को कम करने के लिए दशाओं में सुधार होना चाहिए और समृद्धि-कार्य के द्वारा बहुत कुछ किया जा सकता है। यदि भारतीय श्रमिक को बढ़ी हुई भृतियों के रूप में कोई लाभ दिया जाता है, तो इससे उसकी कार्यक्षमता में इच्छित परिवर्तन नहीं हो सकता। वह उतना ही अधिक जुआ खेल सकता है, शराब पी सकता है और फिजूल खर्चा कर सकता है। यदि दूसरी ओर समृद्धि-कार्य से उसकी दशा सुधारी जाती है, तो उसकी कार्य-क्षमता अवश्य बढ़ेगी। वह आत्म-सुधार की आवश्यकता का अनुभव करेगा और तब इसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करेगा। हमारे देश में सुसंगठित व्यापार संघ, जो श्रमिकों के हितों की देखभाल कर सकते थे—कम हैं या उनका अभाव है। इससे भारत में समृद्धि-कार्य की और भी अधिक आवश्यकता है।

व्यापार और औद्योगिक संस्थाओं में समृद्धि-कार्य काम करने की दशाओं का वह संगठन है जिसे किसी संस्था से सम्बन्धित प्रबन्धक करते हैं और जो ऐसे

आधारों पर किया जाता है जो हरएक श्रमिक को मान्य हों और उनके लिए इन बातों का नियोजन करें—(a) शारीरिक आराम और खुशहाली, (b) अपने काम और योग्यताओं का उपयोग करने के लिए पूरे अवसर, और (c) उनकी सामर्थ्यों (Faculties) को विकसित करने के साधन। इसका उद्देश्य यह होता है कि व्यक्तियों का नागरिक और उत्पादक दोनों की हैसियत से अपना काम पूरा करने में सहायता मिले, जोकि समाज और व्यापार विशेष जिससे कि वह सम्बन्धित है—दोनों के हितों में ठीक हो। यह नियोक्ता और कर्मचारियों में अपेक्षाकृत अधिक अच्छी सद्भावनाएं बढ़ाता है जोकि न्याय व्यवहार और पारस्परिक-सहकारिता पर निर्भर होती हैं।

संक्षेप में इसके उद्देश्य ये हैं (a) मानवता का उद्देश्य—इसका प्रयोजन श्रमिकों को अपेक्षाकृत अधिक धनवान और पूर्ण जीवन की सुविधाएं प्राप्त करने के योग्य बनाना है, (b) कुछ अंश में आर्थिक उद्देश्य—श्रमिक की कार्यक्षमता बढ़ाना, जहाँ श्रमिकों का अभाव रहता है वहाँ उनकी पूर्ति करना, श्रमिकों की अपेक्षाकृत अधिक अच्छी श्रेणी प्राप्त करना और उनको संतुष्ट रखना जिससे उनमें प्रत्यक्ष कार्य की शरण लेने की प्रेरणा कम हो, ये सब बातें इस उद्देश्य में निहित होती हैं, और (c) अंशरूप में नागरिक उद्देश्य इसका उद्देश्य होता है—श्रमिकों में उत्तरदायित्व और आत्म-मर्यादा की भावना विकसित करना और इस प्रकार उनको स्वतन्त्र मस्तिष्क वाले और उपयोगी नागरिक बनाने के लिये रास्ता साफ करना जोकि उनको उचित मनोरंजन, तान्त्रिक और शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएं देने से हो सकता है।

एक बात पर जोर देना चाहिये कि केवल दया या मानव-प्रेम की भावना से कोई कदम नहीं उठाना चाहिये। ऐसे कामों को व्यापार संघ सन्देह और यहाँ तक कि विरोध की दृष्टि से भी देखते हैं। इस प्रकार की सामन्तशाही दया का आत्मसम्मान रखने वाले श्रमिक विरोध करते हैं। जिस चीज की आवश्यकता है वह यह है कि सक्षम संगठन और प्रबन्ध की ओर से समृद्धि-कार्य की व्यवस्था होनी चाहिये जिसमें श्रमिकों की आवश्यकताओं और समस्याओं को उचित चिन्ता की जाती है और काफी ध्यान दिया जाता है। इस कार्य से नियोक्ताओं को मनोवृत्ति बदलनी चाहिये। उन्हें श्रमिकों की कार्य-क्षमता बढ़ाने के दृष्टिकोण से उनकी माँगों को स्वीकार करना चाहिये।

समृद्धि कार्य रोजगार-विभाग (Employment Department) द्वारा किया जा सकता है या बड़ी-बड़ी संस्थाएं एक समिति के द्वारा भी यह काम कर सकती हैं, जिसमें प्रबन्धक और श्रमिक दोनों का प्रतिनिधित्व हो। ऐसी कोई योजना नहीं बनाई जा सकती जो सब कार्यों के लिए एक समान ही ठीक-ठीक लागू हो जाय। हर संस्था के सामने उसकी अपनी निजी समस्याएं होती हैं जिनके हल करने के लिए यथोचित नीति अपनानी चाहिए, जिससे संस्था की लघुता या महानता, आवश्यकताओं और

साधनों पर विचार करके कोई हल निकाला जा सके। इस योजना की सफलता के लिए यह विशेष रूप से आवश्यक है कि योजना सभी पक्षों के सहयोग से ही क्रियान्वित हो सकेगा। वे पक्ष हैं—प्रबन्धक, कर्मचारी, फोरमैन (Foremen) और अन्य कार्यकारिणियाँ (Executives)। इन सबका प्रयोजन एक होगा; इनमें आपस में पूरी एकता होगी और उनमें यह भावना होनी चाहिए कि उनका अपने साथी कार्यकर्ताओं और विस्तृत रूप में सारे समाज के प्रति एक पवित्र कर्त्तव्य या धर्म है, जिसे उन्हें करना चाहिए। एक बार बनाई हुई योजनाएं श्रमिकों को साथ देनी चाहिए और उनसे उनका इच्छापूर्ण सहयोग मांगना चाहिए और उस कार्य के लिए उनके हित का ध्यान रखने की भी आवश्यकता है। प्रबन्धकों को एक बड़ी रूप रेखा पर अपनी नीति बनानी चाहिए, उनका ओर से अधिक हस्तक्षेप करने से श्रमिकों के हितों पर आघात पहुँचता है और फलत बहुत सी योजनाएं असफल हो जाती हैं।

समृद्धि कार्य में क्या-क्या क्रियाएं शामिल होनी चाहिए ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका निर्णय, उद्योग की प्रकृति और उसकी स्थिति, कार्य की छोटाई या बड़ाई, कार्य का प्रकार और सगठन की पद्धति—इन सब बातों पर विचार करके होनी चाहिए। मोटे तौर पर, समृद्धि-कार्य को हम दो श्रेणियों में बाँट सकते हैं, फैक्टरी के अन्दर का काम और फैक्टरी के बाहर का काम। फैक्टरी के अन्दर के काम में वे क्रियाएं शामिल हो सकती हैं जैसे भरती करने की प्रथा का फिर से सगठन, दरें नियत करना, अवकाश, तरक्की, तबादिला, बर्खास्तगी और आम-छुट्टियों के विषय में नियम, भृतियों का स्तरीकरण, उचित रोशनी, सफाई, वायु प्रवेश (Ventilation), उचित तापक्रम रखना, आराम के लिए मध्यावकाशों की व्यवस्था, समय कार्य और थकान आदि का अध्ययन, तान्त्रिक शिक्षा का नियोजन, आकस्मिक घटनाओं और शोर-गुल को रोकना और अन्य ऐसी सुविधाएं, जैसे—भोजन गृह, वस्त्र गृह (Clothes room) और शुद्धि गृह (Lavatories)। फैक्टरी से बाहर कार्य करने के विषय में ये नियोजन बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—साधारण और तान्त्रिक शिक्षा का नियोजन, सस्ते किराए और उचित घरों का नियोजन, निःशुल्क चिकित्सा सम्बन्धी सहायता, सस्ते ब्याज पर ऋण लेने की सुविधाएं और सामाजिक बीमा, और मित व्ययिता की योजनाएं। श्रमिकों को ये सुविधाएँ भी दी जा सकती हैं—श्रमिकों की शिकायतों को सुनना और उनको तुरन्त ही और उचित रीति से ठीक करना, मित्रों और सम्बन्धियों को पत्र लिखना और अपने आधारिनों को रुपया दिलाने की सुविधाएं।

भरती (Recruitment) —उन अनेक तरह की बुराइयों का पहले ही वर्णन हो चुका है जो भरती या फैक्टरियों में काम करने वालों की भरती से सम्बन्धित हैं,

और जिनका श्रमिकों की कार्य-क्षमता पर हानिपूर्ण प्रभाव पड़ता है। कार्य-क्षमता के हित में और स्थायी श्रम-बल (Labour force) प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि इन दोषों को दूर करना चाहिये। भरती एक वैज्ञानिक ढँग से होनी चाहिये। कार्यदायक (Jobber) के हटाने से श्रमिक महाजनों और अन्य चापलूसों के चंगुल में फँसने से बच जायँगे। उचित चुनाव परीक्षाएं (Selection Tests) होनी चाहिए और जो लोग पहले कहीं और जगह काम करते हों, उनसे उनके पूर्व नियोक्ताओं के प्रमाण पत्र मँगाने चाहियें। सम्बन्धियों के प्रति पक्षपात को दूर करना चाहिये और स्वल गुण (Merit) को ही मुख्य मानना चाहिये। चुनाव के बाद श्रमिक को उसके काम की प्रकृति और उसके कर्त्तव्यों से पूरी तरह परिचित कराना चाहिये। उसे फैक्टरी में चारों तरफ घुमाया जा सकता है, उसके साथी कर्मचारियों और अधिकारियों से उसका परिचय कराया जा सकता है जिनके साथ या जिनके नीचे उसे काम करना है। नियुक्त करते समय हर श्रमिक को फैक्टरी अनुशासन और दैनिक कार्य के विषय में नियम समझा देने चाहियें, और यदि सम्भव हो सके तो उनकी एक छपी हुई नकल उन्हें दे देनी चाहिए। सामान्य छुट्टियों, सवेतन या वेतन-रहित अवकाश, तरक्की, तबादिला, बर्खास्तगी इत्यादि के विषय में उचित व्यवस्था और नियम होने चाहियें। जुमाने या भृतिया में कटौती को हतोत्साहित करना चाहिये। हर कर्मचारी के कार्य के उचित हिसाब (Records) रखने चाहियें और संस्था में जैसे-जैसे वे उन्नति करें उसी प्रकार उन्हें अधिक से अधिक सुविधाएं देनी चाहिये। तरक्की करने या बर्खास्त करने के प्रश्न पर सामयिक परीक्षाओं (Periodical Tests) की व्यवस्था करनी चाहिये। श्रमिकों को इस बात का विश्वास दिलाना चाहिये कि कोई अनुचित बर्खास्तगी नहीं होगी। रोजगार की सुरक्षा श्रमिक सम्बन्ध बनाने या बनाये रखने के लिये बड़ा महत्त्वपूर्ण साधन है। जन नियुक्ति-विनिमयों (Public Employment Exchanges) की भी स्थापना करनी चाहिये। इससे काम की खोज में घूमने वाले निरुद्देश्य लोगों को काम मिल सकेगा और बेकारी कम होगी।

स्वच्छता और वायु-प्रवेश इत्यादि (Cleanliness and Ventilation etc.)—फैक्टरी में स्वच्छता और सौष्ठव (Tidiness) और स्वास्थ्यकर दशाओं को बनाये रखने की बड़ी आवश्यकता है। समय समय पर फैक्टरियों की सफेदी होनी चाहिये। रोशनी का प्रबन्ध इतनी सावधानी से होना चाहिये जिससे कि श्रमिकों को आवश्यकता के अनुसार उनके अनुकूल उन्हें रोशनी मिल सके। धुँधली, चकाचौंध करनेवाली और तेज रोशनी से काम करने में बाधा पड़ती है, सिर में दर्द हो सकता है, श्रमिकों की आँखों को हानिकर सिद्ध हो सकती है और आकस्मिक दुर्घटनाएं भी हो सकती हैं। फैक्टरी और कारखाने में उचित रूप से बाहर से आने वाले प्रकाश का प्रबन्ध होना चाहिये। तापक्रम भी उचित तल पर रखना

चाहिये, जिसमें श्रमिकों को आराम मिले और वे खुश रहे। टैक्सटाइल मिलों में आर्द्रीकरण की योजनाओं (Humidification Schemes) पर बुद्धिमानी से विचार करना चाहिये और तब उचित रीति से उन पर अमल करना चाहिये, जिससे श्रमिकों को कोई असुविधा हानि या परेशानी न हो यदि हो भी तो कम से कम।

स्नान और श्रृङ्गार सुविधाएं इत्यादि (Bath and Toilet Facilities etc.) —भारतीय जलवायु में स्नान करना नितान्त आवश्यक है। इसलिये इस विषय में नियोक्ताओं के द्वारा यदि कोई सुविधा दी जाती है तो श्रमिक उसकी बड़ी सराहना करते हैं। इस विषय से सम्बन्धित दशाएं भारतीय फैक्टरियों में बड़ी असन्तोषजनक हैं। स्नान-गृह, धोने की सुविधाओं और शुद्धि-गृहों (Lavatories) का नियोजन होना चाहिये। ताजा पीने का पानी काफी मात्रा में उपलब्ध होना चाहिये। इस सम्बन्ध में भोजन-गृह, और वस्त्र गृह अन्य विषय हैं ऐसे साफ-सुथरे स्थान होने चाहियें जहाँ श्रमिक मध्यावकाश के समय खाना खा सकें और आराम कर सकें। जब श्रमिकों को सस्ते दामों पर भोजन या नाश्ता मिलेगा और जो वे अपने साथियों के साथ खा सकेंगे, तो उनमें अपने साथियों के प्रति मेलजोल आदि की अच्छी भावनाएं पैदा होंगी और इससे उनके मस्तिष्क और शरीर को तसल्ली या छुटकारा मिलेगा। यदि सम्भव हो सके तो सस्ती चाय की दुकानें और आराम-घरों (Restaurants) की व्यवस्था होनी चाहिये, जहाँ श्रमिक थोड़े ही खर्च में जलपान, नाश्ता आदि कर सकें।

शिशु-शालाओं की स्थापना (Establishment of Creches).—शिशु-शाला एक ऐसी संस्था है जहाँ स्त्री-श्रमिकों के बच्चों की देख-भाल होती है जब तक कि वे काम पर लगी होती हैं। बच्चों की देखभाल के लिये प्रशिक्षित-उपचारिका (Trained Nurse) रखनी चाहिये। यहाँ गन्दी हवा खतरनाक गन्ध और दुर्घटनाओं से बच्चों की हिफाजत की जाती है; यदि उन्हें उनकी माताओं के साथ मशीनों के पास रक्खा जाय तो वे उनके शिकार बन सकते हैं। स्त्री-श्रमिकों को अधिक संख्या में काम पर लगाने वाली संस्थाओं में इन सुविधाओं का नियोजन होना चाहिए: क्योंकि उपर्युक्त बातों का प्रत्यक्ष और बहुत बड़ा असर पड़ता है। यह कहते हुए दुःख होता है कि इस विषय में हमारे देश की दशाएं, विशेष रूप से बंगाल में, बहुत सी असन्तोषजनक हैं; यद्यपि बम्बई और अहमदाबाद के कुछ नियोक्ताओं ने वास्तव में अच्छा काम किया है।

दुर्घटनाओं की रोक (Prevention of Accidents) —सभी व्यक्ति आत्म-रक्षा के विषय में सबसे पहले सोचते हैं। इसलिये यह बात देखनी चाहिये कि श्रमिकों को कोई खतरा तो नहीं है। खतरनाक मशीनरी को उचित रीति से प्रयोग में लाना चाहिये। मशीनों में सुरक्षा का अच्छा प्रबन्ध होना चाहिये, जैसे—ऊपर घुमाने

वालों का प्रबन्ध, और जहाँ आवश्यक हो, श्रमिकों को ऐसे कपडे देने चाहिए जिनसे बचाव ही सके। यदि आवश्यक हो तो विज्ञापन-चित्रों और चार्टों द्वारा अज्ञान और अनुभवहीन श्रमिकों को सुरक्षा सम्बन्धी बातें सिखानी चाहियें। सुरक्षा सहायता पात्र (Safety Aid Boxes) तैयार रखने चाहियें और आकस्मिक दुर्घटनाओं के लिये प्रशिक्षित डॉक्टर नियुक्त करने चाहियें।

युद्ध के समय में, यदि श्रमिक ऐसे स्थानों में हो जहाँ शत्रुओं के आक्रमण या किसी कार्यवाही की सम्भावना हो, तो उनकी सुरक्षा के लिये उचित प्रबन्ध करना चाहिए। बमों (Bombs) से बचने के लिये सुरक्षित स्थान बनवाने चाहियें जो काफी संख्या में हों। श्रमिकों को हवाई आक्रमण के समय अपने बचाव के लिये काफी अभ्यास कराना चाहिए, काम करने की गति और उससे आने वाली थकान का ध्यान रखना चाहिए और उचित मध्यावकाशों का प्रबन्ध होना चाहिये जिनमें वे विश्राम ले सकें। काम करने के घण्टे अनुचित रूप से लम्बे नहीं होने चाहिए। ऐसे अतिरिक्त कार्य को बन्द कर देना चाहिये जिससे बहुत थकान या शारीरिक अथवा मानसिक बेचैनी पैदा हो, जिससे कि कोई बीमारी पैदा हो जाय। इस बात की बहुत आवश्यकता है कि उचित शिफ्ट पद्धतियों (Shift Systems) की व्यवस्था की जाय। रात्रि कार्य को हतोत्साहित किया जाय जब तक कि यह अति आवश्यक न हो।

शिक्षा (Education) —शिक्षा का प्रबन्ध करना एक सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण सेवा है जिसे नियोक्ता श्रमिकों के लिए कर सकते हैं। भारतीय श्रमिक अपनी अज्ञानता के लिए प्रसिद्ध है। इसीलिए श्रमिकों के बच्चों को भी अपने माता पिता से शिक्षा के प्रति कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता। दूसरी ओर, बच्चों को अपने परिवार की आमदनी बढ़ाने के लिए फैक्टरी में काम करने पर लगा दिया जाता है। शिक्षा सम्बन्धी सुविधाओं की पूर्ति से कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं होता लेकिन इससे श्रमिकों की कार्य-क्षमता पर बहुत बड़ा असर पड़ता है। केवल शिक्षा से श्रमिकों की तान्त्रिक क्षमता (Technical Competence) में अधिक अन्तर नहीं आता, लेकिन इससे उनकी समझ में काफी अन्तर आ जाता है। शिक्षा से केवल साधारण तान्त्रिक ज्ञान प्राप्त करने में ही सहायता नहीं मिलती, लेकिन दूसरे मामलों को भी उचित रीति से समझने में सहायता मिलती है। भारत में अधिक संख्या में हड़ताल श्रमिकों के अज्ञान और निर्णय शक्ति के अभाव के कारण होती हैं। उन्हें बाहरी लोग अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिये बड़ी सरलता से भड़का देते हैं। यदि अज्ञानता का नाश हो जाय तो नियोक्ताओं को बुद्धिमान श्रमिक मिल सकें जोकि अपने को बाहरी लोगों के निजी स्वार्थों अथवा हितों का शिकार न बनने दें। प्राय सभी बड़ी संस्थाएँ अपने श्रमिकों को, किसी न किसी प्रकार की शिक्षा के लिये सुविधायें

देता है। प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिये और निरक्षरता को बड़े पैमाने पर दूर करने के लिये वयस्क-शिक्षा का नियोजन किया जाना चाहिये। ठोस प्राथमिक शिक्षा से अवश्य ही नागरिक भावना उत्पन्न करने में सहायता मिलेगी। इससे ऐसे श्रमिक पैदा होंगे जो अपेक्षाकृत अधिक कार्यक्षम हों, जिनका जीवन के प्रति दृष्टिकोण अधिक अच्छा और आशापूर्ण होगा।

भोजन और पोषण (Food and Nutrition)—श्रमिक का भोजन, जिसे वह उपभोग करता है अधिकांश में उसकी आमदनी पर निर्भर होता है। चूँकि भृतियां कम होती हैं, इसलिये अधिकांश भारतीय मजदूरों का भोजन भी बड़ा साधारण एवं निम्न कोटि का होता है और वो अपर्याप्त भी होता है। यदि उनकी कार्यक्षमता को बनाये रखना है तो यह आवश्यक है कि उन्हें उचित प्रकार का भोजन पर्याप्त मात्रा में दिया जाय जो स्वास्थ्य और शक्ति के लिए आवश्यक है। श्रमिकों के लिए उचित भोजन सस्ते और समुचित दामों पर उपलब्ध होना चाहिये। लड़ाई के समय की बढ़ी हुई कमता से इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि अनाज कम से कम दर पर मिले। ऐसी अनाज की दूकानें खोली जा सकती हैं जिन पर केवल खर्चे के दामों पर ही माल बेचा जाय, यह कार्य सहकारी समितियों द्वारा अच्छी प्रकार किया जा सकता है। जहाँ तक सम्भव हो सके, बीच के आदमियों अथवा दलालों को उपभोक्ताओं की हजामत बनाने से रोकना चाहिये। श्रमिकों के लिए शक्कर और अन्य भोज्य पदार्थ, जैसे—शाक भाजी फल दूध आदि की पूर्ति का सस्ता प्रबन्ध करना चाहिये। राष्ट्र केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय कराें की उचित व्यवस्था करके इस कार्य में सहायता कर सकती है। वर्तमान समय में हमारी कर पद्धति (Tax System) बड़ी पिछड़ी हुई है। साधारण उपभोग की उन चीजों पर विशेषतः भारी कर लगे हुए हैं, जिन्हें गरीब लोग प्रयोग में लाते हैं, जैसे—अनाज, ईंधन, मिट्टी का तेल इत्यादि। आवास (Housing), स्वास्थ्य और स्वच्छता में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रायः भारत के सभी बड़े औद्योगिक नगरों में गृह-व्यवस्था बड़ी खराब है। कम भृति पाने वाले श्रमिक को जब अधिक ऊँची दर पर किराया देना पड़ता है तो उसे अपने अन्य खर्चों में कमी करनी पड़ती है—जैसे भोजन और पोषण का सामान आदि का खर्च। बुरे और अनुचित घरों का भी बड़ा बुरा और खतरनाक प्रभाव पड़ता है। इस समस्या को हल करने के लिये यत्र तत्र कुछ प्रयत्न किये गये थे, परन्तु वे, असफल रहे। कई स्थानों पर कुछ नियोक्ताओं द्वारा कुछ और भी प्रयत्न किये जा रहे हैं। लेकिन इन अवस्थाओं में मकान इस शर्त पर मिलते हैं कि श्रमिक किसी व्यापार-संघ से सम्बन्ध नहीं रखेगा और हड़तालों में भाग नहीं लेगा। यदि वे ऐसा करते हैं तो उन्हें बाहर निकाल दिया जाता है और संघर्ष के समय काफी श्रमिक साधारणतः बड़ी दयनीय अवस्था में पड़ जाते हैं। इसलिये प्रायः कई अवस्थाओं में श्रमिक मकानों की उस

सुविधा का लाभ नहीं उठाते जोकि नियोक्ताओं द्वारा दी जाती है। श्रमिक यह चाहते हैं कि उन्हें अच्छे मकान मिलें जो सस्ते हों और उन पर हड़ताल करने का कोई प्रतिबन्ध न हो जिससे अव्यवस्था या हड़ताल के समय उन्हें नियोक्ताओं की दया पर निर्भर न रहना पड़े और उस समय उनका माल असबाब सड़कों पर न फेंक दिया जाय। प्राइवेट जायदाद के अभिकर्त्ताओं (Agents) या कोरी योजनायें बनाने वालों अथवा कल्पना के महल बनाने वालों के भरोसे नहीं रहा जा सकता। इसका हल यह है कि मकान-निर्माण की योजना और गन्दी गलियों की सफाई पर नियोक्ताओं द्वारा अच्छी प्रकार विचार किया जाय और उस पर अमल किया जाय। यदि आवश्यकता हो तो राज्य भी इस कार्य में सहायता करे। यह बात ध्यान रखने योग्य है कि मकान शहर से बाहर बनवाये जा सकते हैं और नियोक्ता भी वहाँ श्रमिकों को सस्ते दर पर यातायात की सुविधा दे सकते हैं जिससे वे मिल तक सरलता से आ जा सकें। इस प्रकार श्रमिक शहर से बाहर अच्छी परिस्थितियों में रह सकते हैं और वहाँ उनका मकान का किराया भी अपेक्षाकृत कम होगा। नियोक्ताओं या राज्य के द्वारा श्रमिक-क्षेत्र से फैक्टरी क्षेत्रों तक आने-जाने के लिये सस्ती दर पर बस-सर्विस का प्रबन्ध किया जा सकता है।

चिकित्सा सम्बन्धी सहायता (Medical Aid)—अन्य कोई चीज श्रमिक की कार्य-क्षमता पर इतना प्रभाव नहीं डालती जितना कि उसका स्वास्थ्य। उसके स्वास्थ्य की रक्षा के लिये सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि उसके लिये डाक्टरी सहायता और दवा का प्रबन्ध होना चाहिये। श्रमिकों के पारिवारिक बजट के आँकड़ों से यह स्पष्ट मालूम होता है कि वे दवा आदि में बहुत कम खर्च करते हैं; क्योंकि उनकी खाने-पीने की आवश्यकताओं और कम आमदनी के कारण उन्हें इस विषय में अधिक खर्च करने की गुंजाइश ही नहीं होती। जो कुछ भी वे इलाज या दवाओं में खर्च करते हैं वह आजकल की दवाओं के भाव को देखते हुए बहुत ही अपर्याप्त और कम होता है। बीमारी की अवस्था में वे काम पर नहीं जा पाते, इससे उनको आर्थिक हानि भी सहन करनी पड़ती है और फैक्टरी के काम में भी हर्ज होता है। श्रमिकों और फैक्टरी की इस हानि का कोई अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता।

यद्यपि इस विषय में सुविधाएं देना बड़ा उचित मालूम पड़ता है; विशेष रूप से बड़ी-बड़ी संस्थाओं में तो ऐसा होना ही चाहिए; परन्तु अब तक भारत में इस विषय में जो प्रयत्न किये गये हैं वे बहुत थोड़े हैं, उनसे समस्या नाम-मात्र को भी हल नहीं होती। दवाखानों की स्थापना की गई है, परन्तु उनका प्रबन्ध अच्छा नहीं है। अधिकांश दवाखानों में कोई योग्यता सम्पन्न (Qualified) डॉक्टर नहीं रक्खे जाते या जहाँ कहीं डॉक्टर का प्रबन्ध है भी तो वह केवल आंशिक समय के लिये; पूरे समय के लिये नहीं। साधारणतः दवा का खर्चा नाम मात्र के लिए

बहुत थोड़ा लिया जाता है; परन्तु श्रमिकों के मुँह से इस विषय में कोई प्रशंसा या सराहना की बात नहीं सुनी जाती। ऐसा मालूम होता है कि वर्त्तमान पद्धति के मूल में कोई कमी या बुराई है। ऐसा कहा जाता है कि डॉक्टर लोग अपने काम में कोई रुचि नहीं लेते। वे श्रमिकों की सुख-समृद्धि के लिये नियुक्त नहीं किये जाते, अपितु उनका उपयोग अत्याचार और दुरुपयोग के साधन के रूप में किया जाता है। बीमारी के कारण किसी श्रमिक के लिये छुट्टी लेने से पहले यह आवश्यक होता है कि वह मिल के डॉक्टर से अपनी बीमारी का प्रमाण-पत्र ले और उसे छुट्टी लेने के लिये पेश करे, और मिल का डॉक्टर जबतक कि हालत बहुत गम्भीर या चिन्ता-जनक न हो, प्रमाण-पत्र देने से इन्कार कर देता है। ऐसे कई अनुयोग (Cases) देखने में आये हैं जहाँ डॉक्टर के प्रमाण-पत्र देने से इन्कार कर देने के उपरान्त कुछ ही घण्टों में मौतें हुई हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि डाक्टरी देख-भाल बिल्कुल मुफ्त होनी चाहिए या उसका खर्चा बिल्कुल नाम-मात्र के लिए लिया जाय। इस बात की सबसे अधिक आवश्यकता है कि पूरे समय के लिये योग्यता-सम्पन्न डॉक्टरों की नियुक्ति की जाय। डॉक्टर इतने साहसी और स्वतन्त्र चरित्र वाले होने चाहियें कि यदि उन पर श्रमिकों को परेशान करने के लिए कोई दबाव डाला जाय तो वे उसकी चिन्ता न करके अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकें। अस्पतालों की संख्या में वृद्धि होनी चाहिए और वे दवाओं, औजारों और प्रशिक्षित उपचारिकाओं से भरे-पूरे होने चाहिए। भारतीय दशाओं में अनिवार्य और सहायक रोग-बीमा योजना काफी सहायक होगी।

मनोरंजन (Recreation)- दम घोंटने वाले वातावरण के प्रभाव से बचने के लिए और दिन की थकान को दूर करने के लिए, शारीरिक और मानसिक अनुरंजन की नितान्त आवश्यकता है। इसका समृद्धि-कार्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस विषय में सवेतन सार्वजनिक छुट्टियों का होना बड़ा महत्वपूर्ण है, क्योंकि उनसे श्रमिकों को अविरत काम से छुटकारा मिलता है और उनके शरीर व दिमाग को तसल्ली मिलती है। इनडोर और आउटडोर खेलों का नियोजन होना चाहिए। व्यायाम और स्पोर्ट्स आदि की भी उचित व्यवस्था होनी चाहिए। स्वदेशी खेल-कूदों पर जोर देना चाहिए; जैसे—कबड्डी और कुश्तियाँ। खेल-कूदों, प्रदर्शिनियों, मैचों, भजन और कव्वाली मण्डलियों की भारतीय श्रमिक बड़ी सराहना करते हैं। भ्रमण, दाल बाटी प्रोग्राम आदि की भी व्यवस्था होनी चाहिए। अभिनय समिति (Dramatic Society), सामाजिक और साहित्यिक क्लबों, वाद-विवाद सभाओं, सांगीतिक मनोरंजनों आदि का भी प्रबन्ध होना चाहिए, जिससे उनका नैतिक और बौद्धिक विकास हो। स्वास्थ्य, सफाई आदि के विषय में प्रदर्शन करने के लिए चित्रपट-

प्रदर्शन (Cinema Shows) और प्रदर्शनियों की भी व्यवस्था की जा सकती है। बच्चों के खेलने के लिये क्रीड़ा-सत्रों, पार्कों, पुस्तकालयों, वाचनालयों और अन्य मनोरंजन की सुविधाओं का उत्तरदायित्व नियोक्ता पर है।

मितव्ययता का विकास (Development of Thrift)—श्रमिकों में मितव्ययता की आदत पैदा की जा सकती है। फिजूलखर्ची को हतोत्साहित करना चाहिये। सहायक प्रॉविडएट फण्ड की योजनाए चालू की जा सकती हैं। अधिलाभांश या प्रॉविडेएट फण्ड की योजना में किसी प्रकार का भार या प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये। ऐसा कहा जाता है कि कुछ अनुयोगों में श्रमिकों को प्रॉविडएट फण्ड की सुविधा इस शर्त्त पर दी जाती है कि यदि वे किसी नियत समय तक नौकरी कर चुकेंगे तब उस अवधि के बाद उन्हें यह सुविधा मिलेगी और फिर भी यदि वे किसी हड़ताल आदि विरोधी कार्यवाही में भाग लेंगे तो उनसे इन सुविधाओं को छीन लिया जायगा। ऐसी बुराइयों को दूर करना चाहिये। उपभोक्ता सहकारी-भण्डारों की स्थापना करनी चाहिये और ऋण-मुक्ति सगठन (Debt Relief Organisation) की सहायता से सहकारी समितियों के द्वारा सस्ते ब्याज पर ऋण की सुविधा मिलनी चाहिये। जहाँ कहीं भी सम्भव हो सके, श्रमिकों को थोडा थोडा बचाने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये।

विवेकीकरण और श्रम
(Rationalization and Labour)

विवेकीकरण (Rationalization) का मतलब है—चुगए हुए साधनों से प्राप्त करने का क्रम बद्ध प्रयत्न। विवेकीकरण कई तरीकों से श्रम पर प्रभाव डालता है—विशेष रूप से निर्माण की कला में परिवर्तन और श्रम-प्रबन्ध द्वारा। भारत में इसको भिन्न भिन्न नामों से पुकारा जाता है, जैसे—रैशनलाइजशन (Rationalization) पद्धति की क्षमता (Effeciency of systems) या श्रम का विस्तार (Intensification of labour)।

इन सबका उद्देश्य उत्पादन के खर्चे को कम करना और लाभ की मात्रा को बढ़ाना है। जहाँ तक इसका श्रम से सम्बन्ध है, ऐसे दो तरीके हैं जिनसे ऐसा किया जा सकता है, या तो भृतियाँ कम करके, या श्रमिकों से उसी भृति के एवज में अधिक काम लेने से। श्रमिकों की सगठन-शक्ति के कारण पहला तरीका बहुत कम सफल होता है। भारत जैसे देश में भी जहाँ श्रम अच्छी प्रकार सगठित नहीं है, भृतियों में कटौती करना कठिन है। अतः स्वभावतः दूसरे तरीके की शरण ली जाती है। इस विषय में विवेकीकरण ऐसी चीजों से सम्बन्धित है; जैसे—श्रमिक का अच्छी तरह चुनाव करना और उसका अपेक्षाकृत अच्छा प्रशिक्षण, समय लेना, कार्य की गति और थकान का अध्ययन, श्रमिक और कार्य करने के साधनों का अपेक्षाकृत अधिक अच्छा

संगठन, अपेक्षाकृत अधिक अच्छे औजारों की पूर्ति, जिनमें श्रमिकों की कार्य क्षमता बढ़ सके। इन बातों का प्रभाव श्रम के अन्य पहलुओं पर भी पड़ सकता है।

रोजगार पर प्रभाव (Effect on Employment)—जब एक बढ़ते हुए उद्योग में श्रम की बचत का ध्यान किया जाता है, तब साधारणतः धीमे धीमे निरकुशता का प्रयोग किया जाता है और इससे वास्तविक रूप में श्रम की बचत नहीं होती। जब ऐसे काम किसी नीचे (Depressed) उद्योग में किये जाते हैं, तब उनसे प्रत्यक्ष रूप में श्रम की बचत होती है। श्रमिकों में बेकारी का डर पैदा होता है और वह भी साधारणतः व्यापार में कमी के समय। यह निर्णय करने के लिये काफी आँकड़े नहीं मिलते कि विवेकीकरण और रोजगार में क्या सम्बन्ध है। किसी भी दशा में बेकारी की सीमा जितना कि लोग सोचते हैं उससे कम होती है। प्राथमिक अवस्थाओं में जो बेकारी पैदा होती है उसमें से कुछ तो औद्योगिक संगठनों के विकास से दूर कर दी जाती है, जहाँ तक कि वे उद्योग बाजार की आवश्यकताओं के अनुसार अधिक अच्छी उत्पत्ति कर सकते हैं। जब चीजों की कीमतें गिरने लगती हैं तब बड़े पैमाने पर उत्पादन करने की आवश्यकता होती है और फलतः और अधिक उत्पादन किया जाता है और उस वर्ग का पुनः शोषण होता है जिनको पहले हटा दिया गया था। इसका यह फल निकाला जा सकता है कि विवेकीकरण के कार्यों से अधिकांश दशाओं में बेकारी किसी निश्चित हद तक बढ़ जाती है, यद्यपि यह स्थायी नहीं होती। इसी को उन्नति के लिये चुकाया हुआ मूल्य समझा जा सकता है। यहाँ एक खतरा है कि नये रोजगार को किसी अन्य देश में ही स्थान मिल सकता है, विवेकीकरण के देश में नहीं। उदाहरण के रूप में, भारत में यातायात के विवेकीकरण से विदेशों में नये रोजगार पैदा हुए, मोटरगाड़ियों, रेलगाड़ियों और वायुयान का निर्माण। ऐसी अवस्थाओं में जो मूल्य चुकाया गया है वह अधिक बड़ा है।

कार्य पर प्रभाव (Effect on work) जब श्रमिकों से अधिक काम करने के लिए कहा जाता है तो इस अधिक काम का फल यह होता है कि उनकी अधिक कार्य शक्ति का व्यय होता है और थकान पैदा होती है। नियोक्ता लोग यह बात कह सकते हैं कि, चूँकि कार्य की सामान्य अवस्थाओं में उन्नति हुई है, काम का फैलाव अपेक्षाकृत अधिक अच्छा है, अच्छे सामान हैं और अच्छे औजार हैं इसलिए परिश्रम की वृद्धि का कोई कारण नहीं है। सिद्धान्त में तो उनको स्वीकार किया जा सकता है, अभ्यास में उनको सरलता से हल किया जा सकता है। समय और परिश्रम के अध्ययन का प्रश्न विशेष जानकारी का विषय है, इसके लिए काफी विशेषज्ञों की आवश्यकता है। औद्योगिक इञ्जीनियर, मानस-शास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों—इन सबको सहयोग करना चाहिए, यदि कुछ वास्तविक फल प्राप्त करने हैं। न तो ऐसे यान्त्रिकों (Technicians) को भारत में काम पर लगाया जाता है और न वे प्राप्य हो

हैं। दूसरा कठिनाइ यह है कि जहाँ ऐसे प्रयोग किये गये हैं, वहाँ भी वे उन्हीं व्यक्तिगत उद्योगों के लिये सच्चे हैं और उन्हीं में लागू हो सकते हैं, जिनके लिए वे बनाये गए हों। भारत में, कुछ लोगों के अनुमानों का अनुकरण किया गया और उनको दूसरों ने बिल्कुल भिन्न परिस्थितियों में लागू किया। फिर भी यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पूर्ण रूप में दखन पर परिणाम लाभदायक हुए हैं और ऊपर के निरूपण केवल समस्या की कठिन प्रकृति पर ही जोर डालते हैं। बहुत बड़े कामों पर भी केवल कुछ साधारण प्रयत्नों से ही काबू किया जा सकता है।

भृतियों पर प्रभाव (Effect on Wages)—अनेक प्रयोगों से यह पता चलता है कि भृतियाँ बढ़ाई गई हैं। दूसरी ओर, भृतियाँ तान्त्रिक उन्नति और विवेकीकरण के प्रसार से सम्बन्धित हैं। विवेकीकरण के प्रयोग का क्षेत्र जितना विस्तृत होगा, भृति बढ़ने के उतने ही अधिक अवसर हैं। कार्य करने के नए तरीकों को चलाने के लिये प्रायः भृतियों में कुछ वृद्धि करना आवश्यक होता है। श्रमिक को कम मूल्य पर उन्नत गुण (Quality) के सामान दिये जाते हैं और इसलिए उसकी वास्तविक भृतियाँ बढ़ जाती हैं। लेकिन उसके वास्तविक प्रभाव का पता तभी लगाया जा सकता है जब कि वास्तविक रोजगार की स्थिति पर विचार कर लिया जाय।

ऊपर के पैराग्राफों में, कुछ परिणाम निकाले गये हैं जो विवेकीकरण के बड़े प्रभावों को बतलाते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि तान्त्रिक उन्नति में कोई रुकावट पहुँचे, जो कि किसी भी देश के लिये घातक होगी। यह केवल इस बात पर जोर देता है कि छोटी कठिनाइयों की गम्भीर प्रकृति को पहचानना चाहिये और उसी के अनुकूल नियोजन करना चाहिये जबकि सुधारक शक्तियाँ (Corrective forces) और उनके लाभकारी स्वभाव को स्वीकार किया जाय। ऐसा करना भावी पीढ़ियों के लिये बड़ा लाभदायक सिद्ध होगा।

Test Questions

1 What are the various criteria that should be applied in judging a particular wage system? Illustrate your answer fully

(Rajputana, B Com 1949)

2 The industrialist is mainly responsible for industrial efficiency.' Discuss (Bombay B Com 1946)

3 Why is labour legislation considered necessary? Examine broadly the principal features of such legislation in this country

(Bombay, B Com 1942)

4 What do you understand by the term living wage'? How would you calculate it for textile workers in Bombay City? What would be the likely effects of the enforcement of such a wage?

(Bombay B Com 1941)

5 What are obstacles to the effeciency of labour under modern factory conditions ? How can these obstacles be surmounted ?
(Bombay B Com 1941)

6 Discuss the various methods of wage payment to workmen in industrial establishments in India How far are they conductive to effeciency of labour ? (Bombay B Com 1939)

7 Analyse causes of industrial disputes distinguishing clearly between proximate and remote causes What measures would you recommend (1) for settling disputes and (2) for preventing them ?
(Bombay, B Com 1940)

8 The principal object of management should be to secure the maximum prosperity for the employee coupled with the maximum prosperity for each employee Discuss this statement fully
(Allahabad B Com 1933)

9 Distinguish between co partnership and profit sharing and discuss the advantages which profit sharing holds out to employees Can you suggest any practical difficulties likely to be experienced in the working of profit sharing schemes ? (Agra B Com 1942)

10 Give a short description of the industrial welfare work in India (Agra B Com 1944)

11 What are the objectives underlying trade union legislation in India What changes are proposed by the Trade Unions Bill of 1950 ? (Bombay B Com 1951)

12 What do you understand by 'Social Security Services ? Explain their importance in the welfare of the industrial workers

13 Define a Minimum Wage How far would its adoption result in bringing about harmonious relations between capital and labour ? (Bombay B Com 1943)

अध्याय १५

राज्य और उद्योग

(STATE IN RELATION TO INDUSTRY)

वे दिन निश्चय रूप से चले गये, जब Laissez Faire के विचार आर्थिक संसार पर अपना आधिपत्य जमाये हुए थे और राज्य एक निष्क्रिय दर्शक समझा जाता था वह केवल "स्वामी की अवस्था में या जब कि प्रतिद्वन्द्वी अपने विभिन्न स्वत्वा के लिये लड़ते थे।" राज्य के केवल तीन कार्य थे—सुरक्षा (Defence), न्याय की व्यवस्था (Administration of justice) और कुछ जन-कार्यों की रक्षा (Maintenance of Public Works) राजा केवल युद्ध का सरदार (War Lord) था। उसने अपनी यह स्थिति पूर्ण रूप से सैन्य प्रयोजनों के लिये ही प्राप्त की थी, वह सामाजिक या राजनैतिक हस्तक्षेप या व्यवधान (Interference) सम्बन्धी किसी अधिकार का प्रयोग नहीं करता था, जब कि केन्द्रीय सरकार अधिकतर युद्ध का एक साधन समझी जाती थी। अधिक से अधिक यह व्यापार की स्वतन्त्रता को बनाये रखने का एक साधन समझी जाती थी। यह सामाजिक या औद्योगिक रीति-रिवाजों या औद्योगिक अनुबन्धों की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करती थी।

कुछ समय बाद Laissez Faire के सैद्धान्तिक लाभों को क्रियात्मक रूप में महसूस नहीं किया गया और यह भी महसूस किया गया कि यह आवश्यक नहीं है कि इससे योग्यता की रक्षा हो। हर उन्नत देश में यह विचार-धारा बढ़ रही है कि लोगों के ऐच्छिक (Voluntary) कार्य से देश के आर्थिक विकास में कोई उन्नति नहीं हुई है और Laissez Faire का सिद्धान्त, जिसका पहले बहुत आदर किया गया था, अब प्रायः सारे बुद्धिमान संसार में मर चुका है। आधुनिक राज्य केवल इन प्राथमिक कार्यों को ही नहीं करता, अपितु उसे समाज की साधारण सुख समृद्धि की भी देखभाल करनी पड़ती है, वह भी केवल वर्तमान काल के लिये ही नहीं बल्कि भविष्य के लिये भी। यह इसी परिवर्तित दृष्टिकोण के कारण है कि आधुनिक राज्य अनेक कर्मों और क्रियाओं को अपने ऊपर ले रहा है, जो पहले एक बार इसके क्षेत्र से बाहर समझे जाते थे। अब राज्य की ओर से यह प्रवृत्ति बढ़ रही है कि वह आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करे, जिससे देश का स्वस्थ आर्थिक विकास हो सके और इस बात को भी स्वीकार किया गया है कि राज्य, इस दिशा में, एक बहुत गम्भीर प्रभाव डालता है। अब उन रिक्त-स्थानों को भरने के लिये अधिकाधिक,

सरकार की ओर देखते हैं जहाँ अलोक-संस्थाएं स्वयं उपस्थित होती हैं, वहाँ राज्य उचित कार्यवाही करता है जहाँ कोई बुराई पैदा हो गई हो या ऐसी कोई बुराई पैदा होने वाली हो जो जाति के हितों में नुकसानदायक हो। राजकीय-हस्तक्षेप अब निम्न-लिखित अनुयोगों (Cases) में न्याय्य समझा जाता है —

१—जहाँ व्यापार एकाधिकारी-प्रकृति (Monopolistic Nature) का होता है; जैसे—रेलवेज, डाक व तार, जल, गैस व विद्युत् कम्पनियाँ इन अनुयोगों; में स्पर्द्धा वाञ्छित नहीं है और राज्य जन-भागों के साथ दुहरे समानान्तर हस्तक्षेप अथवा स्पर्द्धा करने की इजाजत नहीं दे सकता। इसलिये यह आवश्यक है कि सामान्य हितों की रक्षा के लिये उनका सरकार के द्वारा नियमन होना चाहिये।

२—जहाँ किसी कार्य को करने के लिये जन-साधारण या प्राइवेट संस्थाएं जोखिम लेने का साहस नहीं करतीं या इधर आकर्षित नहीं होतीं; क्योंकि उन्हें ऐसे कार्य की जोखिम उठाना अलाभदायक प्रतीत होता है या उसका लाभ बहुत दूर दिखाई पड़ता है; ऐसी अवस्था में सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह आगे आवे और रिक्त-स्थान की पूर्ति करे। उदाहरण के रूप में, भूमि का बन्दोबस्त, जंगल लगाना (Afforestation), सड़कों, पुलों और नहरों का निर्माण · इन सबका लाभ तुरन्त ही नहीं मिल जाता।

३—किसी राजनैतिक आवश्यकता के कारण जहाँ नियन्त्रण वाञ्छित होता है। युद्ध-सामग्री (Ammunition) और हथियार (Armaments) का उत्पादन प्राइवेट व्यक्तियों पर नहीं छोड़ा जा सकता। इसकी व्यवस्था सरकार को ही स्वयं करनी चाहिये।

४—जहाँ उपभोक्ताओं के हित का पक्षपात किया जा सकता है, जहाँ व्यक्ति अपने निजी हितों की रक्षा नहीं कर सकता, वहाँ सरकार को सामान्य सुख-समृद्धि के लिये हस्तक्षेप करना चाहिये; जैसे—दवाओं, नशीली चीजों, भोजन की मिलावट (Adulteration) के अनुयोग में।

राज्य का उद्योग से किन-किन रूपों में सम्बन्ध हो सकता है, उन पर हम यहाँ विचार कर सकते हैं। सरकार व्यापार पर निम्नलिखित चार तरीकों में से किसी भी एक के अनुसार प्रभाव डाल सकती है—(१) अप्रत्यक्ष सुविधाएं देकर, (२) आर्थिक क्रिया का नियमन करके, (३) प्रत्यक्ष सहायता देकर; और (४) साहस (Enterprise) का नियन्त्रण और प्रबन्ध अपने हाथ में लेकर, अर्थात् राष्ट्रीयकरण। इनमें से प्रत्येक का नीचे वर्णन किया जाता है।

अप्रत्यक्ष सुविधाएं (Indirect Facilities):—राज्य ऐसे कानून लागू करके जनता की सेवा करता है, जैसे—अनुबन्ध, वस्तुओं की बिक्री, सम्पत्ति का हस्तान्तरण आदि से सम्बन्धित। इन कानूनों की अनुपस्थिति में व्यापार असम्भव हो

जाता, आर्थिक क्रिया केवल एक शुद्ध जुआ खेलन की क्रिया रह जाती, जहाँ कि अधिकार के स्थान पर शक्ति अपना अधिकार जमा लेता। विभिन्न पक्षों के अधिकार, कर्तव्य और दायित्व इस प्रकार उचित रीति से निर्धारित किये जाते हैं जिससे आर्थिक ढाँचा बड़ी सफलता से अपना काम करता रहे।

एक दूसरा तरीका—जिससे कोई भलीभाँति विचारपूर्वक बनाये हुए विधान, व्यापार और उद्योग का सहायता कर सकता है—यह है कि साहस के रूपों का नियमन किया जाय। भागितासार्थ, प्रमण्डल, समितियाँ, सचारी प्रमण्डल (Holding Companies) और न्यास (Trust)—इन सब पर कानून का शासन होता है। इससे व्यापार का सचालन सर्वश्रेष्ठ आर्थिक रीति से होता रहता है। उचित रीति से बनाया हुआ विधान जो ऐसे व्यक्ति के कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों से सम्बन्धित होता है, जैसे—प्रवर्तक (Promoters), सचालक (Directors) प्रबन्ध-अभिकर्ता (Managing Agents) अंकेक्षक (Auditors), न्यासी (Trustees) और अधिकोषक (Bankers), उनकी स्थिति का स्पष्ट परिचय करा देता है और अनिश्चितता और सन्देह की बात जोकि अन्यथा उपस्थित होता, दूर हो जाता है। इससे जनता के मस्तिष्क में विश्वास और अनिश्चितता पैदा होती है। आधुनिक ससार में, विश्वास और निश्चितता, वाणिज्य की सबसे अच्छी सचालक शक्तियाँ हैं। इसके अतिरिक्त दिवालियापन, झगड़ों का निर्णय और मध्यस्थता (Arbitration), एकस्व (Patents) व्यापारिक चिह्न (Trade Marks) और प्रति अधिकार (Copy Rights) इत्यादि से सम्बन्धित कानून भी हैं। ये सब किसी प्रकार व्यापार की सहायता करते हैं और उसमें सुविधा पहुँचाते हैं। कापट्य (Fraud) के विरुद्ध ऋण प्रदायका (Creditors) के अधिकारों की रक्षा की जाती है, जबकि ऋणी (Debtors) की कठिनाई के समय रक्षा की जाती है। एकस्व (Patents) और प्रति अधिकारों (Copy Rights) से सम्बन्धित कानून लोगों को उनके श्रम, अनुसन्धान और आविष्कारों का पुरस्कार प्राप्त करने या उनका सुख भोगने के लिये, अति आवश्यक प्रतिभूति और अवसर देते हैं।

सरकार मुद्रा, भारों (Weights) और मापों (Measures) की एक ठोस और उपयुक्त पद्धति का नियोजन करता है, उसके निरीक्षण और उचित रक्षा की व्यवस्था की जाती है। व्यापार के समुचित विकास और विनिमय-क्रिया के भली प्रकार कार्य करने के लिये सुरक्षित और स्थायी मुद्रा पद्धति की नितान्त आवश्यकता है।

आर्थिक आँकड़े इकट्ठे करके और तैयार करके, और औद्योगिक वाणिज्य सम्बन्धी मामलों पर रिपोर्टें (Reports) प्रकाशित करके अपने विभिन्न कार्यालयों द्वारा दूसरे देशों के बाजारों और आर्थिक दशाओं की सूचना प्राप्त करके औद्योगिक प्रश्नों की जाँच करने के लिये आयोगों (Commissions) और समितियों (Committees)

की नियुक्ति करके, स्थानीय मेलों और बाजारों की व्यवस्था और नियमन करके, और व्यापार और उद्योग को बढ़ाने के लिये देश व विदेशों में प्रदर्शिनियों की व्यवस्था करके राज्य आर्थिक क्रियाओं के लिये बड़ी सुविधा प्रदान करता है। राज्य अनुसन्धान, प्रयोग और खोजबीन का कार्य कर सकता है। ऐसी संस्थाओं या क्रियाओं का प्रवर्तन किया जा सकता है। जैसे इण्डियन काउन्सिल ऑफ एग्रिकल्चरल रिसर्च, पशु-पालन केन्द्र (Cattle Breeding Centres), पशु चिकित्सालय, फसलों के रोगों को निवारण करने वाली संस्थाएं, आदर्श-क्षेत्र (Model or Demonstration Farms), बाग लगाना और भूमि का बन्दोबस्त।

आर्थिक क्रिया का राजकीय नियमन (State Regulation of Economic Activity).—उन्नीसवीं शताब्दी के उदारवाद (Liberalism) ने आर्थिक नीति को विकसित करने का प्रयत्न किया, इस विषय में उस समय सरकार की ओर से भी कोई विघ्न या रुकावट नहीं थी। यह समझा जाता था कि स्वतन्त्र रूप से स्पर्द्धा करने की प्रथा होने पर अपने-अपने हितों की रक्षा करने से सभी को बहुत कुछ मिल सकता है। लागत कम करने से उपभोक्ताओं को लाभ होगा और वे सभी मानवीय आवश्यकताएं अधिक सन्तुष्ट की जा सकेंगी, जिनको कि आर्थिक वस्तुओं और सेवाओं से सन्तुष्ट किया जा सकता है। सरकारी नियन्त्रण (Control) आवश्यकता से भी अधिक समझा गया। तो भी आशाएं व्यर्थ सिद्ध हुईं। केवल यही नहीं, अनेकों बुराइयाँ पैदा हुईं और समाज दो असमान या विषम समूहों में विभाजित हो गया। गरीब और कमजोर व्यक्तियों का शक्तिशाली व धनवान लोगों ने शोषण किया। स्वतन्त्र स्पर्द्धा के स्थान पर एक-छत्र संयोग (Monopolistic Combinations) पैदा हुए। इस स्थिति का सामना करने के लिये ही सरकारी नियन्त्रण (Control) और नियमन (Regulation) करना आवश्यक हो गया।

आजकल विभिन्न राज्य घरेलु-उत्पादन, देश व विदेश में लगाये हुए विनियोग (Investment) आयात व निर्यात (Imports and Exports), देशीय मुद्रा (Currency) और विदेशी-विनिमयों (Foreign Exchanges) की क्रय-शक्ति पर नियन्त्रण करते हैं। फैक्टरी विधान उद्योग का नियमन करने, निर्बलों की शक्तिशालियों से रक्षा करने और जन साधारण के सुख-समृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण साधन बन गया है। ऐसे विधानों, जैसे—फैक्टरी विधान (Factory Acts), भृति भुगतान विधान (Payment of Wages Act), व्यापार-संघ और व्यापार कलह विधान (Trade Unions and Trade Disputes Act) के बनाने व लागू करने से बहुत सी बुराइयाँ दूर हो गई हैं; जोकि अन्यथा सामने आजातीं। काम करने के घण्टे, न्यूनतम भृतियों और सुरक्षा और समृद्धि (Safety and welfare) के न्यूनतम स्तरों (Standards) के विषय में नियमन (Regulations) बना दिये गये हैं। यह सब

ऐसा विश्वास उत्पन्न करने के लिये है कि उत्पादन स्वास्थ्यकर अवस्थाओं में होता है और स्त्रियों और बच्चों को काम में लगाकर, उन पर वह भार डालकर जिसे वहन करने में वे असमर्थ या अयोग्य हैं, समाज के स्वास्थ्य और कार्य क्षमता को खतरे में नहीं डाला जाता। आधुनिक जातियों का सामयिक बीमा-विधान एक दूसरा अग्रगामी कदम है। श्रमिकों का हर्जाना (Compensation), प्रसूति-सुविधाएं (Maternity Benefits), शिशु समृद्धि (Child welfare), वृद्धावस्था-वृत्तियाँ (Old age pensions), बेकारी और बीमारी का बीमा—ये सब ऐसे उपाय हैं जो उन लोगों की सुख समृद्धि का विश्वास दिलाते हैं, जो स्वय अपनी देखभाल व रक्षा नहीं कर सकते, इसलिये सरकार का कर्त्तव्य है कि उनकी सहायता करे। इस विषय में नियोक्ताओं के दायित्वों और कर्त्तव्यों को निर्धारित कर दिया गया है। जलयानों, रेलवेज, सड़कों और पुलों की सुरक्षा के लिये कानून बना दिये गये हैं। तृतीय पक्षीय जोखिमों (Third Party Risks) के विरुद्ध विश्वास दिलाया जाय· ऐसा आकस्मिक दुर्घटनाओं को रोकने के लिये अनिवार्य नियोजन (Provision) बना दिया गया है। लाभों और अधिलाभांशों (Dividends) का सीमित करना, नियन्त्रक मूल्य (Controlling Prices) और पूर्ति (Supply) की राशन-व्यवस्था, खतरनाक उद्योगों को अनुज्ञापित करना (Licencing), खतरनाक पेशों से रक्षा करने का विश्वास दिलाना, स्वास्थ्य-सम्बन्धी कानून बनाकर शुद्ध खाद्य-सामग्री की पूर्ति करना—ये सब विभिन्न उपाय हैं जिन्हें आधुनिक सरकारें काम में लाती हैं।

ठोस औद्योगिक विकास करने के लिये एक उपयुक्त कर-नीति की व्यवस्था करने की सर्व प्रथम आवश्यकता है। यह पृष्ठगामी (Regressive) नहीं होनी चाहिये, अन्यथा इससे धन का विभाजन बड़ा असमान अथवा विषम हो जायगा और देश के धन का अधिकाश भाग कुछ व्यक्तियों, कुटुम्बों या वर्गों के हाथ में केन्द्रित हो जायगा। दूसरी ओर यह इतनी अधिक उन्नतिशील भी नहीं होनी चाहिये कि यह साहस (Enterprise) के संस्कार को ही समाप्त करदे, अर्थात् लोग कोई जोखिम लेने का साहस ही न कर सकें। भारत सरकार की वर्त्तमान कर-नीति मितव्ययता और कार्य-क्षमता के प्रलोभन को खत्म कर देती है और अक्षमता और फिजूल खर्ची उत्पन्न करती है।

प्रत्यक्ष राजकीय सहायता (Direct State Aid)—जहाँ अलोक-साहस (Private ·Enterprise) कम और मन्द होता है और विकास के अवसर थोड़े होते हैं, वहाँ राज्य अपना कदम ·उठा सकता है और व्यक्तियों को प्रत्यक्ष रूप से उत्साहित कर सकता है। हम देखते हैं कि दूसरे देशों में आर्थिक-विकास राज्य की ओर से किये गये सचित प्रयत्नों का फल है। जापान देश के औद्योगिक विकास के पोषण करने व बढ़ाने में पितृ-तुल्य प्रवृत्ति का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करता है।

आज जापान में ऐसे कुछ ही आधुनिक उद्योग हैं जो अपने अस्तित्व के लिये शासकीय प्रेरणा या शुरूआत के ऋणी नहीं हैं। किसी साहस (Enterprise) की सफलता जितनी आसपास के वातावरण की सहायता और सामान्य सराहना और उन दशाओं से मिलती है, जिनमें कि किसी आदमी को काम करना है, उतनी ही उस व्यक्ति के रचनात्मक प्रोत्साहन और प्रयत्नों से मिलती है। केवल एक उदाहरण देने पर यह पता लगाया जा सकता है कि किस प्रकार अधिकारियों की ओर से उपेक्षा और हतोत्साहन का किसी औद्योगिक साहस के हर पहलू पर कितना बुरा प्रभाव पड़ता है। यह अनेकों बातों में पड़ता है; जैसे—रीति-रिवाज, रेलवेज, आयकर, फैक्टरी कानून और बॉइलर के निरीक्षण की व्यवस्था, म्यूनिसिपल और अन्य कर-निर्धारण (Assessment), जनता की आवश्यकताओं और जन-विभागों के लिये उत्पादनों का खरीदना, भूमि, खनिज आदि से सम्बन्धित अनेक वस्तुओं की व्यवस्था आदि। स्वतन्त्र क्षेत्र और सरकार की ओर से कम से कम हस्तक्षेप होने के कारण बड़े-बड़े साधन (Resources) विदेशियों के हाथों में केन्द्रित हो गये हैं और फलस्वरूप इस देश के धन पर एक बन्धक ((Mortgage) हो गया है।

उद्योग सरकार के द्वारा निम्नलिखित तरीकों से प्रोत्साहित किया जा सकता है —

(१) रक्षा (Protection) —उद्योगों के विकास के लिये एक सबसे अधिक महत्वपूर्ण साधन रक्षात्मक प्रशुल्क (Tariff) है, अर्थात् एक निश्चित समय के लिये विदेशी वस्तुओं पर आयात-कर (Import duties)। इस प्रकार देशी उद्योग की विदेशी स्पर्द्धा से रक्षा की जा सकती है। लोग उद्योग में स्वदेशीय (Indigneous) पूँजी और साहस लगाने के लिये आकर्षित होते हैं; उद्योग प्रशुल्क-भित्ति (Tariff-Wall) के पीछे, दूसरे देशों की सस्ती वस्तुओं की स्पर्द्धा से मुक्त होकर विकसित होता है। यह क्रिया अब सामान्य हो गई है और अनेक देश अपने उद्योगों को अधिक से अधिक विकसित करने के लिये इसी पद्धति का आश्रय ले रहे हैं।

(२) आर्थिक सहायता और पारितोषिक (Subsidies and Bounties).-राज्य किसी उद्योग को आर्थिक सहायता और पारितोषिक (Subsidies and Bounties) दे सकता है जिनमें कि यह या तो रक्षा के स्थान पर या इससे अलग रुचि रखता है। आर्थिक-सहायता (Subsidies) स्वीकृत करने से उद्योग को प्रत्यक्ष रूप से प्रेरणा मिलती है। कभी-कभी रक्षा के स्थान पर पारितोषिक और आर्थिक सहायता (Bounties and Subsidies) इस दृष्टिकोण से दी जाती है कि उन जोखिमों और हानियों को रोका जा सके जो रक्षात्मक प्रयत्न से नहीं रोकी जा सकतीं।

(३) विनिमय के समझौते (Exchange Agreements) —देश के औद्योगिक विकास को बढ़ाने के लिये, सरकार विदेशी विनिमयों की युक्ति (Device) का प्रयोग कर सकती है। देश के हित में विनिमय का नियन्त्रण किया जा सकता है जिससे निर्यात को प्रोत्साहन मिलेगा और देश को भी सामान्य रूप से लाभ होगा। निम्न विनिमयों (Low Exchanges) और मुद्रा के अवमूल्यन (Devaluation) या उन्नतिशील अवक्षयण (Depreciation) से कोई देश अपने उद्योगों को निर्यात के लिये एक तीक्ष्ण प्रेरणा दे सकता है। देश की सरकार व्यापारिक-समझौते (Trade Agreements) कर सकती है। नियत अभ्यंश योजनाएं (Fix Quota Schemes) बना सकती है और ऐसी युक्तियाँ भी अपना सकती है—जैसे, पारस्परिक-कार्य और अधिमान योजनाएं (Reciprocity and preference schemes) ।

(४) तान्त्रिक कार्यकारक (Technical Personnel) —सरकार श्रमिकों के प्रशिक्षण के लिये सुविधाओं का नियोजन कर सकती है और तान्त्रिक कार्यकारक पाने के लिये दूसरे देशों से भी समझौते किये जा सकते हैं। यह कार्यकारक सम्बन्धित उद्योगों में लगाये जा सकते हैं। सरकार के द्वारा ऐसा प्रबन्ध भी किया जा सकता है कि बाहर से विशेषज्ञों की सलाह, पथ निर्देश (Guidance) आदि प्राप्त किये जा सकें।

(५) आर्थिक सहायता (Financial Aids) —औद्योगिक साहस की सहायता का यह भी एक महत्वपूर्ण तरीका है। आर्थिक सहायता विभिन्न रूपों में दी जा सकती है। सरकार औद्योगिक व्यवसाय (Undertaking) की पूँजी या ऋण-पत्रों (Debentures) का कोई भाग अदा कर सकती है, पूँजी के ब्याज की गारन्टी दे सकती है, ऋण देना स्वीकार कर सकती है, तृतीय-पक्षों (Third Parties) के सामने प्रतिभू (Surity) के रूप में भी आ सकती है और अनुकूल शर्तों पर भूमि, कच्चा माल, ईंधन या पानी देने की स्वीकृति भी दे सकती है।

(६) भण्डार-क्रय-नीति (Stores Purchase Policy) —इस देश में सरकार किसी भी एक उद्योग का सबसे बड़ा एक ग्राहक है। विभिन्न सरकारी विभाग और रेलवेज बड़े परिमाणों में हर प्रकार के भण्डारों को हर वर्ष खरीदते हैं और यदि सरकार स्वदेशी साहस के विषय में उदार व्यवहार का विश्वास दिला सके, तो उद्योग की काफी अच्छी माँग हो—यह निश्चित है। स्वदेशीय (Indigenous) उद्योगों की निर्मितियों (Manufactures) के लिये माँग का विश्वास दिलाने से इसके द्रुत-विकास (Rapid Development) में बड़ी प्रेरणा मिलती है।

राष्ट्रीयकरण (Nationalization) —व्यापार में राजकीय हस्तक्षेप की अन्तिम सीढ़ी राष्ट्रीयकरण है जहाँ कि राज्य किसी उद्योग का स्वामित्व, प्रबन्ध

और नियन्त्रण अपने हाथों में ले लेता है। प्राय दुनिया के सभी देशों में, जन-उपयोगिताएं (Public Utilities) जैसे—रेलवेज, जल, गैस, डाक व तार और याता यात के उद्योग, पहले से ही राज्य के प्रत्यक्ष नियन्त्रण और प्रबन्ध में चलाये जा रहे हैं। ऐसे उद्योगों में स्पर्द्धा की या तो अभिलाषा ही नहीं की जाती या स्पर्द्धा करना ही असम्भव होता है। आधुनिक संसार में, समष्टिवाद (Collectivism) के पक्ष में एक झुकाव रहा है और अधिकाधिक महसूस किया जा रहा है कि व्यक्तिगत-स्वामित्व (Private Ownership) और पूँजीवाद उद्योगीकरण प्राकृतिक साधना (Resources) के विनाश और अन्धाधुन्ध-शोषण (Reckless exploitation) और जन समृद्धि (Public Welfare) की उपेक्षा से सम्बन्धित है। मूल उद्योगों (Key Industries) के राष्ट्रीयकरण की माँग की जा रही है, जिनमें ऐसे उद्योग शामिल हैं : जैसे—खनिज, अधिकोषण, आवागमन (Communications भारी रासायनिक (Heavy Chemicals) और लोहा व इस्पात इत्यादि।

राजकीय हस्तक्षेप और राष्ट्रीयकरण के विषय मे आपत्तियाँ (Objections of State Intervention and Nationlization) :— सामान्य रूप से राजकीय हस्तक्षेप और विशेष रूप से राष्ट्रीयकरण के विषय में अनेक आपत्तियाँ या एतराज किये जा चुके हैं। कुछ तो वे हैं जो इस बात का निर्देश करते हैं कि हमारी वर्तमान बुराइयों और आर्थिक कठिनाइयों का मुख्य कारण सरकारी हस्तक्षेप का होना है, जब कि कुछ वे भी लोग हैं जोकि इन कठिनाइयों का कारण पर्याप्त राजकीय हस्तक्षेप का अभाव बतलाते हैं। राजकीय हस्तक्षेप के विरुद्ध निम्न-लिखित आपत्तियाँ हैं —

(१) सरकारें, जैसी कि वे वर्तमान समय में अधिकांश देशों में बना हुई हैं, इस कार्य को लेने योग्य नहीं हैं। ये संस्थायें कुछ प्रयोजनों को लेकर चुनी गई हैं; ये प्रयोजन उद्योग में हस्तक्षेप करने के प्रयोजन से बिलकुल भिन्न हैं। फलस्वरूप यह आशा करने का बहुत कम कारण है कि इन संस्थाओं के सदस्यों में ऐसे कार्य के लिये कोई विशेष सामर्थ्य (Competence) है। "यदि सरकार में, निर्वाचन के द्वारा, किसी साम्राज्य के सुगमतर कार्य को करने का सामर्थ्य नहीं है, तो अवश्य ही वह सरकार चल नहीं सकती या वह शासन-पद्धति ही असफल रहेगी। जो लोग निर्वाचन के द्वारा वक्तृत्व-विजय (Oratorial Triumph) के लिये चुने जाते हैं और जो लोग नौकरशाही द्वारा चुने जाते हैं, यद्यपि अधिक इमानदार नहीं होंगे, वे अपेक्षाकृत बहुत कम समर्थ (Competent) या योग्य होंगे और विपणिकों (Merchants), अधिकोषकों (Bankers) और औद्योगिकों (Industrialists) की अपेक्षा जो कानून की सीमा में काम करते हैं, स्वतन्त्रता को अधिक दबाने अथवा कुचलने वाले होते हैं।

(२) वर्तमान सरकारें अस्थिर संस्थाएं होती हैं जिनका गठन अगले निर्वाचन के परिणाम और विभिन्न राजनैतिक दलों की शक्ति पर निर्भर होता है। भिन्न-भिन्न दल (Parties) शक्ति में आने पर अपनी निजी उत्तेजनाओं (Whims) और पुरोगमों (Programmes) के अनुसार कदम उठा सकते हैं। अत उनके कार्य संक्षिप्त अवधि (Short Term) के दृष्टिकोण पर आधारित हो सकते हैं, वे जातियों के स्थायी हितों तक नहीं बढ़ सकते।

(३) शासन-व्यवस्था के हेतु व जन-अधिकारियों (Public Authorities) के लिये जो सूत्र निर्धारित किये जाते हैं, वे बिना किसी व्यापारिक दृष्टिकोण पर विचार करते हुए निश्चित किये जाते हैं और इस लिये वे उद्योग में किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप के लिये अनुपयुक्त सिद्ध होते हैं। उदाहरण के लिये, भारत में उद्योग और उनका नियमन राज्यों को सौंपा हुआ है और यदि भिन्न भिन्न राज्य अपने अपने क्षेत्रों में किसी एक विशेष उद्योग के विषय में भिन्न भिन्न उपाय या कार्यवाहियाँ करें तो उस उद्योग पर भिन्न भिन्न क्षेत्रों में भिन्न भिन्न प्रकार से अनुकूल तथा प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। "शासक (Administrators) इस बात का अनुभव कर रहे हैं कि व्यापार का संचालन सदैव एक गहन कार्य (Intricate affair) होता है और सम्पूर्ण उद्योग के लिये एक आदर्श जैसी कोई वस्तु नहीं होती। व्यापार अपने-अपने विभिन्न आदर्शों या नमूनों में संचालित किये जाते हैं और पीतल के सिरे वाली कीलों के निर्माण में भी कोई दो फैक्टरियाँ जो इन वस्तुओं का निर्माण कर रही हों, संचालन और दशाओं में एक समान नहीं होतीं। यह प्रयत्न करने के साथ ही साथ कि न्यूनतम भृति-भुगतान के दोषों को दूर किया जाय, फैक्टरी में काम करने के घंटों की संख्या उचित व उपयुक्त निर्धारित कराई जाय। बहुत से अन्य दोष उत्पन्न हो सकते हैं जिनका कि कोई इलाज नहीं हो सकता—यदि व्यापार को चलाना है।"

(४) सरकारी-अभिकरण (Government Agencies) जहाँ तक कि वे निर्वाचित संस्थाएं हैं, चुनाव सम्बन्धी दबाव (Electoral pressure) और व्यक्तिगत भ्रष्टाचार के लिये, अपने निजी हितों के कारण दोषी हैं। यह आपत्ति (Objection) नियमन के द्वारा, राजकीय हस्तक्षेप और राष्ट्रीयकरण दोनों के लिये लागू की जा सकती है। एक ओर कम्पनियाँ, विशेष रूप से जब कि कोई स्थिर नियमन है, भ्रष्टाचार को अपनी मतगणना (Franchise) के लिये ही नहीं अपितु उसके क्रिया रूप में परिणत करने के लिये भी भ्रष्टाचार कर सकती हैं। दूसरी ओर जब जन-अधिकारी स्वयं जोखिमों का कार्य करते हैं, तब भ्रष्टाचार की सम्भावनाएं केवल रूप (Form) में परिणत हो जाती हैं, उदाहरण स्वरूप "प्रत्येक जन-अधिकारी निजी हित के किसी रूप का सम्भावित अवसर होता है जो कि सार्वजनिक हित के विरुद्ध अलङ्कृत होता है।" (Every public official is a potential opportunity for some form of

self interest arra ed against the Common interest) ऐसे कई उदाहरण हैं ज्हाँ अपने हितों के लिये काफी प्रभाव डाला जाता है और रा्य की नीति अपने लाभ के अनुसार शष राष्ट्र के मूल्य पर निर्धारित की जाती है।

(५) राजकाय स्वामित्व वाली सस्थाओं का व्यापार जन-साधारण के प्रशासन के दृष्टिकोण से व्यवस्थित किया जाता है—व्यापारी तरीके से नहीं। एक साधारण मनुष्य की भी एक निश्चित आवाज होती है और वह अपने स्वामियों का भी स्वामी होता है जो उसे असन्तुष्ट करने का साहस नहीं क सकते।

(६) राजकीय नियमन और नियन्त्रण आर्थिक शक्तियों की स्वच्छन्द क्रीड़ा को रोकते हैं और यह हमारी मशीनरी में कृत्रिम रोकें लगाते हैं। ये अधिकतम मूल्य नियम (Maximum price laws) साधारण मनुष्यों की सहायता नहीं करते जैसी कि उनसे आशा की जाती है कि उनसे जन-साधारण की कुछ भलाई होगी। इसके विरुद्ध, वे दुर्लभता (Scarcity) को और अधिक उत्तेजना (Aggravation) देते हैं अर्थात् वस्तु की नापैद हो जाती है। मूल्य (Price) एक ताप मापक (Thermometer) के समान है और यदि तुम इस स्पर्द्धा के साथ जोड़ दो तो तुम्हें थर्मोस्टेट (Thermostat) क समान कार्य वस्तु मिलता है—आर्थिक मशीनरी का एक अधिक या कम अपने आप काम करने वाला रेगूलेटर (Automatic Ragulator)—जो उन वस्तुओं के उत्पादन की प्रेरणा देता है जिनकी कि काफी माँग है और अन्य वस्तुओं के उत्पादन को हतोत्साहित करता है और उपभोक्ताओं के आराम और सुविधा का पूर्ति करता है। यदि कोई इस उस तरीके से उपयोग में लाता है, तो रेगूलेटर को एक अवसर या मौका देना आवश्यक है। एक अर्थशास्त्री (Economist) की मुख्य शिकायत आज यह है कि विस्तृत रूप से दुनिया मूल्य क साथ खिलवाड़ कर रही है और अपने रेगूलेटर को काम करने की इजाजत नहीं दे रही है।

(७) बीमा क सुपरिन्टेण्डेण्ट (The superintendent of Insurance) ने सन् १६५४ की वार्षिक पुस्तक (Year Book) में बीमा के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध, कुछ अन्य ऐतराज उठाये थे। ये युक्तियाँ (Arguments) अन्य उद्योगों के राष्ट्रीय-करण पर भी समान रूप से लागू होती हैं। राष्ट्रीयकरण केवल उन व्यापारों क लिये उपयुक्त है, जहाँ कार्य अभ्यासिक प्रकृति (Routine Nature) का हो और वस्तुएं और सेवाएं (Services) जिनकी पूर्ति की गई है प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता स सम्बन्धित हों। अन्य अनुभागों (Cases) में जहाँ नये क्षेत्र बनाने पड़ते हैं, सरकार उस कार्य को करने में असमान सिद्ध हुई है। 'विकास का सबसे अधिक ऊँची सीढ़ी जिस पर कि पहुँच गये हैं और उच्च स्तर जोकि बीमा क व्यापार ने प्राप्त कर लिया है—सभी रूपों में प्राइवेट जोखिम के कारण हैं। अधिकारियों की ओर से चलाया गया कोई बीमा विभाग कार्यों क आकड़ों से ही सन्तुष्ट रहेगा, क्योंकि वह स्पर्द्धा क भार

Planning) और केन्द्रित नियन्त्रण, उत्पादन और न्याय्य-वितरण के प्रयोजनों से आवश्यक हो जाते हैं।

भारत में राज्य और उद्योग
(State and Industry in India)

यहाँ भारत में उद्योग के प्रति राज्य की नीति का संक्षेप में विश्लेषण किया जा सकता है। भारत में ब्रिटिश शासन के आरम्भ काल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की व्यापारिक प्रेरणाओं से इसका निर्माण किया गया। सबसे पहले उन भारतीय उद्योगों का पक्ष लिया जिन पर इसका निर्यात-व्यापार निर्भर था। लेकिन अपनी मातृभूमि (इङ्गलैण्ड) के हितों के दबाव के कारण यह नीति छोड़ दी गई और भारत इङ्गलैण्ड के निर्मिति-उद्योगों (Manufacturing Industries) के लिये कच्चा माल प्राप्त करने का एक साधन समझा जाने लगा।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अस्तित्व जाता रहा और देश का शासन रानी *विक्टोरिया को हस्तान्तरित कर दिया गया; लेकिन कम्पनी की नीति वही रही,* उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इङ्गलैण्ड में उस समय Laissez Faire का बोलबाला था, और वे ही रीतियाँ हमारे देश में भी प्रचारित करने के लिये लाई गईं। उद्योग का नियमन करना विनाशकारी था, इसकी सहायता करना व्यर्थ था और उसमें भाग लेना लोक-धन (Public Money) का नाश करना था। इस प्रकार गत १०० वर्षों में हमारे आर्थिक जीवन का एक प्रमुख लक्षण यह रहा है कि सरकार परम्परागत Laissez Faire पर निर्भर रही है। कभी कभी राज्य ने देश के औद्योगिक विकास में अपनी रुचि दिखलाई है, लेकिन यह चपल (Fitful) और आकस्मिक थी; और इङ्गलैण्ड के अधिकारियों ने हमेशा इस बात पर जोर दिया है कि सरकार ऐसी कार्यवाहियों से दूर रहे।

सन् १६०५ में लॉर्ड कर्जन की प्रार्थना से अलग इम्पीरियल डिपार्टमेण्ट ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज का निर्माण किया गया। संयुक्त प्रान्त और मद्रास की सरकारों के समान कुछ प्रान्तीय सरकारों ने भी इसमें रुचि लेना शुरू किया। सन् १६०८ में उटकमण्ड में हुए औद्योगिक सम्मेलन (Industrial Conference) के बाद मद्रास सरकार ने उद्योगों का एक संचालक (Director of Industries) नियुक्त कर दिया। तो भी, इन प्रयत्नों को तात्कालिक भारत-मंत्री लॉर्ड मॉर्ले द्वारा बड़ी तत्परता से हतोत्साहित किया गया और इनका बहिष्कार करने की सलाह दी गई। उसने इस बात की ओर संकेत किया कि राज्य को अपने को केवल औद्योगिक शिक्षा (Instruction) तक ही सीमित रखना चाहिये और व्यापारिक साहस के सब बाहरी पहलुओं को छोड़ देना चाहिये। लॉर्ड मॉर्ले का उत्तराधिकारी लॉर्ड क्रोवी (Lord Crewe) और भी अधिक साहसी व्यक्ति था, लेकिन भारत सरकार इस

दिशा में अधिक नहीं कर सकी। स्वदेशी आन्दोलन, जो इस काल में अपनी चरम सीमा पर था, असफल होगया; जिसमें सरकारी सहायता का अभाव सबसे अधिक महत्वपूर्ण कारणों में से एक था।

सन् १९१४-१८ के युद्ध के छिड़ने से, इस नीति में एक परिवर्तन हुआ। कच्चे मालों के यूरुपीय बाजार बन्द होगये और विदेशी पूर्तियों (Foreign Supplies) पर निर्भर रहने का खतरा महसूस किया गया। युद्ध के द्वारा देश के आर्थिक साधनों के विकास का सैन्य (Military) महत्त्व पर प्रकाश डाला गया और Laissez Faire का सिद्धान्त (Theory) हमेशा के लिये त्याग दिया गया और इसका स्थान प्रत्यक्ष राजकीय-प्रोत्साहन (State Encouragement) ने ले लिया। भारत में औद्योगिक विकास की सम्भावनाओं की जाँच करने के लिये सन् १९१६ में भारतीय औद्योगिक आयोग (Indian Industrial Commission) नियुक्त किया गया। इस आयोग ने उद्योगों को राजकीय सहायता देने के महत्त्व पर सबसे अधिक जोर दिया; उन उद्योगों में भी विशेष कर रासायनिक, विद्युत् और यान्त्रिक उपकरण (Machine Tool Industry) की सहायता पर विशेष जोर दिया। फर्वरी सन् १९१७ में भारत सरकार ने युद्ध से उत्पन्न हुई आवश्यकताओं को देखते हुए, भारतीय साधनों पर नियन्त्रण करने और उन्हें विकसित करने के लिये भारतीय शस्त्र-बोर्ड (Indian Munitions Board) का निर्माण किया। इन संस्थाओं की सिफारिशों पर कोई अधिक काम नहीं किया गया। वे थोड़े से उद्योग जो युद्ध-काल में आरम्भ किये गये थे, अन्य उन्नतिशील देशों की भयानक स्पर्द्धा के कारण बाद में नष्ट हो गये।

सन् १९१९ के वैधानिक सुधारों के बाद, उद्योग एक प्रान्तीय विषय बन गये और प्रान्तीय सरकारें औद्योगिक विकास की सहायता करने के लिये ठोस प्रयत्न करने लगीं। वे विभिन्न प्रयत्न जो प्रान्तीय सरकारों और केन्द्रीय सरकारों ने अन्तर-युद्ध-काल (Inter-war Period) में किये—निम्नलिखित हैं —

उद्योगों को राजकीय सहायता (State Aid to Industries) — मद्रास सरकार ने सन् १९२२ में उद्योग-राजकीय-सहायता-विधान (State Aid to Industries Act) पास किया जो कुटीर और अन्य उद्योगों के लिये आर्थिक और अन्य प्रकार की सहायता प्रदान करने के लिये था। सन् १९२३ में एक ऐसा ही प्रयत्न बिहार में किया गया। यह भी किराया-क्रय (Hire Purchase) के आधार पर मशीनरी की पूर्ति करने का नियोजन करता था। फिर क्रमशः ऐसे विधान बंगाल में सन् १९३१ में, मध्यप्रान्त में सन् १९३४ में, पंजाब और युक्त प्रान्त में सन् १९३५ में पास किये गये। जहाँ तक इन विधानों के कार्य करने से सम्बन्ध है, अनेक और विभिन्न आदमी या उद्योगों को सहायता दी जा चुकी है, लेकिन फल अधिक कौतुकमय (Spectacular) नहीं रहे हैं। कुटीर और छोटे उद्योगों के लिये इन सुविधाओं

को भोगना बहुत कठिन पाया गया। बिहार में केवल एक को छोड़कर सन् १९२४ से २८ तक सहायता प्राप्त कोई साहस (Enterprise) मौलिक-स्वामियों (Original Owners) के हाथों में नहीं रहा। अधिकांश सहायता प्राप्त कोई लाभ नहीं उठा सके और विधान की शर्तों के अनुसार अपने ऋणों के भुगतान करने में असमर्थ रहे। किराया-क्रय पद्धति के अनुसार उन्नतिशील मशीनरी की योजना भी निराशाजनक सिद्ध हुई है और उद्योग विभाग (Industries Department) "अप्रचलित यन्त्रों का अजायब-घर" (Museum of obsolete machinaries) हो गया है।

औद्योगिक शिक्षा (Industrial Education) —यद्यपि विक्टोरिया जुबिली टैक्नीकल इन्स्टीट्यूट की स्थापना सन् १८७७ में हो गई थी, तो भी तात्रिक और व्यावसायिक (Vocational) शिक्षा के विषय में हमारे देश में बड़ी उपेक्षा की गई है। केवल वर्तमान काल में ठोस तात्रिक शिक्षा का महत्त्व महसूस किया गया है और उस दोष को दूर करने के लिये प्रयत्न किये जा रहे हैं। सन् १९०१ में लॉर्ड कर्जन की प्रार्थना पर, कई तात्रिक छात्र-वृत्तियों (Technical Scholarships) की व्यवस्था की गई। तब से, इस विषय पर भिन्न-भिन्न आयोगों (Commissions) और समितियों (Committees) ने समय-समय पर विस्तारपूर्वक ध्यान दिया है, अर्थात् औद्योगिक आयोग १९१६-१८ (Industrial Commission 1916 18) कलकत्ता विश्वविद्यालय (सडलर) आयोग (The Calcutta University (Sadler) Comm ssion), बम्बई सरकार द्वारा नियुक्ति की गई सन् १९२१ और सन् १९३८ की समितियाँ, सन् १९३७ की जाकिरहुसेन समिति और सन् १९३७ में इङ्गलैंड के एबॉट और वुड शिक्षा विशेषज्ञ। धनबाद का भारतीय खनिज विद्यालय (The Indian School of Mining at Dhanbad) खनिज अभियंता (Mining Engineering) और भूतत्त्व-शास्त्रियों (Geologists) के प्रशिक्षण के लिये सन् १९२६ में खोला गया था। बम्बई विश्व-विद्यालय ने बुनकर तात्रिक-शिक्षा का एक संस्था (An Institute of Textile Technology) खोली है। अन्य तात्रिक संस्थाएं भी स्थापित की गई हैं जैसे—लुधियाना का हौजरी इन्स्टीट्यूट, भागलपुर का सिल्क इन्स्टीट्यूट और गुलजारी बाग का कॉटन इन्डस्ट्रीज-इन्स्टीट्यूट। युद्धकाल में तान्त्रिक प्रशिक्षण की एक योजना, जोकि बेविन की तात्रिक प्रशिक्षण योजना (Bevins Technical Training Education) के नाम से विख्यात है चालू की गई थी, जिसके अनुसार तात्रिक प्रशिक्षण के लिये ब्रिटिश फैक्टरियों में श्रमिकों के समूह (Batches of workers) भेजे गये थे। तो भी, सामान्य व्यापारिक और तात्रिक शिक्षा विषयक वर्तमान अवस्था बड़ी असन्तोषजनक है, और वह वास्तविक नियोजन, जो सरकार या अलोक संस्थाओं द्वारा किया गया है, देश के विस्तार और आवश्यकताओं को देखते हुए पर्याप्त और समुचित नहीं कहा जा सकता।

रक्षा (Protection) स्वदेशी साहस (Indigenous Enterprise) के विकास के लिये, भारतीय अनुमति Opinion सदैव रक्षा की नीति (Policy of Protection) के पक्ष में रहे हैं। रक्षा के प्रश्न की जाँच, यह सन् १९२१ में एक राजकर आयोग (Fiscal Commission) के द्वारा की गई थी। इस आयोग ने निर्णायक रक्षा की नीति (A Policy of Discriminate Protection) की सिफारिश की, जिसे एक संस्था के द्वारा लागू किया जाय, जोकि टैरिफ बोर्ड (Tariff Board) कहलायगी। भारत सरकार ने सन् १९२३ में इस सिफारिश को मान लिया। रक्षा के लिये विभिन्न उद्योगों के स्वत्वों (Claims) की जाँच करने के लिये एक टैरिफ बोर्ड (Tariff Board) की स्थापना की गई और टैरिफ बोर्ड Tariff Board) की सिफारिशों पर अनेक उद्योगों को आश्रय दिया गया जैसे—लोहा और इस्पात, शक्कर, कागज और सूत। इससे इन उद्योगों के विकास में सहायता मिली है और कुछ को विनाश से बचाया है, तो भी यह प्रयत्न एक रुकने वाला प्रयत्न है और इसे भारतीय जनता की पूर्ण स्वीकृति या मान्यता नहीं मिली है। यह अर्द्ध-मना प्रयत्न (Half Hearted Measure) भी निरंतर लागू नहीं किया गया है और कई उद्योगों को विभिन्न आधारों पर आश्रय देने या रक्षा करने से इन्कार कर दिया गया है। भारत को साम्राज्यिक अधिमान (Imperial Preference) के माग में शामिल कर लेने से, एक नियम विरुद्ध अवस्था उत्पन्न हो गई है वह है अधिमान के साथ रक्षा (Protection Within Preference) जिससे कुछ हद तक रक्षा के लाभों का कोई मूल्य नहीं रहा है। मैनचेस्टर के पूँजीपतियों का प्रभाव भारतीय टैरिफ के इतिहास में विस्तार से लिखा हुआ है। ब्रिटिश निमित कर्त्ताओं, विपणिकों (Merchants), अधिकोषकों (Bankers) और नाविकों (Shippers) के लाभ के लिये भारतीय बाजार को बनाये रखने के हेतु उतना ही उत्सुक रहा है, जितना अमेरिका के पूँजीपति अमेरिकी बाजार को अपने लिये बनाये रखने के उत्सुक हैं" (Buchanan Development of Capitalis Enterprise in British India)

औद्योगिक अनुसन्धान (Industrial Research) —इण्डस्ट्रियल रिसर्च ब्यूरो की स्थापना सन् १९३५ में हुई थी, जिसके लिए एक अनुसन्धान-शाला अलीपुर में भी बनाई गई थी। यह ब्यूरो भारतीय भण्डार विभाग (Indian Stores Department) से सम्बन्धित है और भारतीय अनुसन्धान परिषद् (The Indian Research Council) की अनुमति का भी लाभ उठा सकता है। इसके कार्य ये हैं औद्योगिक प्रतिभा का सचयन और फैलाव (Collection and dissemination of industrial intelligence), औद्योगिक अनुसन्धान में उद्योग के साथ सहकार्यता (Collaboration with industry in industrial research), उचित पत्रिका को प्रकाशित करना जिसमें औद्योगिक स्तरीकरण के दृष्टिकोण से अनुमति या सलाहें

दी जायें और औद्योगिक प्रदर्शिनियों के संगठन में सहायता। युद्ध-काल में, अनुसंधान करने के लिये वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान बोर्ड (The Board of Scientific and Industrial Research) की स्थापना की गई है।

भण्डार-क्रय-नीति (Stores Purchase Policy):—विभिन्न सरकारी विभाग और रेलवेज, हर प्रकार के भण्डार बहुत बड़ी मात्राओं में हर वर्ष खरीदते हैं और अभी हाल तक तो ये दूर-दूर से भी चार्जे खरीदते थे। औद्योगिक आयोग की सिफारिश पर एक भण्डार-क्रय-समिति नियुक्ति की गई थी। अब यह देखने के लिये कदम उठाये गये हैं कि वस्तुएं भारत में खरीदी जायँ और भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन मिले। अब कलकत्ता और बम्बई में स्थानीय-क्रय-अभिकरणों (Local purchasing agencies) का निर्माण किया गया है और मद्रास, बम्बई, करांची, कानपुर और दिल्ली में निरीक्षण अभिकरण (Inspecting agencies) भी बनाये गये हैं।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि राज्य अब भारतीय-उद्योगों के विकास के लिये, निश्चित कदम उठा रहा है, तो भी उन्नति अभी बिल्कुल सन्तोषजनक नहीं है। सम्पूर्ण औद्योगिक-क्षेत्र का अभी तक कोई विस्तृत दृष्टिकोण नहीं लिया गया है। राज्य को ऐसी दशाएं पैदा करनी चाहियें जो उद्योगों को बढ़ाने के लिये काफी उपयुक्त हों, जिससे कि देश के आर्थिक साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग किया जा सके। सन् १९१४-१८ के युद्ध की अपेक्षा सन् १९३९ के द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भ होने से औद्योगिक उत्पादन की माँग बहुत बढ़ी। यह बहुत आवश्यक हो गया कि यदि युद्ध को सफलतापूर्वक पूर्व की ओर बढ़ाया जाय और यदि पूर्तियां (Supplies) की नियमित रूप से व्यवस्था करनी पड़े तो भारत को मित्र-राष्ट्रों के लिये अस्त्रागार या हथियार-घर (Arsenal) के रूप में विकसित किया जाय। पूर्वी-समूह सम्मेलन (The Eastern Group Conference) ग्रैडी मिशन का वृत्त लेख (Report), और अनेक समितियों (Committees) की नियुक्ति युद्ध के उपाय (Measures) समझे जा सकते हैं, जिनका मुख्य उद्देश्य युद्ध के प्रयत्नों का एकीकरण (Coordination) रहा है। लेकिन सरकार ने कोई ऐसा विशेष कदम नहीं रक्खा जिससे वे युद्ध कालीन विकास (Developments) एक स्थायी आधार पर आजाते।

भारत सरकार की युद्धोपरान्त औद्योगिक नीति (Government of India's Industrial Policy) —विरोधों (Hostilities) के समाप्त हो जाने के बाद युद्धोपरान्त योजनाओं की खूब चर्चा होने लगी, लेकिन भारत-सरकार ने सम्पूर्ण मामले के विषय में आत्म-सन्तोष (Complascence) की प्रवृत्ति धारण की। जनता की हठयुक्त माँग के कारण, भारत-सरकार ने प्रयोजना एवं विकास-विभाग (Planning and Development Department) का निर्माण किया। इस विभाग ने विभिन्न

पुनर्निर्माण-समितियों (Reconstruction Committees) की स्थापना की और युद्धोपरान्त पुनर्निर्माण की योजनाएं तैयार कीं। अप्रैल सन् १९४५ में, भारत सरकार ने उनकी औद्योगिक नीति का एक विवरण (Statement) दिया, जिसमें आरम्भ में ही इस बात का वर्णन था कि उद्योगीकरण के मौलिक उद्देश्य तीन थे —(a) देश के साधनों (Resources) का अधिक से अधिक उपयोग और उन्नति करके राष्ट्रीय धन को बढ़ाना, (b) देश को सुरक्षा (Defence) के लिये अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह तैयार करना और (c) रोजगारी (Employment) के उच्च और स्थायी स्तर का नियोजन करना।

उपर्युक्त उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये, सरकार ने (Laissez Faire) नीति को त्यागने, कुछ आधारिक (Basic) और भारी (Heavy) उद्योगों को विकसित करने, देश की युद्धोपरात आवश्यकताओं और अवस्थाओं के उपयुक्त एक संरक्षण-नीति (Tariff Policy) बनाने और आर्डनेंस फैक्टरियों, जन उपयोगिताओं (Public Utilities) और रेलवेज के अलावा राष्ट्रीय महत्त्व के आधारिक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने का निश्चय किया।

भारत-सरकार ने भी निम्नलिखित में से एक या अधिक तरीकों से उद्योग की सहायता करने का निश्चय किया —

(१) उन औद्योगिक संस्थाओं को ऋण देकर या पूँजी का एक भाग अदा करके, जो देश के विकास के लिये महत्त्वपूर्ण समझी जाती हैं, परन्तु जिनके लिये समुचित अलोक (Private) पूँजी नहीं मिल रही हो।

(२) कुछ नियत वर्षों के लिये आर्थिक हानियों का सामना करने के लिये पूँजी या व्यवसाय (Undertaking) पर, न्यूनतम अधिलाभांश की गारंटी देकर, परन्तु इसमें यह शर्त होगी कि सरकार की उस संस्था के प्रबन्ध में एक आवाज होगी और पूँजी पर प्रत्याय के लिये एक आच्छादन (Ceiling) नियत कर दिया जायगा।

(३) संगठित उद्योगों का प्रतिनिधित्व करने वाले औद्योगिक पार्षदों (Associations) द्वारा, स्थापित किये हुए अनुसन्धान संगठनों (Research Organisations) को, समुचित आर्थिक सहायता देकर।

(४) अन्य उद्योगों के अधिमान (Preference) में भारतीय उद्योगों के उत्पादनों को खरीद कर, परन्तु ऐसा करने में उचित बचाव (Safeguards) भी देखे जायेंगे, जैसे गुण (Quality) और मूल्य (Price)।

(५) किसी औद्योगिक विनियोग समामेलन (Industrial Investment Corporation) या ऐसी ही अन्य संस्था का प्रवर्तन करके।

(६) समय-समय पर कर-पद्धति की इस दृष्टिकोण से जाँच करके, कि जब कि सामाजिक न्याय (Social justice) और राष्ट्रीय बजट के हित को देखा जाय, तो दूसरी ओर कर-पद्धति विकास के प्रतिकूल या उसमें बाधक सिद्ध न हो।

(७) उन प्रमुख वस्तुओं को विदेशों से उपलब्ध कराने में सहायता देकर, जिनकी औद्योगिकों को आवश्यकता है।

(८) उद्योगों के लिये दक्षों (Experts) की सेवाएं सुलभ करके।

सरकार ने औद्योगिक व्यवसायों (Undertakings) को अनुज्ञापित करने (To licence) करने का अधिकार लेने का निश्चय किया, जिससे उद्योग की वृद्धि को नियमित किया जा सके। यह एक सुपरिचित तथ्य है कि औद्योगिक संस्थाओं का प्रवर्तन करने के लिये, इस अनियमित स्वतन्त्रता का एक गम्भीर दोष यह रहा है कि उद्योग किसी विशेष क्षेत्र में केन्द्रित हो जाते हैं। ऐसे केन्द्रीकरण के प्रभाव आर्थिक, सामाजिक और सुरक्षा के क्षेत्र में बहुत दूर तक पहुँचते हैं जोकि बड़े महत्त्व के हैं। सरकार ने निम्नलिखित उद्देश्य प्राप्त करने के लिये, अनुज्ञापन (Licensing) के अलावा अन्य नियन्त्रणों को लगाने का भी सुझाव रक्खा :—

(a) उद्योग, खेती और सामाजिक सेवाओं में प्राप्य पूँजी आदि प्रमुख साधनों (Resources) का सन्तुलित (Balanced) विनियोग प्राप्त करना।

(b) औद्योगिक श्रमिकों के लिये एक अच्छी भृति, कार्य और जीवन निर्वाह की सुन्दर अवस्थाएं और किरायेदारी की एक युक्ति-संगत प्रतिभूति।

(c) अलोक-पूँजी के अति लाभों को रोकना।

(d) आन्तरिक (Internal) और बाहरी (External) दोनों बाजारों के हित में उत्पादनों के स्तरीकरण (Standardisation) की व्यवस्था लागू करके औद्योगिक उत्पादनों के गुण (Quality) में विश्वास पैदा करना।

(e) यह विश्वास दिलाना कि कुछ गिने-चुने लोगों या किसी जाति विशेष के हाथों में, सम्पत्तियों (Assets) के अस्वास्थ्यकर केन्द्रीकरण को रोका जायगा।

(f) आवश्यक तान्त्रिक प्रशिक्षण (Technical training) और कार्यकारक (Personnel) की माँग करना और ऐसे प्रशिक्षण के लाभों को अल्पसंख्यकों और पिछड़ी हुई जातियों तक बढ़ाना।

यद्यपि यह विवरण कई महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषयों का स्पष्टीकरण नहीं करता, फिर भी इसने उद्योगीकरण की दिशा में देश की उन्नति के मार्ग में एक महत्त्वपूर्ण मील-पत्थर (Mile Stone) का निर्माण किया है। पहली बार भारत सरकार ने Laissez Faire नीति को त्यागने और देश के औद्योगिक विकास में प्रत्यक्ष रुचि लेने का निश्चय किया।

भारत सरकार की नई औद्योगिक नीति
(Governmet of India's New Industrial Policy)

भारत सरकार की औद्योगिक नीति ६ अप्रैल सन् १६४८ को घोषित की गई थी। यह प्रतिक्रियात्मक पुरातनवाद (Reactionary-Conservatism) और क्रांतिकारी-समाजवाद (Revolutionary-Socialism) के आपसी दुहरे विरोधों का परिहार करती है। इस नीति का विवरण, औद्योगिक क्षेत्र में सरकार की नीति के विस्तृत उद्देश्यों को रखता है, राजकीय और अलोक साहस के क्षेत्रों की सीमा स्थिर करता है, श्रम-व्यवस्था तथा विदेशी पूँजी के विषय में सरकार की नीति का स्पष्टीकरण करता है और उन कदमों की ओर संकेत करता है जिन्हे सरकार अपनी नीति को लागू करने के लिये उठाने का सुझाव करती है।

प्रस्ताव इस बात का वर्णन करता है कि भारत सरकार ने उन समस्याओं के विषय में काफी विचार किया है जिनका कि देश को सामना करना पड़ रहा है। अब राष्ट्र ने स्वय एक सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने की ओर कदम बढ़ाया है, जिसमें न्याय और अवसरों की समानता सभी लोगों को मिलेगी। इसका तात्कालिक उद्देश्य है अपेक्षाकृत अधिक बड़े पैमाने पर शिक्षा सम्बन्धी-सुविधाओं और स्वास्थ्य सेवाओं (Healthy-Services) का नियोजन करना, देश के वर्त्तमान साधनों (Resources) को उन्नत करके लोगों के रहन-सहन के स्तर को शीघ्रता से बढ़ाना, उत्पादन में वृद्धि करना और सबके लिये जाति की सेवा में अवसर प्रदान करना।

जब कि देश की अर्थ व्यवस्था की वर्त्तमान दशा को ध्यान में रखते हुए, धन के न्याय-वितरण की आवश्यकता पर जोर दिया जाता है, सरकार की नीति ही उत्पादन को बढ़ाने में पहला कदम होगी। इस उत्पादन में विशेष रूप से प्रमुख सामग्री, आवश्यक उपभोग की वस्तुएं और वे वस्तुएं होंगी जिनके निर्यात से विदेशी विनिमय साधन बढ़ेंगे।

यह प्रस्ताव उद्योगों का चार बड़े-बड़े समूहों में वर्गीकरण करता है। पहला अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण, अणु-शक्ति (Atomic Energy) के उत्पादन और नियन्त्रण और रेलवे यातायात के स्वामित्व और प्रबन्ध से सम्बन्धित है। ये सरकार के अनन्य-एकाधिकार (Exclusive monopolies) होंगे। दूसरा समूह कोयला, लोहा व इस्पात, वायुयान-निर्माण (Air craft manufacture), जलयान-निर्माण (Ship building), खनिज तेल (Mineral oils), टेलीफोन, टेलीग्राफ और वायरलेस के उपकरणों का निर्माण, जिनमें रेडियो रिसीविंग सैट शामिल नहीं हैं। यहाँ राज्य (जिसमें इस सम्बन्ध में केन्द्रीय, प्रान्तीय और रियासती सरकारें तथा स्थानीय संस्थाएं शामिल हैं) नये व्यवसायों (Undertakings) की स्थापना के लिये सर्वथा उत्तरदायी होगा, जब कि अलोक-साहस (Private Enterprise) को दस वर्ष की

अवधि के लिये वर्त्तमान इकाइयों को विकसित करने के लिये स्वच्छन्द छोड़ दिया जायगा। लेकिन यदि इस अवधि के अन्त में सरकार इनमें से किसी भी इकाई को लेने का निश्चय करे, तो एक अच्छे और न्याय्य (Equitable) आधार पर, दातव्य-प्रतिदान (Due Compensation) दिया जायगा। तीसरा समूह १८ बड़े-बड़े उद्योगों से सम्बन्धित है जो अलोक-साहस (Private Enterprise) के अधीन रहेंगे, यद्यपि केन्द्रीय-सरकार सम्बन्धित प्रान्तीय और रियासती सरकारों से सलाह करके उन पर नियमन और नियंत्रण रख सकेगी। शेष औद्योगिक क्षेत्र, जो चौथे समूह में आता है, साधारणतः अलोक साहस के लिये खुला रहेगा, चाहे वे एक या अधिक व्यक्ति हों या सहकारी संस्था। राज्य इस क्षेत्र में उत्तरोत्तरशीलता से भाग लेगी, यह उस दशा में हस्तक्षेप करने में भी संकोच नहीं करेगी जबकि कभी भी अलोक साहस के अधीन किसी उद्योग की उन्नति असन्तोषजनक हो।

केंद्रीय सरकार ऐसे साहस (Enterprise) का भी प्रवर्तन करेगी, जैसे बृहत् नदी-घाटी-विकास (Large river valley developments) जो बड़े आकार के बहु-प्रयोजन-प्रोजैक्ट (Multi-purpose projects) हैं, जो बहुत हाइड्रोइलेक्ट्रिक पैदा करेंगे और बड़े पैमाने पर सिंचाई करेंगे और अपेक्षाकृत कम समय में देश के बड़े क्षेत्रों में परिवर्तन करेंगे। दामोदर-घाटी योजना (Damodar Valley Scheme), कोसी बाँध (Kosi Reservoir) और हीराकुण्ड डैमीट्राम (Hira Kund Damitram) जैसे प्रोजैक्ट इस वर्ग में आयेंगे। सरकार बहुत बड़े पैमाने पर खादों का उत्पादन भी अपने हाथ में लेगी और आवश्यक औषधियों और कोयले से बनावटी तेल के निर्माण जैसे अन्य साहसी कार्य भी दृष्टि में रक्खेगी।

सरकार इस बात को स्वीकार करती है कि राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था में कुटीर और लघु माप उद्योगों (Cottage and Small Scale Industries) के द्वारा भी एक बहुत महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया जायगा। ये उद्योग व्यक्ति, ग्राम या सहकारी साहस को क्षेत्र प्रदान करते हैं और विस्थापित (Displaced) व्यक्तियों के पुनर्वासन (Rehabilitation) के साधन हैं। ये उद्योग विशेष रूप से स्थानीय साधनों के श्रेष्ठतर उपयोग और कुछ आवश्यक उपभोग की वस्तुओं में स्थानीय आत्म निर्भरता (Self-Sufficiency) प्राप्त करने के लिये उपयुक्त हैं। कुटीर और लघु-माप उद्योगों का स्वस्थ विस्तार कई बातों पर निर्भर होता है, जैसे कच्चे माल, सस्ती विद्युत्-शक्ति, तान्त्रिक अनुमति (Technical Advice), उनके उत्पादन का सगठित बाजार, और जहाँ आवश्यक हो बृहत् माप निर्माण (Large Scale Manufacture) की विकट स्पर्द्धा से रक्षा और श्रेष्ठतम-प्राप्य-तन्त्र (The best available technique) के उपयोग के विषय में श्रमिक को शिक्षा देना। एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह होगा कि चीन के समान इस क्षेत्र में सहकारिता का प्रचार किया जाय।

श्रम विरुद्ध पूँजी (Labour versus Capital) की समस्या से उठने वाले मामलों में सरकार ने इस विषय में उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया है जोकि उद्योग सम्मेलन (Industries Conference) ने पास किया था, जो दूसरे विषय में (Inter alia) यह वर्णन करती है कि 'पूँजी और श्रम का प्रतिफल देने की पद्धति ऐसी बनानी चाहिये कि जब कि उपभोक्ताओं और प्राथमिक उत्पादकों (Primary Producers) के हित में अति अधिक लाभों को कर तथा अन्य उपयुक्त तरीका से रोकना चाहिये दोनों अपने सम्मिलित प्रयत्न की उस उत्पत्ति में हिस्सा बनायेंगे, जो कि श्रम पर अच्छी भृतियाँ और उद्योग में लगाई हुई पूँजी पर अच्छा प्रत्याय (Return) अदा करने और उद्योग के निर्माण और विस्तार के लिये स्थायी धन रखने के बाद बनेगा।' सरकार इस बात का भी विचार करती है कि श्रमिकों के लाभ का भाग, साधारणत उत्पादन के साथ साथ चल माप (Sliding Scale) के अनुसार होना चाहिये और आगे यह भी सुझाव रखती है कि ऐसी मशीनरी की व्यवस्था की जाय जो विभिन्न तलों (Levels) पर काम करेगी, अर्थात् अच्छी भृतियों, पूँजी के लिये अच्छे प्रतिफल और श्रम की दशाओं के विषय में सलाह देने के लिये केन्द्रीय (Central), प्रान्तीय (Regional) और ऐकिक (Unitary) तल। सरकार उन सभी मामलों में औद्योगिक उत्पादन से श्रम को सम्बन्धित करने का इरादा करती है; जिसके लिये हर बड़े उद्योग के लिये उत्पादन समितियाँ और कार्य समितियाँ (Works Committees) का निर्माण किया जाय जिनमें श्रमिकों और नियोक्ताओं के प्रतिनिधि सदस्य बराबर बराबर संख्या में हों।

जहाँ तक विदेशी पूँजी और विदेशी साहस से सम्बन्ध है, सरकार दोनों की आवश्यकता को स्वीकार करती है, विशेष रूप से साहस की और उन दशाओं के विषय में उपयुक्त विधान (Legislation) बनायेगी जिसके अधीन वे भारतीय उद्योग में भाग ले सकें, एक महत्त्वपूर्ण दशा यह होगी कि नियमन स्वामित्व में बड़ा हित और प्रभावकारी नियन्त्रण सदैव भारतीयों के हाथ में होना चाहिये, और यह कि सभी अनुयोगों में, सम्बन्धित व्यवसायों (Undertakings) में किसी आकस्मिक घटना के समय विदेशी दक्षों (Experts) के स्थान पर रखने के दृष्टिकोण से उपयुक्त भारतीय कार्य कारकों को प्रशिक्षित कर लेगा।

बढ़ते हुए उत्पादन और शीघ्रता से बढ़ते हुए उद्योगवाद के दृष्टिकोण से सरकार ने यातायात की कठिनाइयों को दूर करने, अधिक से अधिक सम्भव हद तक आवश्यक कच्चे माल के आयात (Import) की सुविधा देने, संरक्षण-नीति बनाने, जिससे अनुचित स्पर्द्धा को रोका जा सके और उपभोक्ता पर अन्याय्य (Unjustifiable) भार डाले बिना भारत के साधनों को उपयोग में लाने और कर पद्धति पर पुन विचार करने और जहाँ आवश्यक हो बचत (Saving) और उत्पादक विनियोग को

प्रोत्साहन देने और जनता के एक छोटे से वर्ग में धन के अनुचित केन्द्रीकरण को रोकने के दृष्टिकोण से हर कर पद्धति को सुधारने का निश्चय किया है। सरकार ने एक प्लानिंग कमीशन (Planning Commission) (श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में) नियुक्त किया है, जिसका मुख्य कार्य विकास के पुरोगमों का बनाना और उनको क्रियात्मक रूप में परिणत करना होगा। इसका मुख्य उद्देश्य लोगों के रहन-सहन के स्तर को शीघ्रता से ऊँचा करना होगा।

औद्योगिक क्षेत्रों ने इस औद्योगिक नीति के विवरण को बड़ी तत्परता से स्वीकार किया, क्योंकि इससे उनके दो प्रकार के भय दूर हुए, पहला तो यह इस घोषणा से कि उद्योगों का कोई तात्कालिक (Immediate) राष्ट्रीयकरण नहीं होगा और दूसरा इस बात से कि विवरण इस माँग के विषय में चुप है कि प्रबन्धक अभिकरण-पद्धति (Managing Agency System) को मेंट दिया जाय। लेकिन अभी तक इस बड़ी स्वीकृति (Concession) का सैद्धान्तिक उद्देश्य अपूर्ण ही रहा है, उत्पादन में वृद्धि नहीं हुई है। इसके विपरीत औद्योगिकों ने सरकार के उदारवाद (Liberalism) को उसकी कमजोरी समझ लिया है और प्रस्ताव में आये हुए सरकार के मुख्य प्रयोजन को निरर्थक बनाने का प्रयत्न किया है।

औद्योगिक नीति को पूर्ण करने के लिये जैसा कि ६ अप्रैल सन् १६४८ के विवरण में रक्खा गया है, भारत सरकार के भारतीय ससद के द्वारा आवश्यक अधिकार ले लिये हैं, उस विधान के मुख्य नियोजन निम्नलिखित हैं —

उद्योग (विकास एव नियमन) विधान, १६५१

(The Industries (Development and Regulation) Act 1951)

उद्योग (विकास एव नियमन) विधेयक (The Industries—Development and Regulation Bill) पार्लियामेण्ट ने १२ अक्टूबर सन् १६५१ को पास किया था। इस विधान का ठोस आधारों पर उद्योगों का पथ प्रदर्शन एव विकास करना और उनके कार्यक्रम प्रबन्ध का प्रवर्तन करना (To promote) है, जो राष्ट्रीय नीति के विस्तृत उद्देश्यों के अनुकूल हो जब कि सरकारी हस्तक्षेप रखना ही अन्तिम आश्रय या सहारा रह जाता है। यह मान लिया गया है कि ऐसे नियमन और विकास के लिये जिस मशीनरी का सुझाव दिया गया है, उसमें नियोक्ता (Employers), कर्मचारी (Employees) और उपभोक्ताओं सहित विभिन्न हितों के प्रतिनिधि होने चाहियें। तान्त्रिक और प्रबन्ध-कुशलता (Technical and managerial skill) को विकास-परिषदों (Development Councils) के साथ सम्बन्धित करने की आवश्यकता पर विशेष जोर दिया गया है जोकि हर परिगणित-उद्योग (Scheduled Industry) के लिये स्थापित की जायँगी।

अन्तिम रूप से, संसद के द्वारा पास किये हुए विधान के मुख्य-मुख्य नियोजनों का निम्नलिखित संक्षिप्त सारिणी (Summary) है। यह विधान जम्मू और काश्मीर के राज्य को छोड़कर सारे भारत में लागू होगा ; वह उस तारीख को लागू होगा जिसे केन्द्रीय सरकार सूचना देकर नियुक्त करे। जिन उद्योगों में एक लाख रुपये से कम पूँजी लगाई गई है, उन पर इस विधान की कोई धारा लागू नहीं होगी।

संक्षेप में, यह विधान जो ३७ उद्योगों या उद्योगों के समूहों के नियमन और विकास पर विचार करता है जैसा कि पहली तालिका में दिया हुआ है, इन बातों का नियोजन करता है :—

(१) (a) एक केन्द्रीय सलाहकार परिषद् (Central Advisory Council) और (b) प्रत्येक परिगणित उद्योग या उद्योगों के समूह के लिये एक विकास परिषद् (Development Council) का निर्माण।

(२) इन ३७ उद्योगों में आने वाले किसी वर्तमान उद्योग का पंजीयन (Registration) ; और

(३) इन उद्योगों में आने वाले किसी नये उद्योग को अनुज्ञापित करना (Licensing)।

कुछ विशेष परिस्थितियों में, यह विधान केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार भी देता है (i) किसी उद्योग की छानबीन या जाँच-पड़ताल करना, (ii) इसे आदेश देना, (iii) इसके प्रबन्ध को अपने हाथ में लेना; और (iv) विधान में दिये हुए कार्यों के संचालन के लिये नियम बनाना।

केन्द्रीय-सलाहकार परिषद् (The Central Advisory Council) में एक सभापति होगा और कुल मिलाकर ३० से अधिक सदस्य नहीं होंगे। ये सरकार को उन ३७ उद्योगों के विकास और नियमन से सम्बन्धित मामलों में सलाह देंगे। ये सदस्य उन लोगों में से नियुक्त किये जायँगे जो केन्द्रीय सरकार की अनुमति में इन लोगों के हितों का प्रतिनिधित्व करने के योग्य हैं (१) परिगणित उद्योगों में औद्योगिक साधों के स्वामी, (२) उनके कर्मचारी, (३) उपभोक्ता; और (४) लोगों के ऐसे अन्य वर्ग जिनमें वे प्राथमिक-उत्पादक (Primary Producers) भी शामिल होंगे, जिन्हें सरकार चुने। केन्द्रीय-सरकार को आगे लिखे हुए विषयों पर इस परिषद् से सलाह लेना आवश्यक कर दिया गया है (i) कोई नियम बनाना, (ii) औद्योगिक साधों को कोई आदेश देने के अधिकारों पर अमल करना, और (iii) औद्योगिक साधों का प्रबन्ध अपने हाथ में लेना।

इस विधान का एक लक्षण वह नियोजन है जो हर परिगणित उद्योग या उद्योगों के समूह के लिये विकास परिषदा (Development Councils) की स्थापना करने के विषय में बनाया गया है। एक विकास-परिषद् में वे मनुष्य होंगे जिनमें उस

उद्योग के तान्त्रिक और अन्य पहलुओं से सम्बन्धित मामलों की विशेष जानकारी या ज्ञान होगा। उनके अलावा सम्बन्धित स्वामियों, कर्मचारियों और उपभोक्ताओं के हितों का प्रतिनिधित्व करने योग्य व्यक्ति होंगे। इनमें से प्रत्येक परिषद् सम्बन्धित उद्योग के निकट सम्पर्क में रहेगी और इसके लिये आवश्यक पथ-प्रदर्शन (Guidance) और सहायता या नियोजन करेगी, उदाहरण के रूप में : उत्पादन पुरोगमों के एकीकरण में, विनाश को रोकने के दृष्टिकोण से कार्यक्षमता के आदर्शों का प्रतिपादन करने, पदार्थ (Materials) प्राप्त करने का प्रबन्ध करने के लिये और उत्पादनों का स्तरीकरण करने के लिये, उनका वितरण करने और उद्योग के द्वारा निर्मित वस्तुओं के श्रेष्ठता विपणन के लिये और सामान्यत. उद्योग को उन मामलों में सलाह देने के लिये जो इसके विकास से सम्बन्धित हों। ये परिषदें ऐसी सूचनाओं से अपना प्रदर्शन करेंगी जो कि उन्हें केन्द्रीय सरकार से मिलेंगी। इस दृष्टिकोण से कि मनुष्यों की एक ऐसी व्यवस्था करने की सुविधा दी जाय, जिनमें तान्त्रिक और प्रबन्ध सम्बन्धी योग्यता हो और उद्योग के कार्य का ज्ञान हो, इस बात का भी नियोजन किया गया है कि विकास परिषदों के अधिकारियों के वेतन, जोकि केन्द्रीय सरकार के द्वारा या उसकी स्वीकृति से नियुक्त किये जायेंगे, संसद द्वारा नियोजित प्रणीधियों (Funds) में से अदा किये जायेंगे। इन परिषदों के लिये यह आवश्यक होता है कि वे केन्द्रीय सरकार और सलाहकार-समिति दोनों का वार्षिक वृत्त-लेख भेजा करें, जिनमें उनके कार्य और लेखा-विवरण हों यह भी नियोजन किया गया है कि वस्तुओं पर कर लगाया जाय; यह कर अधिक से अधिक उन वस्तुओं के मान (Value) के दो आना प्रतिशत तक हो सकता है जो किसी परिगणित उद्योग में बनाई या उत्पन्न की गई हैं, यह आय सम्बन्धित विकास परिषद् को दी जायँगी, जिससे कि वे अपने उन खर्चों को पूरा कर सकें जो उस उद्योग के प्रवर्तन या विकास के लिये आवश्यक हैं।

इन सब ३७ परिगणित उद्योगों के अनुयोग में सब वर्तमान औद्योगिक संस्थाओं और उन संस्थाओं के लिये भी जिनकी स्थापना के लिये क्रियात्मक कदम उठा दिये गये हैं, यह आवश्यक है कि वे विधान के लागू होने से ६ माह के अन्दर अपना पञीयन करालें। केन्द्रीय सरकार की सब वर्तमान औद्योगिक संस्थाओं के लिये भी यह आवश्यक है कि वे भी उसी तरीके से अपना पञीयन करालें। किसी नई औद्योगिक संस्था को या ऐसी किसी वर्तमान संस्था को जिसने अपना विस्तार बढ़ा लिया हो जो अब एक नई संस्था की कोटि में ही आ जाती हो, केन्द्रीय सरकार से पूर्व-अनुज्ञापत्र (Prior License) प्राप्त किये बिना कार्य करने की इजाजत नहीं दी जायगी। एक विशेष अधिकारी नियुक्त किया जायगा जोकि निर्दिष्ट नियमों के अनुसार, अनुज्ञापत्र प्राप्त करने के लिये आये हुए प्रार्थना-पत्रों पर विचार करेगा। अनुज्ञापत्रों का निर्गमन (Issue) कुछ शर्तों के अनुसार होगा जिनमें संस्था की स्थिति (Location) और

कद या विस्तार का न्यूनतम स्तर शामिल होगा। कोई अनुज्ञापत्र स्वीकार करने से पहले, सरकार उस अधिकारी से सब प्राप्त प्रार्थना पत्रों के विषय में पूरी जाँच-पड़ताल करा सकती है और उन जाँच-पड़तालों की रिपोर्ट माँग सकती है। यदि अनुज्ञापत्र में दिये हुए समय के अन्दर नई औद्योगिक संस्था की स्थापना करने का कोई क्रियात्मक कदम नहीं उठाया जाता, तो केन्द्रीय सरकार को उस अनुज्ञापत्र को रद्द करने का अधिकार है। केन्द्रीय सरकार किन्हीं नियमों के अनुसार, जो इस विषय में बनाये जायें, किसी अनुज्ञापत्र में संशोधन या परिवर्तन कर सकती है। लेकिन, अनुज्ञापत्र के अनुसार किसी संस्था की स्थापना करने के लिये क्रियात्मक कदम उठाने के बाद ऐसे किसी अधिकार का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

यह विधान केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार देता है कि वह किसी औद्योगिक संस्था की जाँच-पड़ताल किसी ऐसे मनुष्य द्वारा कराये जोकि इस प्रयोजन के लिये नियुक्त किया जाय। वे परिस्थितियाँ जिनमें कोई जाँच-पड़ताल की जा सकती है, उनमें उत्पादन में काफी कमी, उत्पन्न की हुई वस्तुओं के गुण (Quality) में विशेष ह्रास, वस्तुओं के मूल्यों में अनुचित वृद्धि, राष्ट्रीय महत्त्व के साधनों को सुरक्षित रखने की आवश्यकता और दुष्प्रबन्ध (Mismanagement) शामिल हैं। किसी जाँच-पड़ताल के पूर्ण हो जाने पर और सलाहकार परिषद् से सलाह कर लेने के बाद सरकार उस औद्योगिक संस्था का प्रबन्ध, ऐसी अवधि के लिये जो ५ वर्ष से अधिक न हो, अपने हाथों में लेने के लिये आदेश दे सकती है। ऐसे आदेशों की अस्वीकृति के अनुयोगों (Cases) में, प्रबन्ध या नियन्त्रण स्वामी (Owner) को वापिस सौंप दिया जायगा—जैसे ही यह प्रकट होता है कि नियन्त्रण का प्रयोजन पूरा हो गया है। सिवाय आदेश देने के अधिकार और किसी औद्योगिक संस्था का नियन्त्रण लेने के अधिकार के, अन्य सब अधिकार जो इस विधान के अनुसार प्रयोग किये जा सकते हैं केन्द्रीय सरकार द्वारा ऐसे अधिकारियों को दिये जा सकते हैं जिनमें कि कोई विकास-परिषद् या राज्य-सरकार भी शामिल हैं।

राजकीय व्यापार
(State Trading)

आधुनिक वर्षों में राजकीय व्यापार (State Trading) ने एक बहुत बड़ा महत्त्व प्राप्त कर लिया है। कुछ परिस्थितियों में तो यह केवल आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य हो गया है, जैसे रूस जैसे देश के साथ व्यापारिक-व्यवहार (Commercial Dealings) करने में। इसके अतिरिक्त रक्षा से सम्बन्धित कई अन्य क्षेत्र भी हैं जहाँ युद्ध-कौशल (Strategy) और सुरक्षा के विचार से राजकीय व्यापार का आश्रय लेना पड़ा है। राजकीय व्यापार की मूल बातों या तत्वों आदि पर विचार करने के लिये भारत सरकार ने सन् १९४९ में एक राजकीय-व्यापार-समिति (Committee on

State Trading) नियुक्त की थी। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट अगस्त सन् १९५० में दी। इस रिपोर्ट में समिति ने दो विरोधी दृष्टिकोणों के बीच एक सतुलन (Balance) रखने का प्रयत्न किया है। एक तो सभी व्यापार पर राज्य का एकाधिकार चाहता है और दूसरा व्यापार में विशुद्ध अलोक-साहस (Private Enterprise) चाहता है; ये दोनों ही वास्तव में प्रश्न की सीमा के बाहर हैं। इस प्रकार समिति की यह सर्व-सम्मत अनुमति है कि जब कि कुछ प्रकार के व्यापारों में राजकीय व्यापार अवाञ्छित है, तो यह दूसरे व्यापारों में न्याय व उचित है।

इस समिति ने यह सिफारिश की है कि राज्य सब आयात और निर्यात के कार्यों को जो व्यापारिक प्रकृति के हैं और जो वर्तमान काल में केन्द्रीय सरकार के हाथ में हैं—लेले, और इस प्रयोजन के लिये एक राजकीय प्रतिभू-व्यापारिक-सम्मेलन की स्थापना की जाय। यह प्रस्तावित समामेलन एक परिनियत सस्था (Statutory Body) होगा जिसमें १० करोड़ रुपये की अधिकृत राशि (Authorised Capital) होगी और २ करोड़ की प्रारम्भिक पूँजी (Initial Capital) होगी। ५१ प्रतिशत से कम पूँजी केन्द्रीय सरकार द्वारा अधिकृत नहीं की जायगी, शेष पूँजी राज्य सरकारों और अलोक साहस के लिये रक्खी जायगी। केन्द्रीय सरकार को पूँजी और अलोक अंशधारियों को न्यूनतम अभिलाभांश की गारंटी देनी पड़ेगी। यह समामेलन भी अन्य व्यापारिक सस्थाओं के समान कर-पद्धति के अधीन होगा। इसके प्रति दिन के कार्य की व्यवस्था एक कार्यवाहक बोर्ड (Executive Board) द्वारा की जायगी जिसमें कुशल व्यापारी लोग और एक प्रबन्धक सचालक (Managing Director) होंगे जो बोर्ड की आज्ञाओं के अनुसार काम करेंगे।

समामेलन के कार्यों या कर्तव्यों के विषय में समिति की मुख्य सिफारिशें ये हैं —

(१) कि इसे भारत सरकार से वे व्यापारिक कार्य ले लेने चाहिये जो इन विषयों से सम्बन्धित हैं अनाजों खाद, इस्पात, पूर्वी अफ्रीकन सूत का आयात और ऐसे अन्य काम जो वस्तु विनिमय (Barter) समझौतों को पूर्ण करने के लिये आवश्यक हैं जो (समझौते) कि सरकार द्वारा किये गये हैं।

(२) कि इसे कोयला और छोटे रेशे के सूत (Short Staple Cotton) के निर्यात का एकाधिकार दे देना चाहिये।

(३) कि इसे अग्रगामी की हैसियत से कुटीर उद्योगों के उत्पादन का निर्यात व्यापार दे देना चाहिये, क्योंकि आरम्भिक अलोक-साहस के लिये यह अधिक महँगा नहीं पड़ेगा।

(४) कि यह सरकार को समय-समय पर सलाह दे सकता है कि राष्ट्रीय हित में किसी वस्तु का राजकीय व्यापार बढ़ाना चाहिये या घटा देना चाहिये।

(५) कि जब कभी आवश्यकता हो समामेलन किसी विदेशी सरकार भारतीय बाजार के लिये अध्यक्ष (Principal) या अभिकर्ता (Agent) की हैसियत में प्रत्यक्ष रूप से क्रय विक्रय कर सके।

(६) कि भारतीय व्यापारियों की प्रार्थना पर, समामेलन उनकी ओर से और उनके जोखिम पर विदेशी व्यापारियों से सौदा कर सके।

उपर्युक्त सूची की जाँच से पता लगता है कि समिति ने एक मध्यम मार्ग (Via Media) नीति का अनुसरण किया है। ऐसा स्पष्ट रूप से विदित होता है कि समिति यह सोचती है कि जब कभी एकाधिकार (Monopoly) या सम एकाधिकार (Semi monopoly) की दशाएं वर्तमान हों, तब सरकार को इन दशाओं को ठीक करने के लिये राजकीय-व्यापार के औजार को अपनाना चाहिये। इसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि समामेलन एकाधिकार के आधार पर कुटीर उद्योग के उत्पादनों को अपने हाथ में ले ले, यद्यपि हम सरकार को समामेलन की ऐसी शासन व्यवस्था के विरुद्ध सावधान कर सकते हैं जो इतनी भारमय सिद्ध हो जितनी कि सरकार की शासन व्यवस्था।

Test Questions

1 What do you wish to be the relation of state in industry in free India ? Discuss thoroughly (Agra, B Com 1948)

2 Discuss the various ways in which the government may help Indian industries in the post war period (Agra B Com 1946)

3 What in your opinion should be the attitude of the state in relation to industry ? Illustrate your answer with reference to conditions in India (Rajputana B.Com 1949)

4 Discuss the need and justification for state regulation of public utilities (Bombay, B Com, 1951)

5 For rapid industrialisation India would welcome foreign capital on favourable terms like a business transaction but she would preserve her economic independence (Nehru)

6 Discuss the need of foreign capital in the light of the above statement How can you reconcile this view with the policy of nationalisation ? (Rajputana B Com 1952)